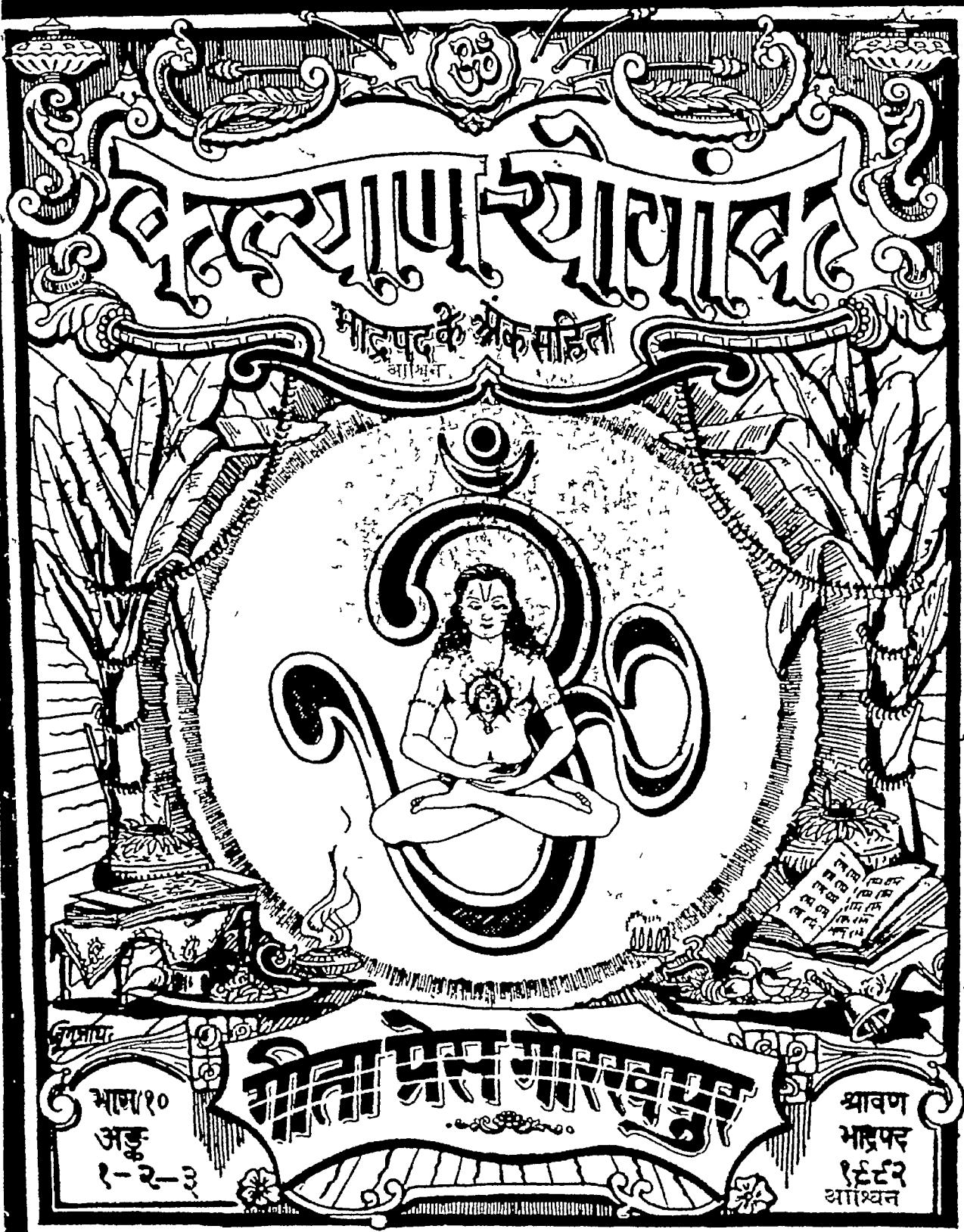


योगांकका सब मसाला ग्राहकोंको एक जिल्दमें साथ ही मिल जाय, इसलिये आश्विनका अंक ('कल्याण' तीसरी संख्या) भी इसी जिल्दमें वाँध दिया गया है। १०४४७



ग्राहकोंको इस प्रकार समझना चाहिये—आवणकी संख्या पृष्ठ १ से पृष्ठ ६१६ तक, भाद्रपदकी संख्या पृष्ठ ६१७ से ७६६ तक और आश्विनकी संख्या पृष्ठ ७६७ से ८८२ तक। गतवर्षकी अपेक्षा हजार वर्ष सब मिलाकर ०.८ पृष्ठ अधिक हैं।



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

Icreator of
hinduism
server)

श्रीयोगाङ्क और परिशिष्टाङ्क नं० १, २ की

- विषय-सूची -

पृष्ठ-संख्या

१-जरणागतियोग	२	१९-गीताका योग (श्रीगीतानन्दजी शर्मा) .. ६४
२-श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वय- मीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारती- कृष्णतीर्थजी महाराज)	३	२०-कल्याण ('शिव') ६६
३-भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य (श्रीकाञ्चीप्रतिबादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्ग्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज) १४		२१-योगका अर्थ (डॉ० श्रीभगवानदासजी एम० ए०, डी० लिट०) ६८
४-हमारा लक्ष्य (श्रीअरयिन्द)	२२	२२-वेदान्त और योग (डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार एम० ए०, पी एच० डी०) ७२
५-महात्मा गान्धीजीका सन्देश	२६	२३-योग क्या है ? (स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०) ७६
६-निष्काम कर्मयोगी	२६	२४-सुरत-शब्द-योग (श्रीआनन्दस्वरूपजी 'साहेबजी महाराज' दयालबाग, आगरा) .. ७९
७-वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ? (परम पूज्यपाद श्रीउद्दिया स्वामीजी महाराजके विचार, प्रेषक—श्रीमुनिलालजी)	२७	२५-वेदोंमें योग (उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर स्वामी श्रीगङ्गेश्वरानन्दजी महाराज) ८१
८-समाधियोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	२८	२६-ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या (प० श्री- बलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्या- चार्य) ८१
९-योगतत्त्वम् (श्रीमन्माध्वसम्प्रदायाचार्य दार्गनिक-सार्वभौम-साहित्यदर्शनाचार्य-तर्क- रत्न-न्यायरत्न गोम्बामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)	३३	२७-उपनिषदोंमें योग-चर्चा (प० श्रीवद्वकनाथजी शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य) ९२
१०-श्रीश्रीशरणागतियोग (अनन्त श्रीस्वामी पं० श्रीरामबङ्गभाशरणजी महाराज, अयोध्या)	३४	२८-उपनिषदोंमें योग (जगद्गुरु भगवत्पाद श्री- रामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरघुवराचार्यजी महाराज) १०१
११-योग (एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)	३७	२९-तन्त्रमें योग (श्रीअटलविहारी घोप एम० ए०, वी० एल०) १०५
१२-सांख्ययोगी	४२	३०-श्रीमद्भागवतमें योगचर्चा (प० श्रीवलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य) १०९
१३-अष्टाङ्गयोग (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	४३	३१-श्रीयोगवासिष्ठमें योग (प्रो० डॉ० श्रीभीखन- लालजी आत्रेय, एम० ए०, डी० लिट०) .. ११७
१४-योगः कर्मसु कौशलम् (महामहोपाध्याय डॉ० श्रीगङ्गानाथजी ज्ञा, एम० ए०, डी० लिट०, एल-एल० डी०)	४८	३२-गीतामें योगका स्वरूप (श्रीकृष्णप्रेम भिखारीजी) १२२
१५-राजयोग (डॉ० श्रीवालकृष्णजी कौल)	४९	३३-गीतामें योगके अनेक अर्थ (दीवानवहादुर कै० एस० रामस्वामी शास्त्री, वी० ए०, वी० एल०) १२७
१६-योगका विषय-परिचय (महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिचिपल गवर्नमेण्ट स्कूल कालेज काशी)	५१	३४-गीतोक्त भक्तियोग या प्रेमलक्षणा भक्ति (महा- महोपाध्याय प० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूदण) .. १३०
१७-योगकी कुछ आकृशक वार्ता	६१	
१८-पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग (गङ्गोत्री- निवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डस्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)	६३	

५६—पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास (श्री वी० पार० रामचन्द्र दीक्षितार, एम० ए०)	३३७
५७—योगशास्त्रके कुछ दार्ढनिक सिद्धान्त (स्वामी-जी श्रीनित्यानन्दजी भारती)	३३९
५८—पातञ्जलयोगदर्शनकी प्राचीनता (श्रीमद्योगचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन)	३४८
५९—प्रनिधिमेद (विद्यालङ्कार प० श्रीगियनारायण-जी शर्मा)	३५६
६०—ब्रह्मचर्य और योग (ॐ 'श्रीविश्वात्मा')	३६८
६१—नादानुसन्धान (स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)	३७१
६२—योग (दोगचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीज्ञानानन्द-देवजीके उपर्योग, प्र० श्रीउपेन्द्रनन्द दत्त)	३७४
६३—विन्व कल्याण-योग (श्रीअनन्तशङ्करजी कोट्टटकर वी० ए०)	३७७
६४—श्रीमन्छङ्कराचार्य और योग (श्रीसुव्रह्मण्य शर्मा सम्पादक 'अध्यात्मप्रकाश')	३७८
६५—बौद्धधर्ममें योग (ॐ श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, पी-एच० डी०)	३८०
६६—बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर)	३८४
६७—जैनधर्ममें योगविद्या (सुनि श्रीनिमाशुविजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)	३९०
६८—जरथोन्नीधर्ममें तीन मार्ग (श्रीएरच जॉर्गीर तारापोरवाला, वी० ए०, पी-एच० डी०, वार-एट-ला)	३९२
६९—इंसाई-नर्समें योगका स्थान (२० एड्विन ग्रीष्म, मेलवार्न, इंडियन)	३९५
७०—ब्रह्मीरका योग (श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्ति-निकेतन)	३९८
७१—स्वामिनागण-सम्प्रदायमें योग (दार्ढनिक-पञ्चानन पट्टदर्शनाचार्य, नामःयोगनीर्य, नन्यन्यामाचार्य प० श्रीटृष्णवल्लभाचार्यजी स्वामिनागणग)	३०३
७२—महायोग (श्रीरमण महर्षिके एक भक्त)	३०३
७३—श्रीअरविन्दका योग (श्रीनिलीकान्त चुट, पाण्डीनंदी)	३००
७४—श्रीगत्विन्दका पूर्णयोग (श्रीअनिलप्रण सद, पाण्डीचेरी)	३२२

	पृष्ठ-संख्या
७५—भृगु-योग (एक 'सेवक')	... ३१५
७६—तारकयोग (श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायके आदि-	
पीठस्थ आचार्य श्रीघटनीदासजी)	... ३२०
७७—भृजु-योग (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	.. ३२२
७८—जपयोग (बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज (श्रीन० रा० निगुड़करके अनुभवयुक्त विचार), प्रेपक—श्रीराजाराम नारायण बरुलेकर)	... ३२५
७९—मन्त्रयोगके अग (श्रीरामेश्वरप्रसादजी वकील)	३३४
८०—सप्त ज्ञानभूमिका (श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य)	.. ३४२
८१—भोगमें योग (काव्यतीर्थ प० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुवेंदोभयाचार्य)	... ३४५
८२—क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति (सेठ श्री- कन्हैयालालजी पोद्दार)	.. ३४७
८३—योगमाया (प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, एम० ए०)	... ३५४
८४—त्याग और लोकसेवारूप योग (२० आर्यर ई० मैसी, इङ्गलैण्ड)	.. ३५५
८५—योग शब्द (पण्डितप्रबर श्री श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न)	... ३५८
८६—श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग (श्रीजयराम- दासजी 'दीन' रामायणी)	.. ३६२
८७—मनको वश करनेके कुछ उपाय (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	.. ३६५
८८—योगवल (पूज्य स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज)	... ३७१
८९—भक्तिके दो रूप—रागानुगा और वैष्णी (डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०)	.. ३७५
९०—योग (स्वामीजी श्रीअसगानन्दजी)	... ३७९
९१—योगमार्गके धिन (वैद्यशास्त्री प० श्रीकमल- कान्तजी त्रिवेदी)	.. ३८५
९२—श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग (प० श्रीत्याग्वक- भास्कर शास्त्री खरे)	.. ३८७
९३—योग और कुण्डलिनी (श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, वी० एल०, वेदान्तरत्न)	.. ४०३
९४—बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है (श्रीतपोवन स्वामीजी महाराज)	४०७
९५—ठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग (एक 'दीन')	... ४१३
९६—समाधियोग (श्री श्रीधर मजूमदार एम० ए०)	४२०
९७—योगकी प्राचीनता (प० श्रीविद्युतेखर भट्टाचार्य, एम० ए०, विश्वभारती, शान्ति- निकेतन) ४२४
९८—योग और उसके फल (स्वामी श्रीशिवानन्द- जी सरस्वती)	.. ४२५
९९—गीताका योग (स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती) ४३०
१००—अद्याङ्गयोग (प० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ)	४३५
१०१—अष्टाङ्गयोग (श्रीरामचन्द्रजी रमुवशी 'अखण्डानन्द') ४४१
१०२—त्यान-योग (साहित्यरत्न प० श्रीयमुना- प्रसादजी गर्मी, पालीवाल)	.. ४५१
१०३—ध्यानयोग (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	.. ४५३
१०४—चौरासी सिद्ध तथा नाथ-सम्प्रदाय (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)	४६८
१०५—योगेश्वरेश्वरका रासलीला-महायोग (श्रीसुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, वी० ए०, वी० एल०) ४७२
१०६—प्रेमयोगकी कुछ अवस्थाएँ (प० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	.. ४८७
१०७—प्रेमयोगिनी मीरा (प० श्रीसुवनेश्वरनाथजी मिश्र, 'माघव' एम० ए०)	.. ४९४
१०८—प्रेमयोग ५००
१०९—वियोग (आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी) ५०४
११०—विरहयोग (प० श्रीतुलसीरामजी गर्मा ‘दिनेश’) ५०६
१११—त्रजगोपियोंकी योगधारणा (प० श्रीप्रेम- नारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम')	.. ५०८
११२—महर्षि पतञ्जलि और योग (महात्मा श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)	.. ५०९
११३—योग, योगवित् और योगवित्तम (हरिभक्तिपरायण प० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत)	५१३
११४—षट्समाधिका अम्यास (श्रीशिवपुत्र स्वामी, श्रीसिद्धारुद्धमठ, हुवली) ५२३
११५—योगस्वरूप-दिन्दर्शन (श्रीआनन्दघनरामजी)	५२५

पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या	
१२६—आसनोंसे लाभ (स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी)	५२७	१३८—साख्ययोग (प० श्रीछबूरामजी शास्त्री, विद्यासागर)	६०८
१२७—चित्तकी दशाएँ (विद्यामार्तण्ड प० श्रीसीता- रामजी शास्त्री)	५३२	१३९—नामसङ्कीर्तनयोग (श्री श्रीधर विनायक माणडवगणे)	६०९
१४८—गीताका कर्मयोग (श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय एम० ए०)	५३४	१४०—योगनिरूपण (प० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिंसिपल, मारवाड़ी संस्कृत कालेज, काशी)	६११
११९—मेस्मेरिज्म और हिप्नोटिज्म (डा० श्रीदुर्गा- बहूरजी नागर, चम्पादक 'कृतपृष्ठ')	५३८	१४१—योगगिक्षाका महत्व (डॉ० श्री आर० जाम- शास्त्री, वी० ए०, पी०-एच० डी०)	६१४
१२०—गुरु-तत्त्व (प० श्रीकेशवदेवजी शर्मा)	५४५	१४२—परिशिष्टाङ्क नं० १ भाद्रपदका अंक	
१२१—गुरु-तत्त्व (प० श्रीरामनारायणजी ज्ञा, योनिधाचार्य, न्योतिष्ठतीर्थ, साहित्यकैसरी, साहित्यशास्त्री)	५४९	१४२—प्रार्थना (प्रै० सोलननरेशाश्रित श्रीमार्तण्ड पञ्चागकर्ता)	६१८
१२२—गुरु-तत्त्व	५५१	१४३—लययोग (श्रीसुन्दरलाल नाथालाल जोशी, विद्याबारिधि, एम० आर० ए० एस०)	६१९
१२३—दीक्षा-तत्त्व (गोम्बामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी)	५५२	१४४—जडयोग (श्री 'माधव')	६२२
१२४—प्राणायामविषयक मेरा अनुभव (स्वामी श्री- कृष्णानन्दजी महाराज)	५५४	१४५—व्यक्तियोग (एक 'दूरस्थ')	६२६
१२५—प्राणायामका गरीबपर प्रभाव (स्वामी श्री- कुवलयानन्दजी, कैवल्यधाम)	५६१	१४६—योग और योगी (श्रीतारकनाथ सान्याल, एम० ए०)	६२९
१२६—स्वर्गविज्ञान और विना औपषथ रोगनाशके उपाय (परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत् स्वामी श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती)	५७१	१४७—त्रिविधयोग (श्रीनकुलेश्वर मजूमदार विद्यानिधि वी० ए०, ए० टी० सी०)	६४०
१२७—घटकर्म (श्रीकमलप्रसादसिंहजी)	५८१	१४८—अ-क-थ-चक्र, सहस्रार, युक्तत्रिवेणी, मुद्रादिका रहस्य (प० श्रीगिवनारायणजी शर्मा सेंगई)	६४७
१२८—पादुका-पञ्चक (श्रीरामदयाल मजूमदार एम० ए०, सम्पादक 'उत्सव')	५८९	१४९—नमः प्राणाय यस्य सर्वमिद वशे (श्रीवासुदेव- शरणजी अग्रवाल, एम० ए०, एल-एल० वी०)	६५५
१२९—योगसे भगवत्प्राप्ति (प० श्रीमाघव दाल- जास्त्री दातार)	५९२	१५०—रीतामे योगका उल्लेख (श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय, एम० ए०)	६५८
१३०—मृन्युज्ययोग	५९३	१५१—शिवयोगमन्दिर (श्रीचिद्घन शिवाचार्यजी)	६६१
१३१—गीतामें योग, योगी और युक्त शब्दोंके विभिन्न अर्थ (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५९४	१५२—योगविद्या (प० श्रीहनूमानंदजी शर्मा)	६६३
१३२—पूर्णयोग (स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज सम्पादक 'प्रेमविनासु')	५९५	१५३—श्रीकैवल्यधाम	६६९
१३३—निष्काम कर्मयोगको कद समझेंगे ? (श्री- भगवानदासजी केला)	५९६	१५४—उदरसम्बन्धी योगिक व्यायाम (राजरक प्रौ० श्रीमाणिकरावजी, वडोदा)	६७०
१३४—सासार-योग (प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गढे)	५९७	१५५—यौगिक व्यायामका अ-व्यायामक्रम	६७४
१३५—योगशी अन्ति (श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती प्र० ए०, काव्यतीर्थ)	५९९	१५६—पेटके आसन	६८२
१३६—अनन्यव्याम (भक्तियोग) (प० श्रीकल्य- परजी चिपाटी)	६०१	१५७—स्नायुग्रलसवर्धन	६८६
१३७—गाव्ययोग (प्रौ० श्रीलौट्टमिहन्ती गौतम एम० ए०, ए० टी०, काव्यतीर्थ, एम० आर० ए० एम०)	६०५	१५८—समाधि और संयमतत्त्वसाग (श्रीत्रीभार्गव श्रीगियरामकिंकर स्वामी श्रीयोगव्रयानन्दजी के उपदेश)	६९१
		१५९—योगद रहस्यवु (कर्नाटकी भाषा) (श्री- रङ्गनाथरामचन्द्र दिवाकर, एम० ए०)	६९९

१६०—नाथपन्थमें योग (श्रीपीताम्बरदत्तजी वडथ्वाल, एम० ए०, एल-एल० वी०, डी० लिट०)	७०१
१६१—गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्कयोग (प० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे)	३०७
१६२—समाधियोग (वावा श्रीराघवदासजी)	७११
१६३—योग-तत्त्व (श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया)	७१३
१६४—योग क्या है? (श्रीभृपेन्द्रनाथ सान्याल)	७१८
१६५—योग तथा योगविभूति (महामहोपाध्याय प० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नर्सेण्ट सस्कृत कालेज, काशी)	७२३
१६६—भारतीय प्रस्तरकला और योग (प० श्री- वासुदेवजी उपाध्याय, एम० ए०)	७२४
१६७—योगका प्रयोग (काका कालेलकरजी)	७२७
१६८—प्रणवोपासना (सरदार श्रीमन्त रामराव कृष्ण- जटार, सुमतजुहौला बहादुर)	७३९
१६९—पातिव्रतयोग (प० श्रीप्रेमबलभजी त्रिपाठी शास्त्री, धर्मचार्य)	७४०
१७०—प्राणब्रह्म (योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज)	७४३
१७१—सूर्यविज्ञान (महामहोपाध्याय प० श्रीगोपी- नाथजी कविराज एम० ए०)	७४७
१७२—सत्सगयोग (महात्मा श्रीबालकरामजी विनायक)	७६०
१७३—क्षमायाचना (सम्पादक)	७६४

पद्म

१—प्रार्थना (श्रीमती 'सुदर्शनदासी'जी)	८०
२—योग-मठ (श्रीनरसिंहजी पाण्डेय 'पथिक')	११६
३—प्राणप्यारे (श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्र- सिंहजू देव बहादुर 'सुधाकर', शालावाड़- नरेश)	१४०
४—योगिराजके प्रति (प० श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र')	१४६
५—विरक्त (श्रीपन्यासजी महाराज विजय- माणिक्यरुचिजी यति 'मानिक')	१४८
६—अमर भये (स्व० योगिवर्य श्रीआनन्द- घनजी 'यति', प्रेषक—श्रीपन्यासजी महाराज रेवेरैप्ड)	२१०

७—प्रेमयोगी (श्रीखुबीरशरणजी जौहरी)	२३६
८—विरले योगी (स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदा- नन्दजी यति)	२४७
९—सांख्ययोग (मेवाड़ी भाषामें) (स्व० महाराजसाहब श्रीचतुरसिंहजी रचित, प्रेषक— श्रीजगदीशजी)	२६७
१०—योगवीणा (प० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय 'सत्य')	४६७
११—अनासक्तियोग (प० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, व्याकरणसाहित्यशास्त्री)	५१२
१२—सिद्ध-योगी (प० श्रीजगदीशजी ज्ञा- 'विमल')	५३७
१३—प्रेम-सन्देश (श्रीगोविन्दरामजी अग्रवाल)	५४४
१४—अन्तर्वेदना (श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश')	५७०
१५—कर्मयोग (कविसग्राट् प० श्रीअयोध्या- सिंहजी उपाध्याय 'हरि औध')	६१६
१६—योगमें नौ रस (प० श्रीशिवधनीरामजी मिश्र, 'साहित्यविशारद')	६२७
१७—योगाष्टक ('प्रेमयोगी मान')	६३८
१८—बटोहीसे (प० श्रीपद्मानातजी मालवीय)	६६८
१९—सबाद (स्वामी श्रीसर्वजीतपुरीजी)	७२२
२०—योगका योग (म० पुरोहित श्रीप्रताप- नारायणजी, ताजीमी सरदार)	७४६
२१—प्रेमयोग (श्रीगोहित परमानन्दजी)	८८३

संग्रहीत

१—प्रार्थना (कठवेदसे)	१
२—ससारकी नश्वरता (श्रीदयावाईजी)	५०
३—ध्यान (श्रीनारायण स्वामीजी)	२७३
४—शुद्धस्वरूप (श्रीभीखा साहब)	२८३
५—अभीष्ठार्षी (श्रीदादूजी)	२८९
६—जागो ! (श्रीधरनीदासजी)	२९४
७—सन्त-महिमा (श्रीगुलाल साहब)	६१०
८—प्रार्थना	६१७
९—आत्मदर्शन (श्रीसुन्दरदासजी)	६८१



(परिशिष्टाङ्क नं० १० रे आश्विनके अङ्गकी विषय-सूची)

	इत्यन्त्या		पृष्ठसंख्या
१-उच्च योगी [संप्रहीत कविता] (श्रीरसाहबजी)	... ७६७	३६-प्रसु चगदन्तु	... ७९०
२-योगी दरं द्विद दन्दे दन्दे योगेन्द्र हरिम्	... ७६८	३७-श्रीमहानन्दगिरिजी (पिताजी महाराज) (श्रीभवानन्दजी पिताजी तथा ‘मातृशरणजी’)	... ७९१
३-भगवान् हिरण्यगर्भ	... ७६८	३८-श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी	... ७९१
४-भगवान् उत्तोत्रेय	... ७६८	३९-हुक्कू पुरुष (श्रीअच्छुल गफ़कार)	... ७९२
५-योगी यान्वदृ	... ७६९	४०-आसामके प्रसिद्ध भक्तयोगी (वावा श्रीराघवदाचर्जी)	... ७९२
६-योगचार्य पदकलि	... ७६९	१ श्रीचड्करदेव	... ७९४
७-देवदृ कृष्ण	... ७६९	२ श्रीमाघवदेव	... ७९५
८-योगो नारद	... ७६९	विहारके योगी	
९-राज्ञि जनक	... ७७०	४१-घर्नीदाचर्जी	... ७९६
१०-प्रीछुन्देत सुनि	... ७७०	४२-दरिया साहब (विहारवाले)	... ७९६
११-भक्त प्रहाद	... ७७०	४३-स्वामी श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डी (स्वामी श्रीपरमानन्दजी)	... ७९६
१२-भक्त श्रुत	... ७७१	४४-उत्कलके भक्तयोगी (वावा श्रीराघवदासकी) १ महाभागवत श्रीलग्नाथदासजी	... ७९७
१३-प्रीछुयहुगचार्य	... ७७२	२ महात्मा श्रीबल्लामदासजी	... ७९८
१४-प्रीरामानन्दजाचार्य	... ७७२	३ महाभागवत श्रीअच्छुतानन्ददासजी	... ७९९
१५-प्रीवल्लभचार्य	... ७७३	युक्तप्रान्तके योगी	
१६-प्रीतिनिमार्कचार्य	... ७७४	४५-भक्त द्युदासजी	... ८००
१७-प्रीमध्वाचार्य	... ७७४	४६-गोस्वामी तुलसीदासजी	... ८००
१८-त्वामी श्रीरामानन्दजी	... ७७५	४७-चंत रैदासजी	... ८०१
१९-श्रीनदिव्यारूप नहानुनि	... ७७५	४८-योगी पल्लूजी	... ८०१
२०-श्रीशुष्णुनैतम्बदेव	... ७७५	४९-महात्मा जगजीवनजी	... ८०२
२१-नहामा कनीर्जी	... ७७६	५०-महात्मा भीखाजी	... ८०२
२२-नुर नानकदेवजी	... ७७७	५१-तुल्ला साहब	... ८०३
२३-योगिनज श्री शीचन्द्रजी	... ७७७	५२-महाराज तुलालजी	... ८०३
२४-योगिराम स्वामी देवचन्द्रजी और योगिवर श्रीप्राणनाथजी महाराज (श्रीरणछोड़वीरजी)	७८१	५३-उल्लनदासजी	... ८०३
२५-जैनयोगी आनन्दधनजी (श्रीअनेकान्तीजी)	७८१	५४-महात्मा धनदासजी	... ८०४
२६-महात्मा ईसा	... ७८२	५५-वावा मद्दकदाचर्जी	... ८०४
२७-महात्मा जैरच्छुत्र	... ७८२	५६-श्री-वदार्गानादा	... ८०५
२८-श्रीनत्येन्द्रनाथ	... ७८३	५७-स्वामी भास्त्रानन्दजी चरस्ती	... ८०५
२९-श्रीजालन्धरनाथ	... ७८३	५८-उद्गुर परम्परा अनन्तमहाप्रसुली महाराज (डाका श्रीराघवदासजी)	... ८०६
३०-योगी गोरक्षनाथजी (कटानी) (धीसवनाराइन चित्रगुप्त)	... ७८३	५९-गोरखमुग्ने स्वामी वावा (म०श्रीवालकरामजी विनायक)	... ८०६
३२-योगी नर्तुदरि	... ७८६		... ८०७
चंगालके योगी			
३३-योगिवर इयानाचरण लालिटी (प० श्रीन्देन्द्रनाथ साम्याल)	... ७९७		
३४-रम्यंस श्रीरामहण्डदेव	... ८८८		
पारण वामा	... ७८९		

पृष्ठ-संख्या

६०-स्वामीजी श्रीहीरादासजी (भक्त श्रीराम-			
शरणदासजी)	८१२		
६१-श्रीदूलहेवावाजी (मुश्ती श्रीलालताप्रसादजी) ८१२			
६२-श्रीनारायण स्वामीजी	८१३		
६३-परमहंस रामदासजी(श्रीकेशरीनन्दनप्रसादजी) ८१३			
६४-स्वामी गोमतीदासजी	८१४		
६५-महात्मा श्रीस्तपकलाजी	८१५		
राजपूतानाके योगी			
६६-महात्मा चरनदासजी	८१६		
६७-दरिया साहब (मारवाड़वाले)	८१६		
६८-सहजोवाई और दयावाई	८१६		
६९-श्रीजम्भोजी महाराज (श्रीसदासुखजी विश्वोई)	८१७		
७०-स्वामी श्रीहरिपुरुषजी महाराज (वैष्णव साधु श्रीदेवादासजी)	८१७		
७१-योगी मावजी (श्रीभवानीशङ्करजी उपाध्याय)	८१७		
७२-महात्मा दादूजी	८१८		
७३-महात्मा सुन्दरदासजी	८१९		
७४-योगप्रेमी महाराजा मानसिंहजी (साहित्याचार्य पं० श्रीविष्वेश्वरनाथजी रेझ)	८१९		
७५-श्रीफूलनारायण-आश्रमके स्वामीजी (कुँवर श्रीअमृतलालजी अवस्थी)	८२१		
७६-योगिनी मोतीवाई (पुरोहित श्रीहरिनारायणजी, धी० ए०)	८२१		
७७-महात्मा प० गणेशजी	८२४		
७८-चावा श्रीरामनाथजी (श्रीयुगलकिशोरजी विहळा)	८२५		
७९-योगिवर श्रीकुशलनन्दजी उर्फ मौनीजी (श्रीयुगलकिशोरजी अग्रवाल)	८२६		
८०-योगी महाराज चतुरसिंहजी (श्रीनाथूलाल भागीरथजी व्यास, अजमेर)	८२७		
८१-योगीन्द्र श्रीशीलनाथ महाराज (श्रीवालमुकुन्दजी व्यास, उजैन)	८२८		
पंजाव-सिन्धके योगी			
८२-सिन्धुप्रदेशके प्रसिद्ध योगिराज (श्रीवनखडीजी उदासीन) (श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य हिन्दूधर्मगुरु श्रीस्वामी हरिनामदासजी उदासीन, महन्त श्रीसाधुवेलातीर्थ, सक्सर, सिन्ध)	८३०		

८३-महात्मा गरीबदासजी	८३१		
८४-यारी साहब	८३१		
८५-महात्मा मथुरादासजी (प० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री पञ्चतीर्थ)	८३१		
८६-स्वामी श्रीरामदास काठियावावाजी (स्वामी श्रीसतदास वाबाजीकी पुस्तकसे)	८३२		
८७-स्वामी श्रीआत्मस्वरूपजी	८३३		
८८-महात्मा ब्रह्मप्रकाशजी (एक महात्माजीसे प्राप्त)	८३३		
८९-स्वामी रामतीर्थजी (श्री 'माघव') ...	८३४		
९०-श्रीहँडिया वावा (श्री 'मातृशरण'जी) ...	८३५		
९१-सत सियारामजी महाराज ...	८३६		
९२-चावा भगवान् नारायणजी (श्रीजिज्ञासानन्दजी गर्मा)	८३६		
गुजरातके योगी			
९३-भक्त नरसी मेहता	८३७		
९४-श्रीमनमनवाईंजी	८३८		
९५-गुजरातके तीन योगी (साधु श्रीगोमतीदासजी)			
१ योगिराज श्रीनन्द्यरामजी ...	८३८		
२ योगीन्द्र श्रीत्रिकमाचार्यजी ...	८३८		
३ जैनयोगीन्द्र श्रीराजचन्द्रजी ...	८३८		
९६-श्रीमाधवजी महाराज (श्रीरामचन्द्रजी रुवंशी 'अखण्डानन्द')	८३८		
९७-स्वामी श्रीनित्यानन्दजी महाराज (श्रीमोतीलाल जे० मेहता)	८३९		
९८-श्रीनर्मदातटके कुछ महात्मा			
१ श्रीरामजी वावा	८४०		
२ श्रीकमलेभारतीजी	८४०		
३ श्रीगौरीशकरजी महाराज	८४०		
४ श्रीनर्मदानन्दजी	८४०		
५ श्रीकृष्णानन्दजी	८४०		
६ श्रीमौनी महाराज	८४१		
७ श्रीमती रमावाई	८४१		
८ चन्द्रगेशरानन्दजी महाराज	८४१		
९ श्रीग्रन्थानन्दजी महाराज	८४१		
वराड़, महाराष्ट्र और दक्षिणके योगी			
९९-वरारके कुछ योगी (श्री ए० गो० सप्त्रे)			
१ उमरदेव	८४२		
२ सुपेनाथ बुवा	८४२		
३ फतेपुरी बुवा	८४२		

	पृष्ठ-संख्या		
४ महासिद्ध बुवा	...	३०८-श्रीमत्परमहस वासुदेवानन्द सरस्वती	
५ लोकेवा	..	३०८-श्री० म० वैद्य, एल० एम० एस०) ...	४५३
६ आवजी बुवा	...	३०९-श्रीसिद्धारुढ़ स्वामी महाराज	... ४५५
७ वालगोविन्द बुवा	...	३१०-श्रीमत्परमहस स्वामी नारायणानन्दजी सरस्वती	
८ सावजी बुवा	..	३१०-श्रीकेशबुद्धजी, काशी)	... ४५६
९ छोटे महासिद्ध बुवा	.	३११-भागवतयोगी श्रीवालशास्त्री दातार	... ४५६
१० बीरोवा	...	३१२-योगिराज श्रीसदागिवेन्द्र सरस्वती (आचार्य प० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, पञ्चतीर्थ)	... ४५७
११ सोनाजी बुवा	...	३१३-सिद्धयोगी श्रीजनार्दन स्वामी (ज्योतिः-काव्यालङ्कारभूपण प० श्रीविष्णु वालकृष्णजी जोशी, कन्नडकर)	... ४५८
१२ नरसिंहदास बाना	.	३१४-श्रीयोगानन्द मानपुरी बाबा , , ,	... ४५८
१३ देवनाथ	..	३१५-राजयोगी श्रीटीकाराम नाथ महाराज , , ,	.. ४५९
१४ दयालनाथ	..	३१६-महात्मा तैलग स्वामी	... ४६०
१५ हिंगरा	.	३१७-श्रीब्रेषाद्रि स्वामी (श्री 'मातृशरण')	... ४६२
१६ खटिया बुवा	..	३१८-तिव्वत और हिमालयके योगी	
१७ गुलाबराव महाराज	..	३१९-हिमालयके महापुरुष	... ४६३
१८ आप्पाजी महाराज (स्थान वणी)	...	३२०-तिव्वतके लामा योगी (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)	४६४
१९ रामकृष्ण बुवा (स्थान बागिन)	..	३२१-बौद्धयोगी	...
२० विष्णुदास (स्थान माहुरगड)	.	१ डॉन-टॉन-पा (Don-ton-pa)	४६६
२१ सखाराम महाराज (लोणी)	..	२ पो टो-पा (Po-to-pa)	४६६
२२ गोखालीनन्दन (सिंदखेड)	...	३२२-बौद्धयोगी	...
२३ रगनाथ महाराज (सिंदखेड)	.	१ अबलोकितेश्वर	... ४६६
२४ स्वामी अख्यूतानन्द (चंगेफल)	...	२ भव्य	... ४६६
२५ बालाभाऊ महाराज (मेहेकर)	...	३ अर्हत सुभूति	... ४६६
२६ शिवचरणगीर महाराज (अकोला)	४५६	४ रक्षाकर शान्ति	... ४६६
२७ नर्मदागीर बुधा	..	५ मञ्जु श्रीकीर्ति	... ४६६
२८ गोविन्द बुधा (वार्षी टाकली)	४५६	३२३-थियोसोफी मतके योगी	
२९ गजानन महाराज (ग्रेगॉष)	..	१२२-कर्नल ऑल्कॉट	... ४६७
३० गोमाजी महाराज (नागझरी)	..	१२३-मैडम ल्लेवेट्स्की	... ४६८
३१ सैयद अम्मा साहिवा (अकोला)	...	१२४-योगी टी० सुव्वाराष (प० श्रीभवानी-शङ्करजी महाराज)	... ४६९
३२ सादवल वली (सादवल)	४६६	१२५-कुछ योगियोके विषयमें मेरी व्यक्तिगत अभिज्ञता (श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)	... ४७२
३३ अमृतराय-	..	१२६-एक सिद्ध पुरुषका दर्शन (चतुर्वेदी प० श्री-द्वारकाप्रसादजी शर्मा)	... ४७५
१००-श्रीचागदेव महाराज (प० श्रीनरहर शास्त्री-जी खरशीकर)	...	१२७-नम्र निवेदन	... ४७९
१०१-श्रीज्ञानेश्वर महाराज	...	१२८-चित्र-परिचय	... ४८०
१०२-श्रीएकनाथ महाराज	...	१२९-गीताप्रेमियोंसे नम्र निवेदन	... ४८४
१०३-समर्थ गुरु रामदास	.		
१०४-श्रीतुकाराम महाराज	..		
१०५-भक्त नामदेवजी	..		
१०६-योगी सोहिरोवानाथ आंविये	...		
१०७-श्रीमाणिक्य प्रभु	..		

चित्र-सूची

पृष्ठ-संख्या

वहुरंगे

१- योग (श्रीविनयकुमार मित्र)	सुखपृष्ठ		
२-योगीश्वर श्रीगिरि („ „)	१	३६-सकीर्तनयोगी श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु (श्रीधनुषराम)	६०९
३-ध्यानमग्ना सीता (श्रीजगन्नाथ)	२४	३७-जडयोग (श्रीजगन्नाथ)	६२२
४-अष्टाङ्गयोग (श्रीविनयकुमार मित्र)	४८	३८-प्रेमयोगी नारद (श्रीविनयकुमार मित्र)	६३९
५-ज्ञानयोगी शूकदेव („ „)	७२	३९-नित्ययोग (सहस्रारमें शिवशक्ति) (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार)	६४७
६-ज्ञानयोगी राजा जनक (श्रीहकीम)	८८	४०-तपस्विनी (श्रीसोमालाल शाह)	६५०
७-योगेश्वरका योगधारणासे परम प्रयाण (श्रीजगन्नाथ)	११२	४१-योगायि (श्रीजगन्नाथ)	७२३
८-योगाश्रम (श्रीहकीम)	१६०	४२-प्रणव-योग (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार)	७३९
९-नवघाभक्ति (श्रीविनयकुमार मित्र)	१८८	४३-योगमाया (श्री यू० के० मित्र)	७६०
१०-विविध योग („ „)	२०८	४४-ध्यानयोगी ध्रुव (श्रीविनयकुमार मित्र)	
११-महायोग (श्रीलक्ष्मीनारायण) (मियाँ वसन्त-सिंहजी जागीरदार)	२३३	४५-टाइटल परिशिष्टाङ्क नं० २ (अधिवनकी सख्या)	
१२-ध्यानस्थ भगवान् बुद्धदेव (श्रीसोमालाल शाह)	२८०	४६-श्रीश्रीशङ्कराचार्य (श्रीदत्तात्रेय देवलालीकर)	७६७
१३-ध्यानमग्न भरत (श्रीजगन्नाथ)	३२८	४७-प्रेमी भक्त श्रीसुरदासजी (प्राचीन चित्र)	७६७
१४-सत्सनानभूमिका (श्रीविनयकुमार मित्र)	३४४	४८-अबलोकितेश्वर } पटना म्यूजियमसे प्राप्त	८६६
१५-मर्यादायोग (श्रीसीताराम) (श्रीप्रेमचन्द्र, झालापाटन)	३६४	४८-भव्य	
१६-आधारचक्र (श्रीघनुषराम)	३८८		
१७-स्वाचिष्ठानचक्र („ „)	३८८		
१८-मणिपूरकचक्र („ „)	३८९		
१९-अनाहतचक्र („ „)	३८९		
२०-विशुद्धाख्यचक्र („ „)	३९२		
२१-आशाचक्र („ „)	३९२		
२२-शून्यचक्र („ „)	३९३		
२३-षट्कक्रमूर्ति („ „)	३९३		
२४-गोलोकमें नरसी मेहता (श्रीसोमालाल शाह)	४२०		
२५ से २८-गोपियोंकी योगधारणा (श्रीविनयकुमार मित्र)	४६७		
२९-अनन्ययोग—श्रीराधाकृष्ण (श्रीविनय-कुमार मित्र)	४८४		
३०-प्रेमयोगिनी मीरा (श्रीसोमालाल शाह)	४९७		
३१-जाग्रदवस्था चित्र नं० १ (श्रीजगन्नाथ)	५३२		
३२-स्वप्नावस्था चित्र नं० २ („ „)	५३२		
३३-सुपुसि अवस्था चित्र नं० ३ („ „)	५३२		
३४-तुरीयावस्था चित्र नं० ४ (श्रीविनयकुमार मित्र)	५३२		
३५-भक्तियोग चित्र नं० ५ („ „)	५३३		

पृष्ठ-संख्या

३६-सकीर्तनयोगी श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु (श्रीधनुषराम)	६०९
३७-जडयोग (श्रीजगन्नाथ)	६२२
३८-प्रेमयोगी नारद (श्रीविनयकुमार मित्र)	६३९
३९-नित्ययोग (सहस्रारमें शिवशक्ति) (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार)	६४७
४०-तपस्विनी (श्रीसोमालाल शाह)	६५०
४१-योगायि (श्रीजगन्नाथ)	७२३
४२-प्रणव-योग (मियाँ वसन्तसिंहजी जागीरदार)	७३९
४३-योगमाया (श्री यू० के० मित्र)	७६०
४४-ध्यानयोगी ध्रुव (श्रीविनयकुमार मित्र)	
४५-टाइटल परिशिष्टाङ्क नं० २ (अधिवनकी सख्या)	
४६-श्रीश्रीशङ्कराचार्य (श्रीदत्तात्रेय देवलालीकर)	७६७
४७-प्रेमी भक्त श्रीसुरदासजी (प्राचीन चित्र)	७६७
४८-अबलोकितेश्वर } पटना म्यूजियमसे प्राप्त	८६६
४८-भव्य	

दुरंगे

४९-योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण (श्रीकनूदेसाई)	३०४
५०-समाधिस्थ शिव („ „)	३६०

इकरंगे

५१-योगदर्जन मूल	८
५२-ॐकार-महिमा	९
५३-सारनाथकी बुद्धप्रतिमा	२८६
५४-दीपङ्कर श्रीज्ञान (अतिग्रा)	२८६
५५-तिव्रतके दलाई लामा	२८६
५६-तिव्रतके ताशी लामा	२८६
५७-तकल्कोटके राजमार्गका दृश्य	२८८
५८-तिव्रतका विहङ्गमदृश्य	२८८
५९-दलाई लामाका पोटाला राजमहल	२८८
६०-ॐ मणिपद्मे हु	२८९
६१-लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं	२८९
६२-षट्कक्रमूर्ति चित्र नं० १	३९०
६३-षट्कक्रमूर्ति चित्र नं० २	३९०
६४ से १४६-चौरासी चिद्धोंके ८३ चित्र	४७२
१४७-अजन्तागुफा नं० १९ का सामनेका दृश्य	४७३

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

१७८—अजन्तागुफा, मन्दिरोकी गुफा न० २६ का सामनेका दृश्य	...	३६३—श्रीज्ञानेश्वर महाराज	७७७
१४९—आगेग्य तंजस्	...	३६४—श्रीएकनाथ महाराज	७७७
१५०—ऑडिलिक फोर्स	...	३६५—समर्थ गुरु रामदास	७७७
१५१—इन्डियाशक्ति और सूचनाका प्रयोग	...	३६६—सत तुकाराम महाराज	७७७
१५२—डाक्टर ब्रेडका हिमोटिज्मका तरीका	...	३६७—योगिराज श्री १०८ श्रीमत्स्येन्द्रनाथजी	७८२
१५३—प्राणायामका चार्ट	...	३६८—योगिराज श्री १०८ श्रीगोरखनाथजी	७८३
१५४—मूल, उड़ीयान और जालत्तरबन्ध	...	३६९—श्रीगोरखनाथ मन्दिर, गोरखपुर	७८३
१५५—महर्षि पतञ्जलिका योगोपदेश भाद्रपदका सुखपृष्ठ	...	३७०—स्वामी श्रीगम्भीरनाथजी	७८३
१५६—शिवयोग मन्दिर	...	३७१—योगिराज इयामाचरण लाहिड़ी	७८६
१५७—वसवलिङ्ग खामीजी एलदूर	...	३७२—गो० ठाकुर भक्तिविनोदजी	७८६
१५८—महत स्वामीजी, हळकल्ह	...	३७३—महात्मा बामाक्षेपा	७८६
१५९—हानग्रह श्रीकुमार शिवयोगीजी	...	३७४—महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी	७८६
१६०—कैवल्यधाम—लोनावला	...	३७५—स्वामी महानन्दगिरि पिताजी महाराज	७८७
१६१—कैवल्यधाम—विहङ्गम दृश्य	...	३७६—श्रीनरोत्तमबाबाजीके गुरुदेव	७८७
१६२—कैवल्यधाम—वम्बई शाखा, प्रधान कुटीर	...	३७७—श्रीमत्पूर्णानन्द स्वामी	७८७
१६३—कैवल्यधाम—वम्बई शाखा, बगीचा	...	३७८—योगिराज योगानन्दजी	७८७
१६४—कैवल्यधाम—कनकेश्वर शाखा	...	३७९—रामकृष्ण परमहस	७८८
१६५—मलसरके श्रीमाधवदासजी महाराज	...	३८०—प्रभु जगद्गुरु	७८८
१६६ से १८३—उदर-सम्बन्धी व्यायामके १८ चित्र	६७२	३८१—स्वामी बिवेकानन्द	७८८
१८४ से २११—योगासनके २८ चित्र	६७४	३८२—स्वामी शारदानन्द	७८८
२१२ से २७९—उदर-सम्बन्धी आसनके ६८ चित्र ६८२	...	३८३—तैलङ्ग स्वामी	७८९
२८० से ३४७—स्नायुवलसवर्धन व्यायामके ६८ चित्र ६९०	...	३८४—स्वामी मास्करानन्द	७८९
३४८—सवितरक और सविचार समाधिकी अवस्था	६९६	३८५—स्वामी विशुद्धानन्द	७८९
३४३—सानन्द और ससितावस्था	६९६	३८६—महात्मा भगनीरामजी	७८९
३५०—सानन्द अवस्थाका घोतक, शङ्करभाव	६९६	३८७—श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी महाराज	८१२
३५१—ससितावस्थासे असम्प्रज्ञात अवस्थामें जा रहे हैं	६९६	३८८—गोस्वामी श्रीहितहरिवशजी महाराज	८१२
३५२—योगाचार्य भगवान् दत्तात्रेय और अलर्क	७६८	३८९—गोस्वामी श्रीचन्द्रलालजी महाराज	८१२
३५३—योगाचार्य महर्षि याजवल्य (,,)	७६९	३९०—भक्तबर श्रीहरिदासजी महाराज	८१२
३५४—श्रीरामानुजाचार्य	७७४	३९१—स्वामी श्रीहीरादासजी	८१३
३५५—श्रीनिम्बाकीचार्य	७७४	३९२—स्वामी श्रीउग्रानन्दजी	८१३
३५६—श्रीमध्वाचार्य	७७४	३९३—श्रीदूलहेबाबाजी	८१३
३५७—श्रीवल्लभाचार्य	७७४	३९४—स्वामी श्रीनित्यानन्दजी	८१३
३५८—वेदभाष्यकार धीश्रीविद्यारण्य सुनिन्दी	७७५	३९५—स्वामी श्रीयुगलानन्दशरणजी	८१४
३५९—स्वामी धीरामानन्दजी	७७६	३९६—स्वामी श्रीसीतारामशरणजी	८१४
३६०—श्रीकवीरजी	७७६	३९७—स्वामी श्रीजानकीवरदशरणजी	८१४
३६१—गुरु नानकदेवजी	७७६	३९८—स्वामी श्रीरामबलभाशरणजी	८१४
३६२—महात्मा श्रीचन्द्रजी	७७६	३९९—वावा श्रीगोमतीदासजी	८१५
		४००—श्रीरूपकलाजी	८१५

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
४०१-श्रीपरमहंस रामदासजी	...	४३६-श्रीमौनी स्वामीजी	...
४०२-श्रीअनन्त महाप्रभुजी महाराज	...	४३७-स्वामी गौरीशङ्करजी	...
४०३-परमहंस खननाथजी	..	४३८-स्वामी नर्मदानन्दजी	...
४०४-स्वामी मङ्गलनाथजी	..	४३९-स्वामी चन्द्रशेखरानन्दजी	...
४०५-स्वामी उच्चमनाथजी	...	४४०-स्वामी ब्रह्मानन्दजी	...
४०६-स्वामी श्रीअमृतनाथजी	.	४४१-स्वामी कृष्णानन्दजी, विमलेश्वर	...
४०७-तिगरानेवाले महात्मा	..	४४२-भजनानन्दी रामबाईजी	...
४०८-महात्मा श्रीगणेशजी	..	४४३-गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी	...
४०९-महात्मा श्रीरामनाथजी	...	४४४-स्वामी नारायणजी	...
४१०-श्रीस्वामी हरिपुरुषजी महाराज	...	४४५-स्वामी चिद्घनानन्दजी	...
४११-योगीन्द्र श्रीशीलनाथजी महाराज	..	४४६-श्रीजांभोजी महाराज	..
४१२-श्रीकुगलानन्दजी	...	४४७-स्वामी श्रीवासुदेवानन्दजी सरस्वती	...
४१३-महाराजा श्रीमानसिंहजी, जोधपुर	...	४४८-श्रीसिद्धारूढ स्वामीजी	...
४१४-श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डीजी	...	४४९-श्रीनारायण नृसिंहजी सरस्वती	...
४१५-स्वामी श्रीशिवसागरपुरीजी	...	४५०-प० श्रीवालशालीजी दातार	...
४१६-श्रीमान् माघवजी महाराज, रुपाल	...	४५१-श्रीजनार्दन स्वामी, देवगिरि, दौलतावाद	४५८
४१७-स्वामी श्रीमुक्तानन्दजी	..	४५२-राजयोगी श्रीटीकारामजी महाराज	...
४१८-श्रीवनखण्डीजी महाराज उदासीन	...	४५३-श्रीगुलावराय महाराज	...
४१९-श्रीरामदासजी (काठियावावाजी महाराज)	४३२	४५४-श्रीयोगानन्द मानपुरी वावा	...
४२०-श्रीहँडिया वावाजी	..	४५५-श्रीशेषाद्रि स्वामी	...
४२१-स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी	...	४५६-श्रीमाणिक्य प्रभु	...
४२२-उदासीनाचार्य स्वामी आत्मस्वरूपजी	...	४५७-मंजु श्रीकीर्ति	...
४२३-योगिराज श्रीवनखडीजी (नेपालवाले)	...	४५८-रत्नाकर शान्ति	...
४२४-श्रीभगवन्नारायणजी	..	४५९-अर्हत सुभूति	..
४२५-स्वामी रामतीर्थजी	...	४६०-प०-टो-पा	...
४२६-स्वामी सियारामजी	...	४६१-डॉन-टॉन-पा	...
४२७-योगाचार्य श्रीटोकरास्वामीजी	..	४६२-शूलीपर ईसा	...
४२८-श्रीमनमनदाईजी उपनाम माजी महाराज	...	४६३-श्रीजिरथोल	...
४२९-श्रीआत्मस्वरूपजी ब्रह्मचारी	...	४६४-मैडम एच० पी० व्लेवेट्स्की	..
४३०-श्रीरेवागङ्करजी	..	४६५-कर्नल हेनरी स्टील आलक्ट	..
४३१-महात्मा श्रीनत्यूरामजी शर्मा	...	४६६-डा० एनी वेसेंट	...
४३२-महाराज श्रीनृसिंहस्वामीजी	...	४६७-श्री टी० सुन्दराष	...
४३३-योगी श्रीराजचन्द्रजी	...		
४३४-महाराज श्रीत्रिकमाचार्यजी	..		
४३५-स्वामी कमलमारतीजी	..		
	...		

ॐ पूर्णमद् पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावगिष्ठ्यते ॥



तपस्मिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां महतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे सुक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० }

गोरखपुर, श्रावण १९९२, अगस्त १९३५

{ संख्या १
पूर्ण संख्या १०९

स चार कूटे योग आ भुवत् य रायै स पुर्व-

ध्याम् । गमद् वाचोचिता स चूँ ।

(अंक ३ । ५ । ३)

शरणागतियोग

(भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य उपदेश)

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।

स्थियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥

किं पुनब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥ (९।३२-३३)

हे अर्जुन ! मेरे अनन्यशरण होकर स्त्री, वैश्य और शूद्रगण तथा चाण्डालादि पापयोनिवाले भी निश्चय परमगतिको प्राप्त होते हैं । फिर पुण्ययोनि ब्राह्मण तथा राजर्षि (मेरे शरणागत) भक्तोंकी तो वात ही क्या है । अतएव तुम इस सुखरहित और अनित्य मनुष्यजन्मको पाकर निरन्तर मेरा ही भजन करो ।

मन्मना भव मङ्गल्को मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)

तुम मुझमे ही मन रखवो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो । इस प्रकार मेरे शरण होकर आत्माको मुझमे समाहित करके तुम मुझको ही प्राप्त होओगे ।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।

इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥ (१८।६४)

सब गोपनीयोंमे भी परम गोपनीय मेरे परम रहस्ययुक्त वचन तुम फिर सुनो । तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसीलिये तुम्हारे हितकी वात वताता हूँ ।

मन्मना भव मङ्गल्को मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८।६५-६६)

हे अर्जुन ! तुम केवल मुझमे ही मन रखवो, मेरे ही भक्त बनो, मेरा ही पूजन करो और मुझे ही नमस्कार करो । ऐसा करनेपर तुम मुझको ही प्राप्त होओगे । यह मैं तुम्हें सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, क्योंकि तुम मेरे (वहुत ही) प्यारे हो । सब धर्मों (इसरे सब तरहके आश्रयों) को त्यागकर एकमात्र मेरी ही अनन्य-शरणमें आ जाओ । मैं तुम्हें सब पापोंसे सर्वथा छुड़ा दूँगा । तुम चिन्ता न करो ।

यही सर्वोत्तम योग है ।

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेपक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीवर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य न्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

ऐहिकौचिंचकफलालिविरक्ति भक्तियुक्तनिजधर्मनिपक्तिस् ।
शान्तिदान्त्युपरतातिंतिक्षामुख्यपद्मुणविवेकमुमुक्षा ॥
ग्राम्यादिष्टविधितत्यनुरोधं स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम् ।
यो उदाति गुरुर्वश्वयोगं नौमि नाशितनमद्ववरोगम् ॥
होमप्रमुख्येर्जगति द्विजाद्या कर्मवैर्भक्तिविवोधनाभ्याम् ।
इच्छन्ति यत्तत्फलदायिकाभ्या नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हिरण्यरभाधिकवोधताभ्या श्ररण्यसंघातगिरोमणिभ्याम् ।
अरण्यमोधैक्यमतिप्रदाम्या नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥
हौत्रायिहोत्रायिहविष्यहोत्रहोमादिसर्वाकृतिभासमानम् ।
यद्वद्व तद्वोधवितारिणीभ्यां नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥

कल्याणकी इच्छासे प्रेरित होकर कल्याणके रास्ते और
मायनकी खोजमे निकले हुए प्रत्येक विचारणील मनुष्यका
अनुभव है कि यद्यपि भगवानकी रची हुई सृष्टिके अन्तर्गत
अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवाले अनन्तकोटि जीवोंमें शरीर,
इन्द्रिय, चित्तवृत्तियों, वृद्धि, विद्या, अभ्यास आदि अशोंमें
अनन्त मेदोंके होनेके कारण कल्याण या शाश्वत श्रेयके साधन-
के विचारमें अनन्तकोटि मतभेद हुआ करते हैं, और एक-
एक जीवके मनमें भी एक ही दिनमें असंख्य मतपरिवर्तन
हो जाया करते हैं, तो भी सब जीवोंके विचारमें इस
वातमें अत्यन्त एकता हमेशा नजर आती है कि उनका
अन्तिम लक्ष्य तो एक ही हुआ करता है । वह वह है कि
हमें सब स्थानोंमें, सब समयोंमें, सब अवस्थाओंमें और
सब प्रकारसे सुख-शान्ति मिलती रहे और हमारी उन्नति
ही होती रहे; किसी स्थानमें, किसी अवस्थामें, किसी वातमें,
किसी प्रकारका तनिक भी हु ख, अग्रान्ति या अवनति न
होने पावे । इसी स्वाभाविक एव अनिवार्य चित्तवृत्ति तथा
इच्छासे प्रेरित होकर सब जीव अपने-अपने विचार तथा
ग्रन्थके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं ।

जीवनका चिह्न

इसमें तो मन्देह या मतभेद नहीं है कि उन्नतिकी
इच्छा स्वाभाविक ही नहीं, अपितु अत्यन्त आवश्यक
एव उचित भी है । क्योंकि उन्नतिकी इच्छा तथा उसके
नायनका विचार और उसे प्राप्त करनेका उन्नोग करना,
यही हर एक जीवके जीवनका मुख्य एव असारिंध्र चिह्न
है । सब प्रश्निये तो यह कहनेमें भी अत्युक्ति न होगी कि
जहाँ उन्नतिकी इच्छा, विचार और प्रयत्न न होते हो वहाँ

या तो जान ही नहीं है अथवा वह जान घटते-घटते जनै-
जनै मृत्युकी ओर अप्रसर हो रही है । अर्थात् ऐसा
जीव ‘जीवन्नपि मृत एव’—कटनेको जीवित होते हुए भी
यथार्थमें मुर्दा ही है । यह एक ऐसी सर्वथा सत्य वात है
जिसका निराकरण या प्रतिवाद तो दूर रहा, जिसके वारेमें
मतभेद या उन्नतिक नहीं हो सकती ।

उन्नतिका सच्चा अर्थ

परन्तु साथ-ही-साथ उन्नतिके विचार और प्रयत्नमें
इसलिये कठिनाई होती है कि हमलोग सच्चे दिलसे अपने
कल्याण और उन्नतिको चाहते हुए भी किसी तत्त्वका
भलीभौति विचार नहीं करते और उन्नतिके यथार्थ
लक्षणको न समझकर अमर्में पड़ जाते हैं, बल्कि अपनी
उन्नतिकी इच्छासे जो कुछ करते हैं उसीसे अवनतिके
मार्गमें पहुँचकर स्वयं अपने ही अपराधोंसे अनेक नये-नये
दुःखोंको भोगते हुए लाचार होकर पश्चात्तापसे वारंवार
सन्तास होते रहते हैं । इसलिये इस वातकी अत्यन्त
आवश्यकता होती है कि पहले हम अपने असली और
सच्चे लक्ष्यका पता लगाकर उसके बाद साधन या रास्तेके
विचारमें उतरे ।

लक्ष्य और साधनका क्रम

लोकिक कार्योंमें भी तो यही क्रम होता है कि पहले
हम अपने प्राप्तव्य स्थान (Goal या Destination)
का सङ्कल्प या निश्चय कर लेते हैं और तत्पश्चात् रास्तेके
वारेमें जिजासा करने लगते हैं । यदि अनेक गते हो तो
उनमेसे कौन-सा रास्ता सबसे नजदीक है, कौन सा सबसे
भी व्यापक होनेवाला है, कौन-सा सबसे नस्ता है और किसमें
सबसे अधिक आराम है—इस वातका निश्चय करते हैं ।
किन्तु वडे खेडकी वात है कि इन छोटी-छोटी यात्राओंमें
भी इसी क्रमसे काम करते हुए और अपनी वृद्धिमत्ता,
होशियारी और चालाकीपर अत्यन्त प्रसन्न होते हुए भी
अपने जीवनलूपी इस वडी सामारिक यात्राके विषयमें
(जिसपर हमारे इसी जन्मकेनहीं, अपितु सम्भवत हजारों
जन्मोंके सुख-दुःख निर्भर करते हैं) हमलोग अपने
महान् उत्तरगदायित्वका तनिक भी खयाल न करके इन्हीं
विचारग्रन्थता दिखाया करते हैं कि हम इस प्रागमित्यक

वानका भी नहीं माचते कि इमार्ग उम ग्रीवनर्पी लवी
यात्राका लक्ष्य क्या है।

उपदामकी वात

यात्रा तो शुभ या चूकी है और हम अपने लक्ष्यकी
शिक्षाका भी न जानते हुए, यात्राम बहुत दूर निकल
जानेक बाट भी, लक्ष्यका विचार न करक गम्भीर
मिलनेवाले प्रथेक व्यक्तिसे पुछत रहते हैं कि उसे किस
मार्गसे जलना चाहिये, अपना कवल चर्चामात्र करने
रहत है कि अमक मार्ग ही अच्छा है, अमुक नहीं, इत्यादि।
इससे बढ़कर अपवा इसक समान भी उपदामकी वात
और उसा या गक्की है कि स्वयं रम ही न जाने कि उसे
कर्ता जाना है, यही नहीं, उस औंगक माय चर्चा भी
करते रहे कि कौन-या गमना अच्छा है, इत्यादि ॥

इसका परिणाम

जब स्वयं उम ही नहीं जानत कि इसकर्ता जाना है और
इसलिये अपने लक्ष्यका निश्चय न करत हुए एक व्यक्ति-
से अपने मार्ग या साधनके बारेम प्रश्न करते या सलाह
माँगते चलते हैं, तभ इसका यही परिणाम स्वाभाविक,
उच्चत एव अनियाय भी है कि इससे सलाह माँगी जाती
है बह इमार्ग भीतरक लक्ष्यका न जानत हुए, और कठाचित
अपन घन्टरके लक्ष्यका भी विचार न करत हुए उसी
पर उसके गमनम जो मार्ग अच्छा या ठिकर लगाया
उसीका बता मंगा और बतानेका विवश देंगा। अतः
इस स्वरूपे पहुँचे अपन अमली और यतानेका लक्ष्यका बता
न्याना होंगा। लक्ष्यका निश्चय दो जानेके बाट साधनका
विचार भपने आप उपस्थित होगा। इसलिये इस लेखके
आगम्भी इसी वातका उपानुष्ठानरूपसे विचार किया जाता
है कि मनुष्यार्थात् अगली लक्ष्य क्या है ?

अमली लक्ष्य एक ही है

यह विचार आगम्य करनसे पहल वा आनेप हो
गता है कि एक एक मनुष्यक मनम भी एक ही दिनमें
और एक एक वर्षम वहूँ मी इच्छार्थ उत्पन्न होती
है और उनम वारवार परिवर्तन भी होता करत है, अतः
एक ही व्यक्तिसे इडयका भी एक ही निश्चित और नियत
लक्ष्य नहीं होता। ऐसी वाल्तमें होता ग्रकारक और
अव्यक्त विविध विचारके मनुष्यामा एक ही लक्ष्य को
दो गक्का है ? इस प्रकार उनम यह ? कि जब एक-एक
यह विचारी और इच्छाग्रोम भी विपुल भर दा जाया

करते ? तब अनन्तकोटि मनुष्योंके विचारगम अनन्त भेदोंमा
जाना अवश्यमार्या है। ऐसी दशामें सबके मनमें एक ही
उच्छ्वास या लक्ष्यका हाना अममगव सा जात होता है। तो यही
वदे आश्रय और आनन्दकी वात है कि नव हम उपर-ऊपर-
का विचार छोड़कर गहर विचारमें उत्तरत है तब हमें उसी
दण पता लग जाता है कि वशपि मनुष्य-मनुष्यके विचारगम
और चित्तगृहीत्यांमें मन्यार्थात् भद्र होता भी होग सबका
आनन्दम, अमली और गम्भा लक्ष्य तो एक ही है, एक ही
प्रकारका है और एक ही प्रकारके लक्षणावाला है।

साधनके विचारमें भेद

यह विन्दुष्ट सत्य है कि एक आदमी पेमेके पीछे पड़ा
हुआ नजर आता है, दूसर शर्मिको तदुर्भवी गव बल्की
ग्राममें है, तीसर विद्याकी चिन्तामें रहता है, चौथा कीनि-
का भूखा है, इत्यादि, इत्यादि। किन्तु ऊपर-ऊपर न नाकग
ओड़ा भी गहरा विचार करनेपर हम सबका स्पष्ट हो जाता
है कि काई भी इन चीजोंके लिये इन चीजोंको नहीं
जाहता, वांक उपर्युक्त एक-एक वस्तुको—सब मिडाल्टके
अनुगम या ग्रममे—अपने हृदयके अर्भाष्ट अव्यष्ट,
परिपूर्ण और शाश्वत धार्ति और आनन्दमर्पी असुली एव
सब लक्ष्यका माधव भमलकर और मानकर, उसकी
प्राप्तिके लिये प्रयत्न करना है। उदाहरणार्थ, गत-दिन
पेमेका भी चिन्तन और ध्यान करनेवाले किसी व्यक्तिसे
पुछा जाय कि तु पेमा क्या जाहता है, तो वह जवाब दगा कि
पेमेमे से अमुक-अमुक भागोंका उपर्याग कर गकता है।
उपर उससे पुछा जाय कि त अमुक-अमुक भागोंका भी
भोगना जाहता है, तो वह यही उत्तर देगा कि मुझ अमुक-
अमुक भागमे आनन्द होता है। अगर कि उससे पुछा
जाय कि त आनन्दको म्या जाहता है तो इस प्रकार उत्तर-
में यही जवाब उभया मिलता है कि आनन्द जाहना
स्वाभाविक है। काई यह नहीं कहता कि मे अमुक
प्रयोगन या उपरकी प्राप्तिके लिये आनन्द जाहता है।
तदुर्भवी, वह, विद्या, कीनि शादि अन्य सब पदायाके
वार्षम भी इसी प्रकारके प्रवाचन होते हैं।

लक्ष्यकी एकता और लक्षण

नात्पर्य यह है कि आनन्द ही सबका एकमात्र लक्ष्य
है और धन-धान्य, गृह, नी, पृथ, विद्या, आगम्य, कीनि
शादि गव पदायाको आनन्दमर्पी अपने हृदयके अमली,
सब और अन्तिम लक्ष्यका माधव भमलकर हमलोग उन-

मन चाँचोंके पीछे पड़ा करते हैं। अर्थात् विचारमें जितने में भेद होते हैं वे सब-के-सब साधनके बारेमें हैं, लक्ष्यके विषयमें तो तिलमात्र या अणुमात्र भी भेद नहीं होता और न हो सकता है। अब आगे हमें इस बातका विचार करना है कि हम सबके हृदयके भीतर हमेशा रहनेवाले इस आश्रित और अखण्ड आनन्दस्पी लक्ष्यके अन्तर्गत क्या-क्या लक्षण होते हैं, उन्हें जाननेके लिये शास्त्रीय प्रन्थोंके प्रमाण अथवा अन्य किसी मनुष्यविशेषकी साक्षी लेनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने ही दिलसे पूछ-पूछकर कि है दिल। तू क्या-क्या चाहता है, हम पता लगा सकते हैं कि हमारे हार्दिक लक्ष्यके कितने लक्षण होते हैं और वे क्या-क्या हैं।

पहला लक्षण—सत्त्वरूप

प्रत्येक जिजामुको अपने दिलसे ही पूछनेपर कि है हृदय। तू क्या चाहता है, पता लग सकता है कि मनुष्य-मात्रके ही नहीं, बल्कि जीवमात्रके मनमें स्वभावसे ही सबसे पहले यहीं इच्छा हुआ करती है कि मैं सदा जीवित रहूँ। जो अत्यन्त वृद्ध और विल्कुल कमज़ोर हो गया है, जिसके नेत्र, थोन्ट, बुद्धि आदिसे कुछ भी काम नहीं होता, जिसकी जठराभिमें अत्यन्त हल्के खाच और पेय पदार्थोंको भी हज़म करनेकी शक्ति नहीं रह गयी है और जो नाम-मात्रको जिन्दा रहते हुए भी यथार्थमें मरा हुआ ही नमक्षा जाना चाहिये, ऐसा मनुष्य भी मरना नहीं चाहता, बल्कि मर्वदा जीते ही रहना चाहता है। ऐसे आदमीसे यदि पृथ्वी जाय कि तू जिन्दा रहकर क्या करेगा और क्या कर सकता है, अथवा तू जिन्दा रहना क्यों चाहता है इत्यादि, तो कदाचित् उससे यहीं उत्तर मिलेगा कि जिन्दा रहनेकी इच्छा स्वाभाविक है, उसमें कारणकी अपेक्षा नहीं होती। अर्थात् जिन्दा रहना ही स्वत एक लक्ष्य है, किसी इतर लक्ष्यका साधन नहीं है। इस प्रकारके विचारसे स्पष्ट है कि गदा जीवित रहना हम सबका प्रथम लक्ष्य है। और इसीका हमारे शास्त्रोंमें सत्पदार्थ (त्रिकालावात्यमस्तित्वम्) नाम है।

दूसरा लक्षण—चित्तपदार्थ

इसी प्रकार अपने-अपने दिलसे पूछनेपर सबको पता लग सकता है कि हम सब जिन्दा गहते हुए सब पदार्थोंको जानना चाहते हैं। अर्थात् जान है हम सबका दूसरा लक्ष्य आर-ट्सीका नाम है हमारे वेदान्तकी परिभाषामें चित्।

तीसरा लक्षण—आनन्द-पदार्थ

पुन इसी तरह विचार करनेसे स्पष्ट होता है कि

केवल जिन्दा रहने और सब बातोंको जाननेसे ही तृप्त न होकर हम दुःखलेशसे भी रहत, केवल एव अखण्ड और परिपूर्ण सुखको भी चाहते हैं। अर्थात् दु लक्ष्यसे भी रहित केवल शुद्ध, अखण्ड, परिपूर्ण सुख है हमारा तीसरा लक्ष्य और इसीका नाम हमारी तस्कृत भाषामें आनन्द है।

चौथा लक्षण—मुक्तस्वरूप

परन्तु, यदि अपने हृदयकी अभीष्ट सब सुखसामग्री हमें अपने स्वतन्त्र अधिकारसे न मिलकर दूसरे किसीके अनुप्रहसे मिला करे तो ऐसे सुखसे हमें तृप्ति और संतोष नहीं होता और हम कहने लगते हैं कि ‘पराधीनतामें रहकर इन सब सुखोंको भोगनेकी अपेक्षा स्वतन्त्रतामें रहते हुए कम सुखोंका भोग करना श्रेष्ठ है, पराधीनता परम दुःख है,’ इत्यादि।

भारतका इस समय वडा दुर्भाग्य है कि हमारे यहाँकी प्रचलित शिक्षाप्रणाली ही मिथ्या इतिहास सिखानिवाली है, जिसका परिणाम यह हुआ है कि हमलोग इस बात-को भी नहीं जानते कि हमारे प्राचीन महर्षियोंसे पैत्रिक सम्पत्तिके रूपमें हमें कौन-कौन-सी विद्याएँ मिली हैं और यूरोप, अमेरिका आदि पाश्चात्य देशोंमें हमारे यहाँ कौन-कौन-सी वस्तुएँ आयी हैं, इत्यादि। अतएव हमलोग मिथ्या इतिहास सिखानेवाले पाश्चात्य देशोंके स्वार्थी प्रचारकोंकी अपने स्वार्थके लिये वतानी हुई हजारों अमत्य बातोंको सत्य मानने और धोखा सानेको विवश हो गये हैं। उदाहरणार्थ, पाश्चात्य देशोंके स्वार्थी प्रचारक हिन्दुस्थानमें व्याख्यानों और पुस्तकोंके द्वारा प्रचार करते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, स्वराज्य आदिका सिङ्गान्त पाश्चात्य देशोंसे आया है, साइमन डी मॉटफोर्ड (Simon De Montford), जॉन हैम्प्टेन (John Hampden), जॉन मिल्टन (John Milton), ऑलिवर कॉमवेल (Oliver Cromwell), जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill), सर हेनरी केम्बेल बैनरमन (Sir Henry Campbell Bannerman), प्रेजिडेंट विल्सन (President Wilson) आदि पाश्चात्य राजनेत्रिक नेता ही स्वतन्त्रताके मिङ्गान्तके जगत्के लिये संस्थापक, सञ्चालक और प्रचारक थे और अंगरेजी साहित्य तथा इतिहासका परिचय न मिलनेतक भाग्तवर्यमें स्वतन्त्रताका नियान्तक न था, इत्यादि, इत्यादि। इन लोगोंकी अखत्यप्रियता एव असत्यवादिताके प्रमाणकी

आवश्यकता नहीं है। म्यांकि दुनियाभरके समस्त देशोंके समस्त स्मृतिकार्गमें स्वप्रथम् स्मृतिकार्ग भगवान् मनुने भी दुःख और मुखका निर्वचन (Definition) करते हुए यहीं बताया है—

मर्व परवश दुख मर्वमामवर्णं सुखम् ।

‘परतन्त्रता ही दुख है और स्वतन्त्रता ही सुख है।’

इसके अतिरिक्त इस बातको भी सबको स्परण रखना चाहिये कि दूसरे किसी मतमें न मिलनेवाले, केवल अनातनधर्ममें ही मिलनेवाले मात्र या सुक्षिष्ठपी परम लक्ष्यका भी हमार आच्छकार्गान यहीं निर्वचन किया है कि ‘सर्ववन्वनिवृत्तिस्थो मोक्षः,’ अर्थात् समस्त वन्धनोंसे निवृत्ति ही मोक्षका स्वरूप है। इस लक्ष्यका दूसरे किसी देशके किसी धर्म, मत या मजहबने कर्हा भी कभी भी निर्देश नहीं किया, इससे यह स्पष्ट है कि यदि दुनियाभरमें कोई देश और कोई धर्म स्वतन्त्रताके सिद्धान्तको माननेवाला है तो वह देश हमारा हिन्दुस्थान है और वह धर्म हमारा मनातनवर्म है।

मर्व वन्धनोंकी निवृत्ति (Emancipation from all bondage) है हमारा लक्ष्य, दुनियाके और सब मतोंका लक्ष्य है स्वर्गमें मुखमय जीवन व्यतीत करना। किन्तु हम मनातनी भागतवासियोंकी दृष्टिमें नो स्वर्गवासभी तुच्छ एवं लुट्र, अतएव हैथ है और हमारे मतमें मोक्ष ही (जिसका स्वरूप है सर्ववन्वनिवृत्ति) एकमात्र इच्छाकी वस्तु है।

इस आदर्शस्त्रप परम व्येयको अपने दिलसे कोई भी विचारणील मनुष्य निकाल नहीं सकता, क्योंकि यह इच्छा ना प्राणिमात्रके हृदयमें ईश्वरद्वारा ही स्थापित है। निम्नलिखित लौकिक दृष्टान्तोंसे भी यह बात सिद्ध होती है। तोते, चुहे आदि छोट-छोटे जानवर भी किसी वडे वर्णिक आदर्शमिक्र वरमें सुवर्णके पिंजरे आदि अल्पन्त सुन्तमय न्यानमें न्यानेपीनं आटिकी दृष्टिसे भी न्यून आनन्दमें रहते हुए भी, मांका मिलनेपर नुगत अपने नीन-दीन ज़द्दी न्यानकी ओर चल पड़ते ह। इसका नारज यहीं है कि जीवमात्रके हृदयमें प्रारूपितक नियमोंके विमुक्त यहीं भाव रहता है कि परतन्त्रतामें रहकर सुन्दर नोगनेकी अपेक्षा दुःख भागते हुए भी स्वतन्त्रतामें रहना चाहते हैं। तब हर्मि, काट आदिके मनमें भी यहीं इच्छा पाती है तब मनुष्यवोनिमें उत्पन्न हुए उत्कृष्ट कोटिके गोपाल उत्ते तर बान कैसे हो सकती हैं कि वे सबवन्ध-

निवृत्तिस्थी प्रोक्षसाम्राज्यको न चाहते हुए पराधीनताको प्रसंद करते रहे ? इन सब विचारोंसे स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता है हम सबका चौथा लक्ष्य और इसीका नाम है हमारे बेदान्तकी परिभाषामें मोक्ष।

पॉच्चवाँ लक्ष्य—ईश्वरस्त्रूप

अगला प्रथम यह है कि क्या आश्वत अस्तित्व, अखण्ड ज्ञान, परिपूर्ण आनन्द और स्वतन्त्रताके मिल जानेपर हम तुम हो जाते हैं ? नहीं, म्यांकि फिर एक पॉच्चवाँ वस्तुकी भी हमारे मनमें स्वाभाविक इच्छा हुआ करती है। वह यह है कि हम किसी दूसरेकी इच्छाके अनुसार न चलना पड़े, केवल इतनेसे ही हम सन्तोष नहीं कर लेते, अपितु यह चाहते हैं कि सारे जगत्के समस्त जीव हमारी इच्छाके अनुसार चलें। जिन्हे दुनियाका लेशमात्र भी अनुभव नहीं है, ऐसे छोट-छोटेवालक भी तो यहीं चाहते हैं कि उनकी इच्छाके अनुसार उनके अनुभवी मातापिता आदि भी चलें। अर्थात् हम औरेंके अधीन तो रहना चाहते ही नहीं, साथ-ही-साथ औरेंके ऊपर शासन करना भी अवश्य चाहते हैं। हमारे हृदयके इसी पॉच्चवे लक्ष्यका सस्कृतनाम ईश्वरस्त्रूप है।

छठा लक्षण—कोई नहीं है

और आगे विचार करनेपर पता लगता है कि इन पॉच्च लक्षणोंके बाद छठा लक्षण कोई नहीं है। इसका कारण यह है कि जब आश्वत अस्तित्व, परिपूर्ण ज्ञान, अखण्ड आनन्द, सर्वथा स्वतन्त्रता और सर्वोपरिशासन—ये पॉच्च लक्षण प्रात हो जाते ह तब इनके अतिरिक्त चाहनेयोग्य कोई वस्तु चौदह सुवनोंम भी वाकी नहीं रह जाती। इसलिये हमारे हृदयके असली लक्ष्यके यहीं पॉच्च लक्षण ह और हम जो-जो कार्य और प्रयत्न करते हैं वे सब-के-सब इन्हीं पॉच्चमेंसे किसी-न-किसी इच्छाकी प्रेरणासे किये जाते हैं।

इन पॉच्च लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम

अब हम बातका विचार करना है कि इन पॉच्च लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम क्या है, उसका स्थान कहूँ है, इत्यादि। मर्व वर्मोंके आच्छ्रवन्योंन बताया है कि ये पॉच्च लक्षण परमेश्वरम पाये जाते ह, और कर्हा नहीं। अर्थात् इन पॉच्च लक्षणोंसे लक्षित लक्ष्यका नाम है भगवान्, और उसका स्थान भी वही है। जो मनुष्य अपनेको नामिक रहता हुआ वडे गर्वके साथ कहता है कि मैं ईश्वरका नहीं मानता ईश्वरादि, वह भी तो नियुक्त-वृत्त-सूक्ष्म-

मन्त्रिदानन्दधनस्वरूपी परमात्माके इन्हीं पैच लक्षणोंको अपनेमें चाहता है। अर्थात् हम सब नर होते हुए भी, नारायणके लक्षण या अस्तित्वको भी न जानते हुए वथार्थमें नारायण ही बनना चाहते हैं और इसी इच्छाको पृथ्वी करनेके लिये अपने-अपने विचारके अनुसार अनेक प्रकारके प्रयत्न करते रहते हैं।

मतान्तरोंका लक्ष्य

इस लक्ष्यकी वृष्टिसे विवेचन करनेपर आश्र्य और चमत्कारका अनुभव होता है कि एक सनातनधर्मके अतिरिक्त और जितने मत-मतान्तर समारम्भ है, उनमें से एक भी इस लक्ष्यको (जो हर एक जीवके हृदयमें रहता है) नहीं बताता, वल्कि हमारे यह बतानेपर कि यही प्राणिमात्रके हृदयका असली और सच्चा लक्ष्य है, मतान्तरोंके अनुयायी हमसे लड़ पड़ते हैं और कहते हैं कि ऐसा ख्याल करना भी blasphemous or sacrilegious (वड़ा भयक्षण पाप) है, इत्यादि। परन्तु सनातनधर्म तो स्पष्ट कहता है—

प्रणवो धनुं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तत्त्वस्वरूप्यते ।

अप्रमत्तेन वेद्वद्वर्णं शरवत्तःमयो भवेत् ॥

‘जैसे वाण इधर-उधर न जाकर, अपने लक्ष्यके भीतर पैटकर उसके साथ एक हो जाता है, वैसे ही जीवरूपी वाणको इधर-उधर न भटककर अपने परमात्मरूपी लक्ष्यके भीतर प्रवेशकर उसके साथ एक हो जाना चाहिये।’

लक्ष्यप्राप्तिका साधन

यदि हम नरोंको अपने-अपने दिलकी गवाहीसे सिद्ध हुए इस नारायणरूपी लक्ष्यको प्राप्त करना हो तो हमें उन विधमोंसे, जो हमारे हृदयके इस लक्ष्यका विचारतक नहीं करते, उसके साधनका ज्ञान कैसे मिल सकता है? इसलिये हमें अपने सनातनधर्मसे ही, जिसमें हमारे लक्ष्यका पता लगाकर उसकी प्राप्तिके उपाय भी बतलाये गये हैं, इसका साधन सीखना होगा।

साधनका नाम योग है

नारायणके साथ नरके एक हो जानेके लिये सनातनधर्ममें जो साधन या साधनसामग्री बनलायी है, उसीका नाम है सस्कृतमें योग। ‘युजिर् योगे इस धातुके आगे ‘कर्तरि घञ्’ प्रत्यय लगानेमें व्युत्पन्न होनेवाले ‘योग’ शब्दका अर्थ है मेल और ‘कर्णे घञ्’ लगानेपर उसका अर्थ मिलानेवाला होता है। अर्थात् नर-नारायणस्योगस्त्रुती लक्ष्य भी ‘योग’ शब्दका अर्थ है और उन दोनोंको एक

करनेवाली साधनसामग्रीका नाम भी ‘योग’ है। क्रियात्मक वृष्टिसे रुद्धिमें तो साधनका ही नाम ‘योग’ है।

अनेक प्रकारके योग

इस साधनरूपी योगका जब विचार किया जाता है तब इस बातका अनुभव होता है कि शारीरिक, मानसिक, वौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सब वृष्टिकोणोंसे विवेचन करनेपर साधकोंकी अभिरुचि और सामर्थ्यमें जो अनन्त भेद होते हैं, उनके कारण स्वाभाविक और अनिवार्य अधिकारिभेदके अनुसार साधनमें भी अनेक प्रकारके भेदोंका होना अवश्यम्भावी और अनिवार्य है। इसलिये नरकी नारायणके साथ एकता करनेवाला साधन सबके लिये एक नहीं हो सकता, वल्कि अपने-अपने अधिकारके अनुभार प्रत्येक साधकको अपने साधनका निश्चय करके उससे काम लेना होगा, अतएव परम कल्याणके साधनरूपी योग अनेक प्रकारके होते हैं और हमारे शास्त्रोंमें उन सबका नाम योग ही पाया जाता है। अर्थात् जो-जो साधनसामग्री जीवको परमात्मस्वरूपमें पहुँचानेवाले किसी-न-किसी रासेपर या सीढ़ीपर चढ़ानेवाली हो या उसमें तनिक भी आगे बढ़ानेवाली हो उसका ‘योग’ शब्दसे निर्देश किया जा सकता है। और उनमेंसे भी जो साधनसामग्री नरको नारायण-स्वरूपमें ही पहुँचा देती हो वही मुख्य वृत्ति (Primary meaning) से ‘योग’ कहलाती है, तथा जो-जो साधन-सामग्री इस काममें सिर्फ सहायक हो वह तो गौण (Secondary) ही कहला सकती है। इस तरह ही और मुख्यके विचारसे भी योगोंमें तारतम्यकी बात होती है।

आनुपूर्वीका विवेचन

इसके अतिरिक्त यह भी शास्त्रसिद्ध एवं युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध है कि एक-एक रासेपर चलनेवाले साधकोंके लिये भी जिन अनेक साधनोंकी आवश्यकता हुआ करती है, उनमें भी आनुपूर्वी (आगे-पीछे के क्रम) का हिसाब करना पड़ता है और साधकोंको उन साधनोंसे उसी क्रमसे काम लेना अच्छा होता है जिसे शास्त्रोंने अधिकारिभेद आदिके विचारमें उस-उस साधकके लिये कल्याणकारी बताया हो।

योगोंके अवान्तरविभाग

उक्त कारणोंसे अविकारिभेद एवं आनुपूर्वीके भेदने कारण क्रियायोग, समाधियोग, मन्त्रयोग, जपयोग ल्ययोग प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग, नर्वान (मत्स्येन्द्रनाथी)

द्वियोग, कुलकुण्डलिनीयोग, अकुलकुण्डलिनीयोग,
चामूयोग, शब्दयोग, अमर्गयोग, साहस्रयोग, शून्ययोग,
श्रड्धायोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, प्रपत्ति (गणागति)-
योग, निष्काम कर्मयोग, अभ्यासयोग, ज्ञानयोग,
गारुदयोग, ज्ञानयोग, गजयोग, गजाविगत्रयोग, महा-
योग, पृथ्वयोग आदि अनकानेक यागोंका पतञ्जलि आदिके
ग्रन्थामें विस्तृत वर्णन मिलता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगोंकी संख्या

इनके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीताके मूल वाक्योंमें ही
वहृत-से और अनेक प्रकारके योगोंका उल्लेख आता है,
जिनमें से कुछ नाम ये हैं— १) समत्वयोग (२।४८,
६।२९-३३) २) ज्ञानयोग (३।३, १३। ३४, १६।२)
३) कर्मयोग (३।३, ५।३, १३।३४) ४) देवयज्ययोग
(४।३५) ५) आत्मसमयमयोग (४।३७) ६) यागयज्ञ
(४।३८) ७) व्रतयोग (५।२९) ८) मन्यासयंग
(६।३, ९।२८) ९) दुःखमयोगवियोगयोग (६।२३)
१०) अम्यासयोग (८।८, १२।९) ११) पञ्चश्रगयोग
(९।६, ११।८-९) १२) नित्याभियोग (९।२२)
१३) मनतयोग (२०।९, १२।९) १४) त्रुष्णियोग
(२०।२०, १८।५७) १५) आत्मयोग (२०।१३,
११।४७) १६) भक्तियोग (१४।२६) १७) व्यानयोग
(१८।५३)।

अनासन्कियोग और असुहयोग

उस साम मौकेपर कोई पूछे कि अनासक्तियोग और अमहयोग (नां आजकल हिन्दुस्थानमें पुस्तकरूपमें एवं प्रचारके द्वारा प्रभिक्ष हुए हैं) क्या चीज़ है, तो उत्तरमें दत्तना ही कहना पर्याप्त होगा कि—

(?) श्रीमद्भगवद्गीतामें तो कर्मयोग अथवा निर्काम कर्मयोग जगन्मिष्ट है उसीका अनासक्तियोग-यह नया नाम गम्भीर गया है। अनासक्तियोग कोई नयी वस्तु नहीं है।

(२) अमद्यांग तो कोई योग ही नहीं है । पातञ्जलिए योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगसाधनोंके वीचमें यह बताया गया है कि सत्रनामके माथ मैर्वा और दुष्टेके प्रति केवल उपेक्षाका भाव (द्वेष नहीं) स्वना चाहिये । और अंगमङ्गर्द्धातामें भी 'अनपेक्ष' , 'उदासीन' आदि शब्दों-के द्वारा उपेक्षाका दी वर्णन मिलता है । योगसाधनान्तर्गत साधनोंमें इसी उपेक्षास्पी प्रक छोटे दुक्षेका ही

आजकल असद्योग नाम रखना गया है। यह भी कोई नयी चीज़ नहीं है और पुरा योग भी नहीं है। अस्तु।

परम्पर सम्बन्ध

पूर्वोक्त मव प्रकारके योगांक जो वर्णन भिन्न-भिन्न प्रथोम मिलते हैं उनके आवाग्मण इन मव योगांके परम्पर ममन्व, आनुपवी आदिका विवेचन करना उमलिये वहाँ कठिन है कि वे परम्परविकल्प प्रतीत होते हैं, किन्तु उनके समन्वयकी अन्यन्त आवश्यकता सर्वांजितामओंके अनभवमें गिर्द है।

योगका निर्वचन

इसके अतिरिक्त जिग्रामुआंके लिये यह भी एक कठिनाईका कारण हो जाता है कि योगके निर्वचनके बारेमें भी गड़वड़ नजर आती है। म्यांकि भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रामें योगका—

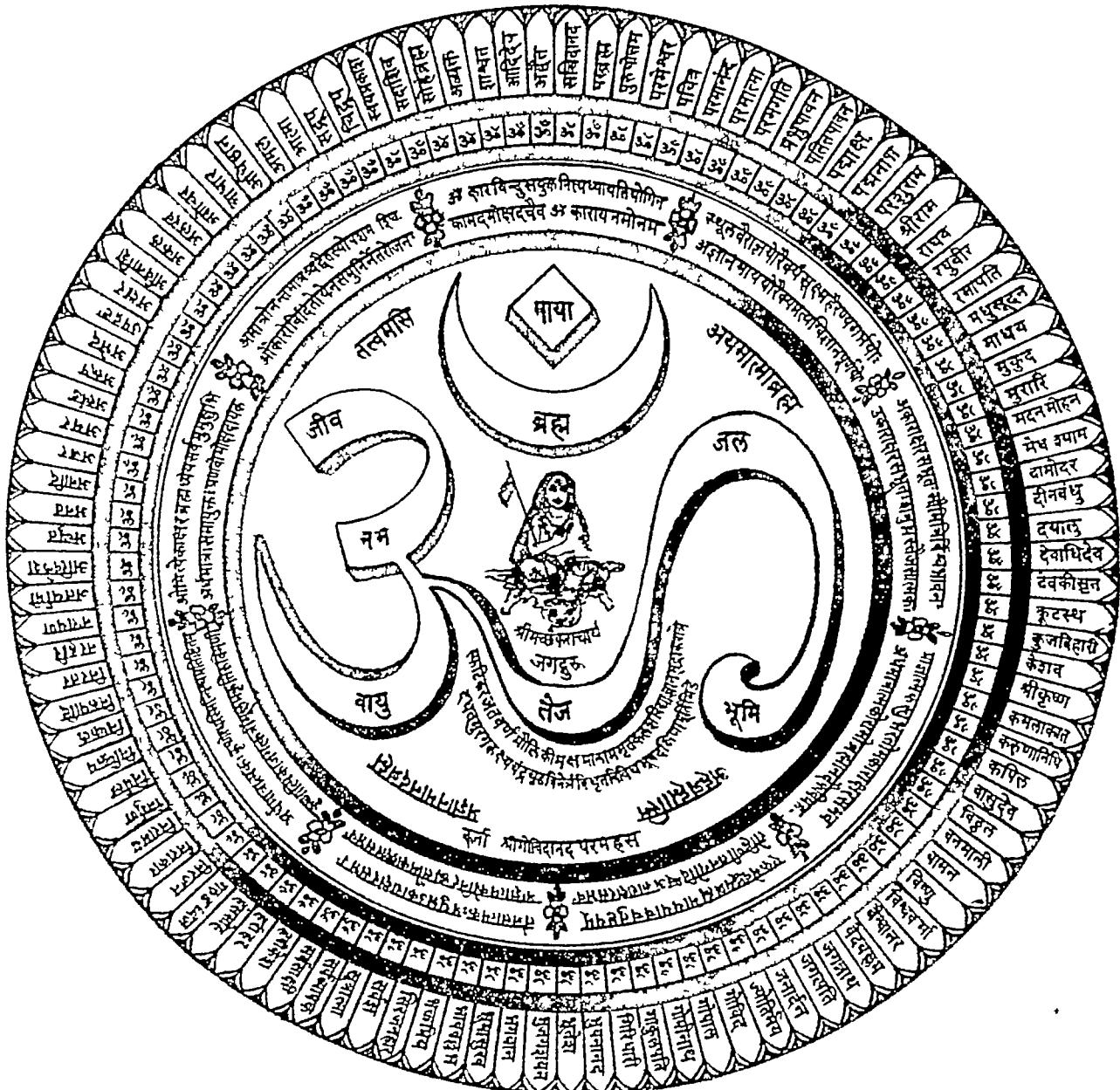
‘चित्तघट्टनिरोधः’

—यह एक सगल निर्वचन दिया है, किन्तु दूसरोंने थोर-ओर प्रकारके निर्वचन दिये हैं। श्रीमद्भगवद्गीता-रूपी एक ही ग्रन्थमें उसके अनेकानेक निर्वचन दिये गये हैं। उन सब निर्वचनोंके माध्यमें (जो परस्परविवरण या कम-से-कम परस्पर असम्बद्ध अवश्य मान्यम् देते हैं) सुमन्वयकी आवश्यकता है।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगनिर्वचन

श्रीमद्भगवद्गीताम् योग और योगीके जो अनंकानेक
निर्वचन मिलते हैं उनमेसे कछु निपत्तिखित है—

कृत्याण



ॐ कार-महिमा

९ शक्तोत्तीर्हैव यं सोहुं प्राक्षरीरविमोक्षणात् ।
 कामक्रोधोद्धर्वं वेग स युक्तः स सुखी नरः ॥(५।२३)
 १० योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्थान्तज्योतिरैव यः ।
 स योगी ॥(,,।२४)
 ११ अनाश्रितः कर्मफलं कायं कर्म करोति यः ।
 स सन्न्यासी च योगी च न निरग्निं चाक्रियः ॥(६।१)
 १२ यं सन्न्यासमिति प्राहुयोर्गं तं विद्धि पाण्डव ।
 न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन ॥(,,।२)
 १३ यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुपज्जते ।
 सर्वसङ्कल्पसन्न्यासी योगास्तुष्टोच्यते ॥(,,।४)
 १४ श्रीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः ॥(,,।७)
 ज्ञानविज्ञानतुसात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
 युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाद्वन् ॥(,,।८)
 १५ सुहन्मित्रार्थुदासीनमध्यस्थद्वेष्यवन्धुषु ।
 साधुष्वपि च पापेषु समद्विद्विर्विशिष्यते ॥(,,।९)
 १६ एकाकी यत्चित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥(,,।१०)
 १७ प्रशान्तात्मा विगतभीम्रघ्नचारिन्नते स्थितः ॥(,,।१४)
 १८ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
 नि स्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥(,,।१८)
 यथा दीपो निवातस्थो नेन्नते सोपमा स्मृता ।
 योगिनो यत्चित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः ॥(,,।१९)
 १९ यन्नोपरमते चित्तं निरुद्ध योगसेवया ।
 यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥(,,।२०)
 सुखमात्यन्तिकं यत्तद्विद्विग्राद्यमतीन्द्रियम् ।
 वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥(,,।२१)
 यं लब्धवा चापरं लाभ मन्यते नाधिकं ततः ।
 यस्मिन् स्थितो न हु खेन गुरुणापि विचाल्यते ॥(,,।२२)
 तं विद्याद्दुखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
 स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिविष्णवेत्सा ॥(,,।२३)
 २० प्रशान्तमन्तस्तु द्येन योगिनं सुखमुक्तमम् ।
 उपैति शान्तरजसं व्रह्मभूतमकल्पमम् ॥(,,।२७)
 २१ सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
 ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समवर्त्तन ॥(,,।२९)
 यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
 तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥(,,।३०)
 आत्मैपस्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन ।
 सुखं चा यदि चा दुःखं स योगी परमो मत ॥(,,।३०)

२२ योगिनामपि सर्वेषां मद्रतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥(६ । ४७)

२३ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।
मूर्ध्न्याधायात्मनःप्राणमास्थितो योगधारणम् ॥(१२)

२४ अनन्यचेता सततं यो मां सरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्य नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥(,, । १४)

२५ नैते सृष्टी पार्थ जानन् योगी मुहूर्ति कश्चन ।
तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥ (,, । २७)

२६ मया तत्मिदं सर्वं जगद्व्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥(९ । ४-५)

२७ सततं कीर्तयन्ते मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥(,, । १४)

२८ अनन्याश्रिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्ताना ॥(,, । २२)

२९ मच्छित्ता मद्रतप्राणा वौधयन्त परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥(१०।९)

३० तेषा सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।
ददामि द्वुद्धियोगं तं येन मासुपयान्ति ते ॥(,, । १०)

३१ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्रक्तः सद्वर्जितः ।
निवैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥(११।५५)
एवं सततयुक्ता ये ॥(,, । १०)

३२ मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥(,, । ८)

३३ ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्यस्य मत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते ॥(,, । ६)

३४ तेषामह समुद्धर्ता मृत्युससारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्य मय्यावेशितचेतसाम् ॥(,, । ७)

३५ मा च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
स गुणान् समर्तीत्यैतान् व्रह्यभूयाय कल्पते ॥(१४।२६)

३६ धृत्या यया धारयते मन प्राणेन्द्रियक्रिया ।
योगेनाब्यभिचारिण्या धृति सा पार्य सात्त्विकी ॥(१८।३३)

भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे निकले हुए इन सब
निर्वचनोंका आपसमें एवं भगवान् पतञ्जलिके दिये हुए-
योगश्रित्यृत्तिनिरोध ।

—इस निर्वचनके साथ समन्वय स्पष्ट नहीं होता, वहिं आपसमें विरोधकी शङ्का भी होती है। इसलिये भी

इन सब योगनिर्वचनों और योगोंके समन्वयकी आवश्यकता है।

तीन ही काण्ड

परन्तु इन सब निर्वचनोंका एक दूसरेके साथ समन्वय स्पष्ट न होनेपर भी, इन निर्वचनोंका साधारण तौरपर अनुशीलन करनेसे भी यह तो स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त और मनसे सम्भावना करनेयोग्य सब प्रकारके (मुख्य एवं गौण) योगों और योगप्रक्रियाओंका समन्वय-की दृष्टिसे वर्गीकरण करनेपर, प्रत्येक रीतिके योगका (कितने भी नामभेद होते हुए) कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंमेंसे किसी-न-किसी काण्डमें अवश्य अन्तर्भूत हो जाता है। अतः इन्हीं तीनों काण्डोंके समन्वयका विचार करनेकी आवश्यकता प्रतीत होती है।

काण्डत्रयविरोधाभास

परन्तु इस प्रकारसे सब प्रकारके योगोंको इन तीन काण्डोंके भीतर ले आनेपर भी इन तीनों काण्डोंका आपसमें भयङ्कर विरोध ही मालूम देता है। एक श्री-मद्भगवद्गीतामें ही इस परस्पर आत्यन्तिक विरोधाभासकी प्रतीतिके समर्थक कारण मिलते हैं। यह कोई बड़ी बात नहीं है कि एक स्थानमें कर्मकाण्ड, दूसरेमें उपासनाकाण्ड और तीसरेमें ज्ञानकाण्डकी महिमा जोर-न्जोरसे बतायी गयी है। परन्तु जब स्थान-स्थानपर एक-एक काण्डके प्राशस्त्यके वर्णनके बाट वाकी दोनों काण्डोंका आत्यन्तिक खण्डन, निन्दा और निपेद करनेवाले वचन श्रीभगवानके श्रीमुखसे निकले हुए प्रतीत होते हैं, तब इनके समन्वयकी अत्यन्त आवश्यकता अति स्पष्ट है।

कर्मयोगका प्राशस्त्य

उदाहरणार्थ, कर्मकाण्डकी महिमा बताते हुए श्री-भगवान् ने ज्ञानकाण्डका तिरस्कार-सा करनेका कम-से-कम अर्जुनके मनमें भी भ्रम पैदा करते हुए कहा है—

- १ नियतं छुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो द्यकर्मण । (३।८)
- २ कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकाठय । (,,।२०)
- ३ कर्मसन्ध्याभात्कर्मयोगो विशिष्टते । (५।२)
- ४ तपस्यिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽधिभितोऽधिकः । ६।४६

भक्तियोगकी प्रशस्ति

इसी प्रकार भक्तियोगकी महिमा भी ज्ञानकाण्ड और

खास करके कर्मकाण्डके तिरस्कारके साथ ही निम्नलिखित श्लोकोंमें की गयी मालूम होती है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्रतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)
अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥ (१३०)
न वेदयज्ञाध्ययनैर्दाने-
र्न च क्रियाभिन्नं तपोभिरुम्भैः ।
एवंरूपः शक्य अहं नुलोके

द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ (११।४८)
नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ (,,।५३)
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥ (,,।५४)
मत्यावेश्य मनो ये मा नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२।२)
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (१८।६६)

ज्ञानयोगकी श्रेष्ठता

इसी तरह श्रीभगवान् ने ज्ञानयोगकी जो प्रशस्ता की है उसमें तो केवल भक्ति और कर्मोंका ही नहीं, बल्कि वेदोंका भी तिरस्कार है, इत्यादि कहते हुए आर्यसमाजी लोग श्रीमद्भगवद्गीताका विरोध एवं खण्डन करते हैं। ऐसे बाक्योंमेंसे कुछ दृष्टान्त स्थालीपुलाकन्यायसे नीचे दिये जाते हैं।

- १ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः ।
वेदवादरस्ता पार्थं नान्यदस्तीति वादिनः ॥ (२।४२)
- २ कामात्मानं स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम् ।
क्रियाविशेषवहुला भोगैश्वर्यगतिं प्रति ॥ (,,।४३)
- ३ भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतमाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥ (,,।४४)
- ४ त्रैगुण्यविपया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ॥ (,,।४५)
- ५ यावानर्थं उदपाने सर्वतः सङ्कुतोटके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (,,।४६)
- ६ दूरेण द्युवरं कर्म बुद्धियोगाद्वनंजय ॥ (,,।४९)
- ७ श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्ति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्यसि ॥ (,,।५३)

६ सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (४।३३)

७ अपि चेऽसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।

सर्वं कर्माखिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥ (,,।३६)

८ यथैधार्मांसि समिद्वोऽधिर्भस्सात्कुरुतेऽर्जुन ।

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्सात्कुरुते तथा ॥ (,,।३७)

९ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते । (,,।३८)

विरोधाभासमें भी चमत्कार

अब उदाहरणार्थ कर्म और ज्ञानके बारेमें जब यह विचार करते हैं कि इन दोनोंमेंसे कौन-सा श्रेष्ठ है और श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने इस विषयपर क्या कहा है, तो बड़े आश्रय और चमत्कार अथवा गङ्गवड़, गोलमाल और दिल्लीगीकी बात यह देखनेमें आती है कि श्रीभगवान्‌ने तो इस विषयपर गीताके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें परस्परविरुद्ध तीन मत प्रकट किये हैं—

१ दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्वन्नंजय । (२।४९)

‘ज्ञानयोगसे कर्मयोग अत्यन्त नीचा है’

२कर्म ज्यायो ह्यकर्मण । (३।८)

कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते ॥ (५।२)

ज्ञानिभ्योऽपि भृतोऽधिकः । (६।४६)

‘कर्मत्यागसे कर्म श्रेष्ठ है । ज्ञानियोंसे भी कर्मयोगी श्रेष्ठ है’

३ साख्ययोगां पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
..... (५।४)

एकं सांख्यं च योगं च यं पश्यति स पश्यति ॥ (,,।५)

‘साख्य और योगको वालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं कहते । जो साख्य और योगको एक देखता है वही ठीक देखता है’

इसको समझानेके लिये एक कात्यनिक वृष्टान्त दिया जा सकता है कि राम और कृष्णके बारेमें बाट-विवाद होनेपर कि दोनोंमें उम्रकी दृष्टिसे कौन बड़ा है, अगर एक ही आदमी एक साथ तीन फैसले दे कि—

१ राम ही कृष्णसे बड़ा है ।

२ कृष्ण ही रामसे बड़ा है ।

और ३ दोनोंकी उम्र बराबर है ।

—तो श्रीमद्भगवद्गीतावाली कर्मज्ञानसम्बन्धी परिस्थिति-का ठीक-ठीक नमूना सामने आ जाता है ।

पाश्चात्य विद्वानोंकी समालोचना

परस्पर अत्यन्त विरुद्ध प्रतीत होनेवाले सिद्धान्तोंका एक ही गीतामें जो यह अद्भुत समावेश हुआ है उसके कारण Western Orientalists, Indologists and Research Scholars (पाश्चात्य समालोचकों) ने इन वारोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तग आकर यहोतक कह डाला है कि श्रीमद्भगवद्गीता एक ही श्रीकृष्णका दिया हुआ उपदेश नहीं हो सकता, तीनों काण्डोंके भिन्न-भिन्न अनुयायियोंके ग्रन्थोंको किसी मूर्खने मिला दिया होगा, इत्यादि ।

अर्जुनको भी भ्रम हो गया था

पाश्चात्योंकी बात तो जाने दीजिये, स्वयं अर्जुनकी भी तो यही दशा हुई । दूसरे अध्यायको सुनकर इन परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाली अनोखी वारोंका समन्वय न कर सकनेके कारण तीसरे अध्यायके आरम्भमें वह भी तो यही कहने लगा—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।

तत्किं कर्मणि धरेरे मा नियोजयसि केशव ॥ (३।१)

व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।

तदेक वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमामुयाम् ॥ (,,।२)

और आगे बढ़नेपर, तीसरे एव चौथे अध्यायको सुनकर, पॉच्चवे अध्यायके आरम्भमें भी वह यही कहने लगा—

सन्यासं कर्मणा कृप्ण पुनर्योगं च शंससि ।

चच्छ्रेय एत्योरेक तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥ (५।१)

परन्तु अर्जुनकी इन प्रार्थनाओपर श्रीभगवान्‌ने जो उत्तर दिये उनसे नृस होकर अर्जुन अन्तमें कहता है—

स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥ (१८।७३)

तो भी केवल पाश्चात्य विद्वानोंके मनमें ही नहीं, वल्कि हमारे इस पवित्र हिन्दुस्थानके निवासी पट्शालपार-गत विद्वच्छिरोमणियोंके हृदयमें भी इन तीनों काण्डोंके समन्वयके बारेमें कुछ-न-कुछ शका उठती ही रहती है । यह बात अनुभवसे बारबार जाननेमें आयी है ।

इस लेखका लक्ष्य

अतः इन तीनों काण्डों, सब योगों और समस्त प्रक्रियाओंके परस्पर समन्वयका विचार करना ही प्रस्तुत

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुपूर्वी आदि सम्बन्धोकी वार्ता भी कहीं-कहीं आनुषंगिकरूपसे आ सकती हैं, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांग श्रीमद्गवद्गीतामें है और क्योंकि उसमें तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़वड भी वहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायशः श्रीमद्गवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वैधी और रागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमें रसोंका सोपान-क्रम, प्राचीन (मार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके घट्कर्म, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, पट्ट्वकभेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्वमुख सहस्रार, नाडीचक्र, दशमद्वार-रहस्य, ब्रह्मगुहा, गुस अष्टदलकमल, वन्धप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रज्ञाकी सत्तमूर्मिका, अक-थक्का त्रिचक्र, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एवं अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षा-में आणवी, शाक्ती, शाम्भवी, वैष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, सार्ती, चाक्षुषी, वैधी आदि भेद, गुरुदयसे शक्ति-सञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्ववोधका उदय, तारकज्ञानका लक्षण, योगविभूति, कायाकल्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमहासिद्धि, इन्द्रियजय, मधुपतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशेषका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), क्रतम्भरा प्रज्ञा, विन्दु और महाविन्दुका स्वभाव एवं परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, व्रह्मप्रनिय, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायसिद्धि), युक्तत्रिवेणी और सुक्तत्रिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और जानदेह, प्रणवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शखनाद, घण्टानाद आदि भेद, वीजमन्त्रोका प्रणवके साथ सम्बन्ध, श्रुत-चिन्ता-भावनामयी प्रज्ञा और भूमिप्रविष्ट प्रज्ञा, प्राणायामरहस्य, कुम्भकके अनेक प्रकारके भेद, लोकसंस्थान, पिण्डिलिङ्कामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूपध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुद्ध-नील-पीतप्रभावलीरहस्य, दर्गनमार्ग और भावनामार्ग, सगुण-

ध्यान और निर्गुणध्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एवं निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यध्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-ग्राम्भव-ग्राक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धगिला, अभिसत्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिका भेद, सम्प्रज्ञात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, सधर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्त्वकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्त्रोक्त भेद, कर्म-स्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविपाक, असगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैषिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुद्ध, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्व-रेतस्त्व, प्रजापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनों तथा घट्कर्मसे व्याधिचिकित्सा, रश्मिविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल खातु-भूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्गवद्गीता और योगशास्त्र

चूँकि योगकी अर्थात् नरके नारायण वननेकी साक्षात् विधि वतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त वनाकर तीनों काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्गवद्गीता योगशास्त्र कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—‘इति श्रीमद्गवद्गीतासूर्यनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे’ अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्गवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमशः ये नाम हैं—

- १ अर्जुनविषादयोग, २ सारख्ययोग, ३ कर्मयोग,
- ४ ब्रह्मार्पणयोग (ज्ञानकर्मसन्यासयोग), ५ कर्मसन्यासयोग,
- ६ आत्मसंयमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अक्षरब्रह्मयोग,
- ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग,
- १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रजविभागयोग, १४ गुणत्रयविभागयोग, १५ पुरुषोक्तमयोग, १६ दैवासुरसपदविभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है। २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्ने सारी भगवद्गीता-का सधेपसे उपदेश दिया। परन्तु ३ इस सक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता दुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मा नियोजयसि केशव ॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अध्यायमें सधेपसे बताये हुए सिद्धान्तका ही बाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पॉचवें और छठे अध्यायोंमें कर्म-काण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा वीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागों अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास वातोंका विवेचन या कम से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे बिना योगआच्छके श्रीमद्भगवद्गीताल्पी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास वातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्री-भगवान्ने—

- १ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । (८।१३)
- २ तत्र चान्द्रमसंज्योतियोगी प्राप्य निवर्तते ॥ (८।१५)

—इन दोनों श्लोकोंमें, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मीकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटनेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी ‘योगी’ शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः ।

२ योगी प्राप्य निवर्तते ।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्ने सकाम-कर्मीको भी योगी ही माना है? इस प्रथका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीता-में केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्नके बताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोंमें जो ‘योगी’ शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें वाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं
क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एव त्रयीष्वर्ममनुप्रपञ्चा
गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (९।२१)

—इस हिसावसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमें आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचित्तान् व्राह्मणो
निवेदमायाज्ञास्त्यकृत् कृतेन ।

—इस मुण्डकोपनिषद्के बताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे विलकुल तग आकर—निर्विण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरुद्ध होनेवाले जल्ह बन जायेंगे। अतः मोक्षकी प्राप्ति करनेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्ग-पर आरुद्ध होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकों प्राप्त करनेवाले पापके रात्सेसे बचकर स्वर्गादिमें जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे। (क्रमश)

लेखका लक्ष्य है। इनकी आनुप्रवृत्ति आदि सम्बन्धोकी वार्ते भी कहीं-कहीं आनुपरिकरूपसे आ सकती है, परन्तु इस लेखका यह लक्ष्य नहीं है। खास मतलब तो समन्वयका ही है। और क्योंकि सनातनधर्मके वेदादि समस्त मूल प्रमाणग्रन्थोंका सारांश श्रीमद्गवद्गीतामें है और क्योंकि उसमें तीनों काण्डोंके सम्बन्धमें गड़वड़ भी बहुत है, इसलिये प्रकृत लेखके उद्दिष्ट समन्वयका विशेष करके और प्रायग्रंथः श्रीमद्गवद्गीताके आधारपर ही विचार किया जाता है।

जटिल पारिभाषिक प्रक्रियाएँ

अतएव भक्ति और प्रपत्तिका पारिभाषिक भेद, वेधी और गागानुगा भक्तिका भेद, भक्तियोगमें रसोंका सोपान-क्रम, प्राचीन (भार्कण्डेयी) हठयोग और नवीन (मत्स्येन्द्रनाथी) हठयोगका भेद, हठयोगके पट्क्रम, योगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधिरूपी अष्टाङ्ग, योगमार्ग और वियोगमार्गका भेद, पट्क्रमेदनविधि, अधोमुख सहस्रार और ऊर्ध्व-मुख सहस्रार, नाडीचक, दग्धमद्वार-रहस्य, भ्रमसुहा, गुस्त अष्टदलकमल, वन्वप्रक्रिया, मुद्राभेद, वज्रोली, राजोली, अमरोली और सहजोलीके तत्त्व, प्रजाकी सतभूमिका, अ-क-थका त्रिचक, क्रियायोग और समाधियोगके भेद एव अधिकारी, गुरुतत्त्व, गुरुपादुकातत्त्व, गुरुदीक्षातत्त्व, दीक्षा-में आणवी, आक्ती, आम्बवी, वेष्णवी, कलावती, मान्त्री, हौत्री, स्मार्ती, चाकुपी, वेधी आदि भेद, गुरुदयासे शक्ति-सञ्चार, गुरुवचनसे तत्त्वव्योधका उदय, तारकजानका लक्षण, योगविभूति, कायाकृत्प (अर्थात् कायापलट), भूतजय, अष्टमद्वारिद्वि, इन्द्रियजय, मधुप्रतीकसिद्धि, परकायप्रवेश, विशेषका सिद्धि, व्योमपथ (शून्यपथ), क्रद्धतम्भरा प्रजा, विन्दु और महाविन्दुका स्वभाव एव परस्परसम्बन्ध, ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, नादानुसन्धान, स्मृतिपरिशुद्धि, व्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थ-भेदनरहस्य, कायशुद्धि (कायमिद्वि), युक्तिवेणी और मुक्तिवेणी, भूतशुद्धि और चित्तशुद्धि, सहजमार्ग, भावदेह और ज्ञानदेह, अवतत्त्वरहस्य और उसके भ्रामरीनाद, शखनाद, रण्टानाद आदि भेद, वीजमन्त्रोका प्रणवके साथ सम्बन्ध, मूत-चिन्ता-भावनामयी प्रजा और भूमिप्रविष्ट प्रजा, गणानामरहस्य, कुम्भको अनेक प्रकारके भेद, लोकस्थान, पैरीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग, रूपध्यान और अरूपध्यान, पञ्चस्वरतत्त्व, स्वरोदयतत्त्व, स्मृत्युपस्थान, शुल्क-नील-गितप्रभावलीगहस्य, दण्डनमार्ग और भावनामार्ग, सगुण-

व्यान और निर्गुणव्यान, कायव्यूह, निर्माणकाय एवं निर्माणचित्त, क्लेशस्वरूप-क्लेशविभाग-क्लेशनिवारणोपाय, शून्यव्यान, शून्य-महाशून्य-अतिशून्यविवेचन, योगके तन्त्रोक्त आणव-आम्भव-आक्तमार्ग, अनुपायमार्ग, गुणस्थान, साधनसोपान, सिद्धगिला, अभिमतध्यानरहस्य, लोकाकाश और अलोकाकाश, भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय असम्भजात समाधिका भेद, सम्प्रजात समाधिके प्रभेद, धर्ममेघ, सवर और निर्जर, अपरवैराग्य और परवैराग्यका विवेचन, मनःपर्यायज्ञान, अवधिज्ञान और केवलज्ञान, सात्त्वकयोग और निरात्मकयोगका पाशुपतशास्रोक्त भेद, कर्मस्वभाव, कर्मप्रभेद, कर्मविषयक, असगोक्त योगप्रक्रिया, नागार्जुनोक्त योगप्रक्रिया, ब्रह्मचर्य, नैषिक ब्रह्मचर्य और उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य, शुल्क, कृष्ण और रक्त ब्रह्मचर्य, ऊर्ध्व-रेतस्त्व, प्रशापारमिता, मधुमती, योगान्तराय, प्रेतात्मवाद, योगासनप्रक्रिया, योगासनों तथा पट्क्रमसे व्याधिचिकित्सा, रक्षिमविज्ञान, जड समाधि, योगक्षेम इत्यादि अति जटिल पारिभाषिक विषयोंके (जिनका केवल स्वानुभूति ही एकमात्र प्रमाण और निरूपक है) निरूपणमें हम नहीं उतरेंगे। केवल इन सब प्रकारके योगभेदोंके समन्वयके स्पष्टीकरणके लिये आवश्यक दिग्दर्शनमात्र कराया जाता है।

श्रीमद्गवद्गीता और योगशास्त्र

चूंकि योगकी अर्थात् नरके नारायण वननेकी साक्षात् विधि वतानेके खास मतलबसे भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अर्जुनरूपी नरको निमित्त वनाकर तीनों काण्डोंके योगका निरूपण किया है, इसीलिये श्रीमद्गवद्गीता योगजात्रा कहलाती है और इसीलिये उसके प्रत्येक अध्यायके अन्तमें दिया गया है—‘इति श्रीमद्गवद्गीतासूत्रनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगजात्रे’ अमुक योग नामक अमुक अध्याय समाप्त हुआ।

श्रीमद्गवद्गीताके अठारह अध्याय

इन अठारह अध्यायोंके क्रमशः ये नाम हैं—

- १ अर्जुनविपादयोग, २ सारुण्ययोग, ३ कर्मयोग,
- ४ ब्रह्मपर्णयोग (ज्ञानकर्मसंन्यासयोग), ५ कर्मसंन्यासयोग,
- ६ आत्मसत्यमयोग, ७ ज्ञानविज्ञानयोग, ८ अध्यरखद्वयोग,
- ९ राजविद्याराजगुह्ययोग, १० विभूतियोग, ११ विश्वरूपदर्शनयोग,
- १२ भक्तियोग, १३ क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग, १४ गुणत्रयविभागयोग,
- १५ पुरुषोक्तमयोग, १६ दैवासुरसपदविभागयोग, १७ श्रद्धात्रयविभागयोग, १८ मोक्षसंन्यासयोग।

अठारह अध्यायोंमें अठारह योग

इन अठारह अध्यायोंके विषयोंका विचार करनेपर विदित होता है कि—

पहले अध्यायमें अर्जुनके दुःखका ही वर्णन है। २ दूसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड, इन तीनोंका समन्वय करते हुए भगवान्‌ने सारी भगवद्गीता-का संक्षेपसे उपदेश दिया। परन्तु ३ इस सक्षिप्त उपदेशके पर्याप्त न होनेके कारण, अर्थात् दूसरे अध्यायके अन्तमें जब अर्जुन कर्मभक्तिज्ञानसमन्वयको नहीं समझता और पूछता है कि—

ज्यायसी चेलकर्मणस्ते मता बुद्धिजनार्दन ।
तर्किं कर्मणि धोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (३।१)

—इत्यादि, तब श्रीभगवान् दूसरे अव्यायमें संक्षेपसे वताये हुए सिद्धान्तका ही वाकी सोलह अध्यायोंमें विवरण करते हुए तीसरे, चौथे, पाँचवें और छठे अध्यायोंमें कर्म-काण्डके अन्तर्गत चार योगविभागों तथा वीचके छः अध्यायोंमें उपासनाकाण्डान्तर्गत छः योगविभागों और अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानकाण्डके अन्तर्गत छः योगविभागों अर्थात् कुल मिलाकर सोलह योगोंका अर्जुनको उपदेश देते हैं। इनके परस्पर सम्बन्धों और आनुपूर्वी आदि विषयोंका इस लेखमें वर्णन नहीं हो सकता। तो भी, ऐसी कुछ खास-खास वार्ताओंका विवेचन या कम-से-कम दिग्दर्शन तो अवश्य करना है, क्योंकि उनके समझे विना योगशास्त्रके श्रीमद्भगवद्गीताल्पी परम ग्रन्थके खास-खास सिद्धान्त भी समझमें नहीं आ सकते। इसलिये ऐसी ही कुछ खास-खास वार्ताओंका दिग्दर्शन कराया जाता है।

योगारम्भकी पहली सीढ़ी—सकाम कर्मयोग

उपर्युक्त सोलह योगोंके अतिरिक्त, अष्टमाध्यायमें श्री-भगवान्‌ने—

१ यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः । (८।०३)

२ तत्र चान्द्रमसंज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥ (८।०५)

—इन दोनों श्लोकोंमें, मोक्षको प्राप्त करनेवाले निष्कामकर्मकी भाँति, स्वर्गलोकमें जाकर लौटेवाले कर्मफलेच्छु कर्मकाण्डीका भी ‘योगी’ शब्दसे जो निर्देश किया गया है उसके ऊपर वह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि—

१ आवृत्तिं चैव योगिनः ।

२ योगी प्राप्य निवर्तते ।

—क्या इसीसे स्पष्ट नहीं है कि श्रीभगवान्‌ने सकाम-कर्मको भी योगी ही माना है? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि वहाँ मालूम तो ऐसा ही होता है; परन्तु समस्त भगवद्गीता-में केवल इन दो श्लोकोंको छोड़कर सकाम कर्मकी जो अतिशय निन्दा और खण्डन ही उपलब्ध होता है उससे स्पष्ट है कि श्रीभगवान्के वताये हुए किसी भी निर्वचनके अनुसार ये सकामकर्मी कर्मठ गीताके सिद्धान्तानुसार किसी प्रकारके भी योगी नहीं माने जा सकते। अतः इनके बारेमें उदाहृत दो श्लोकोंमें जो ‘योगी’ शब्द (दो बार) मिलता है उसे केवल औपचारिक प्रयोग माननेको हमें वाध्य होना पड़ता है। नहीं तो समस्त गीताकी इन दो श्लोकोंसे निरर्थकता हो जानेकी आपत्ति आती है।

औपचारिक प्रयोग

ऐसे कर्मकाण्डीको औपचारिक रीतिसे योगी मानना भी इस आधारपर ही स्वीकार हो सकता है कि ऐसे आदमी (जो फलकी कामनासे कर्म करते हैं)—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं

क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।

एव त्रयधर्ममनुग्रहपत्ना

गतागत कामकामा लभन्ते ॥ (१२१)

—इस हिसावसे बारबार स्वर्गादिमें सुख भोगकर फिर गर्भवास आदि सङ्कटमें आकर—

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् व्राह्मणो

निवेदमायान्नास्त्यकृत् कृतेन ।

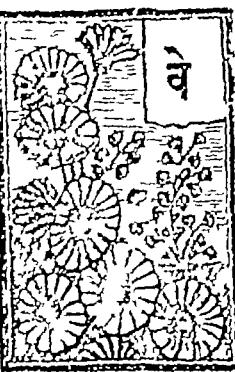
—इस मुण्डकोपनिषद्के वताये हुए प्रकारसे अनन्त पुनरावृत्तिमें पहुँचानेवाले सकाम कर्ममार्गसे विलकुल तंग आकर—निर्विष्ण (Disgusted) होकर एक दिन निष्कामकर्मके मार्गपर आरूढ़ होनेवाले जरूर वन जायेंगे। अतः मोक्षकी प्राप्ति करानेवाले निष्काम कर्मयोगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये पहली सीढ़ी यह है कि आदमी नरकको प्राप्त करानेवाले पापके रात्सेसे बचकर स्वर्गादिमें ले जानेवाले सकाम कर्ममार्गमें चलने लगे। (क्रमशः)

भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य

(लेखक—श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभवद्वरमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री१०८ श्रीबनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज)

भक्त्या परमया वापि प्रपत्त्या वा महासुने । प्राप्योऽहं नान्यथा प्राप्यो वर्षलक्षशतैरपि ॥

मोक्षोपाय


दान्तसिद्धान्तानुसार परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिको ही अधिकांश लोग मोक्ष मानते हैं । उस परब्रह्मकी प्राप्ति किस रूपमें होती है—चाहे इस विषयमें भले ही मतभेद हो, किन्तु मोक्षका साधन ‘ब्रह्मविद्याप्रोति परम्’, ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’, ‘तमेव विद्वान्मृत इह भवति’, ‘तमेव विदित्वातिमृत्युमेति’ इत्यादि उपनिषद्वाक्यानुसार ब्रह्मवेदन है । ‘विद् ज्ञाने’ इस धारुसे ‘वित्’, ‘वेद्’, ‘विद्वान्’, ‘विदित्वा’ आदि शब्द बनते हैं । अतएव ‘वेदन’ शब्दका अर्थ होगा ज्ञान । ‘अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमनुनुते’, ‘ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्हु मृत्युमविद्यया’ इत्यादि वचनोंके देखनेसे मालूम होता है कि वेदन ही ‘विद्या’ शब्दसे व्यवहृत होता है । उसीको ‘ब्रह्मविद्या’ कहते हैं । वेदान्तदर्शनमें सूत्रकार वादरायणने ‘विद्या’ शब्दका प्रयोग किया है । तृतीयाध्याय, तृतीय पाठमें ‘पुरुषविद्यायामापि चेतरेपामनाम्नानात्’, ‘विद्येव तु निर्बाणाद्विनाच्च’—इन सूत्रोंमें ‘विद्या’ शब्दका प्रयोग हुआ है । चतुर्थ पाठके आरम्भमें ‘पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति वादरायण.’ इस सूत्रमें ‘अतः’ शब्दसे पूर्व-प्रस्तुत ब्रह्मविद्याका परामर्श करके उसीसे मोक्षरूप पुरुषार्थकी प्राप्ति बताते हुए सूत्रकारने ब्रह्मविद्याको ही मोक्षसाधन सिद्ध किया है ।

ब्रह्मविद्याएँ अनेक हैं, सद्विद्या, दहरविद्या, अन्तरादत्यविद्या इत्यादि उनके नाम ह । इन विद्याओंमेंसे किमी भी एक विद्याका अनुष्ठान करके मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है । ये विद्याएँ उपासनारूप हैं, यह बात ‘आवृत्तिसमृष्टप्रदेशात्’ इस सूत्रमें ब्रह्मगुनकारने सिद्ध की है । उपासना ध्यानरूप है । ‘चै चिन्तायाम् धानुमें ‘ध्यान’ शब्द बनता है । अतएव ध्यान उस ज्ञान-धारा या धाराचाहिक ज्ञानका नाम है जो अविच्छिन्न-

एकरूपप्रत्ययवाहिनी है । भगवान् परागरने ध्यानका स्वरूप निम्नलिखित इलोकमें बताया है—

तद्बुप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा ।
तद्ध्यानं प्रथमैः पठ्भिरङ्गैर्निर्ष्पाद्यते तथा ॥

अर्थात् विषयान्तरसम्बन्धरहित केवल भगवद्गुप्तमात्र-विषयक प्रत्ययसन्तति ही ध्यान है । अतएव मोक्षसाधनभूत वेदन ज्ञानमात्र न होकर उपासन, निदिध्यासन आदि शब्दवाच्य व्यानरूप ज्ञान होगा । वही ब्रह्मविद्या और वही मोक्षसाधन है । ‘विकल्पोऽविगिष्टफलत्वात्’ इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार अनेक ब्रह्मविद्याएँ तुल्यफलदायी होनेके कारण वैकल्पिक हैं । अर्थात् इच्छानुसार किसी भी एक ब्रह्मविद्याका आश्रय लेकर पुरुषार्थलाभ किया जा सकता है । उपायमत्ति या भक्तियोग ब्रह्मविद्या ही है, यह बात आगे व्यक्त होगी । और शरणागतियोग भी ब्रह्मविद्या-भेदोंमेंसे है । अतएव ये भी मोक्षसाधन हैं । इनको ब्रह्मविद्या मान लेनेपर ‘नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’, ‘नान्यः पन्था अयनाय विद्यते’ इत्यादि वाक्योंका विरोध भी दूर हो जाता है । ये वाक्य स्पष्ट ‘कह रहे हैं कि वेदन ही मोक्षसाधन है, दूसरा नहीं । यदि हम भक्तियोग और शरणागतियोगको वेदनप्रभेद नहीं मानते हैं तो इन वाक्योंमें विरोध आवेगा । क्योंकि वेदनमित्र किसीका मोक्षसाधनत्व इन वाक्योंको सह्य नहीं है । ‘नान्यः पन्थाः’ स्पष्ट शब्द है, दूसरा मार्ग ही मोक्षके लिये नहीं है ।

यहों यह बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि वेदान्तके मोक्षोपायकथनप्रकरणोंमें वेदन, ध्यान, उपासन, निदिध्यासन आदि शब्द एक ही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं ।

क्योंकि एक प्रकरणमें एक विषयका वर्णन करते हुए ‘विदि’ और ‘उपासि’ धातुओंका प्रयोग एक दूसरेके स्थान-पर किया हुआ मिलता है । कहीं ‘विदि’ धातुसे उपक्रम होकर ‘उपासि’ धातुसे उपसहार हुआ है । और कहीं ‘उपासि’ से उपक्रम होकर ‘विदि’ से उपसहार हुआ है । यदि इन धातुओंके अर्थ एक न होते तो ऐसा न होता । आन्दोग्य उपनिषद्के प्रपाठक ४ खण्ड १ में ‘यस्तद्वेद यत्स

वेद स मैतुक्तः’ इस स्थलमें ‘विदि’ से उपक्रम होकर ‘अनु म एतां भगवो देवतां शावि यां देवतामुपास्ते’ इस प्रकार ‘उपासि’ धातुसे उपसंहार हुआ है। एवं ‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ इस स्थलमें ‘उपासि’ धातुसे उपक्रम होकर ‘भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्च-सेन य एव वेद’ इस प्रकार ‘विदि’ धातुसे उपसंहार हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि मोक्षोपायकथनप्रकरणमें जो ‘विदि’ और ‘उपासि’ धातु आये हैं वे एकार्थवाची हैं। सेवा और उपासना पर्यायवाची शब्द हैं। ‘भज सेवायाम्’ धातुसे ‘भक्ति’ शब्द बनता है। ‘सेवा भक्ति-रूपास्तः’ निघण्टुवचन है।

भक्तियोग और शरणागतियोगमें परस्पर अनेक प्रकार-से वैलक्षण्य है। क्रमसे हम उनका निरूपण करेंगे।

स्वरूप-वैलक्षण्य

भक्ति दो प्रकारकी मानी जाती है—उपाय-भक्ति और साध्य-भक्ति। इनमेंसे उपाय-भक्ति तैलधारावत् अविच्छिन्न विधयान्तररहित दर्शनसमानाकार परमप्रेमरूप स्मृतिसन्तान (परम्परा) को कहते हैं। समस्त उर्पनिपद्वाक्य एक स्वरसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हैं। क्योंकि मोक्षोपायविधानप्रकरणमें—

‘ब्रह्मविदामोति परम्’, ‘आत्मा वा अरे ब्रह्मव्यः ध्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः’, ‘आत्मानमेव लोकसुपासीत’, ‘तमेवैकं ध्यायथ’, ‘ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलभ्ये सर्वग्रन्थीनां विप्रसोक्ष.’।

‘भिद्यते हृदयग्रन्थिद्विद्यन्ते सर्वसशाया।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दद्ये परावरे ॥’

‘भक्त्या च धृत्या च समाहितात्मा

ज्ञानस्वरूपं परिपद्यन्ति धीराः ।’

‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविषोऽर्जुन ।

जातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥’

‘भक्त्या सामभिजानाति यावान् यश्चासि तत्त्वतः ।

ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥’

—इत्यादि मोक्षोपायविधायक वचनोंमें वेदन, दर्शन, निदिध्यानन, उपासन, ध्यान, ध्रुवा स्मृति, भक्ति इत्यादि शब्दोंसे मोक्षोपायका विधान पात्रा जाता है। मीमांसाके ‘छागपशुन्यात्’ अर्थात् जामान्यविगेष-न्यायसे इन सब शब्दोंका एक अर्थमें पर्यवसान करनेसे भक्तिका ऊपर

वताया हुआ स्वरूप सिद्ध होता है। ऐसा न करनेपर इन सबको अलग-अलग मोक्षोपाय मानना पड़ेगा। ऐसा होनेपर कुछ वाक्योंमें परस्परविरोध अपरिहार्यरूपसे उपस्थित होगा। यथा—

‘तमेवं विद्वान्मृत इह भवति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय’, ‘नाहं वेदैर्न तपसा’... ‘भक्त्या त्वनन्यया शक्यः ।’

—इन दोनोंमें पहला कहता है, वेदनके सिवा दूसरा उपाय ही नहीं। दूसरा कहता है, भक्तिके सिवा दूसरा उपाय नहीं। यदि इन दोनों वचनोंको एक सूत्रमें नहीं बॉधते हैं तो परस्परविरोधसे या तो दोनोंको ही सुन्दोष-सुन्दन्यायसे अप्रमाण स्वीकार करना होगा, या प्रावल्य-दौर्वल्यावलम्बनसे एकको अप्रमाण स्वीकार करना होगा। यदि दोनोंका ही प्रामाण्य अक्षुण्ण रखना है तो दोनोंका एकार्थत्व स्वीकार कर लेना होगा। यद्यपि उत्सर्गापवादन्यायसे निपेधका विहितव्यतिरिक्त विषयमें सङ्कोच किया जा सकता है, तथापि विरोधका परिहार प्रमाणान्तरानुसार जब अन्य प्रकारसे हो रहा है तब उसकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। वात इतनी ही है कि एक वेदनको मोक्षोपाय बताता है, दूसरा उसीको विशिष्ट रूप देकर मोक्षोपाय बताता है। ‘वेदन’ सामान्य शब्द होनेके कारण उसका भक्ति-शब्दार्थमें पर्यवसान हो जाता है। तब यह सिद्ध होता है कि भक्तिलपताको प्राप्त वेदन ही मोक्षसाधन है।

वर्तमानकालमें जो भक्तिशास्त्रके ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें शाण्डिल्य-भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र ये दो मुख्य माने जाते हैं। नारद-भक्तिसूत्र दो प्रकारके हैं—एक छोटा और दूसरा बड़ा। शाण्डिल्य-भक्तिसूत्रके ‘सा परानुरक्तरीश्वरे’ इस सूत्रमें भक्तिका स्वरूप बताया गया है। अर्थात् परमेश्वरविषयक अनुराग ही भक्ति है। नारद-भक्तिसूत्रके ‘सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा’ इस सूत्रमें भक्तिको परमेश्वरविषयक परमप्रेमरूप बताया है। अब हमें यह विचारना है कि अनुराग अयवा प्रेम क्या चीज है। इतना तो मालूम होता है कि वह सविषयक पदार्थ है। न्याय-वैशेषिक-मतानुसार त्रुदि, दृच्छा, द्वेष, प्रवल्न, सत्कार वादि सविषयक पदार्थ माने गये हैं। परन्तु कुछ त्रुदिमान्, विचारशील विद्वानोंने यह सिद्ध किया है कि जैसे न्यूनति ज्ञानका ही भेद है वैसे ही त्रुदि, द्वेष, अनुराग, प्रेम आदि भी ज्ञानके ही भेद हैं, स्वतन्त्र पदार्थ नहीं। ज्ञानकी भिन्न-भिन्न अवन्याओंके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं।

ये ही स्मृति, इच्छा, द्वेष, अनुराग आदि हैं। यदि इस सिद्धान्तको मान लेते हैं तो ज्ञानहीकी एक विग्रह अवस्थाको, जब वह दर्शनसमानाकार प्रेमरूप स्मरण-धारात्वको प्राप्त होती है, 'भक्ति' नाम दिया जाय तो कोई विरोध नहीं होगा।

**कामः सद्गुणो विचिकित्मा श्रद्धाश्रद्धा धृतिरधृतिर्ही-
र्थीभीरित्येतत्सर्वं भन एव।**

—इस प्रमाणसे तो सब कुछ मनोवृत्तिमात्र है। इस प्रकार पूर्वोक्त ज्ञानावस्थाविशेषको भक्ति न मानकर केवल अनुराग या प्रेमको भक्ति माने तो शास्त्रोंमें उसका विधान अयोग्य होगा। क्योंकि जैसे इच्छा पुरुषतन्त्र नहीं है वैसे अनुराग भी पुरुषतन्त्र न होनेसे उसका विधान नहीं हो सकता। विधान उमीका हो सकता है जो मनुष्यके प्रयत्नसे साध्य है, जो ऐसा नहीं है उसका विधान नहीं हो सकता। किसीपर प्रेम स्वतः ही उत्पन्न होता है, प्रयत्नसाध्य नहीं है। प्रेम करो, प्रेम करो, कहनेसे कोई प्रेम नहीं कर सकता। जो दृष्टिगोचर ह उनके दखनेसे तथा उनके गुणोंके ज्ञानसे प्रेम उत्पन्न होता है, करो, करो, कहनेसे कोई लाभ नहीं। हम जब भक्तिका विधान मोक्षोपायके रूपमें शास्त्रोंमें पाते हैं तो वह कोई ऐसा पदार्थ होना चाहिये जिसको मनुष्य शास्त्राज्ञावर्गीभूत होकर स्वप्रयत्नसे सिद्ध कर सके। ऊपर जो भक्तिका स्वरूप वताया गया है वह परमात्माके स्वरूप, रूप-गुण आदिको आखिरारा जानकर, उनकी भक्तिको मोक्षोपाय समझकर अनवरत—अधिनिष्ठनभावसे उनका स्मरण प्रेमपूर्वक करते रहनेसे सतत भावनाके कारण वही स्मरण दर्शनसमानाकारताको जब प्राप्त होगा तब सिद्ध होगा। उस अवस्थामें वह स्मरण प्रेमरूप भी हो जाता है। अतएव अनुरागरूपता या प्रेमरूपतामें भी कोई न्यूनता नहीं रह जाती। अतएव शाष्ट्रिय आदि महर्षियोंकी उक्ति भी सार्थक हो जाती है। अथवा हम ऐसा भी मान सकते हैं कि शाष्ट्रिय आदिने जो स्वरूप भक्तिका कहा है वह साधन-भक्तिका न होकर साध्यका है। माधन-भक्तिहारा परमात्मसाक्षात्कार हो जानेसाथ-भक्ति उत्पन्न होती है। उसीको भक्तोंने ज्ञानान्तरसे माँगा है। जैसा कि भक्त प्रह्लादने कहा है—

नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु ब्रजाभ्यहम्।

तेषु तेष्वचला भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥

या र्पतिरविद्येकाना विपयेष्वनपादिनी।

त्वामनुभरतः या मे हृदयान्मापसंपतु॥

भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'मन्त्रक्षिणी लभते पराम्'। किसी-किसीके अन्दर यह भक्ति केवल भगवत्कृपासे प्रकट होती है।

यह तो हुआ उपाय-भक्ति या साधन-भक्तिका स्वरूप। अब शरणागतिका स्वरूप वताते हैं। 'न्यास', 'प्रपत्ति', 'प्रपठन' आदि शरणागतिके ही वाचक हैं। 'शरणागति' शब्दमें जो 'शरण' पद आता है उसके कई अर्थ होनेपर भी यहाँ वह 'उपाय' अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। 'गम्' धातुका अर्थ गति या गमन है। परन्तु 'गत्यर्था बुद्ध्यर्थाः' इस न्यायसे गतिवाचक धातुओंका बुद्धि अर्थ भी होनेके कारण यहाँ बुद्धिरूप अर्थ ही मुख्यतवा लिया जाता है। वह बुद्धि सामान्य बुद्धि न होकर अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही विविधित है। अतएव 'शरणागति' शब्द उपाय-विपयक अध्यवसायात्मिका बुद्धिका वाचक है। यही शरणागतिका स्वरूप भी है।

त्वमेत्तीपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः।

शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम्॥

—इस वचनके अनुसार 'आप ही हमारे लिये मोक्षका उपाय वन जायें' इस प्रकारकी प्रार्थनारूप दृढ़ अध्यवसायात्मिका बुद्धि ही शरणागति है।

अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्।

तदेकोपायता याद्या प्रपत्तिः शरणागतिः॥

—इस श्लोकमें प्रपत्तिस्वरूप स्पष्ट वताया गया है। अर्थात् उपायान्तरासाध्य स्वाभीष्टसिद्धिके लिये किसी एक ही समर्थ व्यक्तिसे दृढ़ विवासके साथ उपाय वननेकी याचना करना शरणागति है। मोक्षार्थीयोंको ईश्वरसे ही ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है तथा फलान्तरार्थीको जो उस फलके दाता हैं उनसे ऐसी प्रार्थना करनी पड़ती है। ईश्वरसे भी फलान्तरांके लिये ऐसी प्रार्थना की जा सकती है। परन्तु शरणागति करनेवालेको यह दृढ़ विवास होना चाहिये कि हमारा अभीष्ट दूसरेसे नहीं प्राप्त हो सकता, इन्हेसे प्राप्त हो सकता है और अवश्य प्राप्त हो सकता है। इस विश्वासके बिना शरणागति नहीं होती।

भक्तियोगका आचरण भक्तियोगमें मोक्षोपायत्वबुद्धिके साथ किया जाता है। यद्यपि भक्त ओर प्रपत्ति दोनोंको मोक्षरूप फल देनेवाले भगवान् ही हैं, किन्तु भक्त भक्तिको मोक्षोपाय समझकर उसका आचरण करता है। शरणागति करनेवाला उसमें मोक्षोपायत्वबुद्धि नहीं कर

सकता, क्योंकि शरणागतिका स्वरूप ही इस प्रकारकी बुद्धिका दिरोधी है। ऊपर जो शरणागतिका स्वरूप वताया गया है वह केवल भगवान्‌में उपायत्वबुद्धिके साथ उनसे उपायत्वकी प्रार्थनारूप है। यदि कोई शरणागतिमें उपायत्वबुद्धि करने लगे तो वह शरणागति कर ही नहीं सकता, शरणागति तो केवल भगवान्‌में उपायत्वनिश्चयरूप है। भक्ति और प्रपत्तिमें यह विचिट वैलक्षण्य है।

ऊपरके वर्णनसे भक्ति और शरणागतिमें स्वरूपतः वैलक्षण्य स्पष्ट हो गया। भक्तियोग उसमें उपायत्वबुद्धिके साथ किया जानेवाला तैलधारावदविचिन्छन् दर्शनसमानाकार प्रेमरूप भगवत्स्मरणात्मक ध्यान है। शरणागतियोग अनन्योपायसाध्य स्वामीशिद्धिमें एक ईश्वरको ही उपाय समझकर परमात्मासे उपाय होनेकी प्रार्थना करना है। शरणागतिका दूसरा नाम न्यास है। तदनुसार शरणागतिका स्वरूप परमात्माके प्रति स्वात्माका अर्पण करना अथवा परमात्मामें स्वात्माको निष्ठेप करना है—

‘प्रह्लणे त्वा महस जोभित्यात्मानं युक्तीत ।’
‘प्रणवो धनुः शरो शात्मा ब्रह्म तत्त्वस्यमुच्यते ।
अप्रभर्तेन वेद्यव्यं शरवत्तन्मयेन इति ॥’

—इत्यादि प्रमाणोंके पर्यालोचनसे यह बात सिद्ध होती है। आत्मा कोई ऐसी चीज नहीं है जो एक लगहसे उठाकर दूसरी लगह रख दी जाय। ‘न्यास’ और ‘निष्ठेप’ शब्द पर्यायवाची हैं। न्यास वा निष्ठेपकी व्याख्या इस प्रकार की गयी है—

तेन संरक्ष्यमाणस्य फले स्वाम्यवियुक्तता ।
केशवार्पणपर्यन्ता ह्यात्मनिष्ठेप उच्यते ॥

अर्थात् न्यास वा निष्ठेपका अर्थ है अर्पणपर्यन्त फलस्वाम्याभावबुद्धि। जब कोई ईश्वरको ही अनन्योपाय मानकर मोक्ष या भगवत्प्राप्तिके लिये उन्होंसे उपाय बननेकी प्रार्थना करता है तब वह अपने आपको परमात्माके ही भरोसे छोड़ देता है, स्वरक्षणमें अपना कोई भी सम्बन्ध न रखते हुए सब भार परमात्मापर रख देता है। आत्मार्पणका तात्पर्य स्वात्मरक्षणभारार्पण है। शरणागतिके दृष्टि हैं—उनमें गोन्तुत्ववरण और आत्मनिष्ठेप दोनों ही हैं। तब एक अङ्गकी प्रधानता मानकर इसको शरणागति कहते हैं और दूसरे अङ्गकी प्रधानता भानकर न्यास कहते हैं। जब शरणागति करनेवाल पूर्ण पद्धतेका अनुभान करता है तब उपर्युक्त दोनों ही अङ्गोंका अनुभान हो जाता है। वास्तवमें देखा

जाय तो शरणागति चाहे जिस रूपमें की गयी हो, वह मोक्षोपाय है ही नहीं। मोक्षोपाय तो ईश्वर ही है, उस ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकारमात्र ही शरणागति है, उसको स्वात्मसमर्पण करना आत्मनिष्ठेप या न्यास है।

न्यास इति ब्रह्म, ब्रह्म हि पर, परो हि ब्रह्म, तानि वा एतान्यपरर्णि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत् ।

—इस उपनिषद्वाक्यमें ब्रह्मको ही न्यास वताया है। तात्पर्य इतना ही है कि मोक्षोपाय परमात्मा है, न्यास नामक क्रियाविशेष नहीं, अतएव शरणागति या न्यासमें उपायत्वबुद्धि नहीं की जा सकती। भक्ति उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है।

इयं केवललक्ष्मीशोपायत्वप्रत्ययात्मिका ।
स्वहेतुत्वधियं रूपे किं पुन सहकारिणम् ॥

—यह प्राचीनाचार्यकी सूक्ति है। इससे स्पष्ट है कि शरणागति उपायत्वबुद्धिके बिना की जाती है। किन्तु भक्ति उसके अन्दर उपायत्वबुद्धिके साथ की जाती है। उपायभक्तिके विषयमें भी एक प्राचीन सूक्ति है—

उपयो भक्तिरेति तत्रासौ या तु सा भक्तिः ।
उपायभक्तिरेतस्याः पूर्वोक्तैव गरीयसी ॥

अर्थात् भक्ति ही उपाय है, ऐसी बुद्धि ही उपायभक्ति है, इससे शरणागति श्रेष्ठ है।

अङ्गवैलक्षण्य

भक्तिके अङ्ग कर्म और ज्ञान हैं।

‘तमेतं वेदानुवचनेन वाह्यणा विविटिपन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ।’

‘ह्याज सोऽपि सुवहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः ।
महाविद्यामधिष्ठय ततुं मृत्युमविद्यया ॥’

‘श्रोतव्यो मन्तव्यो निदित्यासितव्यः ।’

—इत्यादि प्रमाणोंसे उपासनात्मक उपायभक्ति कर्मज्ञानाङ्गक सिद्ध होती है—

‘कुर्वक्षेवेह कर्माणि जिर्जिषेच्छत ऽ समाः ।’

‘स स्वत्वेवं वर्तयन् यावदायुपम् ।’

—इत्यादि प्रमाणोंसे यावज्जीवन कर्मानुष्ठानकी कर्तव्यता सिद्ध होती है। भगवान् वादरायणने व्रस्तसूत्रमें ‘नहकार्गत्वेन च’, ‘विहितत्वाचाश्रमकर्मापि’ इत्यादि सूत्रोंसे भक्तिको कर्माङ्गक निष्ठा किया है। अतएव भक्तोंके

नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका भक्त्यज्ञत्वबुद्धिसे अनुष्ठान करना पड़ता है। शरणागति—

सर्ववर्मन् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

—इत्यादि शास्त्रानुसार धर्मत्यागाङ्गक है। शरणागतोंको भी यथापि कर्तव्यबुद्धया नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका अनुष्ठान करना पड़ता है, तथापि अङ्गत्वबुद्धिसे नहीं, क्योंकि शरणागति धर्मत्यागाङ्गक है। अतएव भक्तोंको भक्ति-निष्पत्तिके लिये विहित समस्त कर्मोंका अनुष्ठान आवश्यक होता है, क्योंकि वे अङ्ग हैं। शरणागतोंको यथासम्भव अकरणे प्रत्यवायजनक कर्ममात्रका अनुष्ठान करना पड़ता है।

क्रियमाण न कस्मैचिद्घटर्थाय प्रकल्पते ।

अक्रियावृद्धनर्थाय ततु कर्म समाचरेत् ॥

—यह शरणागतकर्तव्यप्रतिपादक वचन है। इसमें यह स्पष्ट वता दिया गया है कि जिन कर्मोंके करनेसे कोई फल न मिले, किन्तु न करनेपर प्रत्यवाय हो वे ही कर्म कर्तव्य हैं।

भक्ति त्यानरूप है—यह ऊपर वताया गया है। भगवान् महर्पि परागरके—

तद्रूपप्रत्यया चैका सन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा ।

तद् ध्यान प्रथमैः पद्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते तथा ॥

—इस कथनके अनुसार यम-नियमादि योगाङ्गोंका अनुष्ठान भक्तिनिष्पत्तिके लिये आवश्यक है। एव—

तद्विष्विविवेकविमोक्षाभ्यासक्षयाणनवसादा-
नुद्धेष्यं ममवान्निर्वचनाच्च ।

—इस वाक्यकारवचनानुसार सम्पूर्ण भक्तिलाभके लिये विवेकादि साधनसत्त्वोंका अनुष्ठान भी प्राप्त होता है, इनके विना भक्तिकी सिद्धि ही नहीं हो सकती।

विवेक कहते हैं अदुष्ट, शुद्ध, सात्त्विक आहारसेवनसे शरीरपोषणको। विमोक्ष कहते हैं कामानभिष्वङ्गको। भगवानके दिव्य एव शुभाश्रय रूपके सततानुशीलनको अन्याम कहते हैं। क्रिया कहते हैं समस्तजात्याश्रमोच्चित कर्मानुष्ठानको। कल्याण छ. प्रकारके हैं—सत्य, आर्जव, दया, दान, अहिंसा और अनभिव्या, ये सभी कल्याण-अन्वयात्म्य हैं। सत्यसे अहिंसातक पाँच तो प्रभिद्व ही हैं। अनभिव्या कहते हैं अभिव्याके अभावको। परकृतापकार-चिन्ता अथवा निष्पत्ति चिन्ताको अभिव्या कहते हैं।

उसका अभाव अनभिव्या है। अनवसाद दैन्याभावको कहते हैं। अनुदर्दर्प अतिसन्तोषाभावको कहते हैं। अति-सन्तोष भी भक्तिविरोधी है। इन सात साधनोंसे भक्तिकी निष्पत्ति होती है।

शरणागतियोगके पाँच अङ्ग हैं—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।

रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥

आत्मनिक्षेपकार्पण्ये पद्विधा शरणागतिः ।

इस वचनमें शरणागतिको पद्विध वताया है; किन्तु इनमें पाँच अङ्ग हैं, एक गोप्तृत्ववरण या आत्मनिक्षेप अङ्गी है, जैसे 'अथाङ्गयोग' नाम प्रसिद्ध होनेपर भी यम आदि सात अङ्ग हैं, समाधिरूप एक अङ्गी है। यद्यपि शरणागति-के पाँच अङ्ग हैं, अतएव उन अङ्गोंकी भी आवश्यकता अङ्गीकी सिद्धिके लिये नियमानुसार है, तथापि यह कहा गया है कि यदि केवल अङ्गीरूप शरणागति ही हो जाय तो अङ्गोंको भगवान् स्वयं क्रमणः पूरा कर देते हैं। उनकी प्रतीक्षा करते हुए वेठे रहनेकी आवश्यकता नहीं है, वे आप ही सिद्ध हो जाते हैं। जैसा कि कहा है—

इसप्रपत्तावेतानि भविष्यन्त्युत्तरोत्तरम् ।

ये अङ्ग सुकर भी हैं। केवल बुद्धिमात्रकार्य है और स्वतः प्राप्त होते हैं। मुख्यतया अनन्योपायत्व और अकिञ्चनत्व ही अपेक्षित है। इस विषयमें वहुत कुछ लिखनेकी आवश्यकता है, किन्तु यहाँ अधिक विस्तार करना योग्य न समझकर इस विषयको यहीं समाप्त करते हैं।

अधिकारिवैलक्षण्य

भक्तिके स्वरूप और अङ्गोंका वर्णन ऊपर हो चुका। उससे यह वात स्पष्ट हो गयी कि इस उपाय-भक्तिके अधिकारी वैवर्णिकमात्र है। 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य।' इस शास्त्रके अनुसार निदिध्यासन करनेके पूर्व श्रवण और मननकी आवश्यकता होती है। वेदान्तमें जो परब्रह्मस्वरूप आदिके प्रतिपादक भाग हैं उनका गुरुमुखसे सुनना ही श्रवण है।

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स यत् परा चैवापरा च ।
तत्रापरा तत्त्वेदो । ॥ अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते यत्तद्वेद्यम् ॥

—इत्यादि उपनिषद्वाक्योंमें परमात्माके स्वरूपादिवर्णन-परक वेदान्तमागको पराविद्या कहा है। इस भागको यमाद्ये यत्तद्वेद्यम् आवश्यक है।

'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेद'

—इत्यादि शास्त्रोंसे यह वात सिद्ध होती है।

**भृगुवैं वाहृणिर्वर्हणं पितरमुपससार—अधीहि
भगवान् ब्रह्मेति ।**

—इत्यादि शास्त्रोंमें गुरुमुखसे ब्रह्मस्वरूपश्रवणका वर्णन पाया जाता है। मनन कहते हैं गुरुमुखसे श्रुत अर्थोंको युक्तियोंसे मनमें ढट्ठ करना। श्रवण विना मनन नहीं हो सकता। इन दोनोंके विना निर्दिष्यासन नहीं हो सकता। वेदान्तश्रवणका अधिकारी उपनयन आदि संस्कारोंसे सकृत त्रेवर्णिक पुरुष है। अतएव वे ही ब्रह्मविद्याधिकारी भक्ति करनेके अधिकारी हैं, यह वात सिद्ध होती है। भगवान् वादगयणने भी ब्रह्मसूत्रके अपशूद्राधिकरणमें यही सिद्ध किया है।

**'श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधाद्', 'संस्कारपरामर्शाच्चत्तद-
भावाभिलापाच्च ।'**

—इत्यादि सूत्रोंमें कहा गया है कि शूद्रोंको वेदोंका अवण, अध्ययन, वेदार्थज्ञान एवं तदनुष्ठान निर्पिष्ठ होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, वेदाध्ययन करनेके पूर्व उपनयनसत्कार करनेका विधान है, शूद्रोंके लिये सस्कारका अभाव वतलाया गया है। अतएव वे वेदाध्ययन नहीं कर सकते। वेदाध्ययन, श्रवण आदिके अभावमें चेदान्तमूलक ब्रह्मज्ञानकेन होनेके कारण शूद्रोंको ब्रह्मविद्याधिकार नहीं है—यह वेदान्तदर्गनका सिद्धान्त है। यहाँ प्रसग-वश इतना कह देना आवश्यक होगा कि विद्वुर आदि कुछ महापुन्न्य पूर्वजन्मसस्कारवश शूद्रयोनिमें जन्म लेनेपर भी विना ही वेदान्तश्रवणके ब्रह्मनिष्ठ हो गये थे। ऐसे कुछ चक्षिर्वशेषोंको छोड़कर साधारण नियम यही है कि चेदान्तश्रवणद्वारा प्राप्त ब्रह्मज्ञानसे ही मनन-निर्दिष्यासन होकर पूर्ण उपायभक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। साध्य भक्तिकी वात दूसरी है। त्रियोंको भी इस उपाय-भक्तिका अधिकार नहीं है। इसके अतिरिक्त भक्तिका अधिकारी चही पुनर्प होता है जो अपनेको स्वतन्त्र कर्ता एवं स्वयं भक्ति करके मोक्ष-साधन करनेमें समर्थ समझता है। इस प्रकारकी ढट्ठ भावनाके विना चिरकाल और परिश्रमसाध्य भक्तिके अनुश्रान्तमें कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता।

शरणागतिमें सबका अधिकार है।

न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः ।

न देशकालौ नावस्थां योगो द्युमपेषते ॥

—इस वचनके अनुसार शरणागति उत्तम जाति, कुल, पुरुषत्व, सदूण, सदाचार, उत्तम देव-काल, शुचि अवस्था आदि किसीकी अपेक्षा नहीं रखती। अर्थात् किसी भी जाति-कुलमें जन्मा हुआ त्री या पुरुष, सदूणी या दुर्गुणी, सदाचारी या दुराचारी, शुद्ध या अशुद्ध, किसी भी देश या कालमें शरणागति कर सकता है।

यो ब्रह्माण विदधाति पूर्वं

यो वै वेदांश्च ग्रहिणोति तस्मै ।

तं ह देवमात्मवुद्दिप्रकाशं

सुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

—इस उपनिषद्वाक्यमें केवल मुमुक्षुको ही शरणागतिका अधिकारी बताया गया है।

स्थियो वैश्यास्तथा शूद्रा येऽपि स्युः पापयोनयः ।

सर्वं एव प्रपद्येत् सर्वधातारमच्युतम् ॥

—यह वचन स्पष्ट ही स्त्री-शूद्रादिकोंका भी शरणागतिमें अधिकार बता रहा है।

शरणागतिका अधिकारी वह है जो अपनेको सर्वथा असर्व, अस्वतन्त्र एवं परमात्माके परतन्त्र समझता है और स्वप्रयत्नसे मोक्षलाभ असम्भव समझता है, तथा स्वयं अपनेको स्वात्मरक्षामें अनधिकृत एव परमात्माको ही अधिकृत मानता है। शरणागति करनेवालेको परमात्मामें रक्षकत्ववुद्दि, अर्थात् स्वामी परमात्मा अपनी वस्तुकी रक्षा अवश्य करेंगे—इस प्रकारके ढट्ठ निश्चयकी भी आवश्यकता है। अतएव भक्तिके अधिकारी और शरणागतिके अधिकारीमें महती विलक्षणता है। कोई अज्ञाताके कारण शरणागत होते हैं, कोई चिशिष्ट जानवान् पुरुष स्व-पर-स्वरूपज्ञानके कारण शरणागत होते हैं। अत्यन्त भक्तिमान् पुरुष भी भक्तिपाववश्यमें कर्तव्यान्तरमें प्रवृत्त न होनेके कारण शरणागत हो जाते हैं। अजानी, जानी, भक्त, सब इसके अधिकारी हैं। भगवान् गौनककी उक्ति है—

अज्ञसर्वज्ञभक्तानां गतिर्गम्यो भवेद्दरिः ।

अजानी, सर्वज और भक्तके लिये भगवान् हरि ही गति-उपाय और गम्य-प्राप्य है।

सापेक्षत्व-निरपेक्षत्व-वैलक्षण्य

भक्तियोग जैसे कर्म-ज्ञानसापेक्ष है वैसे शरणागति-मापेक्ष भी है। कर्म-ज्ञानसापेक्षता तो कर्म-ज्ञानाङ्ग होनेसे ही सिद्ध हो जाती है। शरणागतिरापेक्षता—

‘तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥’
‘मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।’
‘तमेव चाय पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रधृतिः प्रसृता पुराणी ॥’

—इत्यादि प्रमाणोंसे सिद्ध होती है। चब्बल मनके निप्रहके लिये भी भगवच्छरणागतिकी अपेक्षा होती है। शरणागति तो केवल ईश्वरका उपायत्वेन स्वीकार है। ईश्वर सिद्ध उपायरूप है, उनको कार्य करनेके लिये किसीकी अपेक्षा नहीं रहती। अतएव शरणागति निरपेक्षोपाय है। यह वात—

प्रपत्तेः क्वचिदप्येवं परापेक्षा न विद्यते ।
सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा ॥

—इस वचनमें वतायी गयी है।

विलम्बिताविलम्बितफलप्रदत्व

भक्तिरूप उपासन अर्थात् ब्रह्मविद्या और शरणागति दोनों ही यद्यपि सर्वार्थीष्टफलप्रद माने गये हैं, तथापि उनमें फलभेद अवश्य है।

आतों जिज्ञासुरर्थार्थीं ज्ञानीं च भरतर्षभ ॥

—इत्यादि वचनोंमें चार प्रकारके भक्त वताये गये हैं, वह फलभेदके कारण ही है। अवश्य ही भक्ति सर्वपैक्षित ऐहिकामुण्डिक फलोंको दे सकती है और यही वात शरणागतिके सम्बन्धमें भी है—

सा हि सर्वत्र सर्वेषां सर्वकामफलप्रदा ।

—वचनमें यह वात स्पष्ट कही गयी है। इसके उदाहरण रामायण आदिमें मिलेंगे। किन्तु मोक्षरूप फलप्रदानकी दृष्टिमें इन दोनोंमें वैलक्षण्य है। भक्ति विलम्बसे फल देती है। नरणागति तत्काल फल देती है। भक्ति और शरणागति दोनों ही नमस्त कर्मक्षय होनेपर ही मोक्ष देती हैं, किन्तु भक्तिरूप ब्रह्मविद्या स्वयं समस्त कर्मक्षय नहीं कर सकती, शरणागति कर सकती है। कर्म सञ्चित और प्रारब्ध-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। प्रारब्धकर्म भी आरब्धकार्य ओर अनारब्धकार्य-भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें सञ्चित और अनारब्धकार्यका तो ब्रह्मविद्याके प्रभावसे नाश हो जाता है। आरब्धकार्य प्रारब्धका नाश नहीं होता, उसका फल भोगना ही पड़ता है। अतएव प्रातिवन्धक पापके अवशेष नहींपर एक, दो वा-

अधिक जन्म लेने पड़ते हैं। जिस जन्ममें भक्ति सिद्ध हुई उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष नहीं मिलता।

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ।

—इस सूत्रमें वेदान्तदर्शनकारने यह वात बतायी है। शरणागति उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष देती है जिसमें वह की गयी हो।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि ।

—इत्यादि भगवद्वचनसे यह वात सिद्ध होती है। सर्व-भक्त सर्वेश्वर कह रहे हैं कि मैं सर्व पापोंसे तुझे छुड़ा दूँगा। यहाँ ‘सर्व’ शब्दका सङ्केत करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। शरणागतिके प्रभावसे सर्व कर्मोंका क्षय होकर उसी जन्मके अन्तमें मोक्ष मिल जाना है। इतना ही नहीं, यदि शरणागतिकर्ता आर्त हुआ तो शरीरावसानतक भी विलम्ब नहीं होता, शरणागति करते ही उसी क्षणमें सर्व-कर्मक्षय होकर तत्काल मोक्ष मिल जाता है—

आर्तानामाशु फलदा सकृदेव कृता श्वसौ ।

द्वसानामपि जन्मनां देहान्तरनिवारणो ॥

आर्त उसको कहते हैं जो क्षणभर भी सासारिक ताप-त्रयके सहनेमें असर्मर्थ होकर आतुरताके साथ शरणागति करता है, इसको भगवान् तत्काल मोक्ष देते हैं। दूसरे उसको कहते हैं जो शरीरावसानके समय मोक्षकी इच्छा करते हुए शरणागति करता है। उसको शरीरावसानतक प्रारब्ध कर्मका फल भोगना पड़ता है, शरीरावसानके समय मोक्ष प्राप्त होता है। किसी भी कारणसे जन्मान्तर लेनेकी आवश्यकता नहीं रहती।

सकृत्कर्तव्यत्वासकृत्कर्तव्यत्ववैलक्षण्य

भक्तिका स्वरूप पहले वताया जा चुका है। उपाय-भक्ति तैलधारावदविच्छिन्न दर्शनसमानाकार अत्यर्थप्रियस्मृतिसन्तानरूप ध्यान है। स्मृतिसन्तानको दर्शनसमानाकारत्व प्राप्त होना आवश्यक है। अन्यथा—

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ।’

‘मिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसशया ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥’

—इत्यादि दर्शनविधायक वचनोंका समन्वय नहीं हो सकता। यद्यपि दूसरे वचनोंमें साक्षात् परमात्मदर्शनका विधान मालदूम होता है, तथापि—

‘न संदेशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुपा पश्यति कश्चनैनम् ।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एनं विद्वरमृतास्ते भवन्ति ॥’
‘मनसा तु विशुद्धेन’
‘यत्तद्वे इथमग्रस्थम्’

—इत्यादि शास्त्रोंमें परमात्मस्वरूपको चक्षुरादीन्द्रिया-वेद्य केवल मनोमात्रप्राद्य वताया गया है। दोनों जात्योंमें अविरोध स्थापन करना आवश्यक है। अतएव ‘दर्शन’ शब्दका दर्शनसमानाकारत्व अर्थ स्वीकार करके दोनोंमें अविरोध स्थापन किया गया है। सरणमें दर्शनसमानाकारता साधात्कारीय विधयतात्प है। अर्थात् प्रत्यक्षवत् दिखायी देना—यही दर्शनसमानाकारता है, ऐसी दर्शन-समानाकारता स्मृतिको अनवरत भावनावलसे प्राप्त होती है। जिस वस्तुकी अनवरत भावना की जाय वह वस्तु सामने न होनेपर भी तद्रूप प्रत्यक्षवत् दीखने लगती है। यह अनुभववेद्य है।

कृष्णे वृक्षे च पश्यामि चीरकृष्णाजिनाम्बरम् ।

—इस वाल्मीकीय रामायणोक्त मारीचवचनमें मारीच्चको रामदर्शन होना भी भावनाप्रवर्धसे ही है। अतएव—

ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः ।

—इस श्रुतिमें स्पष्ट ही ‘व्यायमानः पश्यति’ निर्देश हुआ है।

इस प्रकार परमात्माका सतत सरण करनेकी आवश्यकता होनेके कारण ही वेदान्तदर्शनमें ‘आवृत्तिरसकृद्गुपदेशात्’ तज्ज्ञमें परमात्मवेदनकी आवृत्ति करनेकी आवश्यकता वतायी गयी है। ‘व्यान’ अब्द भी इसी अर्थको सूचित करता है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि भक्ति असकृत्कर्तव्य है। एक-दो बार करनेसे भक्ति सिद्ध नहीं हो सकती। शरणागति वैसी नहीं है। वह तो सकृत्कर्तव्य है, क्षणमात्रसाध्य है।

सकृदेव प्रपञ्चाय तवासीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददास्येतद्गतं भम ॥

—इस श्रीरामायण-श्लोकमें यह वात स्पष्ट है।

सकृत्प्रपञ्चाय—सकृदेव प्रपञ्चाय अभयं ददामि ।

—श्रीगमन्द्र भगवान्की श्रीसूक्ति है।

सकृदेव हि शास्त्रार्थं कृतोऽयं तारयेन्द्रम् ।

—इत्यादि प्रमाण शरणागतिको सकृत्कर्तव्य वताते हैं।

शरणागतिस्वरूपके देखनेसे असकृदावृत्तिकी आवश्यकता नहीं माल्यम होती।

अन्तिमस्मृतिसापेक्षत्व-तन्त्रिसपेक्षत्व-वैलक्षण्य

यह वात भगवद्वीताशास्त्रमें स्पष्ट है कि भगवद्गत्कोंको अन्तसमयमें सरण हुए विना भगवत्प्राप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्वज्ज्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

अर्थात् अन्तकालमें जिस-जिस भाव-स्वभावका सरण होगा जन्मान्तरमें सरणकर्ता तद्भावको ही प्राप्त होगा। अतएव अन्तकालमें भगवत्सरणकी आवश्यकता निम्न श्लोकमें वतायी गयी है—

अन्तकाले च मासेव स्मरन्सुक्त्वा कलेवरम् ।

यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्वयन् संशयः ॥

शरणागत पुरुषको अन्तकालमें स्मृतिकी आवश्यकता नहीं रहती, उसके विना भी उनको परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। क्योंकि परमात्मा ही स्वयं काष्ठ-पापाण-समान पड़े हुए उसको सदृति प्रदान करते हैं, जैसा कि वराहपुराणमें भगवान् कहते हैं—

ततस्तं भ्रियमाणं तु काष्ठपापाणसज्जिभम् ।

अहं स्मरामि मद्भक्तं नयामि परमां गतिम् ॥

यद्यपि इस श्लोकमें ‘मद्भक्तम्’ अब्द आया है, किन्तु वह प्रकरण शरणागतिका है। इस श्लोकमें ‘काष्ठपापाण-सन्निभम्’ शब्दसे अन्तिम स्मृतिका अभाव वताया गया है। श्रीवराहभगवान् भूमिदेवीसे कहते हैं कि शरणागत पुरुष शरणागति करनेके पश्चात् कृतकृत्य हो जाता है, उसका कोई कर्तव्य शेष नहीं रह जाता। उसके पश्चात्का कर्तव्य हमारा है। अतएव वह यद्यपि स्वाभाविक रीतिसे निश्चेष्ट, सरणशब्द्य पड़ा हुआ है, तथापि हम अपने अनन्तरकालीन कर्तव्यको पूर्ण करते हैं। उसको सदृति देनेका भार हमारे ऊपर है। अतएव मैं उसका सरण करता हूँ और गन्तव्य मार्गसे ले जाकर गम्भव्यानमें पहुँचा देता हूँ।

निश्चित-अनिश्चितफलदानवैलक्षण्य

भक्ति भनुप्यप्रवदसाध्य है, वह वात उसके म्बल्प और अङ्गोंके विचारसे सिद्ध होती है। भक्ति कग्ने-बालेको यह निश्चय नहीं हो सकता कि हमें मुक्ति मिलेगी ही। परिपूर्ण व्रतविद्याकी सिद्धि हुए विना मोक्ष नहीं

मिल सकता, इसमें शकाका अवकाश ही नहीं है। यमाठि अङ्गोंसे सम्पन्न होकर अचञ्चल—एकाग्रमनसे परमात्माका समाधिपर्यवसायी व्यान करना होगा। मनकी चञ्चलताको देखते हुए कोई नहीं कह सकता कि ऐसी योग्यता सुखमें प्राप्त हो जायगी। अतएव भगवान्-का कहना है—

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यति सिद्धये ।

यत्तासपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

परमात्माकी भक्तिमें प्रवृत्त होना ही जन्मान्तरके महापुण्यका फल है। प्रवृत्त होनेपर भी दीर्घकालसाथ होनेके कारण अनेक विश्वोपहातिके कारण सिद्धि मिलना कठिन है। सिद्धि मिलनेकी अवस्थामें भी ऐहिक भिद्धियोंमें चित्त न जाकर परमात्मग्राहितिकी तरफ टढ़ताके साथ चित्तको लगाये रखना महाकठिन है। तभी तो—

अनेकजन्मससिद्धस्तो याति परां गतिम् ॥

—कहा गया है। इन सब वातोपर विचार करनेपर यही कहना पड़ता है कि भक्तिनिष्ठुके लिये मोक्षसिद्धि निश्चित नहीं है। यदि मध्यमें विच्छेद हो गया तो अन्तकालकी मनोवृत्तिके अनुमार जन्मान्तरीय परिस्थिति होंगी। यहाँ सब कुछ मनुष्यके प्रयत्न-बलके अधीन है। मनोनिष्ठ हो—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृद्धते ।

—के अनुसार कष्टमाध्य है।

गणागतियोगकर्ताकी परिस्थिति ऐसी नहीं है। गणागतियोग व्यष्टिमात्राव्य होनेके कारण विश्ववाधार्द्य और प्रत्युतिभय नहीं है। एक बार शरणागतिका अनुष्टान होते ही फल निश्चित है।

‘तस्मादपि वध्यं प्रपञ्चं न प्रतिप्रयच्छन्ति ।’—तैत्तिरीय
‘वधार्हमपि काकृत्स्थः कृपया पर्यपालयत् ।’—रामायण
‘मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन ।’—रामायण
‘आर्ती वा यदि वा दृपः परेपां शरणागतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृपालुना ॥’

—रामायण

उपर उद्धृत श्रुति तथा रामायणके वचनोंसे अरणागतको निश्चितरूपसे फल मिलनेकी वात स्पष्ट है। श्रीकृष्ण भगवानकी उक्ति ‘मा शुचः’ भी इसका पोषक है। सञ्चित, प्रारब्ध, समस्त कर्मोंका नाश हो जाता है।

प्रारब्धेतरपूर्वपापमस्तिलं प्रामादिकं चोत्तरं
न्यासेन क्षपयज्ञनभ्युपगतं प्रारब्धखण्डं च नः ।
धीपूर्वोत्तरपापमनामजननाजातेऽपि तज्जिष्कृतेः
कौटिल्ये सति शिक्षयाप्यनघयन् क्रोडीकरोति प्रभुः ॥

अर्थात् समस्त सञ्चित, अनभ्युपगत प्रारब्ध, उत्तरकालीन प्रामादिक पाप, सब शरणागतिके प्रभावसे नष्ट हो जाते हैं। शरणागतिके पश्चात् दुद्धिपूर्वक पाप हो ही नहीं सकता, कठाचित् हो भी गया तो प्रायश्चित्तसे वह नष्ट हो जायगा। यदि वह प्रायश्चित्त न करे, कुठिल बना रहे तो भगवान् उसको तत्काल दुखानुभव कराकर पापमुक्त कर देते हैं। चाहे जैसा भी हो, भगवान् शरणागतको स्वीकार कर ही लेते हैं, मोक्ष दे ही देते हैं, जन्मान्तरके लिये वाकी नहीं रहने देते।

भक्तियोग और शरणागतियोगके कुछ वैलक्षण्य वताये हैं, ऐसे और भी वताये जा सकते हैं। और, जो कुछ भी लिखा है, सधेपर्यं लिखा है। विस्तारभयसे इस लेखको यहीं समाप्त करते हैं।

हमारा लक्ष्य

(लेखक—श्रीअरविन्द)

योगके जिन मार्गका यहाँ अवलम्बन किया जाता है उसका हेतु अन्य योगमार्गोंसे भिन्न है। इस योगमार्गका लक्ष्य केवल सामान्य सासारिक देहात्मभावसे ऊपर उठकर परमात्मभावको प्राप्त होना ही नहीं है, प्रत्युत उन परमात्मभावके विज्ञानको इस मन, बुद्धि, प्राण और जीवनके तमस्में ले आना, इनको स्वप्नान्तरित कर देना, इनमें भगवान्-को प्रकट करना और जड़ पार्थिव प्रकृतिमें दिव्य जीवन निर्माण करना इसका लक्ष्य है। यह यहाँ ही दुर्गम लक्ष्य और कठिन योगसाधन है, बहुतेगं-सों, या प्रायश्च तभी लोगोंको यह असम्भव ही प्रतीत होगा। नामान्व, अनभिज्ञ सासारिक देहात्मभावमें

यज्ञानकी जो क्रियाशक्तियों जमकर डटी हुई हैं वे इसके विरुद्ध हैं और इसका होना ही नहीं मानती और इसके होनेमें वाधा ही डालनेका यत्न करती है और साधक स्वयं भी देखेगा कि अपने ही मन, प्राण और शरीर इसकी प्राप्तिमें कितनी जवर्दस्त रुकावटें डालेंगे। यदि तुम इस लक्ष्यको सर्वात्मना स्वीकार कर सको, इसके लिये सब कठिनाइयोंका सामना करनेको तैयार हो, पीछे जो कुछ हुआ उसे और उसके बन्धनोंको पीछे ही छोड़ दो और इस भगवद्भावकी सम्भावनाके लिये सब कुछ छोड़ देने और, चाहे जो हो जाय, इसके पीछे लगनेका प्रस्तुत हो, तो ही तम यह द्यादा कर सकते हो कि इसके

पीछे जो महत् सत्य है उसका तुम्हें साधात्कार होगा।

इस योगकी साधनाका कोई वैधा हुआ मानसिक अभ्यासक्रम या व्यानका कोई निश्चित प्रकार, कोई मन्त्र या तन्त्र नहीं है; यह साधना आरम्भ होती है साधककी आरोहणेच्छासे, उसके अपने ऊपर या अन्दर आत्मध्यानसे अपने आपको भगवत्प्रभावकी ओर, उस भगवच्छक्तिकी ओर जो हमारे ऊपर है तथा उसके कार्यकी ओर और उस भगवत्सत्त्वाकी ओर जो हमारे हृदयमें है—अपने आपको खोल देनेसे, और इन सब वातोके विरुद्ध जो-जो कुछ है उसका त्याग करनेसे। श्रद्धाविद्वास, आरोहणेच्छा तथा आत्मसमर्पणके द्वारा ही इस प्रकार अपने आपको भगवत्सत्त्वाकी ओर खोल देना होता है।

* * * *

यहाँ सूजन करनेके लिये यदि कुछ है तो वह विज्ञानका ही सूजन है। अर्थात् इस पृथिवीपर, केवल मन-बुद्धि और प्राणमें ही नहीं, प्रत्युत शरीरमें और इस जड़ प्रकृतिमें भी भगवत्सत्त्वाका अवतरण कराना है। हमारा उद्देश्य अहभावके फेलावको रोकनेवाले प्रतिवन्धोंको हटाना अथवा मानवमनकी कल्पनाओं या अहकारगत प्राणवासनाओंकी स्वार्थपूर्तिके लिये खुला मैदान छोड़ देना और वेरोक आश्रय प्रदान करना नहीं है। यहाँ कोई भी इसलिये नहीं है कि 'जो मन भावे करे' या किसी ऐसे ससारको रचे जिसमें हमलोग अपनी मनमानी कर सकें, यहाँ हमें तो वही करना है जो भगवान् चाहते हैं और ऐसा ही ससार रचना है जिसमें भगवदिच्छा अन्तनिहित सत्यको प्रकट करे—वह भगवदिच्छा किसी मानव-अज्ञानसे विकृत न हो या किसी प्राणवासनासे विपर्यस्त और अन्यथाकृत न हो। विज्ञानके इस योगमें साधकको जो काम करना होता है वह कोई उसका अपना काम नहीं है जिसपर वह अपनी शतें भी लाद सके, प्रत्युत वह कर्म भगवान्का है और उसे वह कर्म भगवन्निर्दिष्ट नियमोंके अनुसार ही करना होगा। हमारा योग हमारे अपने लिये नहीं है, वल्कि भगवान्के लिये है। हम जो कुछ व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा वैयक्तिक व्यक्तीकरण नहीं है—सर्वतन्त्रस्वतन्त्र, सर्ववन्धविनिर्मुक्त वैयक्तिक अहकारका भी व्यक्तीकरण नहीं है, यह स्वयं भगवान्का व्यक्त होना है। हमारी मुक्ति, हमारी पूर्ण-कामता और हमारी परिपूर्णता तो भगवान्के व्यक्त होनेका ही एक परिणाम और अगमात्र है और सो भी किसी

अहभावसे नहीं, न किसी अहता-ममतासे निकले स्वार्थके लिये। यह मुक्ति, पूर्णकामता, परिपूर्णता भी हमारे अपने लिये नहीं, भगवान्के लिये है।

* * * *

योगका अर्थ केवल ईश्वरकी प्राप्ति नहीं वल्कि आभ्यन्तर तथा वाह्य जीवनका ऐसा परिपूर्ण उत्सर्ग और परिवर्तन है कि उसके द्वाग भगवचैतन्य व्यक्त हो और वह स्वयं भगवत्कर्मका एक अङ्ग हो। इसके लिये एक ऐसे आभ्यन्तरिक अभ्यासके होनेकी आवश्यकता है जो केवल सदाचार और कृष्णचान्द्रायणादि कार्यक तर्पोंसे बहुत अधिक कड़ा और कठिन है। यह योगमार्ग अन्य वहुतेरे योगमार्गोंकी अपेक्षा बहुत ही अधिक विशाल और दुर्गम है। कोई ऐसा मनुष्य कदापि इस मार्गपर पैर न रखे जिसको यह निश्चय न हो कि हमारे अन्तरात्माकी यह युकार है और इस मार्गपर अन्ततक चलनेकी हमारी तैयारी है।

* * * *

पहलेके योगोंमें उस आत्माके अनुभवकी ही खोज थी जो आत्मा सदा ही मुक्त है और परमात्मासे अविभक्त है। उस आत्मज्ञान और आत्मानुभवमें अपनी मानव-प्रकृति वाधक न हो, इस व्यानसे उतने ही अशमें प्रकृति-स्वभाव बदलनेका यत्किया जाता था। कुछ योड़े-से ही लोग, और सो भी प्राय 'सिद्धि' प्राप्त करनेके लिये, पूर्ण परिवर्तन अर्थात् शरीरतकको बदलनेका यत्क करते थे। पृथ्वीकी पार्यिव चेतनामें नवीन प्रकृतिके प्राकृत्यके लिये उनका प्रयास नहीं था।

* * * *

मनुष्य प्राणी जो सचेतन प्रकृतिमें मूर्तिमान् मन ही है, उसकी सम्पूर्ण चेतना या व्योधाक्तिको परम चैतन्यकी प्रकृतिसे मिलनेके लिये ऊपर उठना होगा और परम चैतन्यकी प्रकृतिको भी मन, प्राण और भौतिक आकारमें नीचे उतरना होगा। तभी वीचकी रुकावटें दूर होगी और परा प्रकृति सम्पूर्ण अपग प्रकृतिको ऊपर उठा लेने और उसे विज्ञानकी शक्तिसे बदलकर दिव्य वनानेमें समर्थ होगी।

पृथ्वी विकासक्रमका भौतिक क्षेत्र है और मन बुद्धि और प्राण, विज्ञान, सच्चिदानन्द तत्त्वत इन भौतिक चैतन्यमें भी छिपे हुए हैं। पर विकासक्रममें सबसे पहले भौतिक जगत्की रचना होती है, तत्पश्चात् उसमें प्राणलोकसे

प्राण आकर पृथ्वीके प्राणतत्त्वको आकृति, सहति और गति प्रदान करता है और वनस्पतिजाति और पशुजाति उत्पन्न करता है, तब मनोमयलोकसे मन उत्तरकर मनुष्यका सूजन करता है। अब मन-त्रुद्धिके परे जो विज्ञान है वह उत्तरनेवाला है, इसलिये कि विज्ञानमय मानवजाति उत्पन्न हो।

आत्मानुभवके कार्यक्रम होनेके लिये इतना ही पर्याप्त नहीं है कि पुरुष (जीव) प्रकृतिके बड़से मुक्त हो, वृत्तिक यह आवश्यक है कि पुरुषकी अपरा प्रकृति और उसकी अनभिज्ञ क्रियाशक्तियोंके प्रति जो स्नेहासक्ति है वह वहाँसे हटाकर परा भागवती शक्ति श्रीमाताको ममर्पित हो।

अपरा निम्नगा प्रकृतिको और उसकी यन्त्रबद्ध अन्ध क्रियाशक्तियोंको माता समझ लेना भूल है। यह प्रकृति तो एक यन्त्रसामग्री है जो विकासशील अज्ञानको गति देनेके लिये प्रस्तुत की गयी है। जैसे मनोभिमानी, प्राणाभिमानी या देहाभिमानी आत्मा ही परमात्मा नहीं है, यर्थापि वह आत्मा परमात्मासे ही है—वैसे ही प्रकृतिकी यह यान्त्रिकता ही भागवतशक्ति या माता नहीं है। अवश्य ही इस यान्त्रिकतामें और इसके पीछे माताका अग्र है, जो विकासक्रम साधनेके लिये इसे बनाये हुए है। पर माता स्वयं जो कुछ हैं वह कोई अविद्याकी शक्ति नहीं है, वृत्तिक भगवानकी चिर्चक्षक्ति, ज्योति, परा प्रकृति है, जिनमें हम मुक्ति और भागवती पूर्णताकी कामना करते हैं।

पुरुष-चेतन्यका अनुभव—जान्ति, स्वच्छन्द, त्रिगुण-कर्मोंका अनासक्त, अलिस साक्षित्व सुक्तिका साधन है। जान्ति, अनासक्ति, जान्तिमय शक्ति और आत्मरतिको प्राणोंमें, देहमें और मन-त्रुद्धिमें ले आना होगा। यदि इस आत्मरतिकी इस प्रकार मन, त्रुद्धि, प्राण और देहमें प्रतिष्ठा हो गयी तो प्राणगत शक्तियोंके उपद्रवोंका शिकार देनेका प्रसङ्ग नहीं था सकता। पर यह जान्ति, समत्व, त्विग शक्ति और आनन्दका सम्यापन आधारमें माताकी नन्तिका केवल प्रथम अवतरण है। इसके परे एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसी सञ्चालन-शक्ति है, एक ऐसा गतिशील धान्नन्द है जिसका अनुभव सामान्य प्रकृतिकी उत्तमावस्थामें, अत्यन्त सांख्यिक अवस्थामें भी नहीं हो सकता, यद्यपि वह भागवतरुण है।

उनसे पहले ज्ञान्ति, समता, मुक्ति आवश्यक है।

गतिशील आत्मानन्दको अपरिपक्व अवस्थामें नीचे ले आनेका प्रयास करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका नीचे आना क्षुब्ध और अशुद्ध प्रकृतिमें आना होगा, जो उसे अपना न सकेगी और इससे भयङ्कर उपद्रव हो सकते हैं।

* ‡ § #

यदि परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानससे किसी ऐसे महत्त्वर और पूर्णतर सत्यका अनुभव न होता हो जो उसके नीचेके लोकोंमें नहीं है, तो वहाँ पहुँचनेका प्रयास करना भी व्यर्थ ही है। प्रत्येक लोकके अपने-अपने विशिष्ट सत्यानुभव हैं। सभी सत्य सर्वत्र वैसे ही नहीं हैं। कुछ सत्य ऐसे हैं जो ऊर्ध्वतर लोकमें हैं ही नहीं। उदाहरणार्थ, वासना और अहकार मनोमय, प्राणमय और अन्नमय अज्ञानकी सत्ता थे, वहाँ कोई अहङ्कारहित या वासनारहित हो तो वह एक निर्जीव-सा तामसिक यन्त्रमात्र है। पर इस लोकसे जब हम ऊपर उठते हैं, तब अहङ्कार और वासनाकी कोई सत्ता ही नहीं रहती, वहाँ वे असत् प्रतीत होते हैं और सदात्मा और सत्यसङ्कल्प-को विकृत—विपर्यस्त करनेका काम करते हैं। दैवी और आसुरी शक्तियोंका संग्राम वहाँकी एक नित्य-सत्य घटना है, पर ज्यों-ज्यों हम ऊपर उठते हैं त्यों-त्यों इसकी सत्ता कम होती जाती है और परात्पर विज्ञानमय भगवन्मानसमें इसकी कोई सत्ता रह ही नहीं जाती। अन्यान्य सत्ताएँ हैं, पर पूर्ण स्थितिमें आकर उनका स्वरूप, महत्त्व और स्थान बढ़ल जाता है। व्यक्त और अव्यक्तका भेद या तारतम्य परा प्रजाकी सत्तामें सत्य भासित होता है—परात्परा प्रज्ञामें इस भेदका भेदरूप अस्तित्व नहीं है, वहाँ व्यक्त और अव्यक्त दोनों अभिन्न-रूपसे एक हैं। पर परा प्रजाकी स्थिति साधकर उसमें जो पूर्ण होकर न रहा हो वह परात्पर विज्ञानकी सत्ताका अनुभव नहीं कर सकता। मनुष्यका मन तो ऐसा है कि इसे एक प्रकारसे अक्षम-सा अर्थात् व्यर्थका दर्प होता है और उस दर्पमें वह भिन्न-भिन्न स्थितियोंके सदनुभवोंको छौटने लगता है और अन्य सब सदनुभवोंको असत्य, अलीक जानकर केवल उस एक महत्त्वम तत्त्वकी ओर उछल पड़ता है जिसे उसने स्वरूपतः तो नहीं, अनुमानसे जाना है, पर यह एक प्रकारका उच्चपदाभिलाप और गर्वयुक्त प्रमादमात्र है। वात यह है कि जो कोई ऊपर चढ़ना चाहता है उसे पोदी-पोडी चढ़ना होगा।

और हर पौङ्कीपर मजबूतीसे पैर रखकर, स्थिर होकर ऊपर उठना होगा, तभी वह शिखरतक पहुँचेगा ।

* * * *

विषयासक्तिवाली निम्न प्रकृति और उससे अपने मार्गमें पड़नेवाली वाधाओंके सोचमें ही रहना भूल है । इस प्रकृति और उसकी इन वाधाओंका निस्तार साधनाका अभावपक्ष है । इन वाधाओंको देखना, समझना और हटाना व्यवश्य ही एक काम है, पर इसीको सब कुछ समझकर इसीमें सर्वात्मना सदा लगे रहना ठीक नहीं । साधनाका जो भावपक्ष है, अर्थात् परा गतिके अवतरणका अनुभव, वही मुख्य त्रात है । यदि कोई यही प्रतीक्षा करता रहे कि पहले निम्न प्रकृति सदाके लिये सर्वथा शुद्ध हो ले, तब परा प्रकृतिके आनेकी बाट जोही जाय, तो ऐसी प्रतीक्षा तो सदा करते ही रह जाना पड़ेगा । यह सच है कि निम्न प्रकृति जितनी ही शुद्ध होगी, उतना ही परा प्रकृतिका उत्तर आना आसान होगा, पर यह भी सच है, वर्त्क उससे भी अधिक सच है, कि परा प्रकृतिका उत्तरना जितना होगा उतनी ही निम्न प्रकृति निर्मल होगी । पूर्ण शुद्धि या स्थिररूपसे पूर्ण अवतरण एकवारगी ही नहीं हो सकता, यह दीर्घकालमें निस्तर धैर्यपूर्वक क्रमशः ही होनेका काम है । चित्तकी शुद्धि और भगवच्छक्त्यवतरण दोनोंका काम एक साथ चलता है और दिन-प्रति-दिन अधिकाधिक स्थिरता और दृढ़ताके साथ दोनों एक-दूमरेको आलिङ्गन करते हैं— साधनाका यही सामान्य क्रम है ।

* * * *

किसी सद्भावका आत्यन्तिक अभिनिवेश चित्तमें होकर भी तत्त्वतक नहीं ठहरता जबतक अपनी मानवी वोधगति बदलकर दिव्य नहीं हो जाती—दिव्य भावको आत्मसात् कर सकनेमें कुछ काल लगता है । जब जीव स्वयं अनोध-सा रहता है तब आत्मसात् करनेकी यह क्रिया परदेके अन्दर ऊपरी आवरणसे छिपकर भीतर हुआ करती है और ऊपरी आवरणकी वोधगतिको केवल मूढ़ताकी-सी स्थितिका अनुभव होता है और ऐसा भी

प्रतीत होता है कि जो कुछ दिव्य भाव-सा पहले मिला था वह भी चला गया, पर जब जीव जागता है, उसकी वोधगति जाग उठती है, तब वह देख सकता है कि किस प्रकार भीतर-ही-भीतर आत्मसात् करनेकी क्रिया हो रही है, और कोई भी दिव्य भाव पाया हुआ नष्ट नहीं हुआ है, वर्त्क जो दिव्य भाव उत्तर आया था वह अब स्थिर होकर बैठा है ।

विगालता और अपार शान्ति और मौनका साधकको जो अनुभव होता है वह आत्मा—शान्त ब्रह्म है । कई योगोंका तो इसी आत्मा या शान्त ब्रह्मको पाकर उसमें रहना ही एकमात्र व्येय होता है । परन्तु हमारे योगमें तो भगवत्सत्त्वाकी अनुभूतिका तथा जीवके क्रमशः उस भगवचैतन्यको प्राप्त होनेका—जिसे हम दिव्यीकरण कहते हैं—यह केवल प्रथम सोपान है ।

* * * *

सदात्माके दो रूप हैं, एक आत्मा और दूसरा अन्तरात्मा—दृत्युरूप, जिसे हम चैत्यपुरुष भी कहते हैं । सदात्माकी अनुभूति इनमें से किसी एक रूपमें अथवा इन दोनों ही रूपोंमें हो सकती है । इन दोनों अनुभूतियोंमें अन्तर यही है कि आत्मा विक्षभरमें व्यात प्रतीत होता है, और अन्तरात्मा व्यक्तिविशेषके मन, प्राण और शरीरको धारण करनेवाला व्यष्टि पुरुष प्रतीत होता है । पहले-पहल जब किसीको आत्मानुभव होता है तब वह आत्माको सब पदार्थोंसे पृथक्, अपने आपमें ही स्थित और ससारसे सर्वथा असक्तरूपमें देखता है । इस प्रकारके आत्मानुभव-को सूचे हुए नारिकेल-फलकी उपमा दी जा सकती है । पर अन्तरात्मा या चित्युरुपका अनुभव ऐसा नहीं है, इस अनुभवमें भगवान्‌के साथ एकत्व, भगवान्‌ही आश्रय और भगवान्‌ही एकमात्र शरण्य देख पड़ते हैं और निम्न प्रकृतिको बदल डालने तथा अपने सदन्त-करणात्मा, सत्याणात्मा और सच्छरीगत्माको दृढ़ निकालनेकी क्रिया अनुभूत होती है । इस योगमें इन दोनों प्रकारके अनुभवोंकी आवश्यकता होती है ।

'मैं' यानी यह छोटा-सा अद्वार प्रकृतिकी रचना है और साथ ही मानसिक, प्राणगत और भौतिक रचना भी है। इसका हेतु वास्तवोध और कर्मको केन्द्रीभूत करके व्यष्टिविशेषमें व्यक्त करनेके काम आना है। जब सदात्मा मिल जाता है तब अद्वारका काम पूरा होता है, फिर उसकी कोई उपयोगिता नहीं रह जाती और उसका अन्त हो जाता है—उसके स्थानमें सदात्माकी अनुभूति होती है।

प्रचण्ड दिव्य अक्षि और तम हो जाता है शम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता—शान्ति।

* * * *

विव्रहाण्डकी तीन अक्षियाँ हैं, जिनके अधीन सब पदार्थ है—सृष्टि, स्थिति और सहार, जो-जो कुछ सुजा जाता है वह कुछ कालतक रहता है, बाद क्षीण होकर नष्ट होने लगता है। सहारशक्ति निकाल लेनेका यह मतलब होगा कि एक ऐसी सृष्टि होगी जिसका नाश नहीं होगा, विक्ति जो बनी रहकर सदा बदलती रहेगी। अज्ञानमें रहते हुए, उन्नतिके लिये नाश आवश्यक है; पर ज्ञानमें, सत्यकी अपनी दिव्य सृष्टिमें, प्रलयके बिना ही सतत रूपान्तरका होते जाना ही नियम है।*

—६—

महात्मा गान्धीजीका सन्देश सब योगोंका सम्राट् निष्काम कर्मयोग है।

निष्काम कर्मयोगी

गीताका कर्मयोगी फल और आसक्तिको त्यागकर भगवान्की आशानुसार केवल भगवदर्थ समत्व द्वारासे शास्त्रविहित कर्तव्यकर्म करता हुआ उन कर्मोंद्वारा भगवान्की भक्ति करता है। (देखिये गीता २। ४७ से ५१, ३। ७, १९, ३०; ४। १४; ५। १०; ६। १; ८। ७, ९। २७-२८, १२। ६, १०-११; १८। ६, ९, ४६, ५६, ५७ आदि।)

—७—

३ श्रीअरविन्दका यह लेख उन्होंकी आशामेउनकी 'Lights on Yoga' नामक अगरेजी पुस्तकसे लिया गया है। श्री-अरविन्दने समय समयपर अपने शिष्योंके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए जो पत्र हिस्से हैं उन्होंमेंसे कुछ अश इन पुस्तकमें संगृहीत हुए हैं, जो नापकंके लिये वे कामके हैं और श्रीअरविन्दके योग-विषयक सिद्धान्तोंको समझनेमें वड़े महायक हैं। पुस्तक आर्य परिचय दात्म, ६३, कोलेज स्ट्रीट (फर्ट होर), कलकत्तेसे मिल सकती है। मूल्य सबा रुपया है। —सम्पादक

वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ?

(परमपूज्यपाद श्रीउद्धियास्वामीजी महाराजके विचार)

पहले मैंने आसाम और भूटान आदि प्रान्तोमें हठयोगियोंकी बहुत खोज की थी। मुझे जिस किसी प्रसिद्ध हठयोगीका पता लगता उसके पास जाता और उसकी सेवा कर उसके अनुभवका पता लगानेका प्रयत्न करता। मैंने ऐसे कई हठयोगी देखे हैं जिन्हे तीन-तीन चार-चार घण्टेकी समाधि होती थी। परन्तु उनकी वास्तविक स्थिति-का पता लगानेपर यहीं विदित हुआ कि उनमेंसे किसीको भी निर्विकल्प समाधि सिद्ध नहीं हुई। हाँ, सविकल्प समाधिमें उनको स्थिति अवश्य थी। इसके सिवा, मैंने प्रायः सभी हठयोगियोंको रोगी भी पाया। हठयोगका मुख्य लक्ष्य वीर्यकी पुष्टि है, परन्तु मैंने अधिकांश हठयोगियोंको वीर्य-सम्बन्धी रोगोंसे भी ग्रस्त पाया है। किसीको मूत्रकुच्छू, किसी-को स्वप्नदोष और किसीको किसी अन्य रोगके चगुलमें पैसे देखा है। इससे मेरी यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि वर्तमान काल हठयोगके अनुकूल नहीं है, इस समय हठयोग-द्वारा पूर्णता प्राप्त करना प्रायः सर्वथा असम्भव है।

इसका यह अभिप्राय नहीं है कि हठयोगका मार्ग ही भ्रमपूर्ण है और उससे किसी भी समय पूर्णता प्राप्त नहीं होती थी। इस समय इसका जो विपरीत परिणाम होता है उसके मुख्य कारण ये हैं—

१-हठयोगीका वीर्य शुद्ध होना चाहिये, और इसका इस समय प्रायः सर्वथा अभाव है।

२-हठयोगका अभ्यास सहन करनेयोग्य वल प्रायः नहीं देखा जाता।

३-सिद्ध हठयोगी गुरुका मिलना भी अत्यन्त दुर्घट है।

इसके सिवा व्यान और वैराग्यकी कमी होनेके कारण आधुनिक हठयोगी प्रायः अर्थलोल्प और चक्षुल प्रकृतिके देखे जाते हैं। उनके जालमें फँसकर मैंने बहुत-से साधकोंके जीवन नष्ट होते देखे हैं। इसलिये मेरा विचार है कि अपने कल्याणकी इच्छावालोंको इस ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार बहुत-से हठयोगियोंसे निराग होनेपर मुझे एक ऐसे महात्मा मिले जिन्हे व्यानयोगद्वारा निर्विकल्प समाधि सिद्ध थी। उनके सर्सर्गसे मुझे यह अनुभव हुआ कि सिद्धासन और शान्मवी मुद्राकें^क द्वारा पूर्ण स्थिति प्राप्त की जा सकती है। यह मार्ग सर्वथा सरल और निरापद है। इसके सिवा भगवन्द्वजन, नाम-सङ्कीर्तन और जपके द्वारा भी भावसमाधि प्राप्त होती देखी गयी है। यह मार्ग सर्वसाधारणके लिये बहुत उपयोगी है। परन्तु ऐसे भावुक साधकोंमें भी विचारकी कमी होनेके कारण प्रायः आन्तरिक क्रोध और लोभादि दोष देखे गये हैं। इसलिये इस मार्गका अनुसरण करनेवालोंको भी विचारकी बहुत आवश्यकता है; तभी वे भगवन्द्वजिसे प्रग लाभ उठा सकेंगे। —प्रेषक—मुनिलाल

* शान्मवी मुद्राका लक्षण इस प्रकार है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिनिमेयोन्मेयवर्जिता । ता भवेच्छान्मवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥

‘जिसमें चित्तका लक्ष्य अन्तर्मुख (ध्येयाकार) रहना है और इष्टि वाहरकी ओर रहती है अर्थात् नेत्र खुले रहते हैं, किन्तु कोई वास्तविक पदार्थ दिखायी नहीं देता, वह मन्मूर्ण शास्त्रोंमें छिपी हुई ‘शान्मवी मुद्रा’ कहलाती है।’

इसका अभ्यास करनेके लिये श्रीमहाराजने इन शोकद्वारा उपदेश दिया—

तिर्यग्नूष्ठिमधोदृष्टि विद्याय च महानृति । स्तिरम्बायी च निष्कन्पो योगनेव ममम्भ्यसेत् ॥

‘मतिमान् साधकको ध्वर-उधर और उपर-नीचे देखना द्वौडकर निश्चलभावमें भिरतापूर्वक स्थित होकर योगका अभ्यास करना चाहिये।’ (प्रेषक)

समाधियोग

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

तने ही मित्र पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिविषयक लेखके लिये मुझे प्रेरणा कर रहे हैं। उन लोगोंका आग्रह देखकर मेरी भी लिखनेकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु मैंने इसका सम्पादन किया नहीं। समाधिका विषय बड़ा दुर्गम और गहन है। महर्पि पतञ्जलिजीका समाविके विषयमें क्या सिद्धान्त था, यह बात भाष्य आदि टीकाओंको देखनेपर भी अच्छी प्रकारसे समझमें नहीं आती। पातञ्जलयोगके अनुसार योगका भलीभौति सम्पादन करनेवाले योगी भी सासारमें बहुत ही कम अनुभान होते हैं। इस विषयके तत्त्वज्ञ योगीसे मेरी तो भेट भी नहीं हुई। ऐसी परिस्थितिमें समाधिके विषयमें न तो मुझमें लिखनेकी योग्यता ही है और न मेरा अधिकार ही है। तथापि अपने मनके विनोदके लिये पातञ्जल योगदर्शनके आधारपर, समाधिविषयक अपने भावोंको पाठकोंकी सेवामें निवेदन करता हूँ। अतएव पाठकगण मेरी त्रुटियोंके लिये अमा करेंगे।

पातञ्जल योगदर्शनके अनुसार समाधिके मुख्यतया दो भेद हैं—१. सम्प्रज्ञात और २ असम्प्रज्ञात।

असम्प्रज्ञातकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात बहिरग है।

तदपि बहिरङ्गं निर्वाजस्य। (३।८)

वह (स्थरमरुप) सम्प्रज्ञात समाधि भी निर्वाज समाधि-की अपेक्षा बहिरग ही है। इस असम्प्रज्ञातयोगको ही निर्वाज समाधि, केवल्य, चित्तशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा * आदि नामोंसे पातञ्जल योगदर्शनमें कहा है। और उस योगीकी सदाके लिये अपने चिन्मय स्वरूपमें स्थिति हो जाती है तथा किसीके साथ सम्बन्ध नहीं रहता। इसलिये उमर्जको चित्तशक्तिरूप स्वरूपप्रतिष्ठा कहते हैं। उस

* पुराणधर्मनार्थ शुणाना प्रतिप्रमय कैवल्य स्वरूपप्रतिष्ठा का नितिशक्तिरिति

(४। ३४)

अवस्थामें ससारके बीजका अत्यन्त अभाव है। इसलिये यह निर्वाज समाधिके नामसे प्रसिद्ध है।**

सम्प्रज्ञात योगके मुख्य चार भेद हैं—

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।

(१। १७)

वितर्कके सम्बन्धसे जो समाधि होती है उसका नाम वितर्कानुगम, विचारके सम्बन्धसे होनेवालीका नाम ‘विचारानुगम’, आनन्दके सम्बन्धसे होनेवालीका ‘आनन्दानुगम’ और अस्मिताके सम्बन्धसे होनेवाली समाधिका नाम ‘अस्मितानुगम’ है।

(१) आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, ये पौच स्थूलभूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, ये पौच स्थूलविषय, इन पदार्थोंमें होनेवाली समाधिका नाम ‘वितर्कानुगम’ समाधि है। इसमें केवल पाञ्चभौतिक स्थूल-शरीर एवं सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र आदिसहित यह स्थूल ब्रह्माण्ड अन्तर्गत है। इस वितर्कानुगम समाधिके दो भेद हैं—१-सवितर्क और २-निर्वितर्क।

(क) सवितर्क

तत्र शब्दार्थशानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समाप्तिः।

(१। ४२)

ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करने योग्य उन स्थूल पदार्थोंमें शब्द, अर्थ, ज्ञानके विकल्पोंसे सयुक्त, समाप्तिका नाम ‘सवितर्क’ समाधि है। जैसे कोई सूर्यमें समाधि लगाता है, नो उसमें सूर्यका नाम, सूर्यका रूप, और सूर्यका जान—यह तीनों प्रकारकी कल्पना रहती है, † इसलिये इसे सवितर्क समाधि कहते हैं, इसीको ‘सविकल्प’ भी कहते हैं।

* तथापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्वाजः समाधि (१। ५१)

† जिस पदार्थमें योगी समाधि लगाता है, उस पदार्थके वाचक या नामको तो शब्द, तथा वाच्य यानी स्वरूपको अर्थ और जिससे शब्द-अर्थके सम्बन्धका बोध होता है, उनको शान कहते हैं। जैसे सूर्य यह शब्द तो सूर्यदेवका वाचक है, सारे विद्वको प्रकाशित करनेवाला आकाशमें जो स्वर्यमण्टल दीख पढ़ता है, वह सूर्य शब्दका वाच्य है, और उस मण्डलको देखकर यह सूर्य है—ऐसा जो बोध होता है, उसका नाम शान है।

(ख) निर्वितर्क

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपश्चन्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ।
(१ । ४३)

स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभौति रहित होनेपर, जिसमें साधकको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थ यानी ध्येयमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम 'निर्वितर्क' समाप्ति अर्थात् समाधि है । जैसे सूर्यका ध्यान करनेवाला पुरुष मानो अपना ज्ञान भूलकर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है और उसे केवल सूर्यका स्वरूपमात्र ही प्रतीत होता है । उसका नाम निर्वितर्क समाधि है । इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं ।

(२) शब्द, सर्व, रूप, रस, गन्ध आदि सूक्ष्मतन्मात्राएँ, मन, बुद्धि, अहङ्कार और मूलप्रकृति एवं दग्ध इन्द्रियों, इनमें होनेवाली समाधिका नाम 'विचार-नुगम' समाधि है । कोई-कोई इन्द्रियोंमें होनेवाली समाधिको आनन्दानुगम समाधि मानते हैं, परन्तु ऐसा मानना युक्तिसङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

एतद्यैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्यासा ।
(१ । ४४)

इस सवितर्क और निर्वितर्कके भेदके अनुसार ही सूक्ष्म विषयवाली, सविचार और निर्विचार समाधिकी व्याख्या समझनी चाहिये । सूक्ष्म विषयकी मर्यादा, स्थूल पञ्चभूतोंको और स्थूल विषयोंको वाद देकर, मूलप्रकृति-पर्यन्त वतलायी है । इससे सूक्ष्म विषयकी व्याख्याके अन्तर्गत ही इन्द्रियों आठि आ जाते हैं—

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् । (१ । ४५)

तथा सूक्ष्मविषयताकी सीमा अलिङ्ग यानी मूल प्रकृतितक है । मूल प्रकृतितक होनेसे दृश्यका सारा सूक्ष्मविषय, 'विचारानुगम' समाधिके अन्तर्गत आ जाता है ।

इस विचारानुगम समाधिके भी दो भेद हैं । १— सविचार, २—निर्विचार ।

(क) सविचार—स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें नाम(शब्द), रूप(अर्थ), ज्ञानके विकल्पोंसे सयुक्त समाप्ति अर्थात् समाधिका नाम सविचार समाधि है । तीनोंप्रकारके विकल्पोंसे युक्त होने-

के कारण, इस सविचार समाधिको सविकल्प भी कह

(ख) निर्विचार—जिसमें उपर्युक्त स्थूल पदार्थोंको छोड़कर शेष मूलप्रकृतिपर्यन्त सम्पूर्ण ग्रहण और ग्राह्योंमें स्मृतिके परिशुद्ध होनेपर अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञानके विकल्पोंसे चित्त-वृत्ति भलीभौति रहित होनेपर जिसमें योगीको अपने स्वरूपके ज्ञानका अभाव-सा होकर, केवल अर्थमात्रकी ही प्रतीति रहती है, उसका नाम निर्विचार समाधि है । इसमें विकल्पोंका अभाव होनेके कारण इसे निर्विकल्प भी कहते हैं ।

ग्रहण तेरह हैं—पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों और मन, बुद्धि, अहङ्कार । ग्राह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें द्वार होनेसे, इन्हे 'ग्रहण' कहा गया है ।

इनके अलावा—स्थूल, सूक्ष्म समस्त जड दृश्यवर्ग, ग्राह्य हैं । ये उपर्युक्त तेरह ग्रहणोंके द्वारा पकड़े जानेवाले होनेसे इन्हें 'ग्राह्य' कहते हैं ।

उपर्युक्त विवेचनका तात्पर्य यह है कि दृश्यमात्र जड है और इस जडमें होनेवाली समाधिका नाम 'वितर्क-नुगम' और 'विचारानुगम' समाधि है ।

कार्यसहित प्रकृति जो दृश्यवर्ग है, इसीका नाम स्वीज है, इसलिये इसको लेकर होनेवाली समाधिका नाम स्वीज समाधि है ।

ता एव सबोजः समाधिः । (१ । ४६)

(३) अन्त-करणकी स्वच्छतासे उत्पन्न होनेवाले आहाद यानी प्रिय, मोद, प्रमोद आदि वृत्तियोंमें जो समाधि होती है, उसका नाम 'आनन्दानुगम' समाधि है । उपर्युक्त वितर्क और विचार ये दोनों समाधियोंमें तो केवल जडमें अर्थात् दृश्य पदार्थोंमें हैं परन्तु यह केवल जडमें नहीं है, क्योंकि आनन्दकी उत्पत्ति जड और चेतनके सम्बन्धमें होती है । इस आनन्दमें आत्माकी भावना करनेसे

* ध्यानमें तो ध्याता, ध्यान, ध्येयकी त्रिपुटी रहती है और इन सवितर्क और सविचार समाप्तियोंमें, केवल ध्येयविषयक ही शब्द, अर्थ, ज्ञानसे मिला हुआ विकल्प रहता है तथा समाधियोंमें केवल ध्येयका स्वरूपमात्र ही रह जाता है । इनलिये वह समाप्ति, ध्यानसे उत्तर पूर्व समाधिकी पूर्वाविद्या है, इसे नट्य नमापन्नी भी कहते हैं, अताव इसको भी नमाधि ही समझना चाहिये ।

विवेकख्यातिः द्वारा आत्मसाक्षात्कार भी हो जाता है।

(४) चेतन द्रष्टाकी चिन्मयशक्ति एव बुद्धिशक्ति इन दोनोंकी जो एकता-सी है उसका नाम 'अस्मिता' है।

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता (२।६)

पुरुष और बुद्धिकी एकरूपताकी-सी प्रतीति होना अस्मिता है। इसलिये बुद्धिवृत्ति और पुरुषकी चेतनशक्ति-के एकताके स्वरूपमें जो समाधि होती है उसका नाम 'अस्मितानुगम' समाधि है। आनन्दानुगम तो चेतनपुरुष और बुद्धिके सम्बन्धसे उत्पन्न होनेवाले आह्वादमें होती है। किन्तु यह समाधि चेतन पुरुष और बुद्धिकी एकात्मताकी-सी स्थितिमें होती है। इस समाधिसे पुरुष और प्रकृतिका घृथक्-पृथक् रूपसे ज्ञान हो जाता है। उस सत्त्वपुरुषके घृथक्-पृथक् ज्ञानमात्रसे समस्त पदार्थोंके स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च। (३।४९)

फिर इन सबमें वैराग्य होनेपर, क्लेश-कर्मके मूलभूत अविद्यारूप दोषकी निवृत्ति होकर, पुरुष 'कैवल्य' अवस्थाको प्राप्त हो जाता है—

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्। (३।५०)

असम्प्रज्ञात योग अर्थात् निर्वौजि समाधि तो सङ्कल्पोका अत्यन्त अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प है ही किन्तु सम्प्रज्ञातयोगमें निर्वितर्क और निर्विचार आदि सर्वीज समाधियोंभी, विकल्पोंका अभाव होनेके कारण, निर्विकल्प हैं।

* सत्त्व और पुरुषकी ख्यातिमात्रसे तो सब पदार्थोंपर स्वामित्व और ज्ञातृत्वकी प्राप्ति होती है, और उसमें वैराग्य होनेसे सदाय-विपर्ययसे रहित निर्मल विवेकख्याति होती है, इसीको 'सर्वभा विवेकख्याति' भी कहते हैं, इससे 'धर्ममेघ समाधि' लाभ और क्लेश-कर्मकी निवृत्ति होकर कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है।

यह 'धर्ममेघ समाधि' सम्प्रज्ञात योग नहीं है। असम्प्रज्ञात योग यानी निर्वौजि समाधिकी पूर्वावस्था है, क्योंकि इसमें समस्त द्वे अन्तर्मोक्षोंकी निवृत्ति होकर कैवल्य पदकी प्राप्ति बतलायी गयी है।

+ वितर्कानुगम और विचारानुगम समाधिके जैसे सवितर्क और निर्वितर्क तथा सविचार और निर्विचार दो-दो भेद होते हैं वैसे ही आनन्द और अस्मिताके भी दो-दो भेद किये जा सकते हैं।

'ग्रहण' और 'ग्राहो' में तथा आनन्द और बुद्धिसहित ग्रहीतामें सम्प्रज्ञात योगको बतलाकर, अब केवल ग्रहीतामें होनेवाला असम्प्रज्ञात योग बतलाया जाता है। चेतनरूप ग्रहीताके स्वस्वरूपमें होनेवाली समाधिका नाम असम्प्रज्ञात योग है। इसमें दृश्यके अभावसे, द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें समाधि होती है।

विरामप्रत्ययास्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।

(१।१८)

चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्याससे उत्पन्न हुई स्थिति, जिसमें केवल चित्तनिरोधके स्तराकार ही शेष रहते हैं, वह अन्य है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें चित्तकी वृत्तियोंका सर्वथा निरोध हो जाता है और चित्तनिरोधके स्तराकार ही रह जाते हैं।

गुण और गुणोंके कार्यमें अत्यन्त वैराग्य होनेसे, समस्त दृश्यका आलम्बन चित्तसे छूट जाता है, दृश्यसे अत्यन्त उपरामता होकर चित्तकी वृत्तियोंका निरोध होता है और क्लेश कर्मोंका नाश हो जाता है तथा क्लेश कर्मोंका नाश हो जानेसे, उस योगीका चित्तके साथ अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। सत्, रज, तम-गुणमयी प्रकृति उस योगीको मुक्ति देकर कृतकार्य हो जाती है। यही योगीकी कैवल्य अवस्था अथवा चित्तशक्तिरूप स्वरूप-प्रतिष्ठा है। इसीको निर्वौजि समाधि कहते हैं।

सम्प्रज्ञात योगमें जिस पदार्थका आलम्बन किया जाता है, उस पदार्थका यथार्थ ज्ञान होकर, योगीकी भूमियोंमें बुद्धि होते-होते, ज्ञेयमें प्रकृति-पुरुषतकका यथार्थ-ज्ञान हो जाता है। और उसमें वैराग्य होनेसे कैवल्यपदकी प्राप्ति हो जाती है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें तो शुरूसे ही दृश्यके आलम्बनका त्याग किया जाता है जिससे दृश्यका अत्यन्त अभाव होकर, त्याग करनेवाली केवल चेतन पुरुष ही बच रहता है, वही उसकी कैवल्य अवस्था है। अर्थात् सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञातका प्रधान भेद यह है कि सम्प्रज्ञात योग तो किसीको ध्येय बनाकर यानी किसीका आलम्बन करके, किया जाता है। यहाँ आलम्बन ही बीज है, इसलिये किसीको आलम्बन बनाकर, उसमें समाधि होती है, उसका नाम सर्वीज समाधि है। किन्तु असम्प्रज्ञात योगमें आलम्बनका अभाव है। आलम्बनका अभाव करते-करते, अभाव करनेवाली वृत्तियोंका भी अभाव होनेपर, जो समाधि होती है, वह

असम्प्रज्ञात योग है। निरालम्ब होनेके कारण इसको निर्विज समाधि भी कहते हैं।

ऊपर वताये हुए असम्प्रज्ञात योगकी सिद्धि दो प्रकारसे होती है। जिनमें एकका नाम 'भव-प्रत्यय' है और दूसरेका नाम 'उपाय-प्रत्यय'। जो पूर्वजन्ममें विदेह और प्रकृतिल्लयतक पहुँच चुके थे वे ही योगब्रह्म पुरुष इस जन्ममें भव-प्रत्ययके अधिकारी हैं, जेघ सब मनुष्य उपाय-प्रत्ययके अधिकारी हैं। उनमें भव-प्रत्यय यह है—

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिल्लयानाम् । (१।१९)

विदेही और प्रकृतिल्लयोंको भव-प्रत्यय होता है।

भव नाम है जन्मका, प्रत्यय नाम है प्रतीति-प्रकट होनेका। जन्मसे ही जिसकी प्रतीति होती है अर्थात् जो जन्मसे ही प्रकट होता है, उसे 'भव-प्रत्यय' कहते हैं। अथवा, भवात् प्रत्ययः भवप्रत्यय। भवात् नाम जन्मसे, प्रत्यय नाम ज्ञान, जन्मसे ही है जान जिसका अर्थात् जिस असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिका, उसका नाम है 'भव-प्रत्यय'। सारांग यह है कि विदेही और प्रकृतिल्लय योगियोंको जन्मसे ही, असम्प्रज्ञात योगकी प्राप्तिविधयक ज्ञानका अधिकार प्राप्त हो जाता है। उनको श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि, प्रजाकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि इन सबका साधन उनके पूर्वजन्ममें हो चुका है।

इसलिये पूर्वजन्मके सस्कारवलसे^५ उनको परवैराग्य होकर विराम प्रत्ययके अभ्यासपूर्वक यानी चित्तवृत्तियोंके अभावके अभ्यास अर्थात् दृश्यरूप आलम्बनके अभावके अभ्यासमें असम्प्रज्ञात यानी निर्विज समाधि हो जाती है।

* भगवद्वीतामें भगवान् श्रीकृष्णने भी योगब्रह्म पुरुषकी नति चतुर्वर्षे हुए कहा है—

तत्र त उद्दिस्योग लभते पौर्वदेहिकम् ।

यतते च ततो भूय मत्तिदौ कुरुनन्दन ॥

पूर्वाभ्यासेन तेऽनेव हियते ख्यवशोऽपि न ।

(६।४३-४४)

और वह योगब्रह्म पुरुष, वहीं उस पहिले शरीरमें नाथन किये हुए उद्दिको सब्योगको अर्थात् भगवत्तुद्दियोगके नंस्कारोंको अनायाम दूर प्राप्त हो जाता है और हे कुरुनन्दन! उनके प्रभावसे फिर अच्छी प्रकार भगवत्तासिके निर्मलता यत्त करता है। और वह विषयोंके वशमें हुआ भी उस पहिलेके अभ्यासमें नि जन्मेत भगवत्तकी ओर जाकर्षित किया जाता है।

(१) विदेही उन्हें कहते हैं, जिनका देहमें अभिमान नहींके तुल्य है। सम्प्रज्ञात योगकी जो चौथी समाधि अस्मिता है, उसमें समाधिस्थ होनेसे पुरुष और उद्दिका पृथक्-पृथक् ज्ञान हो जाता है, उस ज्ञानसे आत्माको जाता और उद्दिको जेयरूपसे समझकर, शरीरसे आत्माको पृथक् देखता है। तब उसको 'विदेह' ऐसा कहा जाता है।

(२) 'प्रकृतिल्लय' उन्हे कहते हैं जिनमें निर्विचार समाधिद्वारा प्रकृतिपर्यन्त संयम करनेकी योग्यता हो गयी है। इस प्रकारके योगियोंको अध्यात्मप्रसाद होकर ऋतम्भरा प्रज्ञाकी प्राप्ति हो जाती है।

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः । (१।४७)

निर्विचार समाधिमें वैगारद्य यानी प्रवीणता होनेपर, अध्यात्मप्रसाद होता है। रज, तमरुप मल और आवरण-का क्षय होकर, प्रकाशस्वरूप उद्दिका स्वच्छ प्रवाह निरन्तर वहता रहता है, इसीका नाम 'वैशारद्य' है। इससे प्रकृति और प्रकृतिके सारे पदार्थोंका, संशय-विपर्ययरहित प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, इसका नाम 'अध्यात्मप्रसाद' है। यह सम्प्रज्ञात योगकी निर्विचार समाधि है।

विदेह और प्रकृतिल्लय योगियोंका विषय वत्ताकर अब साधारण मनुष्योंके लिये, असम्प्रज्ञात योग प्राप्त करनेके लिये 'उपाय-प्रत्यय' कहते हैं।

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक हत्तरेपाम् । (१।२०)

जो विदेह और प्रकृतिल्लय नहीं है, उन पुरुषोंका श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रजापूर्वक, विराम-प्रत्ययके अभ्यासद्वारा असम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है।

श्रद्धा-योगकी प्राप्तिके लिये अभिरुचि या उत्कट इच्छाको उत्पन्न करनेवाले विश्वासका नाम 'श्रद्धा' है। जिनका अन्त करण जितना स्वच्छ यानी मलदोपसे रहित होता है, उनीं ही उसमें श्रद्धा^६ होती है। श्रद्धा ही कल्याणमें

* भगवद्वीतामें भी भगवान् कहते हैं—

सत्त्वानुरूपा नर्वस्य श्रद्धा भवनि भारत ।

श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो वच्छ्रुद्ध स एव न ॥

(१७।३)

हे भारत! ममी मनुष्योंकी श्रद्धा, उनके अन्त करणके अनुरूप होती है नथा यह पुरुष श्रद्धामय है, इसलिये जो पुन्य जैसी श्रद्धावाला है, वह न्यय भी वही है अर्थात् जैसी निष्ठी श्रद्धा है, वैसा ही उन्हका सत्त्व है।

परम कारण है, इसलिये आत्माका कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको श्रद्धाकी बुद्धिके लिये विशेष कोशिश करनी चाहिये।

वीर्य—योगीकी प्राप्तिके लिये साधनकी तत्परता उत्पन्न करनेवाले उत्साहका नाम 'वीर्य' है। क्योंकि श्रद्धाके अनुसार उत्साह और उत्साहके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है। और उस तत्परतासे मन और इन्द्रियोंके समर्थ हो जाती है।

स्मृति—अनुभूत विषयका न भूलना यानी उसके निरन्तर स्मरण रहनेका नाम 'स्मृति' है, इसलिये यहाँ अध्यात्मबुद्धिके द्वारा स्थिर विषयमें जो चित्तकी एकाग्रता होकर, एकतानन्त है अर्थात् स्थिर स्थिति है, उसको 'स्मृति' नामसे कहा है।

समाधि—फिर उसीमें अपने स्वरूपका अभाव-सा होकर, जहाँ केवल अर्थमात्र ध्येय वस्तुका ही जान रह जाता है, उसका नाम 'समाधि' है।

प्रज्ञा—ऋतम्भरा प्रज्ञा ही यहाँ प्रज्ञा नामसे कथित हुई है। उपर्युक्त समाधिके फलस्वरूप यह ऋतम्भरा प्रज्ञा योगीको प्राप्त होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा। (१।४८)

वहाँ ऋतम्भरा प्रज्ञा होती है। ऋत सत्यका नाम है। उसका धारण करनेवाली बुद्धिका नाम ऋतम्भरा है।

श्रुतानुमानप्रज्ञाम्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ।

(१।४९)

विशेष अर्थवाली होनेसे यह प्रज्ञा, श्रुत और अनुमान-जन्य प्रज्ञासे अन्य विषयवाली है।

अर्थात् श्रुति, स्मृतिद्वारा सुने हुए, और अपनी साधारण बुद्धिके द्वारा अनुमान किये हुए, विषयोंसे भी

इस बुद्धिके द्वारा विशेष अर्थका यानी यथार्थ अर्थका अनुमत होता है।

इस ऋतम्भरा प्रज्ञाके द्वारा उत्पन्न हुए ज्ञानसे सासार-के पदार्थोंमें वैराग्य और उपरति उत्पन्न होकर, उससे आत्मविषयक साधनमें आनेवाले विश्वेषोंका अभाव हो जाता है।

तजः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी । (१।५०)

उस ऋतम्भरा प्रज्ञासे उत्पन्न ज्ञानरूप संस्कार अन्य दृश्यजन्य संस्कारोंका वाधक है।

इसलिये उपर्युक्त प्रज्ञाके संस्कारोद्वारा विराम-प्रत्यय-का अभ्यास करना चाहिये अर्थात् विषयसहित चित्तकी समरत बृत्तियोंके विसरणका अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकारका अभ्यास करते-करते दृश्यका अत्यन्त अभाव हो जाता है। दृश्यका अत्यन्ताभाव होनेपर, दृश्यका अभाव करनेवाली बुद्धिबृत्तिका भी स्वयमेव निरोध हो जाता है और इसके निरोध होनेपर निर्विज समाधि हो जाती है। यहीं इस योगीकी स्वरूपमें स्थिति है, या यों कहिये कि कैवल्यपदकी प्राप्ति है॥

इनका सार निकालनेसे यही प्रतीत होता है कि अन्तःकरणकी स्वच्छतासे श्रद्धा होती है। श्रद्धासे साधनमें तत्परता होती है, तत्परतासे मन और इन्द्रियोंका निरोध होकर परमात्माके स्वरूपमें निरन्तर ध्यान होता है, उस ध्यानसे परमात्माके तत्त्वका यथार्थ ज्ञान होता है। और ज्ञानसे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। इसीको भगवत्-प्राप्ति, परमधामकी प्राप्ति आदि नामोंसे गीतामें बतलाया गया है। और यहाँ इस प्रकरणमें इसीको 'निर्विज समाधि' या 'कैवल्यपद' की प्राप्ति कहा है।



* श्रीमद्गवडीनामे भी इसीसे मिलता जुलता वर्णन किया गया है—

श्रद्धावौङ्गभते ज्ञान तत्पर मयतेन्द्रिय । ज्ञान लब्ध्वा परा शान्तिमन्त्रिरेणाधिगच्छति ॥ (४।३९)

जितेन्द्रिय तत्पर हुआ श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। ज्ञानको प्राप्त होकर तत्क्षण भगवत्प्राप्तिस्तरूप परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

योगतत्त्वम्

(लेखक—श्रीमन्मात्वसम्प्रदायाचार्य-दार्गनिकसार्वमौम-साहित्यदर्शनाधाचार्य-तर्करल-न्यायरल गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री)

योगभाष्यते नीपं योगभागमत्यगोचरः । योज्ञास्यो विषयासक्तौ योगमेतु स मे हृदि ॥

अथि कल्याणप्रियजनते ।

आपलोग अनेक वृष्टेंसे वहुविध मधुर रसका ही आस्वाद करते आ रहे हैं, सम्भव है कि कुछ असचिका भी उन्मेष हुआ हो; इससे तरह-तरहके मसाले पढ़ी हुई योगरूप चटनीसे आस्वाद बदलना भी लोकरीतिसे अनुचित न होगा, होता अनुचित यदि इमली वा नीमकी वैसेल चटनी होती। यह तो किसमिसकी चटनी होनेसे मेलकी ही है, क्योंकि विना इसके पूर्वास्वादित गरिष्ठ रसका परिपाक होता ही नहीं।

यह 'योग' शब्द एकाग्रतार्थक 'युज्' धातुसे निष्पन्न है, संयोगार्थक 'युजिर्' धातुसे नहीं, क्योंकि कर्म, शान, भक्ति, अष्टाङ्गादि योगमें नियमसे चित्तकाग्रता ही अपेक्षित है।

इस स्वतन्त्र योगके भी हठ, लय, मन्त्र, राजरूपसे तथा अन्य स्पर्शादि प्रभेदोंसे अनेकानेक प्रकार होते हैं, किन्तु हम यहाँ हिरण्यगर्भाचार्यप्रवर्तित एव महर्षि 'पतंजलि' द्वारा अनुशासित 'पातञ्जल' दर्शनादि नामोंसे प्रसिद्ध योग-शास्त्रोक्त 'योग' को मुख्य समक्षकर तदुक्त रीतिसे ही योगतत्त्वका सक्षेपसे निरूपण करते हैं।

जब यह भी एक प्रधान दर्गन है, तब दर्शनोचित रीति कैसे छूटेगी? इस दर्शनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द ये तीन ही प्रमाण अनुमत हैं, इनसे ही प्रमेय-सिद्धि की जाती है। यह शास्त्र महर्षि कपिलोक्त साख्यका परिशिष्ट रूप है, इसीसे 'उत्तरसाख्य' भी कहाता है। अतएव कपिलोक्त पचीस तत्त्व यहाँ भी सम्मत है, केवल छव्वीसवॉ तत्त्व 'ईश्वर' इसमें अधिक सिद्धान्तित है।

ये दोनों महर्षि 'परिणामवादी' हैं—इसीसे किसीकी उत्पत्ति या नाश इनके यहाँ नहीं भाना गया है। श्री-

भगवान्ने गीतोपनिषद्से 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' ऐसा कहकर परिणामवादका ही अनुमोदन किया है। इस वादमे उपादानकारणसे कार्यका सर्वथा भेद नहीं है, सर्वथा अभेद भी नहीं है, अतएव तादात्म्य है।

उक्त छव्वीस तत्त्वोमे महापुरुष या पुरुषोत्तम-ईश्वर और पुरुष वा जीव ये ही दोनों चिन्मात्रस्वरूप हैं, वाकीके चौदोसी सब जडात्मक हैं, क्योंकि सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणोंकी समष्टिरूप प्रकृति वा प्रधान मूल-कारण है। इसीसे साक्षात् वा परम्परासे तेईसोका सुषिसमयमे आविर्भाव होता है और प्रलयकालमे तेईसो प्राकृत्यके विपरीत क्रमसे तिरोभूत होते हैं।

इस दर्शनमे पुरुषमें ज्ञान-इच्छा, सुख-दुःख, धर्माधर्मादि विशेष गुण कभी नहीं रहते, किन्तु प्रकृतिका प्रथम कार्य वा विकृति, जो बुद्धितत्त्व वा महत्तत्व कहाता है, उसीमें उक्त गुण वस्तुतः रहते हैं। यह अन्तःकरणका मुख्यरूप है, अनादिकालसे इसके साथ पुरुषको तादात्म्य-भ्रम चला आया है। यही बन्धका हेतु है। जब पुरुषको इसके साथ भेद प्रत्यक्ष होता है, तब उसे 'विवेकख्याति' कहते हैं। इस वृत्तिके बाद ही मुक्ति है। तब उक्त वृत्ति भी अनन्त कालतक निरुद्ध रहती है। प्रारब्ध कर्म भुक्त ही हो जाते हैं, सञ्चित कर्म शानसे दग्ध हो जाते हैं, आगामी कारणाभावसे होते ही नहीं। अतः वृत्तिमात्रका निरोध होनेसे पुरुष चास्तविक स्वरूपमें सर्वदा स्थित रहेगा, यही योगदर्शनमें मोक्ष है।

एक दर्शनका सम्पूर्ण विवरण योड़े-से लेखमे कैसे आवेगा? तथापि योगरसिकोंके विनोदार्थ दिग्दर्शन कराया गया। विशेष जिज्ञासु यादि प्रश्न करेंगे तब उत्तर अवश्य दिया जायगा। इति शम्।

श्रीश्रीशरणागतियोग

(लेखक—अनन्त श्रीस्वामी प० श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या)

दीजाकुरन्यायसे अनादिकालोपचित् विविध कर्म-
वन्धनोंसे बद्ध जीव नाना प्रकारकी योनियोंमें
तत्त्वकर्मानुग्रह तत्त्वचरीरप्रहणपूर्वक तत्त्वचरीरभोग्य
भोगोंको भोगते आये हैं और भोगते हैं तथा भविष्यमें भी
भोगते रहेंगे—

‘द्वैवाधीनं जगत् कृत्स्नम्’
‘पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्वभिह कथ्यते ।’

कर्मसञ्चयको ही ससार कहते हैं। जबतक कर्म सञ्चित
रहता है तबतक सुख (मोक्ष) हो ही नहीं सकता, चाहे
वह सञ्चित कर्म पुण्यजनकतावच्छेदक हो अथवा
पापफलप्रद हो। श्रुति कहती है—

पुण्यपापे विभूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ।

अतः उभयविध कर्म वन्धप्रद होनेसे त्याज्य ही
वतलाये गये हैं।

अब प्रथम यह होता है कि उभयविध कर्मोंका निर्हार
कैसे हो, इसके लिये—

स्वानां वैचित्र्याद्जुकुटिलनानापथजुपां
नृणामेको गम्यः……… (महिम्न रत्नोत्र)

—के अनुसार ज्ञानयोग, कर्मयोग, ज्ञानकर्मसमुच्चय-
योग, हठयोग, राजयोग आदि नाना योग प्रतिपादित
किये गये हैं। ये सब योग अपश्चादधिकरणानुरोधेन
नियताधिकार होनेके कारण सर्वजनसुलभ नहीं हैं।
शरणागतियोग ही सर्वकाल-सर्वदेश-सर्वजनसुलभ है।
अन्य योगोंमें साक्षान्मोक्षप्रदत्व नहीं है, किन्तु तत्त्वयोग-
द्वारा अन्तःकरणनैर्मल्यापादनपूर्वक भक्तियोगोत्पादन-
द्वारा परम्परया मोक्षप्रदत्व है, तथा कर्मयोगादिमें
क्रमवैगुण्य होनेसे प्रत्यवाय भी वतलाया गया है। लेकिन
इस शरणागतियोगमें उपर्युक्त उभयविध विप्रतिपत्तियोंका
अभाव है, भगवान् श्रीगीताचार्यजी कहते हैं—‘प्रत्यवायो
न विद्यते’ (गीता)। इस शरणागतियोगमें किसी
प्रकारका प्रत्यवाय नहीं है। ‘शरणागति’ शब्दमें ही
कितना कारुण्य, कितना वात्सल्य, कितना औदार्य और
कितना प्रभाव भरा हुआ है, जिसने वडे-वडे कुलिशकठोर

हृदयोंको भी क्षणमात्रमें द्रवीभूत कर दिया है। इसके
अनेकों दृष्टान्त मिलते हैं। जल्दादेंसे अधिक निर्दर्शी कठोर
हृदयका कोई नहीं होता। पर वे भी इस अद्भुत शक्ति-
सम्पन्न (शरणम्) शब्दको सुनकर द्रवीभूत हो गये हैं।
तो फिर जो—

अहं भक्तपराधीनो ल्लस्वतन्त्र हृव द्विष्ट ।

—की स्वप्रतिज्ञा उद्घोषित करते हैं वे द्रवीभूत हो जायें
तो आश्रय ही क्या है।

अब हमें उस शरणागतियोगके स्वरूपका विचार
करना है जो सर्वसाधनापेक्षया सुलभ और सर्वजन-
साधारणको सहजमें प्राप्य है।

शरणागति दो प्रकारकी होती है—एक आर्ता शरणागति,
दूसरी दृसा। एक शरणागत वह है जो ‘श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्’ इस
श्रुत्युक्त लक्षणलक्षित श्रीपरमाचार्यकी कृपासे तत्त्वज्ञान प्राप्त
हो जानेसे, तथा कृपापूर्ण भगवत्तिरीक्षणसे भगवान्‌के
अनुभव करनेमें विभ्रल्प शरीरको भी भार समझता है
और भगवन्नित्यकैङ्कर्यप्राप्तिके लिये भगवान्‌से प्रतिक्षण
प्रार्थना करता है कि—‘हे भगवन् ! आपके कैङ्कर्यका
विरोधी, त्यागने योग्य यह मेरा शरीर शीघ्र छुड़ाइये ।’
ऐसी प्रार्थनापूर्वक जो शरणागति की जाती है उसे आर्ता
शरणागति कहते हैं। और देहान्तरादिकी प्राप्तिमें स्वर्ग-
नरक तथा गर्भ-जरा आदि अवस्थाओंमें हुःस्के
अनुभवसे डरकर, ससारसे विरक्त होकर, ससारसे निवृत्तिके
लिये तथा भगवत्प्राप्त्यर्थ सदाचारसम्पन्न श्रीगुरु महाराज-
के उपदेशसे स्ववर्णाश्रमोचित कायिक, वाचिक, मानसिक
कर्मोंको करते हुए तथा यथाशक्ति भगवत्कैङ्कर्य करते
हुए शोषशेषभाव, पितापुत्रभाव, भार्याभृत्यभाव,
नियाम्नियामकभाव, आधाराधेयभाव, स्वस्मामिभाव,
गरीरशरीरिभाव, धर्मधर्मिभाव, रक्ष्यरक्षकभाव, व्याप्त्य-
व्यापकभाव, भोग्यभोक्तृभाव, अशक्तसर्वशक्तिमद्वाव,
अज्ञसर्वज्ञभाव, अपूर्णपरिपूर्णभाव, अकिञ्चन आसकाम-
भाव आदि अनेक भावोंमें स्वोचित एक समन्वय प्रभुसे
मानकर, आप ही मेरे उपाय हैं, मेरे पास और कोई भी
साधन नहीं है, इस तरह अपना समस्त भार भगवान्‌के

सुपुर्दकर सर्वप्रयत्नशून्य होकर केवल भगवान्‌के वात्सल्य, सौश्रील्य, औदार्यादि अनेक कल्याणगुणोंके चिन्तनपूर्वक जो शरणागति की जाती है उसको दृष्टा शरणागति कहते हैं। इस प्रकार यह द्विविध शरणागतियोग है। अन्य योगोंमें साधकको स्वावलम्बित होकर रहना पड़ता है तथा स्वकर्तव्यका अभिमान रहता है कि इस साधनसे मैं प्रभुको सन्तुष्ट कर लूँगा, वह यश करता हूँ, दान देता हूँ, जप करता हूँ, ईश्वर अथवा वेदोकी आज्ञाओंका मैं पालन करता हूँ, अतः मैं अपने कर्तव्योंसे प्रभुको प्रसन्नकर इस अगाध अपरिमित ससारसागरसे पार हो जाऊँगा। इस प्रकार अन्य योगोंमें स्वावलम्बनावृत्ति रहती है, जिसको तत्त्वज्ञोंने वानरीवृत्ति कहा है। इस वृत्तिमें अपने च्युर होनेकी बड़ी आशङ्का रहती है, थोड़ी भी भूल (असावधानी) हुई कि उस वृत्तिका पता नहीं रहता कि कहाँ गयी। परन्तु यह शरणागतियोग परम सुलभ है और अनायास ही भगवत्साक्षित्र प्राप्त करा देता है। शरणागत भक्त अपने किसी भी साधनका भरोसा नहीं करता, वह जानता है कि मुझमें ऐसी कोई भी शक्ति, कोई भी साधन नहीं है जिसके बलसे मैं प्रभुको प्रसन्न कर सकूँ।

अनादिकालसे अनेक जन्माजित कर्मोंका कर्मद्वारा निर्हार करना अत्यन्त कठिन ही नहीं, सुतरा दुःसाध्य है। यदि एक-एक जन्मके कर्मोंके निर्हारार्थ एक-एक वर्ष रक्खा जाय तो भी त्रैराशिकानुपातसे अनेकानेक वर्षावधि तादृश साधनोंको अपेक्षा है जिनसे कर्मक्षय होता है। पहले कहा जा चुका है कि पुण्यात्मक अथवा पापात्मक कैसा भी कर्म हो, वह बन्धप्रद ही है। अनवरत अनेक वर्षपर्यन्त प्रत्यूहरहित तादृश साधनोंका होना बहुत ही कठिन है—

खुरस्त धारा निश्चिता दुरत्यया

दुर्गं पथस्त्रव कवयो वदन्ति ।
(कठोपनिषद्)

आवत देहहिं विषय वयारी । ते पुनि देहिं कपाट उघारी ।
(मानसरामायण)

यह तो सर्वसम्मत है कि कर्म-बन्धनद्वारा भगवती श्रीमायादेवी जीवोंको ससारसमुद्रमें डालती है। श्रीमुखका वचन है—

.....मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रष्ठन्ते मायामेतां तरन्ति से ॥
(गीता)

अतः भगवच्छरणागतिको छोड़कर दूसरा कोई भी उपाय उस मायासे वचनेका नहीं है। शरणागति वह सरल, सुलभ साधन है जिसके करनेसे 'कर्तव्यं नावशिष्यते ।' शरणागतको स्वविषयक किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती। जैसे माता अपने छोटे बच्चेकी अष्टप्रहर रक्षा करती रहती है, वालक स्वयं अपनी कुछ भी चिन्ता नहीं करता, वही वात्सल्यसम्बन्धी माता अपने प्रौढ़ वालककी रक्षामें उतनी दत्तावधाना नहीं होती जितनी उस दुष्मेहे वालककी रखती है, ठीक इसी प्रकार परमभक्तवत्सल सौश्रील्यादि निखिलकल्याणगुणगणार्णव भगवान् भी अपने उन भक्तोंकी 'सतत रक्षामें रहते हैं जो 'पिता त्वमेव माता त्वमेव', 'माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः', 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव', 'न धर्मनिष्ठोऽसि न चात्मवेदी' ऐसा सततानुसन्धान करते हैं और जो अपना सर्वस्व प्रभुके चरणारविन्दोंको ही जानते हैं।

अतः अन्य उपायोंका सहारा त्यागकर भक्त केवल प्रभुकृपैकसाधनका ही सहारा लेते हैं और 'हे नाथ ! हे दयामय ! मैं अकिञ्चन हूँ, अनन्यगतिक हूँ, सर्वसाधनशून्य हूँ, अनेक दुःखदावानलसे सन्तत हूँ; आप जगच्छरण हैं, अतः आपकी शरणमें आया हूँ।' इस प्रकार अनन्यभावेन वे प्रभुकी शरणागति करते हैं। उनके लिये भगवान् तुरन्त प्रतिज्ञा कर लेते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो भोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

परमोदार परमभक्तवत्सल भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रतिज्ञा करते हैं—

सकृदेव प्रपञ्चाय तवास्मीति च याचते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतइतं मम ॥

(वाल्मीकीय रामायण)

अर्थात् केवल एक बार 'शरणागत हूँ', 'मैं आपका हूँ' ऐसी जो प्रार्थना करता है उसको मैं सर्वभूतोंसे अभय कर देता हूँ—यह मेरी प्रतिज्ञा है।

यदि कोई कहे कि शरणमें आया हुआ दूषित है, पापी है, उसको कैसे शरणमें लेंगे, तो प्रभु स्वयमेव इस गङ्गाका निराकरण करते हैं—

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथन्नम ।

दोषो यथपि तस्य स्याद् सत्तमेतद्गर्हीतम् ॥

आनयैनं हरिश्चेष्ट दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥
(वा० रा० ल० का०)

जब भगवान् 'अज्ञो हिजान्' वृत्तिवाले सर्वदोषौधागार रावणके भी शरणागत होनेपर उसके ग्रहण और रक्षणकी प्रतिज्ञा करते हैं, तब उक्त शङ्काको अवकाश ही कहो है ?

तात्पर्य यह है कि भगवान्की शरणमें आये हुए जीवको उभयतः कल्याण है। यदि प्रभुने अपना लिया तो अच्छा ही है, और यदि न स्वीकार किया तो भी अच्छा ही है। क्योंकि यदि स्वीकार कर लिया तब तो कल्याण ही है, और यदि न अपनाया तो वह शरणागत जीव अपने सर्व हुष्टक शरण्यको देकर स्वयं निष्पाप हो जाता है, तब उसे अवश होकर अपनाना ही पड़ता है। इसी बातको आप महर्षि कण्ठुके वचनसे हड़ करते हैं—

आत्मो वा यदि वा इसः परेषां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
विनष्टः पश्यतस्तस्य रक्षिणः शरणं गतः ।
आदाय सुकृतं तस्य सर्वं गच्छेदरक्षितः ॥
(वा० रा० ल० का०)

इससे शरणमें आया हुआ सदोष हो अथवा निर्दोष, वह अवश्य ही शरण्यके द्वारा रक्षणीय है, अन्यथा बड़ा दोष होगा—यह भी आप अग्रिम श्लोकमें बतलाते हैं—

एवं दोपो महानन्दं प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥
(वा० रा० ल० का०)

तात्पर्य यह है कि शरणागतके दोष शरण्यके लिये सर्वदा ही उपेक्षणीय हैं। शरणागत होनेके पूर्व जीवने जो अपराध किये हैं वे तो सर्वदा उपेक्ष्य हैं ही, पर शरणागतियोगग्रहणके उपरान्तके भी अपराध सदा उपेक्षणीय ही है। क्योंकि सापराध जीव जब 'तवासि' कहता हुआ आपकी शरणमें आता है तब आप उसी समय उसके अनेक जन्मोंके अपराधोंको नाश कर देते हैं— सनमुख होय नीव मोहि जबही। जन्म कोटि अघ नासौं तबही ॥

(मानस)

—और सर्वभूतोंसे अभय प्रदान कर देते हैं। उसी एक वारकी की हुई शरणागतिके कारण भूत, भविष्य,

सर्वविध समस्त अपराध उपेक्षणीय हैं। आपकी द्वितीय प्रतिज्ञा है—

द्विः शरं नाभिसन्धत्ते द्विः स्थापयति नाश्रितान् ।
द्विददाति न चार्यिष्यो रामो द्विर्नाभिभापते ॥
(वा० रा० ल० का०)

अतः अन्यान्य योगोकी अपेक्षा शरणागतियोग ही प्रभुको अत्यन्त प्रिय है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
(गीता)

'(यहों सर्वधर्मत्यागसे मतलव धर्म त्यागकर अधर्मी वन जानेका नहीं, किन्तु मोक्ष अन्यान्य योगोसे सद्यः साध्य नहीं है, शरणागतियोगसे ही है, अतः) सर्व धर्मोंसे मोक्षकी आशाको त्यागकर एक शरणागतियोगद्वारा ही उसे प्राप्त करनेकी आशा करो ।'

इस शरणागतियोगको हमारे पूर्व महर्षियोंने वैडाली-वृत्ति कहा है। जिस तरह विलीका वचा स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं करता, उसकी माता ही उसे जहों चाहती है मुखमे दबाकर ले जाती है, वचा कुछ भी परवा नहीं करता कि मैं कहों जा रहा हूँ, क्या होगा, किसलिये माता लिये जाती है, इत्यादि, उसी तरह प्रपञ्च (शरणागत) को स्वविषयक कुछ भी चिन्ता नहीं रहती, किन्तु अपने सर्व कर्तव्योंकी आशाको त्यागकर भगवान्को ही अपना उपाय समझता है और उन्हींको उपेय भी जानता है। निर्भय होकर 'विनायकानीकपमूर्धसु' (भागवत) विचरता है, उसे किसीसे भी भय नहीं रहता ।

श्रीभगवत्सुति करती हुई श्रुतियों कहती हैं—

'नृषु तव मायया……भभवच्छरणेषु भयम्'
(श्रीमद्भागवत)

'जो आपकी शरणमें नहीं हैं उन्हींको भय होता है ।'

एवम्भूत भगवत्प्राप्तिका जो योग बतलाया गया है, वह भी भगवत्कृपासाध्य है। जब प्रभु अनादिकाल-दुर्वासनावासितान्तःकरण जीवके ऊपर निहेंतुक स्वखरूपा-नुरूपा कृपा करते हैं तभी इस शरणागतियोगमें प्रीति तथा विश्वास होता है; और ज्यों ही जीवको इस शरणागतियोगमें प्रीति वा विश्वास हुआ, वस, त्यों ही प्रभु उस जीवके सर्वापराधोंको भुलाकर स्वसान्निध्य प्रदान कर देते

है। भगवत्प्रातिसाधनीभूत शरणागतियोगके लिये भगवत्कृपातिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय नहीं है, केवल उनकी कृपा ही उपाय है—

कवहुँक करि करुना नर देही । देत ईस विनु हेतु सनेही ॥
(मानस)

भगवती श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मैध्या न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्त्रस्यैष आत्मा विवृणुते तनू च स्वाम् ॥
(कठोपनिषद्)

अतः एकमात्र भगवान्‌का ही भरोसा करना चाहिये । उन्हींको अपना भर्ता, त्राता, उद्धर्ता समझना चाहिये । वही एकमात्र शरण्य और सर्वभावेन वरेण्य है । उनके सिवा और कोई भी दुःखसागरसे पार करनेवाला नहीं है, और शरणागतियोगके अतिरिक्त कोई सरल, सर्वजनसुलभ साधन भी नहीं है जिसके द्वारा हम उसके पार हो सकें ।

अतः 'रक्षिष्यतीति' विश्वासपूर्वक भगवच्छरणागति

करनी चाहिये । तभी कल्याण प्राप्त हो सकता है, अन्यथा नहीं । इसके अनेक ज्वलन्त दृष्टान्त पुराणोंमें मिलते हैं । द्रौपदी, गजेन्द्र आदिको जवतक स्वपुरुषार्थका लेशमात्र भी अभिमान रहा तबतक भगवान्‌ने रक्षा नहीं की; और जब भगवान्‌को ही अपना रक्षक-पोषक समझा और अनन्य-भावसे पुकारा, तब आपने तुरन्त रक्षा की, शणमात्र भी देर न लगायी । अनन्यभावसे शरणागत होनेकी ही देर है, फिर जीवको किसी प्रकारका दुःख नहीं रह जाता । वह सुखस्वरूप हो जाता है, उसका अन्तःकरण स्वच्छ दर्पणकी तरह निर्मल हो जाता है । अन्तःकरणनैर्मत्य हो जानेपर शरणागत जीव जैसी-जैसी भावनाएँ, जैसी-जैसी कामनाएँ भगवदिन्द्वानुकूल करता है वे शीघ्रातिशीघ्र पूर्ण हो जाती हैं—

स यदि पिवलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः
समुपतिष्ठन्ति ।
(छान्दोग्योपनिषद्)

जो सुख अन्यान्य योगोंसे वडे कष्टसे प्राप्त होता है वही शरणागतियोगसे अनायास ही प्राप्त हो जाता है ।

योग

(लेखक—एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा)

योग क्या है ?



ग' शब्द 'युज्' धातुके वाद करण और भाववाच्यमें धञ्ज् प्रत्यय लगानेसे बनता है । 'युज्' धातुका अर्थ है समाधि । अतएव 'योग' शब्दका वास्तविक अर्थ समझनेके लिये 'समाधि' शब्दका भी वास्तविक अर्थ समझनेकी थोड़ी चेष्टा करनी होगी । 'समाधि' शब्दका अर्थ है सम्यक् प्रकारसे भगवान्‌के साथ युक्त हो जाना, मिल जाना, जीवका कामना, वासना, आसक्ति, स्वस्कार आदि सब प्रकारकी आगन्तुक मलिनताको दूरकर, स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर, मुख्य भावसे भगवान्‌में मिल जाना । गौणभावसे भगवान्‌से युक्त होनेका सहज सुन्दर स्वाभाविक उपाय भी 'समाधि' शब्दके अन्तर्गत है । 'योग' शब्दके अन्दर भी हम इन्हीं दो तत्त्वोंको निहित देखते हैं । 'योग' शब्दका अर्थ

है जीव और ब्रह्मका पूर्णरूपसे मिलन अर्थात् विजातीय, स्वजातीय एव स्वगतभेदसे रहित होकर जीव और ब्रह्मका एकत्व प्राप्त कर लेना—भगवान्‌के साथ, भगवद्विधानके साथ सम्पूर्णरूपमें ताल-तालपर मिल जाना, एक हो जाना, जिस अवस्थामें भगवान्‌के अस्तित्वके सिवा हमारा पृथक् अस्तित्व ही नहीं रह जायगा, भगवान्‌की हच्छा पूरी करनेके अतिरिक्त हमारे जीवनमें दूसरा कोई काम ही नहीं रह जायगा । एक शब्दमें—जिस अवस्थामें भगवान्‌की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने-आप हमारी बाणी, भाव और कार्यके द्वारा पूर्णरूपसे प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसीका नाम योग है । इसी अवस्थाको लक्ष्य करके मनुष्यको भगवान्‌का अवतार कहा जाता है ।

'तस्मिस्तज्जने मेदाभावात् ।' 'प्रस्तुव भवति ।'

—इत्यादि वाक्य इसी भावको प्रकट करते हैं । वास्तविक योगकी अवस्थामें क्या हो जाता है, यह समझना भी कठिन है । इसी वातको लक्ष्य फरके कहा गया है—

योगवियोगै रहितो योगी
भोगविभोगै रहितो भोगी ।
एवं चरति हि मन्दं मन्दं
मनसाकपितसहजानन्दम् ॥

इसी योगकी अवस्थाकी ओर लक्ष्य करके महर्षि अष्टावक्रने अपने प्रिय शिष्य राजर्षि जनकसे एक दिन कहा था कि वास्तविक योगी सदारमें हुर्लभ हैं—

सुसुक्षुरिह संसारे सुसुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकाङ्क्षी विरलो हि महाशयः ॥

इस योगकी अवस्था समस्त द्वन्द्वभावोंके ऊपर गुणातीत, उदासीन अवस्थामें स्थित है। मिलन या योगके दो प्रकार देखे जाते हैं। एक मिलन है अपने अस्तित्वको पूर्णतया खो देना, जैसा कि शङ्करके विशुद्धाद्वैतवादका मत है, दूसरा मिलन है अपने पृथक् स्वरूपको, स्वगत भावको कुछ अंगमें बचा रखना—जैसा कि रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादका मत है। यहाँपर ‘योग’ शब्द ‘युज्’ धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय लगानेसे सिद्ध हुआ है, जैसे ‘ज्ञायते यत् तत् ज्ञानम्’। यहाँ ज्ञान भगवान्के चित्तस्वरूपके सिवा और कुछ भी नहीं। इसके बाद जिसके द्वारा यह मिलन साधित होता है, मिलनके उस सहज-सुन्दर-स्वाभाविक उपायको भी ‘योग’ शब्दके द्वारा निर्देश किया जाता है। यहाँपर चित्तकी वृत्तिका निरोध करना, चित्तको वृत्तिश्चान्य करना और चित्तवृत्तिनिरोधके लिये जो कुछ किया जाता है वह सब ‘योग’ शब्दके अन्तर्गत है। जैसे ‘ज्ञायते अनेन इति ज्ञानम्’, इस प्रकार करणवाच्यसे ‘ज्ञान’ शब्द सिद्ध करके गीताकारने ‘अमानित्वमदमित्यस्म्’ आदि ज्ञानके साधनभूत अद्वैतोंको भी ‘ज्ञान’ शब्दके अन्तर्गत माना है, इसी तरह ‘युज्यते अनेन इति’ करणवाच्यसाधित ‘योग’ शब्दके द्वारा आसन, प्राणायाम आदि अष्टाङ्गयोगप्रणालीको भी योगके, भगवान्के साथ युक्त होनेके, सहायकरूपमें ‘योग’ शब्दके अन्तर्गत रक्षण गया है। अतएव ‘योग’ शब्दका मुख्य अर्थ है भगवाच्यमें साधित भगवत्-मिलन, और गौण अर्थ है करणवाच्यमें साधित भगवान्के साथ मिलनेके लिये आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। किसी भी कार्य-साधनकी सहज, सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली ‘योग’ शब्दके अन्तर्गत मानी जा सकती है। सभी कार्य योग हैं, सभी काम मनोयोगके ऊपर निर्भर करते हैं। चित्तकी

एकाग्रताके बिना कोई भी काम सुन्दरताके साथ सम्पन्न नहीं हो सकता।

योगके विभिन्न अर्थ

अब हम देखें कि वर्तमान समयमें ‘योग’ शब्द किन-किन अर्थोंमें व्यवहृत होता है—

(१) जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्णरूपमें मिलन—अद्वैतानुभूति-योग ।

(२) देहात्मबुद्धि त्यागकर आत्मभावापन्न होना—योग है—जैसे ‘योगेनान्ते तनुत्यजाम् ।’

(३) योगका अर्थ है—योगदर्शन, पतञ्जलिका योग-दर्शन नामक ग्रन्थ, जिसका उद्देश्य है जीवात्मा-परमात्माका सम्पूर्ण मिलन कराकर कैवल्य-प्राप्तिमें सहायक होना ।

(४) पातञ्जलमतानुसार चित्तवृत्तिका निरोध करके स्वरूपप्रतिष्ठ होना योग है। ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।’ ‘तदा ब्रह्मुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।’

(५) सांख्यमतानुसार पुरुष-प्रकृतिका पृथक् त्व स्थापितकर, दोनोंका वियोग करके पुरुषका स्वरूपमें स्थित होना योग है, ‘पुप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते ।’

(६) सुख-दुःख, पाप-पुण्य, शत्रु-मित्र, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अतीत होकर समत्व प्राप्त करना भी योग नामसे अभिहित होता है। जैसे गीतामें कहा है—‘समत्व योग उच्यते ।’

भक्त प्रह्लादने—

सर्वत्र दैत्याः समतासुपेत समत्वमाराधनसञ्चयतस्य ।

—इस ‘आराधना’ शब्दके द्वारा भी योगकी वास्तविक अवस्थाको सूचित किया है।

(७) कर्म वन्धन न कर सकें, इस प्रकारसे कर्मके प्रति उदासीन भावको धारणकर मुक्तावस्थाको प्राप्त करनेके उपायको भी योग कहते हैं। जैसे गीतामें कहा है—‘योगः कर्मसु कौशलम् ।’

(८) दो विभिन्न पदार्थोंका अपने-अपने स्वरूपको खोकर एक अद्भुत पदार्थमें परिणत होनेका नाम भी योग (Chemical combination) है। जैसे हाह्डोजन (अम्लजान) और आक्सिजन (यवक्षारजान) मिलकर जलके रूपमें परिणत हो जाते हैं।

इसी प्रकार अपने-अपने पार्थक्यको बनाये रखकर दो द्रव्योंका मिलन भी योग है। जैसे काठका काठके साथ, लोहेका लोहेके साथ मिलना भी योग है।

उपरागान्ते शशिनः समुपगता रोहिणी योगम् ।
(शकुन्तला ७ । १२)

तमङ्गमारोप्य शरीरयोगजैः
सुसैर्निषिव्वन्तमिवामृतं त्वचि ।
(रघुवश ३ । २६)

कथायोगेन दुष्यते । (वितोपदेश)

(९) योगफल—Consequence, result
रक्षायोगाद्यमपि तपः प्रत्यहं सञ्चिनोर्ति ।
(शकुन्तला २ । १४)

(१०) वैयाकरणिक योग—शब्दके बाद धातु-प्रत्ययगत अर्थ, यौगिक (रुढ़ नहीं) अर्थ—Etymological meaning प्रकट करना ।

(११) गणितशास्त्रोक्त योग—जोड़, Addition

(१२) कर्मका कौशलरूप योग—इस शब्दके विकृत भावसे मारण, उच्चाटन, वशीकरण, जादू, इन्द्रजाल आदि विद्याओंको भी 'योग-विद्या' नाम दे दिया गया है। अलौकिक ढगसे रोगनिवारण (Remedy, cure) आदि, यहाँतक कि बुरी नीयत, विश्वासधात आदि उद्देश्यपूर्तिके घृणित उपाय भी आजकल 'योग' शब्दके अन्तर्गत आ गये हैं।

योगके अलौकिक प्रभाव—अलौकिक आविष्कार

(१) योगियोने योगबलसे मन स्थिर करके, देहके भीतर कहाँपर क्या है, यह सब जानकर, मानसिक अवस्थाओंका पूर्णरूपसे विचार कर यन्त्र, तन्त्र और मन्त्रोंके रहस्यका आविष्कार किया है। उनके मतानुसार हर एक चक्रमें, हर एक स्नायविक केन्द्रमें एक-एक प्रकारकी अलौकिक शक्ति निहित है। उन निद्रिता शक्तियोंको प्राणवायु और ध्यानकी सहायतासे जागृत करके साधक दूरदर्शन, दूरध्वंवण, परचित्तविज्ञान, परकायप्रवेश, आकाशारोहण, योगबलसे देहत्याग आदि अलौकिक शक्तियों प्राप्त कर : करता है।

(२) योगी सर्प, भेदक आदि जन्तुओंसे आसन, मुद्रा, प्राणायाम आदि योगाङ्गोंको सीखकर अपने स्वास्थ्य

और आयुकी वृद्धि करनेमें समर्थ हुए थे। प्राचीन ऋषियोंकी, इसा आदि महात्माओंकी योगबलसे रोगियोंके रोग दूर करनेकी बात प्रसिद्ध ही है। भूकैलासमें एक बार मिथ्येके नीचेसे तीन योगियोंके शरीर निकले थे, जिसे बहुत लोग जानते हैं। महाराज रणजीतसिंहके समयमें हरिदास साथुकी योगविभूतिको देखकर बहुतन्से लोग विसित हुए थे।

(३) योगी पञ्चभूतोंके ऊपर प्रभुत्व प्राप्तकर कैसे-कैसे अलौकिक कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसका विशेष विवरण पातञ्जलदर्शनके विभूतिपादमें पाया जाता है। आज-कल भी देखा जाता है कि योगी पुरुष देहके विभिन्न अङ्गोंमें चित्त स्थिर करके और प्राणवायुका सञ्चार करके कैसे-कैसे अलौकिक कार्य सम्पन्न करते हैं। मन्त्र, औषध और समाधिजनित सिद्धि देखकर वर्तमान समयके वैज्ञानिक भी समय-समयपर विस्मित हो जाते हैं। मेस्मर साहवद्वारा आविष्कृत मेस्मेरिज्म (वशीकरण-विद्या) और हिप्नॉटिज्म प्रभृति विद्याएँ वर्तमान युगके अनेक शिक्षित लोगोंका चित्त आकर्षित करती हैं। इन सब विद्याओंको हम प्राचीन योगियोंकी मारण, उच्चाटन और वशीकरण-विद्याके अन्तर्गत ही समझते हैं।

(४) योगबलसे साधक ईर्ष्या-देष, सुख-दुःख, शत्रु-मित्र आदि द्वन्द्वभाव दूरकर, जितेन्द्रिय, शान्तचित्त आत्मदर्शी होकर किस प्रकार पृथिवीपर शान्तिराज्य स्थापित करनेमें सहायक हुए थे, इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं शङ्कर, ईसामसीह, बुद्ध इत्यादि। ये लोग आत्मतत्त्वको जानकर, सुख-दुःखसे अतीत होकर, निर्वाण प्राप्तकर अमर हो गये हैं और मनुष्यजातिके लिये वास्तविक शान्ति, सुक्ति और आनन्दका पथ बहुत कुछ सुलभ बना गये हैं। ससारमें जितना कुछ सारतत्त्वका आविष्कार हुआ है, उसका अधिकांश योगबलसे ही हुआ है। हम यहाँपर 'योग' शब्दको केवल भारतकी साधन-प्रणाली-विशेषसे सीमावद्ध करनेका व्यर्थ प्रयास, नहीं करेंगे। समस्त वैज्ञानिक और दार्शनिक आवध्यकार योगके एकाग्रतासाधनके ही फल हैं।

जो लोग योगतत्त्वके सम्बन्धमें विशेष ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, वे पातञ्जलदर्शन, योगियाशब्दव्य, पचन-विजयस्वरोदय, शिवसहिता, घेरण्डसहिता आदि ग्रन्थ पाठ करें अथवा सचे योगियोंका सग प्राप्त करनेकी चेष्टा करें।

योगके प्रकारमेंदृ

विभिन्न भावकोंकी मन्त्र और अभिभावके अनुगम थोड़ाकी भावन-प्रणालीको विभिन्न भागोंमें विभक्त किया गया है। गीताकार और वर्तमान मठापुरप्रसिद्धि योगको भावागतः कर्मयोग, ज्ञानयोग और मक्त्ययोग, इन तीन भागोंमें विभक्त किया है। योगके प्राचीन ग्रन्थोंमें इस इट्योग, ल्ययोग और गजयोग, ये तीन प्रकारके बंद देखते हैं। इनमें इट्योगी नेति, धौति, वस्ति, कपाल-माति, आमन, मुद्रा, चाटक, प्राणायाम आदि शारीरिक क्रियाओंकी ओर विशेष दृष्टि भवकर देहको भवस्थ, वल्लिष्ठ और कार्यशील बनानेका विशेष लेपा करते हैं। ल्ययोगी सुखस्त कामना, आमना, आयनित तथा भक्त्यप-विकल्पके जालमें गुज दोकर, त्रितकों त्रुतिशब्द बनाकर आन्त अवस्था प्राप्त करनेकी लेपा करते हैं। उनका विश्वाम है कि नित्यभिन्न व्यथप्रकाश आगमन्त्व शुद्ध, आन्त चित्तमें स्वयं स्फुरित होता है। गजयोगी दृष्टत्व और मनमन्त्व तथा आत्मानस्यको भवयक् रूपमें जानकर स्व-प्रतिष्ठ, 'स्वे मात्राय अर्थात्' धारक, दृष्ट देहात्मक, जगत्-त्रिलोक-के मात्रिक धारक, अन्तर्गतित्व, वार्द्धरन्तित्व और देहके उपर अधिकार प्राप्त करके, इन सब व्यन्धोंको अपने-अपने कार्यमां, भगवदिन्द्या पूरी करनेमें नियुक्तकर गुज राजाके गरान विगजान देंति है। कार्द्द-कार्द्द भावक इस इट्योग, ल्ययोग और गजयोगको कर्मयोग, ज्ञानयोग और मक्त्ययोगकी अन्तर्गत भगवक्त्वते हैं। आमन, मुद्रा, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, भगवित्ति इत्यादि अप्राप्ययोग एव सन्त्रयोग, जपयोग आदि यावत् योगप्रणाली इस विविध योगके अन्तर्गत हैं। प्राचीन ग्रन्थमें कर्मयोग, ज्ञानयोग और मक्त्ययोगका अन्यता भून्दर सामग्र्यस्य करनके कारण जगक, याश्वत्यक्य प्रवृत्ति गर्जित और अपि-गृनि विशेष-रूपमें प्रयुक्त दो गये हैं। विवका याश्वसाधनके प्रवर्त्तक योगीश्वर और श्रीकाणका योगवरद्वय, रूपमें वर्णन किया गया है।

गीतादि प्रवृत्तियोंमें यागको कर्मकी कुशलता कहा गया है। जिस उपायमे कर्म (दण्ड) सहज, मुन्द्र, व्याभाविक रूपमें गिर हो सके, व्यव च वन्धनका कारण न हो उगीका नाम याग है ('योगः कर्मम् कौशलम्'—गीता)। प्राचीन कालमें अधिकुगाग्र शशंक लिंग कुड़ा बटारकर लगेको जाया करते थे। उनमें तीन श्रेणीके लोग

होते थे। एक श्रेणीके वाल्क इस प्रकार गावधारीके साथ कुछ उखादन कि कुछ उम्बड़ भी आता और उनका हाथ भी न कटता, दूसरी श्रेणीके वाल्क कुछ उखादित समय अपना हाथ काट लेते और तीसरी श्रेणीके वाल्क हाथ कटनेके मध्यमे अपने अन्य साधियोंमे कुछ माँगकर अपना काम चला लेते। 'कुदं लाति दृति कुदलः' जो कुछ भी ले आते हैं और हाथ भी नहीं काटते, जो समारके गव कार्य करते हैं, परन्तु मायामें आवड नहीं होते वे ही कुदल हैं और उनके दृग भावको ही कौशल या शोग कहते हैं। दृग कुछ एकदम करनेकी प्रणालीको समारके कर्म-काण्डके प्रतीकके रूपमें लिया जा सकता है। जो शोग भगवामें अनागम, निर्लिपि गृहकर, फलाकाधारित हो समारके सब कर्म भप्पाठित कर सकते हैं, वे ही शारीरी हैं। जो शोग समारम्भ कर्म करते हुए भगवान्की ज्ञानदंसे धायल दें जाते हैं, वे धोर समारी हैं, और जो समारकों दुःख, कष्ट, वन्धनका कारण भगवान्कर समारगे वहृत दूर रहते हैं और दूसरेके कर्मफलके अपर निर्भर करते हैं, वे गाधारण भिषुक या भन्यारी श्रेणीके अन्तर्गत हैं। कहना नहीं होगा कि यहाँपर भीतोक्त संन्यारीकी वात न कहकर गाधारण वंपधारी भन्यारियोंकी थोर ही लक्ष्य रखता गया है।

‘योग’ शब्दका दरूपयोग

‘कर्मकी निपुणता योग है’, दूस मात्रमें ‘योग’ शब्द कितने प्रकारमें हैं और वाव-गल्लके पतनके माथ-साथ नीचे गिर गया है, और कितने विकृत अर्थमें अव इसका प्रयोग होने लगा है, यह भी यदृपर विचारणीय है। वर्तमान भगवान् ऐन्डजालिक कौशल (magic) आटि भी योगका अन्न समझा जाता है। मारण, उच्छादन, वशीकरण आटिकी ओर ही आजकलके योगियोंका विशेष ध्यान रखता है। किसी प्रकारकी कोई अस्वाभाविक क्रिया द्विया देनेवालोंका ही आजकल भव लोग योगी समझ लेते हैं, उनकी भक्ति करने लगते हैं और ठगाते हैं। तावीज, कवच आटिके द्वाग जो लोगोंके कर्मफलका खण्डन करनेकी इमाकत रखते हैं, जो बन्धाको पुत्र-प्राप्तिके लिये द्वा देते हैं और रंगियोंका रंग दूर करनेकी वात करते हैं, वे भी आजकल योगी कहे जाते हैं और पूजित होते हैं। प्राचीन कालमें जिनके द्वाथ ऊँचे रहकर भगवत्-कार्य करनेमें ही लोग रहते थे ही ऊर्ध्ववाहु होते थे। आजकल जो लोग भगवद्गुरुदेश्यकी अवहेलना करके,

प्राकृतिक नियमोंका उल्लङ्घन करके, दोनों हाथोंको ऊपर उठाकर उन्हें परवर्ग कर रखते हैं वे ही ऊर्ब्बवाहु योगी माने जाते हैं। प्राचीन समयमें योगी व्यान, धारणा, समाधिमें इतने तन्मय हो जाया करते कि शरीरकी ओर उनका ध्यान ही न जाता, उनके बालोंमें जटाएँ वैध जारी, शरीरपर धूल-मिट्टी आकर जम जाती। आजकल उसकी जगह बड़के दूध इत्यादिसे तावड़तोड़ जटा बना ली जाती है और शरीरमें मिट्टी-राख आदि भलकर योगीका स्वॉग बना लिया जाता है और भोले लोग भी यह देखकर बड़ीभूत हो जाते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें घरके मालिक जब ऑफिसमें या बाजार चले जाते हैं, तब न माल्फ्रूम कितने पाखण्डी धूर्त योगीकी पोशाक, गेस्था बल्ल, विभूति आदि धारणकर गृहस्थोंके घरोंमें जाकर भोली छियोपर अपना प्रभाव जमाकर छल, बल, कौशलसे कितने प्रकारसे धन ठगते हैं, इस वातका खयाल आते ही मर्माहत होना पड़ता है। आजकल ऐसे धूर्त योगियोंकी सख्त्या और प्रतिष्ठा इतनी बढ़ गयी है कि इनके कारण बास्तविक योगियोंने लोकालय और प्रसिद्ध तीर्थ आदिसे बहुत दूर जाकर रहना आरम्भ कर दिया है और गृहस्थ नकली योगियों-द्वारा ठगे जा रहे हैं। आजकल अणिमा-लघिमादि अष्ट सिद्धियोंका प्रभाव कहीं नहीं दिखायी देता। सिद्ध आजकल दूकानोंमें भौग और गॉजा आदिमें सीमावद्ध होकर नगेवाजीको बढ़ा रही है। भीतरसे भगवत्प्राप्ति-जनित ब्रह्मानन्दके नगोंमें विभोर न होकर आजके बने हुए योगी मदिसा, गॉजा, भौग आदि नद्यैली चीजोंको साधनका अङ्ग कहकर उनका प्रचार करते हैं। यहाँतक कि दंवादिदेव महादेवके हाथोंमें भी उन्होंने सङ्कोच छोड़कर अणिमादि अष्ट सिद्धियोंके बदले भगका प्याला और गॉजे-की चिलम दे दी है।

यथार्थ योगके प्रचारकी आवश्यकता

देव और भावके पतनके साथ-ही-साथ सभी वातोंमें स्वाभाविक ही कुछ-न-कुछ विवृति आ गयी है। वर्तमान समयमें आवश्यकता है उसके उचित संग्रहनकी। योगादि साधन-प्रणालीके अन्दर जब बहुतन्से सुन्दर-सुन्दर तत्त्व निहित हैं, उसकी सहायतासे जब स्वास्थ्य-प्राप्ति, एकाग्रता-जान्ति-आनन्द-प्राप्ति, उन्नति-प्राप्ति, भगवद्वर्जन, भगवत्-प्राप्ति, जीविका कल्पण-साधन सहज, सुन्दर और

स्वाभाविकरूपमें सुसाधित होनेकी सम्भावना है, तब इस योगसाधनप्रणालीका संजोधन करने, इसकी उन्नतिका उपाय करने, इसकी शिक्षा देने तथा सर्वसाधारणके सामने योगके उदार मत, भाव और कालका एक उच्च आदर्श रखनेकी विशेष आवश्यकता है। यह सर्वसाधारण-को समझा देना होगा कि बास्तविक योग क्या है, वह कितने रूपोंमें विभक्त है, उसकी साधन-प्रणाली क्या है, किस तरह ससारके जीवोंके हितसाधनमें, उन्हें आनन्द प्रदान करनेमें इसका प्रयोग किया जा सकता है। कर्मयोगी किस प्रकार कर्मके रहस्यको समझकर, अनासक्त, निष्काम, फलांकांधासे रहित होकर केवल भगवत्-प्रीतिके लिये जीवोंका कल्याण करनेमें भगवद्गुद्धि रखकर कर्म किया करते हैं, यह सुन्दररूपमें समझा देना होगा। ज्ञानयोगी इन्द्रियोंको संयत करके, चित्तको शुद्ध और जान्त करके, स्वरूपप्रतिष्ठ, आत्मभावमें स्थित होकर किस प्रकार समाधियोगके द्वारा परमात्मामें तन्मय हुए रहते हैं, यह भी समझ लेना होगा।

सच्चे योगियोंकी स्थिति

योगीगण देह, मन, प्राणको शुद्ध और जान्त करके मूलाधारसे कुलकुण्डलिनीको जागृत करके, सब चक्रोंमें, सब केन्द्रोंमें छिपी हुई भक्तिको प्रवृद्ध करके, समस्त शक्ति, ज्ञान, ऐश्वर्यसे विभूषित होकर, सहस्रामें स्थित सदाशिवसे, परमात्मासे युक्त होकर, तन्मयत्व प्राप्त करके, ज्योतिर्मय देहसे भगवान्के साथ किस प्रकार आनन्दसमाधिमें विभोर रहते हैं, जगत्का कल्याण करनेमें भगवान्की इच्छा पूरी करनेमें नियुक्त रहते हैं, यह तत्त्व अच्छी तरह समझ लेना होगा। भक्तियोगी प्रेमके साधक होते हैं, उनके भगवान् सब भूतोंमें विराजमान रहते हैं। समस्त जगत्, समस्त जीव-देह उनके प्रियतम श्रीभगवान्की मूर्ति या मन्दिर हैं। श्रीभगवान् प्रकृतिके सब तत्त्वोंमें, सब देहोंमें विराजित रहकर जीवके कर्म, ज्ञान और भक्तिके अन्दरसे अपना सच्चिदानन्दभाव प्रकट कर रहे हैं। बास्तविक साधक और्ख, कान, नाक आदि वाहरी इन्द्रियों तथा मन, बुद्धि, अद्विकार और चित्त आदि भीतरी शून्द्रियोंके द्वारा अपने प्राणाराम श्रीभगवानके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, अनन्त सौन्दर्य, माधुर्य आदिका अनुभव कर हर्षीकेण-सेवारूप उत्तमा बुद्धिके साधनकी महायतासे भगवत्-मिलनके आनन्दमें विभोर रहते हैं।

माधनराज्यके योगसाधनका सार-तत्त्व यही है कि हमारे अन्दर भगवानको अनन्त गत्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त प्रेम और आनन्द निहित है। हमारी कामना, वासना, आसक्ति, हमारी अज्ञानता, हमारे कुस्कार, हमारा स्वार्थ, आत्मसुखकी सृष्टि, अहकार और प्रतिष्ठाका मोह आदि उस भगवत्-गत्तिके विकासमें वाधा पहुँचाते हैं। अतएव हम जितना ही इन सब वाधाओंसे मुक्त, शुद्ध, शान्त, पवित्र होंगे उतने ही भगवत्-भाव हमारे अन्दर प्रकाशित होंगे, हम साधनराज्यमें सिद्धि प्राप्त करेंगे। भगवान्के और हमारे जीवका यह काल्पनिक व्यवधान जितना ही दूर होगा उतना ही हम भगवान्के साथ युक्त होने और मिलनेकी योग्यता प्राप्त करेंगे। जहाँ इन सब उपाधियोंके प्रति आसक्ति, सृष्टि दृष्टिगोचर हो वहाँ यह समझ लेना चाहिये कि साधक गलत रास्तेपर चल रहा है, उसका पतन और उसके द्वारा देगका अमङ्गल अवश्यम्भावी है। योगी ये भारतके प्राचीन ऋषि-मुनि, जो सयत, शुद्ध, शान्त और पवित्र होकर, भगवान्में तन्मयता प्राप्त करके जीवोंका कल्याण करनेमें तल्लीन रहा करते थे। वे लोग ममतारहित, अहकाररहित थे, वे लोग प्रतिष्ठाको शूकर-की विष्ट्राकी तरह त्याग देते थे। वे जगत्‌को ब्रह्ममय देखते थे, सर्वत्र ब्रह्मदर्शन, ब्रह्मनुभूति, ब्रह्मसेवा, जीवसेवा उनके जीवनकी प्रधान साधना थी। योगिनियाँ थीं वृन्दावनकी गोपियाँ—जिनकी औखोंकी साधना थीं सर्वत्र भगवद्दर्शन, कामोंकी साधना थीं सब अवदोंके भीतर श्रीभगवान्की वर्गीयता सुनना, उनका मन, प्राण सर्वदा भगवान्की सेवा और ध्यानमें द्वै रहते। इन्द्रियोंद्वारा इन्द्रिय-

धीशकी अनुभूति और सेवा क्या चीज है, कर्म किस तरह भगवदाराधनामें पर्यवसित होता है, वातचीत किस प्रकार भगवद्गुण गानेमें, चलना किस प्रकार भगवत्प्रेममें नाचने और भगवान्के मन्दिरकी प्रदक्षिणामें, चिन्तन किस प्रकार ध्यानमें और समस्त जीवन किस प्रकार ब्रह्मानन्दकी अनुभूतिमें पर्यवसित होता है, गोपी-प्रेमके भीतर इसका आस्वाद करनेका सुयोग हम पाते हैं। उनकी देह, मन, प्राण, आत्मा सर्वदा श्रीभगवान्में, भगवान्के कार्य करनेमें युक्त रहा करते, अतएव हम प्रधान योगियोंके रूपमें उनकी भक्ति करनेके लिये वाध्य है। श्रीकृष्णको देखना, श्रीकृष्णका ध्यान करना और श्रीकृष्णकी सेवा करना ही उनकी प्रधान साधना थी। वे इस साधनामें तन्मयता प्राप्त करके सम्पूर्ण-रूपमें अपनेको भूलकर, 'इतर-राग-विस्मारक' कृष्ण-प्रेमार्णवमें निमग्न होकर, श्रीकृष्णमें तन्मयता प्राप्त कर श्रीकृष्णके साथ युक्त हो जातीं, मिल जातीं।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनमेतदेकपरत्वम् ।

—इस भावकी साधना ही थी गोपियोंकी परम योगसाधना। वे थीं तन्मनस्का, तदात्मिका। वे अपनी देहके प्रत्येक तत्त्वमें अपने प्राणराम श्रीकृष्णचन्द्रके साथ युक्त रहकर श्रीकृष्णमय हो जातीं। वे जगत्‌को कृष्णमय देखतीं।

'जित देखों तित स्थापमयी है ।'

यत्र यम् मनो याति ब्रह्मणस्त्र दर्शनम् ।

—रूपी योगकी सिद्धावस्था वे प्राप्त कर चुकी थीं। इसी योगके फलस्वरूप अष्ट सिद्धियाँ उनके चरणोंमें आकर लोटीं तो भी वे सिद्धिको, भुक्ति-मुक्तिकी वासनाको वन्धनका कारण समझकर उनसे छृणा करतीं।



सांख्ययोगी

गीताका सांख्ययोगी, मायासे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं, ऐसे समझकर मन, इन्द्रिय और शरीरके द्वारा होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल सर्वव्यापी सञ्चिदानन्दघन परमात्माके स्वरूपमें अनन्यभावसे निरन्तर श्वित रहता है (देखिये गीता ३। २८, ९। ८-९-१३, ६। ३१ १३। २९-३०; १४। १९-२०, १८। १७-१९ से ५५ आदि) ।



अष्टाङ्गयोग

(लेखक—श्रीज्यद्यालजी गायन्दका)

अनेको व्यक्ति ध्यान करने और समाधि लगानेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उन्हे सफलता नहीं मिलती। इसका कारण यह है कि समाधिकी सिद्धिके लिये यम नियमोंके पालन-की विशेष अवश्यकता है। यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना अस्यन्त कठिन है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारकी वृत्तियोंके नष्ट हुए विना चित्तका एकाप्र होना कठिन है और चित्त एकाग्र हुए विना ध्यान और समाधि नहीं हो सकती। यो तो समाधिकी इच्छावाले पुरुषोंको योगके आठों ही अङ्गोंका साधन करना चाहिये, किन्तु यम और नियमोंका पालन तो अवश्यमेव करना चाहिये। जैसे नींवके विना मकान नहीं ठहर सकता, ऐसे ही यम-नियमोंके पालन किये विना ध्यान और समाधिका सिद्ध होना असम्भव-सा है। यम-नियमोंमें भी जो पुरुष यमोंका पालन न करके केवल नियमोंका पालन करना चाहता है, उससे नियमोंका पालन भी अच्छी प्रकार नहीं हो सकता।

‘यमान् स्वेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः ।

यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन् ॥

(मनुस्मृति ४ । २०४)

‘बुद्धमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमोंका पालन करता हुआ ही नियमोंका पालन करे, केवल नियमोंका नहीं, जो यमोंका पालन न करके, केवल नियमोंको करता है वह साधनपथसे गिर जाता है।’ इनका साधन किये विना ध्यान और समाधिकी सिद्धि होनी कठिन है। अत. योगकी सिद्धि चाहनेवाले पुरुषको यम-नियमोंका साधन अवश्यमेव करना चाहिये। इनके पालनसे चोरी, जारी, झूठ, कपट आदि दुराचारोंका और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुणोंका नाश होकर, अन्त-करणकी पवित्रता होती है और उसमें उत्तम गुणोंका समावेश होकर इष्टदेवताके दर्शन एव आत्माका साक्षात्कार भी, साधक जो चाहता है वही, हो सकता है। परन्तु यम-नियमोंके पालन किये विना, ध्यान और समाधिकी वात तो दूर रही, अच्छी प्रकारसे प्राणायामका होना भी कठिन है।

वहुतसे लोग प्राणायामके लिये यत्त करते हैं, किन्तु सफलता नहीं पाते। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुर्गुण एवं झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार,

एव प्राणायामविधयक क्रियाके ज्ञानका अभाव ही इस सफलतामें प्रधान वाधक है। यम-नियमोंका पालन करनेसे उपर्युक्त दुराचार और दुर्गुणोंका नाश हो जाता है। अतएव प्राणायामका साधन करनेवालेको भी प्रथम यम-नियमोंका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त दुर्गुण और दुराचार सभी साधनोंमें वाधक हैं। इसलिये ध्यान और समाधिकी इच्छा करनेवाले साधकोंको, दोषोंका नाश करनेके लिये प्रथम यम-नियमोंका पालन करके ही, योगके अन्य अङ्गोंका अनुष्ठान करना चाहिये। जो पुरुष योगके आठों अङ्गोंका अच्छी प्रकारसे साधन कर लेता है, उसका अन्त-करण पवित्र होनेपर ज्ञानकी अपार दीर्घि हो जाती है, जिससे उसको इच्छानुसार सिद्धियों प्राप्त हो सकती है और सिद्धियों न चाहनेवाला पुरुष तो क्लेश और कर्मोंसे छूटकर आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर सकता है।

योगके आठ अङ्ग ये हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रस्थाहारधारणाध्यानसमाध्योऽष्टावङ्गानि ।

(योगदर्शन २ । २९)

‘यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रस्थाहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये योगके आठ अङ्ग हैं।’

इन आठ अङ्गोंकी दो भूमिकाएँ हैं—१-व्याहिरङ्ग, २-अन्तरङ्ग। ऊपर वतलाये हुए आठ अङ्गोंमेंसे पहले पॉचको व्याहिरङ्ग कहते हैं, क्योंकि उनका विशेषतया वाहरकी क्रियाओंसे ही सम्बन्ध है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अन्तरङ्ग हैं। इनका सम्बन्ध केवल अन्त-करणसे होनेके कारण इनको अन्तरङ्ग कहते हैं। महर्षि पतञ्जलिने एक साथ इन तीनोंको ‘स्यम’ भी कहा है—

त्रयमेकत्र संयमः । (३ । ४)

अब इन आठों अङ्गोंका सक्षित विवेचन किया जाता है।

१-यम

अहिंसासत्यास्तेयग्रह्यचर्यापरिग्रहा यमः ।

(योगदर्शन २ । ३०)

‘अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ग्रह्यचर्य और अपरिग्रह, इन पॉचोंका नाम यम है।’

(क) किसी भूतप्राणीको या अपनेको^२ भी मन, वाणी, शरीरद्वारा, कभी, किसी प्रकार, किञ्चित्मात्र भी, कष्ट न पहुँचानेका नाम अहिंसा है।

(ख) अन्तःकरण और इन्द्रियोंद्वारा जैसा निश्चय किया हो, द्वितीय भावनासे, कपटरहित प्रिय गव्हर्डमें वैसा-कावेसा ही प्रकट करनेका नाम सत्य है।

(ग) मन, वाणी, शरीरद्वारा किसी प्रकारके भी किसीके स्वत्व (हक) को न चुराना, न लेना और न छीनना अस्तेय है।

(घ) मन, इन्द्रिय और शरीरद्वारा होनेवाले काम-विकारके सर्वथा अभावका नाम ब्रह्मचर्य है।

(ङ) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि किसी भी मोगसामग्रीका सप्रहन करना अपरिग्रह है।

इन पॉचों यमोंका सब जाति, सब देश और सब कालमें पालन होनेसे एव किसी भी निमित्तसे इनके विपरीत हिंसादि दोषोंके न घटनेसे इनकी सज्जा 'महाव्रत' हो जाती है।

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् । (योगदर्शन २।३१)

'जाति, देश, काल और निमित्तसे अनवच्छिन्न यमका सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौमके निम्नलिखित प्रकार है—

मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर-जड़म प्राणी, हिन्दू-मुसल्मान, सनातनी-असनातनी आदि भेदोंसे किसीके साथ भी यमोंके पालनमें भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न-भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थानों एव तीर्थ-अतीर्थ आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखनेसे वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त, नक्षत्र एव पंच-अपवर्ष आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, आढ़, दान, विवाह, न्यायालय, काय-विकार, आजीविका आदिके भेदोंसे यमके पालनमें किसी प्रकारका भेद न रखना 'समय (निमित्त) गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश

^२ स्थपत्यवान्, परोपकार, ईश्वरमत्ति आदि सत्कार्योंमें कष्ट महन रहना तो योगकी मिथिले नदायक है, यहा केवल ग्राम-पाल, अनुचिन कष्ट पहुँचानेका निषेध है।

अथवा कालमें, किसी जीवके साथ, किसी भी निमित्तसे, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार आदिका आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

२-नियम

शौचमन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा ।

(योगदर्शन २।३२)

'पवित्रता, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान, ये पॉच नियम हैं।'

(क) पवित्रता दो प्रकारकी होती है—१ वाहरी और २ भीतरी। जल-मिठ्ठीसे शरीरकी, स्वार्थ-त्यागसे व्यवहार और आचरणकी तथा न्यायोपार्जित द्रव्यसे प्राप्त सात्त्विक पदार्थोंके पवित्रतापूर्वक सेवनसे आहारकी, यह वाहरी पवित्रता है। अहता, ममता, राग द्वेष, ईर्ष्या, भय और काम-को बाढ़ भीतरी दुर्गुणोंके त्यागसे भीतरी पवित्रता होती है।

(ख) मुख-दुःख, लाभ-हानि, यग-अपयग, सिद्धि-असिद्धि, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदिके प्राप्त होनेपर सदा-सर्वदा सन्तुष्ट—प्रसन्नचित्त रहनेका नाम सन्तोष है।

(ग) मन और इन्द्रियोंके सबमरुप धर्म-पालन करनेके लिये कष्ट सहनेका और नितिका एव ब्रतादिका नाम तप है।

(घ) कल्याणप्रद गाल्झोंका अध्ययन, और इष्टदेवके नामका जप तथा स्तोत्रादि पठन-पाठन एव गुणानुवाद करनेका नाम स्वाध्याय है।

(ङ) ईश्वरकी भक्ति अर्थात् मन-वाणी और शरीर-द्वारा ईश्वरके लिये, ईश्वरके अनुकूल ही चेष्टा करनेका नाम ईश्वरप्रणिधान है।

उपर्युक्त यम और नियमोंके पालनमें वाधक हिंसा आदि विपरीत वृत्तियोंके नाशके लिये महर्षि पतञ्जलि उपाय बतलाते हैं

वितर्कवाधने

प्रतिपक्षभावनम् ।

(योगदर्शन २।३३)

'हिंसादि वितर्कोंसे वाधा होनेपर प्रतिपक्षका चिन्तन करना चाहिये।'

वितर्क हिंसादयः कृतकारितानुभोदिता लोभक्रोध-मोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखान्नानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (योगदर्शन २।३४)

कृत, कारित और अनुभोदितभेदोंसे, लोभ, क्रोध और मोहके हेतुमें, मृदु, मध्य और अधिमात्रस्वरूपसे, ये हिंसादि वितर्क अनन्त हु ख और अज्ञानरूपी फलके देनेवाले हैं—ऐसी भावनाका नाम 'प्रतिपक्षभावना' है।

अर्थात् हिंसादि दोष, अनन्त दुःख और अनन्त अजानलप फलके देनेवाले हैं, इस प्रकारकी वारवार भावना करनेका नाम 'प्रतिपद्मावना' है।

हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, भोगपदार्थोंके सप्रह, अपवित्रता और असन्तोषकी वृत्ति, एवं तप, स्वाव्याय तथा ईश्वरप्रणिवानके विरोधकी वृत्ति, इनका नाम वितर्क है।

उपर्युक्त हिंसादिको मन, वाणी, शरीरद्वारा स्वय करनेका नाम 'कृत', दूसरोंके द्वारा करवानेका नाम 'कागित' और अन्योद्धारा किये जानेवाले हिंसादि दोषोंके समर्थन, अनुमोदन या उनमें सम्मतिका नाम 'अनुमोदित' है। उपर्युक्त तीनों प्रकारके हिंसादि समस्त दोषोंके होनेमें लोभ, क्रोध और मोह, ये तीन हेतु हैं। तीनों प्रकारके दोष, तीन हेतुओंसे बननेवाले होनेके कारण, नौ तरहके हो जाते हैं। आसक्ति या कामनासे उत्पन्न होनेवाले हिंसा, असत्यादि दोषोंमें लोभ, ईर्ष्या, द्वेष, वैरादिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें क्रोध और मृदुता, विपरीत-तुष्टि आदिसे उत्पन्न होनेवाले दोषोंमें मोह हेतु होता है। ये नौ प्रकारके दोष, मृदु, मध्य और अधिमात्रके भेदसे, सत्ताईस प्रकारके हो जाते हैं। अत्यन्त अत्यका नाम मृदु, वीचकी मात्राका नाम मध्य और अधिक मात्रामें यानी पूर्णरूपसे होनेवाले हिंसादि दोषका स्वरूप अधिमात्र कहा जाता है। लेखका विस्तार वड़ जानेके सङ्केतसे इनका स्वरूप बहुत ही संक्षेपमें कहा गया है।

**यम-नियमोंके पालनका महान् फल
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।**
(योगदर्शन २।३५)

'अहिंसार्थी महाब्रतके पूर्ण पालन होनेपर उस योगीके समीप दूसरे (स्वाभाविक वैर रखनेवाले) प्राणी भी वैरका अर्थात् हिंसावृत्तिका त्याग कर देते हैं।'

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाकलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २।३६)

सत्यके अच्छी प्रकार पालनमें उस सत्यवादीकी वाणी सफल हो जाती है, अर्थात् वह जो कुछ कहता है वही सत्य हो जाता है।

अस्तेयप्रतिष्ठाया सर्वरनोपस्थानम्। (योगदर्शन २।३७)

चोरीकी वृत्तिका सर्वथा त्याग हो जानेपर उसे सब गलोंकी उपस्थिति हो जाती है, अर्थात् समस्त रक्त उसके

दृष्टिगोचर हो जाते हैं और समस्त जनता उसका पूर्णरूपसे विश्वास करने लग जाती है।

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। (योगदर्शन २।३८)

ब्रह्मचर्यका अच्छी प्रकारसे पालन होनेपर शरीर, मन और इन्द्रियोंमें अत्यन्त सामर्थ्यकी प्राप्ति हो जाती है।

अपरिग्रहस्थैर्येऽन्मकथन्तासम्ब्रोधः। (योगदर्शन २।३९)

अपरिग्रहके स्थिर होनेपर यानी विषय-भोग-पदार्थोंके सब्रहका भलीभौति त्याग होनेपर, वैराग्य और उपरति होकर मनका स्थान होता है और मनःस्थानसे भूत, भविष्यत्, वर्तमान जन्मोंका और उनके कारणोंका ज्ञान हो जाता है।

शैचारस्वाङ्गजुगुप्सा परैससर्गः। (योगदर्शन २।४०)

पूर्णतया वाहरकी पवित्रतासे अपने अङ्गोंमें घृणा और अन्य मनुष्योंके समर्गका अभाव हो जाता है। क्योंकि दूसरे शरीरोंमें अस्त्र हो जानेसे उनका समर्ग नहीं किया जाता। सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाउपेन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च। (योगदर्शन २।४१)

अन्तःकरणकी पवित्रतासे मनकी प्रसन्नता और एकाग्रता, इन्द्रियोंपर विजय, और आत्माके साक्षात् दर्शन करनेकी योग्यता प्राप्त हो जाती है।

सन्तोषादनुत्समुखलामः। (योगदर्शन २।४२)

मन्तोषसे सर्वोत्तम सुखकी प्राप्ति होती है।

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः। (योगदर्शन २।४३)

तपसे मलदोष अर्थात् पापोंका नाश हो जानेपर, अणिमादि अष्ट कायाकी सिद्धियाँ और दूरसे देखना-सुनना आदि इन्द्रियोंकी सिद्धियों प्राप्त हो जाती हैं।

स्वाध्यायादिष्टेवतासम्प्रयोगः। (यो० २।४४)

अपने इष्टदेवके नामका जप एवं स्वरूप, गुण, प्रभाव और महिमा आदिके पठन, पाठन, श्रवण, मननरूप स्वाध्यायसे इष्टदेवका साक्षात् दर्शन हो जाता है।

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्। (यो० २।४५)

ईश्वरप्रणिधानसे समाधिकी सिद्धि होती है।

३-आसन और आसनसिद्धिका फल

आसन अनेकों प्रकारके हैं। उनमेंसे आत्मनयम चाहनेवाले पुरुषके लिये मिडासन, पद्मासन और स्तनिकासन—ये तीन वहुत उपयोगी माने गये हैं। इनमेंने कोई-सा भी आसन हो, परन्तु मेन्दण्ड, मन्त्र और ग्रीवाको नींदा अवश्य रखना चाहिये और दृष्टि नामिकाप्रशंस अवश्य भक्तीमें रखनी चाहिये। आलस्य

न मतावे तो आँखें मँडकर भी बैठ सकते हैं। जिस आगमनसे जो पुरुष सुखपूर्वक दीर्घकालतक बैठ सके, वही उसके लिये उत्तम आसन है।

स्थिरसुखमासनम् । (यो० २ । ४६)

सुखपूर्वक स्थिगतासे बहुत कालतक बैठनेका नाम आसन है।

प्रयत्नर्थिध्यानन्तसमाप्तिभ्याम् । (यो० २ । ४७)

गरीरकी स्वाभाविक चेष्टके गिथिल करनेपर अर्थात् इनसे उपराम होनेपर अथवा अनन्त परमात्मामें मनके तन्मय होनेपर आसनकी सिद्धि होती है। कम-से-कम एक पहर यानी तीन घटेतक एक आसनसे सुखपूर्वक स्थिर और अचल भावसे बैठनेको आसनसिद्धि कहते हैं।

ततो द्वन्द्वानभिधातः । (यो० २ । ४८)

उस आसनेकी सिद्धिसे (गरीर पूर्णरूपसे सयत हो जानक कारण) श्रीतोष्णादि द्वन्द्व वाधा नहीं करते।

४-प्राणायाम

अब सत्रेपमें प्राणायामकी क्रियाका उल्लेख किया जाता है। अमलमें प्राणायामका विषय अनुभवी योगियोंके पास रहकर ही उनसे सीखना चाहिये, नहीं तो इससे आगेंगिक हानि भी हो सकती है।

तस्मिन् सति श्रासप्रश्वसयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।

(यो० २ । ४९)

आसनके मिद्द हो जानेपर श्वास और प्रश्वासकी गतिके अवरोध हो जानेका नाम प्राणायाम है। वाहरी वायुका भीतर प्रवेश करना चाहा है और भीतरकी वायुका वाहर निकलना प्रश्वास है, इन दोनोंके रुकनेका नाम प्राणायाम है।

यद्यास्यन्तरलभृत्तिरेशकालसंग्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः । (यो० २ । ५०)

देश, काल और सम्या (मात्रा) के सम्बन्धसे बाल्य, अभ्यन्तर और नम्भवृत्तिवाले, ये तीनों प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होते हैं।

भीनरं भास्मको वाहर निकालकर वाहर ही रोक दण्डना 'दाय लुभ्मक' कहलाता है। इसकी विधि यह है— आठ प्रणव (ॐ) से रेचक करके, सोलहसे वायु कुम्भक दण्डना और पिंज नामसे पूरक करना—इन प्रकारने रेचक-पूरक गर्हने वाले नाम लुभ्मक करनेका नाम वायुवृत्ति-प्राणायामः ।

वाहरके श्वासको भीतर खींचकर भीतर रोकनेको 'आभ्यन्तर कुम्भक' कहते हैं। इसकी विधि यह है कि चार प्रणवसे पूरक करके सोलहसे आभ्यन्तर कुम्भक करे, फिर आठसे रेचक करे। इस प्रकार पूरक-रेचकके सहित भीतर कुम्भक करनेका नाम आभ्यन्तरवृत्तिप्राणायाम है।

वाहर या भीतर, जहाँ कहीं भी सुखपूर्वक प्राणोंके रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है। अथवा चार प्रणवसे पूरक करके आठसे रेचक करे; इस प्रकार पूरक-रेचक करते-करते सुखपूर्वक जहाँ कहीं प्राणोंको रोकनेका नाम स्तम्भवृत्तिप्राणायाम है।

इनके और भी बहुतसे भेद हैं, जितनी सख्या और जितना काल पूरकसे लगाया जाय, उतनी सख्या और काल रेचक तथा कुम्भकमें भी लगा सकते हैं।

प्राणवायुका नाभि, हृदय, कण्ठ या नासिकाके भीतरके भागतकका नाम 'आभ्यन्तर' देश है। और नासिकापुटसे वायुका वाहर सोलह अगुलतक 'वाहरी देश' है। जो साधक पूरक प्राणायाम करते समय नाभितक श्वासको खींचता है, वह सोलह अगुलतक वाहर फेंके, जो हृदयतक अन्दर खींचता है, वह वारह अगुलतक वाहर फेंके, जो कण्ठतक श्वासको खींचता है, वह आठ अगुल वाहर निकाले और जो नासिकाके अन्दर ऊपरी अन्तिम भागतक ही श्वास खींचता है, वह चार अगुल वाहरतक श्वास फेंके। इसमें पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तरवालेको 'सूक्ष्म' और पूर्व-पूर्ववालेको 'दीर्घ' समझना चाहिये।

प्राणायामसे सख्या और कालका परस्पर धनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण, इनके नियममें व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये।

जैसे चार प्रणवसे पूरक करते समय एक सेकड़ समय लगा तो सोलह प्रणवसे कुम्भक करते समय चार सेकड़ और आठ प्रणवसे रेचक करते समय दो सेकड़ समय लगना चाहिये। मन्त्रकी गणनाका नाम 'सख्या या मात्रा' है, उसमें लगनेवाले समयका नाम 'काल' है। यदि सुखपूर्वक हो सके तो साधक ऊपर वताये काल और मात्राको दूनी, तिगुनी, चौगुनी, या जितनी चाहे यथासाध्य बढ़ा सकता है। काल और मात्राकी अविकता एव न्यूनतासे भी प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता है।

यद्यास्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थं । (योगदर्शन २ । ५१)

वायु और भीतरके विषयोंके त्वागसे होनेवाला जो 'केवल' कुम्भक होता है, उसका नाम चतुर्थ प्राणायाम है।

ग्रन्थ-स्पर्शांडि जो इन्द्रियोंके वाहरी विषय है और सकल्प-विकल्पादि जो अन्तःकरणके विषय है, उनके त्वागसे—उनकी उपेक्षा करनेपर अर्थात् विषयोंका चिन्तन न करनेपर प्राणोंकी गतिका जो स्वतः ही अवरोध होता है, उसका नाम 'चतुर्थ प्राणायाम' है। पूर्वसूत्रमें वतलाये हुए प्राणायामोंमें, प्राणोंके निरोधसे मनका सथम है और यहाँ मन और इन्द्रियोंके सथमसे प्राणोंका सथम है। यहाँ प्राणोंके रुकनेका कोई निर्दिष्ट स्थान नहीं है—जहाँ कहीं भी रुक सकते हैं, तथा काल और सख्याका भी विधान नहीं है।

प्राणायामका फल

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् । (योगदर्शन २ । ५२)

उस प्राणायामके सिद्ध होनेपर विवेकज्ञानको आवृत्त करनेवाले पाप और अज्ञानका ध्यय हो जाता है।

धारणासु च योग्यता मनसः । (योगदर्शन २ । ५३)

तथा प्राणायामकी सिद्धिसे मन स्थिर होकर, उसकी धारणाओंके योग्य सामर्थ्य हो जाती है।

५-प्रत्याहार और उसका फल

स्वविषयासप्रयोगे चित्तस्त्रूपानुकार इच्छेन्द्रियाणां प्रत्याहारः । (योगदर्शन २ । ५४)

अपने-अपने विषयोंके सङ्गसे रहित होनेपर, इन्द्रियोंका चित्तके-से रूपमें अवस्थित हो जाना 'प्रत्याहार' है।

प्रत्याहारके सिद्ध होनेपर प्रत्याहारके समय साधकको वाह्यज्ञान नहीं रहता। व्यवहारके समय वाह्यज्ञान होता है। क्योंकि व्यवहारके समय साधक शरीरयात्राके हेतुसे प्रत्याहारको काममें नहीं लाता।

अन्य किसी साधनसे यदि मनका निरोध हो जाता है, तो इन्द्रियोंका निरोधरूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है।

तत् परमा वश्यतेन्द्रियाणाम् । (योगदर्शन २ । ५५)

उस प्रत्याहारसे इन्द्रियों अत्यन्त बड़में हो जाती है, अर्थात् इन्द्रियोंपर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाता है।

६-धारणा

योगके लाठ अङ्गोंमें पॉन्च वहिरंग साधनोंका वर्णन हुआ। अब शेष तीन अन्तरङ्ग साधनोंका वर्णन किया जाता है। इनमें प्रथम धारणाका लक्षण वतलाया जाता है, क्योंकि धारणासे ध्यान और समाधि होती है। यह योगका ठांठा अग है।

देशवन्धश्चित्तस्य धारणा । (योगदर्शन ३ । १)

चित्तको किसी एक देशविशेषमें स्थिर करनेका नाम धारणा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म या वाह्य-आन्तर, किसी एक ध्येय स्थानमें चित्तको बॉध देना, स्थिर कर देना अर्थात् लगा देना 'धारणा' कहलाता है।

७-ध्यान

तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम् । (योगदर्शन ३ । २)

उस पूर्वोक्त ध्येय वस्तुमें चित्तवृत्तिकी एकतानताका नाम व्यान है। अर्थात् चित्तवृत्तिका गङ्गाके प्रवाहकी भौति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूपसे निरन्तर ध्येय वस्तुमें ही अनवरत लगा रहना 'ध्यान' कहलाता है।

८-समाधि

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वस्पद्यन्यमिव समाधिः ।

(योग ३ । ३)

वह ध्यान ही 'समाधि' हो जाता है जिस समय केवल ध्येय स्वरूपका (ही) भान होता है और अपने स्वरूपके भानका अभाव-सा रहता है। ध्यान करते-करते जब योगीका चित्त ध्येयाकारको प्राप्त हो जाता है और वह स्वयं भी ध्येयमें तन्मय-सा बन जाता है, ध्येयसे भिन्न अपने आपका ज्ञान उसे नहीं-सा रह जाता है, उस स्थितिका नाम समाधि है। ध्यानमें ध्याता, ध्यान, ध्येय, यह त्रिपुटी रहती है। समाधिमें केवल अर्थमात्र वस्तु यानी ध्येयवस्तु ही रहती है, अर्थात् ध्याता, ध्यान, ध्येय, तीनोंकी एकता-सी हो जाती है।

ऐसी समाधि स्थूल पदार्थमें होती है, तब उसे 'निर्विकर्त्त' कहते हैं और सूक्ष्म पदार्थमें होती है तब उसे 'निर्विचार' कहते हैं। यह समाधि सासारिक पदार्थोंमें होनेसे तो सिद्धिप्रद होती है, जो कि अव्यात्मविषयमें हानिकर है। और यही समाधि ईश्वरविषयक होनेसे मुक्ति प्रदान करती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले पुरुषोंको अपने इष्टदेव परमात्माके स्वरूपमें ही समाधि लगानी चाहिये। इसमें परिपक्ता होनेपर, अर्थात् उपर्युक्त योगके आठों अङ्गोंके भलीभाँति अनुष्ठानसे मल और आवरणादि दोषोंके क्षय होनेपर, विवेकख्यातिपर्युन्त ज्ञानकी दीति होती है # और उस विवेकख्यातिसे, अविद्याका नाश होकर, वैचल्यपदकी प्राप्ति याने आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

योगानुष्ठानोद्दिष्टिक्षये शानशीसिन विवेकस्याने ।

(योग २ । २८)

समाधिष्ठर्यन्त अष्टाङ्गयोगका यह अर्थ प्राय. घन्योके आधारपर लिखा गया है। महर्षि पतञ्जलिके सूत्रोपर अपने भावका यह विवेचन है। इनका असली तात्पर्य या तो महर्षि पतञ्जलि जानते हैं अथवा इसके अनुसार

साधन करके जिन्होने समाधि-अवस्था प्राप्त की है, वे कुछ जानते हैं। मैंने अपनी साधारण बुद्धिके अनुसार जो कुछ लिखा है, पाठकगण उसे पढ़कर मेरी त्रुटियोंके लिये क्षमा करेंगे।

योगः कर्मसु कौशलम्

(लेपक—महामहोपाध्याय दा० श्रीगङ्गानाथजी ज्ञा, एम० ५०, टी० लिट्, एल-एल० ८०)

‘योग’ के विषयको लोगोने ऐसा जटिल बना और समझ रखता है कि इसका नाम ही भयङ्कर हो गया है। इसका कारण यह है कि इधर कुछ समयसे ‘योग’ पदसे लोग ‘हठयोग’—केवल आसन-मुद्रादिको समझने लगे हैं। और आसन-मुद्रादि एक तो स्वयं जटिल विषय है, दूसरे इन शारीरिक क्रियाओंसे आध्यात्मिक लाभ क्या और कहाँतक हो सकता है सो भी समझना कठिन है। बात तो यों है कि अभ्यासात्मक योगके सर्वोंग तत्त्वोंका समझना गुरुके विना कठिन है। परन्तु थोड़ा-सा विचार करनेसे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि ‘हठयोग’ यद्यपि योगका अङ्ग अवश्य है पर तो भी है ‘योग’ का अङ्ग ही, स्वयं ‘योग’ नहीं, अर्थात् योगका साधनमात्र है, और सो भी प्रधान नहीं।

ऐसे ‘अङ्ग’ योगके आठ कहे गये हैं—(१) यम, (२) नियम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार, (६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि। इनमें पहले पाँच योगके ‘वाय्य अङ्ग’ हैं, बाकी तीन ‘अन्तरङ्ग’ हैं (योगभाष्य ३।१)। ये तीन हैं धारणा, ध्यान, समाधि। ये ही तीन प्रधान हैं। कारण यह है कि ये ही तीन प्रक्रियाएँ हैं जिनका उपयोग सब कार्योंमें होता है। जिस किसी जानकी प्राप्तिकी इच्छा हो उस जानके विषयमें जब ये तीनों लगायी जाती हैं तभी उचित जान प्राप्त होता है। जबतक जेय पदार्थपर मन एकाग्र-रूपेण नहीं लगाया जाता तबतक उसका जान असम्भव है। इसलिये प्रथम भीढ़ी हुई यही एकाग्रता जिसे ‘धारणा’ कहा है (सू० ३।१)। इसके बाद मन जब लगातार बहुत कालतक इसी तरह एकाग्र रहे तो यह हुआ ‘व्यान’ (सू० ३।२)। और जब मन इस व्यानमें इस तरह मग्न हो गया कि उसका ध्येय पदार्थमें लय हो गया तो यही हुई ‘समाधि’ (सू० ३।३)। किसी कार्यके सम्पन्न होनेमें इन तीनोंकी आवश्यकता होती है। यह केवल आध्यात्मिक अभ्यास या ज्ञानके ही लिये आवश्यक नहीं है,

कार्यमात्रके लिये आवश्यक है। कोई भी कार्य हो, जबतक उसमें मन नहीं लगाया जाता, कार्य सिद्ध नहीं होता। इसी ‘मन लगाने’ को ‘धारणा-ध्यानसमाधि’ कहते हैं।

ये तीनों एक ही प्रक्रियाके अङ्ग हैं। इसीसे इन तीनोंका साधारण एक नाम ‘सयम’ कहा गया है (सू० ३।४)। इसी ‘सयम’ (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) से ज्ञानकी शुद्धि होती है।

इन योगसूत्रोंको जब¹ हम मामूली कामोंमें लगाते हैं और इनके द्वारा सफलता प्राप्त करते हैं तब हमको मानना पड़ता है कि ‘योग’ का सबसे उत्कृष्ट और उपयोगी लक्षण जो श्रीभगवान् ने कहा है वही है—

‘योगः कर्मसु कौशलम्’।

इस ‘योग’ के अभ्यासके लिये प्रत्येक मनुष्य सदा तैयार रहता है। ‘गुरु’ मिलें तब तो योगभ्यास करें—ऐसे आल्यके साधन सभी निर्मूल हैं। यों कोई कर्तव्य सामने आ जाय उसमें सयम (अर्थात् धारणा-ध्यान-समाधि) पूर्वक लग जाना ही ‘योग’ है। इसमें यदि कोईकी स्वार्थ-कामना हुई तो यह योग अधम श्रेणीका हुआ, और यदि निष्काम है—‘कर्तव्य’-बुद्धिसे किया गया है और फल जो कुछ हो सो ईश्वरको अर्पित है तो यही ‘योग’ उच्च कोटिका हुआ। जब अपने सभी काम इसी रीतिसे किये जाते हैं तो वही आदमी जीवनमुक्त कहलाता है।

कैसा सुगम मार्ग है, लोगोने दुर्गम बना रखता है। पर मनका ‘लाग’ चाहिये—तत्परता, तन्मयता। कठिन नहीं है—दूसरे किसीकी आवश्यकता नहीं है—अपने हाथका खेल है। पर श्रद्धा और साहस चाहिये।

इसमें शास्त्रार्थ या तर्क-वितर्ककी जरूरत नहीं है। इसको कोई भी आदमी किसी सामान्य कार्यके प्रति इस प्रक्रियाकी परीक्षा करके स्वयं देख सकता है। पर आदिसे श्रद्धा और आगे चलकर साहसकी अपेक्षा होगी, जिससे प्रक्रिया अपनी चरम कोटितक पहुँच जाय।

राजयोग

(लेखक—डा० श्रीवाल्कृष्णजी कौल)



‘त्याण’ के सर्वस्व श्रीपोद्दारजीका बड़ा आप्रह है कि ‘कल्याण’ के ‘योगाङ्क’ के लिये, योगसम्बन्धी किसी विषयपर मैं मी कुछ अवश्य लिखूँ। पर मैं क्या लिखूँ, इसका निर्णय करना कुछ कठिनसा प्रतीत हो रहा है—केवल विषयकी गम्भीरता और व्यापकताके ही कारण नहीं, इसलिये भी कि ‘योग’ पर हमारे प्रधिष्ठानीने इतना अधिक कह दिया है कि अब, मेरे-जैसे साधारण जनके लिये, उसपर कुछ कहनेको रह ही नहीं गया है। हमारा योगशास्त्र बहुत ही विस्तृत है। गीताके छठे अध्यायमें मुख्यतः ‘योग’ की ही व्याख्या की गयी है। गौडपादाचार्यने ‘माण्डूक्योपनिषद्’ में इस विषयका विश्लेषणात्मक विवेचन बढ़े विस्तारके साथ किया है। और सबसे बड़ी बात तो यह है कि महर्षि पतञ्जलिके गम्भीर सूत्रों तथा उनके ऊपर दिये गये ‘व्यासभाष्य’ के अनन्तर कोई ऐसी बात ही नहीं जिसे हम नवीनताकी सज्जा देकर जनताके समक्ष उपस्थित कर सकें। अतएव, ‘कल्याण’के प्रेमबग, तथा श्रीपोद्दारजीके आप्रहका पालन करते हुए, मैं यहाँ जो कुछ कहूँगा वह अपने इन्हीं पूर्वपुरुषोंसे उधार माँगकर—अपनी ओरसे कुछ नहीं। मेरा यह छोटा-सा निवन्ध ‘योगाङ्क’ के पाठक तथा पाठिकाओंको आर्य-जातिके एक अत्यन्त प्राचीन और महत्वपूर्ण विषयका सरणमात्र करा सकेगा—इतना भी यह कर सका तो मैं अपनेको कृतार्थ समझूँगा।

‘योग’ के सम्बन्धमें किसी भी प्रकारकी चर्चा चलानेके पूर्व यह जान लेना नितान्त आवश्यक समझा जाना चाहिये कि इसके वास्तविक अधिकारी कौन हो सकते हैं। जीवनकी किसी भी अवस्थामें, किसी भी त्रियतिमें, वे लोग तो इसके (‘योग’ के) अधिकारी हो ही नहीं सकते जिनमें ‘निवेद’-भावनाकी अनुपर्स्थिति है—जो निवेदरहित है। जिनमें निवेद-भावना नहीं, वे सुमुक्षु नहीं हो सकते, और जो सुमुक्षु नहीं उनके लिये ‘योगशास्त्र’ किसी प्रकारके जीवन-साधनका नार्य

नहीं कर सकता, क्योंकि ‘योग’ एकमात्र ‘मोक्ष’का ही साधन है।

योगार्घ्य होनेपर पहला काम होता है ‘साधन-चतुष्टय’ से सम्पन्न होना—इसके बिना कार्यसिद्ध नहीं हो सकती।

‘साधनचतुष्टय’—सम्पन्न होनेमें विलम्ब लगता है—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकित्यथः ।

अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परा गतिम् ॥

ऐसा भी होता है कि पूर्वजन्ममें जो जितनी ही अधिक मात्रामें ‘साधनचतुष्टय’-सम्पन्न हो चुके होते हैं, इस जन्ममें उन्हें उतना ही कम समय लगता है। ये ‘साधन-चतुष्टय’ चित्तशुद्धिके विधायक हैं। जैसे-जैसे इनका परिपाक होता जाता है वैसे-ही-वैसे, चित्तशुद्धिद्वारा, योगाभ्यासमें सिद्धि बढ़ती जाती है। अतः जो सम्पूर्ण-रूपसे ‘साधनचतुष्टय’-सम्पन्न हो जाते हैं, वे ही ‘ज्ञान’के अधिकारी होते हैं और फिर ‘ज्ञान’से ‘कैवल्य’को प्राप्त होते हैं।

योग, चाहे वह किसी भी प्रकारका हो, चित्तवृत्तिके निरोधसे ही सम्बन्ध रखता है—

योगश्रित्तशृत्तिनिरोधः ।

साधारण अवस्थामें चित्तवृत्ति प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। किन्तु समाधि-अवस्थामें चित्तवृत्ति एकाकार हो जाती है। चित्तवृत्ति बदलते रहनेके दो मुख्य कारण हैं। पहला तो यह कि यह मन, इन्द्रियोदारा वहिर्मुख होकर, वास्तु विषयोंमें आसक्त रहता है। दूसरे, यदि इन्द्रियोंको बन्द करके, मनको वाहा विषयोंसे खींच भी लिया जाय तो भी अन्तःकरणकी क्रियाएँ बन्द नहीं हो जातीं—वे बराबर चलती ही रहती हैं। जैसे जाग्रदवस्थामें तो मन वहिर्मुख-सा व्यवहार किया ही करता है; पर शब्दादिसे दूर, किसी बन्द करनेमें, आँखें बन्द करके बैठ जानेपर भी सावधान जनका—और स्वप्नावस्थामें सभी प्राणियोंका—अन्तःकरण जाग्रदवस्थाके समान ही भव क्रियाएँ करता रहता है। योगाभ्यासियोंको अन्तःकरणकी पूरी अनुशासना करनी पड़ती है—चित्तकी वृत्तियोंका संयम करना पड़ता है। इन दोनों ही

अवस्थाओं (जाप्रत् और स्वप्न) म चित्तकी वृत्तियोपर नम्यक् नियन्त्रण रखनेमें सफलता प्राप्त होनेपर ही 'मन'का निरोध सम्भव है।

परं चित्तकी वृत्तियोंका निरोध किया कैसे जाय ? इसके दो प्रकार हैं। यह वत्तलानंकी आवश्यकता नहीं कि 'मन' का और 'प्राण' का पारस्परिक सम्बन्ध अद्भुत है, अविच्छेद्य है। 'मन' के निरोधसे 'प्राण-स्पन्द' रुक्ष जाता है और 'प्राण-स्पन्द'की गियिलता 'मन' को एकाग्र बना देती है। इसलिये, मनके निरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द' की गति-विधिपर सम्यक् अनुशासन रखना नितान्त आवश्यक है ('प्राण-स्पन्द' का सम्बन्ध श्वास-निःश्वास-से है, अर्थात् जितनी ही तीव्रतासे सॉस चलेगी, 'प्राण-स्पन्द' में भी उतनी ही अधिक गतिशीलता आवेगी और सॉस जितनी ही धीरे-धीरे चलेगी, 'प्राण-स्पन्द'में भी उतनी ही अधिक गियिलता आवेगी। अतएव मनोनिरोधके लिये 'प्राण-स्पन्द'को चर्चाभूत करना पड़ता है और इसके लिये 'अष्टाङ्गयोग-साधना' से—और उनमें भी विशेषकर प्राणायामसे—काम लेना पड़ता है। 'अष्टाङ्गयोग-साधना'से 'प्राण-स्पन्द' इक जाता है और उसी अवस्थामें मनका निरोध होता है। यह मनोनिरोधकी एक विधि है।

मनोनिरोधका दूसरा उपाय यह है कि 'मन' को विवेक आर वेराग्यद्वारा बाह्य विषयोंसे हटानेका अभ्यास किया जाय। प्रवृत्ति-भावनासे अलग होकर निवृत्ति-भावनाको सुदृढ़ बनानेका यह अभ्यास जब पक्का हो

जाता है, तब मनका निरोध होता है। इसके लिये शास्त्रों-के श्रवण और मननकी आवश्यकता अपरिहार्य है। जितना ही शास्त्रका श्रवण और मनन अधिक होगा उतना ही शीघ्र 'वस्तु' के वास्तविक स्वरूपका ज्ञान होगा और फलतः, उतनी ही सत्त्वरता तथा दृढ़तासे, उक्त प्रक्रियाद्वारा, 'मन' का निरोध होगा। इसीको 'राजयोग' कहते हैं।

मनोनिरोधकी जो दो प्रक्रियाएँ ऊपर बतायी गयी हैं, उन दोनोंका ही अद्वाराहित और लगातार चिर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है। इन दोनोंमेंसे चाहे जिस किसीसे काम लेना हो, उसका कठोर और सनियम अभ्यास करना चाहिये। कहा भी है—

सत्तु दीर्घकाल्यनैरन्तर्यसत्कारासेवितो इदभूमिः ।

अभ्यास नियमितरूपसे, नियत समयपर, यथा-सम्भव नियत स्थानमें नित्य किया जाना चाहिये। प्रारम्भमें अभ्यासका समय थोड़ा होना चाहिये और उसमें धीरे-धीरे वृद्धि की जानी चाहिये—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

अभ्यासके समयकी अवधि बढ़ाकर फिर घटायी नहीं जानी चाहिये। और सबसे बड़ी बात यह है कि अभ्यासीकी दिनचर्या नियमित होनी चाहिये—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्त्रमावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

संसारकी नश्वरता

जैसो मोती औसको, तैसो यह संसार ।

विनसि जाय छिन एकमें, 'दया' प्रभू उर धार ॥

वहे जात हैं जीव सब, काल-नदीके माहिं ।

'दया' भजन नौका बिना, उपजि उपजि मरि जाहि ॥

छिन छिन विनस्यो जात है, ऐसो जग निरमूल ।

नाम स्तुप जो धूस है, ताहि देखि मत भूल ॥

—दयावार्द्

योगका विषय-परिचय

(लेखक—महामहोपाध्याय आचार्य श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०)



ल्याण' पत्रके योगाङ्ककी विषय-सूची प्रकाशित हुई है। माननीय कल्याण-सम्पादक महाशयने मुझसे इस सूचीके परिचयके विषयमें 'कल्याण' के लिये कुछ लिख भेजनेका अनुरोध किया है। विषय-सूचीने इतना बड़ा आकार धारण कर लिया है कि उसके अन्दरके प्रत्येक विषयकी आलोचना करना मासिक पत्रके तुच्छ कलेवरके लिये सम्भव नहीं। अतएव व्यापक एवं सूक्ष्मस्थूपमें सूचीकी आलोचना नहीं कर सकेगा—यथासम्भव सक्षेपमें इस सम्बन्धमें कुछ दिग्दर्शन करनेकी चेष्टा करूँगा।

प्राचीन भारतीय साहित्यमें 'योग' शब्द नाना प्रकारके व्यापक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है, उसमें प्रकार-भेद होनेपर भी, मूलतः कुछ अंशमें सामज्ञस्य पाया जाता है। जीवात्मा और परमात्माके सयोगको योग कहा जाय, अथवा प्राण और अपानके सयोग, चन्द्र और सूर्यके मिलन, शिव और शक्तिके सामरस्य, चित्तवृत्तिके निरोध अथवा अन्य किसी भी प्रकारसे योगका लक्षण निश्चित किया जाय, मूलमें विशेष पार्थम्य नहीं है।

महायोग और पूर्णयोग

योगशिख-उपनिषद्में वर्णन आया है कि स्वाभाविक योग एक ही है, अनेक नहीं हैं। यही महायोगके नामसे साधकोंमें प्रसिद्ध है। अष्टस्या-भेदके अनुसार महायोग ही मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग अथवा राजयोगके रूपमें प्रकाशित होता है।

मन्त्रयोग और जपयोग

योगशास्त्रमें 'मन्त्रयोग' शब्द यद्यपि विभिन्न स्थानोंमें विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है, फिर भी यदि हम मन्त्र-योगका मुख्य अर्थ मन्त्रके आश्रयसे जीवात्मा और परमात्माका सम्मिलन मान लें तो इसमें कोई आपत्ति न होगी। शब्दात्मक मन्त्र चेतन होनेपर उसीकी सहायतासे जीव क्रमशः ऊपर गमन करते-करते शब्दसे अतीत

परमानन्दधामतक पहुँच सकता है। वैखरी शब्दसे क्रमशः मध्यमा अवस्थाको भेदकर पश्यन्तीमें प्रवेश करना ही मन्त्रयोगका प्रधान उद्देश्य है। पश्यन्ती शब्द स्वप्रकाशमान चिदानन्दमय है—चिदात्मक पुरुषकी वही अक्षय और अमर घोड़शी कला है। वही आत्मज्ञान, इष्ट-देवताके साक्षात्कार अथवा शब्दचैतन्यका प्रकृष्ट फल है। इस अवस्थामें पहुँचनेपर जीव कृतकृत्य हो सकता है। इसके बाद अव्यक्त भाव अपने आप उद्दित होता है। वही शब्दकी तुरीय अवस्था है। मूलधारसे निरन्तर शब्द-स्रोत ऊपरकी ओर उठ रहा है, यही शब्द समस्त जगत् के केन्द्रमें नित्य विद्यमान है। वहिमुख जीव इन्द्रियोंके अधीन होकर विषयोंकी ओर दौड़ रहा है, इसीसे उसे इसका पता नहीं लगता। जब किसी क्रिया-कौशलसे अथवा अन्य किसी उपायसे इन्द्रियोंकी विर्हिर्गति रुद्ध हो जाती है और प्राण तथा मन स्तम्भित-से हो जाते हैं, तब साधक इस चेतन शब्दको सुननेके अधिकारी होते हैं। पण्मुखी सुद्राद्वारा कृत्रिम उपायसे इस नादके अनुसन्धानकी चेष्टा की जाती है। नोदन अथवा अभिधातजनित शब्दको अनाहत नादमें लीन न कर सकनेपर मन्त्र अक्षरसमष्टि ही रह जाता है। उसका सामर्थ्य और प्रकाश अनुभवगोचर नहीं होता। इडा-पिङ्गलाकी गति रुक्कर प्राण और मनके सुषुप्ताके अन्दर प्रविष्ट होनेपर यह नित्य सारस्वत त्रोत अनुभूत होता है। यही क्रमशः साधकको आज्ञाचक्रमें ले जाता है और वहाँसे विन्दुस्थान भेदकर क्रमशः सहस्रार-के केन्द्रमें महाविन्दुपर्यन्त पहुँचा देता है। हस-मन्त्र, जिसका जीव निरन्तर द्वास प्रश्वासके साथ जप करता है, गुरुकृपासे प्राणकी विपरीतभावापन्न अवस्थामें सोऽह-मन्त्रके रूपमें परिणत हो जाता है।

अस्पर्शयोग

माण्डूक्यकारिकामें आचार्य गौडपादने अस्पर्शयोग-का उल्लेख किया है। यद्यपि उस ग्रन्थमें इसका विशेष विवरण नहीं दिया गया है तथापि श्रसङ्गवश तथा विशेषणके रूपमें कुछ वर्णन उसमें मिल जाता है। उससे ऐसा मालूम होता है कि यह योग अत्यन्त दुर्लभ है। क्योंकि साधारण योगी अस्पर्शयोगमें प्रवेश नहीं कर

सदता । सब भूतोंके मङ्गल और आनन्दका निदानस्वरूप यह योग सब प्रकारके विरोधोंके ऊपर प्रतिष्ठित है और वास्तविक अभयपद कहे जाने योग्य है । प्रसङ्गवश किसी-किसी वेदान्त-ग्रन्थमें भी इसका उल्लेख देखा जाता है । जिन कुयोगियोंने निरालम्बपदपर पहुँचनेका अधिकार नहीं प्राप्त किया है, वे आत्मलोप होनेकी आशङ्कासे इस निर्विकल्प परमभूमिमें प्रवेश करनेकी न तो सामर्थ्य ही रखते हैं और न इच्छा ही करते हैं । वस्तुतः अस्पर्गयोग असम्प्रजात अथवा निर्विकल्प समाधिकी ही अवस्थाविशेष है, इसमें कोई सन्देह नहीं । इन्द्रियार्थ सञ्चिकर्षरूप स्पर्शसे वृत्तिशानका उदय होता है । किन्तु वहिरन्दित्र और अन्तःकरणके सम्यक् प्रकारमें निरुद्ध हो जानेपर जिस अस्पर्ग-अवस्थाकी अभिव्यक्ति होती है, वह वृत्तिरहित शुद्ध चैतन्यकी भूमिको ही सूचित करती है । न्यायगान्त्रके मतसे भी स्पर्शेन्द्रिय त्वक्के साथ मनका सयोग हुए विना अन्य किसी प्रकारका जान नहीं प्रकट हो सकता । इसका कारण यही है कि मनोवदा तथा ज्ञानवदा नाडियों त्वक्का आश्रय लेकर ही प्रकट होती है और वे सभी वायवीय हैं । स्पर्श वायुका धर्म है, अतएव अस्पर्गयोगकी अवस्थामें वायुका स्पन्दन निरुद्ध हो जानेके कारण पूर्वोक्त नाडियाँ जब अव्यक्त हो जाती हैं तब एक ओर जैसे मनकी वृत्तिश्न्य हो जाती है, दूसरी ओर वैसे ही इन्द्रियों निरुद्ध हो जाती है । उस समय आत्मा निज स्वरूपमें प्रकाशित रहता है ।

शब्दयोग और वाग्योग

प्राचीन आगमशास्त्रोंमें वाग्योग अथवा शब्दयोगके नामसे जिस योगप्रणालीका उल्लेख पाया जाता है, उसका तात्पर्य और रहस्य आजकल वहुत-से लोग प्रायः भूल गये हैं । शेवागमके अन्तर्गत व्याकरण-आगममें भी इस योगसाधनका परिचय मिलता है । जिन्होंने भर्तु परिके वात्यपदीय और उसकी साम्रदायिक प्राचीन व्याख्याका अनुग्रीवन किया होगा, उन्हें वाग्योगकी वात अयश्य मान्द्रम गोगी । व्याकृत शब्दका वैखरी अवस्थासे मत्यमामें उत्तीर्ण होकर पश्यन्ती-स्वरूपमें प्रवेश कर जाना ही इस योगसाधनका प्रधान उद्देश्य है । पश्यन्ती-अष्टम्यसे परा-अवस्थामें-अव्याङ्गत पदमें-गति और स्थिति-प्राप्ति न्यायाधिक नियममें आप ही हो जाती है । वह

किसी भी साधनाका आन्तरिक लक्ष्य नहीं है । वैखरी या स्थूल इन्द्रियग्राह्य शब्दविशेष मिश्र अवस्थामें होनेके कारण उसमें असख्य आगन्तुक मल विद्यमान रहते हैं । गुरुपदिष्ट प्रणालीसे साधन कर चुकनेपर चाहे जिस शब्द-को उसकी स्थूल अवस्थासे मुक्त करके विशुद्ध बनाया जा सकता है । इस शोधन-क्रियाका नाम ही शब्दसंस्कार है । जब शब्द सम्यक् प्रकारसे शुद्ध या स्फूत हो जाता है तब वह दिव्यवाणी या स्फूतभाषा, अथवा सृष्टिकारिणी ब्राह्मी शक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है । केवल एक शब्दको भी इस प्रणालीसे शुद्ध कर लेनेपर जीव सदाके लिये कृतकृत्य हो सकता है—

एक. शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति ।

जो एक शब्दका भी स्फूत करनेमें समर्थ हुए हैं, उन्हें किसी तरहका अभाव नहीं रह सकता । वह एक ही शोधित शब्द शक्तिके स्वरूपमें प्रकाशित होकर उनके समीप कामधेनुके आकारमें आविर्भूत हो जाता है । शब्दके मर्मको जाननेवाले वसिष्ठ आदि ऋषि इसी उपायसे अलौकिक शक्तिके अधिकारी बन गये थे । आर्वर्तन अथवा जपयज इत्यादिके अभ्याससे जब वैखरी शब्दसे आगन्तुक समस्त मल दूर हो जाते हैं तब इडा-पिङ्गलाका अपेक्षाकृत स्तम्भन हो जाता है और सुषुम्ना पथ कुछ परिमाणमें उन्मुक्त हो जाता है । फिर प्राणशक्तिकी सहायतासे वह शोधित शब्द-शक्ति सुषुम्ना-रूप ब्रह्मपथका आश्रय लेकर क्रमशः ऊर्ध्वगामिनी होती है । यही शब्दकी सूक्ष्म वा मध्यमा नामक अवस्था है । इसी अवस्थामें अनाहत नाद प्रकट होता है और स्थूल शब्द इस विराट् प्रवाहमें निमग्न होकर उससे भर जाता है तथा चेतनाभाव धारण कर लेता है । यही मन्त्र-चैतन्यका उन्मेषभाव है । साधक हस अवस्थामें पहुँच जानेपर जीवमात्रकी चित्तवृत्तिको अपरोक्षभावसे शब्दरूपमें जान लेता है । देश अथवा कालका व्यवहार शब्दकी इस स्फूर्तिको नहीं रोक सकता । इसके बाद प्रातःकालीन बालसूर्यके समान शब्दव्रस्तरूपी आदित्य साधकके आत्मा अथवा इष्टदेवताके रूपमें प्रकाशित होकर अन्तराकाशका अन्धकार दूर कर देते हैं । आगमशास्त्रमें इसीको ‘पद्यन्तीवाक्’ कहा जाता है । प्राचीन वैदिक साहित्यमें अग्नित्व-प्राप्ति व्याख्याके नामसे जिसका

उल्लेख किया गया है, यह वही अवस्था है। आत्मदर्जन, इष्टदेवदर्जन, ज्ञान-चक्रुका उन्मीलन, गिवनेत्रका विकास, पोड़ची कलाका उन्मेष अथवा सांख्यवर्णित द्रष्टा पुरुषका स्वरूपावस्थितिरूप कैवल्य—ये सब इसी पञ्चन्ती भूमिकी विभिन्न अवस्थाएँ हैं। पञ्चन्तीकी अपेक्षा पराभूमिका पथ अत्यन्त गुप्त है। अतएव यहाँपर उसकी आलोचना करना अप्रासाधिक और अनधिकार चर्चा होगी।

योगमार्ग और वियोगमार्ग

योग और वियोग (अथवा विवेक)-मार्गमें परस्पर क्या भेद है, इस सम्बन्धमें साधारण पाठकोंकी कोई विशेष धारणा है ऐसा मालूम नहीं होता। अवश्य ही आत्मन्तिक परमार्थदृष्टिसे किसी प्रकारका भेद नहीं है, यह सत्य है, परन्तु व्यावहारिक भूमिमें दोनोंमें परस्पर भेद दिखायी पड़ता है और उस भेदके अनुसार चिद्रियें भी भेद होता है। जीव साधारणतः जिस अवस्थामें ससारमें परिभ्रमण करता रहता है, उसमें स्थूल और सूक्ष्मभाव परस्पर मिले हुए रहते हैं। केवल यही नहीं, सूक्ष्मभावमें स्थूलका अग्र और स्थूलभावमें सूक्ष्मका अंग अनिवार्यरूपसे ओतप्रोत है। सुतरां विशुद्ध दृष्टिसे यदि देखा जाय तो दोनोंमेंसे कोई-सा एक दूसरेको छोड़कर नहीं रह सकता। काठके अन्दर अग्निकी तरह, तिलमें तैलकी तरह, दूधमें धीकी तरह, स्थूलके भीतर सूक्ष्म तत्त्व प्रचलनरूपमें निहित है। क्रिया-विशेषके द्वारा इसे स्थूलसे अलग कर लेनेकी आवश्यकता होती है। सांख्यादि शास्त्रानुमोदित साधन-प्रणाली इसी वियोग अथवा विवेकमार्गका पक्षपाती है। वेदान्तका पञ्चकोष-विवेक भी एक प्रकारसे विवेक-पन्थके ही अन्तर्गत है। योगियोंका कहना है कि यह वियोग पूर्णरूपेण सिद्ध हो जानेके बाद दोनोंमें योग स्थापित करना आवश्यक होता है। वियोग-साधनाके द्वारा परस्पर पृथक् रूपमें जो दो पदार्थ उपलब्ध होते हैं, वे बस्तुतः पृथक् पदार्थ नहीं हैं—वे दोनों मूलीभूत एक परम पदार्थके ही पृथक् अवभासमात्र हैं, इस तत्त्वकी उपलब्ध करनेके लिये योगप्रक्रियाका अवलभवन किये विना काम नहीं चल सकता। स्थूल और लिङ्ग एक दूसरेके साथ आश्लिष होकर जब चरम अवस्थामें एक परम पदार्थके रूपमें परिणत हो जाते हैं तब यह मालूम होता है कि इस मूल अद्वय-भावसे ही स्थूल और सूक्ष्म दोनों भावोंका विकास सम्पन्न होता है।

दृष्टान्तके रूपमें यहाँ सर्वसाधारणके समझने योग्य भाषामें एक तत्त्वका उल्लेख किया जाता है। जिन्हे शास्त्रज्ञान है और जो आध्यात्मिक विषयको कुछ भी जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि जीवके स्थूल शरीरकी तरह एक सूक्ष्म शरीर भी है। यह सूक्ष्म शरीर साधारणतया स्थूल शरीरके साथ इतनी घनिष्ठतासे आश्लिष है कि दीर्घ कालतक अभ्यास किये विना मनुष्य केवल इच्छा करके इसको स्थूल शरीरसे पृथक् नहीं कर सकता। परन्तु अलग न कर सकनेपर भी वह अनेक कारणोंसे सहज ही उसके पृथक् होनेका अनुभव कर सकता है। स्वग्रादिमें अथवा नीचित दग्धाकी किसी-किसी अनुभूतिमें, और सूक्ष्मदर्जियोंद्वारा देखे गये मृत्युकालीन अनुभवमें सूक्ष्म शरीरकी पृथक् सत्ता स्पष्ट ही मालूम हो सकती है। जिस तरह मन्थनकी प्रक्रियाके द्वारा यानी कोल्हूमें पेलकर तिलसे तेल निकाला जाता है, उसी तरह प्रक्रियाविग्रेपद्वारा स्थूल शरीरसे भी सूक्ष्म शरीरको अलग किया जा सकता है। सम्पूर्णरूपमें न सही, आशिकत्तमें प्रायः सभी अभ्यास करनेवाले इसे कर सकते हैं। इस अवस्थामें स्थूल शरीर अकर्मण्यवत् कङ्कङ्क-पत्थरकी तरह पड़ा रहता है। और सूक्ष्म शरीर उससे वाहर निकलकर नाना स्थानोंमें धूम-फिरकर पुनः जब स्थूल शरीरमें घुस जाता है तब वह चैतन्य प्राप्त कर लेता है और उसमें पहलेकी तरह ही जान और क्रियाका सञ्चार हो जाता है। यह सूक्ष्म शरीर मौतिक आवरणके द्वारा प्रतिरुद्ध नहीं होता, और न स्थूल जगत्का कोई भी नियम विग्रेषरूपसे इसपर प्रभाव ढाल सकता है। कोई-कोई योगी धरके अन्दर बन्द रहकर और स्थूल शरीरको जहाँ-कान्तहाँ रखकर भी, सूक्ष्म शरीरके द्वारा दीवाल आदि तथाकथित आवरणात्मक घेरेको भेदकर वहिर्जगतमें भ्रमण कर सकते हैं। इस अवस्थामें उनका स्थूल शरीर धरके अन्दर निक्षिय अवस्थामें आवद्ध रहता है। कोई भी मनुष्य अपनी इन्द्रियोंद्वारा इस स्थूल शरीरका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है। इस दृष्टान्तसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो शरीर वरमें आवद्ध रहता है वह स्थूल शरीर है और जो निकलकर इधर-उधर विचरण करता है वह सूक्ष्म शरीर है। दोनों शरीर परस्पर सम्बद्ध होनेपर भी पृथक् हैं। यह पार्थक्य वियोगमार्गके द्वारा उपलब्ध होता है। परन्तु एक ऐसी अवस्था भी होती है जिसने वह निर्णय करना नहिं दी जाता है कि वह पूर्वनिर्दित देश

स्थूल है या सूक्ष्म। क्योंकि ऐसा भी देखा जाता है कि एक योगी घरके अन्दर बन्द रहकर जब घरसे बाहर निकले तब घरमें पहले के समान स्थूल शरीर आसनपर नहीं रहा, अर्थात् वह समस्त शरीर लेकर ही बाहर निकल गये और इन्द्रियानुसार वृत्ति रहे तथा किसी-किसीको दिखायी भी पड़े। जिस शरीरसे वह घरसे निकलकर दीवाल आदि आवरण भेटकर बाहर चले गये, वह लौकिक स्थूल शरीर नहीं था—यह कहना न होगा। क्योंकि वैसा शरीर प्रतिश्वात-धर्मविद्विषय दीवालको भेटकर जानेमें समर्थ नहीं होता। और साथ ही वह सूक्ष्म शरीर नहीं है, यह भी निश्चित है। क्योंकि वह यदि सूक्ष्म शरीर होता तो स्थूल शरीर निष्प्रियरूपमें आसनपर पड़ा रहना चाहिये था। योगी लोग ऐसे देहको सिद्ध देह करते हैं। यह सिद्धि स्थूल और सूक्ष्मके परस्पर अत्यन्त घन सश्लेषणसे उत्पन्न होती है। इसमें स्थूल और सूक्ष्म दोनोंके धर्म हटिगोचर होते हैं, इस कारण इसे एक हिसावसे स्थूल भी कह सकते हैं और साथ ही सूक्ष्म भी कह सकते हैं। परन्तु वास्तवमें वह न तो स्थूल है, न सूक्ष्म। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये योगमार्गका अखलम्बन आवश्यक है। कहना नहीं होगा कि सर्वारम्भमें इस प्रकारका योग सम्भव नहीं। पहले वियोगमार्गकी साधनाके द्वारा मिश्रसत्त्वाके अन्दर वर्तमान दोनों सत्त्वाओं-को प्रुथक् कर लेना होता है और उसके बाद योगमार्गकी साधनाके द्वारा उन दोनोंको मिलाकर एक कर लेना होता है।

योग और वियोगमार्गका यही सक्षिप्त परिचय है। इससे अधिक यहाँ इसकी आलोचना करना अप्रासङ्गिक होगा।

नादानुसन्धान

पहले शन्दयोगकी आलोचना करते हुए जो कुछ कहा गया है, उससे नादानुसन्धानका तत्त्व भी कुछ अशमें समझमें था जायगा। वद्व जीव व्यास-प्रश्नासके अधीन होकर निरन्तर इडा-पिन्डला-मार्गमें चल रहा है। उसका सुषुम्ना-पथ प्रायः बन्द है। हमीलिये उसकी इन्द्रियाँ और चित्त सब विश्वृत हैं। जो अखण्ड नाद जगत्के अन्तर्मन्त्रम्, आकाशमण्डलमें निरन्तर ध्वनित हो रहा है, उसे वह चित्त और प्राणोंकी विविस्ताके कारण नुग नार्हा पाता। परन्तु जिस समय गुरुकुपसे तथा किया-

विशेषके द्वारा सुषुम्ना-मार्ग उन्मुक्त होता है उस समय प्राण स्थिर और सूक्ष्म अवस्थाको प्राप्त होकर उसमें प्रविष्ट होते हैं और उस शून्य-पथसे मन अनाहत ध्वनिको श्रवण करता है। निरन्तर इस ध्वनिका अनुसरण करते-करते मन क्रमगः निर्मल और शान्त अवस्थाको प्राप्त करता है। जब मन पूर्णरूपेण स्थिर हो जाता है तब फिर नादध्वनि नहीं सुनायी पड़ती। उस समय चिदात्मक आत्मा अपने स्वरूपमें स्थित होकर बाह्य प्रकृतिके स्पर्गसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

नाद मूलतः एक होनेपर भी औपाधिक सम्बन्धके कारण यिभिन्न स्तरोंमें यिभक्त है। योगियोंने साधारणतः इस प्रकारके सात स्तरोंका उल्लेख किया है। गाढ़ जिसको ओकार अथवा प्रणवका स्वरूप कहते हैं, वही उपाधिरहित शब्द-तत्त्व है। वैयाकरणोंने तथा किसी-किसी प्राचीन साधक-सम्प्रदायने 'स्फोट' नामसे इसकी व्याख्या की है। यह स्फोट ही अखण्ड सत्त्वारूप ब्रह्म-तत्त्वका वाचक है। अर्थात् इसीसे ब्रह्मभावकी स्फूर्ति होती है। प्रणव ईश्वरका वाचक है, इस वातका भी तात्पर्य यही है। वाचक स्फोट शब्दब्रह्मके रूपमें और वाच्य सत्ता परब्रह्मके रूपमें वर्णित है। अतएव, एक तरहसे, ब्रह्म ही ब्रह्मका प्रकाशक है, यह कहा जा सकता है। स्वप्रकाश ब्रह्म अपने स्वरूपके अतिरिक्त और किसी पटार्थके द्वारा प्रकाशित नहीं हो सकता—यह कहनेकी जल्दत नहीं। परन्तु स्फोट या शब्दतत्त्व जवतक जीवके लिये अव्यक्त रहता है तबतक उसके द्वारा कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीलिये योगी यथाविधि ध्वनि और नादका अखलम्बन करके इसको अभिव्यक्त करते हैं। कुण्डलिनीका उद्घोषन भी कुछ अंदोंमें इसी कार्यके समान है। मूलाधार-से नाद उठना आरम्भ होता है और सहस्रारमें जाकर लयको प्राप्त हो जाता है। साधकका मन इस नादके साथ शुक्त होनेपर अनायास परद्याह्वपदतक उठकर चिन्मय आकार धारण करता है और चैतन्यके अन्दर अपने-आप-को मिला देता है।

हठयोगप्रदीपिका, योगतारावलि तथा अन्यान्य अनेक ग्रन्थोंमें इस नादानुसन्धानका विस्तृत वर्णन मिलता है।

असम्प्रज्ञात समाधि

पातञ्जल योगशास्त्रमें असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकारकी बतलायी गयी है—भयप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्त-

वृत्तिका सम्यक् निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधिका लक्षण है। चित्त आत्माका अत्यन्त निकटवर्ती है,—यहोतक कि दोनोंमें स्व-स्वामि सम्बन्ध वर्तमान है। व्युत्थान अवस्थामें द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भूलकर वृत्तिसकुल चित्तके साथ अपनेको अभिन्न समझता है और वृत्तियोंका आकार धारण कर लेता है। परन्तु जब वृत्तियोंका निरोध हो जाता है तब उसके लिये इस प्रकार वृत्तियोंका आकार धारण करना सम्भव नहीं होता। इस वृत्तिहीन अवस्थामें पुरुष चैतन्य प्राप्त करके द्रष्टा या माशीके रूपमें अवस्थित होता है। अथवा गम्भीर अज्ञानसे आच्छन्न होकर एक ओर जिस प्रकार विषयज्ञानशून्य हो जाता है, दूसरी ओर उसी प्रकार अपने चित्तस्वरूपकी उपलब्धिसे भी वञ्चित रहता है। शास्त्रानुसार यही प्रकृति-लय अथवा जड़ समाधिकी अवस्था है। यह योगियोंके लिये कदापि काम्य नहीं। वृत्तिहीन होनेसे यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधिके अन्तर्गत ही है तथापि ज्ञानका उन्मेष न होनेके कारण यह योगावस्था नहीं है। पतञ्जलि इसीको भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात कहते हैं। प्रकृतिलीनकी तरह विदेह देवता भी इसी अवस्थामें रहते हैं। योगियोंकी वास्तविक योगावस्था उपायप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके रूपमें ही साधकसमाजमें परिचित है। ‘उपाय’ का अर्थ यहोपर प्रज्ञा अर्थात् शुद्ध ज्ञान समझना चाहिये। सम्यक् ज्ञान उत्पन्न होकर निरुद्ध होनेपर जिस असम्प्रज्ञात समाधिका आविर्भाव होता है, उसकी तुलना ज्ञानके अनुदयकालीन असम्प्रज्ञात समाधिके साथ कभी नहीं हो सकती। भवप्रत्यय-अवस्थामें कुछ समयतक चित्त निरुद्ध रहनेपर भी कालान्तरमें उसका व्युत्थान अवश्यम्भावी है, क्योंकि तबतक चित्तके स्तक्कार सम्पूर्णरूपमें वर्तमान रहते हैं। परन्तु प्रश्ना उत्पन्न होनेपर क्रमशः स्तक्कारोंका दाह करनेसे जो असम्प्रज्ञात समाधि आविर्भूत होती है, उसमें व्युत्थानकी कोई आशङ्का नहीं रहती। वास्तवमें उसीको एक प्रकारसे कैवल्यका पूर्वास्ताद कह सकते हैं।

तौदू योगी प्रतिसख्यानिरोध और अप्रतिसख्यानिरोध नामसे जो दो प्रकारके निरोधका वर्णन करते हैं, वे अधिकांशमें उपायप्रत्यय और भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिके ही समान हैं। सम्प्रज्ञात समाधिमें प्रवेश किये जिन असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना कभी योगियोंके लिये प्रार्थनीय नहीं है। अधियादि द्वेशोंका दाह न कर केवल-

मात्र वृत्तियोंका निरोध कर लेनेसे ही पुरुष आत्मस्वरूपमें अवस्थित होनेमें समर्थ नहीं होता। ज्ञानके अतिरिक्त अविद्याका बीज नष्ट करनेका और कोई उपाय नहीं है। कियायोगके द्वारा अर्थात् तपस्या, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानका अनुष्ठान यथाविधि करनेपर भी अविद्या-संस्कारको दग्ध नहीं किया जा सकता। परन्तु इसी कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कियायोग निष्फल है, क्योंकि कियायोगके प्रभावसे स्तक्कारोंका स्थूलरूप कट जाता है और वह सूक्ष्म आकार धारण कर लेता है। तदनन्तर प्रसंख्यान या ज्ञानाभिप्रवृत्तित होते ही वह दग्ध हो जाता है, और पुनः जागृत होनेकी शक्तिसे रहित हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधिकी प्रत्येक भूमिमें ही उसके आश्रयसे ज्ञानका विकास होता है। फिर सास्मित भूमिमें सालम्ब ज्ञानकी चरम शुद्धि सम्पन्न होती है। इसका पारिभाषिक नाम गृहीतसमाप्ति है। श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा—ज्ञानप्राप्तिका यही स्वाभाविक क्रम है। ‘श्रद्धावॉल्लभते ज्ञानम्’ गीताके इस चक्षनमें भी ज्ञानप्राप्तिके मूलमें श्रद्धाको ही स्थापित किया गया है। श्रद्धाहीन व्यक्ति लाख प्रयत्न करनेपर भी ज्ञान प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। भवप्रत्यय असम्प्रज्ञात समाधिमें चित्तका निरोध होनेपर भी अविद्याकी निवृत्ति नहीं होती। अविद्या तथा तजनित संज्ञा वर्तमान रहनेपर आत्मा मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता, यही योगशास्त्रका सिद्धान्त है।

निर्माणकाय और निर्माणचित्त

निर्माणकाय और निर्माणचित्तका विषय योगशास्त्रमें विशेषरूपसे आलोचित हुआ है। उच्च श्रेणीके योगी अनेक समय इसकी रचना करके आवश्यकतानुसार कार्य पूरा कर लेते हैं। लौकिक साहित्यमें इस प्रकारकी देह अथवा चित्तका वर्णन कहीं न होनेके कारण साधारणतः वहुत-से लोग इससे अपरिचित हैं। संसारमें हम साधारणतः जिस देहसे परिचित हैं वह भौतिक देह है। पञ्चभूत—उपादानरूप हीं अथवा एक उपादान और अन्य सब उपष्टम्भकरूपमें ही—परस्पर संश्लिष्ट होकर स्थूल देहकी रचना करते हैं। इस रचनाके मूलमें अथवा भौतिक स्योगके मूलमें देहधारी जीवके पूर्वजन्मार्जित प्रारब्धकर्म वर्तमान रहते हैं। प्रारब्धकर्मसे देह उत्पन्न होती है। देहकी आयु अथवा स्थितिकाल, और उस देहमें जितने सुख-दुःखका भोग होता है वह उस प्रारब्धकर्मके द्वारा ही नियन्त्रित

होता है। परन्तु योगी केवल अपने सङ्कल्पवल्से अर्थात् प्रारब्धकर्मकी सहायताके बिना भी देहका निर्माण कर सकते हैं और करते भी हैं। अबश्य ही इस प्रकार देह-निर्माणकी नाना प्रकारकी प्रणालियाँ हैं। मन्त्रवल्से, द्रव्यविशेषके प्रभावसे, तपस्याके फलसे और समाधिसिद्ध योगीके योगके प्रभावसे इस प्रकार देह बनायी जा सकती है। विशिष्ट और प्राक्तन कर्म रहनेपर, केवल योनियशेषमे जन्म ग्रहण करनेसे भी ऐसी देह प्राप्त हो जाती है। दृष्टिपेदसे इस निर्माणदेहको कोई-कोई निर्माणचित्त भी कहते हैं। न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने प्रथम स्तवकके आरम्भमें पातञ्जल-सम्प्रदायका निर्देश करते हुए 'निर्माणकाय' शब्दका प्रयोग किया है। बौद्ध धर्मशास्त्रमें सर्वत्र धर्मकाय, सम्भोगकाय इत्यादिके साथ निर्माणकाय-का भी उल्लेख देखा जाता है। प्राचीन और मध्यकालीन बहुत-से बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन सब भिन्न-भिन्न देहोंका विशेष वर्णन है। खोज करनेकी इच्छा रखनेवाले पाठकों-को बसुवन्धु, असङ्ग, हरिमद्र आदि आचार्योंके ग्रन्थोंको देखनेसे इस विषयमें बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। पञ्चशिखाचार्यने एक स्थानमें लिखा है कि परमर्थि कपिलने करुणावश निर्माणचित्तका अबलम्बन कर अपने शिष्य जिजासु आसुरिका घटितन्त्रका उपदेश दिया था। निर्माणकाय और निर्माणचित्तमें वास्तविक कोई भेद नहीं। लौकिक देह और लौकिक चित्तमें जो भेद है उस प्रकारका कोई भेद योगिसङ्कल्पनिर्मित देह और चित्तमें नहीं रहता, क्योंकि सिद्ध योगीके सङ्कल्पसे जिस आकारकी उत्पत्ति होती है वह देखनेमें देहके समान होनेपर भी वास्तवमें वह चित्तके सिधा और कुछ भी नहीं है। वह इच्छाशक्तिके प्रभावसे निर्मित होता है, पेसा प्रसिद्ध है।

यह निर्माणचित्त या निर्माणदेह एक होनेपर भी व्यावहारिक दृष्टिसे भिन्न रूपोंमें प्रतिपादित होता है। प्रयोजक चित्त और प्रयोज्य चित्त नामक जो निर्माणचित्तके दो पृथक्-पृथक् भेद बतलाये जाते हैं, वे व्यवहारमूलक हैं। योगीके योगबलसे जो निर्माणचित्त बनता है उसकी प्रधान विशेषता यह है कि उसमें शुद्ध, कृष्ण या अन्य किसी प्रकारका कर्मशय नहीं रहता। अन्यान्य उपायसे रचित होनेपर निर्माणचित्तमें किसी-न-किसी आकारका कर्म-स्तकार लगा ही रहता है। इसी कारण ज्ञानलिप्सु अधिकारी शिष्यको ज्ञानका उपदेश देते समय योगी इस प्रकार चित्तनिर्माण

करके उपदेश देते हैं। निर्माणदेहका अबलम्बन करके जो ज्ञानोपदेश आदि दिया जाता है उसमें भ्रम, प्रमाद आदि-की सम्भावना नहीं रहती। वास्तवमें यही गुरुदेह है। भौतिक देहसे तत्त्वज्ञानका उपदेश सत्य अथवा विपर्यय-शून्य स्पष्टमें नहीं दिया जा सकता। शुद्ध असिता-तत्त्वसे यह देह निर्मित होती है। जैनाचार्योंने आचार्यदेह-के रूपमें जिस देहका वर्णन किया है, वह बहुत कुछ इसी जातिका है।

ब्रह्मचर्य और ऊर्ध्वरेता

आध्यात्मिक साधनामें उन्नति करनेके लिये ब्रह्मचर्यका विशेषरूपसे पालन करनेकी आवश्यकता है। वैदिक, तान्त्रिक, बौद्ध, जैन एव अन्यान्य देशोंके अन्यान्य प्रकार-के धर्मसम्प्रदायोंमें भी इसकी आवश्यकता बतलायी गयी है। जिन ऋषियोंने आश्रमचतुष्यकी व्यवस्था की थी उन्होंने भी इसीलिये सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यको स्थान दिया था। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक, किसी प्रकारका बल सञ्चित नहीं होता और बलका सञ्चय हुए बिना कार्यमें सिद्ध प्राप्त करनेकी आशा आकाशकुसुमात्र है। शास्त्रमें कहा है—'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', अतएव इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्रह्मचर्यके बिना आत्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। ब्रह्मचर्यका वास्तविक स्वरूप क्या है, यह बतलानेके लिये अनेकों प्रकारकी बातें कहनी चाहिये। परन्तु यह सोचकर कि वर्तमान प्रबन्धमें इस सम्बन्धमें विस्तारसहित आलोचना करना उचित नहीं, यहाँ केवल अत्यन्त आवश्यक दो-एक बातोंका उल्लेख किया जायगा।

साधारणतः लोग वीर्यधारणको ही ब्रह्मचर्य समझते हैं। वीर्यधारण ब्रह्मचर्यका एक प्रधान अङ्ग है, इसमें सन्देह नहीं और इस अङ्गका सम्यक् रूपसे पालन करनेसे इसके अन्यान्य अङ्ग सहज ही सिद्ध हो जाते हैं। जो लोग अष्टाङ्गमैथुनके त्यागको ब्रह्मचर्य बताते हैं, वे भी इस वीर्यरक्षाकी ओर ही अपना लक्ष्य रखकर इस प्रकारके लक्षण निर्धारित करते हैं। यह परिच्छिन्न ब्रह्मचर्य योगशास्त्रमें यमके अन्तर्गत माना गया है। बौद्धोंने भी शीलसम्पत्तिके अन्दर इसको प्रधान स्थान प्रदान किया है। जैन और अन्यान्य शास्त्रोंमें भी प्रायः उसी रूपमें देखा जाता है। ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्र तथा गृह्ण और

धर्मसूत्रादिमें ब्रह्मचारीकी आदर्श दिनचर्याके विषयमें वहुत-सी बातें कही गयी हैं।

जो लोग ब्रह्मचर्यके तत्त्वकी खोज करना चाहते हैं, वे थोड़ा-सा अनुसन्धान करनेपर सहज ही समझ सकते हैं कि विन्दुका सरक्षण, संशोधन और उद्वोधन—ये तीन ही ब्रह्मचर्यके व्यार्थ उद्देश्य हैं। ब्रह्ममें अथवा ब्रह्मपथमें जिसके द्वारा सञ्चार नहीं होता वह वास्तविक ब्रह्मचर्य नहीं। जो जाग्रसिद्ध ब्रह्मचर्यसम्पन्न हैं वह वस्तुतः एक-मात्र ब्रह्मपथमें ही लक्षण करते हैं। क्योंकि वासना, मिथ्या सङ्कल्प, इन्द्रिय-चाच्छल्य और चित्तकी विक्षेपवृत्ति निवृत्त होनेपर विन्दुकी जो आपेक्षिक साम्यावस्था होती है, वही ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठाकी प्रथम भूमि है; विन्दुके क्षणसे संसार, और विन्दुकी स्थिरतासे अमृतत्व अथवा मोक्ष सिद्ध होता है। गणितशास्त्रमें जिस तरह बृत्त और त्रिकोण आदिका केन्द्र ही विन्दु कहलाता है, उसी तरह देहतत्त्वविद्गण भी देहके अथवा कोषके केन्द्र-को ही विन्दु नामसे ग्रहण करते हैं। अन्नमय कोष या स्थूल शरीर जिसके आधारपर प्रतिष्ठित है, उसीको अन्नमय कोषका केन्द्र या स्थूल विन्दु कहा जा सकता है। इसी तरह जिन प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोषके आधारपर सूक्ष्म शरीर गठित हुआ है, उनके भी कोषगत केन्द्ररूपमें एक-एक विन्दु है। वेदान्तकी परिभाषाके अनुसार साधारणतः आनन्दमय कोषको ही कारण-शरीर कहा जाता है। कहना नहीं होगा कि इसका भी केन्द्र है और यही अमृतविन्दुके नामसे परिचित है। ये सब विन्दु वस्तुतः एक ही महाविन्दुके देशगत और सत्कारगत भेदमात्र हैं। जबतक औपाधिक भेद वर्तमान रहता है तबतक वह भेद अनिवार्य है। इस भेदको मान-कर ही क्रमः इसके अतिक्रम करनेकी चेष्टा करनी होगी। जिस कारणसे विन्दु क्षरित होता है, उसको रोके विना विन्दुकी ऊर्ध्वगति तो दूर रही, उसकी स्थिरता भी सम्भव नहीं। पहले स्थिरतें हुए विना कोई भी ऊर्ध्वरेता-भूमि-पर आरोहण नहीं कर सकता। जो लोग अग्राह्यत कामवीजका रहस्य जानते हैं और जिन्होंने गुरुपदिष्ट प्रणालीसे रस-तत्त्वका सम्बूद्ध उपरे परिशीलन किया है, वे इसे सहज ही समझ सकते हैं। साधारणतः हठयोगी कहा करते हैं कि विन्दुके स्थिर होनेपर प्राण भी स्थिर हो जाता है और प्राणके स्थिर होनेपर विन्दु भी स्थिर हुए विना नहीं रह-

सकता। इसी प्रकार विन्दुके साथ मनका और मनके साथ प्राणका परस्पर सम्बन्ध समझना चाहिये। कौशलसे इनमेंसे किसी एकको भी बद्ध कर लेनेपर शेष दोको अधीन करना सहज हो जाता है। हठयोगशास्त्रमें तथा योगवासिष्ठरामायणमें इस सम्बन्धमें प्रासङ्गिक अन्यान्य बातें भी लिखी हैं। शास्त्रका यह सिद्धान्त अत्यन्त सार-गर्भित है; क्योंकि हमने पहले ही कहा है कि एक ही विन्दु आधारभेदसे भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रकाशित हुआ है। अतएव साधकके पूर्वस्त्कार तथा योग्यताके अनुसार चाहे जिस स्थानमें स्यम सम्भव हो, उसीसे अन्यान्य स्थानगत विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है एव वहाँ-वहाँके विन्दु भी स्थिरभावको प्राप्त हो जाते हैं।

क्षम्यु जिस समय रूप देखता है, श्रोत्र जिस समय इन्द्र ग्रहण करता है और अन्यान्य इन्द्रियाँ जिस समय अपना-अपना विषय ग्रहण करती हैं, उस समय वास्तवमें देहके मध्यमें स्थित विन्दु ही क्षरित होकर उस-उस स्थानमें विषय-प्रतिभासके रूपमें जन्म ग्रहण करता है। विन्दुका क्षरण हुए विना विषय ग्रहण करना असम्भव है। अतएव जबतक हम इन्द्रियोंके मार्गसे विषय ग्रहण करते हैं तबतक तथाक्षित रूपमें वीर्यरक्षा करनेपर भी व्यभिचार होता ही है। विषयका भेद हट जानेपर जब सर्वत्र ही ब्रह्म-साक्षात्कार होता है तब समझना चाहिये कि व्यभिचार निवृत्त हो गया है और साधक ब्रह्मचर्यमें क्षित हो गया है। विन्दु क्षरित हुए विना अखण्ड एव कृटस्य ब्रह्मतत्त्व अपने सामने स्वय प्रकाशित नहीं हो सकता। अतएव ब्रह्मकी जो स्वयं-प्रकाश अवस्था है, जिस अवस्थामें एकमात्र विशुद्ध चैतन्य ही अपने सामने आप प्रकाशित है, वह भी ब्रह्मचर्यकी अवस्था है। उस अवस्थामें विन्दुके क्षरित होनेपर भी वह सरल मार्गसे सम्पन्न होता है, इस कारण अद्वैत-भावमें व्याघात नहीं पहुँचता, भेदग्रीति उत्पन्न नहीं होती और विषयसत्ता भी भासमान नहीं होती। यह अवस्था रहस्यदृष्टिसे ‘उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य’ की अवस्था है। इसीका अनुकरण करके समाजके वन्दर भी उपकुर्वाण ब्रह्मचर्यकी व्यवस्था की गयी है। गुणभेदसे उपकुर्वाण ब्रह्मचर्य के तीन भेद हैं—शुद्ध, रक्त और कृष्ण। यहाँपर इनकी आलोचना नहीं करनी है। परन्तु जिसे नैषिक ब्रह्मचर्य कहते हैं, उसमें विन्दुक्षण प्रिन्कल ही सम्भव नहीं है। विन्दुका

अपण नहीं हो सकता, इसी कागण उस निर्गुण ब्रह्मचर्याचम्याकी गणना अवज्ञभायके अन्दर होती है। सामाजिक दृष्टिसे विवाह न करना और विवाह करके स्वपनीके साथ मवत रहना दोनों ब्रह्मचर्यके स्वरूप हैं। परन्त्रीके प्रति ननिक भी चित्तमें आसक्ति उत्पन्न हो जानेपर ब्रह्मचर्यवस्थासे पतन हो जाता है। क्योंकि चित्तकी वह अवस्था व्याधिचारक ही अन्तर्गत मानी गयी है। स्वदाराके प्रति निर्गुण रहनेपर भी चित्तमयमें तारतम्यके अनुसार गुणभेदसे गृहस्थका ब्रह्मचर्य सात्त्विक, राजसिक और तामसिक तीन प्रकारका होता है।

विन्दुका शोवन सम्यक् प्रकारसे हुए विना अन्य किया-कौशलद्वाग उसे स्थिर करनेपर भी उसमें स्थायित्व नहीं आता। ये कि स्वकागत्मक मलके आकर्षणसे निर्दिष्ट स्थितिकाल अतीत होनेके बाद विन्दु पूर्वकी तरह नीचेकी ओर गतिशील हो जाता है। वैदिक तथा तान्त्रिक साधनामें विन्दु-ग्राधनके अनेक प्रकारके उपाय निर्दिष्ट किये गये हैं। महायानसम्प्रदायके बौद्धोंके अन्दर भी यज्ञयान, मन्त्रयान एव सहजयानके साधनमार्गोंमें इस प्रकारके नृत्य तथा अकृतिम उपायका वर्णन पाया जाता है। दृष्टियोगमें अपना विशेष अधिकार प्राप्त करनेके लिये भी इस प्रकार विन्दुस्थितिके उपायका अवलम्बन किये विना काम नहीं चल सकता। विन्दु शुद्ध होनेपर ही वह स्वभावतः स्थिर होता है। इस स्थिर विन्दुको किसी अन्याकिक प्रक्रियाके द्वारा विकृत्व कर लिया जाय नो वह स्वभावतः ही ऊर्ध्व दिशामें सञ्चरणशील हो जाता है। विन्दुका वह ऊर्ध्वगति प्रवृद्ध कुण्डलिनीके सहस्रारके आकर्षणसे ऊर्ध्वप्रवाहका नामान्तर है। विन्दु क्रमशः म्यूलभाव छोड़कर यश्च, सूर्यतर और नृत्यमें अवस्थाको प्राप्त होता है और अन्तमें गृह्यदृक्मयी कणिकामें स्थित महाविन्दुके साथ मिल जाता है। यही चित्तचन्द्रमाका पोड़गी कलारूप अमृत विन्दु है। नाभिप्रनिधिका मेद करके विन्दुको ऊर्ध्वमोत्तमं सञ्चित्य कर देना श्री उपनयन या दीक्षाका यथार्थ ग्रन्थ है। नाभिचक्रसे ऊपर उठे विना विन्दु माध्यकर्षणके चक्रसे मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। माध्यकर्षणके चक्रके अन्दर रहना सायंकाली दूसरा नाम है। ब्रह्मन्यकी गणनाके द्वाग विन्दुको विषय-जगत्से पृथक् करके, उसे परिप्रवाक्य, ब्रह्ममार्गमें लगाना ही सुसागसे

मुक्ति प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय है। विन्दुके विकृत्व होकर ऊर्ध्वकी ओर सञ्चरण करनेपर ही नाटका विकास होता है। अतएव नाभिचक्रसे ऊपर स्वाभाविक खेल नाट एव ज्योतिके रूपमें अनुभूत होता है। यही शब्दब्रह्मके सञ्चारकी अवस्था है। इसके बाद नाट, ज्योति इत्यादिकी पूर्णतासे जो परम भावका उदय होता है, यही निजबोधरूप आत्मजानका विकास है। इसका विशेष विवरण ‘दीक्षा-तत्त्व’ तथा तत्सम्बन्धी घड़व्युद्धिकी आलोचनाके अङ्गीभूत हैं।

भगवान् पतञ्जलिने यह निर्देश किया है कि ब्रह्मचर्य धारण करनेसे वीर्यकी प्राप्ति होती है। वास्तवमें ब्रह्मचारीकी अवस्थाका ही वर्णन योगमूलमें प्रकारान्तरसे श्रद्धारूपमें किया गया है। ब्रह्मचर्यसम्भूत वीर्यकी प्राप्ति होनेपर देहके अन्दर दिव्य तेज अथवा विद्युत्-गतिका विकास होता है—इस तेजकी अधिकताके कारण चित्तकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है, प्राणोंकी गति स्थिर हो जाती है और ध्येयकी ओर चित्तका एकतान प्रवाह उत्पन्न होता है। इसीका दूसरा नाम ध्यान अथवा स्मृति है। उपासनाका यही स्वरूप है। क्रमशः इन सबके धनीभूत होते-होते चित्तकी समाधि-अवस्था उत्पन्न होती है। चित्तके समाहित होनेपर ध्येय वस्तु आवरणविसुक्त होकर उज्ज्वलरूपमें स्वीयभावकी ज्योतिसे उद्भासित और प्रकाशित हो उठता है। उस समय चित्त तिरोहित हो जाता है और एकमात्र ध्येय ही उसके अनुभय-ध्रेवमें जागरूक रहता है। कहना नहीं होगा कि यह ध्येय चित्तका ही एक आकारविशेष है, यह चित्तसे भिन्न कोई पदार्थ नहीं है। इस प्रकारको प्रजाका उन्मेष अथवा ज्ञानचक्रका खुल जाना कहते हैं। इस प्रजाके निरुद्ध होनेके बाद जिस असम्प्रतात समाधिका उदय होता है, वही वास्तवमें योग कहलाने योग्य है। ब्रह्मचर्य योगीकी पूर्णवस्था प्राप्त करनेके लिये नितान्त धावश्यक है, इस सक्षिप्त विवरणसे सम्भवतः यह बात पाठकोंको अवश्य मालूम हो जायगी।

सिद्धिसे पारमार्थिक हानि

आध्यात्मिकमार्गमें सिद्धिका स्थान वया है, इस विषयमें विभिन्न देशों तथा विभिन्न कालोंमें नाना प्रकारकी याते कही गयी हैं। यहाँपर उन सबकी चर्चा करना अप्रायोगिक मालूम होता है। किंतु भी सिद्धिकी मार्थकता

क्या है एवं कौन सिद्धि किस समयमें आध्यात्मिक साधनामें वाधक समझी जाने योग्य है, इसका यहाँ विचार करना आवश्यक है। बहुत लोगोंका ऐसा विश्वास है कि सिद्धि चाञ्छनीय नहीं और उसकी प्राप्ति होनेपर मुमुक्षु योगीके योगमार्गमें विष्व उत्पन्न होता है। इस विश्वासके मूलमें कुछ सत्य है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु असलमें यह विश्वास भ्रान्त माल्यम होता है, क्योंकि प्रत्येक वस्तुका सत् और असत् दो प्रकारका व्यवहार हो सकता है। च्यवहारके दोषसे वस्तु-सत्ता आक्रान्त नहीं होती। अग्रिका स्पर्श करनेसे अदोष विशुकी सुकुमार देह जल जाती है, इस कारणसे अग्रिकी निन्दा करना अथवा उसका त्याग करना बुद्धिमानीका काम नहीं। अग्रि अपने स्वभावके अनुसार अवश्य कार्य करेगी। जो उसके स्वभावको जानकर और उसे नियन्त्रित करके अपना अभीष्ट कार्य पूरा कर सकता है, उसीको चतुर कहना उचित है। अग्रिसे व्यवहारानुसार अच्छा या बुरा दोनों प्रकारका कार्य सम्पन्न होता है। परन्तु इसी कारण अग्रिको उन सब कायोंका दायी मान लेनेसे काम नहीं चलता। शक्तिमात्रको इसी प्रकार समझना चाहिये।

मधुमती भूमि और योगके विष्व

भगवान् पतञ्जलिका नाम जिस योगसम्प्रदायके साथ संक्षिप्त है, उसमें चार प्रकारके योगियोंका निर्देश मिलता है। उनमें प्रथम अवस्थापन्न योगियोंको 'प्रथमकल्पिक' कहा गया है। वे लोग अद्याङ्गयोगसम्पन्न होनेपर ही योग-भूमिमें सद्य प्रवेश करते हैं, इसलिये इनकी गणना सबसे निम्न श्रेणीमें होती है। ये स्थूल समाधि-सिद्ध हैं अर्थात् वितर्कनुगत समाधिमें अधिकार प्राप्त करनेके कारण इनमें अन्तःज्योतिका स्फुरण होना आरम्भ हुआ है। चित्त समाहित हुए विना ज्योतिका उन्मेष नहीं हो सकता। परन्तु ज्योतिका आविर्भाव होनेपर भी उसकी क्रमशः शुद्ध होनेकी आवश्यकता है। जबतक उसकी विशुद्धि नहीं होती तबतक तत्त्वोंको जीतकर (अर्थात् अपने वशमें करके) त्वय योगकी उच्च भूमिपर नहीं पहुँचा जा सकता।

प्रथमकल्पिक अवस्थाके बाद योगी 'मधुमती' नामक योगकी दूसरी भूमिमें पदार्पण करते हैं। इस समय उनका -चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है, इस कारण पदस्थ देवता, ऋषि, अप्सरा इत्यादि अनेकों उनके पास उपस्थित होकर नाना प्रकारके अलौकिक प्रलोभनोंके द्वारा उन्हें सुनानेकी

चेष्टा करते हैं। ऐसी अवस्थामें साधारणतः मनुष्यके हृदयमें आसक्ति और अहङ्कारका भाव जग उठना स्वाभाविक है। परन्तु जो योगी गुणातीत आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेके लिये उच्चत हैं, उनके लिये ये सब क्षुद्र प्रलोभन सर्वया उपेक्षाके योग्य हैं। जब वे संयत होकर चित्तमें वलका सञ्चय करके साधनपथपर अग्रसर होते हैं तब क्रमशः इन सब भयोंसे छुटकारा पा जाते हैं। यह मधुमती अवस्था ही योगियोंकी परीक्षाकी अवस्था है। प्रथम भूमिमें चित्त सम्यक् रूपसे विशुद्ध न रहनेके कारण देवता आदिके इस तरहके प्रलोभन देनेकी सम्भावना नहीं रहती। तथा तृतीय अवस्थामें समस्त प्रलोभनकी वस्तुएँ योगियोंके अपने सङ्कल्पके द्वारा निर्मित हो सकती हैं और योगी साधक स्वयं दिव्यभावापन्न होते हैं, इस कारण उनके लिये भी यशोष आगङ्काकी सम्भावना नहीं रहती।

तृतीय अवस्थामें योगी विशेषित प्रज्ञाज्योतिके द्वारा पञ्चभूतोंकी पॅच प्रकारको अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रियकी भी उसी प्रकारकी पञ्चविध अवस्थाओंके ऊपर अधिकार प्राप्त करके भूतजयी और इन्द्रियजयी हो जाते हैं। भूतजय होनेपर योगी बज्रके समान सिद्धदेह प्राप्त करते हैं और अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा आदि अष्ट महासिद्धियों प्राप्त करते हैं। ऐसे योगीकी देहपर पञ्चभूतोंके प्रभावसे आधात नहीं होता अर्थात् भौतिक पदार्थोंके गुण योगी-देहमें अपनी किया नहीं करते। इन्द्रियजयद्वारा मनो-जयित्व, विकरणभाव तथा प्रधान या मूलप्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाती है। योगदात्रोंमें इन सब सिद्धियोंका वर्णन 'मधुप्रतीक' के नामसे किया गया है। जिन योगियोंने भूतजयी तथा इन्द्रियजयी होकर इस प्रकार अलौकिक मिद्दियों प्राप्त कर ली हैं, वे अधिकांशमें देवताओंके स्तरसे, शक्ति और शुद्धिमें ऊपर उठ गये हैं, यह निश्चित है। अतएव साधारण देवताके द्वारा उन्हे लोभमें डाले जानेकी कोई सम्भावना नहीं रहती। विशेषकर पञ्चभूत तथा पञ्चेन्द्रियपर योगियोंका अधिकार होनेके कारण उन्हें सुष्ठुपि, स्थिति और सहार करनेकी शक्ति प्राप्त हो जाती है और उनके चित्तमें विमल वैराग्यकी दृष्टि होनेके कारण वे ऐसा कोई भी अभाव अनुभव नहीं करते जिसकी निश्चितके लिये किसी भी प्रलोभनमें पड़नेकी सम्भावना हो।

इस प्रकार साधनाक्रमसे जब योगी भूतेन्द्रियराज्यको

अतिक्रमण करके 'अस्मिता' तत्त्वमें प्रतिष्ठित होते हैं तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं तथा सर्वदा सब भावोंमें अवस्थान बरनेकी शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। योगशास्त्रकी भाषामें इसीका दूसरा नाम 'यिशोका सिद्धि' है। यही वास्तविक जीवन्मुक्त योगियोंकी अवस्था है। इसके बाद पर-वैराग्यके गाथ ही साथ त्रिगुणका राज्य क्रमशः समाप्त हो जाता है और योगी सम्मन दृढ़ तथा चिन्तनीय पदार्थोंकी सीमा पार करके, ऊपर उठकर अव्यक्त परमपदमें स्थित हो जाते हैं। यही चाँथे प्रकारके योगियोंका स्वरूप है। भाष्यकार व्यासजीने इस सर्वश्रेष्ठ योगभूमिको 'अतिक्रान्तभावनीय' नाम दिया है।

हठयोग

हठयोगके आदि आचार्य कौन थे, यह बतलाना तो बहुत कठिन है। हमारे भारतवर्षीय आचार्योंका यह मिद्दान्त है कि सभी शास्त्रोंकी प्रथम प्रवृत्ति परमेश्वरसे ही होती है। इस कारण हठयोग भी ईश्वरप्रोक्त कहा जाता है। हठयोगी कहा करते हैं कि आदिनाथ श्रीगिरिजी ही हठयोगके प्रवर्तक हैं। जिस विचित्र उपायसे मत्स्येन्द्रनाथने इस विद्याको प्राप्त किया था उसका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह नहीं कहा जा सकता। हाँ, इस सम्बन्धमें एक दन्तकथा हठयोगके बहुत-से ग्रन्थोंमें मिलती है। मत्स्येन्द्रनाथकी तरह गोरखनाथ, चर्पटि, जलनधर, कनेडी, चतुरगी, विचारनाथ आदि नाथ-सम्प्रदायके आचार्योंने हठयोगमें निष्णात होकर ससारमें इसका प्रचार किया था। इस सम्प्रदायके इतिहास तथा शास्त्रकी आलोचना करनेपर एठविजानकी बहुत-सी अवश्य जानने योग्य वातें मालूम हो सकती हैं। गोरक्षशतक, गोरक्षसहिता, सिद्ध-सिद्धान्तपद्धति, सिद्ध-सिद्धान्तसग्रह, गोरक्षसिद्धान्त-सप्त, अमनस्क, योगवीज, हठयोगप्रदीपिका, हठतत्त्व-कौमुदी, घेरण्डसहिता, निरखनपुराण इत्यादि बहुत-से साम्प्रदायिक ग्रन्थ आज भी मिलते हैं।

मत्स्येन्द्रनाथ और गोरखनाथके पूर्व भी हठयोगका प्रचलन था, इसमें सन्देश नहीं। कहा जाता है कि प्राचीन भाष्यमें मार्कण्डेय मुनि इस योगके साधक थे।

द्विषा हठ स्यादेकम्नु गोरक्षादिसुमाधैँ।

अन्यो नृष्णपुष्ट्रार्थः साधितो हठसज्जकः ॥

गोरक्षोर्गद्य एठयोगके लः अंग है—उसमें यम और

नियम ग्रहण नहीं किये जाते। परन्तु मार्कण्डेय अष्टाङ्ग हठयोगके पक्षपाती थे। योगतत्त्व-उपनिषद्में भी हठ-योगके आठ प्रकारके अङ्ग बतलाये गये हैं।

हठयोगकी पूर्ण परिणति राजयोग है। पातञ्जल-दर्गनमें असम्प्रज्ञात समाधिके नामसे इसीका वर्णन किया गया है। हठयोगकी नियमित साधनाके द्वारा राजयोगकी सिद्धि होती है, इसी कारण आचार्यगण हठयोगका राजयोगके सोपानके रूपमें वर्णन किया करते हैं। इस राजयोगके प्रभावसे ही साधनशील जीव कालके पराक्रमसे छुटकारा पानेमें समर्थ होता है। हठयोगप्रदीपिकाके मतानुसार समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्त्व, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरखन, जीवन्मुक्ति, सहज, तुरीय—ये सब राजयोगके नामान्तर हैं। स्वात्मारामने स्पष्ट ही कहा है कि कुम्भद्वारा प्राणकी गति रुद्ध हो जानेपर चित्त निरालम्ब हो जाता है। ब्रह्मानन्दने भी अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है कि जिस समय सम्प्रज्ञात समाधिके बाद ब्रह्माकार स्थितिका उदय होता है उस समय पर-वैराग्य धारण करके चित्तको सम्यक् प्रकारसे निरुद्ध करना जरूरी है। इससे यह स्पष्ट ही समझमें आ सकता है कि हठयोगसे स्वभावतः राजयोगका विकास होता है।

देहशुद्धि हठयोगका अव्यवहित उद्देश्य है। योगियोंकी पारिभाषिक भाषामें यह घटशुद्धिके नामसे विख्यात है। घेरण्डसहिताका मत है कि हठशास्त्रोक्त धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि एव कपालभाति—इस षट्कर्मद्वारा देहकी शुद्धि होती है। देहकी दृढ़ता और स्थिरता आसन और मुद्राका अभ्यास करनेसे सिद्ध होती है। तथा प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधिके द्वारा क्रमशः दैहिक धीरता, लघुता, आत्मप्रत्यक्ष तथा निलेपता सुसम्पन्न होती है। अनेक आचार्य आसन, प्राणायाम अथवा कुम्भक, मुद्रा या करण तथा नादानुसन्धान-इन चारको हठयोगका प्रधान प्रतिपाद्य विषय कहते हैं। इनमें आसनका अभ्यास विवित् करनेसे देहकी स्थिरता, निरोगता तथा लघुता सम्पन्न होती है। 'आसनेन रजो हन्ति'—यह सिद्धान्त योगिसम्प्रदायमें अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीर्घ काल-तक विधिके गाथ आसनका अभ्यास करनेसे रजोगुणजनित देहकी चञ्चलता और मनकी अस्थिरता दूर हो जाती है। नोग विधेपका एक प्रधान कारण है—आसनके अभ्याससे

उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस अभ्याससे तमोगुणकी क्रियासे उत्पन्न देहकाभारीपन भी दूर होता है। देहमें सात्त्विक तेजकी वृद्धि होनेसे तमोगुणका हास होता है और स्वभावतः ही देह हल्की हो जाती है। वार-वार अभ्यास करके आसनको स्थिर कर लेनेपर प्राणायामकी क्रिया सहजसाध्य हो जाती है। परन्तु नाडी-चक्र नाना प्रकारसे आच्छन्न रहनेके कारण वायु सुषुम्ना-मार्गमें प्रवेश नहीं कर सकती। इसीलिये प्राण-संग्रहके पहले नाडी-शोधनकी आवश्यकता होती है। नाडी विशुद्ध हुए विना उन्मनी-माव अथवा मनोनिवृत्तिकी कोई आशा नहीं रहती। विधिपूर्वक प्राणायाम करनेसे सुषुम्नानाडीके अन्दरका समस्त मल नष्ट हो जाता है। शाष्ठिलय उपनिषद्में मत्ता-नुसार नाडीशोधन-प्राणायाम कई महीनेतक नित्य दो वार करना चाहिये*। देहकी कृत्तिता, कान्ति, इच्छानुसार वायु-धारण करनेका सामर्थ्य, अग्निवृद्धि, नादकी अभिव्यक्ति और आरोग्यता—ये सब लक्षण जब क्रमशः आविर्भूत हो जायें तब समझना चाहिये कि सब नाडियों शुद्ध हो गयी हैं। त्रिशिखित्राक्षण-उपनिषद्में लिखा है कि यम, नियम और आसन सिद्ध हुए विना प्राणायाम यथार्थ-

रूपमें नहीं किया जा सकता। अतएव उस अवस्थामें नाडी-शुद्धिकी चेष्टा करना अनुचित है। हठाचार्योंका कहना है कि सब साधकोंके लिये घटकर्मकी आवश्यकता नहीं होती। वायु, पित्त या कफ, इन तीनों दोषोंमेंसे किसी एक या दोकी अधिकता होनेपर पट्कर्मकी सहायता लेना आवश्यक है। घटशुद्धिकी तरह स्थूलताका नाश इत्यादि भी हठयोगका एक अव्यवहित फल है। याजवल्क्य प्रभृति आचार्य कहते हैं कि जब एकमात्र प्राणायामके द्वारा ही समस्त मलकी निवृत्ति हो जाती है तब घटकर्मकी कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

मुद्रासाधनका उद्देश्य यह है कि इससे ब्रह्मद्वार या सुषुम्ना-मुखसे निर्दिता कुलकुण्डलिनी जाग्रत् होकर ऊपरकी ओर उठती है। कुण्डलिनीके जागनेपर चक्र, और ग्रन्थि सबका भेदन होता है, प्राण अनायास सुषुम्नामें प्रवेश करता है, चित्त निरालम्ब होता है और मृत्युभय छूट जाता है। आधारद्यक्तिरूपा कुण्डलिनी समस्त योगाभ्यासका मूल अवलम्ब है। मुद्रा आठ प्रकारकी है और मुद्राके अभ्यासका फल है अष्टश्वर्य-प्राप्ति।

योगकी कुछ आवश्यक बातें

वियोग—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग।

योगचतुष्य—हठयोग, लययोग, मन्त्रयोग और राजयोग।

द्विविध निष्ठा—सांख्ययोग और कर्मयोग।

द्विविध प्रकृति—परा और अपरा।

द्विविध पुरुष—क्षर, अक्षर और पुरुषोक्तम (जगत्, जीव और भगवान्)।

वेदान्तके चार भावाक्षय—अह ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, प्रज्ञान ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।

सप्तशानमूर्मिका—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, मर्त्यापत्ति, असर्सक्ति, पदार्थमार्विनी, तुर्यना।

* टीकाकार कहते हैं कि ४३ दिन अथवा ३ मास, अथवा ४ मास, ७ मास या एक सालतक इस प्राणायामका विभान है।

+ इठयोगप्रदीपिकामें तथा दयम उपनिषद्में कृशताकी दात आती है। शाष्ठिलय उपनिषद्में कृशताकी जगह लघुता शब्दका प्रयोग हुआ है। योगतत्त्व-उपनिषद्में एक ऐसी साध कृशता और लघुता दोनों पाठ मिलते हैं। शिवनहिताके भत्तेनाडी शुद्ध हो जानेपर दोष नष्ट हो जाते हैं, देहमें साम्य, मुग्धनि और कान्तिकी आमा प्रस्तुति हो उठती है तथा स्वरमें नामुर्द सिद्ध हो जाया है।

साधनचतुष्य—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, घट-सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान), सुसुक्षुत्व।

द्विविध नरकद्वार—काम, क्रोध, लोभ।

द्विविध ज्ञानद्वार—श्रद्धा, तत्परता, इन्द्रियसंयम।

भक्तिके चार महावाक्य—कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्, मत्तः परतरं नान्यत्, ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्, मामेकं शरण ब्रज।

द्विविध भक्ति—अपरा या गौणी, परा या रागानुगा।

नवधा भक्ति—श्रवण, कीर्तन, स्पर्श, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन।

पञ्चमाद—शान्ति, दास्य, सख्य, वात्सल्य, मधुर।

अट सात्रिक माव—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ।

प्रेमकी तीन अवस्थाएँ—पूर्वराग, मिलन और वियोग ।

त्रिविध विरह—भूत, वर्तमान और भावी ।

त्रिविधकी दशा दशाएँ—चिन्ता, जागरण, उद्वेग, कृशता, मलिनता, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, मोह और मृत्यु ।

चतुर्विध भाव—भावोदय, भावसन्धि, भावशावल्य और भावशान्ति ।

द्विविध महाभाव—रुद्र और अधिरुद्र ।

द्विविध अधिरुद्र महाभाव—मोदन और मादन (या मोहन) ।

आसन—चौरासी या एक सौ आठ । प्रधान दो—पद्मासन और स्वस्तिकासन ।

मुद्रा और वन्ध—अनेक हैं । परन्तु पचीस मुख्य हैं । उनके नाम हैं—महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्हीयानवन्ध, जालन्धरवन्ध, मूलवन्ध, महावन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, बज्रोली, गक्षिचालनी, तडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अविनी, पाणिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गनी और पौच धारणाएँ (पार्थिव, आम्भसी, वैद्यानरी, वायवी और आकाशी) ।

पट्कर्म—धोति, गजकरणी, यस्ति, नौलि, नेति और कपालभाति । कोई-कोई त्राटकसमेत सात मानते हैं ।

प्राणायाम—पूरक, कुम्भक और रेचक ।

चतुर्विध पातञ्जलोक प्राणायाम—आम्यन्तर, वाय और दो प्रकारके केवल प्राणायाम ।

अष्टविध प्राणायाम—सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा और प्लाविनी । कुछ लोग अनुलोम-चिलोमको जोड़कर नौ प्रकार मानते हैं ।

दैनिक श्वास—२१६०० ।

योगसाधनमें तीन प्रधान नाडियाँ—इडा, पिङ्गला, सुपुम्ना ।

दश वायु—ग्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय ।

योगके पट्चक—मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ।

योगके सप्त चक्र—उपर्युक्त छः और सातवॉ सहस्रार ।

योगके नौ चक्र—उपर्युक्त सात और आठवॉ तालुमे ललनाचक और नवाँ ब्रह्मरन्त्रमें गुरुचक्र ।

पोडश आधार—१ दहिने पैरका ऊँगूठा, २ गुल्फ, ३ गुदा, ४ लिङ्ग, ५ नाभि, ६ हृदय, ७ कण्ठकूप,

८ तालुमूल, ९ जिह्वामूल, १० दन्तमूल, ११ नासिकाम, १२ भ्रुमध्य, १३ नेत्रमण्डल, १४ ललाट, १५ मस्तक और १६ सहस्रार ।

तीन ग्रन्थि—ब्रह्मग्रन्थि, चिप्पुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि ।

त्रिमार्ग—पिपीलिका-मार्ग, दाढुर-मार्ग और विहङ्गम-मार्ग ।

विशक्ति—ऊर्ध्वशक्ति (कण्ठमें), अधःशक्ति (गुदामें) और मध्यशक्ति (नाभिमें) ।

पञ्चमूल—पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ।

पञ्चाकाश—आकाश, महाकाश, पराकाश, तत्त्वाकाश और सूर्याकाश ।

वर्ण—पचास ('अ' से 'ह' तक) ।

त्रिविध मन्त्र—पु, छी, छीव ।

चतुर्विध वाणी—परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी ।

योगके आठ अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ।

यम—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ।

नियम—शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान ।

स्यम—धारणा, ध्यान और समाधि ।

क्रियायोग—तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान ।

द्विविध ध्यान—भेदभावसे और अभेदभावसे ।

द्विविध समाधि—सम्प्रज्ञात या सवीज और असम्प्रज्ञात या निर्बीज ।

असम्प्रज्ञात समाधिके चार भेद—वितर्कानुगम, विचारानुगम, आनन्दानुगम और असितानुगम ।

असम्प्रज्ञातके दो भेद—भवप्रत्यय, उपायप्रत्यय ।

पञ्चवृत्ति—मूढ, घिस, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध ।

पञ्चक्षेत्र—अविद्या, असिता, राग, द्वेष और अभिनिवेद ।

सप्तसाधन—ओधन, दृढता, स्पैर्थ, वैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और मिलिंसता ।

योगके विद्वन—व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, विपयत्तृणा, भ्रान्ति, फलमें सन्देह, चित्तकी अस्थिरता, हुःख, मनकी खराबी, देहकी चञ्चलता, अनियमित श्वास-प्रश्वास, अनियमित और उत्तेजक आहार, अनियमित निद्रा, ब्रह्मचर्यका नाश, 'नकली गुरुका शिष्यत्व,

सच्चे गुरुका अपमान, भगवान्‌में अविश्वास, सिद्धियों-की चाह, अत्य सिद्धिमें ही पूर्ण सफलता मानना, विषयानन्द, पूजा करवाना, गुरु वनना, दम्भ करना ।

अष्ट महासिद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राति, प्राकाम्य, ईशित्व, विशित्व और यत्रकामावसायित्व ।

कुछ लोग इनमें ‘गारिमा’ जोड़कर इनकी सख्त्या ९ कर देते हैं ।

चतुर्विंश साधक—मृदु, मध्य, अधिमात्र और अधिमात्र-तम ।

चार अवस्थाएँ—जाग्रत्, स्वप्न, सुपुति और तुरीया ।

पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग

(लेखक—गङ्गोत्रीनिवासी परमहस परिव्राजकाचार्य दण्डस्वामी श्रीशिवानन्दजा सरस्वती)

हि



न्दुओंके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, उपपुराण, सहिता, धर्मगान्ध्र और तन्त्रगान्ध्र, सभी एक स्वरसे कहते हैं कि साधनजगत्‌में साधकों को मुक्ति प्रदान करनेवाले दो प्रशस्त मार्ग विद्यमान हैं । उनमें एकका नाम है पिपीलिकामार्ग और दूसरेका नाम है विहङ्गममार्ग । अतएव यह जिनासा होती है कि ये दोनों मार्ग क्या हैं ? तथा इन दोनों मार्गोंके प्रवर्तक कौन है ?

शुकश्च वामदेवश्च द्वे सूती देवनिमिते ।
शुको विहङ्गम् प्रोक्तो वामदेवः पिपीलिका ॥
अतदद्व्याघृत्तिरूपेण साक्षाद्विष्मुखेन वा ।
महावाक्यविचारेण सांख्ययोगसमाधिना ॥
विदित्वा स्वात्मनो रूपं सम्प्रक्षात्समाधितः ।
शुकमार्गेण विरज्ञाः प्रयान्ति परमं ददम् ॥
यमाद्यासनजायासहठाभ्यासात्पुनः पुनः ।
विवशादुल्यसञ्जात अणिमादिवशादिह ॥
अलद्व्यापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले ।
पूर्ववासनयैवायं योगाभ्यास पुनश्चरन् ॥
अनेकजन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा ।
सोऽपि मुक्ति समाप्तोत्तद्विष्णोः परम पदम् ॥
द्वाविमावपि पन्थानौ ब्रह्मप्राप्तिकरौ शिवौ ।
सद्योमुक्तिप्रदश्रैकः क्रममुक्तिप्रद् पर ॥

(वराहोपनिषद्)

काम-कोधादि रिपुओंसे सङ्कुलित इस समारूपी महारूपके सुर्योर्ध मार्गमें सासार-पथ-श्रान्त-ह्लान्त जीवके नित्य-सुख, परमशान्ति, स्वायी आनन्दके लीला-निकेतन निज भवनमें उपनीत होनेके लिये देवनिमित्त सुप्रशान्त दो मार्ग विद्यमान हैं—शुकमार्ग और वामदेवमार्ग । उनमें वाल-

विरागी परम आत्मज्ञानी शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको विहङ्गममार्ग तथा वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गको पिपीलिकामार्ग कहा गया है । शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग इन दोनों मार्गोंका अनुसरण करनेसे सासार-पथ-श्रान्त-ह्लान्त जीवको मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है । परन्तु शुकदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला महावाक्यविचार-द्वारा अथवा सांख्ययोगसमाधिद्वारा अपने हृदयकमलके रक्त दलमें सजल जलद-जालमध्य चकितोज्ज्वला विद्युन्माला-के समान कोटिरुद्यप्रदीपि, कोटिचन्द्रोत्फुल, चिर-उज्ज्वल, चिर-ज्योतिष्मान् स्वखलूपको जानकर अनायास चिर-सुखगान्तिमय ब्रह्मानन्दसुखाह्य परमपद मोक्षसाम्राज्यको प्राप्त करता है । और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला संसार-पथ-श्रान्त-ह्लान्त जीव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिरूप अष्टाङ्ग हठयोगका अभ्यास कर विश्वाहुत्यसञ्जात अणिमादि अष्ट सिद्धियोंको प्राप्त करता हुआ, कभी ऊर्ध्व-गामी और कभी अध-पतित होता हुआ असीम सुधमाकर अनन्त वैचित्र्यपूर्ण नाना जीव-सङ्कुल, शोभनसीन्दर्यमय सुविशाल मर्त्यधामको पुनः लैटकर अतुल ऐश्वर्यका अधीश्वर होकर, राजराजेश्वरकी सुधाधवलित आकाशभेदी सुरम्य हर्म्यावलीमें निवास करता हुआ, पार्यिव सुर्यवर्ष्यको प्राप्त होता है, अथवा अणिमादि अद्यसिद्धिरूप फलको विना प्राप्त किये सत्कुलमें जन्म लेकर, प्रदान्म्यासद्वारा पुन योगाभ्यास करते-करते, सौभाग्यसे जानांदय होनेपर परमशान्ति—मुक्ति प्राप्त करनेमें समर्थ होता है । अतएव यह जात हुआ कि वामदेवोपदिष्ट मार्गका अनुसरण करनेवाला जीव उत्थान-पतनके विवर्तनमें पड़कर अनेक जन्मोंके वारवार प्राप्त किये हुए ज्ञानके क्रमविकामसे अनेकों जन्मोंके अन्तमें परमपदलाभ करनेमें समर्थ होता है । परन्तु वालविरागी, ज्ञानरसिक शुकदेवके द्वारा उपदिष्ट

मार्गका अनुसरण करनवाला जीव केवल भक्तिसमे अपने दृढ़यको आसुतकर महावाक्यविचारद्वारा, साख्ययोग-ग्नांवदाग अथवा असम्प्रजात समाधिमे स्थित होकर क्षिप्र मनका आन्तकर पठरिपुओका दमन कर, इन्द्रियोके मार्गका अपर्गेव कर मिथ्या आडम्ब्रको त्यागकर, निर्लिंगचित्त शोभर, अपन हृदयकमलके रक्त स्तवकम—

गतिभंतो प्रभु साक्षी निवासः शरणं सुहृद् ।

—त्रितापदारी सनातनसत्त्वा जगज्ज्योतिकी दिव्य-युतिका निर्गत्वण कर, व्रक्षसायुज्यकारिणी, मोक्षद्वारके कपाटको अनावृत करनेवाली भक्तिदेवीके प्रसादसे देव-दुर्लभ मुक्तिलाभ करता है। अतएव शुकदेवमार्ग और वामदेवमार्ग, वेदानोंही मार्ग व्रक्षप्राप्तिकर और मङ्गलजनक हैं। उनमें विशेषता यही है कि शुकदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव आत्मकल्याणमें निरत होकर शीघ्र ही अर्हाष्टकाम करनेमें समर्थ होता है, और वामदेवमार्गका अनुसरण करनेवाला जीव एक जन्ममें समर्थ नहीं होता, कितन ही युग-युगान्तर धूमते-धूमते अनेकों जन्म योगान्यासमें व्यतीतकर अनेक जन्मजन्मान्तरके बारबार प्राप्त ज्ञानके विकाससे अर्हीष्टलाभ करनेमें समर्थ होता है। अतएव वालविरागी युक्तदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग ही सद्योमुक्तिप्रद है। तथा योगिराज वामदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्ग क्रममुक्तिप्रद है। तथापि दोनों ही मार्ग जीवके लिये कल्याणप्रद हैं। कथोकि—

शुको सुक्तो वामदेवोऽपि सुक्त-
स्ताम्यां विना सुक्तिभाजो न सन्ति ।
शुकमार्गं येऽनुसरन्ति धीराः
सद्यो सुक्तास्ते भवन्तीह लोके ॥
वामदेवं येऽनुसरन्ति नित्यं
मृत्वा जनित्वा च पुनः पुनस्तद् ।
ते वै लोके क्रममुक्ता भवन्ति
योगैः सादूख्यैः कर्मभिः सत्त्वयुक्तैः ॥

(वराहोपनिषद्)

ज्ञान-वैराग्य-रसिक वालविरागी शुकदेव गोस्वामी अथवा योगिराज वामदेव दोनों ही मुक्त पुरुष हैं। परन्तु इनमेंसे एकने तो शीघ्र ही मुक्तिलाभ किया है। और दूसरेने अनेकों जन्मोंके अन्तमें मुक्तिलाभ किया है। यही इन दोनोंमें अन्तर है। अतएव इन दोनों मार्गोंमें जो वालविरागी, वैराग्यरसिक शुकदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे, वे अनायास ही सद्योमुक्तिलाभ करेंगे और जो उसे छोड़कर आयाससाध्य योगिराज वामदेवके मार्गका अनुसरण करेंगे वे पुनः-पुनः जन्म-मृत्युके विवर्तनमें पड़कर युगयुगान्तरके आवागमनके पश्चात् अनेक जन्मोंके पुण्यप्रभावसे अनेक जन्म धारणकर अद्याङ्गयोगसाधनम् सांख्ययोगसाधन तथा कर्मनुष्ठान कर साधनसम्पत्तिसे युक्त होकर सत्त्वयुक्तिप्रद हो युद्ध सत्त्ववृद्धिद्वारा अनेकों ज्ञानान्वेषण, प्रमाण-पर्यवेक्षण, ध्यान-धारणादिके द्वारा आत्मज्ञान होनेपर जन्म-जन्मान्तरके सञ्चित ज्ञानके क्रमिक विकाससे क्रममुक्ति प्राप्त करेंगे।

गीताका योग

(लेखक—श्रीगीतानन्दजी शर्मा)

श्रीगीतामाहात्म्यमें कहा है—
सर्वोपनिषदो गावो
... ... दुर्घ गोतामृतं महत् ॥

अर्थात् ‘गीतामाहात्म्य’कारकी सम्मतिमें गीता केवल उपनिषद् ई नहीं, किन्तु उपनिषदोंकी भी उपनिषद् है। गीतार्थ उपनिषद् हेतेमें यह प्रमाण अवश्य ही चाहिए है। अन्तर्भूत प्रमाण गीतार्थे प्रत्येक अध्यायके अन्तमें कहा जानेवाला रास्त है—अर्थात् ‘इति श्रीमद्-गीतार्थानु उपनिषत्यु’ इत्यादि। इसपर यदि यह शहा हो कि यह वाक्य गीताकामका ही है—इस रास्ते कार्दम प्रमाण नहीं, दो गजना है कि चित्ती जीवका

हो, तो इसका अति सरल और सोपपत्तिक निराकरण यह है कि गीताके उपसहारमें सजयने ‘इत्यह वासुदेवस्य’ (१८।७४) इत्यादिसे ‘तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य ।’ (१८।७७) तक जो चार श्लोक कहे हैं उन्हेंके आधारपर ‘इति श्रीमद्-भगवद्वायित्यसु उपनिषत्यु’ इत्यादि वाक्यकी रचना हुई है, यह वात उन श्लोकोंके साथ इस वाक्यको मिलाकर देखनेसे स्पष्ट ही प्रतीत हो जायगी। वे चार श्लोक ये हैं—

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महार्भनः ।
सर्वार्द्धमिममभ्युर्मद्भुत रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुर्हमहं परम् ।
 योगं^३ योगेश्वराकृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥
 राजन् सस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममङ्गुतम् ।
 केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च^४ मुहुर्मुहुः ॥७६॥
 तच्च सस्मृत्य^५ संस्मृत्य रूपमत्यङ्गुतं हरेः ।
 विसयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥

१ इति	...	इत्यहमश्रौषम्
२ श्रीमत्	..	रूपमत्यङ्गुतम्
३ भगवत्	...	साक्षात् योगेश्वरात्
४ गीताम्	..	कथयतः
५ उपनिषद्	...	परम्
६ ऋषिविद्यायां	...	गुह्यम्
७ योगशास्त्रे	...	योगम्
८ श्री	...	महात्मनः
९ कृष्णार्जुन	...	केशवार्जुनयोः
१० सवादे	...	सवादम्
११ (अमुक) योगो नाम	...	हृष्यामि मुहुर्मुहुः
१२ (अमुक) अथायः	...	सस्मृत्य सस्मृत्य ।

इस अन्तःस्थ प्रमाणसे गीताका उपनिषद् होना निर्विवाद सिद्ध है। इसपर यह आपत्ति हो सकती है कि उपनिषद् होनेपर भी ऋषिगति न होनेसे आर्थ उपनिषद् नहीं है—भागवत उपनिषद् है। यह तो इष्टापत्ति ही है। इससे इसका उपनिषदोंकी भी उपनिषद् होना सिद्ध हुआ।

इससे यह भी फलित हुआ कि गीताके पदोका (विशेषतः पारिभाषिक पदोका) वही अर्थ प्राप्त है जो उपनिषद्के अनुसार सिद्ध हो।

गीताका प्रतिपाद्य विषय योग है। भगवान्का ही चर्चन है—

इम विवस्ते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

'यह योग हमने विवक्षानसे कहा था।'

सजर भी साक्षी है—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् ... योगम्'—'व्यासदेवकी कृपासे मैंने यह योग लुना।' इसलिये इस लेखमें उपनिषद्की दृष्टिसे 'योग' शब्दका ही विचार करें।

परमात्माने 'अत्रे' सुष्टिविषयक जो 'ईक्षण' किया उसका स्वत्पय यह या—'एकोऽहं वहु स्यां प्रजायेय।' अर्थात् मैं एक हूँ, वहुत होऊँ, शरीर धारण करूँ।

इस सङ्कल्पके 'वहु स्याम्' अगकी पूर्ति हुई, तब 'वहुत्व' की—'संख्या'की सृष्टि हुई—अनेक जीव उत्पन्न हुए, अथवा यों कहिये कि भगवान् एक थे, अब अनेक हुए। यह भगवान्का 'संख्या' के साथ योग हुआ। भगवान् अनेक है, अनेक होते हुए भी एक हैं। यह भगवान्का 'सांख्ययोग' है। भगवान्ने अर्जुनको पहले यही 'सांख्ये बुद्धि' दी। इसीका नामान्तर सात्त्विक 'कर्मचोदना' है। इस सात्त्विक ज्ञानकी दृष्टिसे नानात्व मिथ्या है। राजस ज्ञानकी दृष्टिसे वह सत्यवत् प्रतीत होता है। वस्तुतः, 'नाय हन्ति न हन्यते'—यही सिद्धान्त है।

परमात्माके सङ्कल्पके शेष अश 'प्रजायेय' की जब पूर्ति हुई तब आत्माका शरीरसे योग हुआ। और फिर—

तत्त्वध्वा तदेवानुप्राविशद् । सच्च स्यज्ञाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयन चानिलयनं च । विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च ।

'उसका सृजन कर उसमें परमात्माने प्रवेश किया। वह सत् भी हुआ और असत् भी हुआ, निरुक्त भी और अनिरुक्त भी, निलयन भी और अनिलयन भी, सत्य भी और असत्य भी।'

अर्थात् क्रमसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय शरीरपञ्चकमें प्रवेश करके भी—उपनिषद्की भाषामें 'शारीर आत्मा' होकर भी—वह अन्नमयातीत, प्राणमयातीत, मनोमयातीत, विज्ञानमयातीत और आनन्दमयातीत बने रहे। ब्रह्मसूत्रके शारीरक-भाष्यमें इसकी विवेष मीमांसा है।

यह परमात्माका शरीरके साथ योग है। गीतामें इसे केवल 'योग' कहा है। यथा—

बुद्धिर्ज्ञानमसमोहः क्षमा सत्य दम् शमः ।

सुखं दुःखं भवोऽभावो भयं चाभयमेव च ॥४॥

अहिंसा समता तुष्टिस्तो दानं यशोऽयशः ।

भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विद्याः ॥५॥

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारे मनवस्तथा ।

मद्भावा मानसा जाता येषां ओक इमाः प्रजा ॥६॥

दशमाध्यायके इन श्लोकोंमें प्रजाकी प्रवृत्ति और सृष्टि कथन करके इसे ही इसके बाटके श्लोकमें 'योग' कहा है—

पूर्तां विभूति योगं च भम यो वेत्ति तत्त्वतः ।

सोऽविकर्षेन योगेन सुज्यते नायं संदायः ॥७॥

नवमाव्यायके—

मत्स्यानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।
न च मत्स्यानि भूतानि पश्य मै योगमैश्वरम् ॥५॥

—इस श्लोकमें, तथा उग्रमाव्यायके—

विश्वरेणात्मनो योगं विशूर्ति च जनार्दन ।
मूर्यः कथय तुष्टिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥

—इस श्लोकमें ‘योग’ शब्द उसी औपनिषदार्थमें प्रयुक्त हुआ है ।

तात्पर्य कि उपनिषद् और गीतामें, एक समय-वच्छेदेन एक ओर अनेक, सशरीर और अशरीर होना ही ‘योग’ शब्दका मुख्यार्थ है ।

विवक्षके अनुसार तथा प्रसङ्गानुरोधसे गीताके विशेष स्थलोंमें ‘योग’ शब्दका यही अर्थ अभिप्रेत है । भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे कथित होनेपर भी गीतोक्त योगका लक्षण मूलतः एक ही है ।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्धप्रसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२ । ४८)

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।
तस्माद्योगात् युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥
(२ । ५०)

तं विद्याद् द्वुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विणचेतसा ॥

(६ । २३)

—इत्यादि श्लोकोंमें भी ‘योग’ शब्दका प्रत्यक्ष या अ-प्रत्यक्ष भावसे वही एक ही अर्थ है ।

भूतभावोऽन्नवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

(८ । ३)

यह सृष्टि, स्थिति, सहार करना भगवान्का ‘कर्म’ है । यह उनका कर्मयोग है । इसको गीतामें ‘आत्मयोग’ भी कहा है—

मया प्रसन्नेन तवाञ्जुनेदं
रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।

(११ । ४७)

‘मैंने प्रसन्न होकर आत्मयोगसे अपना परमरूप तुम्हे दिखाया ।’

आत्मरूपसे अविकृत रहते हुए भी अनात्मजगत्से अभिन्न रहना ही भगवान्का योग है । गीतोपनिषद्के ‘योगेश्वर’ और ‘योगमाता’ शब्द भी वेदान्तसूत्रके ईश्वर और मायाकी अपेक्षा बहुत अधिक अन्वर्थक हैं । उनके गूढार्थकी सूक्ष्म मीमांसा करनेसे ‘योग’ शब्दका अर्थ और भी खुल जाता है ।

तब योग क्या है ? ब्रह्मका मायाके साथ युगपत् सयोगवियोग ही योग है ।

कल्याण

योगका यथार्थ अर्थ समझना चाहिये । वह है ‘श्रीभगवान्के साथ युक्त हो जाना’, ‘भगवान्को यथार्थमें पा लेना’, या ‘भगवत्प्रेमरूप अथवा भगवदरूप हो जाना ।’ यही जीवका परम ध्येय है । जबतक जीव इस स्थितिमें नहीं पहुँच जायगा, तबतक न उसको तृप्ति होगी, न ज्ञानित मिलेगी, न भटकना बन्द होगा और न किसी पूर्ण, नित्य, सनातन, आनन्दरूप तत्त्वके सयोगकी अतृप्त और प्रन्दुष्म आकालाकी ही पूर्ति होगी । उस पूर्णके सयोगका नाम ही योग है । अथवा उसको पानेके लिये जो जीवका विविधरूप सावधान प्रयत्न है उसका नाम भी योग है । यह पूर्णकी प्राप्तिका प्रयत्न जिस क्रियाके साथ जुड़ता है, वही योग वन जाता है । कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, सार्वयोग, गजयोग, मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग आदि

इसीके नाम हैं, परन्तु यह याद रखें कि जो कर्म, ज्ञान, भक्ति, ध्यान, सार्वय, मन्त्र, लय या हठकी क्रिया भगवन्मुखी नहीं है, वह योग नहीं है, कुयोग है, और उससे प्रायः पतन ही होता है ।

अतएव इन सब योगोंमेंसे, जिसमें तुम्हारी रुचि हो, उसीको भगवत्प्राप्तिका मार्ग मानकर ग्रहण करना चाहिये । ये सब योग भिन्न-भिन्न भी हैं और इनका परस्पर मेल भी है । यों तो किसी भी योगमें ऐसी वात नहीं है कि वह दूसरेकी विलक्ष्य अपेक्षा न रखता हो, परन्तु प्रधानता-गौणताका अन्तर तो है ही । कुछ योगोंका सुन्दर समन्वय भी है । गीतामें ऐसा ही समन्वय प्राप्त होता है । केवल शरीर, केवल चाणी, केवल मन, केवल बुद्धि आदिसे जैसे कोई काम ठीक नहीं होता, इसी प्रकार योगोंमें भी समझना चाहिये ।

हैं, इतना जरूर ध्यान रहे कि जिन योगोंमें मनका सयोग होनेपर भी (जैसे नेति, धौति आदि घट्कर्म, वन्ध, सुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी-जागरण आदि) आरीरिक क्रियाओंकी प्रधानता है, अथवा मन्त्र-तन्त्रादिसे सम्बन्धित देवविशेषकी पूजा-पद्धति मुख्य है, उनमें अज्ञान, अविधि, अव्यवस्था, अनियमितता होनेसे लाभ तो होता ही नहीं, उलटी हानि होती है। भौति-भौतिके कष्टसाध्य या असाध्य आरीरिक और मानसिक रोग हो जाते हैं। अतएव ऐसे योगोंकी अपेक्षा भक्तियोग, निष्काम कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि उत्तम है, वे अपेक्षाकृत बहुत ही निरापद हैं। इनमें भी अनुभवशृङ्खलोंकी देखा-देखी अविधि करनेसे हानि हो सकती है, अतएव ज्ञान, जीलबान्, आख्यन एवं अनुभवी गुरुकी—पथप्रदर्शककी सभी योगोंमें अत्यन्त आवश्यकता है।

परन्तु अथात्ममार्गका पथप्रदर्शक या गुरु सहज ही नहीं मिलता। भगवत्कृपासे ही अनेक जन्मार्जित पुण्य-पुञ्जके कारण अनुभवी और द्वयालु सद्गुरु मिलते हैं। हर किसीको गुरु बना लेनेमें तो बहुत ही खतरा है। आजकल देशमें गुरु बननेवालोंकी भरमार है। यथार्थ वक्तुस्थिति यह है कि आज अनेकों लुच्चे-लफ्फे, काम और लोभके गुलाम साधु, योगी, ज्ञानी और महात्मा बने फिरते हैं। इन्हेंके कारण सच्चे साधुओंकी भी अनजान लोगोंमें कड़ नहीं रही। दूधका जला छाढ़को भी फूँक-फूँक कर पीता है, यह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ हो रही है। ऐसा होना अस्वाभाविक भी नहीं है, क्योंकि आज साधुवेदमें फिरनेवाले लोगोंमें व्यसनी, कामी, क्रोधी, लम्पट, दुराचारी मनुष्य या पेशेवर, धन कमानेवाले लोग बहुत हो गये हैं। लोगोंको ठगनेके लिये बड़ी-बड़ी वाँत बनानेवाले और चालाकीसे भोले-भाले लोगोंको शुद्धी सिद्धिका चमत्कार दिखानेवाले, अथवा कहीं एकाध मानूली सिद्धिके द्वाग लोगोंमें अपनेको परमसिद्ध साक्षित करनेवाले लोगोंकी आज कमी नहीं है। आज हठयोगमें अपनेको सिद्ध माननेवाले लोग रोगी, ज्ञानयोगमें सिद्ध माननेवाले शरीरकी नाडियोंसे और आभ्यन्तरिक अवयवोंसे अनमित्र, भक्तियोगमें अपनेको परमभन्न बतानेवाले विषयी और मन्त्रयोगमें अपनेको भिन्द प्रसिद्ध करनेवाले सर्वथा असफल पाये जाते हैं और इनपर भी अपनी मान-प्रतिष्ठा जमाने या कायम रखनेके

लिये सिद्धाईका दावा करते देखे जाते हैं। ऐसे लोगोंसे साधकको सदा सावधान ही रहना चाहिये।

इसका यह तात्पर्य नहीं कि आज सच्चे सिद्धिप्राप्त पुरुष हैं ही नहीं। हैं, अवश्य हैं, परन्तु लोगोंके सामने अपनेको सिद्ध प्रसिद्ध करके जान-वूझकर आसक्ति और स्वार्थवर्ग कामिनी-काङ्क्षन या मानस्मान चाहनेवाले लोगोंमें तो कदाचित् ही कोई सच्चे सिद्ध होगे। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंसे मेरा मतलब पातङलोक्त अष्टसिद्धियों या अन्यान्य प्रकारकी सिद्धियोंको प्राप्त पुरुषोंसे नहीं है। किसी भी मार्गसे शेष सीमातक पहुँचकर जो भगवान्को प्राप्त कर चुके हैं, उन्हीं महापुरुषोंसे मेरा अभिप्राय है। ऐसे महापुरुष यौगिक सिद्धियोंकी और चमत्कारोंकी कोई परवा नहीं करते। वास्तवमें सिद्धियों परमार्थके मार्गमें वाधक ही होती है। जिसकी चित्तवृत्ति भगवान्की ओर नहीं लगी है और जिसमें थोड़ी भी विषयासक्ति वच्ची है, ऐसा पुरुष यहि किसी साधनसे सिद्धियों पा जायगा तो इससे उसका अभिमान बढ़ जायगा, विषयोंकी प्राप्ति और उनके भोगसे सिद्धियोंका प्रयोग होगा, जिनसे भोगोंमें वाधा पहुँचनेकी आशङ्का या समझावना होगी, चाहे वह भ्रमवश ही हो, उनको वैरी समझा जायगा, और उनके विनाशमें सिद्धियोंका उपयोग किया जायगा। परिणाममें वह साधक गवण और हिरण्यकशिष्य आदिकी भौति असुर, और धीरे-धीरे गक्षस बन जायगा। अवश्य ही सिद्धियोंको पानेपर भी उनमें न रमकर, उन्हे तुच्छ मानकर लौंघ जानेवाला पुरुष भगवान्-को पा सकता है। परन्तु ऐसा होना है बड़ा ही कठिन। अतएव परमार्थके साधकगण ब्रह्मलोकतकका भोग और ब्रह्मातककी सामर्थ्य प्रदान करनेवाली सिद्धियोंसे भी अलग ही रहना चाहते हैं।

सच्ची सिद्धि तो अन्त-करणकी वह शुद्ध स्थिति है जिसमें भगवान्के सिवा दूसरेको स्थान ही नहीं रह जाता। ऐसी शुद्धान्त करणरूप सिद्धिको प्राप्त करके और फिर इसके द्वारा सावन करके जो भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही परमसिद्ध हैं। यह परमसिद्ध प्राप्त होती है अन्त-करणकी सम्यक् प्रकारसे शुद्धि होनेपर ही, फिर चाहे वह शुद्धि किसी भी योगरूप उपायसे हुई हो। ऐसे परमसिद्ध महात्मा भी मिल सकते हैं, परन्तु उन्हे प्राप्त करनेके लिये हृदयमें लगान होनी चाहिये। सच्चे सत्तम्भके लिये जब हृदयमें छटपटाहट पैदा हो जायगी, जब सत्तमिलन-के लिये प्राण चाहुल हो उठेगे, जब योगजिज्ञासान्पी

अभि प्रवल और प्रचण्ड होकर हृदयमें छिपे हुए चोरोंको भस्तीभूत कर देगी और अपने प्रखर प्रकाशसे विषया-भिलापर्सी तमको नाश कर देगी, और सारे प्रपञ्चको जलाती हुई दौड़ेगी भगवान्की ओर, तब भगवान् स्वयं च्याकुल होकर उसे बुझानेके लिये सतरूपी मेघ वनकर अमृतवर्षा करेंगे ।

एक महानुभाव ढोगी नहीं हैं, उनके मनमें कामिनी-काञ्चन या मानका लोभ भी नहीं है, अच्छे गाल्हन भी हैं, परन्तु साधन करके परमतत्वको पहचाने और पाये हुए नहीं हैं । योगग्रन्थोंके पण्डित हैं, परन्तु साधक या सिद्ध योगी नहीं हैं । ऐसे पुरुषका सग करनेसे गाल्हजान तो हो सकता है । ग्रन्थीय विद्याप्राप्तिके लिये ऐसे सज्जनको अवश्य गुरु चनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है । क्योंकि ग्रन्थीय विद्या क्रियात्मिका विद्यामें वहुत सहायक होती है । परन्तु ऐसे गुरुसे पढ़कर साधना करना—क्रियात्मक योग साधना विपद्दसे शून्य नहीं है । इससे हानिकी बड़ी सम्भावना है । जब वैद्यक और इजिनियरी आदिमें भी केवल पुस्तकज्ञानसे काम नहीं चलता, अनुभवी गुरुकी आवश्यकता होती है, तब योग-सरीखा साधन केवल पुस्तकज्ञानके आधारपर करना तो वहुत ही भयकी बात है ।

अनुभवी गुरुसे जानकर भी यदि साधक उनकी बतायी

हुईं प्रत्येक बातको नहीं मानता, तो उसे भी सफलता नहीं हो सकती । बल्कि किसी-किसी प्रसगमें तो उल्टा नुकसान हो जाता है । अतएव यदि योगसाधना करनी हो तो पहले चित्तमें हड़ निश्चय करो, फिर गुरुको खोजो, और भगवत्कृपासे गुरु मिल जायें तब उनकी एक-एक छोटी-से-छोटी बातको भी महत्वपूर्ण और परमावश्यक समझकर श्रद्धापूर्वक उनका अनुसरण करो ।

एक बात और है, सभी साधनोंका लक्ष्य मोक्ष या भगवत्प्राप्ति है । सारे ही योगोंकी गति उस एक ही परम योगकी ओर है । फिर ऐसा योग क्यों न साधना चाहिये, जिसमें रुकने या गिरनेका डर न हो, मार्गमें कष्ट भी न हो, सरल, सहज हो और इसी जीवनमें लक्ष्यतक पहुँच जानेका निश्चय हो । ऐसा योग है शरणागति-योग । भगवान्का अनन्य आश्रय लेकर श्रद्धा-विश्वासपूर्वक भगवान्का सतत सरण करते हुए अपने जीवनके सभी कर्मोंके द्वारा उन्हींकी पूजा करना और जीवनको सम्पूर्णतया उन्हींपर छोड़कर निश्चिन्त हो जाना । यही शरणागति-योग है । और सभी योगोंमें विन्द्रिय हैं, परन्तु यह सर्वथा निर्विन्द्रिय है । अतएव इसीको परम साधन समझकर इसीमें लग जाओ ।

योगका अर्थ

(लेखक—डा० श्रीभगवानदामजी, एम० ए०, डी० लिट्)

‘कल्याण’ के सम्पादकजीकी इच्छा है कि ‘योग’ के विषयपर ‘योगाङ्क’ के लिये लेख लिखा जाय । लेखसूची भी मिली । उसे देखकर लिखनेकी इच्छाके स्थानपर पढ़नेकी ही इच्छा प्रवल हुई । इन विषयोंपर प्रामाणिक लेख पढ़नेको मिलें तो अहोभाग्य । जिसको किसी विषयका साक्षात् अनुभव हो उसीको तो उस विषयपर लिखनेका अधिकार हो सकता है । अपने पास ‘योग’ का अनुभव नहीं । क्या लिखूँ ? कर्दू पत्र आये । इसलिये विवश होकर ‘परोक्ष’ और ‘अपरोक्ष’ अनुभवको आड़में झरण लेकर, पढ़े और सुनेके भरोसे, कुछ लिखता हूँ, यद्यपि ‘परोक्ष’ भी और ‘अनुभव’ भी यह व्याहत-सी ही बात है ।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि भ॒तोऽधिकः ।

क्षमिभ्यश्चाधिको योगी तम्मायोगी ऋवार्जुन ॥

(गीता ६। ४६)

योगकी महिमा ऐसी है । मेरे-ऐसा नितान्त अनजान उसपर क्या लिये ?

अमरकोषमें ‘योगः सन्नहनोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु’ कहा है । पुराणकालमें, जब देशकी बोली सस्तृत थी, तब युद्धके लिये योधाओंको ‘सन्नहन’, सन्नद्ध हो जाने, कवच पहनने और हथियार उठानेके लिये, ‘योगो योगः’ ऐसी पुकार होती थी । ‘उपाय’ को भी ‘योग’ कहते हैं । वैद्यकमें नुसखेको भी ‘योग’ कहते हैं—‘इत्येको योगः’, ‘इति द्वितीयो योगः’, अर्थात् रोगको दूर करनेका उपाय । ‘ध्यान’ के विशेष प्रकारका नाम ‘योग’ प्रसिद्ध ही है । ‘सङ्गतिं’, सङ्गम, दो वस्तुओंका मिलना भी ‘योग’ है । तथा ‘युक्ति’ भी । ‘युक्ति’ का अर्थ उपाय भी है, और विशेष तर्क भी, जो खण्डन-मण्डनका उपाय ही है । दूसरे कोषकारोंने ‘योग’ शब्दके पैतीस-चालीसतक अर्थ

गिनाये हैं। इन सब रुद्ध अर्थोंका मूल वौगिक अर्थ ही है, अर्थात् दो पदार्थोंका मिलना, संयोग। यथा, योधाका कवच और हथियारसे संयोग, किसी इष्ट फलके साधनेके लिये विविध कारणों और करणोंका संयोग, औषधों-का संयोग, चित्तका ध्येय विषयसे संयोग, अन्ततः जीवात्मा-परमात्माका अभेदानुभवात्मक संयोग।

इस देशमें आपामरप्रसिद्ध रुद्ध अर्थ 'योग' का 'विशेष सिद्धि साधनेवाली चर्या' हो रहा है। शरीरकी और चित्तकी वह क्रिया, वह अभ्यास, जिससे कोई विशेष सिद्धि मिल जाय, 'योग' है। तथा योगी-योगिनी वह पुरुष या न्यौंजों जो कोई अलौकिक कर्म कर सके, जो साधारण मनुष्यकी शक्तिके बाहर है।

देशके इस भोले विश्वासके भरोसे, कितने ही ठग, केवल जटा बढ़ाकर, 'भूमूत' (विभूति) रमाकर, आसन नमाकर, नशेकी चीजोंसे (गॉजा, भौंग, चण्डू, शराब आदिसे) और चढ़ाकर, तामस तपस्याके कुछ प्रकार साधकर, भीड़को दिखाकर, सीधी-सादी पर स्वार्थ—'कृपणा फलहेतव.', दुनियावी छोटा-मोटा सुख उन जटाधारियों या दिग्म्बरोंसे चाहनेवाली, जनताको धोखा देते फिरते हैं। ऐसोंसे आप खवरठार रहना और दूसरोंको करना, वह इस समयमें आवश्यक पहला कर्तव्य है। दूसरा कर्तव्य है योगके सज्जे अर्थका पता लगाना।

गुरवो (योगिनो) ब्रह्मस्तात् शिष्यवित्तापहारकाः ।
विरला गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः ॥
सूफियोंने भी कहा है—

ऐ वसा इव्लीस् आदम-रुद्य अस्तु ।
पस् वहर् दस्ते न वायद् दाद दस्त ॥

'आदमीकी शक्ति बनाये वहुतेरे शैतान दुनियामें फिरते रहते हैं, इसलिये जल्दीसे किसी आदमीको योगी और गुरु मानकर उसके हाथमें अपना हाथ रख देना नहीं चाहिये।' योगकी चर्चा भारतवर्षकी हवामें भरी है—हिन्दुओंमें 'योग' के नामसे, मुसलमानोंमें 'सुन्दूक' के नामसे। पुराण-इतिहास-में, योगवासिष्ठमें, साम्राज्याधिक ग्रन्थोंमें, स्मृतियोंमें, दार्शनिक ग्रन्थोंमें, हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसहिता, गोरक्ष-सहिता आदि सैकड़ों निवन्धोंमें, हठयोग, राजयोग, लय-योग आदि तरर-तरहके योगोंकी बातें लिखी हैं। पर 'श्रुतिप्रत्यक्षदेतव', कही-सुनी बातजों प्रत्यक्ष कर दिखाने-

वाले ग्रायः मिलते नहीं। मिलें भी कैसे? जैसे खोजनेवाले वैसे पाये जानेवाले।

साँचे मनके मीता प्रभुजी, साँचे मनके मीता।

सच्चे मनमें कोई खोजता नहीं, सासारिक लालचोंसे ही खोजता है। इसलिये ढोंगी, दाम्भिको, ठगोंको ही पाता है। योगसूत्रभाष्यमें कहा है—'स्वाध्यायादिष्टेवता-सम्प्रयोग।' जिसका मन सचमुच्च स्वाध्यायमें, मोक्षशालों-के अध्ययनमें, प्रणव आदि पवित्र मन्त्रोंके जपमें, सच्ची सुमुक्षासे, लगा हो, उसके पास देवता, ऋषि, सिद्ध पुरुष, आप ही आकर उसकी सहायता जाग्रदवस्था अथवा स्वप्नावस्थामें करते हैं। विना सात्त्विक तपस्याके, विना यमनियमादिका अग्रतः भी सेवन किये, 'योग' कैसे मिले? कठोपनिषद्से कहा है कि कठिन परीक्षाके बाद यमराजने नचिकेता बालकको 'योगविधिं च कुर्त्स्नम्' बताया। तथा मुण्डकमें कहा है—

तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां चदेत् शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् । चैतदचीर्णव्रतोऽधीते । .

जिन्होंने 'शिरोव्रत' नामक योग और तपस्याके प्रकार-का चरण नहीं किया वे ब्रह्मज्ञानके अधिकारी नहीं। देवी-भागवतके एकादश स्कन्धमें 'शिरोव्रत' के प्रकारका संकेत किया है। सुस 'कुण्डलिनी' शक्तिके जागरण, उत्थापन-सञ्चालन, विरःस्थित ब्रह्मरन्प्रपर्यन्त उन्नयन आदिकी बात 'शिरोव्रत' के सम्बन्धमें कही है। पर इस सबका ठीक अर्थ क्या है, 'कुण्डलिनी' क्या है, उसका उत्थापन, संनयन कैसा होता है, यह सब केवल पोथीमें पढ़ लेने, या जवानी कह-तुन लेनेमें ही नहीं समझमें आता। यह प्रक्रियाके, अभ्यासके, और सद्गुरुकी देख-रेखमें ही प्रयोगके, अधीन है। वायुयानका वर्णन अच्छी वैज्ञानिक पुस्तकमें भी पढ़ लेनेसे, वायुयानको बनाने और उड़ाने-चलानेकी शक्ति नहीं हो जाती। विशेषज्ञ प्रयोक्ताके पास वहुत परिश्रम और अभ्याससे ही हो सकती है।

भगवद्वीताके सात सौ श्लोकोंमें, 'योग', 'योगी', 'युक्तः', 'योगान्दृ.., युज्ज्ञन्, युज्ञीत, योगयत्रा', 'योगमेवया, सांख्य-योगौ इत्यादि 'युज्' धातुसे बने शब्द और उनके साथ सम्बन्ध पद एक भी अठारह बार आये हैं। गीताकी शब्द-रुक्मणी देखनेसे यह जान पड़ता है। इनके सिवा, प्रति अध्यायके चमत्तिपर जे उनका नाम दिया है उसको भी गिनें तो अठारह और होते हैं। 'आत्मा', 'अद्वा', 'त्रुद्धि',

‘योग’—ये ही चार शब्द और इनके प्रकार-विकार सबसे अधिक बार गीतामें कहे गये हैं। स्वयं श्रीकृष्ण भगवान् ने ‘योग’ की परिभाषा क्या की है?

समत्वं योग उच्यते (२।४८)

योगः कर्मसु कौशलम् (२।५०)

निःस्पृहः युक्त उच्यते

अर्थात्—

योगो निःस्पृहता स्मृता (६।१२)

दुःखसयोगविद्योरं योगसंज्ञितम् (६।२३)

आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वं पश्यति योऽर्जुन ।

सुख वा यदि वा दुःख स योगी परमो मतः ॥ (६।३२)

अर्थात्—

(आत्मौपम्येन सर्वत्र योगस्तु समदर्शनम् ।)

अद्वावान् भजते यो मा स मे युक्ततमो मतः । (६।४७)

मथ्यावैश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।

अद्वया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ (१२।२)

मन्मना भव मन्मन्तो मद्याजो मां नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (९।३४)

सर्वगुटातमं भूयः शृणु मे परमं चर्च ।

मन्मना भव मन्मन्तो मद्याजो मा नमस्कुरु ।

मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ (१८।६४-६५)

अर्थात्—

(आत्मश्रद्धात्मभक्तिश्चाप्यात्मयज्ञनमस्किये ।

आत्मन्येवापि मनसः सर्वथा विनिवेशनम् ॥

अयं गुद्धतमः श्रेष्ठ परो योगतमः स्मृतः ।)

सारांश, श्रीकृष्णजीका मत यही है कि जीव-कांपगमात्माके साथ अपना अभेद सर्वदा सर्वथा अनुभव करते रहना, और इसके कारण सब जीवोंके साथ ‘आत्म-वत् भूय मृतेषु’ व्यवहार करना—यही परमयोग, जीवात्मा-परमात्माका अभेदात्मक सयोग, और भेदभावजनित दुखोंका वियोग है। यहों ‘योग’ शब्द योगसे साधनीय अवस्थाके अर्थमें कहा गया है। योग तो साधन है। जीवात्मा-परमात्माका अभेद, कैवल्य, यह साध्य है।

योगसूत्र, योगभाष्यके सिद्धान्त सब इस निष्कर्षके अनुग्रह ही जान पड़ते हैं।

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’ ‘तदा द्वष्टु स्वरूपेऽवस्थानम्।’

चित्तकी वृत्तियोंका, भेदानुभवात्मक स्वच्छन्द प्रवृत्तियोंका, निरोध करना—यह योग है। यदि सब वृत्तियोंका निरोध हो जाय तो द्रष्टा, पुरुष, जीवात्मा, अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है, ‘अहमेव केवलः’ ‘अहमेव न मत्तोऽन्यत्’ (भागवत ११।१३।२४), इस ‘कैवल्य’ का अनुभव करता है। योग-सूत्र-भाष्यमें जीवात्मा-परमात्माके अभेदकी चर्चा नहीं की है, सारख्यानुकूल ‘पुरुषवहुत्व’ माना है, और ‘पुरुषविग्रेष ईश्वरः’, ‘पूर्वेषामपि गुरुः, कालेनानवच्छेदात्’, ‘क्लेशादिसे अपरामृष्ट’, ‘निरातिशयसर्वज्ञवीज’ आदि कहा और माना है। वेदान्तकी दृष्टिसे यह ठीक नहीं पड़ता। इसीलिये ब्रह्मसूत्रमें ‘योगः प्रत्यक्षः’ कहा है। पर योगशास्त्रकी प्रारम्भिक दृष्टिसे ही पुरुषविग्रेष देख पड़ता है। अन्तिम दृष्टिका वेदान्तदृष्टिमें ही पर्यवसान होता है। क्वाँकि पुरुषविग्रेष भी, और कालाद्यतीत, क्लेशाद्यपरामृष्ट भी, यह वात बनती नहीं। ‘विग्रेष’ तो देश-कालादिसे अवच्छिन्न होता है। योगाभ्यास, मनन, विचारणका, भेद-दृष्टि, विशेष-दृष्टिसे, जीव आरम्भ करता है। अन्तमें अभेदका, कैवल्यका, दर्शन करता है। तब अपने असली स्वरूपको, परमात्मासे अपनी एकताको, पहचानता है, और उसमें स्थित हो जाता है—‘तदा द्रष्टु स्वरूपे, स्वे महिम्नि, भूम्नि, अन्यनिपेवके, भेदभावप्रतिपेधके, स्वभावे, स्वविभवे, विभुत्वे, व्यापकत्वे, स्थिति.,’ ‘अहमेव सर्वः’।

एकका निरोध, दूसरेका अनुरोध। वृत्तियोंका, दृश्योंका निरोध, द्रष्टाका अनुरोध। एक ओर वैराग्य, दूसरी ओर अभ्यास। एक ओरसे हठना, दूसरी ओर सटना। प्रकृतिकी विकृतियोंको, विकारोंका छोड़ना, आत्माको पकड़ना। ‘एतत् न इति’ के साथ ‘अहम् इति’ कहना। यदि ऐसा न होता तो केवल निपेदात्मक निरोध अकिञ्चित्कर होता, सुपुसि—निद्रामात्र होता।

योगसूत्रभाष्यके प्रक्रियांशको छोड़कर दर्शनात्ममें जो अन्य जड़ाएं उठती हैं उनका यों ही समाधान करना उचित जान पड़ता है। यथा ‘वृत्तयः पञ्चतत्त्वः’, पॉच प्रकारकी वृत्तियोंमें ‘विपर्यय’ को गिनाया है और फिर ‘पञ्चक्लेशः’ में अविद्याको प्रथम कहा है, और उसका लक्षण ‘विद्याविपरीत ज्ञानमविद्या’ कहा है। अर्थात् जो ‘विपर्यय’ वही ‘अविद्या’। और अविद्या ही मुख्य क्लेश है, अन्य चार क्लेशोंकी जड़मूल है। पर ‘वृत्तयः पञ्चतत्त्वः | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

क्षिद्याद्विष्टः' यह भी सूत्रहीमे कहा है। तो 'विपर्यय'-रूपिणी, 'अविद्या'-रूपिणी, 'मिथ्याज्ञान'-रूपिणी, 'मुख्य क्लेश'-रूपिणी वृत्ति 'अक्षिद्या' भी हो सकती है—यह वात जलदी समझमे नहीं आती। एव चित्तवृत्ति-का निरोध करनेवाला कौन है, स्वय चित्त ही या पुरुष ? परन्तु पुरुष तो अपरिणामिनी चितिगति है, निष्क्रिय है। और चित्त अपना निरोध क्यो करे, किस उद्देश्यसे करे ? यदि इष्टमायनवुद्धिपूर्वक उसमें अपना आत्मवात करनेकी अक्षित है (जो कि व्याहत वात है) तो फिर वही चैतन्यमय सर्वशक्तिमान् ठहरा, उससे भिन्न, 'पुरुष' क्यो माना जाय ? ऐसी ही सूक्ष्मेक्षिकाओंके कारण आरभिक दृष्टिको छोड़कर अन्तिम दृष्टिपर स्थिति करना पड़ता है। वही 'सम्प्रज्ञात-योग' का मुख्य लक्ष्य वा साध्य जीवन्मुक्तिदृष्टि जान पड़ती है। तथा 'असम्प्रज्ञातयोग' की पराकाष्ठा यह जान पड़ती है कि जब भेदभाव सर्वथा अस्त हो जाय और उसका सूक्षक स्थूल सूक्ष्म आदि गरीर कुछ भी न रहे, तब विदेह कैवल्य प्राप्त हो।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
इत्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विसुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥

जीवात्मा-परमात्माका योग, अभेदात्मक सयोग ही मुख्य योग। इस एकत्रके 'प्रत्यभिज्ञान', पहिचानको जगानेवाले उपाय—गौण योग। यो तो, 'योग समाधि, स च सार्वमौमश्रित्स्य धर्मः' (योगभाष्य)। चित्तकी सभी पॉच्चो क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र, समाहित भूमियों, अवस्थाओं, कमवेग 'योग' होता है। तितलीके पीछे ऑख ढौड़ाता हुआ क्षितचित्त वचा, गुरुजीके आदर चा भयसे, वर्णमालाकी पौथीमें 'क', 'ख' पर जो एक-एक क्षणके लिये मनोयोग कर देता है, वह भी उस क्षणमें और उस क्षणभरके लिये योग ही है। एव लेलाके लिये मजनूकी, एव 'पाती लेके आये दैरे, ऊधो तुम भये वौरे, योग कहॉ राखै, यहॉ रोम-रोम स्याम है' यह ब्रजगोपिकाओंकी, साच्चिक विक्षिप्त अवस्था तो (जो द्वैतभावात्मक भर्त्तकी दृष्टिसे 'एकाग्रता' और 'समाधि' की भूमियोंसे भी लॉची है) योगसे अधिकांश भर्गी है। इसीसे तो 'इसके मजाजी' को, मानवस्नेह—प्रेम—अनुरागको, 'इसके दर्कीकी' का, 'वासुदेव सर्वमिति', 'सर्वमात्मैवाभूत्', विश्वभक्तिका, दर्वाजा कहा है। एव पश्चिम देशके वशस्ती विग्नानाचार्योंने वडी-वडी गवेषणासे वडे-वडे आविष्कार

किये हैं, वडी-वडी वैज्ञानिक सिद्धियों साधी हैं, यह सब चित्तकी चौथी भूमि, वडी एकाग्रताका फल है। वॉल्क यह कहना भी अनुचित न होगा कि कुछ अगतक पॉच्चों भूमि 'समाधि' में पहुँचनेसे, 'स्वरूपगूण्य इव' 'तन्मय इव', 'अर्यमात्रनिर्भास इव' होनेसे, मिली है।

योग-सूत्र-भाष्य प्रभृति ग्रन्थोंसे कही हुई सिद्धियों इन वैज्ञानिक सिद्धियोंसे बहुत आगे बढ़कर है। इनकी भी चर्चा एक सूत्रमें की है। 'जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः'। वैज्ञानिक सिद्धियोंको यदि ओषधिजा और मन्त्रजा और तपोजा कहें तो अनुचित न होगा। हॉ, 'ओषधि' 'मन्त्र' और 'तपः' गव्दोका अर्थ थोड़ा सकोच छोड़कर विस्तारसे करना होगा। योगोक्त सम्प्रज्ञात समाधिजा सिद्धियों कठिन तपस्या और अभ्याससे मिलती है—ऐसी पौराणिक प्रथा है, और सप्त ही है कि सहजमें नहीं मिल सकती।

समाधावुपसर्गाः, व्युत्थाने सिद्धयः ।

—कहकर ऐसी सिद्धियोंका अपवाद-सा भी योगसूत्रमें किया है। तथा भागवतके एकादश स्कन्धके १४, १५, २८ आदि अव्यायोंमें भी, स्वय श्रीकृष्णजीके मुखसे, यथा—

न पारमेष्ट्यं न महेन्द्रधिष्ठयं

न सार्वभौम न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मध्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम् ॥

नहि तत्कुशलाद्यत्यं तदायासो ह्यार्थकः ।

अन्तवत्त्वाच्छरोरस्य फलस्येव वनस्पतेः ॥

इत्यादि ।

साथ ही इसके यह भी कहा है—

जितेन्द्रियस्यायुक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः ।

मयि धारयतश्वेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः ।

उपासकस्य मामेव योगधारणया मुनेः ।

मद्वारणा धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा ॥

मया सम्पद्यमानस्य काळक्षपणहेतवः ।

जन्मौषधितपोमन्त्रैर्योवत्तीरिह सिद्धयः ।

योगेनाभ्रोति ता सर्वा नान्यैर्योगमति वज्रेत् ॥

सर्वासामपि सिद्धाना हेतु षतिरहं प्रभु ।

अहमात्मान्तरो वात्योऽनादृत सर्वैर्हित्याम् ॥

अर्थात् जो परमात्माकी उपासनामें लीन है,

सर्वभूतहिते रत है, सर्वमय हो रहा है, उसको विशेष स्वार्थवृद्धिछा किसी प्रकारकी सिद्धियोंकी नहीं हो सकती। हॉ, जीवन्मुक्तावस्थामें, शरीरधारणावस्थामें, कालक्षेपके लिये, स्थूलेन्द्रियोंके प्रयोग और मात्रास्पर्श और तत्त्वद्विषय-सम्पर्क और तज्जनित सुख-दुःख कम हो जानेपर, दिव्य अनुभवार्थ, तथा अधिक लोकोपकारशक्त्यर्थ, अन्तरात्माकी प्रणासे आपसे आप सिद्धियों उपराख्यत हो जाती है।

निर्कर्प यह कि योगसाधनद्वारा, स्वार्थवृद्धिसे, सिद्धियोंकी आकाशा-अभिलापा न करे, नहीं तो दुर्गति होगी, जैसी दानबो, दैत्यो, राक्षसोंकी, कठिन-कठिन तपस्यासे, भारी-भारी सिद्धियों और शक्तियों प्राप्त करके हुई, और जैसी प्रत्यक्ष, हमलोगोंकी अँखोंके सामने, पाश्चात्य विजानकी यन्त्रात्मक सिद्धियोंसे पाश्चात्य तथा पौरस्त्य ममस्त मानवजगतकी हो रही है।

वेदान्त और योग

(लेखक—डॉ० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार)

हिन्दुस्तानका जीवन और तत्त्वज्ञान सदा एक साथ रहा है। तत्त्वज्ञानका अर्थ हिन्दुस्तानमें केवल 'पदार्थोंको विचाररद्धिसे देखना' ही नहीं है। तत्त्वज्ञानका वास्तविक अर्थ तो आत्मप्रकाश है। इसलिये हिन्दुस्तानके तत्त्ववेत्ता केवल सिद्धान्तका प्रतिपादन कर चुप नहीं रहते, किन्तु साथ ही ऐसी साधना भी बतलाते हैं जिससे आत्मवोधके जो अनेक स्तर हैं वे खुल जायें और अन्तमें मत्यका साक्षात्कार हो। वेदान्तमें इस विषयकी समीक्षा विचाररद्धित तथा अन्तर्दृष्टि दोनोंसे होती है। इसलिये यह एक 'दर्शन' भी है और साथ ही आत्मस्फूर्ति भी।

इसकी विचाररद्धिमें सविशेष ब्रह्म और निर्विशेष ब्रह्म दोनों एक चीज नहीं है, ब्रह्म एक ही है और वह निर्विशेष है, उसपर मायाका जो विश्वप्रपञ्च दीखता है वह केवल भ्रम है। अद्वैत वेदान्तका यही परम सिद्धान्त है और इस सिद्धान्तको माननेवाला कोई भी साधक तत्त्वतक सन्तुष्ट नहीं हो सकता जबतक उसे 'तत्त्वमसि' महावाक्यका साक्षात् अनुभव न हो। इस सत्यके अनुभव करनेका सर्वोत्तम मार्ग यही है कि बुद्धि इतनी निर्मल और ज्ञान-प्रवण हो जाय कि वह सदसत् या नित्यानित्यके भेदको अनुभव कर सके। वेदान्तकी साधना मुख्यतया ज्ञान-साधना है, जिसके अभ्याससे भीरे-भीरे वह चोध होता है

एकमात्र सात्त्विक भावसे 'आत्मौपम्येन सर्वत्र' सर्व-दर्शी हो, 'मन्मना' हो, तपस्या, सद्व्यवहार, त्याग, धर्म-का आचरण करे, जबतक शरीर रहे तबतक। यदि इस वीचमें, उसकी चित्तशुद्धिके कारण, अन्तरात्मा-परमात्मा-को ही मज्जा हो कि उसके शरीरसे कुछ विशेष लोकसेवा ली जाय, तो वही इस शरीरमें सिद्धियों स्वय उत्पन्न करेगा, जैसे विश्वासपात्र सज्जनको लोग अपनी निधि न्यास-रक्षाके लिये आप सौंपते हैं, वह मॉगने नहीं जाता, और उन सिद्धियों-शक्तियोंसे लोकसेवा अधिक कर सकेगा।

इस प्रकारसे यही समझमें आता है कि—

'समत्वं योग उच्यते', 'योगं कर्मसु कौशलम्'।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।

स सन्यासी च योगी च न निरप्तिर्न चाक्रियः॥

जिससे सब पदार्थ एक ही सनातन सत्त्वमें देख पड़ते हैं। वेदान्तकी मुख्य साधना 'हृदयमार्जन' है अर्थात् पदार्थों और उनके रूपोंको नित्यानित्यवस्तुविवेकसे देखकर सत्‌को असत्‌से अलग करना। इस व्यतिरेक-क्रमसे साधकको सबके आधारभूत एक ही सत्‌की सत्त्वाका साक्षात्कार हो सकता है।

वेदान्तके मननादिरूप अभ्याससे ऐसी विचारप्रणाली वैधती है और मनको ऐसा अभ्यास पड़ जाता है कि पीछे सदसत्‌का ज्ञान (विचारकी अपेक्षा न रख) अपने-आप ही होने लगता है और सत्‌की जो सर्वत्र व्याप्त समसत्ता है वह अनुभूत होती है। वेदान्त दार्ढनिक सिद्धान्तके नाते सत्‌के साथ नामरूपात्मक जगत्‌का समन्वय नहीं साध सकता है; क्योंकि इसका सिद्धान्त ही यह है कि नामरूपात्मक जगत्‌ब्रह्म पर आरोपित एक मानसिक व्यापार मात्र है, यथार्थमें व्रह्ममें उसकी कोई सत्ता नहीं है। कारणमें कार्यके होनेकी वातको वेदान्त परमार्थतः नहीं स्वीकार करता, यद्यपि यह मानी हुई वात है कि कारण ही कार्यके रूपमें भासता है।

सामान्य सांसारिक बुद्धिमें यह नामरूपात्मक जगत्‌ सत्य है। इसलिये वेदान्त सुषिरचनाका क्रम बतलाते हुए, माया और ईश्वर इन दो तत्त्वोंको मानकर चलता है। मायाको ब्रह्मका व्यष्टितत्व माना है। इस व्यष्टितत्वकी सत्ता अवश्य ही जैसी नहीं है जैसी कि ब्रह्मकी सत्ता।

वेदान्तका विचार इस प्रकार है कि मनुष्यकी बुद्धिको जब यह तत्त्वजिज्ञासा होती है कि इस दृश्य जगत्का कारण क्या है, तब उसे कारणके लिये मूल सत्ताकी ही भावना करनी पड़ती है। यह मूल सत्ता अवश्य ही ऐसी सत्ता है जिसमें इस नामस्तपात्मक विश्वकी विविध रचनाके लिये किञ्चित् भी कोई विकार नहीं उत्पन्न होता। व्यष्टितत्त्व केवल मायामें कल्पित है।

परब्रह्मके अन्दर अपने आपको परिच्छिन्न और परिवृत्त करनेवाला जो तत्त्व है उसे माया कहते हैं। मानो ब्रह्म अपने सङ्कल्प और सृष्टिकर्ममें अपने आपको वॉधता है। पर यह केवल प्रतीत होता है, ऐसा है नहीं।

इस ज्ञानके आधारपर वेदान्तकी साधना प्रतिष्ठित है, इस कारण इसमें दृश्य जगत्से विरक्तका भाव धारण करना स्वामार्थिक ही हो गया है। वेदान्तमें जीवनको प्रापञ्चिक और पारमार्थिक दोनों ही रूपोंमें साधा जाता है और यद्यपि प्रापञ्चिककी सत्ता वेदान्तने अस्वीकार की है तथापि उसके व्यावहारिक उपयोगको उसने ग्रहण किया है। इसी दृष्टिसे वेदान्तने जीवनमें तथा आत्मानुभूतिके क्षेत्रमें भी एक नया रास्ता निकाला है—गन्तव्य स्थानपर पहुँचनेके पश्चात् अवश्य ही इस रास्तेका कुछ महत्व नहीं रह जाता। वात यह है कि वेदान्तका वास्तविक कार्य चैतन्यको अज्ञानसे मुक्त कर देना है; पर मुक्ति भी क्रमशः होती है, पहले साधकके जीवनमें ऐसी शुद्धता और सूक्ष्मता आती है जो सामान्य सांसारिक जीवनमें नहीं होती। वेदान्तमें आध्यात्मिक जीवनके दो भाग किये जा सकते हैं—एक अध्यात्ममूलक व्यावहारिक साधन और दूसरा आध्यात्मिक परागति। पूर्वोक्त साधन करते हुए चित्त शुद्ध और बुद्धि-वोधशक्ति सूक्ष्म होती जाती है। यह साधनावस्था देहाभिमानी अवोध प्राकृत जीवनकी अपेक्षा उच्चत जीवन है। यह दिव्य जीवन है, क्योंकि इसमें क्रमशः उन शुभ वृत्तियोंका उदय होता है जो अज्ञानमें दवी रहती हैं और जीवनमें स्वच्छता और पवित्रताका आनन्द आता है, यहाँ साधनामें तो क्रमविकास हो रहा है, पर इस हालतमें भी लक्ष्य वही निर्गुण ब्रह्म है जिसमें कोई विकार नहीं होता। यह विकास अवश्य ही अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि इसमें देवी वृत्तियों उदय होती हैं और विकासकर्ममें यह ऊँची चढ़ाई है, तथापि जीवनका सूत्र जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंमें वही एक ही चला आता है और इस कारण द्विधाविभक्त वोधके वोज्ञसे जीवन दव जाता है।

वेदान्तमें आत्मानुभवके दो मार्ग हैं—(१) प्रत्यक्ष, और (२) अप्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष मार्ग है नित्यानित्यवस्तु-विवेक। इसका ऐसा अभ्यास हो कि छोटी-छोटी वातोमें भी मन विवेकसे च्युत न हो और प्रत्येक पदार्थमें उसी अविकार्य सत्को हँड़े।

परन्तु प्रत्येक पदार्थमें सत्को हँड़नेकी इस वृत्तिसे बाह्य पदार्थोंकी सत्ताका लोप हो सकता है और पदार्थ-मात्रके मूलमें अव्यय चैतन्य प्रकट हो सकता है।

इस प्रकार दृश्यमार्जनकी पद्धतिसे जैसे पृथक् सत्ता-सी प्रतीत होनेवाली अनात्म प्रकृतिके रूपमें भासनेवाला बाह्य अन्तराय नष्ट हो जाता है, वैसे ही अभ्यन्तर प्रकृति (मन-बुद्धि आदि) के अवहित निरीक्षण-क्रमसे उसकी भी अनित्यता और क्षण-क्षणमें पलटनेकी वृत्ति प्रकट हो जाती है। यह भ्रम भी दूर हो जाता है कि हमारी चेतनप्रकृति स्वभावसे गतिशील है।

वेदान्तने हमारी आन्तर प्रकृति और हमारे चित्स्वरूपमें भेद बताया है। मनुष्यका अन्तःकरण चित्स्वरूपको प्रतिविम्बित करता और प्रकाशयुक्त देख पड़ता है; पर यह आत्माकी अन्तःकरणपर पड़ी हुई केवल छाया है।

यहाँ भी, वेदान्तमें, विचारणाके द्वारा आन्तर प्रकृतिके चक्करोंमेंसे बाहर निकलकर अन्तर्हित आत्माको पुनः प्राप्त करना होता है। इसके लिये चेतन प्रकृतिके केन्द्रस्थानमें अर्थात् उस कालार्तीत सत्तामें जो आन्तर प्रकृतिकी अप्रतिहत सतत गतिमें सदा स्थिर और अव्यवहित रहती है, दृष्टिको एकाग्र करना पड़ता है। आन्तर प्रकृतिकी विकृतियोंको इस प्रकार देखनेका जो अभ्यास है उससे दृष्टि विगाल होती है और क्रमशः अन्तःसाक्षीका साक्षात्कार होता है। यह अन्तःसाक्षी ग्रान्तिस्वरूप है और मन, बुद्धि, अहङ्कारकी वृत्तियोंके खेलका द्रष्टा है। यह द्रष्टा है, नैयायिकांका कर्ता नहीं, यह मोक्षस्वरूप है, काल और कालावच्छिन्न आन्तर प्रस्तुतिसे सर्वथा मुक्त।

द्रष्टा गुणी या कर्मी नहीं है, उसमें गुण और कर्म होनेका मतलब तो यह होगा कि उसका द्रष्टव्य और कर्त्तृत्व अन्तःकरणमें आवद्ध है। यह मोक्षस्वरूप है, वेसा कर्ता नहीं जो अन्तःकरणमें अपना प्रतिविम्ब डाले, उसे प्रकाशित करे, अभिप्राय वक्त करे अथवा किसी प्रकारका भी कोई काम करे। द्रष्टके इस मुक्तस्वरूपको श्रीमत्यद्वाराचार्यने पहचाना, केंट आदि नहीं पहचान उके।

मोक्षस्वस्पद इष्टत्व ही आध्यात्मिक और पारमार्थिक अनुभूतिकी परंपरा है। इस अनुभूतिमें जीव और ईश्वर, हृष्णुश्वप और विग्रहपुरुषप इस प्रकारका कार्ड में भेद नहीं रह जाता। कारण, यथार्थमें वेदान्तका 'तत्त्वमार्ग' महावास्य किसी प्रकारका समन्वय नहीं है, वन्निक वह परा मिथ्या है जिसमें भेद या समन्वयका कोई प्रयत्न ही नहीं उठ सकता। अतः वामाचिक वेदान्तिक साधना उसी परम बोधको प्राप्त होनेका प्रयास है जहाँ ये मामान्य मनुचित भेदज्ञान नहीं गृह पाते।

वेदान्तकी साधना उसी ज्ञान-धारणापर निर्भर करती है कि अनेकत्व जो कुछ देवनेम आता है वह सब मिथ्या है और चिन्मय ब्रह्मका जीव या ईश्वरस्वप्नमें धनीभूत होकर कर्म करना भी मिथ्या है और अद्वितीय सत्य केवल वही परमद्वय है जो इन सबके परे है। सविशेष और निर्विशेष प्रबन्धके इस भेदको जानना और सविशेषको अनित्य और मिथ्या मानना वामाचिक ज्ञानका आरम्भ है। पर सविशेषका केवल अनित्य माननेसे पूरा काम नहीं होता, इसके साथ इसके परे जो अद्वितीय सत्य है उसकी खोज होनी चाहिये। इससे उस चैतन्यके कपाट खुलते हैं जो न अक्रिय है न सक्रिय, मन और वाणीसे जिसका वर्णन ही नहीं हो पाता।

ऐसी साधना और ऐसी अनुभूति उन उदार आत्माओंसे ही बन पड़ती है जिन्होंने प्रख्यर वेगमयसाधन किया है और वोवशक्तिका तुरीय मान खोल दिया है।

इस बोधको प्राप्त होनेकी अवस्था पहले तकसे जानी जा सकती है, पर है यह यथार्थमें मनकी साधना। वस्तु जब प्रत्यक्ष या समीप होती है तभी विवासकी पूर्णता होती है। इसका यह मतलब है कि इस वेदान्त-सिद्धान्तका मतत मनन और निर्दिव्यासन हो। इससे वृत्ति ब्रह्माकार होती है और मन और अहङ्कारकी दुस्तर मायाको तर जानेमें वड़ी मटद मिलती है और मन अन्तर्मुख होकर जीवनके उस क्षेत्रमें प्रवेश करता है जो देशकालके परे है। वेदान्तमें योगका माहात्म्य यही है।

'योग' शब्दके अनेक अर्थ और स्पष्ट हैं, पर इसका जो सर्वसम्मत अर्थ है वह चैतन्यके विविध स्तरोंका खुलना ही है। और योगका लक्ष्य प्रायः आत्माकी विज्ञानमय स्थितिपर पढ़े हुए आवरणको हटाना, चित्तको अविकाचिक चिन्मय बनाना और विश्वजीवनके जगमग प्राण-स्वरूपको अपने अन्दर अनुभव करना होता है। विज्ञान-मय जीवनका जो विस्तृत क्षेत्र है, जो विविध ब्रह्माण्डोंमें

तरतमभावसे प्रकट हुआ है, जीव उसी क्षेत्रमें पहुँचनेकी इच्छा करता है। योगसे विश्वजीवनका सूत्र हाथमें आता है और जीव भगवत्मनाके साथ नगुणरूपमें मिलना चाहता है।

यह मार्ग अप्रत्यक्ष है, क्योंकि यह सान्त साकार चैतन्यको आधारमुक्तिके तोमर्पण प्रहण करनेका एक बारगी निषेध नहीं करता। पर इसका लक्ष्य क्रमशः सान्त जीवनमें अनन्त जीवनको भग्ना और नान्त चिन्मय सत्ताको अनन्तकी वृत्ति, अक्षिं और ज्ञानमें मिला देना ही है। जो लोग उपासनामार्गी हैं और अपर ब्रह्मका व्यान करते हैं उन्हें सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होता ही है।

इस योगका वास्तविक स्वरूप एकमेवाद्वितीय ब्रह्मके सगुण रूपका एकाप्रथान और उसीमें मिलना है। यह मिलन अन्तःकरणमें होता है और तब शान्ति और अक्षिका उदय होता है। पर इसमें साधनकी सुख्य और गुस वात वह है कि हमारे स्थूल शरीर और स्थूल प्राण हमारे वज्रमें हों और सूक्ष्म प्राण और सूक्ष्म अन्तःकरणके साथ अपने जीवनका अभेद-सम्बन्ध हो।

जब हमारी प्रकृतिकी जड़ता दूर होगी तब सगुण ब्रह्मकी सूक्ष्म जीवनधाराओंकी अनुभूति होगी। पर इस मार्गकी परिसमाप्ति तब होती है जब अन्तःकरणमें सगुण ब्रह्मका, केवल जब कभी नहीं बल्कि, मतत अनुभव हो। जिनका ऐसा मतत अनुभव होता है उसमें प्रचण्ड शक्ति और अगाध ज्ञान होता है, क्योंकि सगुण ब्रह्मके साथ उनका जीवनसूत्र इस तरह मिला हुआ होता है कि ईश्वरीय कार्योंकी उन्हें स्पष्ट सूचना मिलती रहती है और विश्वजीवनकी गतिके साथ-साथ उनके पेर पढ़ा करते हैं।

यह जो सगुण-साधक योग है उससे ईश्वरप्रोत्यर्थ कर्म करनेकी वृत्ति अत्यन्त प्रवल होती है और वह सायुज्य-मुक्तिके साधनके लिये सावकको तैयार करती है।

वेदान्तके इस योगमें जीव और जीवकी जो एकरूपता होती है वह एकरूपता केवल परात्पर ब्रह्मकी स्थितिमें ही नहीं होती—परात्पर ब्रह्मके माथ एकरूप होना तो इस योगकी परिसमाप्ति ही है—वस्त्रिक विगुणात्मक जगत्कर्ममें भी ईश्वरके साथ जीव एकरूप होता है और यह यों होता है कि वेदान्तमें व्यवहारत् जीव और ईश्वरमें भेद है, परमार्थतः नहीं है। इस तरह मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छामें भेद है, और इसलिये वेदान्तमें मनुष्यकी इच्छा और ईश्वरकी इच्छाके योगका विधान है। वेदान्तकी साधनामें योगके इस अङ्गपर जो

अधिक व्यान दिया-दिलाया जाता है, इसका कारण यह है कि मोक्षका ध्यान मुख्य होनेसे इसका व्यान दबना गया है।

ईश्वर और जीवकी इच्छाके एक होनेका अर्थ तो वास्तवमें यही है कि मनुष्यकी इच्छा ईश्वरेच्छाके पूर्ण ग्रणागत हो, पर यह ग्रणागति 'जो कुछ होता है, होने दो' ऐसा मानकर चुप पढ़े रहनेकी स्थिति नहीं है, बल्कि अपनी इच्छाको नये सॉचेमें ढालना है और अपनी वृत्तिको विश्वकी गतिके साथ मिलाना है। इस प्रकार मनुष्यका चित्त अहङ्कार और ममकारकी सीमा तोड़कर अन्तमें अपने परमात्मस्वरूपको अनुभव करता है। तब वह विधि-नियेधरूप कर्मके वन्धनसे मुक्त हो जाता है और उस लोकमें प्रवेश करता है जहाँ सब चित्त पृथक् होते हुए भी एक होते हैं और यहाँ उसका व्यष्टि-अहङ्कार और ममकार पीछे छूट जाता है। वेदान्तके सिद्धान्तके अनुसार मनुष्यकी चित्तवृत्ति इतनी विगाल हो सकती है कि उसमें अहंता-ममता कुछ रह ही न जाय। चित्तका वास्तविक मोक्ष यही है, क्योंकि इसीसे उसको अपने स्वच्छन्द, विश्वव्याप्त और विधिनियेधारीत तथा निरहङ्कार स्वरूपका वोध होता है।

यही चित्तका मोक्ष है, क्योंकि यही चित्तको सब प्रकारकी सीमाओंसे मुक्त कर देता है। पर यह मोक्ष वह मोक्ष नहीं है जो परात्पर ब्रह्मके साक्षात्कारसे प्राप्त होता है। यह केवल चित्तवृत्तिका स्वातन्त्र्य है, और वह आत्माका स्वातन्त्र्य है। वेदान्त आत्मस्वातन्त्र्यको ही उच्चतर स्थिति मानता है, जिसमें व्याता-व्यान-ध्येयकी त्रिपुटी समाप्त हो जाती है।

इस सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मा होनेसे अहंता-ममतालूप सत्ता बदलकर सत्ताका कुछ दूसरा ही स्वरूप हो जाता है और अपनी सर्सीमताका ध्यान भी नहीं रहता। यद्यपि पूर्वके स्तकार इस अवस्थामें भी उठकर अहङ्कारके समवित्यत करनेमें सचेष्ट होते हैं तथापि सगुण ब्रह्मके साथ एकात्मताका जो भाव है वह अहभावसे क्रमशः मुक्ति दिलानेवाला है। और उससे अन्तःकरणमें अनन्तर्की सत्ता स्थापित होती है। अन्तःकरणका इस प्रकार पूर्ण भरिवर्तन होनेसे वाह्य जगत्के अनुभव करनेका प्रकार भी बदल जाता है। फिर वृत्तिगत या व्यष्टिगत स्वरूपमें रमना नहीं होता, अव्यक्त अनन्तर्की अनुभूति होने लगती है।

यह मानना कि पृथक् मन और अहङ्कारके विना कोई

प्रतीति नहीं हो सकती, गलत है। प्रतीति—अनुभूति—वोधको अहङ्कारकी विमूढतासे मुक्त करना ही वेदान्त सिखाता है।

इस मुक्तिके विना चित्तवृत्ति या इच्छाका मोक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि वोधशक्ति और चित्तवृत्तिका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। दोनों एक साथ ही रहती हैं। इस प्रकार वैयक्तिक मनोगत इच्छा या सङ्कल्पसे मुक्त होकर ही साधक विश्वात्मा और विश्वसङ्कल्पको साक्षात् करके विश्ववोधके आनन्दको प्राप्त होता है।

वोधशक्ति और चित्तवृत्तिको इस प्रकार नियत करनेसे इतना ही होता है कि मुक्तिका आस्वाद मिलनेसे आगे बढ़नेको जी चाहता है—इससे यह नहीं होता कि त्रिगुण-की वृत्तियोंसे पूर्ण मोक्ष मिल जाय। कारण, यह भी साधनकी अवस्था है—चेष्टा है और चेष्टा चाहे कितनी भी स्वय स्फूर्त हो वह बद्धताका ही लक्षण है—मुक्त आत्मस्वरूप नहीं। इसलिये वेदान्तका अन्तिम लक्ष्य इस मगुणकी अवस्थाके परे पहुँचना है। यह तब हो सकता है जब हम विश्वात्मवोधसे क्रमशः ऊपर उठकर उस परम भावको प्राप्त हो जहाँ कोई इच्छा नहीं है, केवल एक अद्वितीय परमात्मसत्ता है—वहाँ कोई चेष्टा नहीं है, न फल पानेका कोई सुख है, प्रत्युत एक ऐसा आनन्द है जो चिन्मय है।

पूर्वसाधनासे चित्तवृत्ति उन्नत, उदार और विशाल होती है, और उच्चर साधनासे परा सत्ता—परम भावका वोध होता है। चित्तवृत्ति देशकालसे सर्वथा स्वाधीन नहीं है, उसे कार्यरूपमें व्यक्त होनेके लिये किसी-न-किसी माध्यमकी आवश्यकता होती है और माध्यमकी इस आड़के कारण अद्वितीय ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं हो सकता। इसलिये वेदान्तमें योगका वास्तविक परम अर्थ वह साधन है जिससे देशकालाद्यनवच्छिन्न नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मचैतन्यमें चित्त लग जाय—पूर्व-साधनमें चैतन्यका जो देशकालाद्यच्छिन्न परिचित-अभ्यस्त व्यक्त रूप है उससे चित्त मुक्त हो, ज्योंकि देशकाल-च्छिन्नता ही वहाँ बद्धता है। चैटके 'धिगुद्ध तर्क' वाठ (Pure reason) में बुद्धिकी विप्रवातीत सत्ता होनेसे उसमें देशकालसे स्वतन्त्र न्वत्-सिद्ध बुद्धिके माध्यवाय वाय जगत्के तदनुरूप होनेवाले वांधकी मनन्वित एकता साधित हो सकती है, पर यह जो वाय जगत्का वोध है वह तो देशकालसे परिच्छिन्न ही है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं।

वेदान्तने उस चिन्मय ब्रह्मका पता पाया है जो देशकालके परे है। वह गुणवृत्तियोंसे सर्वथा स्वतन्त्र और देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण कैवल्यस्वरूप है। वेदान्तका यह विशिष्ट अनुभव है। योग अन्तःकरणकी ग्रन्थियोंको भेदने और ज्ञानके भिन्न-भिन्न स्तरोंको खोलने-की कला है और वेदान्तकी विशिष्ट योगसाधना देशकाला-

द्यनवच्छिन्न चिन्मय ब्रह्मको पाना है। यह मोक्ष आत्माको सरुणस्वप्से नहीं प्राप्त होता, निरुण परमभावके साक्षात्कारसे होता है। कारण, सरुण देशकालपरिच्छिन्न है और परम भावमें ऐसी कोई परिच्छिन्नता नहीं। कालकी परिच्छिन्नताको हटाकर चिन्मय ब्रह्मको पाना ही मोक्षका परम साधन है। यही वैदान्तिक योग या ज्ञानयोगकी मूल भित्ति है।

योग क्या है ?

(लेखक—स्वामी श्रीअमेदानन्दजी पी-एच० डी०)



ग' शब्द सस्कृतके 'युज्'धातुसे बना है, जिसका अर्थ है 'जोड़ना'। अंग्रेजीका 'योक' (yoke) शब्द भी उसी धातुसे बना है। आरम्भमें अंग्रेजीके 'yoke' और सस्कृतके 'योग' का शाब्दिक भाव एक ही था। 'युज्' धातुका अर्थ है किसी वस्तुसे अपनेको जोड़ना अथवा किसी कार्यमें अपनेको लगाना। इस प्रकार मूल अर्थमें इसका अभिप्राय है किसी कठिन-कठोर कार्यके लिये अपनेको तैयार करना। अंग्रेजीमें इस भावकी व्याख्या 'to go into harness' अथवा 'to buckle to' अर्थात् कार्यके लिये आरूढ़ हो जाना, कमर कस लेना, आदि प्रयोगोंके द्वारा करते हैं। जिस प्रकारके उद्देश्यकी सिद्धि करनी होती है उसी प्रकार-का उद्योग भी होता है, इसलिये उद्योग मानसिक भी हो सकता है, आरीरिक भी। पूर्ण स्वस्ता अथवा दीर्घजीवन प्राप्त करनेके उद्देश्यको लेकर मनसे और शरीरसे जो किया होगी उसे 'योग' (हठयोग) कहेंगे।

यही वात मनःशक्तिकी वृद्धि तथा विकासके सम्बन्धमें कही जा सकती है। आत्मसंयमके लिये जिस प्रकारके मानसिक अभ्यासकी आवश्यकता है, आत्माको परमात्मासे मिलानेमें जिस साधनका आश्रय लिया जाता है, परमात्म-मिलन अथवा आध्यात्मिक पूर्णताके लिये जो प्रक्रिया काममें ली जाती है उसे भी 'योग' ही कहते हैं। उसका नाम है 'राजयोग'।

'योग' शब्दका व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थमें किया जाता है और इसका खेत्र भी बहुत विस्तृत है। हठयोग, राजयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग, मन्त्रयोग, लययोग

इत्यादि-इत्यादि इसके अन्तर्गत हैं। इनमेंसे प्रत्येक योगका भिन्न आदर्श है जिसकी प्राप्ति उसके अनुकूल विशिष्ट साधन और अभ्यासद्वारा ही हो सकती है।

राजयोग

योगके क्रियात्मक भागकी सभी शाखाओंमें 'राजयोग'-का सम्बन्ध केवल मन और मनःशक्तिसे है। इसे हम क्रियात्मक मनोविज्ञान कह सकते हैं। इसका उद्देश्य है सभी प्रकारकी मानसिक व्याधाओंको हटाकर मनको पूर्णतया स्वस्थ और सयमी बनाना। इसके अभ्यासका सुख्य अभिप्राय है इच्छा-शक्तिको जगाना तथा उसे बलवती बनाना। इसके साथ ही धारणा-शक्तिको जागृत करके राजयोग साधकों ध्यान और धारणाके द्वारा सभी धर्मोंके चरम उद्देश्यकी प्राप्ति करा देता है।

योगकी इस साधनप्रणालीको राजयोग अथवा सर्वश्रेष्ठ मार्ग कहते हैं। क्योंकि धारणा-शक्ति और इच्छा-शक्ति सभी प्रकारकी भौतिक शक्तियोंसे श्रेष्ठ हैं—इतना ही नहीं, अपितु सभी दूसरी शक्तियोंकी प्राप्तिके लिये अनिवार्य हैं। जिस मनुष्यने पूर्ण विकसित इच्छा-शक्तिद्वारा सयत, सुदृढ़ मन पाया है और जिसकी धारणा-शक्ति अत्यन्त बलवती है वह सहज ही भौतिक शक्तियोपर प्रभुत्व स्थापित कर सकता है। और अल्पकालमें ही सत्यका साक्षात्कार कर सकता है। राजयोग ही यह सिखला सकता है कि इसे कैसे प्राप्त किया जाय। वे सभी लोग जो प्राचीन धर्मों अर्वाचीन हिन्दू राजयोगियोंसे परिचित हैं, राजयोगके अनुशीलन तथा अभ्यासको प्रोत्साहन देते हैं।

पीथगेरस (Pythagoras) तथा प्लेटो (Plato) जैसे ग्रीसदेशके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओंने हमारे राजयोगकी भूरि-भूरि

प्रशंसा की है। प्लॉटिनस (Plotinus) तथा प्रोक्यूलियस Proculeius) -जैसे Neo-Blatonism नामक सम्प्रदायके अनुयायियोंने, मिश्रेगवासियोंने, यहूदियोंमें 'इसेन' सम्प्रदाय (Essene) के अनुयायियोंने, ईसाइयोंमें Gnostic सम्प्रदायके लोगोंने, फारसके Manichean सम्प्रदायवालोंने तथा योरपके मध्यकालीन ईसाई रहस्यवादियोंने भी राजयोगकी वडी प्रशसा की है तथा इसका अभ्यास रोमन कैथलिक सम्प्रदायकी ऊँची श्रेणीके साधु और साध्वियों भी करती थीं। स्थिनोज्ञा, कांट, शोपेनहॉर, एमर्चन आदि दार्ढनिकोंने भी इसकी प्रशसा की है तथा यह ब्रताया है कि राजयोगकी साधनाका उद्देश्य प्रकृति तथा आत्माके रहस्यका उद्घाटन करना तथा प्रत्येक व्यक्तिके अन्दर छिपी हुई शक्तियोंको जागृत करना है। योगियोंने अपने जीवनके द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखला दिया है कि राजयोगके अभ्याससे वह शक्ति प्राप्त होती है जो सासारकी अन्य सभी शक्तियोंका नियन्त्रण करनेवाली है। राजयोगका यह कहना है कि जिसने अपने मनपर विजय प्राप्त कर ली वह प्रकृतिके समस्त व्यापारोंपर शासन कर सकता है।

राजयोगकी शिक्षा यह है कि सासारकी सर्वोपरि शक्ति मनःशक्ति है। यदि मनकी शक्तियोंको पूरी तरह समाहित करके किसी वस्तुविशेषपर केन्द्रीभूत कर दिया जाय तो उस वस्तुकी वास्तविक सत्ता प्रकट हो जायगी। यदि हम एक विन्दुपर अपनी समग्र मनःशक्तिको पुङ्गीभूत कर एकाग्र कर सकें तो हम सहज ही उस वस्तुविशेषकी, जिसपर हमने अपनी वृत्तियोंको एकाग्र किया है, सारी विशेषताएँ जान जायेंगे—चाहे वह वस्तु भौतिक हो, चाहे मानसिक, चाहे आध्यात्मिक।

राजयोगीके समाहित चित्तकी तुलना विजलीकी सर्च-लाइटसे की जा सकती है। अपने मनकी केन्द्रीभूत तथा एकोन्मुखी किरणोंको जब वह किसी पदार्थविशेषपर फैकता है, चाहे वह स्थूल हो अथवा सूक्ष्म, तब उस वस्तु-का रेगा-रेगा जगमगा उठता है और उसके सामने अपने सत्यस्पर्में प्रकट हो जाता है। साधारण मनुष्योंकी दृष्टि वस्तुओंकी तहतक इसलिये नहीं पहुँच सकती कि उनकी मानसिक शक्तियाँ साधारण प्रकाशकी विवरी हुई किरणों-की भाँति अत्त-व्यस्त, दिन-मन्त्र हैं। इसी प्रकार यदि मनकी वृत्तिको आध्यन्तरिक वस्तुओंपर स्थिर किया जाय,

अथवा आध्यात्मिक जगत्के सत्योंपर ठहराया जाय तो विश्वात्माका पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार यह बात स्पष्ट हो गयी कि इन्द्रिय-शक्ति अथवा वैज्ञानिक यन्त्रोंद्वारा प्राप्त सभी प्रकारकी शक्तियोंसे ध्यान-शक्ति बढ़कर है। यदि हम अपनी मनःशक्तियोंका नियमन करके, मनको अन्तर्मुखी करके और मनको क्षुद्ध तथा विक्षिप्त करनेवाले सभी विद्धोंका उपशमन करके अपनी केन्द्रीभूत मानसिक शक्तिको आत्माकी ओर भोड़ सकें तो अपनी व्याप्ति आत्माका सत्यस्वरूप हमारे सामने आ जायगा और हम इस बातको समझ जायेंगे कि हमारा शुद्ध, नित्य, अपरिच्छिन्न अह ही सर्वात्मा अथवा परमात्मा है और वह व्रक्षसे भिज नहीं है। तब हमें इस बातका भी वोध हो जायगा कि व्रक्षकी दिव्य सनातन सत्ता, जिसे हम अशानवश अपनेसे भिज मानकर पूजते थे, हमसे अलग नहीं है—वह हमारे भीतर ही है और उसे पानेके लिये हमें बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। वह तो हमारी ही सर्वशक्तिमान् आत्मा है जिसका निवास हमारे भीतर है। हम यह भी देखेंगे कि वही एक अव्यय सनातन आत्मा सर्वत्र व्याप्त है और उससे परे कुछ ही ही नहीं। भगवान् ने गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगशुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

सच्चा योगी सभी वस्तुओंमें सर्वत्र आत्माको और आत्मामें ही सब वस्तुओंको देखता है। इस प्रकार वह समस्त जगत्के नाम और रूपके मूलमें 'एक सत्' परम तत्त्वको जान लेता है और इसी कारण वह 'समदर्शी' हो जाता है। इस ज्ञानके द्वारा ही आत्मा अशानसे मुक्त हो सकता है।

राजयोगकी साधनाके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। पहले चार, अर्थात् यम, नियम, आसन और प्राणायाम, हठयोगमें भी समानरूपसे मिलते हैं। यम-नियमोंमें भद्राचारसम्बन्धी सारे नियमोंका समावेश हो गया है। आगेके साधनोंका अभ्यास करनेके लिये वह आवश्यक है कि यम-नियमका पूरी तरहसे पालन किया जाव। तुद, इसा तथा सचान्के अन्यान्य सभी धर्मचार्योंके प्रश्नान उपदेश तथा भूल सिद्धान्त यम और नियमके अन्तर्गत आ

जाते हैं। यमके अन्दर निम्नलिखित वाते आ जाती हैं—
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी नियमकी है, जिसके अन्तर्गत हैं—तप, शौच, मन्तोष, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वरकी इच्छामें आत्मसमर्पण कर देना। तीसरी सीढ़ी है आसन—अर्थात् शरीर तथा इसके अवयवोंको भिन्न-भिन्न प्रकारसे स्थिर करना। हठयोग-आसनमें सब मिलाकर कुल चौरासी आसनोंका वर्णन मिलता है। इनमें से प्रत्येकको यदि उसके अनुकूल विशेष प्रकारके प्राणायामके साथ किया जाय तो नाड़ी-चक्रों तथा शरीरके भीतरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंकी प्रसुत शक्तियाँ जाग जाती हैं। योगके सर्वोच्च आदर्शकी प्राप्तिके लिये यह आवश्यक है कि शरीर स्वस्थ और सुहृद हो। जो शरीरसे सूरण हैं वे अपने चित्तको एकाग्र नहीं कर सकते और न वे ऊँचे तत्त्वोपर अपना ध्यान ही टिका सकते हैं। इस हेतु योगसाधनाकी प्रारम्भिक अवस्थामें साधकोंको कुछ आसनोंका अभ्यास करना चाहिये, जिससे वे अपने शरीरको स्वस्थ और चित्तको सुस्थिर कर सकें। चौथी सीढ़ी है प्राणायाम। यह श्वासोंका व्यायाम है। मूढ़ता, आलस्य, शारीरिक दुर्बलता आदि विघ्न कुछ खास प्रकारके प्राणायाम करनेसे दूर हो जाते हैं। और उनसे इन्द्रियों तथा नाड़ी-चक्रोंको बड़मे और मनको सुस्थिर करनेमें बहुत अधिक सहायता मिलती है।

इसके अनन्तर पॉचर्वीं सीढ़ी प्रत्याहारकी है। यदि हम वाह्य विषयोंसे मनको हटाकर किसी आन्तरिक वस्तु-पर इसे स्थिर कर सकें और अपनी इच्छाके अधीन कर लें, अर्थात् इसे अपने वशमें करके जहाँ चाहें वहाँ ले जा सकें, तो समझ लीजिये कि हमारा प्रत्याहार सध गया। पतञ्जलि ऋषिका कथन है—

स्वचित्यासम्प्रयोगे चित्तस्त्रूपानुकार इच्छेन्द्रियाणां
प्रत्याहारः । (२।५४)

मनकी शक्तियोंको एकत्र कर उन्हें वाह्य विषयोंकी ओर जानेसे रोकनेकी प्रक्रियाका नाम ही प्रत्याहार है। धारणा इसके अनन्तर आती है और यह धारणाकी प्रारम्भिक सीढ़ी है। इन पॉच प्रारम्भिक सीढ़ियोंको पारकर यदि साधक ‘धारणा’ का अभ्यास करे तो उसे अपूर्व लाभ होगा।

* इस विषयको विस्तारसे जाननेके लिये पाठक मेरी ‘How to be a Yogi’ पुस्तकके ‘प्राणायाम’ (The Science of Breathing) पर है।

धारणासे आगे योगसाधनकी सातवीं सीढ़ी—‘ध्यान’ है। ध्यानके द्वारा ही मनुष्य समाधि अथवा तुरीयावस्थामें प्रविष्ट होता है, जो योगकी आठवीं और अन्तिम सीढ़ी है। * समाधि-अवस्थामें सूक्ष्म वोध करानेवाली छठी इन्द्रियका विकास होता है, आध्यात्मिक अथवा दिव्य चक्षु खुल जाती है और हमारी आत्मके आत्मा—परमात्माका साधात्कार हो जाता है। समाधि अथवा तुरीया अवस्थाको प्राप्त करनेके लिये अनवरत चेष्टा, धैर्य और अध्यवसायकी आवश्यकता है। समाधिके अनेक विध्न हैं—जैसे शोक, व्याधि, मनःशैयित्य, सशय, चेष्टाका परित्याग, मन और शरीरका भारीपन, सांसारिक पदार्थोंकी कामना, विपर्यय-ज्ञान, चित्तका एकाग्र न होना, एक स्थितिपर पहुँचकर उससे च्युत हो जाना, श्वास-प्रश्वासकी विषम किया, इत्यादि-इत्यादि। एकनिष्ठ योगीको चाहिये कि वह इस मार्गके सारे विध्नों और वाधाओंको हटाकर आगे बढ़ता चले। जबतक वह लक्ष्यपर न पहुँच जाय, वथमें उसे नाना प्रकारकी सिद्धियों लुभाने आवेगी। उन-उन विभूतियोंमें—बहुत दूरका दृश्य देख लेना, बहुत दूरका अवद सुन लेना, (Clairvoyance and Clair-audience), दूसरोंके मनकी वात जान लेना (Thought-reading), तथा अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियों मुख्य हैं। कैवल्य मुक्ति अर्थात् सब प्रकारके वन्धनोंसे छुटकारा चाहनेवाला योगी इन सारी विभूतियों-को विघ्नरूप समझकर इनसे सदा बचता रहे और कभी उनका उपयोग स्वार्थसाधनमें न करे। निर्विकल्प समाधिरूप योगकी चरमावस्थामें स्थित हुआ राजयोगी फिर कभी ससारके जालमें नहीं फँसेगा। समस्त ससार उसे परमात्माकी रगस्थली प्रतीत होने लगेगा और वह निरन्तर इस बातका अनुभव करेगा कि उसका शरीर और मन उस सर्वसमर्थ शक्तिके हाथका एक यन्त्र है, जिसका स्फुरण समस्त नामरूपमें हो रहा है। इस प्रकार आध्यात्मिक ज्ञानकी दिव्य ज्योति तथा आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त कर चुकनेपर सच्चा राजयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है, आत्मजित् हो जाता है और इसी जीवनमें वह समस्त प्रकृतिका स्वामी बन जाता है। ॐ तत्सद्।

* इन पिछली तीन अवस्थाओंका विशदरूपसे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये पाठक मेरी लिखी हुई ‘Spiritual Unfoldment’ अथवा ‘आत्मविकास’ नामक पुस्तक देखें।

सुरत-शब्द-योग

[लेखक—श्रीवाननदस्वरूपजी (साहेबजीमहाराज)]

धास्वामीसम्प्रदायमे जो योगसाधन प्रचालित है वह सुरत-शब्द-योगके नामसे प्रसिद्ध है। वतलाया जाता है कि शब्द दो प्रकारके हैं, आहत और अनाहत। आहत शब्द वे हैं जो आघात अर्थात् दो वस्तुओंके टकरानेसे उत्पन्न होते हैं और अनाहत वे हैं जो स्वतः अर्थात् आघातके विना उत्पन्न होते हैं। अनुष्ठान शब्दोंमें सुरत अर्थात् ध्यानके जोड़नेहीको सुरत-शब्द-योग कहते हैं।

हर कोई जानता है कि प्रत्येक शक्तिके दो रूप होते हैं, गुप्त और प्रकट। जब कोई शक्ति गुप्तरूप होती है तो मनुष्यको उसका कोई ज्ञान नहीं हो सकता। वह अरूप और अनाम रहती है। जब वह क्रियावती होती है तभी मनुष्यको उसका ज्ञान होता है। और जब कोई शक्ति क्रियावती होती है तो उसका विकास धारारूपसे हुआ करता है। अर्थात् उसकी धाराएँ चतुर्दिंक् फैलकर अपना मण्डल बौधती हैं। और ऐसी प्रत्येक वाराके सग-सग एक शब्दकी धारा प्रवाहित होती है। इसीलिये कहा जाता है कि जहाँ कोई शक्ति क्रियावती होती है वहाँ शब्द-की ध्वनि भी विद्यमान रहती है। देखिये, सूर्यकी किरणों-के द्वारा जो सौरशक्ति वायुमण्डलमें विकीर्ण होकर पृथ्वी-मण्डलपर उत्तरता है उससे भी ध्वनि उत्पन्न होती है, परन्तु हमारी श्रवणेन्द्रिय इस सूख्म शब्दके प्रहण करनेमें अग्रक्त है। इस कारण हम उसे सुन नहीं पाते, पर वह शब्द होता है अवश्य। एक श्रवणेन्द्रिय ही क्या, हमारी सभी ज्ञानेन्द्रियोंकी गति सीमावद्ध है। हम अपने चर्म-चक्रुओंसे जलकी वृद्धको स्वच्छ ओर शुद्ध प्रतीत करते हैं, परन्तु सूख्मदर्शक यन्त्र (Microscope) से देखनेपर उस वृद्धमें शतश 'कीटाणु (Germs) विचरते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। इसी प्रकार हमारे शरीरमें विद्यमान आत्मशक्तिकी धाराओंसे भी अनेक ध्वनियाँ होती हैं, जिन्हें सुननेमें हमारी स्थूल श्रवणेन्द्रिय अग्रक्त है। परन्तु यदि कोई मनुष्य साधन करके अपनी सूख्म और चेतन श्रवणेन्द्रियोंको जागृत कर ले तो उनके द्वारा उसको अवश्य ही सूख्म और चेतन

शब्दोंका अनुभव प्राप्त होगा। इसी सिद्धान्तके अनुसार प्रत्येक सुरत-शब्द-मार्गनुयायी इन दिव्य शक्तियोंके जगानेका साधन करता है। जब किसी अभ्यासीको ये शब्द सुनायी देने लगते हैं तो उसके अन्तरमें महान् परिवर्तन होने लगता है। कारण, यह एक सृष्टि-नियम है कि प्रत्येक शब्द अपने उत्थान-स्थान या भाण्डारका प्रभाव लिये रहता है। किसी दुःखिनीके रुदन और कन्दनके स्वरको सुनकर हमें तत्क्षण जात हो जाता है कि उसके हृदयमें कोई धोर दुःख व्याप रहा है। पुत्रकी मृत्यु होनेपर किसी माताके विलापको सुनकर विना किसीके वतलाये ही हम समझ जाते हैं कि उसके हृदयको क्या आघात पहुँचा है। इसी प्रकार वे सूख्म और चेतन शब्द भी, जो सुरत-शब्द-अभ्यासीको अन्तरमें सुनायी देते हैं, अपने उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव लिये होते हैं। अतः उन शब्दोंसे सम्बन्ध होते ही अभ्यासीके अन्तरमें उन शब्दोंके उत्थान-स्थानोंके गुणोंका प्रभाव व्याप्त हो जाता है। प्रथम उसे नूतन प्रकारकी शीतलता और निर्मलताका अनुभव होता है और कुछ कालके बीतनेपर उच्च कोटिके शब्दोंके प्रभावसे उसकी चेतन ज्ञानेन्द्रिय जागृत होकर उसे चेतन-सृष्टि प्रत्यक्ष होने लगती है, जिसके कारण उसका हृदय अत्यन्त गदगद हो जाता है।

हमारा मनुष्यशरीर देखनेमें तो केवल हाङ्ग-मांस-चामका पुलिंदा ही है, परन्तु 'सत्-कर्त्ता' ने इसके भीतर नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्थापित कर दी हैं। शरीरके उन स्थलोंको जहाँ इन गुप्त शक्तियोंके केन्द्र नियत किये गये हैं, चक्र, कमल और पद्म कहते हैं। जो पाटकबृन्द योगविद्याकी परिभाषासे परिचित है वे इन शब्दोंके अर्थ भली प्रकार समझते हैं। हर कोई जानता है कि जाग्रत् अवस्थामें मनुष्यकी समझने-बूझने और देखने-नुनने आदि-की सभी क्रियाएँ उसके मस्तिष्कमें स्थित विभिन्न केन्द्रोंके क्रियावान् (Active) होनेहीपर वन पड़ती हैं। इन केन्द्रोंमें तो केवल उनी प्रकारकी क्रियाओंके प्रकट करनेकी योग्यता है, परन्तु उन कमलों और पद्मोंकी योग्यता अत्यन्त उच्च कोटिकी है, यहाँतक कि एक ऐसा कमल है जिसके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको ब्रह्म-पुनर्पक्ष को ऐसे ही

प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो जाता है जैसे कि इन चर्मचक्षुओं या साधारण दर्शनेन्द्रियके क्रियावान् होनेपर भौतिक जगत्-के सूखका होता है, और एक कमल ऐसा है कि उसके चैतन्य होनेपर अभ्यासीको निर्मल चेतन अर्थात् प्रदृष्टिकी हृदसे परेके शुद्ध चेतनका अनुभव हो जाता है, और विश्वास किया जाता है कि इन कमलोंमें उच्चतम कमल या पद्मके क्रियावान् होनेपर मनुष्यको सच्चे कुलमालिकका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हो सकता है। सुतरां, राधास्वामीमतमें जो साधन बतलाये जाते हैं उनका प्रयोजन यही है कि अभ्यासीकी सुरत अर्थात् आत्मा क्रमशः अन्तरमें चढ़कर इन गुत चक्रों, कमलों और पद्मोंको चैतन्य करे और सूक्ष्म और चेतनमण्डलोंकी रचनाका अनुभव करती हुई अन्तमें सच्चे कुलमालिकका दर्शन प्राप्त करके कृतकृत्य हो।

यह लिखनेकी आवश्यकता नहीं कि सुरत-शब्द-योग-का साधन ऐसा सुगम नहीं है जैसा कि ऊपरके लेखसे प्रतीत होनेकी सम्भावना है। मनकी चञ्चलता और मलिनता इस साधनकी कमाईमें भी वैसी ही वाधक होती हैं जैसी कि ये दूसरे योग-साधनोंकी कमाईमें हुआ करती हैं। परन्तु अभ्यासीकी सहायताके लिये इस विषयमें एक विशेष प्रबन्ध है, अर्थात् सुरत-शब्द-मार्गानुयायीको दो ऐसी युक्तियाँ सिखलायी जाती हैं जिनके द्वारा वह इन चिह्नोंसे बहुत कुछ छुटकारा पा सकता है। ये सुमिरन और ध्यानकी युक्तियाँ हैं। सुमिरनसे अभिप्राय एक खास वीजमन्त्रका अन्तरमें जप या उच्चारण, और ध्यानसे अभिप्राय अन्तरमें चेतनस्वरूपका चिन्तन है। ये युक्तियाँ कोई नयी

वात नहीं हैं। ‘ईश्वरपणिधानादा’ और ‘वीतरागविषय वा चित्तम्’ इन दो योग-सूत्रोंमें इन्हींके लिये सकेत किया गया है।

अभ्यासीको यह भी निर्देश है कि अपने आहार-व्यवहारमें साधारण रहे और स्यमसे बरते। उसे मध्य, मांस आदि तामसी पदार्थोंसे सर्वथा परहेज़ करना होगा और साधारण खान-पानमें भी विचार रखना होगा कि भोजन धर्म्य, स्वच्छ तथा पथ्य हो और वह न तो अति मात्राको पहुँचने पावे और न इतनी अल्प मात्रामें ही रहे कि दिनभर खाद्य पदार्थोंके स्वप्न आते रहें और शरीर निर्वल हो जाय। इसके अतिरिक्त उसे सासाके अनावश्यक व्यवहार और व्यापारसे भी प्रुथक रहना होगा। दुष्ट और अनिष्ट सम्पर्क तो उसके लिये सर्वथा ही त्याज्य हैं। उसे उचित है कि जीवनसम्बन्धी धर्घोंसे निवटनेपर जो समय बचे उसे या तो अन्तरी साधनकी कमाईमें लगावे या महात्माओं और प्रेमी जनोंके सगमें या महापुरुषोंकी पवित्र वानीके स्वाध्यायमें व्यतीत करे, ताकि मनको मलिन और चञ्चल होनेके लिये न्यून-से न्यून अवसर प्राप्त हो।

इन निर्देशोपर आचरण करनेसे प्रेमी परमार्थिका काम चल निकलता है और गनैः गनैः नवीन आत्मवल उत्पन्न होनेसे उसकी सब कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और एक दिन उसकी सुरत-शब्दकी ढोरके सहारे पिण्ड और ब्रह्माण्ड-के पार सच्चे कुलमालिक राधास्वामीदयालके चरणोंमें विश्राम पा लेती है।

प्रार्थना

(१)

वनि दीन गरीव अनाथ महा यह दासी परी शरणागत तेरे ,
सब खारथ मित्रसे विश्व भरा, अब तेरे सिवाय नहीं कोउ मेरे ।
किये दोप अनेक अजानपने, करि माफ प्रभो करो रावरे चेरे ,
तकसीरोंको याद करो मत ह्वा, अब राखो दया निधि चर्णसे नेरे ॥

(२)

मोह भरी मद मत्त भई, कितनेहैं किये जग काम निकामी ,
रावरेसौं कछु भेद नहीं, तुम हो हरि केशव अन्तर्यामी ।
दूर कै दोप हरो अम वन्धन, हूँ तव चर्ण सरोज नमामी ,
आय परी शरणागत मैं अपनाओ मुझे अब विश्वके स्वामी ॥

वेदोंमें योग

(लेखक—उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य, मण्डलेश्वर श्रीस्वामी गजेश्वरानन्दजी महाराज)

उदासीनं सुखासीनमुपासीनं रमारम्भ ।

ओदास्यप्रथमाचार्यं कुमारं वैधसं भजे ॥

योग भारतवर्षकी अमूल्य सम्पत्ति है। दर्ढनशास्त्र महर्षियोंकी योगविद्याका ही चमत्कार है। स्मृति, पुराण, अन्यान्य निकित्सा-च्योतिषादि शास्त्र, अधिक क्या, समस्त विद्याएँ योगभ्यासजन्य क्रडतम्भरा प्रजाके ही मधुर एव मनोहर फल हैं। अतएव आर्यजातिके समस्त साहित्यमें ही योगका मुक्तकण्ठसे गुणगान हुआ है। एकाग्रता, समाधि तथा-योग ये तीनों शब्द एक ही अर्थके प्रतिपादक हैं। विचार करनेसे सिद्धान्त होगा कि सप्तरका कोई भी ऐसा कार्य व्यावहारिक या पारमार्थिक नहीं है, जो विना चित्तकी एकाग्रताके निष्पत्त हो सकता हो।

आजकल नये-नये वैज्ञानिक आविष्कार भी अमर-कीर्ति न्यूटन प्रभृति वैज्ञानिक महानुभावोंकी एकाग्रताके ही दिव्य चमत्कार हैं। अतः प्रत्येक प्राणीको एकाग्रता या योगकी शरणमें अवश्य आना ही होगा। अन्यथा वह अपने लौकिक और पारलौकिक किसी भी अभीष्टको सिद्धन कर सकेगा।

सब धर्मोंका साधन योग ही है

इसके अतिरिक्त पुरुषके प्रत्येक अभीष्टकी सिद्धिके लिये, पुत्र-यत्स्तला श्रुतिजननी धर्मानुष्ठानकी आज्ञा कर रही है, 'धर्मे चर'—धर्मका अनुष्ठान करो। यह अनुष्ठेय धर्म तीन अङ्गोंमें विभक्त है—यज, तप और दान। इनमें भी मुख्य स्थान यजका है। अतएव श्रीकृष्ण परमात्माने—

‘यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि भर्तीयिणाम् ॥’
(गीता १८।५)

‘यज, दान और तप ही बुद्धिमान् मनुष्योंके पावन करनेवाले हैं।’ इस उक्तिमें यज्ञको ही प्रथम स्थान दिया है।

वह यज्ञ तीन प्रकारका है—कर्मयज, उपासनायज तथा ज्ञानयज। उक्त त्रिविध यजकी निष्पत्ति योगपर अवलम्बित है। कर्मयजमें अनन्त क्रियाओंका पूर्वापरभायसे अनुष्ठान, तत्त्व वेदमन्त्रोदाय अनुष्ठेय कर्तव्यका सरण, सम्पूर्ण अङ्गोंका सङ्कलन आवश्यक है। यदि पश्चात् अनुष्ठेय क्रियाका प्रथम और प्रथमानुष्ठेय क्रियाका पश्चात् अनुष्ठान हो, अनुष्ठेय कर्तव्यसारक वेदमन्त्रके उच्चारणमें

शब्द, वर्ण और स्वरकी भूल हो जाय या कोई अङ्ग छूट जाय, तो वह यज अपूर्ण ही नहीं वर प्रत्यवायका कारण होगा। अतः कर्मयजकी निष्पत्तिके लिये क्रत्यजोंको सर्वथा सायधान रहना पड़ता है। चतुर्वेदपारग ब्रह्मानामक क्रत्यिक् तो इसीलिये नियुक्त किया जाता है कि वह एकाग्रमना रहकर कर्मानुष्ठानमें व्यग्र क्रत्यजोंकी मानवस्वभावसुलभ भूलोंको समय-समयपर सुधारता रहे।

उपासनायजकी तो वात ही क्या कहनी है, क्योंकि प्रेम या भक्तिको उपासनाका जीवन, और योगको शरीर माना है। जिस प्रकार शरीरके विना शरीरी आत्माका कोई भी भोग सिद्ध नहीं हो सकता, ठीक उसी तरह उपासनाका कोई भी अङ्ग योगकी सहायता विना निष्पत्त नहीं हो सकता।

सर्वव्यापक जीवहृदयविहारी परमात्मा, विविध वृत्तिरङ्गोंसे अन्तःकरण-जलाशयके चञ्चल होनेके कारण, मनुष्यके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका मनुष्यसे दूर होना है। जिन क्रियाओंसे उस तरह दूर हटे हुए परमात्मा जीवके हृदयमें वृत्तिरङ्गोंके एक बार ही गान्त होनेपर प्रकट हो जायें, अर्थात् जलाशयमें सूर्यके समान परमात्माके वास्तविक स्वरूपके दर्शन होने लगें, यहीं परमात्माका जीवके समीप होना है। अन्य प्रकारकी समीपता और विप्रकृष्टता सर्वव्यापी परमात्मामें वन ही कैसे सकती है? शान्तिचित्तमें परमात्माके प्रादुर्भावरूप समीप-स्थितिके सम्पादक क्रिया-कलापका नाम ही उपासना है। चित्त-शान्ति-साधनयोगके विना उसका होना कठिन ही नहीं, असम्भव है।

रहा ज्ञानयज्ञ, वह भी विना योगके आत्मलाभ करनेमें असमर्थ है। वृद्धदारण्यकोपनिषद्के मैत्रेयी ग्राहणमें—

आत्मा वा अरे द्वष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिव्यासितव्यः । (२।४।५)

‘अरे आत्माका ही दर्शन, श्रवण, मनन और निदिव्यासारन करना चाहिये।’

इस वचनद्वारा श्रवण-मननके सट्टा निदिध्यासनको आत्मसाधात्कारका साधन माना है।

निदिध्यासन ध्यानका नामान्तर है। ध्यान विज्ञाल योगभवनका सप्तम सोपान है। अतः यह निश्चित हुआ कि विना योगके कोई भी यज्ञ विशेषतः ज्ञानयज्ञ निष्पन्न नहीं हो सकता, अतएव योगी यात्रवल्क्य लिखते हैं—

इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणम् ।

अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

‘ग्रजान्नार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय प्रभृति धर्मोंसे योगके द्वारा आत्मदर्शन करना परम धर्म है।’ इस परम धर्मका साधन है योग।

दर्शनशास्त्र और पुराणादि स्मृतियोंमें भी योगकी महिमा और यज्ञोक्ति सिद्धिके लिये उसकी परमावश्यकता बतलायी गयी है। इसी सिद्धान्तका ऋक्सहितामें स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है—

यसादते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन ।

स धीनां योगमिन्वति ॥

(ऋक्सहिता, मण्डल १, सूक्त १८, मन्त्र ७)

अर्थात् ‘योगके विना विद्वान् का भी कोई यज्ञकर्म नहीं मिद्द होता, वह योग क्या है सो चित्तवृत्तियोंका निरोध है, वह कर्तव्य कर्ममात्रमें व्याप्त है।’

कर्म, उपासना तथा ज्ञानभेदसे यज्ञ तीन प्रकारका है। वह योगके विना निष्पन्न नहीं हो सकता। अजानीकी तो वात ही क्या, जानी भी योगकी सहायताके विना उसे सिद्ध करनेमें असमर्य है, क्योंकि चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योग या एकाग्रतामें समस्त कर्तव्य व्याप्त है, अर्थात् सब कर्मोंकी निष्पत्तिका एकमात्र उपाय चित्तसमाधि या योग ही है।

योग क्या है?

योग शब्द ‘युज् समाधौ’ धातुसे घज् प्रत्यय होकर बना है, अतएव इसका अर्थ संयोग न होकर समाधि ही हुआ है। समाधि नाम चित्तवृत्तिनिरोधकी क्रियागैलीका है, उस क्रियागैलीको पृथ्यपाठ महर्षियोंने चार भागोंमें विभक्त किया है—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग।

परिवृश्यमान प्रपञ्चका कोई भी भाग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। जीव नामरूपमें ही फँसकर बद्ध होता है, जिस भूमिपर गिरता है, उसी भूमिको पकड़कर मनुष्य उठ सकता है, आकाशको नहीं। इस नियमके अनुसार जीवको नामरूपके अबलम्बनसे ही मुक्तिपथकी ओर अग्रसर होना होगा। अतः दिव्य नामरूपके अबलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियाएँ हैं, शास्त्रमें उन्हें मन्त्रयोग नामसे कहा गया है।

स्थूल शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली घट्कर्मादि योग-क्रियाओंके अभ्यासद्वारा स्थूल शरीरपर आधिपत्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी क्रियागैलियाँ हैं, उनका नाम हठयोग है।

समष्टि-व्यष्टिके सिद्धान्तानुसार जीवशरीररूपी पिण्ड, समष्टिसूषितरूपी ब्रह्माण्ड दोनों एक है। अतः ब्रह्माण्डकी समस्त वस्तुओंका अस्तित्व उसीके समान पिण्डमें अवश्य है। पिण्डमें ब्रह्माण्डव्यापिनी प्रकृतिशक्तिका केन्द्र मूलाधारपद्ममें स्थित सार्धत्रिवल्याकारा—साढे तीन चक्र लगाये हुए सर्पवत् कुण्डलाङ्काति कुण्डलिनी है। ब्रह्माण्डव्यापी पुरुषका केन्द्र सहस्रदलकमल है, निद्रित कुल-कुण्डलिनीको गुरुपदिष्ट योगक्रियाओंसे प्रवुद्ध करते हुए कुलकुण्डलिनीख प्रकृतिशक्तिको सुपुमानाङ्गीगुम्फित घट्कर्मोंके भेदनद्वारा ले जाकर सहस्रदलकमलविहारी परमात्मामें लय करनेकी जो क्रियागैली है और तदनुयायी जितने साधन हैं, उनको लययोग कहते हैं।

मनकी क्रिया मनुष्यके बन्धनका कारण है। बुद्धिकी क्रिया मनुष्यके मुक्त करानेमें सहायक होती है। बुद्धिकी क्रिया विचार है, अतः उसके द्वारा चित्तवृत्तिनिरोधकी जो क्रियागैली है, उसका नाम राजयोग है। इसका अधिकार सबसे बढ़कर है।

योगके विभ और उपविभ

उक्त चतुर्विध योगके नौ अन्तराय (विभ) और पाँच उपान्तराय (उपविभ) हैं।

महर्षि पतञ्जलि उनकी नामायली इस प्रकार लिखते हैं—

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिआन्तिदर्शनालभ्यभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

(योग १।३०)

‘दुःख्त्रौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवं’
(चोग० १।३१)

१ व्याधि (रोग), २ स्त्यान (गिथिलता), ३ सशव, ४ प्रमाद (जान-बूझकर योगाङ्गोंका अनुष्ठान न करना), ५ आलस्य, ६ अविरति (विषयोंमें ग्लानिका न होना अर्थात् विषयमेंगाभिरुचि), ७ भ्रान्तिदर्शन (विपरीत निश्चय), ८ अलव्यभूमिकत्व (योगाङ्गोंका अनुष्ठान करने-पर भी मधुमती, मधुप्रतीका आदि समाधिभूमिविशेषका लाभ न होना), ९ अनवस्थितत्व (भूमिविशेषका लाभ होनेपर भी चित्तका स्थिर न रहना)। यह नौ चित्तविक्षेपकारी अतएव योग या समाधिके अन्तराय (विधातक) हैं। योगमन्त्र, योगप्रतिपक्ष, योगविद्व इर्होंका नामान्तर है।

इनके साथी पाँच उपविष्ट ये हैं—१ दुःख, २ दौर्मनस्य (इच्छाके पूर्ण न होनेसे मनका क्षुध होना), ३ अङ्गमेजयत्व (अङ्गकम्पन), ४ श्वास (वाय्य वायुको भीतर ले जाना), ५ प्रश्वास (भीतरकी वायुको बाहर निकालना)।

योगसिद्धिके लिये प्रार्थनाकी आवश्यकता

इन विश्वोपविशेषका निराकरण और चतुर्विध योगानुष्ठानका फल समाधिलाभ तभी होगा, जब साधक ईश्वरका अनुकम्पापात्र हो। सच्चे हृदयसे विनीत प्रार्थी भक्तके ऊपर ही ईश्वर अनुकम्पा करते हैं, अत. निर्विन्न चतुर्विध योगसिद्धिके निमित्त जगदीश्वरकी प्रार्थनाका वह मन्त्र जिसके द्वारा साधक भगवान्को अपनी ओर आकृष्ट कर सके, निम्न निर्दिष्ट है—

योगे योगे तवमरं वाजे वाजे हवामहे।
सखाय इन्द्रभूतये ॥

अर्थात् प्रत्येक योगमें, प्रत्येक सङ्कट-भग्नाममें हम सखा (साधक लोग) वल्यान् इन्द्रको बुलाते हैं। पञ्चवेद—१।३०।७ शुक्लयजुः—१।१४ सामवेद उ० १।२।११।१ प० २।२।७।९ अर्थव-वेद १९।२४।७ एव २०।२६।१॥

योग—मन्त्रयोगादि भेदसे चार प्रकारका है। उक्त सर्व प्रकारके योगमें प्रवृत्त हुए मिथके समान अति प्रिय हम साधक चर्वशक्तिसम्पन्न परमात्माको व्याघ्यादिविष्ट, दुःख, दौर्मनस्यादि उपविष्ट तथा लोभ, क्रोध, मोहादि

राजस-तामस चित्तविकार जो समाधिके प्रवल गत्रु हैं, उनके द्वारा जव-जव समाधिविधातकी चेष्टारूपी संग्राम उपस्थित हो, उस समय रक्षाके लिये कहीं प्रवल गत्रुओं-द्वारा समाधिका विधात न हो जाय, इस अभिप्रायसे उन प्रवल गत्रुओंके दमनप्रवृत्तक समाधिको सुरक्षित बना रखने-के लिये आहान करते हैं—अर्थात् प्रार्थना करते हैं।

तात्पर्य—प्रार्थनासे आकृष्ट ईश्वरकी दयासे चतुर्विध योग जिसका हम अनुष्ठान कर रहे हैं, वह निर्विन्न निष्पत्त हो।

समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रजाके जनक योगानुष्ठानको ही महर्पिवृन्दने एक स्वरसे स्वीकार किया है। केवल योगानुष्ठानके ही नहीं, किन्तु उसके विवेक-ख्यात्यादि फलकी निष्पत्तिमें भी ईश्वरानुकम्पाका विशेष हाथ है।

वेदका निम्न निर्दिष्ट मन्त्र इसी भावको प्रकट करता है—

स धा नो योग आभुवद् स राये स पुरं ध्याम् ।

गमदु वाजेभिरा स नः ॥ (ऋ० १।५।३॥ माम०
उ० १।२।१०।३॥ अथव० २०।६९।१॥)

अर्थात् वही परमात्मा हमारी समाधिके निमित्त अभिमुख हो, वही विवेकख्यातिरूपी धन तथा अतीतानागतादि अनन्त वस्तुविषयक होनेसे वहुविध बुद्धि ऋतम्भरा प्रजा नामक प्रजाके उत्पादनिमित्त अनुकूल हो, अर्थात् उसकी दयासे समाधि, विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रजाका हमें लाभ हो, अपि च वही परमात्मा अणिमादि सिद्धियोंके सहित हमारी ओर आगमन करे।

तात्पर्य—अणिमादि सिद्धियों भी भगवत्कृपासे चरण-सेविकाओंके समान हमारी सेवाके लिये प्रतिक्षण प्रस्तुत रहें।

अष्टाङ्गयोग

पूर्वोक्त चतुर्विध योगकी कियागैर्णी पूज्यपाद मर्त्यियोंने यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और चमाधि इन आठ अङ्गोंकी महायतामें निर्णीत की है।

भेद इतना ही है कि किसीमें किसी अङ्गके सङ्कोच और किसीमें किसी अङ्गके विस्तारसे अङ्गसत्त्वार्थी न्यूनाधिकता दृष्टिगोचर होती है। जैसे हृष्टयोगके सात

अङ्ग, राजयोगके सोलह अङ्ग और लययोगके ९ अङ्ग हैं। उन सबका विवरण निम्नलिखित है—

हठयोगके सत्ताङ्गः

पट्कर्मसनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
ध्यानसमाधीं सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

पट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान और समाधि—ये हठयोगके सात अङ्ग हैं।

इनके गरीरसंग्रोधन, दृढ़ता, स्थिरता, धीरता, लम्बुता, आत्मप्रत्यक्ष, निर्लिंगता और मुक्तिलाभ क्रमशः फल हैं। प्रथमाङ्ग षट्कर्मसाधनके विषयमें योगशास्त्रमें इस प्रकार लिखा है—

धौतिर्वस्तिस्थथा नेतिलैलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्वैतानि पट् कर्माणि समाचरेत् ॥

धौति, वस्ति, नेति, लैलिकी, त्राटक तथा कपालभाति ये षट्कर्म हैं। इनका पृथक्-पृथक् वर्णन स्थान-सङ्कोचसे अग्रक्य है। ये सब क्रियाएँ योगिराज गुरुदेवकी कृपासे सुविजेय हैं, केषल शास्त्रावलोकनसे नहीं।

हठयोगका द्वितीयाङ्ग आसन है। जिसके अभ्याससे शरीर दृढ़ एव मन स्थिर हो, उसका नाम आसन है। जगत्‌में जितनी जीवयोनियाँ हैं, उतने ही प्रकारके आसन हैं।

भगवान् महादेवने चौरासी लक्ष आसनोंका वर्णन किया है, उनमें चौरासी आसन मुख्य हैं, उनमें भी तैतीस मर्त्यलोकमें मङ्गलजनक है। तैतीस आसनोंके नाम ये हैं—सिद्धासन, स्वस्तिकासन, पद्मासन, वद्धपद्मासन, भद्रासन, मुक्तासन, वज्रासन, सिहासन, गोमुखासन, धीरासन, धनुरासन, मृतासन, गुप्तासन, मत्स्यासन, मत्स्येन्द्रासन, गोरक्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्कटासन, सकटासन, मयूरासन, कुकुटासन, क्रमासन, उत्तानक्रमीसन, उत्तानमण्डकासन, वृक्षासन, मण्डकासन, गरुडासन, वृषासन, गलभासन, मकरासन, उष्णासन, भुजङ्गासन और योगासन।

उनमें भी हठयोगप्रदीपिकामें प्रधानासन चार एवं सर्वश्रेष्ठ सिद्धासन माना है—

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥
(प्रथमोपदेश श्लोक ३४)

‘सिद्ध, पद्म, सिंह तथा भद्र ये चार मुख्य आसन हैं, इनमें भी श्रेष्ठ यह है कि सदा सुखस्वरूप सिद्धासनपर वैठे।’

जिन क्रियाओंसे प्राणायाम प्रत्याहारादि अङ्गोंकी सिद्धिमें सहायता प्राप्त होती है, उन सुकौशलपूर्ण क्रियाओंका नाम मुद्रा है।

उनमेंसे मुख्य मुद्राओंके नाम ये हैं—महामुद्रा, नमोमुद्रा, उड्हीयान, जालन्धरवन्ध, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेधा, खेचरी, विपरीतकरणी, योनिमुद्रा, वज्रोली, शक्तिचालनी, तड़ागी, माण्डूकी, शाम्भवी, पञ्चधारणा, अविनी, पाशिनी, काकी, मतगी और भुजङ्गिनी।

आसनों एव मुद्राओंका विशेष निरूपण स्थानाभावसे नहीं किया गया। पाठक उनके विशेष ज्ञानार्थ योगग्रन्थोंका ही अयलोकन करे।

प्राणायाम तीन प्रकारका है—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। कुम्भक दो तरहका है—सहित और केवल। इस लघु निबन्धमें शिष्टाङ्गसम्बन्धी विशेष वक्तव्य नहीं।

राजयोगके पोडश अङ्गः

भक्ति तथा छः दर्शनोंके अनुसार राजयोगके सात अङ्ग हैं। वे सब विचारप्रधान हैं। धारणाके दो अङ्ग हैं—प्रकृतिधारणा और ब्रह्मधारणा। ध्यानके अङ्ग तीन हैं—विराङ्गध्यान, ईशध्यान तथा ब्रह्मध्यान। समाधिके चार अङ्ग—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और असितानुगत। उनके स्थूलभूत, सूक्ष्मभूत, इन्द्रिय, अहकार तादात्म्यापन्न पुरुष, क्रमशः ध्यातव्य विषय हैं।

लययोगके अङ्गः

यम, नियम, स्थूल क्रिया, सूक्ष्म क्रिया, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, लयक्रिया और समाधि।

सूक्ष्म क्रियाके साथ स्वरोदयसाधनका, प्रत्याहारके साथ नादानुसन्धानक्रियाका, और धारणाके साथ षट्चक्रमेदन-क्रियाका सम्बन्ध है।

पायुसे दो अङ्गुल ऊपर और उपस्थिते दो अङ्गुल नीचे चतुरद्वालविस्तृत समस्त नाड़ियोंका मूलस्वरूप पक्षीके

अण्डकी तरह एक कन्द विद्यमान है, जिसमेंसे वहत्तर हजार नाडियों निकलकर सारे शरीरमें व्यास हुई है। उनमें-से योगशालमें तीन नाडियों मुख्य कही गयी हैं, इडा, पिङ्गला और सुषुमा।

चन्द्ररूपिणी इडा मेरुदण्डके बाम भागमें, सूर्यरूपिणी पिङ्गला मेरुदण्डके दक्षिण भागमें, और चन्द्र-सूर्यमिश्रपिणी त्रिगुणमयी सुषुमा मध्य भागमें विराजमान रहती है। मूलमें उत्थित इडा और पिङ्गला मेरुदण्डके बाम और दक्षिण भागमें समस्त पद्मोंको वेष्टन करके आज्ञाचक्रपर्यन्त धनुषाकारसे जाकर भ्रूमध्यके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्घता हो नासारन्ध्रमें प्रवेश करती है।

भ्रूमध्यके ऊपर जहाँपर इडा और पिङ्गला मिलती हैं, वहाँपर मेरुमध्यस्थित सुषुमा भी जा मिलती है।

इसलिये यह स्थान त्रिवेणी कहलाता है। क्योंकि आत्ममें इन तीनों नाडियोंको गङ्गा, यमुना और सरस्वती कहा गया है। यथा—

इडा भोगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुमा च सरस्वती॥

इस त्रिवेणीमें योगवल्से जो योगी अपने आत्माको त्वान करा सकते हैं—

त्रिवेणीयोगः सा प्रोक्ता तत्र स्मानं महाफलम्।

—इस शाक्तीय वचनके अनुसार उनको मोक्षकी प्राप्ति होती है।

प्रणवाकृति सुषुमा, धनुषाकार इडा और पिङ्गलाके त्रीचमेंसे मेरुदण्डके अन्ततक जाकर उससे पृथक् हो वकाकारको धारण करके भ्रूयुगलके ऊपर इडा और पिङ्गलाके साथ ब्रह्मरन्ध्रमुखमें सङ्घता हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त जाती है। वस, इडा, पिङ्गलाके समान सुषुमा भी मूलकन्द-से निर्गत हो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त गयी है।

इस प्रकार मूलकन्दसे लेकर ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्त विस्तृत सुषुमा नाडीकी छः ग्रन्थियाँ हैं, जो पट्टचक्र कहलाती हैं। योगक्रियाके द्वारा मूलधारस्थिता निर्दिता कुलकुण्डलिनी-को जाग्रत्कर इन छः चक्रोंके द्वाग सुषुमापथमें प्रवाहित करके ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहलदलकमलस्थित परमशिवमें लय कर देना ही लययोगका उद्देश्य है।

प्रथम चक्रका नाम मूलधार पद्म है, वह गुदाके ऊपर और लिङ्गमूलके नीचे सुषुम्नाके मुखमें सलग्न है। अर्थात् कन्द और सुषुम्नाके सन्धिस्थलमें इसकी स्थिति है। इसके ब-ञ्ज-ष-स, ये वर्ण चार दल हैं, इसका रक्त वर्ण है, इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी डाकिनी है। आधारपद्मकी कर्णिकाओंके गहरमें बज्जा नाडीके मुखमें त्रिपुरसुन्दरीका निवासस्थान एक त्रिकोण जक्किपीठ है। वह कामरूप कोमल और विद्युत्के समान तेजपुज है। उसमें कन्दर्प नामक बायुका निवास है, वह बायु जीवधारक वन्धुजीव पुष्टके समान विशेष रक्तवर्ण तथा कोटि सूर्य-समान प्रकाश-गाली है, उक्त त्रिकोण जक्किपीठसे स्वयम्भूलिङ्ग विराजमान है, जो पठिचम मुख, तस काञ्चनतुल्य कोमल, ज्ञान और ध्यानका प्रकाशक है। इस स्वयम्भूलिङ्गके ऊपर मृणाल अर्थात् कमलकी डण्डके तन्तुके सद्ब्रज सूक्ष्मा शङ्खवेण्यनुका और साढे तीन बलयोंके आकारकी सर्पतुल्य कुण्डलाकृति नवीन विद्युन्मालाके समान प्रकाशशालिनी कुलकुण्डलिनी निज मुखसे उस स्वयम्भूलिङ्गके मुखको आवृत करके निर्दिता रहती है। उसके प्रबोधकी क्रियाएँ अति कठिन, गोप्य तथा गुरुप्रसादैकलभ्य हैं।

द्वितीय चक्रका नाम स्वाधिष्ठान पद्म है, इसकी स्थिति लिङ्गमूलमें है। व, भ, म, य, र, ल ये छः वर्ण उसके दल हैं। इसका रक्त वर्ण है। उसमें वालाख्य सिद्धकी स्थिति है और अधिष्ठात्री देवी राकिणी है।

तृतीय मणिपूर नामक चक्र है, जो नाभिमूलमें है और ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ ये दण सुवर्णमय वर्ण जिसके दण दलरूपसे शोभायमान हैं, जहाँ रुद्राश्र सिद्ध लिङ्ग सब प्रकारके मङ्गलोंको दान कर रहे हैं, और जहाँ परम धार्मिका लाकिनी देवी विराजमान है।

चतुर्थ हृदयस्थित चक्रका नाम अनाहतचक्र है,—क, ख, ग, ध, ड, च, छ, ज, झ, अ, ट, ठ इन द्वादश वर्णयुक्त, अति रक्तवर्ण इसके द्वादश दल हैं। हृदय अति प्रसन्न स्थान है। इस अनाहत पद्ममें परम तेजस्वी रक्तवर्ण वाणलिङ्गका अधिष्ठान है, जिसका ध्यान करनेसे हृलोक और परलोकमें शुभ फलकी प्राप्ति हुआ करती है। दूसरे पिनाकी नामक मिद्द लिङ्ग और काकिनी नामक अधिष्ठात्री देवी वहाँ स्थित हैं।

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है विल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा सकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक सहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। ‘मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः।’ मन्त्रोंके संग्रहोंको ‘सहिता’ कहते हैं। ऐसी सहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, ऋक्सहिता, सामसहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद् में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह जानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। ‘आरण्यक’ नाम पढ़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य हैं, इनका अध्ययन तथा मनन अरण्य (जगल) में ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर बानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये ‘आरण्यक’ ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्म-काण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्भव यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्शनके इतिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक सहिताओंसे आरभ्म

होकर उपनिषदोंमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौनसे रूप थे। सक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

ऐतरेय आरण्यक

अथर्ववेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक है। प्राग्वेदके दो आरण्यक हैं—ऐतरेय तथा गांखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्वका है। इसके पॉच्च खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय हैं। पहले आरण्यकमें पॉच्च अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पॉच्चवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमें से अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिजासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमें प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये प्राग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः सुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र प्राग्वेदसे दिये जायेंगे जिससे प्राणविद्याके प्राग्वेदीय स्वरूपका स्वत्प्य परिचय प्राप्त हो जाय।

प्राग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमें प्राग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए हैं, इस विषयमें यह मन्त्र ‘तदुक्तमृषिणा’ कहकर दिया गया है^१—

अपश्यं

गोपामनिपद्मान-

सा च परा च पथिभिश्वरन्तम् ।

१. अरण्य एव पात्रत्वादारण्यकमितीर्यतम् ।

—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

स सधीचीः स विषुचीर्वसान
आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

इस मन्त्रके द्रष्टा दीर्घतमा क्रडिषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—बायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येप ह्येन चाक्षुषं
प्राणमनुगृह्णते ।

(प्रश्नोपनिषद् १ । ७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्यास कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें चारंवार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वे हीदं प्राणेनावृतम् । इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणबायुके द्वारा व्यास है।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये क्रडिवेदको, यह मन्त्र दिया गया है—

अपाह् प्राढेति स्वधया गृभीतो-
मत्त्वो मत्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विषुचीना वियन्ता
न्यन्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् ॥
(१ । १६४ । ३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्वधा—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मबाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण

विषिधव्यापारसम्पन्न है तथा आपसमें विरुद्ध है, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण उपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमें से देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका यथार्थ वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अवसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्घृत करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्त्वाको क्रडिवेदकी सहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहाँ हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोंसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयप्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५ । १), कौषीतकि (२ । १४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२ । १-१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५ । १ । ६-१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु वात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यों-का-त्वयों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-स्वाद वडी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्धा चली कि उक्थ कौन है? सब झगड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले यागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर विना घोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह विना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर विना सुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें झगड़ा करती ही रहीं।

१. क्र० वे० १ । १६४ । ३१; १० । १७७ । ३

२. ऐत० आर० प० १०८

पञ्चम पद्मका स्थान कण्ठ है और नाम विशुद्धनक है, उसका रङ्ग सुन्दर स्वर्णकी तरह है, (मतान्तरमें धूम्रवर्ण है) —अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, क्ष, श्व, ल, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अः हन घोडग वर्णसुगोभित उसके घोडग दल हैं। इस पद्ममें छगलाण्ड नामक सिद्ध लिङ्ग और गाकिनी नामक देवीकी स्थिति है।

ध्रुद्यके मध्यमे आज्ञापद्म छठा चक्र है। यह शुभ्र वर्ण है और ह, क्ष युक्त इसके दो दल हैं, शुक्ल नामके महाकाल इस पद्मके सिद्ध लिङ्ग और हाकिनी नामी महागत्ति इस चक्रकी अधिष्ठात्री देवी है।

दिदल पद्मके ऊपर ब्रह्मरन्ध्रमे ही इडा, पिङ्गला और सुषुम्नाका सङ्गमस्थान तीर्थराज प्रयाग है, इसमे स्नान करनेसे तत्क्षण साधक मुक्तिपदको प्राप्त होता है। ब्रह्मरन्ध्रके ऊपर सहस्रदलकमल स्थित है। उस स्थानका नाम कैलास है, और वहाँ देवादिदेव महादेव सदा विराजमान हैं और वही महेश्वर नामक परम शिव है। उनको नकुल भी कहते हैं। वह नित्यविलासी हैं, उनको ध्रय और वृद्धि कदापि नहीं होती, अर्थात् वह सदा एकरूप ही हैं। इस सहस्रदलकमलमे जो साधक अपनी चित्त-वृत्तिको निश्चलरूपसे लीन करता है, वह अखण्डज्ञानरूपी निरङ्गन परमात्माकी स्वरूपताको लाभ कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है। इस सहस्रदलपद्मसे निर्गत पीयूषधाराको जो योगी निरन्तर पान करता है वह अपनी मृत्युको मारकर कुलजयद्वारा निरङ्गीवी हो जाता है। इसी सहस्रदलकमलमें कुलरूपा कुण्डलिनी महाशक्ति-का लय होनेपर चतुर्विधि सुषिका भी परमात्मामे लय हो जाता है। मूलाधारमें जो चार दलोका पद्म है, इस अवस्थामें वहाँकी कुण्डलिनी शक्ति निश्चय करके अपने स्थानको त्याग कर देती है। क्रमशः कुण्डलिनी षट्चक्र-भेदनद्वारा सहस्रदलपद्ममें जाकर लयको प्राप्त हो जाती है। यहाँ शिवशक्तिसंयोगरूप मुक्तिक्रिया कहलाती है, और इस अवस्थामें वह योगी अखण्डज्ञानरूपी निरङ्गन परमात्माके रूपको प्राप्तकर मुक्त हो जाता है।*

लययोगके दर्गित अलौकिक रहस्यविज्ञानके लिये हम ही नहीं, मन्त्रदण्डा क्रषि भी कितने लालायित एवं

* मातों चक्रोंके चित्र पूर्ण विवरणसहित 'शक्तिभक्त' में प्रकाशित दो चुक्के हैं। पृष्ठ ४५४ देखना चाहिये।

उत्कण्ठित रहा करते थे, इसका पता अधोनिर्दिष्ट मन्त्रके अवलोकनसे चलता है—

क्ष श्रीचक्रा त्रिष्टुतो रथस्य क्ष श्रंयो बन्धुरो ये सनीलाः ।

कदा योगो वाजिनो रास्भस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथ॥

(ऋग्सहितामण्डल १ सूक्त ३४ मन्त्र ९)

[त्रिष्टुतः] त्रिष्टुतमूलकार्यस्य तेजोऽवब्रविकारस्य, [रथस्य] शारीरं रथमेव तु इति श्रुतेः [श्रीचक्र] त्रीणि चक्राणि अधस्तनानि मूलाधारस्वाधिष्ठानमणिपूरा-मिधानि [क्ष] कुत्र वर्तन्ते, तेषां स्थानविशेषः क इति न अस्माभिज्ञायते, [बन्धुरः] बन्धुजोवपुष्पसज्जिभौ रक्त-वर्णो जीवधारकः कन्दपीभिधी वायुः, त्रिकोणशक्तिपीठ-मध्यवर्ती क्षेति सम्बन्धः [सनीलाः] नीडं ब्रह्मरन्ध्रस्यो-परि वर्तमानं सहस्रार पश्चं शिववासस्थानं तेन सहिताः [त्रयः] उपरितनचक्रविशेषाः अनाहतविशुद्धा-ज्ञानामकाः क्ष कुत्रेत्यपि च न ज्ञायते [वाजिनः] बल-शालिनः सर्वैशक्तिसम्पन्नस्य [रास्भस्य] रासेन रसग्रन्थुरेण-आनन्दघनेन स्वात्मना भासमानस्य, आनन्दघनस्वप्रकाशस्य रासो रासलीला शिवशक्तिसंगमलक्षणा सर्वरसाधार-भूता, ततः शोभमानस्य वा शिवस्य [योगः] कुल-कुण्डलिनीरूपया शक्त्या समं सम्बन्धः, योगशास्त्रोपटिष्ठ-षट्चक्रभेदनादिक्रियाकौशलेन प्रबोधितायाः कुल-कुण्डलिनीरूपाया महाशक्तेः सहस्रारपद्ममध्यवर्तिनि भगवति शिवे लय इति यावत्, [येन] लययोगेन [यज्ञम्] यज्ञनं मिथः सङ्गमनम् 'यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इति धातुपाठः [नासत्या] सर्वदा वर्तमानौ शक्तिशिवौ युवां [उपयाथः] उपगच्छथ.—संयोगः, [कदा] कस्मिन् काले इत्यपि न ज्ञायते, अपि सातापितरौ शक्तिशिवौ, युष्मत्वसादात् अस्मिन् पिण्डे कस्य चक्रस्य किं स्थानं का अधिष्ठात्री देवी कियन्ति दलानि को वर्णे मूलाधारपद्मस्थ-कुलकुण्डलिनीशक्तेः सहस्रदलपद्मस्थशिवे लयगमन-समयश्च क इत्येतत् सर्वमवगतं भवतु, अवगत्य च तथानुतिष्ठेयं भवत्कर्णयेति भावः।

अर्थात् (छान्दोग्यप्रतिपादित सुषिके अनुसार) अग्नि, जल, पृथिवी इन तीन भूतोंका कार्य गरीर है, रथ नाम—'गरीर रथमेव तु' शरीरको ही रथ समझो, इस कठश्रुतिके प्रमाणसे—गरीरका ही है। उस गरीररथके मध्यमे नीचेके तीन चक्र, जिनके मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर ये नाम हैं, वे कहाँ हैं, उनका स्थानविशेष

कौन-मा है, यह हमे जात नहीं। जीवधारक वन्धुजीव पुष्पके समान नितान्त रक्तवर्ण कन्दर्प नामक वायु कहो है, अर्थात् उसके निवासस्थानके ज्ञानसे भी हम वश्चित हैं। गिववामस्थान सहस्रदलकमलसहित ऊपरके तीन चक्र, जिनके अनाहत, विगुद्ध, आज्ञा ये नाम हैं, कहो हैं, यह भी हमें जात नहीं, सर्वशक्तिसम्पन्न आनन्दघन स्वप्रकाश गिव परमात्मा, जो गिवगत्तिसगमरूप रासलीलासे शोभित होते हैं, उनका आधारपद्मस्थित कुलकुण्डलिनी महाशक्तिसे योग अर्थात् कुलकुण्डलिनीका उनमें लय जिसके द्वारा गिवशक्ति दोनों परस्पर सङ्गत होते हैं, वह लय किस समय होता है, इसका भी हमे पता नहीं है। हे अविनाशी गिवशक्ति माता-पिता ! आपकी कृपासे लययोगसम्बन्धी ये सब वातें मुझे जात हों और मैं जानकर उस लययोगका अभ्यास करूँ ।

वेद पूर्णपुरुष जगदीवरकी कृति हैं, उनमें आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक तीनों भाव रहते हैं, क्योंकि कार्य कारणके अनुरूप ही होता है। जब वेदके रचयिता प्रभुमें क्रमशः ब्रह्म, ईश तथा विराट् ये पूर्वोक्त तीन भाव हैं तब प्रभुकी कृति वेदमें भी क्यों न होंगे ?

भाष्यकार यथारुचि केवल एक भावके दृष्टिकोणसे वेदमन्त्रोंकी व्याख्या किया करते हैं, इससे यह समझना भारी भूल है कि अन्य भावका अर्थ है ही नहीं या भाष्यकार उसको जानते ही न थे। आचार्य सायणने

आधिदैविक भाव जिसका सम्बन्ध कर्मकाण्डसे है, उसी भावके दृष्टिकोणसे रचना की है। अतः सायणभाष्यमें आध्यात्मिक योगपक्षका अर्थ न मिलना युक्तिसङ्गत ही है। परन्तु अनन्त स्थलोंमें आध्यात्मिक पक्षके अनुकूल भी व्याख्या की है जिसके द्वारा कृपालु सायणाचार्यने जिजासुओंकी दर्शित भ्रान्तिका सर्वथा मूलोच्छेष कर दिया है।

इस निवन्धमें उद्दृत वेदमन्त्रोंके योगसम्बन्धी अर्थ श्रीसनत्कुमारप्रवर्तित मुनि (उदासीन) सम्प्रदायके पुनरुत्थापक आचार्य योगिराज गिवस्वरूप विद्युरु, सोलहर्वी गतावदीके महापुरुष श्रीश्रीचन्द्र महाराजनिर्मित योगप्रदीपसे लिये गये हैं।

आचार्यश्रीकृपासे वावा श्रीहजारा, महाराज श्री-वनखण्डीजी, पञ्चावकेसरी महाराज रणजीतसिंहके परम श्रद्धेय तत्समकालीन योगिराज महाराज श्रीहरिदास प्रभृति अनन्त महापुरुष भारतवर्षके रक्त मुनिसम्प्रदायमें हुए हैं। अब भी क्रष्णकेशवासी योगिराज श्रीस्वरूपानन्दजी महाराज हैं जो इस समय योगविद्याके अद्वितीय वेत्ता है।

दुःसहा राम संसारविपवेगविपूचिका ।
योगगारुडमन्त्रेण पावनेनोपशास्यति ॥

‘हे राम ! इस संसारस्पी विषके वेगकी वेदना वडी दुःसह है। यह पावन योग-गारुड मन्त्रसे ही गान्त होती है।’

ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या

(लेखक — प० श्रीवलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

उपक्रम

भारतीय दर्शनमें प्राणविद्याका विशेष महत्त्व है। इस विद्याका जितना चिन्तन तथा अध्ययन हमारे प्राचीन प्रज्ञपि-मुनियोंने किया था, उतना जायद ही किसी अन्य देशके विद्वानोंने किया होगा। सच तो यह है कि प्राणो-पासनाकी विद्या हमारी अपनी मम्पत्ति है। प्राणके वास्तविक महत्त्वको समझना, इस शरीर तथा वायु जगत्में उसके सचे कार्य तथा व्यापक प्रभावको परखना, तथा किसी देवताका धारोप कर उसकी उपासना करना—ये सब तिद्वान्त इस भारत-भूमिपर ही हमारे पूर्वजोंकी सात्त्विक दुदि तथा उद्दर मस्तिष्कके कारण ही प्राचीन कालमें

उत्पन्न हुए तथा अब भी हममें किसी-न-किसी त्यप्तें दृष्टिगोचर होते हैं। यह विद्या कवसे चली ? यह कहना विल्कुल असम्भव है, परन्तु जब हमारे साहित्य तथा धर्मका प्रथम प्रभात हुआ, तभीसे इस विद्याका उदय हुआ होगा, यह हम विना रोक-टोक कह सकते हैं, क्योंकि हमारी वैदिक संहिताओंमें, विशेषतः क्रक् तथा अर्यव-वेदकी संहिताओंमें, इस विद्याका समुल्लेख मवसे पहले किया गया मिलता है। विद्वानोंसे वह अपरिचित नहीं कि उपनिषदोंमें प्राणविद्या भरी पड़ी है, परन्तु उपनिषदोंमें नहीं। प्रत्युत आरण्यक तथा सहितामें इस विद्याका यथेष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। वहूत-से विद्वानोंको वह

सिद्धान्त नवीन-सा प्रतीत होगा, परन्तु यह बात है विल्कुल ठीक। इस महत्वपूर्ण प्राणविद्याके प्रथम निर्देश तथा सकेत उपनिषदोंसे पूर्व वैदिक सहिताओं तथा आरण्यकोंमें भी मिलते हैं, इसका निश्चय इन कतिपय पृष्ठोंके पढ़नेवालेको अवश्य हो जायगा।

आरण्यकोंका विषय

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। 'मन्त्र-ब्राह्मणात्मको वेदः।' मन्त्रोंके सग्रहोंको 'सहिता' कहते हैं। ऐसी सहिताएँ हमारे यहाँ बहुत हैं, क्रक्षसहिता, सामसहिता आदि। ब्राह्मणोंके तीन भेद हैं—ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद्। उपनिषद्में ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह जानकाण्ड हुआ। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-यागादिका सर्वत्र वर्णन है। इसका प्रधान विषय कर्मकाण्ड हुआ। यह गृहस्थोंके लिये है जो घर-द्वार बनाकर वेदविहित यज्ञोंका अनुष्ठान अपने कल्याणके लिये किया करते हैं। आरण्यकोंका स्थान ब्राह्मणों तथा उपनिषदोंके बीचमें आता है। 'आरण्यक' नाम पड़नेके दो कारण बतलाये जाते हैं। एक तो यह हुआ कि ये ग्रन्थ अरण्यमें ही पढ़ने योग्य है, इनका अध्ययन तथा मनन धरण्य (जगल) में ही करना चाहिये। अतः अरण्यमें पाठ होनेके कारण इन ग्रन्थोंका नाम आरण्यक पड़ा। दूसरा कारण यह है कि ये उन लोगोंके लिये हैं जो गृहस्थाश्रमको छोड़कर बानप्रस्थ-आश्रममें हैं। अतः जो लोग घर-द्वार छोड़कर जगलमें कुटिया बनाकर अधिकतर निवास किया करते हैं उन्हीं तृतीय आश्रममें रहनेवालोंके लिये 'आरण्यक' ग्रन्थ दृष्ट हुए। इन ग्रन्थोंके विषय-विवेचनसे भी पूर्वोक्त नामकरणके हेतुकी सत्यताका अनुमान किया जा सकता है। इन आरण्यक ग्रन्थोंमें कर्म-काण्डकी दार्शनिक भित्तिका ही विवेचन नहीं है, प्रत्युत अन्य भी अनेक दार्शनिक सिद्धान्तोंके उद्भव यहाँ दिखायी पड़ते हैं जिनका प्रचुर विकाश उपनिषदोंमें हमारे सामने आता है। इस प्रकार आरण्यकमें वर्णित दार्शनिक सिद्धान्तोंका अध्ययन करना भारतीय दर्जनके डित्तिहासकी दृष्टिसे अत्यन्त महत्व रखता है। इनके मनन करनेसे हमें पता चलेगा कि वैदिक सहिताओंसे आरम्भ

होकर उपनिषदोंमें विकसितरूप प्राप्त होनेके पहले भारतीय दार्शनिक वादों तथा सिद्धान्तोंके कौन-कौन-से रूप थे। सक्षेपमें औपनिषद सिद्धान्तोंके पूर्वरूपसे अवगत हो जानेके लिये आरण्यकोंका अध्ययन विशेष महत्व रखता है।

ऐतरेय आरण्यक

अर्थवेदको छोड़कर प्रत्येक वेदके एक या अनेक आरण्यक है। ऋग्वेदके दो आरण्यक हैं—ऐतरेय तथा शाखायन। यह ऐतरेय आरण्यक अपने विषयमें विशेष महत्वका है। इसके पॉच्च खण्ड हैं। उन्हें भी आरण्यक ही कहते हैं। प्रत्येक आरण्यकमें कई अध्याय हैं। पहले आरण्यकमें पॉच्च अध्याय, दूसरेमें सात, तीसरेमें दो, चौथेमें एक और पॉच्चवेंमें तीन। इस प्रकार पूरे ग्रन्थमें अठारह अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायमें कई खण्ड हैं। इनमें दूसरे आरण्यकको छोड़कर अन्य भागोंमें ऐसे विषय हैं जिनसे इस समय हमारा मतलब नहीं। द्वितीय आरण्यकके भी सात अध्यायोंमेंसे अन्तिम चार अध्याय मिलकर ऐतरेय उपनिषद् हैं। आदिके तीन अध्यायोंमें प्राणविद्याका विवेचन किया गया है। इस लेखमें इन्हीं अध्यायोंमें वर्णित प्राणविद्याका सार जिज्ञासु पाठकोंके उपकारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। इन अध्यायोंमें प्रमाणके लिये—वर्णित विषयकी पुष्टि करनेके लिये ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोंका निर्देश किया गया है। अतः मुख्य विषयपर आनेसे पहले एक-दो मन्त्र ऋग्वेदसे दिये जायेंगे जिससे प्राणविद्याके ऋग्वेदीय स्वरूपका स्वत्प परिचय प्राप्त हो जाय।

ऋग्वेदमें प्राण-स्वरूप-वर्णन

ऐतरेय आरण्यकके प्राणविद्याविषयक अध्यायोंमें ऋग्वेदके लगभग आठ या दस मन्त्रोंको प्रमाणके लिये उद्धृत किया गया है। यहाँपर केवल दो मन्त्रोंको उद्धृत करनेका विचार है। इन मन्त्रोंका अर्थ भी श्रीसायणाचार्यके भाष्यके अनुसार कर दिया गया है। प्राण समस्त विश्वको व्याप्त किये हुए है, इस विषयमें यह मन्त्र 'तदुक्तमृषिणा' कहकर दिया गया है^१—

अपश्यं

गोपामनिपद्यमान-

मा च परा च पथिभिश्वरन्तम्।

^१ अरण्य एव पाथ्यत्वादारण्यकमितीर्यताम्।

—सायणभाष्य ऐतरेय आरण्यक पृ० २

१ ऐतरेय आरण्यक आनन्दाश्रम सस्करण पृ० १०६।

स सधीचाः स विष्वार्चावसान
आवरीवति भुवनेष्वन्तः ॥

इस मन्त्रके दृष्टा दीर्घतमा क्रडिषि कह रहे हैं कि मैंने प्राणको देखा है—साक्षात्कार किया है। यह प्राण सब इन्द्रियोंका गोपा (रक्षक) है। यह कभी नष्ट नहीं होनेवाला है। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाडियोंके द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिकाके द्वारा क्षण-क्षणमें इस शरीरमें आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीरमें—अध्यात्मरूपमें—वायुके रूपमें है, परन्तु अधिदैवरूपमें सूर्य है। अन्य श्रुति कहती है—

आदित्यो वै बाह्यप्राण उदयत्येष ह्येन चाक्षुं प्राणमनुगृह्णते ।

(प्रश्नोपनिषद् १।७)

यह प्राण आदित्यरूपसे मुख्य तथा अवान्तर दिशाओंको व्याप्त कर वर्तमान है और सब भुवनोंके मध्यमें वारवार आकर निवास करता है। इस मन्त्रसे यही सारांश निकलता है—सर्वे हीद प्राणेनावृतम् । इस समस्त विश्वके देव, मनुष्य तथा पशु आदि समग्र प्राणी प्राणवायुके द्वारा व्याप्त हैं।

प्राण अमृतरूप है। जबतक उसका इस देहमें वास है, यह शरीर मृत्युको प्राप्त नहीं होता। इस सिद्धान्तकी पुष्टि करनेके लिये क्रडिवेदकी यह मन्त्र दिया गया है—

अपाह् प्राहेति स्वधया गृभीतो-
मर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ।
ता शश्वन्ता विष्वाचीना वियन्ता
न्यन्यं विक्युर्न निचिक्षुरन्यम् ॥
(१।१६४।३८)

यह प्राण इस शरीरमें स्थान—अन्नके द्वारा ही स्थित है। यह मलमूत्रादिके निकालनेके लिये अधोभागमें जाया करता है तथा श्वासके लिये मुख आदि ऊर्ध्वभागमें सञ्चरण किया करता है अर्थात् यह अपान तथा प्राणके रूपमें शरीरमें सर्वदा सञ्चार किया करता है। प्राण अमर्त्य है—अर्थात् मृत्युरहित है, परन्तु यह मरणधर्मवाले शरीरके साथ सदा एक स्थानपर निवास करता है। ये शरीर और प्राण

१०. क्र० व० १।१६४।३१; २०।१७७।३

२. प्र० देत० भार० प० १०८

विष्विधव्यापारसम्पन्न है तथा आपसमें विश्व है, क्योंकि मृत हो जानेपर शरीर पृथ्वीपर गिर जाता है, परन्तु प्राण उपर किसी लोकान्तरमें चला जाता है। इन दोनोंमेंसे देहको मनुष्य अन्नपानके द्वारा बढ़ा सकता है, परन्तु प्राणको अन्न और पानसे कोई भी नहीं बढ़ा सकता।

इसी प्रकार अन्य अनेक मन्त्रोंमें प्राणके स्वरूपका व्याख्यात वर्णन हमें उपलब्ध होता है। इन सब मन्त्रोंका निर्देश करनेके लिये यहाँ न तो उचित अयसर है, न स्थान ही। इन दो मन्त्रोंको यहाँ उद्दीप्त करनेसे हमारा यही अभिप्राय है कि प्राणकी महत्त्वाको क्रडिवेदकी सहितामें भी स्वीकार किया गया है। यहाँ हमें प्राणविद्याका वह मूल दृष्टिगोचर होता है जिसका विकास आरण्यकोसे होता हुआ उपनिषदोंमें उपलब्ध होता है।

प्राणकी श्रेष्ठता

सब इन्द्रियोंमें कौन श्रेष्ठ है? इसका उत्तर उपनिषदोंमें एक अतीव हृदयग्राहिणी आख्यायिकाके द्वारा दिया गया है। इस विषयका वर्णन छान्दोग्य (५।१), कौषीतकि (२।१४) तथा प्रश्नोपनिषद् (२।१-१३) में आया हुआ है। छान्दोग्य (५।१।६-१५) का वर्णन पूर्ण ही नहीं, प्रत्युत सबसे प्राचीन भी माना जाता है। परन्तु वात ऐसी नहीं है। आरण्यकमें भी यह कथानक ज्यो-का-न्त्यों मिलता है। ऐतरेय आरण्यकके दूसरे आरण्यकके पहले अध्यायके चतुर्थ खण्डमें यह इन्द्रिय-प्राण-संयाद बड़ी ही सुन्दर रीतिसे दिया गया मिलता है।

चक्षु, श्रवण आदि इन्द्रियोंमें आपसमें यह स्पर्श चली कि उक्थ कौन है? सब ज्ञागड़ने लगे कि मैं ही उक्थ हूँ, मैं ही उक्थ हूँ। अन्तमें उन्होंने कहा कि हमलोग इस शरीरसे निकल चलें, जिसके निकल जानेपर यह शरीर नष्ट हो जाय तथा गिर पड़े, वही सबसे श्रेष्ठ माना जाय। पहले वागिन्द्रिय निकल गयी। परन्तु यह शरीर विना बोले खाते-पीते टिका रहा। अनन्तर चक्षु निकल गया, यह देह विना देखे खाते-पीते टिकी रही। श्रवण निकल गया, यह शरीर विना लुने खाते-पीते टिका रहा। मनके निकल जानेपर भी यह शरीर मूँदे हुएकी तरह खाते-पीते बना रहा; परन्तु प्राणके बाहर निकलते ही यह शरीर गिर पड़ा। इसपर भी प्राणकी श्रेष्ठताके विषयमें इन्द्रियोंको निश्चय नहीं हुआ। अब भी वे आपसमें ज्ञागड़ा करती ही रहती हैं।

इस आरण्यकमें यहाँतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा ऋचः, सर्वे वेदाः, सर्वे धोपा एकैव व्याहृतिः
प्राण एव प्राण ऋच इत्येव विद्यात्।

(ऐत० २। २। १०, प० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने धोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उसकी उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्त्वदूषसे उसकी उपासना करनी चाहिये।

ऊपर प्राणविद्याका जो एक स्वल्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहाँ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि सहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्य मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्गम तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—प० श्रीवड्कनाथजी शर्मा एम० ५०, साहित्याचार्य)



ग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कर्ही स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदबीको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसंघादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोन्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्से मिलानेमें योग अपनी बहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुछी पाना परमायश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुर्धीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्चा तथा योगाभ्याससे हमारा सम्बन्ध उतना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्कृत जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके सम्बन्धमें विचित्र-विचित्र वातें विद्वज्ञनके मुखसे भी सुननेमें आती है। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज लोगोंमें क्यों न हो, भारतीयर्पके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्ढिक्षम भत्ताचार्य—परस्पर-

भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदवास्त्र वौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहाँतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्यास देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायरन इसीको ‘भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात’ कहते हैं।^१ अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक सहिताओंके कालमें भी योगचर्चा अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या ससारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहाँ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-चर्चनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और व्राह्मण। ‘मन्त्र-व्राह्मणात्मको वेदः’। मन्त्रोंके संग्रहका नाम सहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको बतलानेवाला ग्रन्थ व्राह्मण कहा जाता है। व्राह्मणोंका अन्तिम भाग

1. Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

वहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अड़ा वहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद् का अर्थ है 'रहस्य, गुप्त उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शाखाएँ थीं उतनी ही सहिताएँ, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। कठवेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अर्थवेदकी ५० शाखाएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शाखाएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु सहिता, ब्राह्मणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी छुट हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नसुण्डमाण्डूक्यतिस्तिरिः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं तथा ॥
ब्रह्मकैवल्यजावालइवेताश्वी हंस आरुणि ।
गर्भो नारायणो ब्रह्मविन्दुनानादशिरः शिखा ॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइव्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् संख्यातीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१-योगराजोपनिषत्	२०-शौनकोपनिषत्	३९-नीलरुद्रोपनिषत्	५७-कालिकोपनिषत्
२-अद्वैतोपनिषत्	२१-सूर्योत्तापिन्युपनिषत्	४०-पारायणोपनिषत्	५८-कालीमेधादीक्षितो-
३-आचमनोपनिषत्	२२-स्वसवेदोपनिषत्	४१-विल्वोपनिषत्	पनिषत्
४-आत्मपूजोपनिषत्	२३-ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्	४२-मृत्युलाट्गूलोपनिषत्	५९-गायत्रीरहस्यो-
५-आर्योपनिषत्	२४-कात्यायनोपनिषत्	४३-रुद्रोपनिषत्	पनिषत्
६-चतुर्वेदोपनिषत्	२५-गोपीचन्दनोपनिषत्	४४-लिङ्गोपनिषत्	६०-गायत्र्युपनिषत्
७-इतिनासोपनिषत्	२६-तुलस्युपनिषत्	४५-वज्रपञ्चोपनिषत्	६१-गुद्यकाल्युपनिषत्
८-चाक्षुपोपनिषत्	२७-नारदोपनिषत्	४६-वदुकोपनिषत्	६२-गुद्यघोडान्यासो-
९-छागलेयोपनिषत्	२८-नारायणपूर्वतापिनी	४७-गिवसङ्कल्पोपनिषत्	पनिषत्
१०-तुरीयोपनिषत्	२९-नारायणोत्तरतापिनी	४८-गिवसङ्कल्पोपनिषत्	६३-पीताम्बरोपनिषत्
११-द्वयोपनिषत्	३०-चृसिंहपट्टकोपनिषत्	४९-शिवोपनिषत्	६४-राजत्र्यामलारहस्यो-
१२-निरुक्तोपनिषत्	३१-पारमात्मिकोपनिषत्	५०-सदानन्दोपनिषत्	पनिषत्
१३-पिण्डोपनिषत्	३२-यज्ञोपवीतोपनिषत्	५१-सिद्धान्तशिवोपनिषत्	६५-वनदुर्गोपनिषत्
१४-प्रणवोपनिषत्	३३-राघोपनिषत्	५२-सिद्धान्तसरोपनिषत्	६६-श्वामोपनिषत्
१५-प्रणवोपनिषत्	३४-लाड्गूलोपनिषत्	५३-हेरम्बोपनिषत्	६७-श्रीचक्रोपनिषत्
१६-याप्तकल्मन्त्रोपनिषत्	३५-श्रीकृष्णपुरुषोत्तम-	५४-अल्लोपनिषत्	६८-श्रीविद्यातारको-
१७-याप्तकल्मन्त्रोपनिषत् (मवृत्तिका)	सिद्धान्तोपनिषत्	५५-आर्यवणद्वितीयो-	पनिषत्
१८-मठामायोपनिषत्	३६-सङ्करणोपनिषत्	५६-कामराजकीलितो-	६९-पोदोपनिषत्
१९-विश्रामोपनिषत्	३७-सामरहस्योपनिषत्	द्वारोपनिषत्	७०-सुमुख्युपनिषत्
	३८-सुदर्दशोपनिषत्		७१-दत्तपोदोपनिषत्

अब यह स्थिर हुआ कि जिसके प्रवेश करनेपर यह शरीर उठ खड़ा हो, वही उक्त है—यदी ऐसे श्रेष्ठ है। यागिन्द्रिय पहले हुमीं, परन्तु यह शरीर सोया ही रहा। चक्षु, श्रवण, मन वारी-वारी प्रवेश करते गये, परन्तु कोई परिणाम नहीं हुआ। यह शरीर पहलेंकी भौति ही सोया-सा रहा—पृथ्वीपरमे उठ नहीं सका। अन्तमें प्राणने प्रवेश किया, उसके प्रवेश करने ही यह शरीर उठ खड़ा हुआ। अतः प्रतिजाके अनुसार प्राण ही उक्त माना गया। वही सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठ माना गया।^१

आरण्यकका यह वर्णन उपनिषद्के वर्णनसे कई अंगोंमें भिन्न-सा है। उपनिषद्में तो प्राणके निकलते समय शरीरकी अन्य इन्द्रियोंके स्थित तथा निर्जिव होनेकी घटनाका वर्णन है, परन्तु इस आरण्यकमें प्रवेशसे पतित शरीरको खड़ा करा देनेकी योग्यताका एक नवीन उत्तरेख प्राणके विषयमें किया गया है। प्राणकी श्रेष्ठता इस प्रकार उत्कर्षणसे ही नहीं, वर्तिक प्रवेशसे भी सिद्ध की गयी है। इस आरण्यकके अध्ययनसे यह भी पता चलता है कि यह विषय ऋष्वेदकी सहितामें भी निर्दिष्ट किया गया है। इन्द्रियोंने 'त्वमसाक तय समसि' (तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे भूत्य ह) कहकर प्राणकी श्रेष्ठता स्वयं मानी है। यह इस मन्त्रसे स्पष्ट प्रतीत होता है।^२

प्राणकी उपासना

प्राणकी सब इन्द्रियोंमें श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेके अनन्तर उसकी उपासनाके प्रकारका विस्तृत वर्णन इस आरण्यकमें किया गया है। इस प्राणके अनेक गुणका विशद् विवेचन किया गया है। अनन्तर उसमें भिन्न-भिन्न देवता तथा ऋषियोंकी दृष्टि कर प्राणोपासनाके ढग तथा उसके फलका उत्तरेख किया गया है। इस लेखमें इस वर्णनका थोड़ा-सा सारांश प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया गया है।

हमारे आँखोंमें इस पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्डकी एकता-पर सर्वत्र जौर दिया गया मिलता है। बाहर जो यह विशाल ब्रह्माण्ड नानाकारोंसे हमारे सामने उपस्थित है,

१. ऐत० आर० प० १००-१०१

२. ऐत० आर० प० १०२

उसका एक छोटा प्रतिनिधि है यह हमारे लघु शरीर। अतः भीतर तथा बाहर सब जगह भिन्न-भिन्न आकारसे एक ही तत्त्व इस मानव-शरीर तथा विश्वरूपमें समझावसे व्याप्त दृष्टिगोचर हो रहा है। वास्तव जगत्में जो विश्वका पौपक आदित्य है, इस शरीरमें गव इन्द्रियोंकी स्थितिका कारण वही प्राण है। श्रुतिमें प्राण तथा आदित्यकी एकता सर्वत्र प्रतिपादित की गयी है। प्रश्नोपनिषद्में कहा गया है— 'आदित्यो वै वास्तवप्राण उदयत्येष नाशुप्राणमनुगच्छते' (प्रश्न० १। ७)। आरण्यकोंमें भी इसी एकताका प्रतिपादन स्पष्ट थार्डोंमें किया गया है। अतः जिस प्रकार आदित्य हमारी उपासनाका विषय है, उसी प्रकार इस शरीरमें प्राण भी हमारी उपासनाका विषय है। हमारा यह सतत ध्येय होना चाहिये कि हम इस प्राणकी उपासना सदा किया करें।

प्राणकी महिमा

सोऽयमाकाशः: प्राणेन वृहस्त्या विष्टव्यः, तद्यथायमाकाशः: प्राणेन वृहस्त्या विष्टव्य एवं सर्वाणि भूतानि आपि-पीलिकाभ्यः: प्राणेन वृहस्त्या विष्टव्यानीन्येवं विद्यात् ।

(ऐत० आर० २। १। ६)

अर्थात् प्राण इस विश्वका धारक है। 'प्राणकी ही शक्तिसे जैसे यह आकाश अपने स्थानपर रित है, उसी तरह सबसे वहे प्राणीसे लेकर चर्चीतक समस्त जीव इस प्राणके द्वारा ही विधृत है।' यदि प्राण न होता, तो इस विश्वका जो यह महान् सखान हमारे नेत्रोंके सामने सतत आश्रय पैदा किया करता है, वह कहीं भी नहीं रहता।

प्राण सर्वत्र व्याप्त है। 'सर्वं हीद प्राणेनावृतम्' (प्राणसे यह सारा जगत् आवृत है।) वह विश्वका धारक है, अतः वह उसका रक्षक है। मन्त्रमें इसीलिये प्राणको 'गोपा' कहा गया है। प्राण ही आयुका कारण है। कौपीतकि उपनिषद्में प्राणके यह आयुष्कारक होनेकी बात स्पष्ट ही कही गयी है—

यावद्यस्मिन् शरीरे प्राणो वसति तावदायुः ।

(१। २)

जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है। अतः श्रुतिमन्त्रोंमें प्राणके लिये 'गोपा' शब्दका व्यवहार उचित ही है।

प्राणके द्वारा अन्तरिक्ष तथा वायुकी सृष्टि हुई है। प्राण पिता है तथा अन्तरिक्ष और वायु उसकी सन्तान हैं। जिस प्रकार कृतज्ञ पुत्र अपने सत्कर्मोंसे पिताकी सेवा किया करता है, उसी प्रकार अन्तरिक्ष और वायुलुप पुत्र भी प्राणकी सेवामें लगे रहते हैं। अन्तरिक्षका अनुसरण करके ही प्राणिमात्रका सञ्चरण होता है और अन्तरिक्षकी सहायतासे ही आदमी दूर स्थानपर कहे गये शब्दोंको सुन लिया करता है। इस प्रकार अन्तरिक्ष प्राणकी परिचर्या करता है। वायु भी शोभनगन्ध ले आकर प्राणको तृप्ति कर देता है तथा इस प्रकार अपने पिता प्राणकी सेवा किया करता है। ऐतरेय आरण्यकमें प्राणके स्थान तथा पिता होनेकी बात इस प्रकार कही गयी है—

प्राणेन सृष्टावन्तरिक्षं च वायुश्च । अन्तरिक्षं वा अनुवर्वन्ति, अन्तरिक्षमनुश्वरन्ति । वायुरस्मै पुण्यं गन्धमावहति । एवमेतौ प्राणं पितरं परिचरतोऽन्तरिक्षं च वायुश्च ।

अर्थात् 'प्राणसे अन्तरिक्ष और वायुकी सृष्टि हुई। अन्तरिक्षका अनुसरण करके प्राणी चलते हैं और अन्तरिक्षका अनुसरण करके सुनते हैं। वायु इसके पास पुण्यगन्ध ले आता है। इस प्रकार ये अन्तरिक्ष और वायु अपने पिता प्राणकी परिचर्या करते हैं।'

प्राणकी ध्यानविधि

ध्यान करनेके लिये प्राणके भिन्न-भिन्न गुणोंका उल्लेख विस्तृतरूपसे किया गया है। तत्त्वद्रूपसे प्राणका ध्यान करना चाहिये। उन-उन रूपोंसे उपासना करनेसे फल भी तदनुरूप ही उपासकको प्राप्त होंगे। उस ध्यानके कठिपय प्रकारोंका यहाँ उल्लेख किया जाता है।

प्राण ही अहोरात्रके रूपमें कालात्मक है। दिन प्राणरूप है तथा रात्रि अपानरूप। सबेरे प्राण सब इन्द्रियोंको इस शरीरमें अच्छी तरहसे फैला देता है। इस 'प्रतनन' को देखकर मनुष्य लोग कहते हैं 'प्रातायि' अर्थात् प्रकर्षरूपसे प्राण विस्तृत हुआ। इसी कारण दिनके आरम्भ-कालको जिसमें प्राणका प्रसरण दृष्टिगोचर होता है 'प्रातः' (सबेरा) कहलाता है। दिनके अन्त होनेपर इन्द्रियोंमें संकोच दीख पड़ता है। उस समय कहते हैं 'समागात्'। इसी कारण उस कालको 'साय' कहते हैं। विकासके कारण दिन प्राणरूप है और संकोचके हेतु रात्रि अपान

है। प्राणका ध्यान इस प्रकार अहोरात्रके रूपमें करना चाहिये।

प्राण ही देवतात्मक है। वाग्में अग्नि देवताका निवास है, चक्षु सूर्य है, मन चन्द्रमा है, श्रोत्र दिग्गाएँ हैं। प्राणमें इन सब देवताओंकी भावना करनी चाहिये। 'हिरण्यदन् वैद' नामक एक ऋषिने प्राणके इस रूपको जाना था तथा प्राणकी देवतास्तपसे उपासना की थी। इस उपासनाका जो, विपुल फल उन्हें प्राप्त हुआ, उसका वर्णन ऐतरेय आरण्यकमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है (ऐत० आर० पृ० १०३ । १०४) ।

प्राण ही क्रषिरूप है। क्रष्वदेवके मन्त्रोंके द्रष्टा अनेक क्रषि कहे गये हैं। इन सब क्रषियोंकी भावना प्राणमें करनी चाहिये, क्योंकि प्राण ही इन मन्त्रद्रष्टा क्रषियोंके आकारमें विद्यमान है। प्राण ही शयनके समयमें वाग्, चक्षु आदि इन्द्रियोंके निगरण करनेके कारण 'गृत्स' कहलाता है और रतिके समयमें बीर्यके विसर्गजन्य मरु उत्पन्न करनेके कारण अपान ही 'मद' हुआ। अतः प्राण और अपानके संयोगको ही गृत्समद कहते हैं, प्राण ही विश्वामित्र है क्योंकि इस प्राण देवताका यह समस्त विश्व भोग्य होनेके कारणसे मित्र है (विश्व मित्र यस्य असौ विश्वामित्रः)। प्राणको देखकर वागाद्यभिमानी देवताओंने कहा, 'यही हममें वाम'—वननीय, भजनीय, सेवनीय है, क्योंकि यह हममें श्रेष्ठ है। इसीहेतु देवोंमें 'वाम' होनेसे प्राण ही वामदेव है। प्राण ही अत्रि है, क्योंकि इस प्राणने ही समस्त विश्वको पापसे बचाया है (सर्वे पाप्मोऽत्रायत इति अत्रिः)। प्राण ही भरद्वाज है। गतिसम्पन्न होनेसे मनुष्यके देहको 'वाज' कहते हैं। प्राण इस शरीरमें प्रवेश कर उसकी रक्षा सतत किया करता है। अतः वह प्राण 'विभ्रद्वाज' है। इसी कारण वह भरद्वाज है। देवताओंने प्राणको देखकर कहा था कि तुम 'सिष्ठ' हो, क्योंकि इस शरीरमें इन्द्रियोंके निवास करनेका कारण प्राण ही है। प्राण ही सबसे बढ़कर वास या निवासका हेतु है। अतः वह सिष्ठ हुआ। इन निर्वचनोंसे यही सिद्ध होता है कि प्राण ही क्रषिरूप है। अतः प्राणमें इन क्रषियोंकी भावना करनी चाहिये तथा तद्रूप उपासना करनी चाहिये। अन्य क्रषियोंकी भी भावना इसी प्रकार वतलायी गयी है।

इस आरण्यकमें यहॉतक प्राणके विषयमें कहा गया है कि—

सर्वा त्रस्तः, सर्वे वेदाः, सर्वे धोपा एकैव व्याहृतिः
प्राण एव प्राण त्रस्त दृत्येव विद्यात्।

(पेत० २।२।१०, प० १२१)

जितनी ऋचाएँ हैं, जितने वेद हैं, जितने धोष हैं, वे सब प्राणरूप हैं। प्राणको ही इन रूपोंमें समझना चाहिये तथा उपासना करनी चाहिये।

प्राणके इन भिन्न-भिन्न रूपों तथा गुणोंको जानकर तत्त्वदृप्ते उपासना करनी चाहिये।

उपर प्राणविद्याका जो एक स्वत्प परिचय दिया गया है, उससे स्पष्ट प्रतीत हो गया होगा कि प्राणकी उपासना हमारे यहॉ अत्यन्त प्राचीन कालसे चली आती है। उपनिषदोंमें तो उसके विपुल वर्णन उपलब्ध होते ही हैं। आरण्यकोंमें भी प्राणविद्याका प्रचुर वर्णन है, परन्तु सच तो यह है कि सहिताके मन्त्रोंमें भी इनके बहुतसे निर्देश मिलते हैं। अतः इस विद्याके मूलरूपके ज्ञानके लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रोंका इस दृष्टिसे अध्ययन करना चाहिये तथा इस विद्याके उद्भव तथा विकासको ठीक-ठीक समझनेका प्रयत्न करना चाहिये। इति शम्।

उपनिषदोंमें योग-चर्चा

(लेखक—पं० श्रीवद्गुकनाथजी शर्मा एम० ५०, साहित्याचार्य)



ग हिन्दू-जातिकी सबसे प्राचीन तथा सबसे समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद-विवादको कहीं स्थान नहीं, यही वह एक कला है जिसकी साधनासे अनेक लोग अजर-अमर होकर देह रहते ही सिद्ध-पदब्योंको पा गये। यह सर्वसम्मत अविसवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोष्टोपाय है। भवतापतापित जीवोंको सर्वसन्तापहर भगवान्से मिलानेमें योग अपनी वहिन भक्तिका प्रधान सहायक है। जिसको अन्तर्दृष्टि नहीं, उसके लिये शास्त्र भारभूत है। यह अन्तर्दृष्टि बिना योगके सम्भव नहीं। अतः इसमें सन्देह नहीं कि भारतीय तत्त्वज्ञानके कोशको पानेके लिये योगकी कुख्ती पाना परमायश्यक है।

इस कालमें सर्वसाधारणजनको योगका ज्ञान बहुत ही कम है। पण्डितसमाजको जो कुछ ज्ञान है वह पातञ्जल-योगका और वह भी दुरधीत तथा दुरध्यापित शास्त्ररूपेण। योगचर्चा तथा योगाभ्याससे हमारा सम्बन्ध उत्तना ही सम्पर्क रखता है जितना माया-परिष्कृत जीव सर्वदुःखहर महेश्वरसे रखता है। यही एक प्रधान कारण है कि इस समय योगके समन्वयमें विचित्र-विचित्र वार्ते विद्वज्ञके मुखसे भी सुननेमें आती है। अस्तु। इस समय इसकी कैसी भी दुर्दशा अनात्मज लोगोंमें क्यों न हो, भारतवर्षके आध्यात्मिक इतिहासमें योगका सर्वदा विशिष्ट स्थान रहा है। दार्शनिक मत-मतान्तरोंके परस्पर इतने

भिन्न रहनेपर भी, योगाभ्यासमें किसीकी विप्रतिपत्ति सुननेमें नहीं आती। वेदवाह्य वौद्ध, जैन आदि भी योगपर उतनी ही आस्था रखते थे जितनी श्रद्धा वेदसम्मत-मतानुयायी आर्यजनता रखती थी। अनेक विलक्षण आचारसम्पन्न साधकगण भी योगको ही परमालम्बन मानते थे। कहॉतक कहें, हिन्दुओंके नित्य-नैमित्तिक कर्मोंमें भी योगके कितने अङ्ग—आसन, प्राणायाम आदि—व्यास देखे जाते हैं। यह एक बड़ी विशिष्ट बात है कि योगका यह प्राधान्य प्राचीनतम कालसे चला आया है। डायसन इसीको ‘भारतके धर्मजीवनकी एक सबसे विलक्षण बात’ कहते हैं।^१ अन्यत्र हम यह दिखानेका प्रयत्न कर रहे हैं कि वैदिक सहिताओंके कालमें भी योगचर्चा अच्छी तरह ज्ञात थी। वेद ही हमारे—हमारे क्या ससारभरके—सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। यदि यह दिखाया जा सकता है कि वेदके प्रत्येक विभागमें योगके विषयमें बहुत कुछ मिलता है, तब यह बात कभी अत्युक्ति नहीं कही जा सकती कि योग हमारी सबसे पुरानी सम्पत्ति है। इस उद्देश्यको सामने रखकर यहॉ हम उपनिषदोंमें आये हुए योग-वर्णनकी कुछ चर्चा करते हैं।

वेदके दो विभाग हैं—मन्त्र और व्राज्ञाण। ‘मन्त्र-व्राज्ञाणात्मको वेदः’। मन्त्रोंके सग्रहका नाम सहिता है। मन्त्रोंके विनियोग आदि विषयोंको वतलानेवाला ग्रन्थ व्राज्ञाण कहा जाता है। व्राज्ञोंका अन्तिम भाग

1 Paul Deussen The Philosophy of the Upanishads, p 117.

वहुधा आरण्यक होता है। आरण्यकोंका अन्तिम अंश बहुत करके उपनिषद् होता है। यही कारण है कि उपनिषद् वेदान्त कहे जाते हैं। उपनिषद् का अर्थ है 'रहस्य, गुस उपदेश'। वेदका सारभूत विषय जो परम अधिकारप्राप्त शिष्योंको ही बताया जाता था, वही उपनिषदोंमें भरा हुआ है। ऐसा माना जाता है कि वेदकी जितनी शास्त्राएँ थीं उतनी ही सहिताएँ, ग्राहण, आरण्यक तथा उपनिषद् थे। ऋग्वेदकी २१, यजुर्वेदकी १०९, सामवेदकी १०००, तथा अर्थवेदकी ५० शास्त्राएँ थीं। सब मिलाकर ११८० शास्त्राएँ थीं। अतः इतने ही उपनिषद् भी होने चाहिये। किन्तु सहिता, ग्राहणोंके साथ-साथ उपनिषद् भी छुट हो गये। मुक्तिकोपनिषद्में भगवान् श्रीरामचन्द्र सारतर १०८ उपनिषदोंके नाम यों कहते हैं—

ईशकेनकठप्रश्नमुण्डमण्डव्यतिस्तिरः ।
ऐतरेयं च छान्दोग्यं वृहदारण्यकं तथा ॥
ब्रह्मकैवल्यजावालङ्घेताश्वो हंस आरुणिः ।
गर्भो नारायणो व्रह्मविन्दुनानादशिरः शिखा ॥

इन १०८ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं। ऐसे उपनिषदोंका एक संग्रह दो वर्ष हुए अड्यार लाइब्रेरी (मद्रास) से निकला है। इस संग्रहमें ७१ उपनिषद् सङ्ग्रहीत हैं। उनके नाम ये हैं—

१-योगराजोपनिषत्	२०-शौनकोपनिषत्	३९-नीलरुद्रोपनिषत्	५७-कालिकोपनिषत्
२-अद्वैतोपनिषत्	२१-सूर्यतापिन्युपनिषत्	४०-पारायणोपनिषत्	५८-कालीमेधादीक्षितो-
३-आचमनोपनिषत्	२२-स्वसर्वेदोपनिषत्	४१-विल्वोपनिषत्	पनिषत्
४-आत्मपूजोपनिषत्	२३-ऊर्ध्वपुण्ड्रोपनिषत्	४२-मृत्युलाङ्गूलोपनिषत्	५९-गायत्रीरहस्यो-
५-आषेयोपनिषत्	२४-कात्यायनोपनिषत्	४३-रुद्रोपनिषत्	पनिषत्
६-चतुर्वेदोपनिषत्	२५-गोपीचन्द्रनोपनिषत्	४४-लिङ्गोपनिषत्	६०-गायत्र्युपनिषत्
७-इतिहासोपनिषत्	२६-तुलस्युपनिषत्	४५-वज्रपञ्चरोपनिषत्	६१-गुह्यकात्युपनिषत्
८-चाकुषोपनिषत्	२७-नारदोपनिषत्	४६-वटुकोपनिषत्	६२-गुह्यपोटान्यासो-
९-छागलेयोपनिषत्	२८-नारायणपूर्वतापिनी	४७-गिवसङ्कल्पोपनिषत्	पनिषत्
१०-कुरीयोपनिषत्	२९-नारायणोत्तरतापिनी	४८-गिवसङ्कल्पोपनिषत्	६३-पीताम्बरोपनिषत्
११-द्वयोपनिषत्	३०-नृसिंहघट्चक्रोपनिषत्	४९-गिवोपनिषत्	६४-राजत्यामलारहस्यो-
१२-निश्कलोपनिषत्	३१-पारमात्मिकोपनिषत्	५०-सदानन्दोपनिषत्	पनिषत्
१३-पिण्डोपनिषत्	३२-यज्ञोपवीतोपनिषत्	५१-सिद्धान्तिगिर्वोपनिषत्	६५-वनदुर्गोपनिषत्
१४-प्रणवोपनिषत्	३३-राघोपनिषत्	५२-सिद्धान्तसारोपनिषत्	६६-ऋग्मोपनिषत्
१५-प्रणवोपनिषत्	३४-लाङ्गूलोपनिषत्	५३-हेरम्योपनिषत्	६७-श्रीचक्रोपनिषत्
१६-याप्त्कलमन्त्रोपनिषत्	३५-श्रीकृष्णपुरुषोत्तम-	५४-अल्लोपनिषत्	६८-श्रीचिन्मातारको-
१७-याप्त्कलमन्त्रोपनिषत् (सवृत्तिका)	सिद्धान्तोपनिषत्	५५-वार्थर्वणद्वितीयो-	पनिषत्
१८-मठाम्नायोपनिषत्	३६-सङ्कर्पणोपनिषत्	५६-पनिषत्	६९-पोदोपनिषत्
१९-विभामोपनिषत्	३७-सामरहत्योपनिषत्	५७-कामगजकीलितो-	७०-सुमुख्युपनिषत्
	३८-सुर्दर्शनोपनिषत्	द्वारोपनिषत्	७१-तंसपोदोपनिषत्

पूर्वोल्लिखित १७९ उपनिषदोंके अतिरिक्त और भी अनेक उपनिषद् उपलब्ध हैं, किन्तु अभीतक अप्रकाशित हैं। उपलब्ध उपनिषदोंकी संख्या दो शत-तीन शतके मध्यमे है^१। डॉ० डायसनने स्वकल्पित विनिगमकद्वारा परीक्षाकर इन उपनिषदोंका समयक्रमसे चार विभाग किया है^२—

१-प्राचीन गद्य उपनिषद्-

बृहदारण्यक

छान्दोग्य

ऐतरेय

कौषीतकि

तैत्तिरीय

केन

२-प्राचीन छन्दोवद्ध उपनिषद्-

काठक अथवा कठ

ईशा या ईशावास्य

श्वेताष्वतर

महानारायण

३-पीछे के गद्य उपनिषद्-

प्रश्न

मैत्रायणी (य) या मैत्री

माण्डृक्य

४-आर्थर्वण उपनिषद्^३-

सन्ध्यास उपनिषद्

योग उपनिषद्

सामान्य वेदान्त उपनिषद्

वैष्णव उपनिषद्

जैव, शाक्त तथा अन्य छोटे उपनिषद्

इस विभागमें प्रकृतोपयोगी वात यह है कि योगोपनिषद् डॉ० डायसनके मतानुसार विल्कुल अर्वाचीन हैं। ये उपनिषद् ऐसे हैं कि इनको देखते ही विद्वान् समझ सकते हैं कि ये योगके सभी अङ्गोंसे भरे हुए हैं। पीछेके योग-विषयक ग्रन्थ-हठयोगप्रदीपिका, गोरक्षपद्धति, शिवसहिता आदि-हन्हीं उपनिषदोंके आधारपर बने हुए हैं। इन योगोपनिषदोंका संग्रह भी ए० महादेव शास्त्रीद्वारा सम्पादित भद्रासकी अड्यार लाइब्रेरीसे निकला है। इसमें निम्नलिखित २० उपनिषद् उपनिषद् व्रह्मयोगिकृत टीका-सहित दिये हुए हैं^४—

१ अद्वयतारकोपनिषत्	(शु० य०)
२ अमृतनादोपनिषत्	(कू० य०)
३ अमृतविन्दूपनिषत्	(कू० य०)
४ क्षुरिकोपनिषत्	(कू० य०)
५ तेजोविन्दूपनिषत्	(कू० य०)
६ त्रिशिखिव्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
७ दर्शनोपनिषत्	(सा० वे०)
८ ध्यानविन्दूपनिषत्	(कू० य०)
९ नादविन्दूपनिषत्	(ऋ० वे०)
१० पाशुपतब्रह्मोपनिषत्	(अ० वे०)
११ व्रह्मविद्योपनिषत्	(कू० य०)
१२ मण्डलव्राह्मणोपनिषत्	(शु० य०)
१३ महावाक्योपनिषत्	(अ० वे०)
१४ योगकुण्डल्युपनिषत्	(कू० य०)
१५ योगचूडामण्युपनिषत्	(सा० वे०)
१६ योगतत्त्वोपनिषत्	(कू० य०)
१७ योगशिखोपनिषत्	(कू० य०)
१८ वराहोपनिषत्	(कू० य०)

१. विल्वलकर और रानडेकृत History of Indian Philosophy (भारतीय तत्त्वज्ञानका इतिहास, खण्ड २, पृ० ८७)

२. Paul Deussen The Philosophy of Upanishads (Eng Transl), pp 22-26 अन्य (भारतीय) विज्ञान इस विभागको माननेमें समर्थ नहीं है। ग्राहात्मक या पद्यात्मक होनेसे ही प्राचीन अथवा अर्वाचीन कहना वास्तवमें इतना युक्तियुक्त नहीं जैचता। देखिये-- Belvelkar and Ranade History of Indian Philosophy, vol, II pp. 89-90

३. समझमें नहीं आता डॉ० डायसनने इन सबको आर्थर्वण उपनिषद् कैसे कह दिया। वह कहते हैं, "All of these Upanishads were received into the Atharvaveda" किन्तु इस सिद्धान्तपर वह कैसे पहुचे, इसका पता नहीं लगता। उपनिषद् व्रह्मयोगिकों टोकासे स्पष्ट विदित होता है कि वे भिन्न-भिन्न वेदोंको शाखाओंसे सम्बन्ध रखते हैं।

४ इम आगे योग-उपनिषदोंके नामके साथ संक्षेत्राक्षरद्वारा उनके वेदकों भी सूचना देते हैं।

शु० य०=शुक्लज्युवेद, कू० य०=कूण्डल्युवेद, सा० वे०=मामवेद, कू० वे०=कूण्डवेद, अ० वे०=अथर्ववेद।

१९ शाण्डिल्योपनिषद्
२० हंसोपनिषद्

(अ० वे०)
(शु० य०)

अप्रकाशित उपनिषदोंके सग्रहमें योगराजोपनिषद् भी एक है। इस तरह ये २१ उपनिषद् योगोपनिषद् कहे जाते हैं। नीचे हम प्रत्येकके प्रतिपादित विषयका उल्लेख सक्षेपसे करते हैं—

१—अद्यतारकोपनिषद्—इसमें लक्ष्यत्रयके अनुसन्धानद्वारा तारकयोगका साधन कहा गया है।

२—अमृतनादोपनिषद्—इसमें षडङ्गयोगका वर्णन है। ये षडङ्ग प्रसिद्ध षडङ्गसे जरा भिन्न हैं। यहाँके षडङ्ग ये हैं—

प्रत्याहारस्थाध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।
तर्कश्चैव समाधिश्च पद्मो योग उच्यते ॥

‘प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—यह षडङ्गयोग कहाता है।’

तर्कका लक्षण यह है—

आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।

‘आगमसे अविरुद्ध अनुमान तर्क कहाता है।’

आसनोंका उल्लेख समाधिसिद्धयुपायमें यों किया है—
पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।
बद्धवा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥

‘उत्तराभिमुख होकर पद्मक या स्वस्तिक या भद्र या बद्ध योगासन।’

३—अमृतविन्दूपनिषद्—मन ही वन्धनका कारण है। वन्धाय विषयासक्तं मुक्त्वै निर्विपयं स्मृतम् ॥

‘विषयासक्त मन वन्धका और निर्विपय मन मुक्तिका कारण है।’

निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो हृदि ।
यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ॥

‘विषयासक्तिसे मुक्त और हृदयमें निरुद्ध मन जब अपने अभावको प्राप्त होता है तब परमपद प्राप्त होता है।’

तावदेव निरोद्धन्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।
एतज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तर ॥

‘तभीतक हृदयमें मनका निरोध करना चाहिये जबतक उसका क्षय न हो जाय। इसीको ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, वाकी सब न्यायका विस्तार है।’

इसके अनन्तर ज्ञानका स्वरूप तथा ध्यानका प्रकार कहा गया है।

४—क्षुरिकोपनिषद्—इसमें प्रसिद्ध षडङ्ग—आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—सक्षेपसे कहे गये हैं। ‘आसनमवस्थितः’ कहकर छोड़ दिया है, किसी आसन-विशेषका नाम नहीं लिया है।

५—तेजोविन्दूपनिषद्—यह जरा बड़ा उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें परब्रह्म-स्वरूप, तथा परब्रह्मावगतिसाधन पञ्चदग्गाङ्गयोग कहा गया है। पञ्चदग्ग अङ्ग ये हैं—

यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
मासनं मूलवन्धश्च देहसाम्यं च द्वृक्स्थितिः ॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यद्वानि वै क्रमात् ॥

‘यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलवन्ध, देहसाम्य, द्वृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—ये अङ्ग क्रमसे वराये हैं।’

यम आदिका स्वरूप भी भिन्न ही प्रकारसे कहा गया है। उदाहरणार्थ यमका लक्षण देते हैं—

सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥

‘यह सब ब्रह्म है, इस ज्ञानसे इन्द्रियोंका संयम करना ही यम कहाता है। इसीका वारवार अभ्यास करना चाहिये।’

द्वितीय अध्यायमें अखण्डकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व भावनाद्वारा सबका एकस्त्व प्रतिपादित किया गया है। तृतीयाध्यायमें ब्रह्मानुभवका वर्णन है। चतुर्थ अध्यायमें जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदिका वर्णन है। वाकीके तीन अध्यायोंमें वेदान्तप्रतिपाद्य तत् पदार्थ और त्व पदार्थ-के अभेदका निरूपण है।

६—निरिखित्राक्षणोपनिषद्—पहले सृष्टिनम दिखाया गया है। योग दो प्रकारका है—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।
वन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ॥

‘विहित कर्मोमें इस बुद्धिका होना कि यह कर्तव्य कर्म है, मनका ऐसा नित्य वन्धन कर्मयोग है।’

यतु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि वन्धनम् ।
ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ॥

‘और श्रेयोऽर्थमें चित्तका सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिये। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियोका देनेवाला और मङ्गलकारक है।’

इसके अनन्तर निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय अष्टाङ्गयोग कहा है। अष्टाङ्ग वे ही प्रसिद्ध अष्टाङ्ग है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

यम—१ अहिंसा, २ सत्य, ३ अस्तेय, ४ ब्रह्मचर्य,
५ दया, ६ आर्जव, ७ क्षमा, ८ धृति, ९
मिताहार, १० शौच ।

नियम—१ तप, २ सन्तोष, ३ आस्तिक्य, ४ दान,
५ हरिका आराधन, ६ वेदान्तश्रवण, ७ ही,
८ मति, ९ जप, १० ब्रत ।

आसन—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ वीर, ४ योग,
५ पद्म, ६ बद्धपद्म, ७ कुकुट ८ उत्तान कूर्मक,
९ धनु, १० सिंह, ११ भद्र, १२ मुक्त, १३
मयूर, १४ सिद्ध, १५ मत्स्य, १६ पश्चिमतान,
१७ सुख ।

प्राणायाम—प्राणायाम वतलानेके पहले अभिस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्क, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु आदिका विशद वर्णन दिया गया है। केवल कुर्मक, सहित तथा नाडी-शोधक प्राणायाम, प्राणायामफल, प्राणधारणसे रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहा गया है।

प्रत्याहार—

यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।
स्थानावस्थानं समाकृष्य प्रत्याहार स उच्यते ॥

‘यदि अठारहों मर्मस्थानोंमेंसे प्रत्येक स्थानमें (मनसे परमात्माको) धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।’

इसके अनन्तर १८ मर्मस्थानोंके नाम इस प्रकार दिये हुए है—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जङ्घामध्य, ऊरमध्य और मूल, पायु, द्वदय, शिश्र, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमूल, प्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय और करमूल ।

धारणा—

पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ।
मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।
धारणा सा च संसारसागरोत्तरकारणम् ॥

‘इस पञ्चभूतिक देहके पॉचों भूतोंमें, यमादिसे युक्त मनका धारण करना ही धारणा है, वह सासारसोगरसे तारनेवाली है।’

ध्यान—

चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।
स्वरूपव्यासरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ॥

स्वरूपव्यासरूप परम परमात्मा वासुदेवका चिन्तन ही ध्यान है। वह कैवल्यसिद्धिका देनेवाला है।

ध्यान दो प्रकारका है—सगुण तथा निर्गुण ।

समाधि—

अहमेव परब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।
समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥

‘मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ, ऐसी सम्यक् स्थितिको समाधि जानो, उसमें और कोई भी वृत्ति नहीं रहती।’

सुषुसिवद् यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।
निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमद्द्वन्द्वते ॥

‘सोया हुआ-सा जो चलता है, स्वभावसे ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपदका आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है।’

७-दर्शनोपनिषद्-सांकृति नामक शिष्य अपने गुरु दत्तात्रेयसे पूछते हैं और वह अष्टाङ्गयोग कहते हैं। अष्टाङ्गयोग पूर्वोक्त ही है। यम और नियम ऊपर कहे हुए दस-दस हैं। यहाँ उनके प्रत्येकके लक्षण दिये हुए हैं। आसन १ दिये गये हैं—१ स्वस्तिक, २ गोमुख, ३ पद्म, ४ वीर, ५ सिंह, ६ भद्र, ७ मुक्त, ८ मयूर, ९ सुख

या सम। इसके अनन्तर देहका वर्णन है। नाड़ी, वायु, नाड़ीके देवता, नाड़ियोंमें संवत्सरात्मप्राणसूर्यसञ्चार अन्तस्तीर्थ आदिका बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गोंका भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदोंमें एक उत्तम उपनिषद् है।

८-ध्यानविन्दूपनिषद्-ब्रह्मध्यानयोग (प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान त्रिमूर्तिध्यानद्वारा) पहले प्रतिपादित है। घड़ज्ञयोग इसके अनन्तर कहा गया है। आसन चार ही कहे गये हैं—सिंह, पद्म, भट्ट तथा सिद्ध। अन्तमें नादानुसन्धान-द्वारा आत्मर्द्गन वतलाया गया है।

९-नादविन्दूपनिषद्-इसमें प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

१०-पशुपतब्रह्मोपनिषद्-इसमें ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्माकी हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयत्त्वप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय हैं।

११-ब्रह्मविद्योपनिषद्-प्रणवकी चारो मात्रायोंका वर्णन देकर सुपुम्नाके विषयमें यों कहा है—

पशुसून्ननिभा सूक्ष्मा शिखाभा दृश्यते परा।
सा नाडी सूर्यसंकाशा सूर्यं भित्त्वा तथा परम् ॥
द्विसप्तिसहस्राणि ज्ञाडीर्भित्त्वा च मूर्च्छनि ।
वरदा सर्वभूतानां सर्वं व्याप्त्यैव तिष्ठति ॥

‘मृणाल-तन्तुके समान सूक्ष्म और ज्वाला-सी उज्ज्वल और सूर्यसूदृढ़ प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्यको भेदकर परमको प्रात होती है और मूर्धामें वहत्तर हजार नाडियोंको भेदकर सबको व्यापकर रहती है।’

नादके द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिस्पृण, हस्तिया, हस्तयोगिके द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय हैं।

१२-मण्डलप्राणोपनिषद्-घट्टेपहल अष्टाङ्गयोग कहा है। चार यम कहे गये हैं—शीतोष्णाहार-निद्राविजय., सर्वदा ज्ञानित, निश्चलत्वम्, विषयेन्द्रियनिग्रहैते यमा । तदनन्तर नव नियम है—गुरुभक्ति., सत्यमार्गानुरक्ति., सुखायगतवस्त्वनुभवश्च तदल्पनुभवेन तुष्टि; १३—१४

निःसङ्गता, एकान्तवासः, मनोनिवृत्तिः, फलान-भिलापः, वैराग्यभावश्च नियमाः। और सब अङ्ग प्रसिद्ध रीतिसे ही कहे गये हैं। यह उपनिषद् अधिकांश तारकयोग तथा अमनस्कयोगमें ही लगाया गया है।

तद्योगं द्विविधं विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यादभनस्कं तदुत्तरम् ॥

‘वह योग पूर्वोत्तर विधानसे दो प्रकारका है, पूर्वमें करनेका तारकयोग और बाढ़का अमनस्कयोग है।’ तारक भी द्विविध है, मूर्ति तारक और अमूर्ति तारक। जो इन्द्रियान्त है वह मूर्ति तारक है, जो भ्रूयुगातीत है वह अमूर्ति तारक है। दोनोंका ही मनोयोगसे अभ्यास करना चाहिये।... उत्तरयोग अमनस्कयोग है।

ताल्मूलोर्ध्वभागे महज्योतिविंशते, तद्दर्शनादणि-मादिसिद्धि ।

‘ताल्मूलके ऊर्ध्व भागमें महज्योति है। उसके दर्शनसे अणिमादि सिद्धि प्राप्त होती है।’

१३-महावाक्योपनिषद्-इस छोटेसे उपनिषद् में हस्तिया कही गयी है। पर यहाँ कुछ विशेष है।

विद्या हि काण्डान्तरादित्यो ज्योतिर्मण्डलं ग्राह्यं नापरम्। असावादित्यो व्यहेत्यजपयोपहितं हंसं सोऽन्म्। प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिष्टुपात्मनि ब्रह्मण्यभिद्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति ।

‘काण्डान्तरमें जो ज्योतिर्मण्डलस्वरूप आदित्य हैं वही विद्या हैं, अन्य कोई नहीं। ‘असौ आदित्यो ब्रह्म’ यही आदित्य ब्रह्म है जिसका ‘हंस. सोऽन्म्’ इस अज्ञा मन्त्रसे निर्देश किया जाता है। प्राणापानकी अनुलोम और प्रतिलोम गतिसे वह विद्या जानी जाती है, दीर्घकालके अभ्याससे वह विद्या लाभकर ज्ञव विवृत् आत्मा ब्रह्मका ध्यान किया जाता है तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं।’

१४-योगकुण्डल्युपनिषद्—

हेतुठयं हि चित्तस्य वासना च समीरण ।
तयोर्विनष्ट एकस्मिलद्वावपि विनश्यतः ॥

तयोरादौ समोरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।

मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥

‘चित्तके दो हेतु है, वासना और प्राण। इनमेंसे किसी एकके नष्ट होनेसे दोनोंका नाग होता है। इनमेंसे पहले सदा प्राणको ही जय करना चाहिये, तब मिताहार होकर आसन साधे और फिर शक्तिचालन करे।’

इस सिद्धान्तको कहकर आसन प्राणायामादिद्वारा कुण्डलिनीयोग प्रथम अध्यायमें कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें खेचरी, मन्त्रद्वारा तथा प्रसिद्ध अभ्यासद्वारा, कही गयी है। तृतीय अध्यायमें ब्रह्मस्वरूप, जीवस्वरूप, मुक्तिस्वरूप आदि कथित हैं।

१५—योगचूडामण्यपनिषद्—चक्र, नाडी, वायु आदिका तत्त्व बतलाते हुए घड़ज्ञयोग इसमें कहा गया है। तदनन्तर प्रणवाभ्यास प्रतिपादित है। प्रणवाभ्यास करनेवालेको भी प्राणजय करना आवश्यक है, अतः नाडीशोधनादिद्वारा प्राणायाम पन. कहा गया है।

१६—योगतत्त्वोपनिषद्—मोक्ष-प्राप्तिके लिये ज्ञान तथा योग दोनों आवश्यक हैं।

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥

‘योगके बिना ज्ञान ध्रुव मोक्षका देनेवाला भला कैसे हो सकता है? उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्ममें असमर्थ है।’

योग चार हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग।

मन्त्रयोगो लयश्रैव हठोऽसौ राजयोगक ।

इस उपनिषद् प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोगका सविस्तर वर्णन है।

१७—योगशिखोपनिषद्—यह उपनिषद् वडे महत्त्वका है। विषय तो वही है जो योगतत्त्वोपनिषद्में कहा गया है किन्तु यहाँ वडे विस्तारसे तथा प्रकारान्तर से कहा गया है। कुछ बातें उससे भिन्न भी हैं। यहाँ चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं। यहाँ ने ज्ञानिक भूमिका माने गये हैं—

मन्त्रोल्यो हठो राजयोगान्ता भूमिकाः क्रमात् ।

एक एव चतुर्थाऽयं महायोगोऽभिर्धायते ॥

‘मन्त्र, लय, हठ और राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकाएँ हैं। चारों मिलकर यह एक ही चतुर्विध योग है जिसे महायोग कहते हैं।’

इतना ही नहीं, उनके स्वरूप भी कुछ भिन्न प्रकारसे कहे गये हैं। उदाहरणार्थ राजयोग लीजिये—

रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः ।

‘रज और रेतके योगसे राजयोग होता है।’

योगका सामान्य स्वरूप—

प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।

‘प्राणापानको समान करना योगचतुष्टय कहा गया है।’ यह उपनिषद् योगदृष्ट्या सचमुच वडे कामका है।

१८—ब्रह्मोपनिषद्—इसमें पौच अध्याय हैं। चार अध्यायोंमें ज्ञान प्रतिपादित है। पञ्चम अध्यायमें योग कहा गया है। तीन योग हैं—लय, मन्त्र तथा हठ। हठयोगके आठ अङ्ग हैं। यम १०, नियम १० और आसन ११ कहे गये हैं। अन्तमें योगके कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदाढर्यवलादि-साधनके योग, सम्पुटयोग आदि।

१९—शाण्डिल्योपनिषद्—इसमें अष्टाङ्गयोग शाण्डिल्यसे अर्थर्वा कहते हैं। यम १०, नियम १०, आसन ८, प्राणायामके ३ प्रकार, प्रत्याहार ५, धारणा ५, ध्यान २ कहे गये हैं। द्वितीय-तृतीय अध्याय बहुत छोटे-छोटे हैं। इनमें ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अन्तमें दत्तात्रेयका माहात्म्य प्रतिपादित है।

२०—हसोपनिषद्—हंसविद्या सधेष्ठसे प्रतिपादित है। अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं।

२१—योगराजोपनिषद्—चार योग हैं—मन्त्रयोग, लययोग, राजयोग तथा हठयोग। इन चारों योगोंमें आसन, प्राणायाम, व्यान तथा समाधि सम्मत है। लययोगके प्रसङ्गमें नव चक्रोंका वर्णन

दिया गया है। हठ तथा राजयोगके विषयमें और कुछ नहीं कहा गया है।

यह २१ योगोपनिषदोंका सारांग है। इसके देखनेसे कुछ-न-कुछ तद्रत विषयोंका अनुमान हो सकता है। इनमें योगके सभी विषय आ गये हैं। पीछेके ग्रन्थोंमें इन्हीं उपनिषदोंका लिया हुआ माल मिलता है। केवल विषय ही नहीं प्रत्युत वेके-वे ही शब्द अनेक स्थलोंमें मिलते हैं। गोरख आदि सिद्धोंके ग्रन्थोंमें वहाँके श्लोक वैसे-के-वैसे मिलते हैं। जो लोग कहते हैं कि योगके अङ्ग आठसे छँ इन सिद्धोंने किये हैं, उन्हें इन उपनिषदोंको देखना चाहिये। सिद्धोंने बौद्धोंसे योग सीखा यह कहनेका जिनका साहस है, उनके पास प्रमाण क्या है वे ही जानें। तिब्बत आदि उत्तरीय प्रदेशोंमें सिद्धोंकी अनेक कथाएँ प्रचलित हैं, यह कोई प्रमाण नहीं है। इससे तो कुछ दूसरी ही बात निकलती है। जो लोग इन उपनिषदोंको पीछेके कालका मानते हैं, उनकी युक्तियाँ भी अल्पप्राण ही हैं। तथापि इस आगे यह दिखानेका प्रयत्न करते हैं कि जिन्हें विद्वजन प्राचीनतम मानते हैं, उनमें भी योगका विषय अच्छी तरह आया हुआ है।

योग शब्दके इस पारिभाषिक अर्थमें प्रयुक्त होनेके बहुत पूर्वसे योगाभ्यास भारतके लोगोंको अच्छी तरहसे जात था। यद्यपि युज् धातुका प्रयोग मनस् शब्दके साथ तथा ऐसे ही अर्थमें क्रहवेदमें भी मिलता है, तथापि विल्कुल स्पष्टतप्से कठोपनिषदोंमें योग शब्दका प्रयोग हुआ है—

यदा पद्मावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
शुद्धिः न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥
ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्यमौ ॥

(कठोपनिषद् अ० २ वटी ३। १०-११)

'नव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मामे स्थिर होकर वैठती हैं, शुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्थाको परमा गति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणाको योग कहते हैं। उस अवस्थामे साधक प्रमाद-रहित होता है। उत्तरि और नाश योग ही है।'

उपनिषदोंमें योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। सहिता ग्रन्थोंमें योग अनेक कियाकल्पोंके साथ

मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी बहुगः लक्ष्य थीं। बहुत सम्भव है मोक्षप्राप्तिके लिये जब इसका प्रयोग होने लगा तब इसको अध्यात्मयोग कहने लगे।

तं दुर्दशं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गहरेष्टं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥
(कठोपनिषद् १।२।१२)

'बह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजसी है कि देख नहीं सकते, जो गूढ-गाहन स्थानमें प्रवेश किये हुए है, गुहामें बैठा हुआ और गहरमें रहनेवाला है उसको अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोकको त्याग देता है।'

योग शब्दका प्रयोग दर्शनविजेयके लिये होता है या क्रियात्मकयोगके लिये होता है। उपनिषदोंमें दोनों अर्थोंमें योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। ऊपरके दोनों कठोपनिषद्के मन्त्र ही इसके उदाहरण हैं। योगदर्शनके से मत प्राचीन उपनिषदोंमें भी अनेक स्थलोंपर मिलते हैं। यहाँ उन सब वाक्योंके उद्धृत करनेसे लेखका कलेवर बहुत बढ़ जायगा। विज्ञान कठ, मुण्डक, छान्दोग्य आदि उपनिषदोंमें इसे स्वयं देख सकते हैं। क्रियात्मकयोगके भी स्पष्ट, प्रकार, भेद आदि प्राचीन उपनिषदोंमें भी मिलते हैं। इवेताश्वतरोपनिषद्के द्वितीय अध्यायमें षड्जयोगका वर्णन स्पष्ट ही देख पड़ता है। जो लोग योगका षड्जत्व नाथसम्प्रदायसे आया हुआ मानते हैं, उन्हें वह उपनिषद् अपने मतके पलटनेमें बहुत कुछ सहायता देगा।

इवेताश्वतरके कुछ वाक्य हम नीचे देते हैं—
ग्रिस्तं स्याप्य समं शरीरं
हृदान्दियाणि मनसा सनिरुद्ध्य ।
मस्तोङ्गेन प्रतरेत विद्वान्
स्रोतासि सर्वाणि भयावहानि ॥
प्राणान् ग्रीष्मेहे ह स युक्तचेष्टः
क्षणे ग्रीष्मे नासिकयोच्छुवसीत ।
इष्टादेवयुक्तमिव चाहमेन
विद्वान् मनो भारयेताप्रकृत ॥
(२।८-९)

व्याननिर्मथनाभ्यामाद् देवं पठयेत्तिगृहवत् ॥
(२११४)

‘शरीरको त्रिलक्षण अर्थात् शर्ता, गर्दन और सिर उच्चन, और सम करके, मनमादित द्वन्द्वियोंको द्वन्द्वयमें नियन्त कर ब्रह्मस्तुत नाँकामें विद्वान् यत्र भयानक प्रवाहोंको तर जाय । इस शरीरमें प्राणोंका अन्ती तग्द निर्गंध करके युक्तचेष्ट हो और प्राणके क्षीण होनेपर नामिकाद्वारांसे श्वास छोड़ और इन दुष्ट वांदोंकी ल्याम मनको विद्वान् अप्रभाव द्वारा धारण करे । व्यानन्प मन्थनसे अन्वलत गृह-सा नो आन्मा है उसे देखे ।’

यित्र पाठक देखेंगे इसमें योगके पठद्वं किस प्रकार कहं गये हैं । अंतीवत्तरमें योग विमानमें कहा गया है । यनुयेदमहिता आदिमें आये कुछ शोगविषयक मन्त्रोऽसा पूरा भाव-सा दिव्यवार्ता पड़ता है ।

आमनोंका विश्वतृत वर्णन इन उपनिषदोंमें नहीं मिलता है । जैसे श्रीमद्भगवद्गीतामें ‘मम कायद्यिगो-ग्रीवम्’ मिलता है वैसा ही वहाँ दिव्यावी पड़ता है । अ्यानादिके लिये मिठागुन तथा पद्मासनको ओइ अन्य आसन अनुपयुक्त और अनावश्यक है । गोगशुनायने गोगश्चपद्धतिमें इसी हेतु ये ही दो आमन बनलाये हैं ।

शैठिक ग्रन्थोंमें प्राणविद्याका बड़ा केंचा ख्यान है । उपनिषदोंमें भी प्राणोपासना अनेक वावनाओंके द्वारा मिथ्यमित्र प्रकारसे कही गयी है । प्रत्यक्ष सम्बन्ध योगसे प्राणोंका प्राणायामके सम्बन्धमें है । प्राचीन तथा अर्वाचीन भवी उपनिषद् मोशके दो उपाय बताते हैं— मनोजय तथा प्राणजय । मनोजय वामनाओंके क्षीण होनेसे होता है, किन्तु प्राणजय हो जानेसे मनोजय अनायाम सिद्ध हो जाता है । यही कारण है कि योगमें प्राणजयपर इतना जोर दिया जाता है । प्राणजय प्राणायामद्वारा होता है । अतएव प्राणायामका इतना प्राधान्य है । कटोपनिषद् यों कहा है—

२. ऊपर दिये हुए शेनाश्वतरके वाक्यको देखिये—‘प्रियत्रन श्वास सम शरीरम् ।’

२ अन्दोग्य० २।१३।५, ४।३।३-४, ५।१।८-१।
१।१, २, ३। १।१०-१४, कौपीतकि० २।१, ५, शेनाश्वतर०
१।१४-५, इत्यादि ।

द्वद्वं प्राणसुख्यन्यपानं ग्रन्थगम्यति ।
माये वामनमार्सानं विद्वेद्वा उपापत्ते ॥
(२।२।१३)

‘जो प्राणको ऊपर भेजता है और अपानको नीचे फेंकता है उस मध्यमें रहनेवाले वामनको विद्वेद्वा भजने हैं ।’

मुण्डकोपनिषद् में एक वाक्य यों मिलता है—
प्रार्थन्त्रितं मर्वमोनं प्रजानां
यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आन्मा ॥
(३।१।१९)

‘प्रजाओंके प्राणमह सम्पूर्ण चित्तमें वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्धचित्तमें ही विशेषसे प्रकट होता है ।’

योगके सभी अंगोंका वर्णन उपनिषद्चन्द्रोंमें यहाँतक हुआ है । समाविका वर्णन भी अनेक स्थानोंमें मिलता है । अंतीवत्तरमें इस प्रकार वर्णन है—

यर्थव चित्तं मृद्योपलिसं
तेजोमयं आजते तत्र सुधातम् ।
तद्वात्मतत्त्वं प्रमर्मात्म्य देहो
एकं कृतार्थं भवति वीतशोकः ॥
यद्वात्मतत्त्वेन तु वस्त्रतत्त्वं
दीपोपमेनेह युक्तः प्रपद्येत् ।
अजं ध्रुवं मर्वनतत्त्वंविशुद्धं
ज्ञात्वा देवं सुच्यते सर्वपार्थीः ॥
(२।१४-१५)

‘जिस प्रकार कोई तेजोमय विश्व धूलमें धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करनेपर वही चमकने लगता है उसी प्रकार उस आत्मतत्त्वको देखकर देही एकावस्थाको प्राप्त होकर कृतार्थ और वीतशोक होता है । परन्तु जब देही आत्मतत्त्वसे ब्रह्मतत्त्वको परप्रकाशक दीपकी रीतिसे देखता है तब वह आत्मदंवको अज, ध्रुव, सर्व-तत्त्वयिशुद्ध जानकर सब पाश्चाये मुक्त हो जाता है ।’

ऊपर सक्षेपमें दिखानेका प्रयत्न किया गया है कि प्राचीन उपनिषदोंमें भी योगके प्रत्येक अङ्गका विवरण मिलता है । वास्तविक बात तो यह है कि लगभग सभी उपनिषदोंमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षरूपसे योद्धा अथवा

अधिक योग अवश्य ही आया है। उपनिषद् हमारे मोक्षगांत्रिके परमाधार है। मोक्ष अतीन्द्रिय ज्ञानके विना उपहासास्पद है। अतीन्द्रिय ज्ञान विना योगके साथ नहीं। अतः उपनिषदोंसे योगका एक प्रकारसे अविनाभूत सम्बन्ध है। औपनिषदिक योग वडे ही महत्वका विषय है। एक ओर तो सहिताओंमें आया हुआ निगूढ़रूप योग है। दूसरी ओर भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय, धर्म तथा

मतानुरूप विकसित योग है। औपनिषदिक योग ही आगे-पीछेकी कुञ्जी है। योगका इतना भारी किला इसी औपनिषदिक योगके नाँचपर खड़ा है। उपनिषद् वेदान्त है—वेदका सर्वस्वसारभूत निचोड़ हैं। इनको श्रद्धासे समझनेका उद्योग करना चाहिये। काट-कतरकी धिषणाको यहाँ जरा सयत रखना चाहिये। इस धैर्य और श्रद्धाका फल अवश्य परम हितकारक होगा।

उपनिषदोंमें योग

(लेखक—जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसन्प्रदात्याचार्य श्री १०८ स्वामी श्रीरबुवराचार्यजी महाराज)

ग' शब्दका सामान्य अर्थ है 'सम्बन्ध'।

परन्तु महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार चित्तकी वृत्तियोंका वास्तविक निरोध करना ही योग है और यह योग ही कैवल्यमुक्तिका सर्वोत्तम साधन है। यह योग सांख्यत्रयीय योगसे विलक्षण नहीं है—दोनोंकी एकता ही मानी जाती है। परन्तु गीतामें जो 'सांख्ययोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः' इत्यादि श्लोक आये हैं उनमें सांख्य और योग शब्दोंका आशय भिन्न है। गीतामें 'सांख्य' से 'संख्यया बुद्धयावधारणीयमात्मतत्त्वम्'-सख्यासे अर्थात् बुद्धिसे धारण करने योग्य आत्मतत्त्व अर्थात् ज्ञानका अभिप्राय है, और 'योग' से कर्मयोगका। यहाँ कापिल सांख्य और पातञ्जल योगका कोई प्रकरण नहीं है।

यहाँ सांख्य और योग शब्दोंसे ज्ञान और कर्मयोगका ग्रहण किया गया है। सांख्य और योग दोनोंमें स्वल्पभेद तो अवर्जनीय है, पर उभयसाध्य फलांगमें अभेद होनेके कारण यह कहा गया है कि, 'सांख्य और योगको वालक ही पृथक् कहते हैं, पण्डित नहीं, क्योंकि दोनोंमेंसे एकका भी जो अच्छे प्रकारसे अनुष्ठान किया जाय तो दोनोंका ही फल प्राप्त हो जाता है। जो स्थान (मोक्षाख्य फल) ज्ञानसे प्राप्त किया जा सकता है वही योग (निष्कामकर्मयोग) से भी प्राप्त होता है।' यद्यपि याग-दानादि कर्म फलासक्ति और अहंकारबुद्धिसे अनुष्ठित होनेपर ज्ञानलभ्य फलको नहीं दे सकते, तथापि निष्कामबुद्धिसे अर्थात् भगवदर्पणबुद्धिसे उनका अनुष्ठान करनेसे वही फल लुलभ होता है। इसके अतिरिक्त भगवत्परिच्छार्या आदि सत्कर्मोंका भी यहाँ ग्रहण है। यही श्रीगीताचार्य भगवान्का तात्पर्य है।

योग शब्द मनोनिरोधका वाचक है, और मनोनिरोधके विना ज्ञान, भक्ति और नित्यादि सत्कर्म सभी व्यर्थ होते हैं। अतएव परम पुरुषार्थके प्रतिपादक उपनिषदादिमें योग शब्दका प्रयोग दोनों अर्थोंमें समझस होता है और इसी आशयकी पूर्तिके लिये प्रायः सभी उपनिषदोंमें योगका प्रधानरूपसे वर्णन है। कुछ उपनिषदोंमें तो योगका महत्व अन्य साधनोंकी अपेक्षा बहुत ही चढ़ा-चढ़ा देखा जाता है। सायुज्यमुक्तिको ही उपनिषदोंमें वास्तविक मुक्ति कहा गया है। इस मुक्तिकी प्राप्ति जैसे ज्ञान और पराभक्तिसे होती है, टीक वैसे ही योगसे भी होती है। इसमें लेगमात्र भी सन्देह नहीं है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान, पराभक्ति और योग ये शब्द भगवत्प्रातिके चरम साधनके वोधक हैं। अतः इनका उल्लेख मोक्षसाधनतया ही उपनिषदोंमें आता है। इसका स्पष्टीकरण भिन्न-भिन्न उपनिषदोंके दृष्टान्तोंसे किया जाता है। श्वेता-वत्तरोपनिषद् के द्वितीयाख्यायमें योगका बहुत अच्छा विवेचन है। वहाँ योगका सर्वोत्तम फल वताया है और यौगिक क्रियाओंका भी वर्णन है। यथा—

प्राणान् प्रपीडये ह स युक्तचेष्ट-

क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसोत् ।

दुष्टाश्युक्तमिव वाहमेनं

विद्वान् भनो धारयेताप्रभत्तं ॥

(शे० २।९)

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-

विवर्जिते शब्दजलाश्रयाद्विभिः ।

मनोऽनुकूले न तु चम्पुपीठने

गुहानिवाताश्रये प्रयोजयेत् ॥

यदि शैलसम पाप विस्तीर्णं बहुयोजनम् ।
मिदते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

‘पर्वतके समान भी बहुयोजनविम्नीर्ण पापराशि हो तो वह सब व्यानयोगमे नष्ट हो जाती है, और कोई उपाय नहीं है।’ इस उपनिषद्मे योगके छः अङ्ग वताये हैं। यथा—
आसनं प्राणसरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति पट् ॥

इन छः अङ्गोंमें ही पातञ्जलदर्शनके अष्टाङ्गोंका अन्तर्भुवि समझना चाहिये। योगतत्त्वोपनिषद्मे मन्त्र-योग, ल्ययोग, हठयोग और राजयोग इस प्रकार चार प्रकारके योगोंका स्वरूप, लक्षण और विवेचन बहुत अच्छे प्रकारसे किया गया है। पातञ्जलयोगका और इस औपनिषद्योगका ऐक्य ही यहाँ प्रस्फुट होता है। योगतत्त्वोपनिषद्मे तो योगमार्गका बहुत ही सुन्दर स्पष्टीकरण किया गया है। आगम्भमें हिरण्यगर्भका श्रीमहेश्वरसे यही प्रश्न है कि, हे शङ्कर! इस दुःखमय ससारमें सब जीव पड़े हैं और अपने कर्मोंका सुख-दुःखात्म फल भोग रहे हैं। इनकी मुक्ति किस सुगम उपायसे हो, यह कृपया बताइये? इसका श्रीशङ्करजीने यही उत्तर दिया है कि, कर्मवन्धसे मुक्त होनेका उपाय कोई जान और कोई योग कहते हैं, परन्तु मेरा मत तो यह है कि—

योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीह भो ।
योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥
तस्माज्ज्ञानं च योगं च सुमुकुर्दमभ्यसेव ।

‘योगहीन जान और ज्ञानहीन योग कभी भी मोक्षप्रद नहीं होता। इसलिये ज्ञान और योग इन दोनोंका ही सुमुकुर्दमभ्यसेवके साथ अभ्यास करना चाहिये।’ इससे यही सिद्ध हुआ कि वन्धनिवृत्तिके लिये साध्य-साधनभावसे योग और ज्ञान इन दोनोंको स्वीकार करना चाहिये। इस उपनिषद्मे यह भी कहा है कि—

योगशिखां महागुणं यो जानाति महामति ।
न तस्य किञ्चिद्दशातं त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥

‘इस ‘योगशिखा’ को जो महामति साधक जानता है उसको तीनों लोकमें कुछ भी अज्ञात नहीं रहता।’ इस प्रकार योगके रहस्योंको जाननेवाला सर्वं हो सकता है, यही इस वाक्यका सार है।

उपनिषदोंका पूर्णतया मनन करनेपर हम इसी निष्कर्षपर आते हैं कि विना यौगिक साधनोंके हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अधूरी ही रहती है। समस्त उपनिषदोंमें किसी-न-किसी रूपसे योगका समर्थन करते हुए उसको उपादेय बताया है। योग शब्द एक सामान्य शब्द है। वह विशेष पदके समीप होनेसे अनेक अर्थोंका बोधक है। उपनिषदोंमें साधनरूपसे ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं उनको किसी-न-किसी रूपसे योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, ल्ययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगमार्ग ही भगवत्प्रातिका एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रियाके अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकारके साधनोंमें मनका स्वैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदोंका तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्तिकी प्राप्तिसे है। ऐसा कोई मार्ग मोक्षसाधनका नहीं है जिस मार्गमें योगाङ्गोंकी आधारकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दूधमें घृत समाया हुआ है और माताके उपदेशोंमें बालकका हित भरा हुआ है, उसी प्रकार उपनिषदोंमें योग समाया हुआ है। योग शब्द अनेक प्रकारसे उपनिषदोंमें व्यवहृत किया गया है। परन्तु सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनरूपसे एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदोंका प्रतिपाद्य-प्रतिपादकत्वादिरूपसे घनिष्ठ सम्बन्ध है।



तन्त्रमें योग

(लेखक—श्रीअटलविहारी धोष)



ब्रह्मिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्गके अनुसार 'योग' शब्दका अर्थ करते हैं। वेदान्त-पक्षका कहना है—जीव और आत्माके मिलनका नाम योग है। प्रत्यभिज्ञा-पक्षके मतानुसार शिव और आत्माके अभेद-ज्ञानका नाम योग है। भेद-वादियोंके मतमें

पुराण-पुरुषका ज्ञान ही योग है। आगमवादी कहते हैं कि शिव और गक्षिका अभेद-ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करनेके लिये ठीक्खा अवश्य ग्रहण करनी चाहिये। ठीक्खानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्तिकी उपासनासे सिद्धि प्राप्त करनेपर योगमार्गमें प्रवेश करनेका अधिकार प्राप्त होता है। कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शक्ति, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रोंके द्वारा चित्त विशुद्ध होनेपर कौल-ज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्रके द्वितीय उल्लासमें लिखा है—

**शैवैष्णवद्वैर्गीर्कगाणपत्यादिकै क्रमात् ।
मन्त्रैविंशुद्वचित्स्य कौलज्ञानं प्रकाशते ॥**

उक्त तन्त्रमें और भी कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणिके मनुष्य अपने अधिकार-भेदसे परमपदार्थको भिन्न-भिन्न रूपमें देखा करते हैं।

**अन्नौ तिष्ठति विप्राणा हृदि देवो मनीषिणाम् ।
प्रतिमास्वप्रदुद्दनां सर्वत्र विदितात्मनाम् ॥**

अर्थात् क्रिया-काण्डमें अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्रिमें देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदयमें उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रवुद्ध है, वे प्रतिमामें उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी है, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थको देखा करते हैं।

योगसाधनका उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके लिये सबने प्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर, इन पट्ट-रिपुओंका नाश करना। यदौंपर कामादि पट्ट-रिपुओंके स्वल्पका परिचय

देना आवश्यक है। श्री-भोगादिकी जो अभिलाघा है, वही काम है। प्राणियोंको पीड़ा पहुँचानेका नाम है क्रोध। धनादिकी अतिशय आकांक्षाका नाम है लोभ। तत्त्वज्ञानका अभाव ही मोह है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ, इस प्रकारके गर्वको मद कहते हैं। और दूसरेका सौभाग्य देखकर जो दुःख होता है, उसका नाम मत्सर है। ये ही शत्रु हैं, क्योंकि ये ही सब दुःखोंके कारण हैं और ये ही आत्मस्वरूपका विचार करनेमें वाधा पहुँचते हैं। इनका दमन करनेके लिये योगके अष्टाङ्गका अभ्यास करना होगा। योगके ये आठ अग निम्नलिखित हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, वारणा, व्यान और समाधि।

यम शब्दका अर्थ है—उपरति, अर्थात् काम इत्यादि से निवृत्ति। यह दस प्रकारका है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, अर्जव, अमा, धृति, मिताहार और शौच।

अहिंसाका अर्थ है—किसी कर्मके द्वारा, और मनके द्वारा किसी प्रकारसे किसी प्राणीको क्लेश न पहुँचाना। सत्य शब्दका अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो, वैसा ही कहना। अस्तेय शब्दका अर्थ है—दूसरेका तुच्छसे भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। ब्रह्मचर्य शब्दका अर्थ है—आठों प्रकारके मैयुनका परित्याग करना। इस अष्टविव मैयुनका वर्णन शाल्मलमें इस प्रकार आया है—

सरण कोर्तन केलि प्रेक्षणं गुणभापणम् ।

सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥

बुरी भावनासे त्रीका स्मरण, कथन, त्रीके साथ खेलना, त्रीको देखना, छिपकर बातें करना, पानेका सङ्कल्प करना, पानेकी चेष्टा करना और सहवान करना। कृपा शब्दका अर्थ है—प्राणिमात्रकी दुःखनिवृत्तिकी चेष्टा। अर्जव शब्दका अर्थ इस प्रकार धर्जित है—

व्यवहारेषु मर्वेषु मनोवाक्यमस्मिति ।

सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं मर्वेत् ॥

अर्थात् समस्त प्राणियोंके साथ मन, चार्षी और असीरके द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उनमें कुटिलताके अभावका नाम आर्यव है। उसी गलत्ये अपकार करनेवालें प्रति गिरवत् व्यवहार गमतना चाहिये। इष्टवस्तुकी भगविमं जो दुश्मिता उत्तर तोर्ह है, उस दुश्मिताका भगव भी भृति है। भर्ग धारण करनेमात्रके लिये जो भोजन है उसका नाम गिरावर है। जिसके द्वारा चिन निर्मल होता है, उस परिकारका नाम शौच है। यहाँपर यह गमतना चाहिये कि 'गरि इन दस प्रकारके मध्यी नाशनोंमें गंडी। भृत्या और व्रात्यन्तर्य-के द्वारा कामपर, इष्पा और धमाके द्वारा लोपकर, अन्येय, गत्य और आर्यवके द्वारा लोपकर, गिरावर और शौचके द्वारा मोक्षपर, धमा और आर्यवके द्वारा नष्टपर और अहिमा, इष्पा, आर्यव और धमाके द्वारा नष्टपर गिरव प्राप्त होती है।

योगदा द्वितीय अह नियम भी दस प्रकार्या है जैसे—तपः, सन्तोष, आनन्दय, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, तीर्त्या, गति, जप और शंख।

इच्छादि भृति आचरणका नाम तप है। इष्टवस्तुकी भी अभिलापा न होनेका नाम सन्तोष है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थमें परलंगके अभित्वमें जो विश्वास है वर्णी आनिस्य है। यथाविहित अनिन्द्र उपायमें कमाये हुए धनको शक्तिके अनुगार देव, पितर और मनुष्योंके उद्देश्यसे बौद्धना दान कहलाता है। अपनी ग्रन्थमृतिकी उपासना देवपूजा है। उपनिषद् आदि मोक्षशास्त्रोंके सुननेका नाम सिद्धान्तश्रवण है। कुत्सित आचरण-के कारण मनमें जो कष्ट होता है उसका नाम ही है। भृति शब्दका अर्थ है मनन अर्थात् विविध युक्ति-प्रमाणोंकी सहायतासे मुने हुए अर्थका अनुशीलन। यहाँपर जप शब्दसे इष्ट मन्त्रका जप समझना चाहिये। इसके द्वारा चित्तशुद्धि होती है। अविद्योत्रादि शैयका नाम होम है।

आमन अनेक प्रकारके हैं। इनकी कोई सख्त्या नहीं। परन्तु साधारणतः चौरासी प्रकारके आसनोंकी व्रात कर्ती गर्ती है। उनमें पाँच आमन शास्त्रोंमें प्रधान व्रताये गये हैं। इन पाँचोंके नाम हैं—पञ्चासन, स्वस्तिकासन, भट्टासन, वज्रासन और वीरासन।

(१) पञ्चासन—जार्ही लौंगर दार्त्तना और दार्त्तनी गोपष शास्त्री ऐं गामर, शीतेशी गोमे दोनों शाश्वते प्राक्तर दार्त्तने आगे दार्त्तना लैंगदा और गर्वे शाश्वते गार्ही लैंगदा पञ्चासन होता है। इसको दस पञ्चासन लगाने हैं। यह पञ्चासनमें इत्य प्रकार लैंगदा पञ्चासन दिया जाता है।

(२) भर्त्यासन—दार्त्तने द्वारा और द्रव्यारे वीनमें दोपहें पैदला जाता, और याथें दूरने और ग्रहके गमनमें दार्त्तने द्वेषे दार्त्तनों रात, शर्मीर नींगा शास्त्रे दिटना होता है जार्ही लैंगदा और भिरोशासकी एक गोपनी गरना होता है। इसको न्यामालासन कहते हैं।

(३) लग्नासन—जीवनके दोनों ओर दोनों लैंगों-को दार्त्तनाकर, अष्टकोपोदे नींचे दोनों याथेमें लैंगद्यों और दैर्घ्योंकी पारदूकर गिर, निश्चार भारमें बैठा जाता है, इसी-की भद्रासन गाते हैं।

(४) लग्नासन—दोनों जौँसोंके ऊपर दोना लैंगोंको रमकर, दूटनोंतं उपर दोनों याथोंकी दैर्घ्यी रमास्त्र निधलस्त्रपमें बैठनेको लग्नासन कहते हैं।

(५) लग्नासन—एक पैदे दोनों अष्टकोपोंको दार्त्तनाकर दूटरे पैदों दूटरी जानों ऊपर रमकर सम्भावये बैठनेदो वीरासन कहते हैं।

बालन लग्नासेपर जप श्रम दूर हो जाय तब प्राणायाम-का अभ्यास जरना चाहिये। जिस आमनमें गाधहको कोई लैंग न हो और नुगपूर्वक बैठ मरो, वर्ती आमन लग्नाकर प्राणायामका अभ्यास जरना चाहिये। प्राणायाम दो प्रकार्या है—निर्गम और सर्गम्। ध्यान और गानग-जप करते हुए प्राणायाम-साधनका नाम सर्गम् प्राणायाम है। वीज उच्चारण न करो जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निर्गम प्राणायाम है। इदा नार्हीमें अर्थात् वायै नयुनेसे पोटडा-मात्रा वायु आकर्षण करनेका नाम पूरक, चौरासी भास्त्र मात्रा वायु धारण करनेका नाम कुम्भक एवं वर्तीस मात्रामें पिङ्गलासे अर्थात् दार्त्तने नयुनेसे वायु त्वाग करनेका नाम रेचक है। प्राणायाममें तीन प्रकारकी अवस्थाएँ होती हैं। प्रथम अवस्थामें पसीना निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्थामें साधककी देह कॉपती है। और प्राणायामकी उत्तम अवस्थामें साधक भूमि छोड़ सकता है। इस प्राणायाममें सिद्ध होने-

'पर साधक प्रत्याहारका अधिकारी होता है। प्रत्याहार ग्रन्थका अर्थ है इधर-उधर दौड़नेवाली सब इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे निवृत्त करना। और अङ्गुली, एङ्गीसे आरम्भ करके सहस्रारपद्मके नीचे रहे हुए द्वादशदल क्लम्बतक सोलह स्थानोंमें प्राणवायुको धारण करनेका नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणाका अभ्यास गुरुके उपदेशके अनुसार ही करना चाहिए। इनकी कोई साधारण व्यवस्था नहीं है। गुरु शिष्यको योग्यताके अनुसार इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ग्रह-मृत्तिके चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। निरन्तर जीवात्मा और परमात्माके ऐक्यचिन्तनको समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवग्रन्थात्मक या अग्रीयोगमात्मक अथवा शुक्रोणितात्मक है और वह ९६ अङ्गुली लम्बी है अर्थात् साधककी अपनी अङ्गुलियोंसे ९६ अगुल है। पायु और जननेन्द्रियके मध्यके स्थानको कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधारसे असख्य नाड़ियोंकी उत्पत्ति हुई है। उनमें तीन प्रधान हैं; उन तीनोंका नाम है—इङ्गा, पिङ्गला और सुषुमा।

इङ्गा वार्योंओर है, पिङ्गला दाहिनी ओर है और सुषुमा मेशदण्डके मध्यभागमें है। सुषुम्नाके भीतर एक और नाड़ी है, उसे चित्रा कहते हैं। चित्राके अन्तर्भागको ब्रह्मनाड़ी कहते हैं। मूलाधारमें जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहांपर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति साढ़े तीन चक्र-के रूपमें सोयी हुई सर्पिणीकी तरह रहती है। मूलाधारके ऊपर लिङ्गनूलमें जो चक्र है उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभिके मूलदेशमें सुषुम्नानाड़ीसे सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थानमें जो एक चक्र है, उसको अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेशमें जो चक्र है, उसका नाम विशुद्ध चक्र है। और अङ्गमध्यमें जो चक्र है उसको आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थानपर गुरुकी आज्ञाका नज्वार होता है, इसीसे इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी-शक्तिको इन समस्त चक्रोंका भेद करता हुआ मूलाधारसे द्वादशदलचक्रके ऊपरमें शिवस्थानमें ले जाता है और शिवशक्ति सामरस्यलप अतुल आनन्दका भोग करता है। पट्टकलनिहपण, त्रिमुराचारसमुच्चय, गन्धवत्तन्त्र प्रभृति ग्रन्थोंमें इसका विस्तृत वर्णन मिलता

है। महाकालोन्क 'पादुकापञ्चकम्' स्तोत्रमें प्रवौंक द्वादशदलपञ्चका विशेष विवरण है। योगसाधनाका उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधककी एकताकी उपलब्धि हो और क्रमजः अद्वैतभावकी प्राप्ति हो। उस अवस्थाकी प्राप्ति होनेपर सिद्धयोगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणवके या हॉ-कारके चिन्तनमें मग्न होते हैं। उस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्यसे अतीत स्वसचेद्य आनन्द-रससारार तारात्मक यत्कुकी उपलब्धि करते हैं।

अद्वैतलाभके पूर्वकी अवस्थामें जो ध्यान वत्तलायन गया है, वह इस प्रकार है—

सत्यं भानविवर्जित श्रुतिगिरामाद्यं लगत्वकारणं
व्यासस्थावरजड़मं मुनिवरैर्ध्यातं निस्त्वदेन्द्रिये।
अर्कांश्चान्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततं
नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं चन्द्रामहे तन्महः ॥

विचार करके देखनेपर माल्यम होगा कि तन्त्रकथिन मार्गका और श्रुतिकथित मार्गका गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आशामका भेद वाक्यगत है, वस्तुगत नहीं। उद्घृत श्लोकका अर्थ कोई-कोई इस प्रकार करते हैं—

अस्त्वस्य व्रह्यगो भावनरूप ध्यानमेतत् । मत्यम्,
असत्यव्याप्तिरूपम्; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं व्रह्य' इति
श्रुतेः । भानविवर्जितम्, प्रमाणागोचररूपतम्; 'यतो वाचो
निवर्तन्ते' इति श्रुतेः । श्रुतिगिरामाद्यम्, वेऽप्रवक्तृ;
'शास्त्रयोनिन्वाद' इति वाटरायणसूत्रणाद् । जगत्वकार-
णम्; 'जन्माद्यस्य' इति सूत्रणाद् । व्यासस्थावरजड़मम्;
'सहस्रशीर्षा' इति श्रुतेः । मुनिवरैर्नारदादिभिः । अर्कां-
श्चान्दुमयमिति गायत्र्यादिवेतताक्रमेण । यद्वा अर्कां विष्णुः
अर्कां रुद्र इन्दुर्महा तन्मयम् । तत दत्यक्तवाद् । यद्वा
ओङ्कारस्त्वत्वं वक्ष्यति । पृतेनाकारोकारमकारात्मक्वेनाम्नी-
न्द्रकरूपत्वं शताक्षरवपुरिति । शताक्षरै परं महः
प्रतिपाद्यते । प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोरभेदात् शास्त्रयोनिन्वेन
कार्यकारणभेदाद्वा शब्दवस्त्रपत्वाद्वा तयोक्ति, यद्वा यतः
अर्कांश्चान्दुरूपत्वम् अत पृच्छ शताक्षरवपुरिति हेतुहेतुभद्र-
भावेन घोजना । नित्यानन्दविश्च तत्त्वस्त्रपत्वमेव ।
तद्वालयत्वम् भगवत् उपचारात् । गुणेभ्यः सर्वरजनभोग्यः
परं तद्विहितम् । तद्विहितसि प्रसिद्धम् । महः नित्यं

प्रकाशकत्वान् मह ईव । प्रते च सर्वं शब्दास्तम्य चन्द्रुनो
लक्षणं एव न वाचकः । एतपां शब्दानामेकत्वार्थचर्यम्
अपर्यायव्येऽपि अतद्व्यायृत्यर्थतया न पौनस्कत्यम् ।'

फिर, उपर्युक्त श्लोकका अर्थ इस प्रकार भी किया
जाता है—

'महस्तंजोरूपा कुण्डलिनी उच्यते । मत्वं नित्य-
त्वात्तम्या , 'नित्या शक्तिः परादेवा' इत्युक्तेः । मानभियत्ता
तदर्जिता, 'सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः' इत्युक्तेः । व्याप-
स्थावरजड़मा, 'मर्वंगा विश्वरूपिणी दिक्षालायनवच्छिन्ना'
इत्युक्तेः । निरुद्धेन्द्रियंमुनिवरेध्यता; 'योगिव्येया च
सर्वदा' इत्युक्तेः । 'योगिनां हृष्टयामभोजि नृत्यन्तो नित्य-
मम्भमा' इत्यपि । अर्काश्चान्द्रुरूपा; 'त्रिधामजनना देवा'
इत्युक्तेः । 'सोमसूर्याश्चित्पा च' इत्युक्तेश्च । शताक्षर-
चपुः, 'विश्वात्मना प्रहृदा सा सूते मन्त्रमयं जगत्'
इत्युक्तेः । तारात्मकम् ;

तन्मध्ये चिन्तयेद्देवीमृज्ज्वाकारां तदित्प्रभाम् ।

ओऽक्षाररूपिणीं ज्योत्स्नामात्मरूपां शुभोऽद्याम् ॥

(इत्युक्तेः)

नित्यानन्दगुणालया, 'नित्यानन्दगुणोदया' इत्युक्तेः ।
गुणपरा, गुणरूपा परा च, 'शक्तिः कुण्डलिनी गुणत्रय-
चपुर्विश्वुद्धतासञ्जिभा' इत्युक्तेः । 'परापरविभागेन पर-
शक्तिरियं मता' इत्युक्तेश्च ।

उक्त श्लोकमें 'शताक्षरचपुः' शब्दका अर्थ शताक्षरमन्त्र
है । यह (१) निष्ठुपू, (२) गायत्री और (३)
अनुष्ठृप्—इन तीन मन्त्रोंके भयोगसे बनता है ।

उद्भृत श्लोककी जो व्याख्या दी गयी है वह महामति
गर्वशास्त्रविगार्द गघयमद्वृत है । उसमें वह मालूम
होता है कि कोई मन्त्र किसी निर्दिष्ट देवताका नहीं है ।
जिस समय सावकरे मन्त्र, देवता और गुरुके साथ ऐस्य
भावना करनेके लिये कहा जाता है, उस समय सावक
जिस इष्ट देवताका सा रूप कहा है, वही एकमात्र परम

देवता है, यह समझना भूल है । भगवत्पाद शङ्कराचार्यने
स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्रमें हृष्टेख्या वीजके समन्वयमें कहा है—

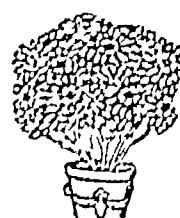
यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मवन्धं
तद्विष्णोः परमं पदं ग्रयति लोकः ।
तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां
हृष्टेख्यां जपत च नित्यमर्चयीत ॥

इससे स्पष्ट मालूम होता है कि शक्तिकीजसाधनके
द्वारा भी विष्णुपूर्व प्राप्त किया जाता है । पहले ही कहा
गया है कि साधकके उपास्य या इष्ट देवता उसकी
गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्मामूर्तिमात्र है । अपने इष्टकी मूर्तिका
अयलग्वन करके ही परम पदार्थमें लीन हुआ जा सकता
है । आकृतन्त्रमें शक्तिको प्रधानता दी जाती है, इसीसे 'हीं'
कार वीज और कुण्डलिनी शक्तिकी आराधनाको प्रधानता
दी जाती है । शैवतन्त्रमें 'ओकार' और शिवको प्रधानता
दी जाती है । इन दोनोंमें कोई अन्तर नहीं । शिव
और शक्तिके परस्पर-समन्वयको 'अविनाभाव' बतलाया
जाता है । जिन्होंने इस 'अविनाभाव' की उपलब्धि की
है, वे ही जीवन्मुक्त हैं ।

उपसदारमें यह कहना आवश्यक है कि इसके
अतिरिक्त और जो कुछ करनेकी आवश्यकता है, वह
गुरुसे ही जाना जा सकता है । आख्रीम कहा है—

गुरुपदेशतो ज्ञेयं न ज्ञेयं शास्त्रकोटिभिः ।

यह कहनेका मतलब यही है कि केवल शास्त्रवचनके
आधारपर यदि योगसाधना की जाय तो साधकको समय-
ममयपर विशेषरूपसे विपद्ग्रस्त होना पढ़ता है । गुरु
शिवका अधिकार समझकर पग-पगापर उसे उपदेश देते
ह । यहाँतक दख्ला गया है कि प्राणायामसाधन करते समय भी
कोई परप्रदर्शक न होनेपर साधकको विपद्ग्रस्त होना पढ़ा
है । इन सब कारणोंमें जो यिष्ट गुरुसे ही सीखनेयोग्य
है, वह यहाँ नहीं लिखा गया है ।



श्रीमद्भागवतमें योगचर्या

(लेखक—प० श्रीबलदेवप्रसादनी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य)

श्री

मद्भागवत सस्कृतके धार्मिक साहित्यका एक अनूठा रुद्ध है। यह अष्टादश पुराणोंमें सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। महर्षि वेदव्यासने नदियोंमें गंगा, देवताओंमें विष्णु, वैष्णवोंमें जिवके समान, पुराणोंमें इसे वतलाकर इसकी प्रधानता तथा श्रेष्ठताको स्पष्टरूपसे अभिव्यक्त किया है। सब धेत्रोंमें जिस प्रकार काशी सर्वोत्तम है, उसी प्रकार पुराणसमूहोंमें भागवत है। वेद तथा वेदान्तका महत्वपूर्ण सार भाग निचोड़कर श्रीमद्भागवतमें भर दिया गया है। वास्तवमें यह 'निगमकत्पत्तस्का गलित फल' है। यह फल देवी-देवताओंके लिये भी दुर्लभ है (श्रीमद्भागवती वार्ता सुराणामपि दुर्लभा)।

परन्तु सौभाग्यवश यह सुरस तथा स्वादिष्ट फल महर्षि वेदव्यासके परम अनुग्रहसे हम मानवजनोंके लिये नितान्त सुलभ है। भगवान् वेदोंके परम रहस्योंसे सबलित होनेके कारण भागवतका यथार्थमें समझना विद्वज्ञोंका ही काम है। इसीलिये कहा जाता है कि विद्वानोंकी विद्वत्ताकी परीक्षा भागवतमें होती है—'विद्यावर्ता भागवते परीक्षा।' किसी धार्मिक ग्रन्थमें 'भागवत' के प्रत्येक अक्षरसे एक अतीव सुन्दर अर्थकी उन्नावना की गयी है। 'भा' अक्षरसे भारुप-प्रकाशस्वरूप सच्चिदानन्दका सकेत किया गया है। 'भा' प्रकाशे चिदानन्दे। 'ग' अक्षरसे उस भगवान्नके विषयमें लौकिक 'गति' का अर्थ निकलता है—'गतिर्वस्यात्र लौकिकी।' 'व' अक्षर भागवतको सब ग्रामोंमें 'वरिष्ठ'-श्रेष्ठ वतला रहा है—'वरिष्ठ सर्वगात्राणाम्।' अन्तिम अक्षर तकार है जो इस वातको सकेत कर रहा है कि यह ग्रन्थ इस भवार्णवसे पार जानेके लिये एकमात्र 'तरणि'-नाव है—'तरणिर्भूतभवार्णवे।' इस प्रकार भागवतके अक्षरोंकी इस भावमयी साकेतिक व्याख्याका यही अर्थ है कि यह ग्रन्थ प्रकाशरूप सच्चिदानन्दके विषयमें लौकिक उपायको वतलानेवाला है, सब ग्रामोंसे बढ़कर है तथा इस सत्तार-

रुपी समुद्रसे पार जानेके लिये—निरपायभूत भगवान्नके पास पहुँचनेके लिये—एक सुट्ट नौकाका काम करता है। भागवतसे परिचित पाठक इस व्याख्याकी यथार्थता तथा रमणीयताको भलीभौति समझ सकते हैं।

श्रीमद्भागवतका प्रतिपाद्य विषय क्या है? यह तो प्रथम स्कन्धके आरम्भमें ही व्यास-नारद-सवादसे स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। स्त्री, चूद्र तथा द्विजबन्धुओंके हितार्थ व्यासजीने श्रुत्यर्थसवलित लक्ष्मोकात्मक महाभारत-की रचना करके जिस चित्तसन्तुष्टिको नहीं प्राप्त किया, उसे ही उन्होंने श्रीमद्भागवतकी रचना कर पाया। इसका कारण यही था कि सब विषयोंसे पूर्ण होनेपर भी महाभारतमें भगवान्नकी आनन्दमयी लीलाओंका विशद वर्णन न था—धर्म, अर्थका विशद कीर्तन होनेपर भी वासुदेवकी महिमा-का वर्णन न था। इसी कमीकी पूर्ति करनेके लिये ही व्यासजीने नारदजीके उपदेशसे श्रीमद्भागवत नामक नये पुराणकी रचना की। 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जित न शोभते ज्ञानमल निरञ्जनम्' (नैष्कर्म्यस्वरूप निरञ्जन अलं ज्ञान भी अच्युत-भावके विना शोभा नहीं देता।) (श्रीमद्भा० १। ५। १२) कहकर व्यासजीने भगवद्भक्ति-की ही प्रधानताको दिखलाया है। अतः लीलावाम भगवान्नकी मनोरम लीलाओंके सुन्दर वर्णनके साथ-साथ भक्तियोगका मनोरम तथा विशद विवेचन ही भागवतका प्रधान विषय है, तथापि स्थल-स्थलपर ज्ञान तथा कर्मका भी उचित वर्णन है तथा अष्टाङ्गयोगका भी वर्णन कम नहीं है।

योगका विषय उपनिषदोंमें भरपूर है, यह तो वहुत-से विज्ञ पुरुषोंको अवगत है, तथापि सहिताओंमें, विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेदकी सहिताओंमें भी योगके अल्प या अधिक, गौणतः तीया सुख्यतः, अनेक सङ्केत उपलब्ध होते हैं, इने वहुत-से ज्ञानकार लोग भी नहीं जानते। अतः वैदिक संहिताओंमें ही योगकी आदिम न्प-रेखा हमें मिलती है, उपनिषदोंमें आकर योगकी यह न्प-रेखा अस्ति सुधक रूप धारणकर धीरे-धीरे परिपूर्णवस्याको प्राप्त करती हुई लक्षित होती है। महाभारत, पुराण, तत्त्व-

अपने गरीरको ही उतने ही गोपो तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायव्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रबल दावायिसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगवीर्य' ही प्रधान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहाँतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कायोंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यक्ति इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भारविहीन कर तथा जीवनटान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण व्यान लगाकर अपने पग्ग मरणीय गरीरको आग्नेयी योगधारणासे विना जलाये ज्यों-के-त्यों अपने गरीरके साथ अपने लोकमें चले गये। 'साधारण योगी अग्निधारणामें अपने गरीरको भस्म कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने गरीरको विना भस्म किये सगरीर ही अपने धाममें चले गये। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक व्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अवतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अष्टाङ्गयोगका जो प्रत्यक्ष निर्दर्शन है उसको देखें। ऐसा निर्दर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं,

१ श्रीमद्भागवत १०। १३। १९

२ „ १०। १९। १४

३ „ १०। २९। १

४ सयोज्याभ्यनि चात्मान पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ॥

लोकाभिरामा स्वतनु धारणाध्यानमद्भूम् ।

योगधारणायानेत्या दग्ध्वा धामाविशद् म्वकम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११। ३१। ५-६)

५ उक्त शोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मनमेद द्विरायां पढ़ना है। श्रीधरस्वामीके 'अद्वध्वा' पदच्छेदको मातकर वीरराध्य, विजयध्वज, जीवगोम्बामी आदि सब टीकाकारोंने एक ममान हा अर्थ किया है, परन्तु निम्वाक्षमतानुयायी आशूकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दग्ध्वा' पदच्छेद कर 'म्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विशुद्धके अदृश्य छोनेकी तरह भगवत्तनुके अन्तर्धान छोनेवी मात लिखी है।

परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वे तथा २८ वे अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहृतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हसरूपधारी भगवान्के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम जानयोग और भक्तियोगके साथ अष्टाङ्गयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका यत्त्र किया जायगा।

भागवतमें अष्टाङ्गयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपमें उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साधात्मकार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, धासन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका सक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पॉन्च प्रकारके ही व्रतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ही, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) ब्रह्मचर्य, (९) मौन, (१०) स्वैर्य, (११) अमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद—(१) शौच-वास्त्र, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

६ श्रीमद्भागवत ११। १९। ३३

७ „ ११। १९। ३४

(६) श्रद्धा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्याटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन ।

इन यमोंमें अहिंसा, चत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असञ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी है, शेष सात नये हैं । नियमोंमें उसी भाँति शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी है, शेष नये हैं ।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है । शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये । जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण आन्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये । आसन 'चैलाजिनकुओत्तर' होना चाहिये, इसका 'क्लिपितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर सकेत है । योगमें अनेक आसन वतलाये गये हैं । स्वस्तिकासनसे बैठे तथा उस समय अपने शरीरको विल्कुल सीधा बना रखें—

गृहाद् प्रमजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाष्टुतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवद् कृष्णितासने ॥

(श्रीमद्भा० २ । १ । १६)

'धरसे निकला हुआ वह धीर पुण्य पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक विडाये हुए आसनपर आसीन हो ।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समन्वसेव ॥

(३ । २८ । ८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे ।'

इस इलोकमें श्रीधरत्वामीके अनुसार 'स्वनिक' पाठ माना जाता है । अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे चुलपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है । अतः भागवतमें किसी एक आसनके प्रति आदर दिखाया गया नहीं मान्यम पड़ता । स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके संनेतसे पद्म अथवा निद आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है ।

प्राणायाम-प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है ।

पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुभकरेचकैः ।

(३ । २८ । ९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका व्रतलाया गया है— (१) अगर्भ तथा (२) सर्गम् । अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके विना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय । सर्गम् प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये । इन दोनोंमें सर्गम् प्राणायाम श्रेष्ठ है । अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है । गिरपुराणकी वायवीय सहिताके उत्तरस्तुष्ट अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सर्गमश्च प्राणायामो द्विष्ठा स्मृतः ।

जपं ध्यानं विनागर्भः सर्गमस्तसमन्वयात् ॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सर्गम्, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके विना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सर्गम् है ।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।

तस्मात्सर्गम् कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ॥३४॥

'अगर्भसे सर्गम् प्राणायामका गुण सौगुना है । इसलिये योगी सर्गम् प्राणायाम करते हैं ।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अवीज तथा सर्गम्भको सर्वीज प्राणायाम कहा गया है^१ । श्रीमद्भागवतमें भी इसी सर्गम् प्राणायामका विधान वतलाया गया है । प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-मूसे ग्रथित ब्रह्माक्षर उँकारकी मनमें आवृत्ति करता जाय । उँकारको विना भुलाये अपने श्वासको जीतें^२—

अभ्यस्तेनमनसा शुद्धं त्रिवृद्धहाक्षरं परम् ।

मनो यच्छेजितशासो ब्रह्मवीजमविसरन् ॥

(श्रीमद्भा० २ । १ । १७)

'इस तीन अष्टरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्रका मनसे जप करे, इस ब्रह्मवीजको विना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे ।'

१. विष्णुपुराण पृष्ठ अश्य ७ । ४०

२. श्रीमद्भागवत ३१ । १४ । ३४

तथा धर्मशास्त्रमें योगकी यह धारा अविच्छिन्नरूपसे वहती हुई कालान्तरमें महर्षि पतञ्जलिके 'योगदर्शन' के रूपमें हमारे सामने आती है। यह धारा यहाँ नहीं रुकती, बल्कि पतञ्जलिके भाष्यकार, वृत्तिकार तथा वार्तिककार—व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु तथा नागेश आदि माननीय ग्रन्थकारोंकी रचनाओंसे परिपृष्ठ होती हुई आज भी हमारी श्रद्धा तथा भक्तिका भाजन उसी प्रकार बनी हुई है जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथीकी विमल धारा। योगशास्त्रके उद्भव तथा विकासके इस माझेतिक वर्णनसे श्रीमद्भागवतवर्णित योगका स्थान पाटकोको स्पष्ट प्रतीत होने लगेगा। भागवतका योग पौराणिक योगका एक अग्रमात्र है तथा योगशास्त्रके इतिहासकी दृष्टिसे उसका स्थान औपनिषद् योग तथा पातञ्जल योगके मध्यके कालमें आता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि भागवतमें भक्तिके साथ-साथ अष्टाङ्गयोगका भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकारसे किया गया मिलता है। कई स्थलोपर योग-साधन-की क्रियाओंका अप्रत्यक्षरूपसे सङ्केतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थलोपर योगका प्रत्यक्षरूपसे विग्रह विवेचन किया गया है। योगके अप्रत्यक्ष सङ्केत प्रायः दो प्रसङ्गोंमें किये गये मिलते हैं। किसी विशेष व्यक्तिकी तपश्चर्याके वर्णनके अवसरपर योगका आश्रय लिये जानेका सङ्केत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्तिके इस भौतिक शरीरके छोड़नेका जहाँ वर्णन है वहाँ भी योगमार्गका आलम्बन कर प्राणत्यागकी घटनाका सक्षित परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषोंते तपश्चरण तथा शरीरत्यागके दोनों अवसरोंपर विशेषरूपसे योगकी ओर सङ्केत किया गया मिलता है। ऐसे प्रबन्ध श्रीमद्भागवतमें अनेक आये हैं। इन सब नहर्त्वपूर्ण प्रभद्वांको उल्लेख यहाँ किया जायगा। इन परोक्ष सङ्केतोंके अतिरिक्त भागवतमें योगका विग्रह विवेचन भी स्थान-स्थानपर किया गया है, परन्तु ऐसे स्थल पहलेकी अपेक्षा न्यून ही है। जो कुछ भी हो, उस अंतरमें भागवतमें वर्णित योगका, परोक्षरूप तथा प्रत्यक्षरूपसे किये गये उल्लेखका, यथासाम्य पूरा विवेचन फ़ारनेका प्रयत्न किया गया है। अप्रत्यक्ष सङ्केतोंमें नितानन नवचर्यार्ण लक्ष्मीका ही स्थानाभावके कारण नन्दनरूप दिया गया है और प्रत्यक्ष वर्णनोंके बारे

अंगको ही यहाँ उपस्थित करनेका यन्त्र किया गया है। वर्णन स्कन्धोंके क्रमसे किया गया है तथा उसे पूर्ण करनेका यथासाध्य उद्योग किया गया है।

पहले योगविषयक अप्रत्यक्ष निर्देशोंकी बात कही जायगी। ऐसे प्रसग भागवतके प्रथम स्कन्धमें कई बार आये हैं^१। नारदजीने अपने जीवनचरितसे एक ऐसे प्रसङ्ग-का उल्लेख किया है—

(१) जब वह बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियोंके सर्सर्गमें रहनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। लड़कपनमें ही उनकी माताका देहघात हो गया, तब नारदजीने उत्तर दिशामें जाकर मुनियोंके मुखसे उन्हें गये भगवान्‌का साक्षात्कार करनेका निश्चय किया। तब निर्जन स्थानमें उन्होंने भगवान्‌के चरणकमलोंमें अपना मन लगा ध्यान धरा जिससे भगवान्‌ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसङ्गमें 'मनःप्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्दका उल्लेख मिलता है^२।

(२) नारदजीके उपदेशसे व्यासजीने भगवान्‌की विविध लीलाओंके वर्णन करनेका विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदीके पश्चिम तटपर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रममें आसन मारकर भगवान्‌में अपना मन लगा भक्तिपूर्वक ध्यान धरा। उनका निर्मल मन इतने अच्छे ढगसे समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान्‌का साक्षात्कार कर लिया^३। आसन तथा मनःप्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट ही है।

(३) भीष्म पितामहके देहत्यागके अवसरपर व्यासजीने ऋषि, मुनियोंके अतिरिक्त पाण्डवोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रको भी उस स्थानपर ला एकत्र किया है। अन्तिम अवसरपर सब लोग भीष्मको देखनेको आये, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्म सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्णकी ललित रुति की तथा अन्त समयमें भगवान्‌में मन, वचन, दृष्टिकी वृत्तियोंसे अपनी आत्माको लगाकर अन्तःश्वास लिया तथा गान्त हो गये^४। इस प्रसङ्गमें भीष्मने अपने शरीरको योगक्रियासे

१. आमद्भागवत १। ६। १६, १७

२. „ १। ६। २०

३. „ १। ७। ३, ४

४. „ १। ९। ४३

छोड़ा यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वासको भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्रसे प्राणत्याग करना योगकी महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है।

(४) देवहृति सांख्यशास्त्रप्रवर्तक कपिल मुनिकी पूजनीया माता र्था। बहुत आग्रह करनेपर कपिलने उन्हें योगकी शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि उन्होंने अपना देहत्याग समाधिके द्वारा किया^२।

(५) चतुर्थ स्कन्धमें सतीके शरीरदाहकी कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापतिके द्वारा किये गये शिवनीके निरादरके कारण सतीने अपने शरीरको जला दिया था। गोसाईजी 'जोग अग्नि तनु जारा' लिखकर योगायिमें सतीके भस्म होनेकी बात लिखकर चुप हैं, परन्तु व्यासजीने एक श्लोकमें उसकी समग्र योगक्रियाका यथार्थ वर्णन किया है^३। इस पद्यकी शुकदेवकृत सिद्धान्त-प्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवतचन्द्रिका-व्याख्यामें बड़ी मार्मिक व्याख्या की गयी है। सतीने पहले आसन-जय किया—आसन मारकर इस प्रकार वैठ गयीं कि प्राण-सञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन विल्कुल वन्द हो गया। तब प्राण और अपानका निरोधकर एकवृत्ति वना नाभिचक्र (मणिपूर) में रखा। अनन्तर नाभिचक्रसे उदानवायुको उठाकर दृदय (अनाहत) में ले आयीं, निश्चयबुद्धिके साथ वहाँसे भी वायुको कण्ठमार्ग (विशुद्धिचक्र) से भ्रूमध्य (आशाचक्र) में ले आयीं। उदानको वहीं टिकाकर सतीने अपने अङ्गोंमें वायु तथा अभिकी धारणा धारण की। परिणाम स्पष्ट ही हुआ। शरीर एकदम जल उठा। इस वर्णनमें शरीरके विभिन्न चक्रों तथा तदद्वारा वायुको ऊपर ले जानेकी क्रियाका उल्लेख निरान्त स्पष्ट है।

(६) नारदजीने श्रुत्वको आसन मार प्राणायामके द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मनके मलको दूरकर समाहित मनसे भगवान्के ध्यान करनेका उपदेश दिया था^४। श्रुत्वने उसी मार्गका अवलम्बन किया तथा अल्प समयमें ही वह भगवान्का साथात्कार करनेमें समर्थ हुआ^५। श्रुत्वको

नारदने अष्टाङ्गयोगका ही उपदेश दिया था, इसका प्रा पता 'कृत्वोच्चितानि' पद्यकी भागवतचन्द्रिकाके देखनेसे लग तकता है। 'उचितानि कृत्वा' में यम-नियमका, 'कलिपतासन.' में आसनका, 'मल व्युदस्य' में प्राणायाम तथा प्रत्याहारका, 'ध्यायेत्' में ध्यानके धारणापूर्वक होनेके कारण धारणा तथा व्यानका विधान किया गया है अर्थात् पूरे अष्टाङ्गयोगका उपदेश है।

(७) दधीचि ऋषिसे देवताओंने वज्र वनानेके लिये उनकी हड्डियों मौगी, तब लोकोपकारकी उन्नत भावनासे प्रेरित होकर ऋषिने उनकी प्रार्थनाको अङ्गीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धिका नियमन कर परम योगका आश्रय लिया। उस समय उन्हे खबर ही न लगी कि उनका शरीरपात क्व हो गया^६।

(८) वृत्रने भी अपनी मृत्युके समय भगवान्के चरणकमलोंमें मन लगाकर समाधिके द्वारा अपने प्राण छोड़े^७।

(९) अदितिने 'पयोव्रत' नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान्की प्रसन्नताके लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदितिके उदरसे जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। महर्षि कश्यपको इस अद्भुत घटनाका ज्ञान समाधियोगसे विना किसीके जनाये ही हो गया^८।

(१०) श्रीकृष्णके जीवनचरितमें अनेक प्रसङ्ग भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णित हैं जिनमें योगका आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्र्वयजनक अलौकिक घटनाओंको घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान्के पूर्णवतार ठहरे—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' अतः अलौकिक घटनाओंको उत्पन्न करना उनकी शक्तिके एक कणका कार्य है, परन्तु इन सब अद्भुत कार्योंकी उत्पत्ति श्रीकृष्णने अपने योगवलसे की थी, इसका उल्लेख वारावार मिलता है। वह अनेक बार 'योगी' तथा योगियोंमें श्रेष्ठ 'योगेवरेवरः' वर्तलाये गये हैं। उनके योगजन्य कर्तिपय घटनाओंके निर्देशमासें हम सन्तोष करेंगे, वर्णनके लिये न तो यहाँ समय है और न स्थान। ब्रह्माने ग्वालं तथा गौथोको जन्म पर्वतकी कन्दरगामें चुराकर रस छोड़ा था तब श्रीकृष्णने

^२ श्रीमद्भागवत ३। ३३। २७

^३ „ „ ४। ४। २५, २६

^४. „ „ ४। ८। ४४

^५. „ „ ४। ८। ७७

^६ श्रीमद्भागवत ६। १०। १२

^७ „ „ ६। ११। २१

^८ „ „ ८। १७। २२

अपने शरीरको ही उतने ही गोपो तथा गौओंमें परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योगकी कायद्यूहसिद्धिका उज्ज्वल दृष्टान्त है। श्रीकृष्णने प्रवल दावायिसे गोपोंकी जो रक्षा की थी, उसमें उनका 'योगीर्थ' ही प्रवान कारण था। रासलीलाके समयमें वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्णने जो अलोकिक लीलाएँ दिखायीं उनमें उनका योगमायाका आश्रय लेना भी एक कारण था। कहॉतक हम गिनावें श्रीकृष्णके योगशक्तिजन्य अद्भुत कार्योंको। जब यादवोंके भारसे भी व्यायित इस भूमण्डलको श्रीकृष्णने भारविहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोकमें जानेका विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीरको ध्यानेयी योगधारणासे विना जलाये ज्योंकेत्यां अपने शरीरके साथ अपने लोकमें चले गये। 'साधारण योगी अभिधारणासे अपने शरीरको भस्स कर देता है।' श्रीकृष्णने भी वह धारणा की अवश्य, परन्तु अपने शरीरको विना भस्स किये सजारीर ही अपने धारणमें चले गये। इस प्रकार श्रीकृष्णके जीवनचरितको आदिसे अन्ततक ध्यासजीने योगसिद्धियोंसे परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

प्रत्यक्ष वर्णन

अवतक जो कुछ कहा गया उससे पता चल गया होगा कि भागवतमें योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष सङ्केत विद्यमान हैं। अब भागवतमें अद्याज्ञयोगका जो प्रत्यक्ष निर्दर्शन है उसको देखें। ऐसा निर्दर्शन एक ही स्थलपर नहीं, अनेक स्थलोंपर है। छोटे-छोटे तो अनेक वर्णन हैं,

१ श्रीमद्भागवत १०। १३। १९

२ „ १०। १९। १४

३ „ १०। २९। १

४ सयोज्यात्मनि चात्मान पश्चनेत्रे न्यमीलयत् ॥
लोकामिरामा स्वतनु धारणाध्यानमद्वलम् ।
योगधारणयाग्नेया दण्डवा धामाविशत् स्वकम् ॥

(श्रीमद्भोगवत ११। ३१। ५-६)

५ उक्त शोककी व्याख्यामें मान्य टीकाकारोंमें भी मनमेद दिखाया पड़ता है। श्रीधरस्वामीके 'बद्रवा' पदच्छेदको मानकर वीरराधव, विजयध्वज, जावगोस्वामी आदि सब टीकाकारोंने एक समान दृष्टि दिखायी है, परन्तु निम्बार्कमतानुयायी श्रीशूकदेवने अपने सिद्धान्त-प्रदीपमें 'दण्डवा' पदच्छेद कर 'स्ववियोगाधिना सन्तापयित्वा' अर्थ कर विशुद्धके अदृश्य होनेकी तरह मगवत्तनुके अन्तर्धान होनेकी बात लिखी है।

परन्तु इनका उल्लेख यहाँ न कर केवल विस्तृत विवरणोंका ही निर्देश किया जाता है। भागवतके तीन स्कन्धोंमें योगका विशेष विवरण दिया गया है—दूसरे स्कन्धके अध्याय १ तथा २ में, तीसरे स्कन्धके २५ वे तथा २८ वें अध्यायोंमें कपिलजीका अपनी माता देवहृतिके प्रति योगका उपदेश, और फिर एकादश स्कन्धके अध्याय १३ में सनकादिकोंको हसरूपधारी भगवान्के द्वारा योगका वर्णन, अ० १४ में ध्यानयोगका विशद वर्णन, अ० १५ में अणिमा आदि अठारह सिद्धियोंका वर्णन, अ० १९ में यमनियमादिका वर्णन, अ० २८-२९ में यथाक्रम ज्ञानयोग और भक्तियोगके साथ अद्याज्ञयोग। इन सब स्थानोंमें योगका इतना विशद प्रचुर वर्णन है कि उसके लिये एक अलग पुस्तिकाकी आवश्यकता होगी। यहाँ केवल उसका सारांश उपस्थित करनेका वक्त किया जायगा।

भागवतमें अद्याज्ञयोगकी यह एक बड़ी विशेषता है कि वह स्वतन्त्र साधनरूपसे उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ अन्य साधनमार्गोंको भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्तिका सबसे अधिक सहायक है अवश्य, फिर भी वह ज्ञान, कर्म तथा भक्तिके समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है जिसपर चलकर साधकगण परमात्माका साधात्कार कर सकते हैं। इसकी विशेषता ठीक-ठीक समझनेके पहले उससे परिचय प्राप्त कर लेना नितान्त आवश्यक है।

योगके आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें यम तथा नियमका सक्षिप्त वर्णन ग्यारहवें स्कन्धके अध्याय १९ में यत्किञ्चित् मिलता है। पातञ्जल सूत्रोंमें तो यम तथा नियम केवल पॉच प्रकारके ही वृतलाये गये हैं, परन्तु भागवतमें उनमेसे प्रत्येकके बारह भेद माने गये हैं—

यमके द्वादश भेद—(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) असङ्ग, (५) ही, (६) असञ्चय, (७) आस्तिक्य, (८) व्रक्षचर्य, (९) मौन, (१०) स्वैर्य, (११) थमा, (१२) अभय।

नियमके द्वादश भेद—(१) शौच-वाह्य, (२) आभ्यन्तर, (३) जप, (४) तप, (५) होम,

६ श्रीमद्भागवत ११। १९। ३३

७ „ ११। १९। ३४

(६) अद्वा, (७) आतिथ्य, (८) भगवदर्चन, (९) तीर्थाटन, (१०) परार्थचेष्टा, (११) सन्तोष, (१२) आचार्यसेवन।

इन यमोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवतका छठा 'असञ्चय') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष सात नये हैं। नियमोंमें उसी भौति औच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवतका आठवाँ 'भगवदर्चन') पातञ्जलदर्शनमें भी हैं, शेष नये हैं।

आसन—यह योगका तीसरा अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थानमें आसन लगाना चाहिये। जहाँ कहीं हल्ला न हो, निर्जनताके कारण शान्ति विराजती हो, वैसा ही स्थान आसन लगानेके लिये चुनना चाहिये। आसन 'चैलाजिनकुणोत्तर' होना चाहिये, इसका 'कल्पितासन' शब्दके द्वारा भागवतमें स्थान-स्थानपर सकेत है। योगमें अनेक आसन वतलाये गये हैं। स्वस्तिकासनसे वैठे तथा उस समय अपने शरीरको विल्कुल सीधा बना रखें—

गृहात् प्रद्वजितो धीरः पुण्यतीर्थजलामृतः ।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिवद् कृष्णितासने ॥
(श्रीमद्भा० २।१।१६)

'धरसे निकला हुआ वह धीर पुण्य पुण्यतीर्थोंके जलमें स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थानमें विधिपूर्वक विछाये हुए आसनपर आसीन हो।'

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।

तस्मिन् स्वस्ति समासीन क्रज्जुकायः समभ्यसेत् ॥

(३।२८।८)

'शुचि देशमें आसन लगाकर आसनको जीते, पीछे स्वस्तिकासन लगाकर सीधा शरीर करके अभ्यास करे।'

इस श्लोकमें श्रीधरस्वामीके अनुसार 'स्वस्तिक' पाठ माना जाता है। अन्य टीकाकारोंने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासनसे सुखपूर्वक वैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः भागवतमें किसी एक आसनके प्रति आदर दिलाया गया नहीं माल्म पड़ता। स्थान-स्थानपर टीकाकारोंके सकेतसे पद्म अथवा सिद्ध आसनोंकी ओर निर्देश जान पड़ता है।

प्राणायाम-प्राणोंका आयाम योगका चौथा अङ्ग है।

पूरक, कुम्भक तथा रेचकके द्वारा प्राणके मार्गको शुद्ध करनेका उपदेश दिया गया है—

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
(३।२८।९)

प्राणायाम पुराणोंमें दो प्रकारका वतलाया गया है— (१) अगर्भ तथा (२) सगर्भ। अगर्भ प्राणायाम वह है जिसमें जप तथा ध्यानके विना ही मात्राके अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भ प्राणायाममें जप तथा ध्यान अवश्य होना चाहिये। इन दोनोंमें सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणोंने उसीके करनेका उपदेश दिया है। गिवपुराणकी वायवीय संहिताके उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीसमें इन दोनोंके भेद तथा उपयोगका अच्छा वर्णन है—

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विभा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनागर्भः सगर्भस्तसमन्वयात् ॥३३॥

'प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ, दो प्रकारका कहा गया है, जप और ध्यानके विना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यानके सहित जो है वह सगर्भ है।'

अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताभिकः ।
तस्मात्सगर्भं कुर्वन्नित योगिनः प्राणसंयमम् ॥३४॥

'अगर्भसे सगर्भ प्राणायामका गुण सौशुना है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं।'

विष्णुपुराणमें अगर्भको अवीज तथा सगर्भको सवीज प्राणायाम कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें भी इसी सगर्भ प्राणायामका विधान वतलाया गया है। प्राणायाम करता जाय, साथ-ही-साथ अ-उ-मूसे ग्रथित ब्रह्माक्षर उँकारकी मनमें आवृत्ति करता जाय। उँकारको विना भुलाये अपने श्वासको जीते—

अभ्यस्येन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्धस्माक्षरं परम् ।
मनो यस्तेजितश्वासो ब्रह्मवीजमविमर्त् ॥
(श्रीमद्भा० २।१।१७)

'इस तीन अक्षरवाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षरमन्वका मनसे जप करे, इस ब्रह्मवीजको विना भुलाये श्वासको जीतकर मनको एकाग्र करे।'

१ विष्णुपुराण पृष्ठ अश ७। ४०

२ श्रीमद्भागवत ११। २४। ३४

जो योगी इस प्रकार सर्गभं प्राणायामके अभ्याससे श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मनसे आवरक मल—रज तथा तम—का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार आगमे तपाये लोहेसे मलिनता दूर हो जाती है—

मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाख्यान्मयां यथा लोहं धमातं त्यजति वै मलम् ॥
(३ । २८ । १०)

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचकके क्रमसे प्राणायाम करनेका विधान वतलाया गया है, परन्तु भागवतके एकादश स्कन्धमे ‘विपर्ययेणापि अनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः’ (१४ । ३३) ‘प्रतिकूलेन वा चित्तम्’ (३ । २८ । ९) कहकर इससे उलटे क्रमसे प्राणायाम करनेकी भी विधि गाल्याय मानी गयी है । यहाँ ‘विपर्ययेणापि’ तथा ‘प्रतिकूलेन’ का अर्थ श्रीधरस्वामीने दो प्रकारसे किया है । एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियमका उलटा क्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक । इसका आशय यह है कि पहले ही रेचक करे, वादको कुम्भक और अन्तमें पूरक । कुम्भक दो प्रकारका होता है—अन्तःकुम्भक तथा वहिःकुम्भक । भागवतमे इन दोनोंका इस प्रकार वर्णन है तथा दोनोंमें किसी एकके द्वारा चित्तको स्थिर करनेका उपदेश दिया गया है । दूसरा अर्थ यह वतलाया गया है कि वाम नाड़ीसे पूरक करे तथा दाहिनीसे रेचक करे अथवा इसका उलटा दक्षिण नाड़ीसे बायु भरकर वामसे रेचक करे । दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियोंको सम्मत हैं । प्राणायामको तीनों कालमे—प्रातः, मध्याह्न तथा साय करना चाहिये और हर बार दस प्राणायाम करना चाहिये । यदि इस नियमसे प्राणायाम किया जाय, तो एक मासके पूर्व ही साधक पवनको वशमें कर लेता है—

दशकृत्वस्थिपत्वं मासादर्वाण् जितानिलः ॥
(श्रीमद्भा० ११ । १४ । ३५)

प्रत्याहार—इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वासको जीतकर साधक अपनी इन्द्रियोंको उनके तत्त्वद्वयोंसे खींचे । इस कार्यमे सहायता देगा निश्चयवुद्धिवाला मन । मनके द्वारा निश्चयवुद्धिकी सहायतासे मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको विषयोंसे खींचकर उन्हें एक स्थानपर रखनेका यत्करे । यह हुआ प्रत्याहार ।

नियच्छेद्विपयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।
(श्रीमद्भा० २ । १ । १८)
इन्द्रियाणान्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्ट्य तन्मनः ।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ॥
(श्रीमद्भा० १ । १ । ४२)

धारण—मनको एक वस्तुमे टिकानेका नाम हुआ धारणा । भागवतमे दो प्रकारकी धारणा वतलायी गयी है । वे ही धारणाएँ अन्य मुराणोंमें भी नामभेदसे वतलायी गयी हैं । भगवान्के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म । इन्हींको विष्णुपुराणमे (१) मूर्त अथवा ‘विश्व’ तथा (२) अमूर्त अथवा ‘सत्’ रूप वतलाया गया है । भगवान्के इन्हीं दोनों रूपोंके धारणा तथा ध्यान करने चाहिये । अतः भागवतविहित धारणाके दो भेद हुए—(१) वैराजधारणा तथा (२) अन्तर्यामिधारणा ।

सबसे पहले भगवान्के स्थूल रूपमें ही धारणा तथा ध्यान लगावे अर्थात् पहले भगवान्के विराट् रूपकी धारणा करे । भागवतके दूसरे स्कन्धके पहले ही अध्यायमें भगवान्के विराट् रूपका इतना सुन्दर तथा सांग वर्णन किया गया है कि पद्मोंको पढ़ते-पढ़ते रूप और खके सामने आकर झूलने लगता है । स्थूल होनेके कारण मूर्त रूपमें मन आसानीसे लगाया जा सकता है । इस धारणाका नाम हुआ वैराज धारणा । जब यह धारणा साधकके हाथमे आ जाय, तब अमूर्त रूपकी धारणा करनी चाहिये । इस दूसरी धारणा—अन्तर्यामिधारणाका अतीव सुन्दर वर्णन भागवतके अनेक स्थलोपर किया गया है, यथा दूसरे स्कन्धका दूसरा अध्याय, तीसरे स्कन्धका अद्वैतस्वाँ अध्याय तथा ग्यारहवें स्कन्धका चौदहवाँ अध्याय । इन वर्णनोंका आशय है कि अपने शरीरके भीतर ऊर्ध्वनाल-बाले अधोमुख हृतपुण्डरीको ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदलवाला तथा कणिकायुक्त ध्यान धरे । कणिकामें क्रमशः सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्निके मण्डलको रखें । इस अग्निके भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारी-की मनमोहिनी मूरतिका ध्यान धरे । भगवान्के इस सुहावने रूपका जैसा वर्णन भागवतमे मिलता है वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । व्यासजीने अपनी समग्र कविता-शक्तिको मानो यहाँ समाप्त कर दिया है । सस्तुतज्ञ पाठक

१. विष्णुपुराण अ० ६ अ० ७ ।

२. श्रीमद्भागवत १ । १४ । ३६, ३७

भागवतको पढ़कर इसका अलौकिक आनन्द उठावें। इस रूपकी धारणा तबतक करें जबतक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय। इसका नाम हुआ अन्तर्यामिधारणा।

ध्यान—किसी वस्तुविशेषमें अनुस्यूतरूपसे मन धारणा धारण करे। प्रत्ययकी एकतानता हो, तो उसे ध्यान कहते हैं—‘तत्रैकतानता ध्यानम्’। भागवतमें ध्यानके विषयमें बहुत कुछ कहा गया है। सारांश यही है कि जब हृत्कृष्णिकामें भगवान्के समग्र शरीरकी धारणा निश्चल तथा ठीक हो जाय, तब प्रत्येक अङ्गका ध्यान करना चाहिये। अङ्गोंका क्रम ‘पादादि यावत् हसितं गदाभृतः’ (चरणोंसे लेकर हँसते हुए सुखतक) है। इनका वर्णन तीसरे स्कन्धके अष्टाईसवें अध्यायमें देखने ही योग्य है। भगवान्के पैरके ध्यानसे आरम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्तमें मुखकी मन्द मुसुकानके ऊपर अपना ध्यान जमा दे—

सञ्ज्ञिन्तयेद् भगवत्प्ररणारविन्दं
वद्राक्षश्वजसरोरुहलाभ्नुडयम् ।
उत्तुक्षरकविलयशस्त्रचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिरहतमहद्युदयान्धकारम् ॥
(३ । २८ । २१)

‘उत्तम प्रकारसे भगवान्के उस चरण-कमलका ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अङ्गुश, ध्वजा और कमलके चिह्नोंसे युक्त है तथा जिसने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखोंकी ल्योत्स्नासे सत्पुरुषोंके हृदयके अन्धकारको दूर किया है।’

X X X X

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाभ्रोष्ट-
भासारुण्यिततनुद्विजकुन्दपङ्कि ।
ध्यायेद् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्याद्र्यार्पितमना न पृथग् दिवक्षेद् ॥
(३ । २८ । ३३)

‘हृदयमें रहनेवाले भगवान्के उस ध्यानायनस्वरूप दासका—जिस हास्यसे नीचेके हँठकी लालिमा भीतर-की कुन्दकली-सी दन्तपत्तिको अहण आभा प्रटान कर रही है—अर्पित मन होकर सरस भक्तिसे ध्यान करे, पृथक् न दें।’

समाधि-ध्यानके बाद ही समाधिका स्थान है। उस समय भक्तिसे द्रवीभूत हृदय, आनन्दसे रोमाञ्चित होकर, उत्कृष्टासे आँसुओंकी धारामें नहानेवाला भगवान्का भक्त अपने चित्तको भी ध्येय पदार्थसे उसी भौति अलग कर देता है जिस प्रकार मछलीके मारे जानेपर मछुआ बडिंग (कॉटे) को अलग कर देता है—‘चित्तवडिंग शनकैर्वियुद्धके’। इस समय निर्विषय मन अर्चिकी तरह गुणप्रवाहसे रहित होकर भगवान्में लय प्राप्त कर लेता है—ब्रह्माकारमें परिणत हो जाता है।

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्युदय उत्पुलकः प्रमोदाद ।
अं क्लब्यवाष्पकलया सुहुरथमान-
स्तच्छापि चित्तवडिंशं शनकैर्वियुद्धके ॥
मुक्ताश्रयं यहिं निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृद्धिति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽवध्यवधानमेक-
मन्वीक्षते प्रतिनिष्टुत्तगुणप्रवाहः ॥
सोऽप्येत्या चरमया मनसो निवृत्या
तसिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखवाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्त्तरि हुःखयोर्यत
स्वात्मन् विघ्नं उपलब्धपरात्मकाष्टः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २८ । ३४-३६)

‘इस प्रकार भगवान् श्रीहरिमें जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्तिसे द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्दसे जो पुलकित हो उठा है, जो वारवार उत्कृष्टासे उत्पन्न हुई अश्रुधारायमें नहाता रहता है, वह उस चित्तलप बडिंग (मछली पकड़नेके कॉटेको) भी पीछे धीरे-धीरे छोड़ देता है। सारका आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मन वक्ती जल जानेपर दीप-शिखाके महज्ज्योतिमें मिलनेके समान निर्वाणपटको प्राप्त होता है। त्रिगुणका प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने सिवा और कोई व्यवधान नहीं देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूपको प्राप्त होता है। वह पुरुष मनकी इस चरमनिवृत्तिसे सुखदुःखके बाहर उस महिमामें लीन हुआ रहता है और ऐसा आत्मस्थितिकी पराकाष्ठाको प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने आपको कर्ता नहीं मानता तथापि सुखदुःखका जो मूल कारण है वह अपने अन्दर देखता है।’

१. श्रीमद्भा० ३ । २८ । ३४-३८

विशेषता

श्रीमद्भागवतवर्णित योगचर्याका एक सामान्य परिचय यथामति ऊपर सक्षेपमें दिया गया है। सद्योमुक्ति, क्रममुक्ति आदि अन्य तत्स्वन्ध विषय स्थानाभावके कारण छोड़ ही दिये गये हैं। प्रेमी पाठक वहीसे इन विषयोंका मनन करें। ऊपरके वर्णनसे भागवतकी योगचर्याकी विशेषता जिज्ञासुजनोंके ध्यानमें आ गयी होगी, अतः दो ही चार शब्द लिखकर हम इस लेखको यहीं समाप्त करेंगे।

इस योगकी यह बड़ी विशेषता मालूम पड़ती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्तिके साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी केवल शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान्की उत्तम भक्तिसे आप्नाच्यमान हृदयवाला परम भगवत है। बिना भक्तिके योगविहित समाधिकी निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यासजीने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि योगका उद्देश्य 'कायाकल्प' नहीं है—गरीरको केवल दृढ़ बनाना नहीं है, प्रत्युत उसका प्रधान ध्येय श्रीभगवान्में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

केचिद्देहमिमं धर्माः सुकरूपं वयसि स्थिरम् ।
विद्याय विविधोपायैरथं युज्जन्ति सिद्धये ॥४१॥
नहि तत् कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।
अन्तवस्वाच्छरीरस्य फलस्येव चन्दपतेः ॥४२॥

—६३—

योग-मठ

होवे लघुद्वार एक, छिद्र ना गवाक्ष जामें,
जाको अति छोटो नाहिं बड़ो विस्तार हो ।
गोमय पवित्र से लिपा हो, स्वच्छ सुन्दर हो,
प्राणी दूसरा न होवे, शान्ति रस-धार हो ॥
वाहरमें वेदी कूप मण्डप सुशोभित हों,
चारों ओर पुष्पलता सीमा निरधार हो ।
ताको हठयोगी जन 'योगमठ' मानत है,
'पथिक' पवित्र जामें नित्य सदाचार हो ॥

योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत् करुपताभियात् ।
तच्छ्रह्यध्यान्न मतिमान् योगमुत्सज्ज्य मत्परः ॥४३॥
(श्रीमद्भागवत ११।२८)

'कोई-कोई धीर इस देहका कल्प करने अथवा चिरायु होनेके लिये योगके विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुगल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते। यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जानेवाला होता है, क्योंकि वृक्षके फलकी तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करनेसे काया यदि कल्पान्ततक भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुषको भगवद्योग छोड़कर उसमे कभी श्रद्धा न करनो चाहिये।'

श्रीमद्भागवतका योगके विषयमें यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियोंके लिये जगदाधार भगवान्में भक्तिके द्वारा चित्त लगानेके अतिरिक्त ब्रह्म-प्राप्तिका अन्य कोई उपाय नहीं है—

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सद्विद्विस्ति शिवः पन्था योगिनां व्रह्मसिद्धये ॥
(श्रीमद्भा० ३।२५।१९)

'अखिल आत्मस्वरूप भगवान्में लगी हुई भक्तिके समान 'शिवः पन्थाः', कल्याणकारी सार्ग योगियोंके लिये ब्रह्मप्राप्तिमें, और कोई नहीं है।'

श्रीयोगवासिष्ठमें योग

(लेखक— प्र० डा० श्रीमीखनलालजी आन्रेय, एम० ए०, डॉ०लिट्)

६

श्री

योगवासिष्ठ महारामायण
भारतवर्षके आध्यात्मिक ग्रन्थों-
में वहुत उच्च कोटिका ग्रन्थ है।
इसमें वासिष्ठ क्रष्णद्वारा श्री-
रामचन्द्रको किये हुए आध्या-
त्मिक उपदेशका वहुत सरस
भाषामें वर्णन है, इसके दार्शनिक
सिद्धान्त वहुत सूक्ष्म और
गहन है। अद्वैत वेदान्तके अनेक
लेखकोंने इन सिद्धान्तोंका

प्रतिपादन किया है, और कुछ विद्वानोंने इसके वहुत-से
स्थलोंसे चुनकर कुछ श्लोकोंका संग्रह करके उन संग्रहोंको
उपनिषदोंके नामसे प्रकाशित किया है। महाउपनिषद्, अन्नपूर्णाउपनिषद्, और अक्षिउपनिषद्के तो सभी
श्लोक योगवासिष्ठसे चुने हुए हैं (देखिये हमारा योग-
वासिष्ठ और उसके सिद्धान्त । योगवासिष्ठ और कुछ
उत्तरकालीन उपनिषद्, पृष्ठ ४५) । कल्याणके सम्पादक
महोदयके अनुरोधसे यहाँपर हम पाठकोंके लिये योग-
वासिष्ठके योग-सम्बन्धी विचारोंका दिग्दर्शन कराना चाहते
हैं। जिन सज्जनोंको इन सिद्धान्तोंको और भलीभाँति
समझनेकी उत्कण्ठा हो उनको योगवासिष्ठ-सम्बन्धी
हमारी पुस्तकोंका अबलोकन करना अथवा योगवासिष्ठको
आद्योपान्त पढ़ना चाहिये ।

‘योग’ शब्दका अर्थ

योगवासिष्ठमें योग शब्दका अर्थ है—ससारसागर-
से पार होनेकी युक्ति (६ । १३ । ३) ।

*१—श्रीयोगवासिष्ठ और उसके सिद्धान्त (प्रेसमें)

२—श्रीवासिष्ठदर्शनम्

३—श्रीवासिष्ठदर्शनमार

४—Yogavāsistha and Its Philosophy

५—Yogavāsistha and Modern Thought

६—The Philosophy of Yogavāsistha (प्रेसमें)

७—Yogavāsistha and some of the minor Upanishads

योगका आदर्श

योगद्वारा मनुष्य अपने असली स्वरूप सच्चिदानन्दका
अनुभव कर लेता है। योगका ध्येय वह तुरीय नामक
परम आत्मामें स्थिति है जिसमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति,
किसीका भी अनुभव न हो, और न इनके आगामी
अनुभवका बीज भी रहे, और जिसमें परम आनन्दका
निरन्तर अनुभव होता रहे (६ । १३ । ३; ६ । १२८ ।
५०-५१) ।

योगकी तीन रीतियाँ

(१) एक तत्त्वकी दृढ़ भावना, (२) मनकी शान्ति
और (३) प्राणोंके स्पन्दनका निरोध—ये तीन योगकी
रीतियाँ हैं। इन तीनोंमेंसे किसी एकपर चलनेसे तीनों-
की ही सिद्धि हो जाती है (६ । २७, ४०) इन
तीनोंमें मनको शान्त कर लेना सबसे सरल है (६ । ६९ ।
२९) । किसीको ज्ञानका अभ्यास, किसीको प्राण-निरोध
और किसीको मनका शान्त करना सरल होता है। तो
भी योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणोंके निरोधकी अपेक्षा
मनको शान्त करना अथवा एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास
करना अधिक सरल है (६ । १३ । ८) इसलिये इस
ग्रन्थमें इन दो रीतियोंका ही अधिक वर्णन है ।

(१) एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास

एक तत्त्वकी दृढ़ भावनासे मन शान्त होकर यिलीन
हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन स्वयं ही रुक जाता है।
(६ । ६८ । ४८) एक तत्त्वका दृढ़ अभ्यास तीन प्रकार-
से किया जाता है—

(१) ब्रह्मभावना

पहले विचारद्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिये कि
संसारभरमें केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और
सब पदार्थ उसी तत्त्वके नाना नाम-रूप हैं। तब मनको
तन्मय करनेका प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रकारका
ब्रह्माभ्यास करनेसे मन ब्रह्माकार होकर यिलीन हो जाता
है और प्राणोंकी गति भी स्वयं ही रुक जाती है, द्वयोऽसि-

यह नियम है कि जो जिस विषयकी दृढ़ भावना करता है वह तद्रूप हो जाता है (६।६९।४९, ५२; ४।११।५८)।

(२) अभाव-भावना

अभाव भावनाका अर्थ है, पदार्थोंको अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभावकी दृढ़ भावना करना। जब कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत्में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही है, तब हमारा उनको नाना नामरूपयाले और भिन्न सत्तावाले समझना केवल भ्रम है। इस बातको भलीभौति समझकर यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि पदार्थ हैं ही नहीं, केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चयके अभ्यासका नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करनेसे मन ज्ञान्त हो जाता है और अहभाव और जगत्का अनुभव—दोनोंका लोप होकर आत्मभावमें स्थिति हो जाती है। (३।२२।२७, ३।७।२७, २८; ३।२१।१२)।

(३) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चयके अभ्यासका नाम है जिसमें केवल एक आत्मतत्त्वकी स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थोंके असत्य होनेकी दृढ़ भावना होनेके कारण अपने द्रष्टा होनेको भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाय जिसमें द्वैतका कोई भान नहीं है (३।४।५३)।

२-मनोलय

योगवासिष्ठके अनुसार मन ही ससारका उत्पन्न करनेवाला और चलानेवाला है। मनके शान्त हो जानेपर जीवनमें परमशान्ति आ जाती है और ससारका अनुभव क्षीण हो जाता है। मनके शान्त हो जानेपर जीव ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है और प्राणोंका स्पन्दन भी रुक जाता है। मन ससाररूपी मायाचक्की नाभि है। इस नाभिको बल और बुद्धिद्वारा धूमनेसे रोक लेनेपर ससारचक्की गति भी रुक जाती है। मनको जीत लेनेपर सब कुछ जीत लिया जाता है। मनके नाश होनेपर ससारका इस प्रकार लय हो जाता है जैसे कि घटके नाश होनेपर घटाकाश नष्ट हो जाता है। चित्तके लीन हो जानेपर द्वैत और अद्वैत दोनोंकी भावनाओंका ल्य होकर परम शान्त आत्मतत्त्वका

ही अनुभव रह जाता है। संसाररूपी दुःखसे मुक्त होनेका उपाय केवल मनको निग्रह करना है। इसी युक्तिद्वारा मनुष्यको परम शान्तिका अनुभव होता है। विना इस युक्तिके शुभ गति प्राप्त नहीं होती (५।४९।४०; ५।५०।७, ६।२९।५, ६, ७, ८; ५।२४।१४, १५; ५।१७।१९, ५।५०।१४, ६।६९।४४; ६।९३।४४-४७; ४।३५।२; ३।११२।९; ३।१११।१६; ३।१११।२)।

मन ही स्थूल होकर परिमित जीय हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणोंद्वारा मन स्थूलताको प्राप्त होकर दुःख भोगता है वे ये हैं—अनात्म वस्तुमें आत्मभाव, स्थूल देहमें आस्था, ली, पुत्र और कुटुम्बसे ममता, मेरा-तेरापन, बुद्धापे और मौतसे भय, संसारसे सुखकी आशा, किसी वस्तुकी प्राप्ति और किसीके त्यागका यत्न, भोगोंकी तृष्णा और विषयोंके भोगोंमें फँसना आदि (५।५०।५७-६३)।

मन सूक्ष्म होकर जिन कारणोंसे ब्रह्मभावको प्राप्त होता है वे ये हैं—भोगोंमें सुखकी कल्पनाको छोड़कर सांसारिक वासनाओंको त्यागकर परम शुद्ध आत्मतत्त्वकी ओर लगना, मनकी असत्ता और आत्माकी सत्तापर वार्तावार विचार करना, ससारके पदार्थोंकी असत्ताका दृढ़ निश्चय हो जाना, परम तत्त्वके चित् सामान्य रूपमें स्थिर होना आदि (३।९८।२, ३।९७।१०, ११, ३।१००।२, ५।५५।२)

मनको शान्त करनेके उपाय

विना उचित युक्तिके मनका जीतना कठिन है (५।९१।३४)। जो लोग ठीक युक्तियोंको छोड़कर हठगूर्वक मनको जीतना चाहते हैं उनको अनेक क्लेश और भय प्राप्त होते हैं (५।९१।४०)। मनको ज्ञान्त करनेकी अनेक रीतियाँ हैं, उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ किया जाता है—

(१) ज्ञानयुक्ति

ज्ञानद्वारा मनका निरोध करना अँख मीचने या फूलको मसल देनेसे भी सरल है। इसमें जरा भी कष्ट नहीं होता (६।११।३१)। मनकी सत्ता ही अशान्तके कारणसे है और वह ज्ञानद्वारा इस प्रकार सरलतासे नष्ट की जा सकती है जैसे कि रस्सीमें सॉपकी सत्ता और

मस्मूमिमें मृगतृष्णाके जलकी सत्ता। जो वस्तु अजान-जन्य है वह ज्ञानद्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्यका ज्ञान होनेपर यह भलीमौति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्माके अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असत् है (४। ११। २७)।

(२) संकल्पत्याग

सङ्कल्प मनका वन्धन है और सङ्कल्पका अभाव मनकी मुक्ति है (३। १। २७)। सङ्कल्प न रहनेपर मनका नाश हो जाता है और मुक्तिका उदय होता है (५। १३। ८०)। सङ्कल्पके शान्त होनेपर ससारका सब दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है (५। ५४। १९)।

(३) भोगोंसे विरक्ति

जबतक ससारका नाश करनेवाली भोगोंसे विरक्ति उदय नहीं होती तबतक दुःखोंपर विजय पानेवाली परम निवृत्तिका अनुभव नहीं होता (५। २४। ३७-३८)। ससाररूपी गड्ढोंमें पड़े हुए लोग तभीतक दुःखोंमें भ्रमण करते हैं जबतक उनको विषयोंसे बैराग्य नहीं होता (५। २४। ४३)। विषयोंसे विरक्ति होनेसे मन सूक्ष्म होकर आत्मभावको प्राप्त होता है।

(४) वासनात्याग

चित्त (मन) का असली रूप वासना है। वासना (हृच्छा) और मन पर्यायवाची शब्द है (३। १४। ५)। वह मनुष्य जिसकी सब वासनाएँ क्षीण हो गयी हैं, जीवन्मुक्त हो जाता है, वन्धनमें पड़े हुए लोगोंको उस अवस्थाका अनुभव नहीं होता (३। २२। ८)। वासनात्यागकी सरल युक्ति यह है कि पहले तामसी वासनाओंका परित्याग करके मनमें मैत्री आदिकी शुद्ध वासनाओंको रखें (४। ५७। २०), उनके अनुसार व्यवहार करता हुआ, फिर उनको भी मनसे निकालकर सब वासनाओंसे रहित होकर केवल एक चिन्मात्रावस्थाको प्राप्त होनेकी वासनाको मनसे रहने दे (४। ५७। २१)। तब मन और बुद्धिसहित उस वासनाका भी त्याग करके जो अवस्था शेष रहे उसके ध्यानमें स्थिर रहे। इस प्रकार जिस वासनाद्वारा दूसरी वासनाओंका त्याग किया जाय उसको भी त्याग देना चाहिये (४। ५७। २२)। उस ज्ञानवान् पुरुषके मनमें, जिसने कि इस भावनासे कि 'सब कुछ ग्रन्थ हो है' अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है,

कभी वासनाका उदय नहीं होता (३। ८७। २५)। जिस प्रकार दीपकसे अँधेरा दूर होकर प्रकाशका उदय हो जाता है, उसी प्रकार परमार्थके ज्ञानसे वासना समूल नष्ट होकर शान्तिका अनुभव होता है (५। ७४। २१)।

(५) अहंभावका नाश

अहंभावके दृढ़ होनेपर ही ससारका भ्रम उदय होता है और अहभावके क्षीण होनेपर उस स्वभावमें स्थिति हो जाती है जिसमें कि निरन्तर शान्ति ही है (३। २६। २९)। अहभावरूपी मेघके क्षीण होनेसे चिदाकाशके निर्मल हो जानेपर ही आत्मानुभवरूपी सूर्यका प्रचण्ड प्रकाश होता है (५। १३। ११)। यह सब ससार इन्द्रजालकी नाई मिथ्या है, इसलिये इसमें राग रखनेसे क्या और द्वेष करनेसे क्या? इस प्रकार विचार करते रहनेसे अहंभाव नहीं रहता (४। ३३। ४४)। जब यह ज्ञान होकर कि मैं ही सारा जगत् हूँ और यहाँपर कोई वस्तु भी ल्यागने अथवा ग्राप्त करने योग्य नहीं है, चित्तमें समताका प्रकाश हो जाय तब अहंभावकी वृद्धि नहीं होती (४। ३३। ४६)।

(६) असङ्गका अभाव

जिसके हृदयमें ससारकी वस्तुओंके साथ सङ्ग है वही मनुष्य संसारसागरमें डूबा हुआ है और जिसका मन सङ्ग-से रहित है वही ससारसे मुक्त है (५। ६७। ३०)। सङ्गरहित पुरुष वह है जो न कर्मोंके ल्यागसे प्रसन्न होता है और न कर्मोंमें अनुरक्त होता है, जो किसी भी कर्मका फल नहीं चाहता, और जो सब अवस्थाओंमें समान रहता है (५। ६८। ६)। यहाँ सब कुछ आत्मा ही है—किस वस्तुका ल्याग करें और किसका ग्रहण—इस भावका नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्तिसे यही दशा होती है (५। ६८। ४)।

(७) कर्तृत्वभावका त्याग

जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तो मन भी क्षीण हो जाता है (३। १५। ३५)। जैसे अग्नि और उष्णताकी सदा एकता है वैसे ही मन और कर्मकी सदा एकता है। दोनोंमेंसे एकका नाश होनेसे दोनोंका ही नाश हो जाता है (३। १५। ३७)। कर्मका वीज (कारण) आत्माके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ चकल है। (३। १२४। ५) सकल्य करना ही वन्धनका कारण है,

इसलिये उसको त्यागना चाहिये (३। १२४।६) सबेदन और सवेद्य दोनोंको छोड़कर वासनारहित शान्त होकर रहनेका नाम कर्मत्याग है (३। ३। २५)।

(८) सर्वत्याग

जबतक सब कुछ नहीं त्यागा जाता तबतक आत्मलाभ नहीं होता। सब अवस्थाओंका परित्याग करनेपर जो शेष रहता है वही आत्मा है (५। ५८। ४४)। शुद्ध सर्वत्यागको सर्वदुःखोंका अन्त करनेवाली चिन्तामणि समझना चाहिये, शुद्ध दुद्धिसे उसीकी साधना करनी चाहिये (३। ९०। ५)। जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है, और जो सबका कारण है, उसीमें सबका त्याग कर देनेसे सर्वत्यागकी सिद्धि होती है (३। ८३। ३०) तीनों कालमें रहनेवाला जगजाल जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है जैसे कि मोतीके भीतर तागा, उसने सब कुछ त्याग दिया (३। ९३। ४९)। जिसने दुद्धिद्वारा सब शकाओ, सब इच्छाओं और सब निश्चयोंका त्याग कर दिया है वह महात्यागी कहलाता है (३। ११५। ३४)।

(९) समाधिका अभ्यास

यदि निर्विकल्प समाधिमें स्थिति हो जाय तो अल्य और निर्मल सुषुप्तिके समान आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है (३। १। ३६)। समाधि चुपचाप रहनेका नाम नहीं है। सब आशाओंरूपी तृणोंको भस्म करनेवाली तत्त्वज्ञानरूपी अभिका नाम समाधि है (५। ६२। ८)। समाधि उस प्रश्नाका नाम है जिसमें चित्त स्थिर हो, नित्य तृप्ति हो और पदार्थोंके असली रूपका ज्ञान हो (५। ६२। ९)। विषयोंके प्रति किसी प्रकारकी भी तृष्णा न रहनेका नाम समाधि है (३। ४५। ४६)।

(१०) लयक्रिया

देह, इन्द्रिय, मन, दुद्धि और क्षेत्रज्ञ जिन-जिन तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं उनको जानकर उनमें इनको लय करनेका यज्ञ करना चाहिये (३। १२८। ४)। इस रीतिसे पहले अपने आपको विराटमें स्थित करो, फिर अव्याकृतमें और फिर परम कारणमें (३। १२८। ५)। शरीरके पर्याप्त भाग मांसादिका पृथ्वीतत्त्वमें विचार-द्वारा ल्पन करो, रक्तादिका जलमें, तैजस भागका अभिमें, नाथवद भागका वायुमें और नाभस भागका आकाशमें।

इसी प्रकार एक-एक इन्द्रियको उसके कारण तत्त्वमें लय करो—श्रोत्रको दिक्षमें, त्वक्को वायुमें, चक्षुको खूब्यमें, जिह्वाको जलमें, ब्राणको पृथ्वीमें (३। १२८। ६-८), पैरोंको विष्णुमें, पायुको मित्रमें, उपस्थको कश्यपमें, मनको चन्द्रमामें, बुद्धिको ब्रह्मामें—इस प्रकार समस्त देहको उसके कारण तत्त्वोंमें लय करके अपने आपको विराट् समझो (३। १२८। ९-११)। अब पृथ्वी-तत्त्वको जलमें, जलको अग्निमें, अग्निको वायुमें और वायुको आकाशमें और आकाशको महाकाशमें जो कि सबका उत्पत्ति-कारण है, लय करो (३। १२८। १६-१७)। वहाँपर योगी लिङ्गशरीरद्वारा क्षणभर स्थित होकर और ब्रह्माण्डके बाहर दृष्टि फैलाकर यह अनुभव करे कि मैं आत्मा हूँ (३। १२८। १९)। लिङ्ग शरीरको सूक्ष्म अव्याकृतम जो कि ब्रह्मासे पूर्वकी अवस्थाका नाम है, लीन करना चाहिये (३। १२८। २०)। यह वह तत्त्व है जिसमें नामरूपका त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रवृत्ति कहते हैं, कोई माया और कोई परमाणुसमूह, कोई तर्कसे भ्रान्त चित्तवाले इसको अविद्या कहते हैं। उसमें सब पदार्थ लय होकर अव्यक्तरूपसे वर्तमान रहते हैं। इन तीनों अवस्थाओं—(स्थूल, सूक्ष्म और कारण)—के परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्तिके लिये, उसका ध्यान करके कारण-शरीरका उसमें लय करना चाहिये (३। १२८। २१-२५)।

३—प्राण-निरोध

जैसे पर्वेका हिलना बन्द होते ही हवाका चलना बन्द हो जाता है उसी प्रकार प्राणोंकी गति रुक जानेपर मन भी शान्त हो जाता है (३। ६९। ४१)।

प्राणका स्पन्दन रुकनेसे मन शान्त हो जाता है और मनके शान्त हो जानेपर ससारका लय हो जाता है (५। ७८। १५-१६)।

प्राण-निरोधके उपाय

प्राण क्या है? प्राणोंकी प्रगति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है—इन विषयाकी चर्चा योगवासिष्ठमें खूब विस्तारसे की गयी है (३। २४। ८-३८, ३। २५। ३-६०)। यहाँपर स्थलाभावसे केवल उन उपायोंकी गणनामात्र कराते हैं जिनसे कि योगवासिष्ठ-त्रिसार प्राणका स्पन्दन रुक जाता है। वे ये हैं—वैराग्य,

परम कारणका व्यान, व्यसनध्य, निरोधकी विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान (५। १२। ८५), शाङ्क और सज्जनोंका सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियोंसे मनको हटाना (५। ७८। १८), इच्छित वस्तुका ध्यान, एक तत्त्वका अभ्यास (५। ७८। १९), दुःख हरनेवाले पूरकादि (पूरक, कुम्भक और रेचक) प्राणायामोंका गहरा अभ्यास, एकान्तमें ध्यान (५। ७८। २०), उँकारका उच्चारण करते-करते गब्द-तत्त्वकी भावना, सविद्धको सुयुक्तिमें लाना (५। ७८। २१), रेचकके अभ्याससे प्राणको आकाशपर्यन्त विस्तृत करना (५। ७८। २२), पूरकके अभ्याससे मेरुके समान स्थिर हो जाना (५। ७८। २३), कुम्भके अभ्याससे प्राणका सम्मित करना (५। ७८। २४), ताळमूलपर स्थित घण्टीको जिहासे यद्यपूर्वक द्वाकर ऊर्ध्वरन्त्रमें प्राण ले जाना (५। ७८। २५), सवित्को शून्य आकाशमें, जहाँपर कोई कलना नहीं है, ले जाकर जान्त करना (५। ७८। २६), नासाग्रसे द्वादशाङ्गुलपर बाहर शुद्ध आकाशमें सवित्को लीन करना (५। ७८। २७), भ्रुवोके मध्यमें दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतनमें स्थित होना (५। ७८। २९), ऊर्ध्वरन्त्रमें प्राण ले जाकर ताळसे बाहर अङ्गुल ऊपर प्राणको जान्त करना (५। ७८। २८), जिसमें जानका उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढ़ भावसे निश्चित होना और किसी भी विकल्पसे विचलित न होना (५। ७८। ३०), चिरकालतक जिस पदार्थकी वासना रही हो उसकी शून्य भावनासे मनको वासनारहित करके क्षीण करना और और शुद्ध सवित्में ध्यान लगाना (५। ७८। ३१)। इनके सिवा प्राणनिरोधकी और भी अनेक युक्तियों हैं जो नाना देखोंमें प्रचलित हैं और अनेक गुरुओंद्वारा बतायी गयी हैं (५। ७८। ३१)। इस प्रकार प्राण-निरोधके अभ्याससे प्राणका लय होनेपर मनकी किया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है (५। ७८। ४६)।

प्राणविद्याके अतिरिक्त योगवासिष्ठमें कुण्डलिनी-विद्याका भी विस्तारपूर्वक वर्णन है (६। ८०। ३६-४८, ५। ८१। १-९, ५। ८१। ६२-७३, ५। ८२। २-१३, ५। ८०। ३१-३५, ५। ८१। ४५-५६, ५। ८२। २९-३३)। कुण्डलिनी-विद्याका ज्ञान होनेपर कुण्डलिनी

शक्तिको जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकारकी सिद्धियों प्राप्त कर सकता है।

योगकी सात भूमिकाएँ

संसारके अनुभवसे मुक्ति पाने और परमानन्दका अनुभव प्राप्त करनेके योग नामक मार्गकी योगवासिष्ठके अनुसार सात भूमिकाएँ हैं। जो जीव प्रयत्नशील होते हैं वे उन सबको थोड़े ही समयमें पार कर लेते हैं और जो अधिक प्रयत्नशील नहीं होते उनको जन्म-जन्मान्तर लग जाते हैं। इन भूमिकाओंका वर्णन योगवासिष्ठमें कई स्थानोंपर (३। ११८, ५। १२०, ५। १२६) आया है। एक स्थानपर उनका सधित वर्णन इस प्रकार है। ज्ञानकी सात भूमिकाएँ हैं—१-शुभेच्छा, २-विचारणा, ३-तनुमानसा, ४-सत्त्वापत्ति, ५-अससक्ति, ६-पदार्थभावनी और ७-तुर्यगा। इन सातोंके अन्तमें मुक्ति है जिसको प्राप्त कर लेनेपर कोई दुःख नहीं रहता (३। ११८। ७)।

१—शुभेच्छा—सासारसे वैराग्य हो जानेपर जब मनुष्य अपनेको अजानी समझकर शास्त्र और सज्जनोंकी सङ्गति करके सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करता है, उस अवस्थाका नाम शुभेच्छा है (३। ११८। ८)।

२—विचारणा—शास्त्र और सज्जनोंके सम्पर्कसे और वैराग्य और अभ्याससे सदाचारमें जब प्रवृत्ति होती है, उस अवस्थाका नाम विचारणा है (३। ११८। ९)।

३—तनुमानसा—शुभेच्छा और विचारणाके अभ्याससे इन्द्रियोंके विषयोंमें असक्तता होनेसे मनके सूक्ष्म हो जानेका नाम तनुमानसा है (३। ११८। १०)।

४—सत्त्वापत्ति—पूर्व तीनों भूमिकाओंके अभ्याससे और चित्तके विषयोंसे पूर्णतया विरक्त हो जानेपर सत्य आत्मामें स्थित हो जानेका नाम सत्त्वापत्ति है (३। ११८। ११)।

५—अससक्ति—चारों भूमिकाओंके परिपक्ष हो जानेपर जब पूर्णतया मनमें असक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्वमें दृढ़ स्थिति प्राप्त हो जाती है तो उस अवस्थाका नाम असंसक्ति है (३। ११८। १२)।

६—पदार्थभावनी—पूर्व पाँचों भूमिकाओंके अभ्याससे और आत्मामें निश्चल स्थिति हो जानेसे जब आन्तर और बाहर वस्तुओंके अभावकी दृढ़ भावना हो जाती है तो उस स्थितिका नाम पदार्थभावनी है। इसकी सिद्धि तब होती

है जब कि परमात्माकी सत्ता और पदार्थोंकी असत्ताका बहुत समयतक यद्यपूर्वक अभ्यास किया जाय (३। ११८। १३-१४) ।

७—उर्यगा-ग्रुवं छः भूमिकाओंके अभ्याससे और

पदार्थोंका अनुभव न होनेसे अपने असली स्वरूपमें निरन्तर स्थित रहनेका नाम तुर्यगा है । जीवन्मुक्त लोगोंको इस अवस्थाका अनुभव होता है । विदेहमुक्ति इस अवस्थाए परे है (३। ११८। १६) ।

॥७॥

गीतामें योगका स्वरूप

(लेखक—श्रीकृष्णप्रेमभिखारी)



आ

जकल योगकी चर्चा सर्वत्र चल रही है परन्तु लोग बहुधा यह भूल जाते हैं कि योगका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ गीता है । अवश्य ही पातञ्जल योगसूत्र, धरण्डसहिता, गिवसंहिता तथा अन्य ऐसे धर्मग्रन्थोंमें योगका वर्णन आया है, परन्तु उनमें गीता-जैसा न विस्तार ही है न प्रामाणिकता ही । वे सम्प्रदाय-विशेषके ग्रन्थ हैं । गीताजीके सामने तो सभी सम्प्रदायके आचार्योंने सिर छुकाया है और इसे प्रामाणिक माना है । गीता वेदान्तकी प्रस्थान-व्याख्यामें एक है । कोई भी आचार्य, चाहे जिस सम्प्रदायका वक्तव्यों न हो, अपने विचारोद्धारा तवतक कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता जबतक उसके कथनका समर्थन गीता नहीं करती । केवल भारतवर्षके ही नहीं, अपितु समाजके समग्र उच्छृष्ट धर्मग्रन्थोंमें,—(ऐसे ग्रन्थोंकी सख्त्या बहुत अविक नहीं है) जहाँतक मेरी बुद्धि जाती है, उच्च योगके सम्बन्धमें कुछ ही ऐसे ग्रन्थ मिलेंगे जो गीताके नमकीन माने जायें । यह तो नित्यन्देश कहा जा सकता है कि गीतामें वद्वक्त योगविषयक कोई ग्रन्थ है ही नहीं । इसी परम उच्च योगके सम्बन्धमें बहुत पहले यात्रवल्क्य मुनिने कहा था—‘य वर प्राचीन दुर्गम सङ्करीला मार्ग दै जो बहुत दूरतक फैला हुआ है’ ।

इसमें नन्देश नहीं कि गीताका अभिप्राय योगकी गिया देना है । आगममें भन्तक सभी अध्यार्थोंका नाम ‘रोग-प्रियोग’ और भगवान श्रीकृष्णको ‘योगेश्वर’ कहा गया है । ‘रोग’, ‘योगी’ और ‘युज्ञ’ शब्दका व्यज्ञान गीतामें गारुद ग्रन्थमें अधिक है । और छठे अध्यायके ४८वें श्लोकमें तो ‘योगी’ तो गारुदमें सर्वांनन्म दत्तयते हुए भगवान्में अनुनामों योगी वन्दनामें लिये आज्ञा दी है ।

परन्तु यहाँ एक कठिनाई उपस्थित होती है । योग-परम्परामें कई प्रकारके योगका उल्लेख मिलता है—जैसे नानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग, राजयोग, हठयोग इत्यादि इत्यादि । इनमेसे गीता किस योगका समर्थन करती है और किसे सर्वश्रेष्ठ मानकर इतनी प्रशसा करती है ? इसके साथ ही एक और प्रश्न उपस्थित होता है । क्या गीता विभिन्न योगोंको समान मानती हुई किसीका भी अनुगमन श्रेयस्कर मानती है अथवा यह किसी एक ‘योग’ की गिक्षा देती है ? यदि गीतामें किसी योगविशेषकी गिक्षा है तो वह ऊपर लिखे हुए योगोंमें किससे मेल खाता है ?

गीताके भाष्यकारोंने इस प्रश्नको और भी उलझन और अन्धकारमें डाल दिया है । ज्ञान, भक्ति और कर्म—जिस मार्गमें उनकी अभिसूचि थी, अपने सम्प्रदायविशेष-के सिद्धान्तोंका प्रतिपादन करनेके लिये उन्होंने गीताका उसी प्रकार अर्थ करके स्वानुमोदित ‘योग’ की व्याख्या गीताद्वारा करायी है । परिणाम यह हुआ कि साधारण व्यक्ति भाष्यकारोंकी इस खींच-तानको अनुभव करते हुए इसी निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि गीता सभी प्रकारके योगोंका समानन्पसे आदर करती है और इस दशामें उत्तम यही है कि अपनी व्यक्तिगत रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार किसी एक योगका अनुसरण किया जाय ! इसमें तो भाष्यकारोंकी अपेक्षा वह साधारण व्यक्ति ही अधिक बुद्धिमान् निकला । परन्तु उससे भी अच्छी बात तो यह है कि राग-द्वेषमें रहित होकर, तथा अपने जन्मगत तथा स्वस्कार-गत अथवा त्वेच्छासे ग्रहण किये हुए सम्प्रदायका आग्रह छोड़कर अपनी अन्तर्दृष्टि (Intuition) से नूतनग्रन्थका अनुग्रीहन किया जाय । इस अन्तर्दृष्टिकी गत्तिके सम्बन्धमें प्लॉटिनियस (Plotinus) का कथन है कि ‘वह एक ऐसी गति है जो प्राप्त तो सभीको है, परन्तु जिसका उपयोग | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

कम ही लोग करते हैं।' (a faculty which all possess but few use) यह एक ऐसी शक्ति है जो व्यवहारमें लानेसे अधिकाधिक बढ़ती है और चुपचाप छोड़ देनेसे घट जाती है।

नीचेकी पर्क्षियोमें जो कुछ निवेदन किया जा रहा है उसमें त्रुक्तियुक्तताके अतिरिक्त और कोई प्रमाण नहीं है। मैंने व्यक्तिगत अनुभवोकी पुस्तकें देखी है और शास्त्रीय दलीलोंकी अपेक्षा उनसे मुझे बहुत लाभ हुआ है। मैंने इस लेखमें उस रीतिसे काम नहीं लिया है जिसके द्वारा किसी पुस्तक या कई पुस्तकोंमें समन्वय स्थापित करनेकी दृष्टिसे ही शब्दोंके अर्थमें तोड़-मरोड़ और खोंचातानी की जाती है। यह तो स्पष्ट ही है कि गीताका धनिष्ठ समन्वय उपनिषदों, महाभारत और सम्भवतः ब्रह्मसूत्रोंसे है। अस्तु, कोई कारण नहीं कि इन प्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य प्रन्थोंसे भी गीताका बलात् समन्वय स्थापित किया जाय।

गीताके अठारह अध्याय तीन भागोंमें विभक्त हैं— और प्रत्येक विभागमें छः अध्याय है। यदि ध्यानसे देखा जाय तो यह स्पष्ट दिखायी देगा कि प्रत्येक छः अध्यायोंमें एक नवीन उपदेश है। पहले छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने प्रायः पौच्छ प्रकारकी साधनाप्रणालीका वर्णन किया है जो उपर्युक्त योग-साधनाके एक-न-एक अङ्गसे मेल खाता है। अगले छः अध्यायोंमें भगवान्-ने अपने उपदेशका मूल अथवा गीताका हृदय खोलकर रख दिया है और अपने शिष्यको दिव्य दृष्टि प्रदान की है। अन्तके छः अध्यायोंमें भगवान् श्रीकृष्णने कुछ विशिष्ट और दुर्लह सिद्धान्तोंकी मीमांसा की है जिन्हे समझना योगको पूर्णतः व्यवहारमें लानेके लिये अत्यन्त आवश्यक है। कुछ और विस्तारसे देखे तो दूसरे अध्यायमें साख्ययोगकी प्रणालीका विवर वर्णन है। इसका समन्वय सीधे ज्ञानयोगसे है, परन्तु इसे पीछे लिखी हुई ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिकासे मिलाना ठीक न होगा। बहुतोंने ऐसा ही किया है, परन्तु वैसा करना ठीक नहीं है। गीतोक्त साख्ययोग आजकलका वैदान्तीय ज्ञानयोग भी नहीं है। उसकी व्याख्या तो महाभारतमें ही मिलेगी जिसमें कई प्रकारके सांख्यकी समीक्षा की गयी है और जिसके द्वारा ही गीतामें प्रयुक्त

* गीता अ० १३, श्लोक ४ पर शास्त्रभाष्य देखिये।

'सांख्य' शब्दका अर्थ खुलेगा। यहाँ हमारा अभिप्राय इतना ही प्रकट करनेसे है कि गीतोक्त सांख्ययोग ऐसा योग है जो तत्त्वज्ञानके द्वारा प्राप्त होता है और जिसमें पूर्ण नैष्कर्म्य होता है।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगका विषय है। यहाँ फलेन्छा-को त्यागकर विहित कर्मको कर्त्तव्यके रूपमें करनेका आदेश है। चौथे अध्यायका नाम है ज्ञानयोग। पॉच्चवें अध्यायमें सन्यासद्वारा योगसाधनकी वात कही गयी है। छठा अध्याय, जिसका नाम 'अस्यासयोग' है (कहीं-कहीं इस अध्यायका नाम 'ध्यानयोग' अथवा 'अध्यात्मयोग' भी मिलता है), प्रायः उन्हीं वातोंका विवेचन करता है जो 'राजयोग' में आती है।

यहाँ एक वात विशेषरूपसे ध्यान देनेकी है कि चौथे अध्यायके आरम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण उस योगको जिसकी वह गिक्षा दे रहे हैं, 'अव्यययोग' कहते हैं, (इम योगं अव्ययम्) और यह भी बतलाते हैं कि हम ही इस योगके आदि विधायक हैं। इसके अनन्तर उन्होंने इस योगके आचार्यों-की अत्यन्त पुरातन परम्परा भी बतला दी है। यहाँ यह स्वरण रखनेकी वात है कि भगवान्-ने इस स्वलपर एक ही अव्यययोगकी वात कही है, न कि विविध योगोंकी। यह योग केवल इसी अध्यायमें नहीं है, क्योंकि इसी अध्यायके तीसरे श्लोकमें भगवान्-ने कहा है कि पहले जो कुछ भी हम कह आये हैं वह सब इसमें है।

सबसे अर्थपूर्ण श्लोक, इस समन्वयमें, इस अध्यायका दूसरा श्लोक है जिसमें यह वात कही गयी है कि वही अव्यय पुरातन योग दीर्घि कालके पश्चात् इस ससारमें क्षयको प्राप्त हुआ और गुरु-गिष्ठ-परम्परासे ध्य होते-होते नष्ट हो गया। यह उक्ति मेरे विचारमें बड़े ही महत्वकी है, क्योंकि इससे यह मान्य होता है कि जिस योगकी गिक्षा सनातन श्रीकृष्णने विवस्वानको दी थी वह योग सबका समावेश करनेवाला एक ही योग था। वह केवल 'योग' था, उसमें और कोई ऐसा विशेषण नहीं था जैसे विशेषण आजकल 'योग' शब्दमें आकर जुटे हैं। गुरु-गिष्ठ-परम्परासे यह योग त्वयोऽत्वये आगे चला त्वयोऽत्वये उसमें ग्राम्य-प्रगातासाएँ फूटने लगी, क्योंकि गिष्ठ-गिष्ठ गिष्ठको भिन्न भिन्न स्वभाव दोन् अधिकार होनेके एक टी योगकी धन्दमूल अनेक वातांमेसे किसीको कोई वात स्वभाव अच्छी लगी तो विना दूसरेगे कोई दूसरी वात। अपनी-

अपनी समझ और स्वभावके अनुरूप किसीने ज्ञानको प्रधान माना तो किसीने भक्तिको और किसीने कर्मको, क्योंकि किसीमें सिरकी प्रधानता हुई तो किसीमें हृदयकी और किसीमें हाथोंकी । इस प्रकार एक ही सर्वव्यापी योगके अनेक टुकड़े हो गये और ये टुकड़े एक-एक योग बन बैठे । ऐसे आंशिक योग अच्छे होनेपर भी हैं एक-देशीय ही और उनसे आत्माकी समृद्धि और विविधतामें कुछ न-कुछ ठेस लगती है ।

यह जो योगका टुकड़े-टुकड़े हो जाना है इसीको भगवान् श्रीकृष्ण इस रूपमें कहते हैं कि वह योग नष्ट हो गया, (क्योंकि वात भी यही है कि उनके समयमें इन एकदेशीय योगोंके आचार्योंकी भरमार थी, जैसा कि गीतासे ही प्रकट होता है) और इन सब एकदेशीय योगोंको एक योगशिक्षामें समन्वित करके वही पुरातन अव्यय योग अर्जुनको शिक्षा देते हुए पुनः स्थापित कर रहे हैं और वही योग गीताकी मुख्य शिक्षा है और वह विशेष करके द्वितीय घट्कमें है ।

सबसे पहले अब यह देखें कि पहले छः अध्यायोंमें जिन एकदेशीय योगोंका वर्णन हुआ है उनको भगवान् कैसे निपटाते हैं । पहले अध्यायको तो छोड़ दीजिये, इसलिये नहीं कि 'इसमें कुछ नहीं है'—इसमें बहुत कुछ है, पर यहाँ जिस विषयकी चर्चा चल रही है उसके साथ पहले अध्यायका कोई सम्बन्ध नहीं है । दूसरे और तीसरे अध्यायमें, और फिर अन्यत्र भी श्रीकृष्ण बड़े यत्के साथ (कर्म-)योगियोंके निष्काम कर्मके साथ सांख्योंके निष्कर्म तत्त्वज्ञानको मिला रहे हैं और यह वतला रहे हैं कि 'सांख्य और योग पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा बालक कहा करते हैं, पण्डित नहीं ।' इससे भी बढ़कर वात यह है कि प्रत्येक अध्यायके अन्तमें भगवान् इन दोनों योगपद्धतियोंको पूर्ण करनेके लिये अपने-आपको परमेश्वर वतलाकर अपनी ओर ध्यान दिलाते हैं, क्योंकि इसके विना योग अपूर्ण ही रह जाते हैं । यथा, द्वितीय अध्यायके ५०वें और ६१वें श्लोकमें भगवान्के दर्शन करने और भगवत्परायण (मत्परः) द्वेनेकी वात विशेषरूपसे कही गयी है और इसे सांख्योंके तत्त्वज्ञानमें जोड़कर उसे पृष्ठ किया गया है, अन्यथा इसकी उस तत्त्वज्ञानमें उपेक्षा-सी ही थी । कर्मयोगियोंको भी यह वात याद दिलायी गयी है कि केवल कर्तव्य कर्म करना ही पर्याप्त नहीं है—कर्तव्य भी किसको कहेंगे ?—यह

बड़ा ही सन्दिग्ध शब्द है जिसकी व्याप्तिका कोई ठिकाना नहीं अथवा गास्त्रोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्म ही केवल इसका अर्थ हो जाता है । इसलिये केवल कर्तव्यका भाव होनेसे ही काम नहीं चलता, उसमें ईश्वरार्पणबुद्धि होनी चाहिये, यह वात गीताने जोड़ दी है (मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्य) ।

चौथे अध्यायके ज्ञानियोंको यह वात याद दिलायी गयी है कि भगवान्के दिव्य जन्म-कर्मका ज्ञान होना आवश्यक है और ज्ञानियोंको फलसक्तिरहित होनेपर भी और इस रूपसे सूक्ष्मतया कर्मरहित होनेपर भी कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिये (कर्मण्यभिप्रवृत्तः) । ज्ञानियोंके ज्ञानकी परिसमाप्ति भी यही बतलायी गयी है कि सब जीव भगवान्के अन्दर दीखने लगें । पॉच्चर्वे अध्यायके सन्यासयोग-मार्गियोंको भी यह सीखना है कि सन्यास कर्मका नहीं वल्कि कर्मफलका होना चाहिये, और फिर अन्तिम श्लोकमें उन्हीं 'सुद्धद सर्वभूतानाम्' भगवान्की वात आती है ।

अन्तमें, छठे अध्यायमें राजयोगीको यह वात बतायी जाती है कि जिस आनन्दकी खोजमें राजयोगी है वह आनन्द श्रीकृष्णमें मिलता है (श्लोक १५) और फिर एक बार योगका अन्त दिखाया जाता है श्रीकृष्णके दर्शनमें (श्लोक ३० और ३१) जो प्राणिमात्रके हृदयमें यिराज रहे हैं, जिनके विना योग अपने ही सुखकी खोजका स्वार्थभरा बन्धा हो जाता है जिसमें दीन-दुखी प्राणियोंका आर्त्तनाद भी नहीं सुनायी देता । इस प्रकारका भीतरी स्वार्थ जो कैवल्यप्राप्तिसे केवल अपने ही दुःखका अन्त चाहता है, सामान्य प्रकारके राजयोगके मार्गमें बड़ा भारी भय है, राजयोगी इस गड़हेमें न गिरे, इसलिये श्रीकृष्ण अपने-आपको इस योगका केन्द्र और हृदय माननेकी आवश्यकता बतलाते हैं । कारण, जब यह वात समझमें आवेगी कि श्रीकृष्ण सब प्राणियोंके भीतर है तब योगीसे दूसरोंके दुःखकी उपेक्षा और केवल अपने ही मोक्षकी चिन्ता न बन पड़ेगी ।

इस प्रकार अपने पुराने सनातन योगके विनिष्ठन अङ्गोंको फिरसे जोड़कर भगवान् आगेके छः अध्यायोंमें यह बतलाते हैं कि किस प्रकारसे भगवान्का यह मूल-सूत्रात्मक और समन्वय-साधक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है तथा उस ज्ञानका क्या लक्षण है, क्योंकि उस ज्ञानका

लक्षण केवल यह जानना ही नहीं है कि द्वापरके अन्तमें भगवान् मनुष्यरूपमें पृथ्वीतलपर अवतीर्ण हुए और वह पीताम्बर पहने और पीतपट ओढ़े थे। इसलिये अब वह इस ज्ञानको वतलाना इन अर्थपूर्ण शब्दोंके साथ आरम्भ करते हैं—

मध्यासक्तमनाः पार्थं योगं युज्जन्मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

‘हे पार्थ! मुझमें मन लगाकर और मेरा ही आश्रय करके योगमें लगाकर तुम जिस प्रकार मुझे निःसंशय समग्र-रूपसे जानोगे वह (अब) सुनो ।’

यह मुख्य और अखिल महत्त्वपूर्ण ज्ञान ऐसा है ‘जिसे जाननेके बाद कोई वात ससारमें जाननेकी नहीं रह जाती,’ यही वात ७ वें और ८ वें अध्यायमें समझायी गयी है। यह ज्ञान कितना दुर्लभ है इसका कथन (अ०७, श्लोक ३ और ११), भगवान्के भक्तोंके प्रकार, अपनी प्रकृतियोंके साथ उनका सम्बन्ध, उनका मन्त्र, उनका परमधाम और उसका रास्ता, ये सब वातें सुस्पष्टरूपसे कही गयी हैं। वडे सीधे-साढे शब्द हैं, पर उनके भीतर अथाह-सी गहराई है जो ऊपरी दृष्टिमें नहीं आती।

यह परम ज्ञान, जिसे भगवान् राजगुह्य कहते हैं, इसके बादके अध्यायमें भी आगे चला है। इसे स्पष्ट ही ‘गुह्य-तम’ कहा गया है और इसका वर्णन करनेमें भगवान्को श्लोक ४ और ५ में परस्पर विरुद्ध-सी वात विवश होकर कहनी पड़ी है। इसमें यह मान्द्रम होता है कि यह ज्ञान केवल वौद्धिक ज्ञान नहीं है वल्कि कोई ऐसा ज्ञान है जो आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टिमें ही धारण किया जा सकता है। दूसरे श्लोकमें भी एक ऐसा ही अर्थपूर्ण शब्दप्रयोग है। वह है ‘प्रत्यक्षावगमम्’ अर्थात् ‘प्रत्यक्ष जाननेयोग्य’। इस शब्द-प्रयोगका महत्व असाधारण है। यह इस वातको घोषित करता है कि यह अमूल्य ज्ञान, यह राजविद्या, कोई अन्धश्रद्धाकी वात नहीं है जो आँख मूँडकर मान ली जाय, वल्कि जो कोई इस रास्तेपर चलेगा वह इसे प्रत्यक्ष देख और अनुभव कर सकेगा। यह कथन केवल सन्यका ही कथनमात्र है और यह मनुष्यकी स्वतन्त्रताका दिव्य अधिकारपत्र है जिसके सामने केवल विश्वासका धन्धा करनेवाले सम्प्रदायोंकी कृपनपूर्कता कहीं टिकने नहीं पाती और जो ‘मेरे हुओं’ को भी रहेंगे तो

युकारता और कहता है, ‘जागो, उठो और इस रास्तेपर चलो, क्या कत्रमें गड़े पड़े हो ।’

फिर देखिये, अध्यायके अन्तमें वह महान् श्लोक (अ० ९ । ३४) जो गीताका एक ही श्लोक है जो गीतामें (कुछ नहींसे अन्तरके साथ) दो बार आता है। पर इसके बारेमें पीछे कहेंगे ।

दसवें अध्यायका महत्व अर्जुनके १७ वें श्लोकवाले प्रश्नसे प्रकट होता है। अर्जुन पूछता है कि सर्वव्यापक भगवान्का ज्ञान मैं कैसे जानूँ और किन-किन उपायोंसे मैं उनका ध्यान करूँ और श्रीकृष्ण उत्तर देते हुए अन्तरात्मा-की अन्तर्दृष्टिको जगानेका उपाय वतलाते हैं और इस प्रकार अपने विष्यको वह महान्, उत्तुङ्ग, व्यापक और आश्र्वर्यजनक दृश्य देखनेके लिये तैयार करते हैं जो इसके बादके अध्यायमें उसकी आश्र्वर्यमरी दृष्टिपर आ गिरता है जैसा कि आज भी इस पथके पथिकोंकी चकित दृष्टिपर, ठीक समयसे, ऐसा दृश्य आया करता है।

इस भीषण अनुभवके बाद अर्जुनकी घबराहट जब दूर हुई तब बारहवें अध्यायमें भगवान्ने उसे भक्तितत्त्वामृत पान कराया। यह भक्तितत्त्व इस अध्यायके पूर्व भी सब अध्यायोंमें, दूधमें मक्खनरूपसे, रहा है और यहाँ वह मक्खन ही निकालकर आगे रखा गया है। भक्ति कैसी होती है और उसके क्या-क्या लक्षण हैं, इसका सुस्पष्ट वर्णन तेरहवें श्लोकसे अन्ततक किया गया है। जो कोई भक्ति करना चाहते हों वे इस वर्णनको मननपूर्वक पढ़ें और उस सच्ची भक्तिको सीख ले जो भक्ति नामसे कभी-कभी पुकारी जानेवाली फेनिल भाषुकतासे सर्वया भिन्न वस्तु है। एक और महापुरुषने ठीक ही कहा है कि ‘प्रभु ! प्रभु ! चिल्लानेवाला हर कोई इस राज्यमें प्रवेश न कर सकेगा, वही प्रवेश करेगा जो वैकुण्ठधामवासी मेरे पिताकी इच्छाके पीछे चलेगा।’

योग वता दिया, अन्तश्चक्षु खोल दिया, चिराट्-दर्गन भी करा दिया। सब कुछ हुआ, अब कुछ उकेत वताना रह गया जिनमें द्विष्ट वताये मार्गसे चल सके और दिये जानका अस्यास कर सके। अन्तके छ अध्याय इसी कामके लिये हैं। और केवल अठारहवें अध्यायके अन्तमें मुख्य प्रतिपाद्य विषय उपमन्त्रमें आता है। समेपमें, पर कभी च अन्तेनान्ते नन्देन्ते — मुख्य

बातें सारांशरूपसे कही है और तब अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ एक छोटे-से श्लोकमे अपने सम्पूर्ण मार्गका सारतत्त्व, अपने उपदेशका महाबाक्य बता दिया है—

मन्मना भव मन्दक्षो सद्याजी मां नमस्कुरु ।
नामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने श्रियोऽसि मे ॥

‘मेरे मनमें अपना मन मिला दो, मेरे भक्त हो जाओ,
मेरा यजन करो, मुझे प्रणाम करो । मैं तुम्हें बचन देता हूँ कि मुझको ही प्राप्त होगे, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो ।’

हम सब प्रायः गीताके श्लोकोंको अपनी कल्पनाओंके अनुरूप धुमा-फिरा लिया करते हैं । कुछ लोगोंका यह दावा है कि गीताका सारतत्त्व दूसरे अध्यायके पचासवें श्लोकके ‘योगः कर्मसु कौडलम्’ (योग नाम है कर्ममें जो कुशलता है उसका), इन्हीं शब्दोंमें आ गया है । कुछ दूसरे लोग यह बतलाते हैं कि गीताका महाबाक्य तीसरे अध्यायका सतरहवाँ श्लोक है । पर सच पूछिये तो भगवान्-के शब्द इतने स्पष्ट हैं कि कर्हीं कोई युक्तियुक्त सन्देह रह जानेकी कोई गुजाइश ही नहीं है । ऊपर जो श्लोक दिया हुआ है उसकी यह बात है कि यही श्लोक राजगुद्यामाले अध्यायके अन्तमें प्रायः इसी रूपमें आया है और फिर सम्पूर्ण उपदेशके पश्चात् यही श्लोक इस भूमिकाके साथ आता है कि अब हम तुमसे ‘परम वचः’ कहते हैं । इससे तो ब्रात इतनी स्पष्ट हो जाती है कि शकाके लिये कोई स्थान ही नहीं रहता । इस श्लोकमें सम्पूर्ण योगका सारतत्त्व-भगवान्-की गिक्षाका सारा र्मां आ गया है । इसे हम अच्छी तरहसे समझ लें, क्योंकि इसमें सबका सारांश है ।

मनुष्यका स्वभाव त्रिविध है—बौद्धिक, भावुक और कर्मशील—मस्तिष्क, हृदय और हाय । ये तीन अग सभी मनुष्योंमें होते हैं, किसीमें किसी अगका विकास कम और किसीका अधिक होता है और किसी-किसीमें तो इनका परस्पर कोई सामज्जस्य ही नहीं रहता—इतना वेहिसाब गठन इनका होता है । ये तीनों प्रायः सांसारिक पदार्थोंमें लगे रहते हैं । इन्हें वास्तु पदार्थोंसे निकालकर परमभावमें, परमप्रकाशमें, निष्कलक एकमेवाद्वितीयमें, स्वय सनातन श्रीकृष्णकी सेवामें लगाकर दिव्य बनाना होगा ।

सबसे पहले भगवान्-को जानना होगा, क्योंकि मन-बुद्धि उनकी कर देना है (मन्मना भव) । यह पहली बात है, क्योंकि उन्हें जाने विना न तो उनसे प्रेम किया

जा सकता है, न उनकी सेवा की जा सकती है और जैसा कि श्रुति कहती है, ‘उनके ज्ञानके बिना सुखका कोई रास्ता नहीं है’ (नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।)

दूसरी बात है उनसे प्रेम करना (मद्भक्तः), क्योंकि प्रेमरहित ज्ञान कोई ज्ञान नहीं । इसलिये हृदयको दिव्य बनाना होगा और सिरको भी ।

तीसरी बात है, कर्मरूपसे उनकी सेवा करनी होगी, क्योंकि जिस प्रेमसे कर्मका स्रोत नहीं निकलता वह सच्चा प्रेम नहीं है । सब कर्मोंको उन भगवान्-की सेवामें लगाकर यज्ञरूप बनाना होगा जो सब प्राणियोंमें निवास करते हैं और जो हजारों, लाखों शरीरोंके हृदयोंमें बैठकर उनके आकाश-पाताल एक करनेवाले हृदयद्रावक आर्तनाद सुना करते हैं और अपनी पक्षपातरहित दृष्टिसे यह देखा करते हैं कि कौन है वह मेरा भक्त बननेकी इच्छा करनेवाला जो इस सेवाके लिये तैयार खड़ा है । इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है कि जड़लका कोई दीन बन्य पश्चु अपने बच्चोंका मारा जाना देखकर जो रोता है वह यथार्थमें वह नहीं रोता, भगवान्-हृदयमें बैठे उस कृत्यको अकित करते हैं और समयके पूरा होनेपर मारनेवालेको उसका बदला चुकाते हैं ।

अन्तमें यह आज्ञा है कि भगवान्-के चरणोंमें प्रणाम करो, अपना आपा-अपना हर तरहका अहकार निकालकर फेंक दो और उनके चरणोंकी धूलमें लोट जाओ, क्योंकि प्रणामका वास्तवमें यही अर्थ है, मन्दिरोंमें जाकर केवल वास्तु प्रणाम करना नहीं । आपा छायामात्र भी न रह जाय, यदि हम उनके पास पहुँचना चाहते हैं ।

यही गीताका हृदय है, योगोंका योग है और जैसा कि हमलोग देख चुके, यह वह योग है जो मानव प्रकृतिके सब अर्गोंको एक सूत्रमें ले आता है । इसके बिना योग क्या ? ऐसा विकास किस कामका जिसमें सब अर्गोंका सामज्जस्य न हो ? सभी अग शुद्ध, पवित्र और दिव्य वर्ण । इसपर यदि कोई कहे कि यह बड़ा कठिन और दुर्गम रास्ता है तो इसका उत्तर यह है कि इसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण स्वय ही बतलाते हैं कि ‘अनेक जन्मोंके पश्चात् जानी पुरुष मेरे पास आता है’ । अभी या पीछे सबको इसी ‘दुर्गे पथम्’ पर-इसी ‘क्षुरस्य धारा निगिता’ पर चलना होगा । हॉ, इतनी निश्चिन्तता तो है कि चलते हुए पौंछोंसे चाहे कितना ही रक्त निकले | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

और हृदयका साहस टूटे, उसमे सन्देह नहीं कि भगवान् सदा हमारे पार्श्वमें हैं—‘हमारे श्वासोच्छ्वाससे भी अधिक पास, हाथ-पैरोंसे भी अधिक समीप’ है और अज्ञात आरम्भसे लेकर अनन्त अन्तवाले इस लम्बे रास्तेपर एक क्षणके लिये भी हमें कभी अकेला नहीं छोड़ते।

६६ वें श्लोकपर मैंने कुछ नहीं लिखा। इसका कारण यह है कि इसका अर्थ और कोई नहीं समझता, सिवा उन

लोगोंके जो उच्च स्थितिको प्राप्त हो चुके हैं और इसलिये मैं उस अत्युच्चल प्रतिज्ञाको अपने दुर्वल बच्चनोंसे मलिन नहीं करना चाहता।

गुरुजनोंको प्रणाम, प्रणाम उन मुनिजनोंको जो उस पार है, प्रणाम उन लोगोंको जिनका जान ससारको आलोक दिखाता है, और जिनके चरणोंमें जो कुछ सत्य इन गव्डोंमें हो वह सादर समर्पित है।



गीतामें योगके अनेक अर्थ

(लेखक—दीवानबहादुर के० एस० रामस्वामी शास्त्री वी० ए०)

हिन्दूतत्त्वज्ञान और हिन्दूजीवनमें ‘योग’ शब्द सर्वत्र व्यावृत है। श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम श्लोकमें भगवान् ‘योगेश्वर’ कहे गये हैं। जिन मगलमय शब्दोंमें भगवान्का वर्णन किया जा सकता है, ऐसे सब शब्द गीताके दसवें अध्यायमें अर्जुनके ‘पर ब्रह्म पर धाम’ आदि भगवद्भावाद्वानमें वडे ही आश्र्यजनक ढगसे एकत्र हो आये हैं। इस आवाहन-स्तुतिसे अधिक उदात्त या आकर्षक स्तुति सम्पूर्ण साहित्यभरमें और कहीं भी नहीं है। इस स्तुतिका जो-जो कुछ अर्थ है, इससे जो-जो कुछ सूचित और ध्वनित होता है, वह सब एक ‘योगेश्वर’ शब्दमें था जाता है। गीताके इस ‘योगेश्वर’ शब्दकी व्याख्या करना जितना कठिन है उतना ही गीताका योग क्या है, वह चतलाना कठिन है। दोनों ही काम कठिन ही नहीं, असम्भव हैं। तथापि दोनोंको जाननेका यत्न करना होगा, इसलिये नहीं कि यह प्रयास सफल होगा, वल्कि इसलिये कि इस प्रयासमें भी आनन्द है।

योगका अंतरतम महत्त्व इस बातमें है कि अनात्मकी प्रकृति और गति आत्माकी प्रकृति और गतिसे मूलतः ही सर्वथा भिन्न है। अनात्मा और आत्मा, भगवान् श्रीशङ्कराचार्य कहते हैं कि ‘तमःप्रकाशवद्विरुद्धत्वभाव’ वाले हैं। आंगल महाकवि बड़े सर्वर्थने इस विभिन्नताको, एक दूसरे ही ढगसे, अपने ही मजेटार तरीकेसे प्रकट किया है। उनकी उस कविताका भावार्थ यह है कि ‘पृथ्वी अपनी गोद अपने ही आनन्दोंसे भरती है, वेत्सके प्रति उसकी उत्कण्ठा उसके अपने स्वभावके अनुरूप होती है और उसमें एक प्रकारका मातृभाव

ही होता है, कोई अनुचित हेतु नहीं। यह धात्री अपने इस मानवरूप पोष्य पुत्रको, जैसे भी बनता है, पालती-पोसती है और इस तरह उस राजप्रासादको जहाँसे कि वह आया और उसके सुखोंको भुला देती है।’ कवि फिर आगे कहते हैं, ‘हमारा जन्म, एक प्रकारकी निद्रा और विस्मृति है। हमारा आत्मा हमारा जीवन-नक्षत्र जो हमारे साथ ऊपर उठता है, किसी अन्य स्थानसे चला है और वही दूरसे आ रहा है।’ अस्तु।

इस वैष्णविक जीवनका वास्तविक रूप क्या है? धणमहुरता ही उसका स्वरूप है, और अत्रसि सदा उसके पीछे लगी रहती है।। सुखके ठीक मध्यतकमें दुःखका विष-विन्दु होता ही है अथवा जैसा कि कीट्स कविने कहा है कि ‘हर्षके मन्दिरतकमें विपादका गर्ममन्दिर होता है।’ श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते दुधः ॥

(५।२२)

अनित्यमसुखं लोकभिमं प्राप्य भजस्व माम् ॥

(९।३३)

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखोपानुदर्शनम् ॥

(१३।८)

जातस्य हि धुवो मृत्युभुवं जन्म मृतस्य च ।

(२।२७)

परन्तु आन्मा तो अनन्त और मनातन, मुक्तन्यमाव और आनन्दस्वरूप हैं। इसी दिव्य प्रतिज्ञाके ताथ गीता आरम्भ होती है और तद दृष्टारी जीवोंकी जो दो

प्रकारकी जीवनधारा है—एक संसृतिसे संसृतिकी और ही ले जानेवाली निम्नधारा और दूसरी ससारके पार पहुँचानेवाली ऊर्ध्वगमिनी धारा—उनका और उनके कारण गुणोंका और फिर गुणोंके कारणस्वरूप अविद्याका विचार होता है।

मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि गीताके—

तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्त्व्यो योगोऽनिविष्णवेत्सा ॥

(६ । २३)

इस श्लोकमें परम योगेश्वर श्रीकृष्णने योगका सूक्ष्माति-सूक्ष्म सार भर दिया है। हमारे देहयुक्त जीवनमें दुःखका सयोग होता है। इसका जो वियोग है वही योग है। दुःखके सयोगके वियोगका ही नाम योग है। उसी योगमें आत्मा अपनी दिव्यताके साथ स्थित होता है। भगवान् उस स्थितिका इस प्रकार वर्णन करते हैं—

सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
घेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चर्तति तत्स्वतः ॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचार्यते ॥

(६ । २१-२२)

वह अनुभूति अवर्णनीय आनन्दकी स्थिति है। इन्द्रियोंकी वहाँतक पहुँच नहीं है, केवल बुद्धिके द्वारा ही उसका ग्रहण हो सकता है। वह परा गति है, सुख-दुःखके सर्वथा परे है।

योग शब्द युज् (समाधौ) से प्रायः साधा जाता है। इसका अर्थ है मिलन या योग अर्थात् दुःखसे वियोग और आनन्दके साथ योग। दार्शनिक भाष्यकार प्रायः अपनी पसन्द या प्रकृतिके अनुसार गीतामें किसी-न-किसी विशिष्ट एकदेशीय योगकी ही प्रधानता वताते हैं। परन्तु श्रीकृष्णने इस प्रकारका कोई एकदेशीय योग नहीं वताया है, और जो योग उन्होंने वताया है वह आरम्भमें दुर्गम और क्रेत्रकर प्रतीत हो तो भी जीव ही सुगम और सुखकर हो जाता है और फिर अन्ततक ऐसा ही रहता है। यही बारण है कि ‘इस श्लोकमें द्विविचा निष्ठा’ (३ । ३) वतलाते हुए यह भी कह रेते हैं कि दोनों मार्ग पहुँचते हैं एक ही स्थानमें। (५ । ५)

साथ ही भगवान् यह भी कहते हैं कि कर्मकी समाप्ति आत्मस्थितिमें होती है—

सर्वं कर्मस्त्रिलं पार्थं ज्ञाने परिसमाप्यते ॥

(४ । ३३)

ज्ञानारिनः सर्वकर्माणि भस्सात् कुरुते तथा ॥

(४ । ३७)

न हि ज्ञानेन सद्वां पवित्रमिह विद्यते ।

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥

(४ । ३८)

संन्यासस्तु महावाहो दुःखमानुभयोगतः ।

योगयुक्तो मुनिद्रिष्ट्या नचिरेणाधिगच्छति ॥

(५ । ६)

कर्तव्यकर्मसे कोई कच्चे मनके साथ न भागे। मन जब परिपक्ष होगा तब कर्म आप ही उससे छूट जायगा। परिपक्तता ही मुख्य है। (न कर्माणि त्यजेयोगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसौ ।) भगवान् वारंवार गीताकी इस मुख्य शिक्षापर जोर देते हैं कि भगवत्प्राप्तिके साधनका सार मर्म वह अनासक्ति और भक्ति है जिससे कर्म नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। यज्ञ, दान और तपरूप कर्म चित्तशुद्धिके साधन हैं और सच्चा त्याग सङ्गत्याग और फलत्याग है।

न कर्मणामनारम्भालैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्चुते ।

(३ । ४)

न ह्यसंन्यस्तसङ्कर्ष्ये योगी भवति कश्चन ॥

(६ । २)

यज्ञादानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तद् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मन्त्रापिणाम् ॥

(१८ । ५)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥

(१८ । ९)

इससे यह मालूम होता है कि गीताका योगमार्ग आत्म-मिलन, आत्मानुभव और आत्मरतिका मार्ग है और यह समूर्ण मार्ग एक ही है और वह आनन्दका मार्ग है। उन लोगोंसे मेरा मतैक्य नहीं है जो कर्मयोगको कनिष्ठ और सन्यासयोगको श्रेष्ठ वताते हैं, अथवा जो यह कहते हैं कि कर्मयोगमें जो आनन्द है उससे सन्यास-योगका आनन्द श्रेष्ठ कोटिका है। हाँ, इस बातको मैं

अवश्य मानता हूँ कि 'स्वल्पेऽवस्यानम्' (आत्मस्वरूपमे स्थित) होना अनुभव और आनन्दकी पराकाष्ठा है । गीताका यह वचन है कि कर्मयोगमार्गमे भी ज्ञानित और आनन्दकी प्राप्ति है ।

रागदेवपवियुक्तेत्तु विषयानिन्द्रियैश्वरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥
प्रसादे सर्वदुखानां हानिरस्योपजायते ।
(२ । ६४-६५)

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निस्पृष्टः ।
निर्ममो निरहंकारं स शान्तिमधिगच्छति ॥
(२ । ७१)

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैषिकीम् ।
(५ । १२)
त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ (१३ । १०)

कर्मयोगका विवेचन करते हुए श्रीकृष्णने इस शब्दके दो और अर्थ प्रकट किये हैं । एक है, 'समत्व योग उच्यते' सिद्ध-असिद्धमें सम रहना योग है, दूसरा और 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्ममें जो कौशल है वह योग है । यह कौशल क्या है ? कौशल है वही अनासक्ति और भक्ति जिनसे वन्धनकारक कर्म मोक्षदायक कर्म हो जाता है और कर्म जान बन जाता है ।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनोपिण ।
जन्मवन्धविनिर्मुक्ता. पठं गच्छन्त्यनामयम् ॥
(२ । ७१)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यन्तं लोकोऽयं कर्मवन्धनः ।
तद्यं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गं समाचर ॥
(३ । ९)

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यनृसो निराश्रय ।
कर्मण्यभिप्रयृत्तोऽपि नैव किञ्चिक्तरोति स ॥
(४ । २०)

आत्मवन्तं न कर्माणि निवृत्तिं धनंजय ॥
(४ । ४१)

सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥
(५ । ७)

प्रसूष्यावाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति य ।
लिप्यते न स पापेन पश्चपत्रमिवाम्भसा ॥
(५ । १०)

यहाँतक गीताके 'योग' शब्दके अर्थ पर सामान्य विचार और कर्मयोगान्तर्गत 'योग' का विशेष विचार हुआ । कर्मयोग चित्तशुद्धिका साधन है । भगवान् श्रीकृष्णके कर्मयोगमे पातञ्जलयोगदर्शनके वे यम और नियम सांगोपांग आ जाते हैं जिनसे 'चित्तप्रसादन' होता है, यमनियमसे यह कर्मयोग अधिक व्यापक है और फिर इसमे वह विशेषता है कि इसमे ईश्वरार्पणबुद्धि है जो योगदूतोंमें नहीं है । चित्तशुद्धिसे चित्तकाग्रय होता है जैसा कि गीताके छठे अध्यायमें कहा है । चित्तकाग्रयको प्राप्त योगी अन्तःसुख और अन्तज्योतिरेख य । (५ । २४) । ऐसे पुरुषको श्रीकृष्ण योगी कहते हैं जो 'तर्पास्वयों, ज्ञानियों और कर्मियोंसे' श्रेष्ठ है और इसीलिये अर्जुनको उपदेश है कि, 'तसाद्योगी मयार्जुन' (६ । ४६) ।

वह कठिन राजयोगमार्ग जिससे सगुण ब्रह्मकी प्राप्ति होती है, गीताके ८ वें अध्यायमें वर्णित है । उससे अर्जुन चकित—स्तम्भित हो जाता है । इसीलिये भगवान् सुग्रम सुखपूर्वक साध्य भक्तिमार्ग वनलाते हैं और इसीको राजविद्या कहते हैं । इस विद्याका सबको अधिकार है और इसमें स्वयं भगवान् ही हमारे व्येष और ध्येयके पास पहुँचानेवाले मार्गदर्शक हैं । भगवान् भक्तियोगीको 'युक्तम्' वनलाते हैं—

योगिनामपि सर्वेषां महतेनान्तरात्मना ।
प्रद्वावान् भजते यो मां स मे युक्तमो मतः ॥
(६ । ४७)

इसी योगमें १० वें अध्यायका धिभूतियोग और १२वें का विश्वपदर्शनयोग सम्मिलित है । भगवान् कहते हैं कि अकेला भक्तियोगी ही परमात्माके इस विश्वरूपको देख सकता है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवविद्योऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेद्धुं च परन्तप ॥
(११ । ५४)

यह भक्तियोग एक तरफ कर्मयोग और नज़रेनमें और दूसरी तरफ अक्षर उपासना तथा ज्ञानयोगमें नन्दद होता है । १२वें अध्यायमें भगवान् कहते हैं कि प्रक्ष-उपासनासे भक्तियोग सुग्रम है और भक्त सदा सनुष्ट (नन्दुष्ट नततम्) रहता है (१२ । १४) और भक्तियोगका जाग भी धन्य-

और अमृत है (धर्मामृतमिदम्) (१२। २०) । १३ वें अध्यायमें भक्तिको ज्ञानका एक अग कहा है ।

ज्ञानयोगमे जाकर भक्तिकी पूर्ण सार्थकता होती है ।
 भगवान् कहते हैं कि कर्मकी परिसमाप्ति ज्ञानमें होती है
 (४।३३) और ज्ञानी ही आत्मा है (ज्ञानी त्वात्मैव मे-
 मतम् ७।१८) ।

चतुर्विंधा भजन्ते मां जना. सुकृतिनोऽर्जुन ।
 आत्मं जिज्ञासुर्यार्थी ज्ञानी च भरतर्पभ ॥
 तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकमक्तिविशिष्यते ।
 प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥
 उदारः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ।
 आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥

वह्नां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥
(७ । १६-१९)

अद्वैतदर्शनका यह सिद्धान्त है कि जीवात्मैक्यवोध ही परम वोध है।

इस प्रकार गीतामे योगके अनेक अर्थ श्रीयोगेश्वरके द्वारा निरूपित हुए हैं। इस ब्रातको यदि हमलोग समझें और तदनुसार चलें तो इससे अपना और राष्ट्रका भी उद्धार होगा। भगवान्की दया और हमारी ऊपर उठने और मोक्ष साधनेकी उत्कण्ठा, ये दो इस उद्धार-साधनमें मुख्य वातें हैं।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पाथो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीविंजयो भूतिभूत्वा नीतिर्मतिर्मम ॥

गीतोक्त भक्तियोग वा प्रेमलक्षणा भक्ति

(लेखक—महाभाष्योपाध्याय प० श्रीप्रभुनाथ तर्कभृषण)

श्रीमद्भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके अन्तमे उपदेश समाप्त करते समय श्रीभगवानने कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कादृक्षति ।

समं सर्वेषु भूतेषु मन्त्रकिं लभते पराम् ॥५४॥
भवत्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तस्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

अर्थात् (ज्ञानलाभ होनेपर) ब्रह्मस्वरूप होकर जीव प्रसन्नतमा हो जाता है, उसे शोक नहीं होता, किसी वस्तुकी अभिलापा भी नहीं रहती, वह सब प्राणियोंके प्रति समत्व-नुद्धि-सम्पन्न हो जाता है; इस प्रकारका होकर वह, मक्षमं पराभक्तिको प्राप्त करता है।

उस परामर्किके द्वारा ही वह, मेरा वास्तविक क्या स्वरूप है, और मेरी क्या महिमा है, इसे जाननेमें समर्थ होता है, तथा उस प्रकार मेरा वास्तविक तत्त्व समझकर,— उसके बाद—मझमें प्रविष्ट हो जाता है।

दून दोनों श्लोकोंमें जिस 'भक्ति' व्यवहरण का प्रयोग
देखा जाता है, उसके अर्थका निर्णय करते हुए मगावत्पाद
आचार्य श्रीदिव्यद्वयने कहा है—

एवम्भूतो ज्ञाननिष्ठो 'मद्रकिं' मयि परमेश्वरे भक्तिं
भजनम्, परमाम् उत्तमाम् ज्ञानलक्षणां चतुर्यो लभते
‘चतुर्विधा भजन्ते माम्’ इत्युक्तम् ।

“इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति ‘मन्दक्ति’ अर्थात् मुझ परमेश्वरकी परमा अर्थात् उत्तमा भक्तिको प्राप्त करता है, इस परमा भक्तिसे चतुर्थी भक्ति सूचित होती है, क्योंकि इसके पहले ही भगवान्‌ने कहा है—‘चतुर्विधा भजन्ते माम्’ अर्थात् आर्त, जिजासु, अर्थार्थी और ज्ञानी मेरा भजन करते हैं, उसके अनुसार ज्ञानीकी जो भक्ति है, वही चतुर्थी भक्ति है और वही उत्तमा है।” दूसरे इलोककी व्याख्याके प्रसङ्गमें उन्होंने कहा है—

‘ततो ज्ञानलक्षणया भक्त्या मामभिजानाति,
यावानहसुपाधिकृतविस्तरभेदः, यश्चाह विद्ध्वस्तसर्वोपाधि-
भेदोऽभिमत उत्तमपुरुष आकाशकल्पस्तं मामद्वैतं
चैतन्यभावैकरममजरममरमभयनिधनं तत्त्वतोऽभिजानाति ।
ततो माम् एवं तत्त्वतो ज्ञात्वा, विशते तदनन्तरं मामेव ।
नात्र ज्ञानानन्तरप्रवेशक्षिये भिन्ने विवक्षिते, ज्ञात्वा विशते
तदनन्तरम् इति । किं तर्हि ? फलान्तरभावान्
ज्ञानभावमेव ।’

“उसके बाद ज्ञान-रूप भक्तिके द्वारा मुझको प्रत्यक्ष-रूपसे ज्ञान सकता है, (अर्थात्) जितने प्रकारके उपाधिकृत भेदोंसे युक्त (होकर मैं जितने प्रकारका होकर रहता हूँ) एव सब प्रकारकी उपाधिसे शून्य मैं अभिमत होकर रहता हूँ अर्थात् आकाशकल्प पुरुष, (अर्थात्) चैतन्यमात्र, एकरस, अभय, अजर, अमर और अद्वैत-स्वरूप—इस प्रकार मुझको ही जानकर वह तदनन्तर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है। यहाँपर ‘जानकर तदनन्तर प्रवेश कर जाता है’—इस प्रकार कहनेमें ज्ञान और अनन्तर प्रवेश—ये दो क्रियाएँ विवक्षित नहीं हैं। तो क्या है? ब्रह्मज्ञानका दूसरा कोई फल न होनेके कारण यहाँपर केवल ब्रह्मका साक्षात् ज्ञान ही प्रतिपादित हुआ है।”

गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दकी च्याख्या करते हुए मधुसूदन सरस्वती आदि प्रधान सुप्रसिद्ध टीकाकारोंने भी आचार्य शङ्करके मतका अनुसरण करते हुए कहा है कि अद्वैत ब्रह्मज्ञाननिष्ठा या चरम ब्रह्म-साक्षात्कार ही यहाँपर परमाभक्ति है। विस्तारभ्यसे हम यहाँ उनकी उक्तियोंको उद्धृत नहीं कर रहे हैं।

अद्वैतवादियोंके मतानुसार ब्रह्मसाक्षात्कार या ज्ञान-निष्ठा ही गीताका भक्तियोग है। यह भक्तियोग ज्ञानसे विलक्षण नहीं है, इस बातको आचार्य शङ्कर आदि अद्वैतवार्दी पूज्यपाद आचार्योंने एक स्वरसे स्वीकार किया है। किन्तु वगालके ‘प्रेमके ठाकुर’ श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोत्सामिपाद आदि प्रधान गौड़ीय चैष्णव आचार्य गीताके इन दो श्लोकोंमें प्रयुक्त भक्ति शब्दका अर्थ ‘निर्गुण ब्रह्मसाक्षात्कार-रूप भक्ति है’ इसे स्वीकार नहीं करते, उनके मतमें यह पराभक्ति केवल ज्ञानरूप भक्ति नहीं, चलिक यही भगवद्वितीय प्रेमाभक्ति है, यह प्रेमाभक्ति निर्गुण ब्रह्म ज्ञानकी चरम अवस्था नहीं है, चलिक यह चिन्मात्रैकरस आनन्दधन सचिदानन्दविग्रह श्रीभगवान्के प्रति निष्काम प्रेमलक्षणा भक्ति है, इसीका दसरा नाम है रागात्मिका भक्ति। गीताके ही एकादश अध्यायमें श्रीभगवान्ने और भी स्पष्ट रूपसे निर्देश किया है कि—

भक्त्या त्वनन्यया शब्द जहमेवंविद्योऽर्जुन ।

आतु इरुङ् घ तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥

(११। ५४)

‘हे परन्तप अर्जुन ! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मैं (अर्थात् परमेश्वर) इस प्रकार तत्त्वतः—परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञानसे गोचर होता हूँ और फिर इस भक्तिके द्वारा ही भक्त मुझमें प्रविष्ट हो जाता है।’

यहाँपर भी भक्तिद्वारा श्रीभगवान्का परोक्ष और अपरोक्ष ज्ञान तथा भक्तिका उसमें प्रवेश, ये तीनों क्रियाएँ स्पष्टरूपसे पृथक्-पृथक् हैं, अतएव अद्वैतमतके अनुसार इन कई श्लोकोंके ‘भक्ति’ शब्दकी व्याख्या करनेपर गीता-के मुख्य अर्थको छोड़कर लाक्षणिक अर्थ ही ग्रहण करना पढ़ता है। भक्ताचतार श्रीगौराङ्गदेवके मतानुयायी श्रीरूप गोत्सामिपाद प्रभृति प्रेमीभक्त आचार्यगण इसी कारण गीतोक्त इस भक्तिको ‘अद्वैतवादसम्मत निर्गुण ब्रह्मका साक्षात्काररूप’ भक्ति नहीं मानते।’ वे कहते हैं कि इस भक्ति शब्दका अर्थ रागात्मिका या प्रेमलक्षणा भक्ति ही है।

इस परा या उत्तमा भक्तिका स्वरूप क्या है, इसे समझाते हुए श्रीरूप गोत्सामिपादने स्पष्टीत ‘भक्तिरसा-मृतसिन्धु’ नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थमें जो कुछ कहा है, वह भी यहाँपर विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य है। वह कहते हैं—

अन्याभिलापिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृत्तम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा ॥

‘श्रीकृष्णसम्बन्धी अथवा श्रीकृष्णके निर्मित जो अनुकूल अनुशीलन (अर्थात् कार्यक, वाचिक और मानसिक क्रिया) है, वही भक्ति शब्दका सामान्य अर्थ है। वह अनुकूल अनुशीलन ज्ञान और कर्मके द्वारा यदि अनावृत हो एवं श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाशून्य हो तब उत्तमा भक्ति कहते हैं।’

जो अनुशीलन अन्य सब वस्तुओंके प्रति स्पृहाशीन होनेके साथ ही आनुकूल्यसमन्वित अर्थात् केवल श्रीकृष्ण-विषयक स्पृहासे युक्त है, वही अनुशीलन उत्तमा भक्ति है, यह उत्तमा भक्ति प्रेमाभक्तिके सिवा और कुछ भी नहीं हो सकती, इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए श्रीरूप गोत्सामिपादने श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित दो श्लोकोंका भी उल्लेख किया है—

नहैतुकभव्यवहिना या भक्ति उन्नपोत्तमे ॥
साक्षोक्त्यसमर्दिमासीष्यसारूप्यैकवमन्तुत ।
दोषवनान न गृह्णान्त्वं विना भवेवने जनतः ॥

स पृथ भक्तियोगारय आत्मनितक उठाहत ।

(श्रीनद्गागवत ३ स्तुत्य, २९ अ०, १० छोक)

भगवान् श्रीकपिलदेव माता श्रीदेवहृतिको सम्बोधन करके उक्ते हैं—

हे माता ! इति अहैतुकी (अर्थात् अन्याभिलापिता-अन्य) और अव्यवहिता (अर्थात् ज्ञान और कर्मादिन्प व्याच्छादनगहित) मानसिक गतिहृषा भक्तिको जिन्होंने प्राप्त किया है वे भक्त मुझसे अन्य किसी फलकी इच्छा तो दूर रही, उनको यदि सालोक्य (मेरे साथ समान लोकमें वास), साधि (मेरे समान ऐश्वर्य), सार्मात्य (सर्वदा मेरे पास रहना), सात्पृथ (मेरे समान रूप) अथवा एकत्व (मेरे साथ अभेद)—इन कई प्रकारकी नुक़ियों-मेंसे कोई सी भी दी जाय तो उसे भी वे ग्रहण नहीं करते, प्रेमवत्र मेरी सेवाको ही वे परम पुरुषार्थ जानकर उसीके लिये प्रार्थना करते हैं । तथा मेरी सेवाके अर्तारक्त अन्य किसी वल्लुणी इच्छा नहीं करते ।

वह सेवा प्राप्तिपृथक होनेपर ही ‘आनुकूलेन कृष्णानुवीलन’ हृषा भक्ति होती है, यही है भक्ति शब्दका सुख्य अर्थ—यही श्रीहृषि गोस्वामिपाठने उक्त श्लोकके द्वारा सिद्ध किया है ।

इस प्रीतिके स्वरूपका प्रतिपाठन करते हुए चैष्णवाचार्य श्रीजीव गोस्वामिपाठने स्वप्रणाति ‘पद्मसन्दर्भ’ ग्रन्थके प्रीतिसन्दर्भ प्रकरणमें जो कुछ च्छा है, वह भी यहाँपर विद्येष्व व्यान देने वोन्हा है । उन्होंने ज्ञा है—

‘प्रीतिगच्छेन खलु सुखप्रसदहर्पनिन्दादिपर्यायं सुख-सुन्धरे, सावहार्दमौहृदातिपर्यायप्रियताचेच्यते । तत्र उल्लासात्मको ज्ञानविशेषं सुखम् । तथा विषयानुकूलया-स्मकन्दानुकूलयानुगततत्त्वस्थितात्मनुभवहेतुकोष्ठासमच-ज्ञानविशेषं प्रियता । अतएवासां सुखत्वेऽपि पूर्वतो-चैक्षिष्ठप्यम् । तथोऽप्रतियोगिनौ च क्रमेण हुःस्तद्वैषां । अतः सुखस्तोषाम्भावात्मकान्वादात्रय एव विद्यते न तु विषयः । एवं तत्प्रतियोगिनो हुःस्त्व च । प्रियतायास्तु आनुकूलय-स्थिताभक्तवाद् विषयश्च विद्यते । एवं प्रातिकूलयात्मकस्य च अतियोगिनो देश्य च । तत्र सुखदुःखयोराश्रयौ सुप्त-इश्कमौगौ जीवौ । प्रियतादेष्योराश्रयौ प्रीयमाण-द्विप्रतीयो विद्यौ च तत्प्रतियद्वेष्यौ ।’

इसका संक्षिप्त तात्पर्य यह है कि—

‘प्रीति’ शब्दका अर्थ है ‘सुख’ और ‘प्रियता’, इनमें ‘सुख’ शब्दके और भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे मुद, प्रमद, हर्ष और आनन्द आदि । ‘प्रियता’ शब्दके भी कई पर्यायवाची शब्द हैं । जैसे भाव, हार्द और सौहृद प्रभृति । ‘सुख’ शब्द उल्लासहृष्ट जो ज्ञानविशेष है; उसीको जनाता है । ‘प्रियता’ शब्द भी उल्लासहृष्ट ज्ञानविशेषका ही विद्यपि वोव करता है, तथापि वह उल्लासात्मक ज्ञानविशेष, विषयात्मक वस्तुके प्रति को आनुकूल्य है; तत्स्वत्प भी हो जाता है, और उस आनुकूल्यके साथ सदा सम्बद्ध जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिके लिये अभिलापा और प्रिय वस्तुका अनुभव है, उन दोनोंके साथ मिथित या तन्मय भी हो जाना है । उल्लासहृष्ट सुखहृष्ट ज्ञानविशेष यदि प्रियजनके लिये होनेवाली अभिलापा और प्रियविषयक अनुभूतिके साथ मिलता है तब वह प्रीति शब्दका सुख्य अर्थ होता है, वही उसका संक्षिप्त वर्णन है । प्रियता सुखसहृष्ट होनेपर भी प्रिय वस्तुके प्रति अभिलाप और प्रिय वस्तुकी अनुभूति इसमें विद्यमान रहती है, इस कारण यह, केवल सुखहृष्ट जो ज्ञान या ननोवृत्तिविशेष है, वह होनेपर भी इसमें विद्येयता रहती है । यहाँपर एक और भी व्यान देनेकी वात है कि सुखके विपरीत हुःस्त होता है और प्रियताके विपरीत द्वेष होता है । चूँकि सुख और उल्लासहृष्ट होता है, उसी कारणसे उसका आश्रय ही प्रतिष्ठ है, उसका विषय अन्य कोई वस्तु नहीं होती । इसी तरह सुखके विरुद्ध जो हुःस्त है, उसका भी आश्रय विद्यमान है, अन्य कोई वस्तु उसका विषय नहीं है । परन्तु प्रियता आनुकूल्यात्मक अभिलापसहृष्ट होती है, इस द्वारा इसके आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान रहते हैं । इसी तरह इस प्रियताके विरुद्ध जो प्रतिकूलता या द्वेष है, उसके भी आश्रय और विषय दोनों ही विद्यमान हैं । पुण्यात्मा जीव सुखका आश्रय होता है और पापात्मा जीव हुःस्तका आश्रय होता है । इसी तरह ज्ञानन्दका अनुभव करनेवाला प्रियताका आश्रय होता है और विद्येष्व द्वेषका आश्रय होता है; जो वस्तु प्रिय है वह प्रियताका विषय होती है एवं जिसके प्रति द्वेष उत्पन्न होता है वह द्वेषका विषय माना जाता है ।

श्रीजीव गोस्वामिपाठी इस प्रबार्द्धी उक्तिके द्वारा वही सिद्ध होता है कि प्रीतिहृषि भक्ति अभिलाप और

उद्घासमय ज्ञानविशेष होनेके कारण वह श्रवणादिजन्य निर्विशेष ब्रह्मज्ञानकी चरमावस्था अथवा निर्गुण ब्रह्मकी अपरोक्षानुभूतिमात्र नहीं मानी जा सकती ।

परम भक्त श्रीग्रहादने भी श्रीभगवानका साक्षात्कार लाभ करके मुक्ति अथवा निर्वाणके लिये प्रार्थना नहीं की, चलिक उन्होने वही कहा कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपापिनी ।
त्वामनुस्सरतः सा मे हृदयाद्वापसर्पतु ॥
(विष्णुपुराण)

‘विवेकशून्य सासारिक जीवोंकी स्त्री, पुत्र, धन और ऐश्वर्य आदि विषयोंमें जैसी निरन्तर प्रीति रहती है, हे भगवन् ! आपके स्वरणके फलस्वरूप (आपके प्रति) वैसी ही प्रीति मेरे हृदयसे कभी दूर न हो ।’

यह प्रीतिलक्षणा भक्ति किसी प्रकारके पुरुषार्थका साधन नहीं, वर यही चरम पुरुषार्थ है। और वह मुक्तिकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, वह वात भी साक्षात् श्रीमद्भागवतमें ही कही गयी है। यथा—

अनिमित्ता भागवतो भक्ति सिद्धेर्गरीयसी ।
(श्रीमद्भा० ३।२४।३१)

अहैतुकी अर्थात् प्रीतिरूपा भगवद्भक्ति सिद्धि (अर्थात् ज्ञान और मुक्ति) से भी श्रेष्ठ है। इस श्लोककी व्याख्या करते समय ईकाकार श्रीधर स्वामीने कहा है— ‘सिद्धेऽसुक्तेरपि’ (सिद्धि अर्थात् मुक्तिसे भी)। श्रीभगवत्त्राम-कौमुदीमें भी लिखा है—‘सिद्धेऽर्जनात् मुक्तेऽर्वा’ (अर्थात् सिद्धि शब्दके अर्थ ज्ञान अथवा मुक्ति दोनोंसे ही भक्ति श्रेष्ठ है)।

निर्गुण ब्रह्मवादियोंके भत्तसे मुक्तिमें अहभावका लय हो जाता है, किन्तु भक्तिवादी आचार्योंका कहना है कि अहभावका विनाश यदि मुक्ति है तब तो आत्मविनाश और मुक्ति एक ही चीज हो जाती है। इस कारण वह किसी भी विवेकी पुरुषके लिये स्पृहणीय नहीं हो सकती। दूसरी ओर यह भगवत्प्रीतिरूपा भक्ति उसी अपूर्ण अदर्मर्थको, निरन्तर श्रीभगवत्स्वरूपकी आनन्दमय स्फुर्तिका सम्पादन करने पूर्ण बना देती है, इसी कारण अध्यात्म-शास्त्र निःसुङ्कोचभावसे कहते हैं—

निरहं यत्र चित्तसत्ता तुर्या मुक्तिरिति सृता ।
पूर्णाहन्तामयी सैव भक्तिरित्यभिर्धायते ॥
(उद्घृत पट्सन्दर्भमें जीव गोत्त्वाभिद्वारा)

‘अहभावसे रहित होनेपर चैतन्य सत्ताको तुरीय मुक्ति कहते हैं, वही चैतन्य सत्ता यदि परिपूर्ण अहभावसे युक्त हो जाती है तभी वह (भगवत्प्रेमरूपा) भक्तिरूपा हो जाती है।’

यह प्रेमा भक्ति या अहैतुकी भगवद्भक्ति ही मानव-जन्मको सब प्रकारसे सफल बनाती है। ‘पूर्णाहन्तामयी’ विशेषण इस बातको विशेषरूपसे सूचित करता है। ऐसा कहनेका कारण यह है कि सब प्रकारके प्राणियोंकी सब प्रकारकी देहोंकी अपेक्षा मानवदेहका समुत्कर्ष अथवा मुख्य प्रयोजन क्या है, यह श्रीमद्भागवतके निम्नोद्धृत श्लोकमें अत्यन्त सुन्दर रूपमें वर्णित है—

सृष्टा पुराण विविधान्यजयात्मदाक्त्या
वृक्षान् सरसिषपश्चन् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टुहृदयः पुरुषं विधाय
ब्रह्मवत्रोघधिषण मुडमाप देवः ॥

‘देव—श्रीभगवान् ने अपनी अनादि शक्तिके द्वारा वृष्ट, सरीसुप, पशुसमूह, पक्षी, दग्ध और मत्स्य इत्यादि नाना प्रकारके पुर अर्थात् देहोंका निर्माण किया, किन्तु उन सब देहोंके द्वारा उन्हे सन्तोष या तृति नहीं प्राप्त हुई, तब उन्होने पुरुष अर्थात् मनुष्यदेहका निर्माण किया और उससे उन्हे तृति मिली। क्योंकि मनुष्यदेहमें वृद्धि या अन्तःकरण है, उसीमें ब्रह्मसाक्षात्काररूप वृत्ति उत्पन्न होती है।’

इस श्लोककी विस्तृत व्याख्या किये गिना इसका वास्तविक तात्पर्य अच्छी तरह समझमें नहीं आवेगा; अतएव यहाँ कुछ विस्तारसे लिखा जाता है—

श्रुतिमें स्युष्टि-वर्णनके प्रसङ्गमें कहा गया है—
‘स चै नैव रेमे तस्माटेकार्की नैव रमते, स द्वितीय-
मैच्छद ।’
(शृदाराण्यक उप०)

‘उस परमात्माको तृति नहीं मिलती थी, (कारण, वह उस समय अकेले थे) इसीलिये (देखा जाता है कि) जब कोई अकेला रहता है तब उसे तृति नहीं प्राप्त होती, उन्होने दूसरा चोई हो; ऐसी इच्छा की ।’ और कोई

न रहनेके कारण उन्हें अर्थात् परमात्माको आत्माराम और पूर्णकाम होनेपर भी तृप्ति नहीं होती थी, यह बात बिल्कुल असगत-सी प्रतीत हो सकती है, किन्तु वास्तवमें इसमें किसी प्रकारकी असङ्गति नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें ही देखा जाता है कि 'रसो वै सः', वह रसस्वरूप हैं, केवल रसस्वरूप ही नहीं, वह—सब प्रकारके कल्याणमय गुणोंके एकमात्र आधार, समस्त सौन्दर्यके वही सार और समस्त माधुर्यके वही पार, वही सत्, वही चित्, वही आनन्द हैं, उन्होंके सौन्दर्यका एक कणमात्र सकल ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट होकर चन्द्र, सूर्य, नक्षत्र और ग्रहोंको प्रकाशित करता है तथा सुन्दर बनाता है; उन्होंकी महिमासे सब प्राणी महत्त्वाके आवेगसे आभासित होते हैं। उनके स्वरूपका वर्णन करती हुई श्रुति सङ्कोच छोड़कर कहती है—

स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः सर्वेषां
भूतानां राजा तद्यथा रथनामौ रथनेमौ च अराः सर्वे
समर्पिता एवमेव अस्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः
सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्वं एत आत्मानः समर्पिताः।

(बृहदारण्यक०)

'यही वह—रसस्वरूप आत्मा सब भूतोंके अधिपति, सब प्राणियोंके राजा हैं, जैसे रथकी नाभिमें और रथकी नेमिमें सब अरे अर्थात् टेढे-टेढे काठके टुकड़े समर्पित होते हैं, वैसे ही उस परमेश्वरमें—आत्मामें—सब भूत, सब देवता, सब प्राण और सब जीव समर्पित हैं।' यह परमात्मा सर्वेश्वर है, फिर भी इनका ईशितव्य नहीं है। यह सर्व-सुन्दर है फिर भी इनका भोक्ता तथा भोगमें चरितार्थ होने योग्य द्रष्टा नहीं है। इससे इनका अनृत्स होना स्वाभाविक है, चन्द्रमाका सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसे देखकर किसीकी ओर्खें शीतल न हों १ सुगन्धित पुष्प-समूहकी सुगन्धि और सौन्दर्य क्या व्यर्थ नहीं हो जाता यदि उसका कोई भोक्ता न रहता ? अतएव रसमय सर्वसुन्दरका अकेले रहकर अनृत्स होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता। इस अतृतीकी परिणति ही उनकी वहु होनेकी इच्छा है, इसीसे श्रुति कहती है—

तदैक्षत वहु स्यां प्रजायेय ।

'उन्होंने सङ्कल्प या इच्छा की कि मैं वहुत होऊँ, मैं प्रवृष्टस्त्रप्ते जन्म प्रदण करूँ ।')

अनादि अचिन्त्य अनन्त और विचित्र जिनकी शक्ति Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

है, उनकी इच्छा होनेके साथ ही एक अचिन्त्य घटना घटी, क्या घटी ? श्रुति कहती है—

यथाप्तेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्ति । एवमेव असादात्मन् सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति ।

(बृहदारण्यक० २।१।२०)

'जिस तरह राशीकृत प्रचण्ड दीप्यमान अग्निसे चारों ओर स्फुलिङ्ग निकलते हैं, उसी तरह (अपने सौन्दर्य, अपने माधुर्य, अपनी महिमा और अपनी विभूतिको अपने-से अलग करके अच्छी तरह देखनेकी इच्छा होते ही) उस परमात्मासे सब प्राण (अर्थात् मुख्य प्राण और इन्द्रिय-समूह), भूरादि भोग्य वस्तुसमूह, सब देवता और ब्रह्मासे लेकर स्तम्भपर्यन्त सब प्राणी उत्पन्न हुए ।'

श्रुति-वर्णित इस सृष्टिप्रक्रियाके अनुसार श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोककी रचना हुई है। उक्त श्लोकका निगृह तात्पर्य यही है कि रसलप, आनन्दमय, चैतन्यस्वरूप, लीलानिरत, सर्वगत्तिमान् एक अद्वितीय परमात्माकी अपरोक्ष अनुभूति ही मानव-जीवनकी परम सफलता है। इस परमात्मानुभूति-के अनुकूल मनुष्यका ही अन्तःकरण है, दूसरे किसी प्राणी-का नहीं है। इसी कारण अनुकूल देहके आश्रयमें आत्म-दर्शन करके वृत्त होनेकी इच्छासे श्रीभगवान् मानवदेह निर्माण करके ही सन्तुष्ट हुए थे। पृथ्वीपर विशेषकर पुण्यक्षेत्र इस भारतमें मानव-जन्म पाकर मनुष्य यदि इस जन्म-प्राप्तिके साफल्यकी वातको भूल जाय, और अन्य प्राणियों-की तरह वैपर्यक आनन्द प्राप्त करनेके लिये ससारमें भटकता रहे,—घनके लिये, रमणीके लिये, ऐश्वर्यके लिये, यशके लिये उन्मत्त होकर, काम, क्रोध और मोहके बशी-भूत होकर, व्यष्टिभावसे या समष्टिभावसे जगत्में युद्ध, कलह और अशान्तिका निरन्तर प्रवाह उत्पन्न करता रहे, तो यह समझना चाहिये कि उसका मनुष्यजन्म सर्वथा विफल हो गया। यही है भारतीय सभ्यता या सनातन हिन्दू-सभ्यताकी शाक्षत सुदृढ भित्ति, इसी भित्तिके ऊपर कर्म, ज्ञान और भक्ति यह त्रियिध साधनस्वरूप चतुर्वर्गफलप्रद महाप्राप्ताद निर्मित हुआ है। इसे प्रत्येक सनातनघरमीं हिन्दूको सर्वदा ध्यानमें रखना चाहिये। यही है 'सद्गुरुं पुराणं' इत्यादि भागवतोक्त श्लोकका निगृह तात्पर्य ।

| MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

इस प्रेमलक्षणा भक्ति के फल और स्वरूप-निर्णय के प्रसङ्ग में श्रीहृष्प गोस्वामिपादने जो कहा है वह भी यहाँ सर्वथा ध्यान देने योग्य है। उन्होंने कहा है—

क्षेत्रात्री शुभदा मोक्षलब्धुताकृत् सुदुर्लभा ।
सान्द्रानन्दविदेषोपात्मा श्रीकृष्णाकर्धिणी च सा ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु)

‘वह पराभक्ति क्षेत्रात्री, शुभदा, मोक्षलब्धुताकृत्, सुदुर्लभा, सान्द्रानन्दविदेषोपात्मा और श्रीकृष्णाकर्धिणी होती है।’

(१) क्षेत्रात्री—अर्थात् इस भक्ति के उत्पन्न होनेपर सब प्रकारके क्षेत्र नष्ट हो जाते हैं।

क्षेत्र शब्दका अर्थ है—

क्षेत्रास्तु पापं तद्विजमविद्या चेति ते त्रिधा ।

‘पाप, पापका वीज और अविद्या—ये तीन प्रकारके क्षेत्र होते हैं।’

अप्रारब्धं भवेत् पापं प्रारब्धं चेति तद् द्विधा ।

‘पाप दो प्रकारका है—अप्रारब्ध और प्रारब्ध।’ भक्ति इन दोनों प्रकारके पापोंका नाश करती है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

यथाम्भिं सुसमिद्वाचिः करोत्येधांसि भस्सात् ।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धैवैनांसि कृत्यशः ॥

श्रीभगवान् भक्तशेष उद्धवसे कहते हैं—‘हे उद्धव ! जिस तरह सुप्रदीत अग्नि काष्ठसमूहको भस्सात् कर देती है, उसी तरह मद्विषया प्रेमलक्षणा भक्ति सब प्रकारके पापोंका विनाश कर देती है।’ अर्थात् यह केवल सञ्चित और क्रियमाणलय अग्रारब्ध पापको ही विनष्ट करती है, सो बात नहीं, यह प्रारब्ध कर्मको भी नष्ट करती है। श्रीमद्भागवत-के तृतीय त्कन्धमें कहा गया है—

यश्चामध्येयश्रवणान्नुकीर्त्तनाद्

यत्प्रहृणाद् यच्छ्रवणादपि क्षमित् ।

इवादोऽपि मध्यं सवनाय कल्पते

कुतः पुनस्ते भगवसु दर्शनाद् ॥

देवहृति श्रीभगवदवतार कपिलदेवसे कहती हैं, (भक्तिसुक्त शेषक) जिनका नाम सुनने और निरन्तर कीर्तन करनेसे, जिनको प्रणाम करने तथा कभी भी स्तरण करनेसे चाण्डाल प्रभृति अन्त्यज्ञ जातिके लोग भी सद्य यजानुष्ठान

करनेके योग्य हो जाते हैं, हे भगवन् ! उन आपके सामात् दर्शनसे जो लाभ होता है, उसके विषयमें और अधिक क्या कहा जा सकता है ?

इस श्लोकमें, हरिभक्ति प्रारब्ध कर्मको भी विनष्टकर देती है, यह बात ‘चाण्डाल भी भक्ति के प्रभावसे सद्यः अर्थात् वर्तमान जन्ममें ही यजादि कर्म करनेके योग्य हो जाता है’—इस बाक्यके द्वारा स्पष्ट ही कही गयी है। कारण—

दुर्जातिरेव सवनायोग्यत्वे कारणं भत्तम् ।

दुर्जात्यारम्भक पापं यथ खाद् प्रारब्धमेव तत् ॥

‘चाण्डालादिका यजादि कर्ममें जो अनधिकार है, उसका कारण है उनकी दुर्जाति, उस दुर्जातिका आरम्भक जो पाप है, वह प्रारब्ध कर्म ही होता है।’ पद्मपुराणमें भी यही बात कही गयी है—

अप्रारब्धफलं पापं कूटं वीजं फलोन्मुखम् ।

क्रमेणैव प्रलीयेत हरिभक्तिरत्तात्मनाम् ॥

‘जो लोग हरिभक्तिमें अनन्यभावसे अनुरक्त हो जाते हैं, उनके अप्रारब्धफल, कूट, वीज और फलोन्मुख—ये चारों प्रकारके पाप क्रमः विनाशको प्राप्त हो जाते हैं।’

यह भक्ति ही अविद्याको भी नष्ट करती है। इसमें भी प्रमाण इस प्रकार है—

कृतानुसात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा ।

अविद्यां निर्दृहस्याशु दावज्वालेव पद्मगाम् ॥

(पद्मपुराण)

‘दायानलकी गिरवा जिस प्रकार सर्पिणीको दग्ध कर डालती है, उसी प्रकार समस्त विद्याके साथ अनुगम्यमान होकर यह अत्युत्तमा हरिभक्ति तुरन्त अविद्याको भी दग्ध कर डालती है।’

(२) शुभदा—

शुभ शब्दका अर्थ है—

शुभानि प्रीणनं सर्वजगताभनुरक्तना ।

सद्गुणा सुखमित्यादीन्यास्यातानि भनीयिभिः ॥

‘सब प्राणियोंके प्रति प्रीति, सबका अनुराग, सद्गुण एवं सुख इत्यादि इस शुभ शब्दका अर्थ है।’ पद्मपुराणमें लिखा है—

येनार्चितो हरिन्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि ।

रमन्ति जन्तवस्त्रं जग्म्याः स्यावरा अपि ॥

जो व्यक्ति श्रीहरिकी अर्चना करते हैं, वे समूचे जगत्-
को परितृप्त करते ह, अधिक तो क्या, स्थावर और जड़म
समन्न प्राणी उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हैं।

भक्ति सब प्रकारके सद्गुण प्रदान करती है, यह
श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

अस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना
सर्वं गुणास्त्र समाप्ते सुराः ।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा
मनोरथेनासति धावतो वहिः ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—‘हे महाराज! भगवान् श्रीकृष्णके
प्रति जिनकी अकिञ्चना अर्थात् निष्काम प्रीतिलक्षणा भक्ति
होती है, उनमें यदीभूत होकर सब गुणोंके साथ देवता
वास करते हैं, और श्रीहरिमें जिसकी भक्ति नहीं है, वह
वाह्यजगत्-म मिथ्या वस्तुओंके प्रति आसक्त होकर दौड़ा
फिरता है, इस कारण उसमें सद्गुण कैसे रहेंगे?’

सुख तीन प्रकारका है—

सुखं वैपर्यिकं ब्राह्मैश्वर्येति तत्त्विधा ॥

‘वैपर्यिक, ब्राह्म और ऐश्वर भेदसे सुख तीन प्रकारका
कहा गया है।’

तन्त्रशास्त्रमें कहा है—

स्मिद्यः परमाश्र्या भुक्तिसुक्तिश्च शाश्वती ।
नित्यश्च परमानन्दो भवेद् गोविन्दभक्तिः ॥

‘जिस व्यक्तिकी भक्ति श्रीगोविन्दचरणमें हो गयी है,
उसे अणिमादि आश्र्यजनक सिद्धियॉ, वैपर्यिक सुखभोग,
नित्य परमानन्दस्तरूप ऐश्वरिक सुख तथा सर्वदुःखनिवृत्ति-
रूप मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है।’

(३) हरिमक्ति मोक्षको तुच्छ कर देती है—

मनागेव प्रसुदायां हृत्ये भगवद्रतौ ।
पुरुषार्थस्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्तत ॥

‘हृदयमें श्रीभगवान्-के प्रति अनुराग अङ्कुरित होते ही
धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ चारों ओरसे
तृणके समान तुच्छ हो जाते ह।’

यही नारदपाद्वारात्रमें भी कहा गया है—

हरिमक्तिमहादेव्या सर्वा मुक्त्यादिसिद्ध्यः ।
मुक्त्यश्चाद्भुताश्चापि सेविकावदनुद्रुता ॥

‘जिस तरह दासियॉ सम्मानपूर्वक सर्वदा महागनीके

पीछे-पीछे चलती हैं, उसी तरह भुक्ति-मुक्ति आदि अद्भुत
सिद्धियॉ भी हरिमक्ति महादेवीका अनुसरण करती हैं।’

(४) भक्ति सुदुर्लभा है। यथा—

साधनैर्वैरनासङ्गैरलभ्या सुचिरादपि ।
हरिणा चाश्वदेयेति द्विधा सा स्यात् सुदुर्लभा ॥

‘भक्तिके साधनोंका अनुष्ठान यदि प्रीतिपूर्वक न किया
जाय तो वहुत समयतक अनुष्ठान करनेपर भी भक्ति उठय
नहीं होती। और श्रीहरि भी इस भक्तिको देना नहीं
चाहते, इस कारण इसका दुर्लभत्व दो प्रकारका होता है।’

पहले प्रकारका सुदुर्लभत्व—

ज्ञानतः सुलभा सुक्तिर्भुक्तिर्ज्ञादिपृष्ठतः ।
सेयं साधनसाहस्रैर्हरिमक्ति. सुदुर्लभा ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धूधृततन्त्रवचनम्)

‘ज्ञान होनेपर मुक्ति अनायास प्राप्त होती है और
यज्ञादि कर्मजनित पृष्ठोंके द्वारा नाना प्रकारकी भुक्ति
(भोग) भी सुलभ हो जाती है। किन्तु यह प्रेमरूपा
हरिमक्ति हजारो साधनोंका अनुष्ठान करनेपर भी सुलभ
नहीं होती।’

दूसरे प्रकारका सुदुर्लभत्व श्रीमद्भागवतमें कहा है।

राजन् पतिर्गुरुर्लङ् भवतां यदूनां
दैवं प्रिय. कुलपति. क च किङ्करो वं ।
अस्वेवमङ्ग भजतां भगवान् सुकुन्दो
मुक्तिं ददाति कहिंचिन्न च भक्तियोगम् ॥

श्रीशुकदेवजीने कहा—‘हे राजन्! भगवान् सुकुन्द
तुम लोगोंके और यादवोंके पति (अर्थात् पालक), गुरु
(उपदेशक), प्रिय एव कुलपति है, अधिक क्या, तुम
लोगोंके आजाकारी होकर उन्होंने तुम लोगोंके
दौत्यादि किङ्करके कार्य भी किये। यह सब सत्य
है, किन्तु उनका यह स्वभाव ही है कि वह प्रायः भजन
करनेवालोंको मुक्ति ही देते हैं, श्रीघ्र अपना भक्तियोग
नहीं प्रदान करते।’

(५) भक्ति सान्द्रानन्दयोगात्मा है। यथा—

ब्रह्मानन्दो भवेदेव चेत् परार्द्धगुणीकृत ।
नैति भक्तिसुधाभोधिपरमाणुतुलामपि ॥

‘यदि ब्रह्मानन्दको परार्द्ध सख्याद्वारा गुणा किया
जाय तो वह ब्रह्मानन्दस्तरूप सुख भी भक्तिसुखसागरके एक
परमाणुके ब्रावर भी नहीं होता।’

(७) भक्ति श्रीकृष्णाकर्षिणी है । यथा—
कृत्वा हरिं प्रेमभाजं प्रियवर्गसमन्वितम् ।
भक्तिर्वशीकरेतीति श्रोकृष्णाकर्षिणी मता ॥
(भक्तिसान्ततसिन्धु)

‘वह प्रेमलक्षणा भक्ति प्रियवर्ग (अर्थात् भक्तवृन्द) के साथ श्रीकृष्णको प्रेमपात्र बनाकर वशीभूत कर लेती है ।’

साक्षात् श्रीभगवान् ने उद्घवको भी यही सुनाया है—
न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्घव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो चथा भक्तिर्मोजिता ॥
‘हे उद्घव ! जिस तरह मद्विषयक प्रवला भक्ति मुझे

वशीभूत करती है, उस तरह योग, ज्ञान, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्याग—कुछ भी मुझे वशीभूत नहीं कर सकते ।’

यही है गौडीय वैष्णवाचार्योद्वारा मानी हुई प्रेमलक्षणा भक्तिका या भक्तियोगका सिद्धिपरिचय । इस प्रेमलक्षणा भक्तिके विभाग-विस्तारका परिचय अत्यन्त विस्तृत है, इसी कारण इस परिमित प्रबन्धमें उसका उल्लेख नहीं किया गया । श्रीमद्भगवद्गीतामें इसी भक्तिका प्राधान्य है, यह ‘भक्त्या मामभिजानाति’ इत्यादि पूर्वोक्त श्लोकोंद्वारा प्रतिपादित होता है । यही है श्रीचैतन्यदेवके मतानुवायी गौडीय वैष्णवाचार्योंका सिद्धान्त ।

गीताका योग

(लेखक—श्रीमतिलाल राय)

जो



वात लाखों प्रमाणो तथा अनुभूति-की सहायतासे निश्चित हो चुकी है उसे अस्वीकार कर नये सिरेसे नया अनुसन्धान करना साहसका काम तो कहा जा सकता है; पर हम लोगोंकी आशु बहुत थोड़ी है, चारों ओर धूम-फिरकर यदि उसी सनातन प्राप्त वस्तुको अन्तमें सबको स्वीकार कर लेना पड़ेगा तब तो जीवकी इतनी सब चेष्टाएँ एक प्रकारसे द्व्यर्थ ही हुईं । वस्तु प्राप्त करनेकी चेष्टा और प्राप्त वस्तुका आश्रय लेकर जीवनकी अभिव्यक्ति—इन दोनोंमें समयका सद्व्यवहार कहाँ अधिक होता है, इसे कहनेकी आवश्यकता नहीं । किन्तु दुर्भाग्य है हम लोगोंका—यदि सरल मार्गसे ही हम अभीष्ट वस्तु पा जायें तो फिर आज तेलीके वैलकी तरह धानीमें क्यों चक्कर काटे ? यह अन्धत्व और गर्दनपर जो पराधीनताका जुआ है—ये दोनों हमारे समष्टि जीवनकी अवस्थाका दिग्दर्शन करते हैं । सात समुद्र, तेरह नदी पार यहके जिस तरह हमारे ऊपर एक अन्य जाति गासन करती है, उसी तरह इन सात समुद्र, तेरह नदियोंका जल पीकर हम लोगोंको अपनी वस्तु प्राप्त करनी होगी—आज हम लोग अपने गङ्गार्हके जन्मे ही छूट रहे हैं ।

गीता, उपनिषद्, वेद, वेदान्त, तत्त्व, पुण्य इन नम्बों हम लोगोंने रद्द कर दिया था । हम दिन एक

विद्वान् सज्जने मुझसे कहा—‘क्या आप उड़रफसाहवके महानिर्वाणतत्त्वका अनुवाद कर सकते हैं ?’ मैंने विसित होकर उत्तर दिया—‘वह तो महानिर्वाणतत्त्वका हूवहू अनुवाद है ।’ उन्होंने बड़े आश्र्यके साथ कहा—‘सच्चमुच्च ?’ इसीसे मान्दू होता है कि आजकल हम लोग दुनियाकी खाक छानकर तब अपना घर पहचानते हैं । सौभाग्य-गाली पुरुष वही है जिसने उसे पहचान लिया है । हाथ बुमाकर नाक पकड़नेका अभ्यास करते-करते हमारी अवस्था ऐसी हो गयी है कि ‘नाक टिस्साको’ कहनेपर हम वन्तकी तरह हाथ चारों ओर बुमाकर नाकपर रखते हैं; परन्तु नाक वस्तु क्या है, यह मानो भूल गये हैं । लोग यह सुनकर हँसेंगे, पर वास्तवमें अवस्था ऐसी ही हो गयी है । ‘डागमैटिक’ हो गया है गाली । पर सनातन सिद्धान्तको आत्मजानी कैसे छोड़े ? और इस छोड़नेके सम्मोहन-मन्त्रसे विमूढ़ होनेके कारण ही तो हमारी जाति नष्ट हो गयी है । पुराणमें वर्णन है—एक दैत्य निष्ठाके साथ वैदिक आचरण करता था, जिसमें उसके ऐवर्य और प्रभावकी सीमा नहीं थी, किन्तु देवताओंकी मायासे उसने दिव्याचारके बदले भिन्नाचार प्रथण कर लिया और इससे वह हत्यार्थी हो गया । भागतका मेहुडण्ड दृट गया है आत्मवर्मके प्रति आस्थानी होनेके कारण । ऐसा क्यों हुआ, इसका विचार करना आजका विषय नहीं; अतएव इसे ईश्वरका विश्वानमात्र मानकर मैं अब मूल प्रसङ्गपर आता हूँ ।

श्रुतिमें एक कथा है—‘देवात्मगत्ति स्वगुणैर्निर्गृहाम्।’ देवकी अर्थात् स्वयप्रकाश आत्माकी शक्ति निजगुणमें गुप्त है। गुणसे मतलब है—सत्त्व, रज, तम—प्रकृति इसी कारण गुणमयी है। सृष्टिके आदिमे इस प्रकृतिके अतिरिक्त अन्य किसी वस्तुके अस्तित्वका निश्चय करना सम्भव नहीं, तथा भारतके ज्ञान-विज्ञानकी साधना इस प्रकृति-तत्त्वका आश्रय करके ही सिद्ध हुई है,—तन्त्रादि प्रकृतिको मूलमें रखकर बने ही हैं। वेदान्तकी साधनामें प्रकृतिके ऊपर पुरुषके अस्तित्वका अनुभव करनेकी युक्ति है, वह युक्ति कहाँतक अनुभवगम्य हुई है, यह विचारणीय है। परन्तु साधन नामसे शक्तिकी साधना ही इस देशमें प्रसिद्ध हुई है।

तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें सृष्टि स्तव्य, विमूढ़ रहती है, यह कोई नयी वात नहीं। विषमता ही चाप्त्वल्य एव गतिका लक्षण है—इसीसे जगत्की सृष्टि हुई है। प्रकृति ही शक्ति है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि किसकी शक्ति है, किसलिये है? इसी कारण प्रकृतिके पीछे भी किसी तत्त्वके अस्तित्वका अनुमान करना पड़ता है; यह अनुमान-लक्ष्य वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, प्रमाण-सिद्ध नहीं है। जो कुछ प्रत्यक्ष प्रमाणसिद्ध है, वह नद्वर, अस्थिर है—इसी कारण जो औँखोंसे अगोचर है, उसकी व्याख्या हमने सर्वगत, स्थान, अचल आदि अनेक नामोंके द्वारा की है, उसे इस समय आलोचनासे अलग रखकर जहाँतक सम्भव होगा, मैं अपने विषयपर अप्रसर होनेकी चेष्टा करूँगा। हम लोग गुणमेदसे प्रकाशमेद देख सकते हैं। सत्त्वगुण ज्ञान प्रकट करता है, अहवस्तुकी स्वच्छता उससे प्रस्फुटित होती है, ‘अहमजो मामह न जानामि’ इस प्रकारकी चेतना उत्पन्न होती है। इस चेतनासे ही देह है। देहसे प्राण भिन्न है। प्राणसे मन, मनसे बुद्धि इत्यादि भिन्न हैं। ‘अहम्’ और ‘इदम्’ भेद-ज्ञान पैदा करते हैं। प्रश्न उत्पन्न होनेपर मीमांसाकी वाणी भी उच्चारित होती है। अह-चृत्ति ही विज्ञान है, इदं-चृत्ति ही मन है। हमारा अन्तःकरण दो भागोंमें विभक्त है—मनको धेरकर जो चेतना-जगत् है उसे ‘इदम्’ कहते हैं, और चिद्घन चेतनाका जो दूसरा अंग है, उसे ‘अहम्’ कहते हैं। जो नित्य आश्रित है, वह आत्मा नामसे प्रसिद्ध है, विशुद्ध सत्त्वगुणके प्रमाणसे इस प्रकार आत्मप्रकाश विश्लेषित होता है। इस सत्त्वगुणके आधिक्यके कारण ही प्रकृतिसे महत्-तत्त्वकी सृष्टि होती है।

सृष्टिकी वात स्थूलरूपसे समझे बिना योगकी वात स्पष्ट समझमें नहीं आती, अतएव सूचनाके लिये सक्षेपमें सृष्टिरहस्यका सूत्र बतलाया जा रहा है। प्रकृतिसे महत् उत्पन्न हुआ। महत् देशकालसे अनवच्छिन्न होनेके कारण सर्वव्यापी है। गीताके शब्दोंमें—

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गमं दधाम्यहम्।

सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥

महत्-रूप ब्रह्मयोनिमें जगद्विस्तारके लिये गर्भाधान-स्थान निरूपित होनेपर वह अनिदेश्य पुरुष स्वयं चिदाभास-रूपमें अपनेको उसमें नियोग करते हैं और उससे सर्वभूतोंकी उत्पत्ति होती है। प्रकृतिसे महत् और फिर एकके बाद एक सब तत्त्वोंकी सृष्टि होती है। प्रकृति ही सृष्टि करती है, इसलिये इसको ईश्वर नामक वस्तुका कारण-गरीर कहा गया है। सत्त्वका प्रकाश-गुण, रजका शक्ति-गुण और तमका आवरण-गुण, ये त्रिगुण मिलकर सृष्टिके पर्याय बन गये हैं। पर्यायभेदसे माया और अविद्यारूपमें यह द्विविध है। समष्टिगरीराभिमानी जो चैतन्यवृत्ति है, वह माया है; इसीको हिन्दूशास्त्रोंने ईश्वर या हिरण्यगर्भ नाम प्रदान किया है। और मिथित गुणके सहयोगसे जो विचित्र, जड़बत् सृष्टि है, उसका व्यष्टिसिद्ध गरीराभिमानी जीव या तैजस नामसे वर्णन किया गया है। मूल माया गुणोंके आश्रयसे आठ प्रकारकी है—

भूमिरापोऽन्नलो वायुं खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरथधा ॥

—भूमि प्रभृतिसे पञ्चगन्धादि तन्मात्राओंका समन्वय समझना चाहिये, मन, उसका कारण अहकार, बुद्धि, उसका कारण महत्-तत्त्व, अहंकार, उसका कारण अविद्या। इनके साथ सोलह प्रकारके विकार मिलकर चौदीसि तत्त्व-सयुक्त इस विश्वकी सृष्टि हुई है। सीधे तौरपर यदि यह वात कही जाय, एक-एक करके प्रकृतिसे तत्त्व और उनकी विकृति बतलायी जाय तो इस प्रकार होगा—प्रकृतिसे महत्, महत्-से बुद्धि, बुद्धिसे अहंकार, क्षिति, जल, तेज, वायु, आकाश, गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, चक्षु, नासिका, जिहा, कर्ण, त्वचा, हाथ, पैर, मुँह, पायु और उपस्थि।

दैवी ह्येषा गुणमयी भम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपञ्चे मायामेतां तरन्ति ते ॥

यह अलौकिक गुणमयी भगवान्‌की माया वडी दुस्तर है, किन्तु फिर भी यदि भगवान्‌के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति

उत्पन्न हो तो इस दुस्तर माया-सागरको पार करके जीव आत्मस्वरूपको प्राप्त कर सकता है, और वही पथ भारतका सनातन योग-धर्म है। जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुपुत्ति। किन्तु ज्ञान अद्वैत है। अविद्या तत्त्वाश्रित है। तत्त्वातीत चैतन्य ही ज्ञान है—यह ज्ञान विश्लेषण करनेकी वस्तु नहीं, अविद्या दूर होनेपर ही मिलता है, और ज्ञानका प्रकाश होनेपर ही जीवकी मुक्ति होती है। ज्ञान प्राप्त करनेके लिये सबसे पहले वस्तु-विश्लेषणकी आवश्यकता है। वस्तुसे मतलब है तत्त्व-वस्तुसे, तत्त्वकी विकृति जो पञ्चभूत हैं, उनकी गुणसमिति अन्तःकरण है। अन्तःकरणको हम दो भागोमें विभक्त कर सकते हैं, एक भाग मन और दूसरा बुद्धि। मनकी वृत्ति सग्राहात्मिका है, बुद्धि निश्चयात्मिका वृत्ति है। इस बुद्धियोगसे ही योगका सूत्र आरम्भ हुआ है।

साधनाके आरम्भमें देहशुद्धिकी आवश्यकता है। देहकी शुद्धि वैदिक आचारका त्याग करनेसे नहीं होती। भाषा और दंग चाहे जो हो, कार्यतः उस शम-दम आदि सब प्रकारकी साधनाओंकी जल्लत होती है। वाहरके शौचाचारके साथ अन्तःशुद्धिका अङ्गाङ्गी सम्बन्ध है। अन्तःकरण स्तब्ध होनेपर सर्वोग स्थिर होता है, और चिद्वासनपर शरीरको बलात् अचल करके रखनेपर अन्तःकरण भी स्थिर होने लगता है। सब एक सूत्रमें वैधी हुई चीजें हैं, कोई किसीसे पृथक् नहीं, किन्तु वाहरकी साधनासे आत्मस्वरूपका पता नहीं मिलता, उससे स्वरूपका वोध मात्र होता है, किन्तु वोध होना ही प्राप्ति नहीं है—इसीलिये बुद्धियोग साधनाकी आरम्भिक चीज होनेपर भी साधकको इसके ऊपर उठकर खड़ा होना पड़ता है। सब छोड़कर ही साधनाका आरम्भ किया जाता है, किन्तु छोड़नेवाली वस्तुका निर्णय हुए बिना छोड़ा क्या जायगा? इसीलिये तत्त्व-विश्लेषणकी आवश्यकता होती है। इसीसे गीतामें भगवान् ने अर्जुनसे योगकी वात कहनेकी उपक्रमणिकामें सांख्ययोगकी वात सबसे पहले कही है, किन्तु उससे साधकके मनको सन्तोष नहीं होता। असल चीज तो गहवङ्गालेमें ही रह जाती है। अविद्यासे मुक्ति प्राप्त करनेको ही हिन्दू-शास्त्रोंमें मोक्ष कहा गया है। माधना करनेचे आत्मा देहसे पृथक् है, यह ज्ञान पैदा होता है। यह केवल शुद्धिग्रास्य है। मोक्षका अभिप्राय है कि उस स्थितिमें देहशानके लोपके साथ-साथ सब प्रकारके ज्ञानका लोप

सिद्ध हो जाता है। इसीसे गीताके दूसरे अध्यायमें मोक्ष-साधनकी वात कहते-कहते जब श्रीकृष्णने यह कहा—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्येणि त्विमां शृणु ।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थं कर्मवन्धं प्रहास्यसि ॥

तब अर्जुनने विस्मित होकर सोचा—मोक्षसाधन धर्मका उपदेश देते-देते भगवान् किस कारणसे हिंसात्मक कर्मको विहित बतलाने लगे। उन्हे कर्मकी प्रश्ना करके उपस्थानमें ब्रह्मज्ञाननिष्ठाके प्रश्नावादमें बक्तव्य समाप्त करते हुए देखकर अर्जुनके सद्गात्मक मनने स्वभावतः प्रभ किया—

ज्यायसी चेद् कर्मणस्ते भता बुद्धिर्जनार्दन ।
तर्लिंकं कर्मणि घोरै मां नियोजयसि केशव ॥
ध्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धि मोहयसीव मे ।
तदेकं वद् निश्चित्य यैन श्रेयोऽहमान्त्याम् ॥

अर्जुनने भगवान्को 'जनार्दन' शब्दसे सम्बोधित किया। अर्द्ध धातुका अर्थ है वध करना; समुद्रके अन्दर रहनेवाले जन नामक असुरका उन्होंने वध किया था; इसका असल अर्थ है—जनं जन्म अर्दयति हन्ति, जो भक्तको मुक्ति देनेवाले हैं वह है जनार्दन। हमारा जन्म और जन्ममूलक कारण अगुद्ध है, इसी कारण जन्म होते ही स्वकार और वासना विक्षुब्ध होकर इस वातकी विस्मृति पैदा कर देते हैं कि हम अमृतके पुत्र हैं, हम भागवत-ज्ञानविद्वीन कीड़ेकी भाँति जीवन धारण करते हैं। इसीलिये जो अयाचित कस्णावश जन्म और जन्ममूलक कारणगत अशुद्ध दूर करके हमें दिव्य जन्म प्रदान करते हैं, उन्हें हम जनार्दन नहीं कहेंगे तो और क्या कहेंगे? अर्जुनने श्रीकृष्णके कथनका मर्म नहीं समझा, इसीसे सोचा कि कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है—और भगवान् अपना यह मत प्रकट कर चुके, किन्तु पुनः हिंसात्मक कर्ममें प्रवृत्त करते हैं—तो क्या घटनाक्रमसे यह अनिवार्य हो उठा है जो इस प्रकार मिश्रित उपदेश-वाक्योंका प्रयोग कर रहे हैं? मनुष्यकी शुद्ध बुद्धि जबतक वृद्धत्के साथ मंयोग नहीं प्राप्त कर लेती तबतक वह ऊपरके निर्देशको अपने सस्कारसे मिलाकर स्थिर करता है। और उसके अनुमार ही जीवन नियन्त्रित करनेके लिये अग्रसर होता है—यही धर्म हमारा मनात्मनधर्म है। इसके अतिरिक्त, भाग्यकी मनोवृत्तिने बहुत दिनोंसे जात्रादिका अर्थ जिस रूपमें ग्रहण करना आरम्भ किया है, अर्जुन उसके प्रभावसे भी मुक्त नहीं रहे। 'कर्म जीवनका वन्धन है,' 'कर्म वासनाका जाल बुनकर

जीवके मोक्षका मार्ग रोक देता है—यह परम्परासे प्रचारित होता आ रहा है, इसी कारण श्रीकृष्णचन्द्रने जब मोक्ष-साधनके अनुकूल गान्धि-निर्देशित चिरप्रचलित उपदेश सुनाया तब उसे समझना अर्जुनके लिये कठिन नहीं हुआ—क्योंकि यही प्रचलित धर्मोपदेश है, किन्तु उसके बाद ज्यों ही उन्होंने कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्त्वं नैवं पापमवाप्यसि ॥

(गीता २ । ३८)

—त्यो ही अर्जुनके सिरपर मानो वज्रपात-सा हो गया । कर्म करनेपर यदि पाप नहीं होता तब फिर जीवके भव-वन्धनका और क्या कारण है ? कर्मवन्धनके भयसे ही तो भारतके तत्त्वज्ञानियोंने इसमे विमुख होकर ब्रह्मसमाधि प्राप्त करनेके प्रशस्त पथकी यात्रा की है । कर्म-प्रेरणाके मूलमे मनुष्यकी इच्छा वर्तमान रहती है, कोई भी कर्म चासनाके सङ्केतके बिना नहीं हो सकता । कुरुक्षेत्रके युद्धमें जो भारतके राजा उपस्थित हुए थे, उनका उद्देश्य अपनी स्वार्थरक्षा करनेके सिवा और क्या हो सकता है ? कामना-विसर्जनके साथ-ही-साथ कामनाओंसे दूषित हुए देह, प्राण, मन आदिका त्याग करना पड़ता है, इसी मार्गसे महात्मागण यात्रा करते हैं—श्रीकृष्णचन्द्रने इसी श्रेयः-पथका अर्जुनको उपदेश दिया । तब फिर वन्धन-सृष्टिके उपायस्वरूप ‘कर्म’ की प्रशंसा क्यों की ? अर्जुनके मनमें

प्राचीन कर्म-सस्कार छढ़ होनेके कारण यह प्रथम उनके लिये अत्यन्त स्वाभाविक था । समूची गीतामें इसी प्रथके उत्तरके बहाने श्रीकृष्णने एक सिद्धयोगकी घोषणा की है । यह सिद्धयोग ही आत्मसमर्पण है । भारतके वेद, वेदान्त, उपनिषद्, पुराण, तन्त्र, यहौतक कि बस्तुविज्ञान, चार्याक आदि नास्तिक दर्शन भी दिग्दर्शक यन्त्रके सिवा और कुछ नहीं है । भारतका कोई भी धर्मग्रन्थ साधन-विरुद्ध या आपसमें एक-दूसरेका विरोधी नहीं है; जिसे जो दिग्गज दिखानी थी, उसने उसी भागपर प्रकाश डाला है, सब दिग्गजोंको देखकर तत्त्वज्ञ पुरुष निश्चित सरल पथसे भारतका सनातनधर्म प्राप्त कर सकते हैं । हमलोगोंको सरण रखना चाहिये कि आर्य-योद्धा श्रीकृष्ण एक बहुत बड़े वैदानिक थे, उन्होंने वेदान्त और उपनिषद्के आधारपर ही भावी भारतके सामने सनातनधर्मका विराट् स्वरूप खड़ा किया है । हम आज इस राजमार्गका अनुसरण करके अवाध गतिसे अभीष्ट लक्ष्यकी ओर यात्रा कर सकते हैं । समय थोड़ा है, इसलिये हम यदि केवल साधनकी त्रिधाराको धारण करके ही भागवत संयोग प्राप्त करके वन्य हो सकते हैं तब हमें सुदीर्घ तत्त्वोंका विश्लेषण करनेकी क्या आवश्यकता है ? कर्म, ज्ञान और भक्ति—त्रिमार्ग-योगके द्वारा जो साध्यस्वरूप आत्मसमर्पण-योग है, वही श्रीकृष्णकथित गीताके योगके रूपमें प्रचारित है । योग-भूमि भारतके जातीय जीवनमें यह महायोग प्रतिष्ठित हो !

प्राणप्यारे

(रचयिता—श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्रसिंह जूदेव वहादुर “सुधाकर”, ज्ञालावाड़नरेज)

चित्तको छुराते हो छुपाते हो न जाने कहाँ,
चुटकीमें अपने ही प्रेमीको उड़ाते हो ।
रीत यह प्रीतकी तुम्हारी है अनोखी कैसी,
आभा-सी दिखाके कहीं जाके छुप जाते हो ॥
ध्यानमग्न मैं तो हूँ, “सुधाकर” मुझे तो तुम
खाते-पीते जाते-आते सोते देख पाते हो ।
वार-वार कहते हो, आता हूँ, मैं आता हूँ, पै,
कहके भी प्रानप्यारे ! क्याँ न पास आते हो ?

गीता योगशास्त्र है

(लेखक—एक दिन)

गका चथार्थ उद्देश्य सिद्धि प्राप्त करना नहीं (सिद्धियों तो योगमें विष्व है), बल्कि जीवात्माका श्रीपरमात्माके साथ योग अर्थात् मिलन है, अथवा यो कहे कि जिससे दोनोंका मिलन या एकता हो वह योग है। श्रीमद्भगवद्गीता परम और पूर्ण योगशास्त्र है, जिसका अन्तिम लक्ष्य श्रीपरमात्माकी प्राप्ति है।

गीतामें योगकी प्रारम्भिक साधना द्वितीय अध्यायसे आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर आगेके अध्यायोंमें भी उसीका विकास होता गया है, वे सब योगमार्गकी क्रमव्याप्ति विभिन्न मजिलें हैं। श्रीपरमात्माके स्वरूप, निवासस्थान और जीवात्मा और परमात्माके सम्बन्धका ज्ञान होना इस मार्गमें सर्वप्रथम आवश्यक है। इस मार्गकी पहली मजिल विचार-विवेकके द्वारा प्रकृति और पुरुष अथवा आत्मा-अनात्माका ज्ञान है, जिसके कारण गीतामें सबसे पहले प्राचीन सांख्य-योगका उपदेश दिया गया है। यह सांख्ययोग निरीश्वरवाद नहीं है। इसमें कहा गया है कि आत्मा चेतन, सनातन, अजन्मा, अमर आदि है और शरीर, जो जड़ है, वह केवल बन्धके समान है। यह सासार चेतन अविनाशी तत्त्वसे व्याप्त है (२। १७)। और वही केवल सत्, चित्, आनन्द है। जीवात्मा उसीका अग है और इन्द्रियोंके बाह्य भोगात्मक विषय दुःखमूलक है (२। १४), इनके भोगात्मक सम्बन्धसे ही दुःख प्राप्त होता है। यतएव कर्म कर्तव्य-पूर्ति और यजके उद्देश्यसे योगस्थ होकर अर्थात् देव, पितृ, प्रधापि, मनुप्य, पशु आदिके ऋणपरियोगके निमित्त निष्कामभावमें, अहङ्कार और ममताको छोड़कर करना चाहिये और कर्मकी सिद्धि-असिद्धिमें समान रहना चाहिये। यही बुद्धियोग है (२। ३९, ४७ और ४८ तथा ३। ८, ९)। सकाम कर्म चन्दनका कारण है, किन्तु कर्तव्य और वह-कर्म बन्धनका कारण नहीं। कर्मका त्याग भी कदापि न करना चाहिये (३। ८, ९)। यही सांख्ययोगके वादका कर्मयोग है।

इसके बाद ज्ञानयज्ञ अवदा ज्ञानयोग है। इसकी

प्राप्तिकी योग्यताके निमित्त इन्द्रिय और प्राण-निग्रह आवश्यक है (४। २६, २७)। तथा स्वाध्याय अर्थात् तत्त्वज्ञानके पठन, मनन और निदिध्यासन (४। २८) की आवश्यकता है। अष्टाङ्गयोगमें ब्रह्मचर्य (इन्द्रिय-निग्रह), स्वाध्याय और प्राणायामसे भी यही तात्पर्य है। इस अवस्थामें ब्रह्मचर्यपालन मुख्य है, उसमें भी जिहा और जननेन्द्रियका निग्रह प्रधान है। अन्य इन्द्रियोंके विकार काम, क्रोध और लोभका त्याग भी जहरी है (३। ३७)। इन्द्रियोंका निग्रह साख्ययोगके अभ्याससे अर्थात् अपनेको शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि, जो जड़, अनात्मा है, उनसे ऊपर, पृथक् और विलक्षण चेतन आत्मा मानकर आत्मामें ही स्थिति प्राप्त करने (३। ४३) तथा विषयोंसे ध्यान हटाने (२। ६२, ६३) से सम्भव है। इसके बाद साधकों तत्त्वदर्शी जानी गुरुसे ज्ञानयोगका उपदेश लेना चाहिये (४। ३४)। इस ज्ञानयोगका परिणाम यह होगा कि साधक यह देखेगा कि अस्तिल चराचर समष्टि सुष्टि चेतनमय होनेके कारण उसके चेतन आत्मासे अभिन्न है और फिर सबके सब परमात्मामें अभिन्न-हृपसे वर्तमान हैं। यह ज्ञान होनेके बाद फिर साधकको मोह नहीं होगा (४। ३५)। यह ज्ञानयोग कर्मयोगका साधन करके इन्द्रियनिग्रह करनेसे श्रद्धावान् पुरुषको प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं (४। ३८, ३९)। किन्तु यहाँतकका ज्ञान बुद्धिके द्वारा केवल निश्चयात्मक है, इसे विज्ञानमें परिणाम करनेसे अर्थात् साधात् अथवा अपरोक्ष बनानेसे ही परमात्माकी प्राप्ति होती है। इस प्राप्तिमें मन मुख्य है और मन ही वाधक है। मन उभयात्मक है, वह जिसमें अनुरक्त होता है, वही भाव ग्रहण कर लेता है। वर्तमान समयमें हमारा मन वहिरुस्ती होकर इन्द्रियोंके कामात्मक विषयोंमें आसक्त हो रहा है और अज्ञानके कारण उन्हेंको सुखप्राप्तिका साधन समझ रहा है, यद्यपि वे यथार्थमें परिणाममें दुःखदायी हैं। भोगकी प्राप्तिके

* प्राणायाम विधिपूर्वक बहुत धोदा करना नाशिये, अधिक करनेने हानि होती है। इसी निमित्त श्रीनिष्ठावत स्क० १, ख० ४, लोक ३५ में तीन चर वेद-उम-दस प्राणायाम करनेका उपदेश है।

लिये हिंसा, असत्य, स्त्रेय, अविहित काम-चेष्टा आदि की जाती है, जिससे मन कलुषित हो जाता है, फिर भी सुख-आनंद न मिलनेके कारण वह और भी चञ्चल हो उठता है। अतएव मनका अज्ञान, तथा भोगलिप्साके कारण उत्पन्न राग-द्वेष, मलीनता और चञ्चलता दूरकर मनको पवित्र, स्थिर और ज्ञान वनाना आवश्यक है, जिसके बिना वह आत्मोन्मुख हो ही नहीं सकता। यह कार्य कर्म और अभ्यासयोगसे सम्पन्न होता है, जिसके लिये ज्ञानके अतिरिक्त वैराग्य और अभ्यासकी आवश्यकता है (६।३५)। इस योगकी सिद्धिका मूलतत्त्व इस नाम-न्यपात्मक ससारके नानात्वको सत्य न मानकर उसमें एक ब्रह्मको देखना और उसीके अनुसार अभ्यास करना है। इसी कारण गीतामें कर्माभ्यासयोग नामक छटें अध्यायमें श्रीभगवान्ने इस योगके मूलमन्त्रको इस प्रकार दत्तलाया है—

सर्वभूतस्थभात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥२९॥
यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वभास्थितः ।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥३१॥

इन वाक्योंका भाव यह है कि योगमें स्थित साधक अनन्त चेतनको सब भूतोंमें व्याप्त और सब भूतोंको उस अनन्त चेतनमें व्याप्त देखता है और सर्वत्र एकत्वकी-समान दृष्टि रखता है। श्रीभगवान् कहते हैं, जो मुक्त परमात्माको सबमें व्याप्त और सबको मुक्तमें व्याप्त देखता है, वह न मुक्तसे अदृश्य है, न मैं उसके लिये अदृश्य हूँ। जो सब भूतोंमें व्याप्त मुक्त एकको ही इस प्रकार सर्वत्र चर्तमान जानकर मेरा भजन अर्थात् सेवा करता है, वह चर्चवहारमें रक्तकर भी योगी है और मुक्तको प्राप्त करता है। फिर श्रीभगवान् कहते हैं कि सर्वत्र परमात्मदृष्टिकी केवल भावना ही योग नहीं है, वल्कि इसको आचरणमें परिणत करना 'योग' है। ऊपरके श्लोकोंके बाद ही नहूँ वचन है—

आमौपन्मेन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
मुग्य वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥

(६।३२)

‘ओ दूसरोंसे सुन्न-दुःखको दृष्टना सुन्न-दुःख समझना तो परम योगी है। नष्ट ग्रथ यह है कि कैसे श्रूत्योग

अपने सुखकी वृद्धि करना चाहते हैं, वैसे ही हमें दूसरोंके सुखकी भी वृद्धि करनेके निमित्त यज्ञ करना चाहिये और इसी तरह दूसरोंके सुखको भी अपना सच्चा सुख समझना चाहिये। और जिस तरह हम अपने दुःखकी निवृत्तिके लिये यज्ञ करते हैं, उसी तरह दूसरोंके दुःखको भी अपना दुःख मानकर उसकी निवृत्तिके लिये यथासाध्य प्रयत्न करना चाहिये और उस दुःखनिवृत्तिको अपनी ही दुःखनिवृत्ति समझनी चाहिये। यही यथार्थ योग है। इस कर्माभ्यास-योगमें कर्म-यज्ञ अर्थात् कर्मयोग सृष्टिके हितके लिये अपने स्वार्थको स्वाहाकर अर्थात् त्यागकर यज्ञपुरुष परमात्माकी सेवाकी भौति उन्हींके निमित्त किया जाता है। दान अर्थात् परहित-कार्य और शरीर, मन तथा वाणीकी शुद्धिके लिये तपस्या भी यज्ञ-पुरुषके निमित्त ही की जाती है, क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्का कथन है कि यज्ञ, जिसमें दान सम्मिलित है, और तपस्याका मैं स्वयं भोक्ता हूँ और इनके द्वारा सबका हित सम्पादन करता हूँ, जो मुहूर्दका धर्म है (५।२९)। साधारण परोपकार और योगके परहित-सेवामें भेद यह है कि पहलेमें उपकृतको अपनेसे पृथक् समझकर उपकार किया जाता है, किन्तु योगमें उपकृतको पहले अपना ही आत्मा समझकर निष्कामभावसे उसका हितसाधन करते हैं, फिर आगे चलकर उसे श्रीपरमात्माका ही रूप मानकर श्रीपरमात्माकी सेवाकी भौति, फलाकांक्षासे रहित होकर, निरहङ्कार-भावसे उसका हितसाधन या सेवा की जाती है। क्योंकि साधन, सामग्री और करनेकी शक्ति सब कुछ श्रीपरमात्माकी है, साधक तो केवल निमित्तमात्र है। इसी सिद्धान्तपर योगके प्रथम अङ्ग यमके अहिंसा, सत्य, अस्त्वेय और अपरिग्रह स्थित हैं। जब सब कुछ परमात्माका रूप ही है तब हिंसा, असत्य, स्त्रेय आदि दुर्व्यवहार किसीके साथ करना मानो श्रीपरमात्माके ही साथ करना है और इस कारण हिंसाका त्याग कर दूसरोंका हितसाधन करना, असत्यका त्यागकर सबके साथ सत्यका व्यवहार करना, स्त्रेयका त्यागकर अन्यायपूर्वक किसीकी वस्तु न लेना और परिग्रह अर्थात् दूसरोंमें दान लेना छोड़कर स्वयं दूसरोंका दान टेना योगकी मुख्य साधना है। इसी प्रकार नवत्र परमात्मभाव रखकर व्यवहार करनेका अभ्यास करनेसे श्रीपरमात्माकी प्राप्ति सहज ही हो जाती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा है—

अयं हि सर्वकल्पानां सधीचीनो मतो मम ।

मङ्गाचः सर्वभूतेषु मनोवाक्यायवृत्तिभिः ॥

(११ । २९ । १९)

इस सर्वत्र एक ब्रह्मात्मक भावका ज्ञान परिपक्व होनेसे और वाह्य नानात्वपर केवल अध्यास माननेसे विषय-वैराग्य स्वामार्थिक ही आ जायगा और वह वैराग्य ज्ञानमूलक होनेके कारण हृद होगा । ऐसे वैराग्यवाले पुरुषको किसी सासारिक पदार्थकी तृष्णा नहीं होगी । वास्तवमें तृष्णा और राग-द्वेषके कारण ही मन चञ्चल रहता है, और चैराग्यद्वारा इनकी निवृत्ति हो जानेपर मनका आत्मोन्मुख होना सम्भव हो जाता है । इसी निमित्त गीताके उसी छठे अध्यायमें आदेश है कि मनको आत्मामें स्थित करके भावनारहित कर दे और यदि मन आत्माको छोड़कर अन्यत्र जाय तो फिर वहाँसे उसे लौटाकर आत्मामें ही लगावे । सर्वत्र एकात्मभाव बना रखनेसे मनके विक्षेपको दूर करनेमें वड़ी सहायता मिलती है । जो भावना मनमें आवे, वस, उसीको आत्मा मान ले । इस तरह निरन्तर अभ्यास करनेसे मन अवश्य शान्त हो जायगा । यही अभ्यासयोग है, इसीसे मनकी चञ्चलता दूर होती है जो पातञ्जलयोगसूत्रका मुख्य ध्येय है । वहाँ भी अभ्यास और चैराग्य ही इसके साधन बतलाये गये हैं । ऊपर कथित गीताका बचन इस प्रकार है—

शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहोत्तया ।

आत्मसस्थ मन् कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।

तत्सक्तो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(६ । २५-२६)

उक्त अध्यायके १४ वें श्लोकमें योगकी प्राप्तिके लिये त्रस्तचर्यकी आवश्यकता बतलायी गयी है । वास्तवमें योगके लिये ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है । ब्रह्मचर्य योगके प्रथम अग यमके अन्तर्गत है । आत्मामें मनके स्थित हो जानेपर आत्माके आनन्दकी उपलब्धि होती है और यह महान् सुख हन्दियातीत है, केवल बुद्धिग्रास है (६ । २१) ।

केवल आत्मस्थिति, जो आधुनिक सांख्यका लक्ष्य है, दो जानेमें ही योगके लक्ष्यकी पूर्ति नहीं होती । इस आत्मानन्दको भी अतिक्रम करना चाहिये । इसलिये श्रीभगवान्का कथन है कि ध्रेष्ठ योगी वही है जिसका मन मेरे नाथ सलम हो (६ । ४७) । अतएव अब योगके मुख्य

लक्ष्य श्रीभगवान्की प्राप्तिके लिये उनकी ओर अग्रसर होना चाहिये । मनको अपने आत्मामें लय करके अब आत्माको श्रीभगवान्में अपित कर देना चाहिये । इसी आत्मार्पणका दूसरा नाम शरणापन्न होना है । इसमें सबसे प्रथम विचारणीय विषय यह है कि श्रीभगवान्के कौन से निवास और भावमें आत्मार्पण किया जा सकता है । श्रीभगवान्के विराट् व्यापक विश्वरूपके भावमें अर्पण करना अथवा उनके साथ एकता प्राप्त करना विनिष्ठ शरीरमें रहनेवाले जीवात्मके लिये कदापि सम्भव नहीं है । तब यह सम्भव कैसे होगा ? इस जटिल समस्याको स्वयं श्रीभगवान्ने गीतामें ही हल कर दिया है । उन्होने कहा है कि मैं सब भूतोंके हृदयोंमें हूँ (१३ । १७; १५ । १५; १८ । ६१) । इस हृदयस्थ ईश्वरमें ही आत्मार्पण-योग करना होगा—यह श्रीभगवान्ने गीतामें स्पष्ट शब्दोंमें कहा है । अध्याय १८ के श्लोक ६१ में अपना वास सब भूतोंके हृदयमें बतलाकर उसके बादके श्लोकमें कहते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्त्यसि शाश्वतम् ॥

इसका स्पष्ट अर्थ है कि मन, वचन और शरीरमें उस हृदयस्थ ईश्वरकी शरणमें जाओ, जिसके बाद उसकी कृपासे परम शान्ति मिलेगी और उसका जो सनातन अविचल पद है, उसकी प्राप्ति होगी । यही अन्तिम साधना भक्तियोग है । इस योगमें पहले यह हृद विश्वास होना चाहिये कि परमात्माने जीवात्माका त्राण करनेके लिये कृपा करके अपनेको हृदयमें कैदीकी भौति बना रखा है, जिसमें उसको उनकी प्राप्ति हो, जो अन्यथा सम्भव नहीं था । यह श्रीभगवान्की असीम कृपा जीवोंके लिये है । इस कारण भी जीवात्माका श्रीभगवान्में स्वाभाविक प्रेम होना चाहिये । इसी निमित्त श्रीभगवान्का जीवात्माके साथ पिता-पुत्र, सखा और प्रेमपात्र, प्रियतम और प्रेमीका सम्बन्ध है (११ । ४४) । यह प्रेम-सम्बन्ध भक्तियोगमें मुख्य है । इस योगकी प्राप्ति किस आश्रयका अवलम्बन करनेसे होगी, इसका वर्णन ७ वें अध्यायमें है । वहाँपर दो प्रकृतियोका, पञ्चभूत और अन्त-करणचतुर्यका अपरा जड़ प्रकृतिके लक्ष्यमें और इसके परे जो चैतन्य जीवन्यक्ति है, उसका परा प्रकृताके लक्ष्य वर्णन है, जिसका दूसरा नाम दैर्घ्या प्रकृति भी है ।

श्रीभगवान्की प्राप्ति राजविद्या अर्थात् ग्राचीन राजयोग-के द्वारा होती है, इसका उत्तरस्थ गीताके ९ वें अध्यायमें

है। श्रीभगवान् का कथन है कि इसका फल प्रत्यक्ष है, यह अध्यासमे सुखदायी (इठयोगके समान कष्टकर नहीं) और धर्मात्मक है (१ । २)। उक्त अध्यायके १३ वें श्लोकमे श्रीभगवान् ने कहा है कि महात्मागण मेरी दैवी प्रकृति (परा चैतन्य समाधि जीव-शक्ति) का आश्रयकर मुझे प्राप्त करते हैं। इसके बाद अपनी प्राप्तिका उपाय गीताके १२ वें अध्यायमे उन्होने बतलाया है, जो भक्तियोग है। सर्वप्रथम आवश्यकता इस बातकी है कि हृदयमे सगुण माकार भावकी उपासना की जाय, न कि अव्यक्तकी, जो क्षेत्रकर है। इस भक्तियोगमे श्रीभगवान् की दैवी प्रकृतिका आश्रय प्राप्त करना आवश्यक है, जो अपने दिव्य तेज और प्रकाशसे साधकको धोर अविद्यान्धकारसे पारकर श्रीभगवान् से युक्त कर देती है। इसका आश्रय पानेके लिये दैवी सम्पत्तिके गुणोंको, जिनका वर्णन गीताके १६ वें अध्यायमे १ से ३ श्लोकतक है, प्राप्त करना और आसुरी सम्पत्तिका, जिसका वर्णन उसी अध्यायमे ४, ७ और ८ श्लोकोंमे है, त्याग करना परमावश्यक है। भक्तियोगका लक्षण १२ वें अध्यायमे १३ से २० श्लोकतकमे बतलाया गया है, उसका भी होना अत्यन्त आवश्यक है। भक्तियोगका मुख्य साधन निम्न श्लोकोंमे कहा गया है—

ये तु सर्वाणि कर्मणि मयि संन्यस्य भत्परा ।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥
तेषामहं समुद्दर्ता मृत्युसंसारसामरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थं मत्यावेदितचेतसाम् ॥
(१२ । ६ । ७)

इन श्लोकोंका भाव यह है कि जो अपने सम्पूर्ण कर्मोंको, मानारिक और पारमार्थिक दोनों, श्रीभगवान् के कर्म समझकर उनके निमित्त अहङ्कार, ममता और फलकामनाका त्यागकर, करता है, उनमें अनुरक्त रहता है और अपने मनमें श्रीभगवान् और उनके सम्बन्धके सिवा दूसरी कोई भावना नहीं आने देता, केवल उन्हींमें मनको सनिवेशितकर उपासना-ध्यान करता है, ऐसे चित्तसे पूर्ण अनुरक्त प्रेमी भक्तज्ञ श्रीभगवान् शीघ्र मायासे उढ़ार करके उसे अपनी अमर पदवी देते हैं। यही माय ८ वें अन्यानके ४ वें श्लोकका भी है, जो इस प्रकार है—

अनन्यचेता मतत यो मां स्मरति नित्यश ।
तस्याए मुल्लं पार्थं नियुक्तस्य योगिन ॥

इस भक्तियोगमे सब प्रकारके कर्मोंका अर्पण, उपासना अर्थात् गरीर, बचनसे कर्म करते हुए तैलधाराके समान मनसे सतत निरन्तर ईश्वरस्मरण, चिन्तन और व्यान मुख्य है। अन्तिम साधना, जिससे योग अर्थात् सम्बन्ध हो जाता है, वह है ध्यानयोग। पहले हृदयमे अपने हृष्टकी मनोहर दिव्य साकार मूर्त्तिपर चित्तकी धारणा करनी चाहिये, जिसके लिये प्रथमावस्थामे भीतर ठीक वैसे ही रूपकी भावना करनेके लिये कोई विग्रह अवश्य चित्र आवश्यक है। धारणाके परिपक्ष हो जानेपर वथार्थ व्यान प्रारम्भ होगा। बास्तवमे यह ध्यान हृदयका कार्य है और जब हृदय प्रेमसे द्रवित हो जाता है तभी यह सम्भव है। १४ वें अध्यायके २६ वें श्लोकमे श्रीभगवान् का बचन है कि जो अव्यभिचारिणी भक्ति (श्रीभगवान् हीको सर्वस्व समझना और उन्हींको सर्वार्पण करना) से मेरी सेवा करता है वह गुणातीत ही जाता है। गुणातीतका लक्षण उसी अध्यायके श्लोक २२ से २६ तकमें है। इस भक्तियोगकी अन्तिम साधनाका क्रम और लक्षण अन्तिम अध्याय १८ में इस प्रकार बतलाया गया है—

बुद्ध्या विशुद्ध्या युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च ।
शब्दादीन् विपयांस्त्वक्त्वा रागद्वेषौ व्युडस्य च ॥
विविक्तसेवी लघ्वाशी यत्वाक्तायमानसः ।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः ॥
नहङ्कारं वलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय क्ल्यते ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काढ्यक्षतिः ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्रास्मि तत्त्वतः ।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तडनन्तरम् ॥
(१८ । ५१-५५)

यह कथन गीताके योगका सार है। इस कथनमे सद्गुणोंमे उन्द्रियनिग्रह, मनोनिग्रह, विपय-वैराग्य और अहङ्कार, ममता, काम, क्रोध, परिग्रह आदिका त्याग मुख्य है। इन सद्गुणोंकी पूर्ण प्राप्तिसे वहाँ मतलब है। इनकी पूर्ण प्राप्ति भक्तिके सयोगसे ही होती है (पर दृष्टा निवर्तते), तथा साधनाके रूपमें प्रेमोपहारके समान सब कर्मोंको श्रीभगवान् के निमित्त करना, प्रेमसे श्रीभगवान् का सतत स्मरण, और अन्तिम प्रधान साधना ध्यानयोग, ये तीन मुख्य हैं। मन्त्रजप ध्यानयोगका अभिन्न स्वरूप है।

इसलिये ध्यानके साथ मानसिक मन्त्रजप अवश्य करना चाहिये । योगसूत्रमें लिखा है—तजपस्तदर्थभावनम् ।

यह ध्यानयोग ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनोंका योग (एकता) करता है, जो योगका अन्तिम लक्ष्य है । पातञ्जलयोगसूत्रमें भी ध्यानसे समाधिकी प्राप्तिकी वात कही गयी है । गीताके इस परम ध्यानके बाद कर्मफलका

त्याग होता है अर्थात् ध्यानरूप कर्मका फल जो मोक्ष है उसका त्याग (सन्यास) इसलिये भक्त करता है कि मोक्ष ले लेनेसे भगवत्सेवा छूट जायगी । वह तो प्रेमके कारण निमित्तमात्र होकर निरन्तर श्रीभगवान्की सेवामें रत रहना चाहता है । इसीसे उसको परम गान्ति मिलती है (१२ । १२) जो मोक्षसे भी ऊपरकी स्थिति है ।

→ ३६८ ←

गीतामें केवल प्रपत्ति-योग है

(लेखक—प० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी)

श्री मद्भगवद्गीताको किसीने कर्म-परक वतलाया है, किसीने ज्ञान-परक और किसीने भक्ति-परक, परन्तु सबका समन्वय करनेवाले वैष्णव आचार्योंने इस महोपनिषद्को प्रपत्ति-परक समझा और वतलाया है । वैष्णवोंके प्रत्येक सम्प्रदायमें यही सिद्धान्त है ।

भगवान् श्रीनिम्नार्कार्चार्यने जो गीतापर भाष्य किया था, वह अब अप्राप्य है, परन्तु उसी भाष्यका अर्थ स्पष्ट करनेके लिये जगद्विजयी श्रीकेशव भद्राचार्यने जो ‘तत्त्वप्रकाशिका’ नामकी सुन्दर सस्कृत टीका इसपर लिखी, वह उपलब्ध है और प्रकाशित भी हो चुकी है । इस ‘तत्त्वप्रकाशिका’ में आचार्य केशव भी गीताको प्रपत्तिपरक स्वीकार करते हैं ।

प्रपत्ति और भक्ति

प्रपत्ति और भक्तिमें सूक्ष्मतम मौलिक भेद है । भगवान्-के ऊपर अपना सब भार छोड़कर निर्द्वन्द्व हो जानेका नाम प्रपत्ति है और अपने उद्धारके लिये भगवान्की सेवा-प्रार्थना करना भक्ति है । प्रपत्ति (शरणागत) पिताका वह नन्हा-सा बच्चा है, जो अपना सब कुछ पिताके ऊपर छोड़े है, और भक्त वह बड़ा पुत्र है, जो बहुत कुछ अपना भल्ल-नुग खुद करनेकी हिम्मत रखता और करता भी है । स्वभावतः पिताका ध्यान नन्हे बच्चेपर जितना अधिक रहेगा, उतना बड़ेपर नहीं । वस, प्रपत्ति या शरणागत और भक्तिमें यही भेद है । वस्तुतः प्रपत्तिमें ज्ञान और कर्मकी तरह भक्तिका भी समावेश हो जाता है । यानी सब साधनोंमें प्रपत्ति अगी है और जैप सब अगा ।

प्रपत्तिको छः मुख्य भेदोंमें विभक्त किया गया है—
आनुकूल्यस्य सङ्क्षिप्तः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्त्वत्वे वरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये पद्मविधा शरणागतिः ।

शरणागति या प्रपत्ति-योगके ये छः अग हैं । इनमें ‘आत्मनिक्षेप’ प्रधान है, अगी है, शेष सब अग है । आत्मनिक्षेप ही तो शरणागति है, अपना कुल भार उसपर डाल देना, चाहे वह जो करे ।

परन्तु यों शरणागतिमें आनेका ढोंग करके कोई चाहे जो किया करे, वह नहीं हो सकता है । शरणागतिके जो छः अङ्ग ऊपर गिनाये हैं, उनमें आरम्भहीमें है—आनुकूल्यस्य सङ्क्षिप्तः । अर्थात् जो काम भगवान्को अच्छे लगते हैं, उनके करनेका सकल्य मनमें हो, वह पहली वात है । इसमें सब सत्कर्म आ गये । भगवत्प्रपत्ति अपने श्रेयके लिये नहीं, भगवान्को प्रसन्न करनेके ही लिये सब सद-नुष्ठान करेगा । दूसरा अङ्ग है—प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । प्रपत्ति पुरुष ऐसा कोई भी काम न करेगा, जिससे भगवान्के अप्रसन्न होनेका डर हो । इस प्रकार सम्पूर्ण असत्कर्मोंसे वह दूर रहेगा ।

भगवान् अवश्य मेरी रक्षा करेंगे,—‘रक्षिष्यतीति विश्वासः’—इस विश्वासकी तो सबसे अधिक ज़रूरत है । यही नौंच है । जबतक विश्वास न होगा, शरणागति पकी नहीं होगी । ‘सशयात्मा विनश्यति’—नास्तिकता आ जायगी ।

कार्पण्यका मतलब है—दीनता । भगवान्के सामने दैन्यप्रदर्शन भी प्रपत्तिका एक अग है । पामर लोग ज्ञानलब्ध-दुर्विद्वन्ध होकर इतराने लगते हैं और कहते हैं—‘जो न करे

मौला, सो करे एतमादुन्नाला !” ऐसे जीवोंका घोर पतन हो जाना है। “मैं सब कुछ कर सकता हूँ” “मैंने सब किया है” इस प्रकारकी मावना पतनका मूल है। प्रपञ्च अपने मनमें कभी ऐसा भाव नहीं आने देता और भगवानके प्रति सदा ठीन रहता है।

यो जीव जब भगवानके ऊपर दृढ़ विश्वास करके आत्मनिषेप करता है, तो यह प्रपत्ति-योग कहलाता है। श्रीमद्गवद्गीतामें इसी योगका प्राधान्य है।

किसी भी ग्रन्थका प्रधान विषय क्या है, यह जाननेके लिये आदि, मध्य और अन्तका समन्वय देखना होता है। तीनों जगह जो मिले, वही प्रधान होता है। जिस वातका हमें प्रतिपादन करना है, उसे शुन्नमें कहेगे, उसीमें उपक्रम करेंगे, वीचमें उसीकी पुष्टि करेंगे और अन्तमें उसीपर जोर देकर वक्तव्य पूर्ण करेंगे।

अब देखना चाहिये कि श्रीमद्गवद्गीताके आदि, मध्य और अन्तमें क्या है।

गीताके उपक्रममें ‘शिष्यस्तेऽहं ग्राधि मां त्वां प्रपन्नम्’ या ‘प्रपञ्च’ अब्दसे अरणागतिको प्रधानता दी है। वीचमें भी ‘निवासः अरणं सुहृत्’ इत्यादि प्रकारसे इसीपर जोर है और अन्तमें तो डेकेकी चोट कहते हैं—

मर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं यज ।

यहीं आकर गीतागाम्बकी समाप्ति होती है। अतएव यहीं उसका प्रधान विषय निश्चित है।

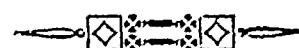
अरणागतिके छहों अगोंका गीतामें विस्तारसे वर्णन है।

सर्वमूलस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

इत्यादिके द्वारा प्रपत्तिका प्रथम अग (आनुकूल्य सकल्प) दिखलाया। परित्यज्य आसुरी सम्पत्का वर्णन करके तथा प्रत्यक्ष ‘निर्वैरत्व’ आदिका उपदेश देकर दूसरा अग स्पष्ट किया। ‘योगक्षेम वहाम्यहम्’ आदि कहकर विश्वास दृढ़ किया, जो प्रपत्तिका तीसरा अग है। ‘पितासि लोकस्य चराचरस्य’ यहाँसे लगाकर ‘प्रसीट देवेश जगन्निवास’ यहाँतक जो कुछ कहा, उससे चतुर्थ अग स्पष्ट किया। ‘दिगो न जाने न लभे च अर्म’ और ‘न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्’ इस कथनसे पॉचवाँ चंग कार्यण्य बतलाया। मुख्य आत्मनिषेप तो प्रधानरूपसे कहा ही गया है—‘तमेव चार्यं पुष्ट यपद्ये’ ‘मामेक अरण व्रज’ इत्यादि।

अप्र ग्रन्थ कर्म, ज्ञान और भक्तिका प्रतिपादन करते हैं जो प्रपत्तिके सहायक हैं।

यों सम्पूर्ण गीतागाम्बका प्रतिपाद्य विषय प्रपत्ति-योग है। हिन्दीमें भी गोस्वामी तुलसीदासजीकी ‘विनयपत्रिका’ तथा ‘सूरसागर’ के विनय-पद्योंमें प्रपत्तिका अच्छा विकास मिलता है। ‘विनयपत्रिका’^{१)} में तो वही ही सुन्दरतासे इस योगका प्रतिपादन हुआ है। और भी सन्तोंने इसीका आश्रय लिया है।



योगिराजके प्रति

योगिराज ! तेरे दर्शनको, भक्त मानते हैं शुभ-स्वर्ग ।

उसे परम पुरुषार्थ जान, तब परम धाम चाहै ब्रुधर्वर्ग ॥

तेरे पदकी सेवा हे हर ! तेरे पद-सेवक-संसर्ग ।

हो ‘द्विजेन्द्र’ पर कृपा-दृष्टि वह, जिससे पाँच हम अपवर्ग ॥

—सरयूप्रसाठ गाम्बी ‘द्विजेन्द्र’

¹⁾ विनयपत्रिका इन्दीयोकामस्थित ।) म गीतांप्रस्तुते मिल सकता हूँ,

योग

(श्रीभारतर्थमहामण्डलके एक महात्माद्वारा लिखित)

वे द तीन काण्डोंमें विभक्त है, यथा—
कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और
ज्ञानकाण्ड । वेदके कर्मकाण्डके
अनुसार कर्म-सुकौशलको योग कहते
हैं । वेदके उपासनाकाण्डके अनुसार
चित्तवृत्ति-निरोधको योग कहते हैं ।
और वेदके ज्ञानकाण्डके अनुसार
जीवात्मा और परमात्माके एकीकरणको योग कहते हैं ।
कर्मकाण्डका अन्तिम लक्ष्य निष्काम होकर कर्म करना है ।
श्रीभगवद्गीतामें इसका विस्तृत वर्णन किया गया है ।
कर्म करते हुए कर्मवन्धनसे मुक्त होना ही उसका स्वरूप है । उपासनाकाण्डका अन्तिम लक्ष्य अन्तःकरणकी
वृत्तियोंको साधनके द्वारा निरुद्ध कर परमात्माके स्वरूपका
अनुभव करना है । तरङ्गरहित जलाशयमें जैसा मनुष्य
अपना मुख देख लेता है, चित्तकी वृत्तियों निरुद्ध होते ही
दृश्यप्रपञ्चके द्रष्टा परमात्माका स्वरूप वैसा ही अन्तःकरणमें
दिखायी देने लगता है । इस विज्ञानका विस्तृत वर्णन
योगदर्शनके सूत्रोंमें पाया जाता है । ज्ञानकाण्डका अन्तिम
लक्ष्य अविद्याजनित अज्ञानको विद्याकी कृपासे दूरकर
आत्मज्ञान प्राप्त करते हुए परमात्मा और जीवात्माके भेद-
का जो मिथ्या जान है, उसको हटाकर जीवात्मा और
परमात्माकी अद्वैतसिद्धि करना है । इसका विस्तृत वर्णन
उपनिषदों और वेदान्तादि शास्त्रोंमें मिलता है । यही
वेदके तीनों काण्डोंके अनुसार योगके सिद्धान्तोंका रहस्य है । वस्तुतः इन तीनोंके द्वारा एक ही अवस्थाकी प्राप्ति
होती है ।

श्रीभगवान्‌की सान्निध्यप्राप्तिके साधनोंको उपासना
कहते हैं । उपासनाका प्राण भक्ति है और कलेचर योग है । शरीरमें प्राणके न रहनेसे जैसे शरीरकी कुछ भी
उपयोगिता नहीं रहती, वैसे ही भगवद्गत्तिर्हीन योग
नटका खिलबाढ़ हो जाता है । शरीरके अभावमें प्राणके
रहनेका कोई स्थान ही नहीं रहता । इस दशामें प्राणका
अस्तित्व ही सम्भव नहीं रहता । इसी विज्ञानके अनुसार
भक्ति और योगका उपासनाकाण्डके सब साधनोंमें
अन्योन्याश्रय बना रहना स्वाभाविक है । योगतत्त्ववेत्ता पूज्य-

पाद महर्षियोंने योगसाधनकी चार स्वतन्त्र शैलियोंका
उपदेश दिया है और योगमार्गसे भगवद्राज्यमें पहुँचनेके
लिये आठ पौदियाँ बतायी हैं । चार योगसाधन-शैलियोंके
नाम हैं—मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग ।
योगकी आठ पौदियोंके नाम हैं—यम, नियम, आसन,
प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि । त्रि-
कालदर्शी और स्थूल तथा सूक्ष्म राज्यको करतलामलकवत्
देखनेवाले महर्षियोंने योगविज्ञानको इन चार श्रेणियों
और आठ पौदियोंमें विभक्त करके ऐसा बताया है कि,
साधनमार्गके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग इनमें आ जाते हैं ।

मन्त्रयोगका सिद्धान्त यह है कि, यह ससार नामरूपा-
त्मक है । नाम और रूपसे ही जीव अविद्यामें फँसकर
जकड़ा रहता है । मनुष्य जिस भूमिपर गिरता है, उसीके
अवलम्बनसे उठ सकता है । अतः नाम और रूपके
अवलम्बनसे ही जब वह फँसता है, तो नाम और रूपके
ही अवलम्बनसे मुक्त भी हो सकता है । मन्त्रयोगके जाता
पूज्यपाद आचार्योंने मन्त्रयोगके साधनोंको सोलह भागोंमें
विभक्त किया है । जैसे— दिक्घुद्धि, स्थानघुद्धि, मन्त्रजप,
स्तुति, न्यास इत्यादि । मन्त्रयोगके ध्यानको स्थूल ध्यान
कहते हैं । यह ध्यान पञ्च सगुणोपासना और अवतारोपासना-
के अनुसार कई प्रकारका होता है । मन्त्रयोगकी समाधिको
महाभाव समाधि कहते हैं ।

हठयोगका सिद्धान्त यह है कि, स्थूल शरीर और सूक्ष्म
शरीर एक ही भावमें गुणित है और एकका प्रभाव दूसरे-
पर पूरा बना रहता है । स्थूल शरीरको अपने अधीनकर सूक्ष्म
शरीरको अधीन करते हुए योगकी प्राप्ति करनेको हठयोग
कहते हैं । योगनिष्ठात आचार्योंने हठयोगको सात अङ्गों
में विभक्त किया है । यथा—नेती, धौती आदि घट्कमं,
आसन, मुद्रा, प्राणायाम इत्यादि । हठयोगके ध्यानको
ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और प्राणके निरोधसे होनेवाली हठ-
योगकी समाधि महावोध समाधि कहाती है ।

लययोगका सिद्धान्त यह है कि, ब्रह्माण्डकी प्रतिवृत्ति
मानवपिण्ड है । ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिका विलास जैसा
ब्रह्माण्ड है, वैसा मानवपिण्ड भी है । ग्रह, नक्षत्र, चतुर्दश
भूवन आदिके पीठ मानवपिण्डमें भी हैं । पञ्चकोशोंका

आवरण शिथिल होनेपर पिण्ड जहाँ चाहे, उसी लोकमें अपना ममन्ध स्थापन कर सकता है। इसी विज्ञानके अनुसार मनुष्यपिण्डके आधारपद्ममें कुलकुण्डलिनी नामक ब्रह्मचक्र प्रसुत रहकर अविद्याके प्रभावसे सुषिक्रिया किया करती है। रजोवीर्यजनित वैजी सुषि उसका साक्षात् फल है। मनुष्यशरीरस्थ सप्तम चक्र मस्तकमें स्थित सहस्रदलमें जिस योगद्वारा कुलकुण्डलिनीब्रह्मचक्रको ले जाकर ब्रह्मरूपी सदाशिवके साथ मिला दिया जाता है, उस शिवमें शक्तिका लय कर मुक्ति प्राप्त करनेके साधनका नाम लययोग है। लययोगके आठ अङ्ग हैं। लययोगके ध्यानको विन्दुध्यान और लययोगकी समाधिको महालय समाधि कहते हैं।

राजयोग अन्य तीन योगोकी चरमसीमा है। उसका सिद्धान्त यह है कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारसे सद्वलित अन्तःकरण ही जीवके वन्धनका कारण और मुक्तिका भी कारण है। जैसे अशुद्ध मन जीवको नीचे गिराता है और शुद्ध मन ऊपर उठाता है, वैसे ही इन्द्रिय-परायण बुद्धि जीवको वन्धनमें जकड़ती है और ब्रह्मपरायण बुद्धि जीवको मुक्तिभूमिमें पहुँचा देती है। अतः शुद्ध बुद्धि-की सहायतासे तत्त्वज्ञान लाभ करके अन्तमें राजयोगी जीव और ब्रह्मके अभेदका कारण समझकर ज्ञानसे अज्ञान-का नाश करता हुआ जीव और ब्रह्मकी अद्वैतसिद्धिके द्वारा मुक्त हो जाता है। राजयोगसाधनके सोलह अङ्ग हैं। राजयोगके ध्यानको ब्रह्मध्यान कहते हैं और राजयोगकी समाधि निर्विकल्प समाधि कहाती है, जिसका फल जीवन्मुक्ति है।

इन चार योगशैलियोंके मूलमें भगवद्गतियुक्त अष्टाङ्ग-योगका साधनक्रम विद्यमान है। अष्टाङ्गयोगके आठों अङ्ग ब्रह्मरूपी सर्वोच्च सौध शिखर (छत) पर चढ़नेके लिये आठ सोपान (सीढियों) रूप हैं। इनका सक्षिप्त विज्ञान यह है कि, वहिरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको यम कहते हैं। अन्तरिन्द्रियोंपर आधिपत्य जमानेके साधनोंको नियम कहते हैं। स्थूल शरीरको योगके उपयोगी बनानेके साधनोंको आसन कहते हैं। शरीरस्थ प्राणको योगोपयोगी बनानेके साधनोंको प्राणायाम कहते हैं। ये चारों साधन वहिरङ्गके हैं। वहिर्मुख मनको अन्तर्मुख करनेके साधनोंको प्रत्याहार कहते हैं। प्रत्याहारसे ही अन्तरङ्गका साधन प्रारम्भ होता है। अन्तर्जगत्से ले जाकर मनको एक स्थानमें ठहरानेके साधनोंकी धारणा कहते हैं। अन्तर्जगत्में ठहरनेका अभ्यास प्राप्त करते हुए अपने इष्टदेव, चाहे सगुण-भावमय रूप हो, चाहे ज्योर्तिर्मय रूप हो, चाहे विन्दुमय रूप हो, चाहे निर्गुण सञ्चिदानन्दमय रूप हो, जिसका जैसा अधिकार हो, उसी इष्टदेवको केवल ध्येय बनाकर जगत्के भूल जानेको ध्यान कहते हैं। परमात्मामें अपने जीवभावके मिला देनेको समाधि कहते हैं। वह समाधि सविकल्प और निर्विकल्प दो भागोंमें विभक्त है। निर्विकल्प समाधि ही सब साधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही सर्वजीवहितकारी सब सम्प्रदायोंके अनुयायियों, सब प्रकारके उपासकों और सब प्रकारके साधकोंके परम हितकर योगका सक्षिप्त विज्ञान है।

विरक्त

(रचयिता—श्रेष्ठपन्थासज्जा महाराज विजयमार्णियस्यरचित्रो यति ‘मानिक’)

सत्यव्रत धार मन मोहते निवार कर, गिरिकी गुहामें तन तपते तपायेंगे ।

दया दिल लायेंगे जी जीव न सतायेंगे औ, दीन न दवायेंगे न काया कलपायेंगे ॥

‘मानिक’ की जोत ईश्वर जोतमें जुटायेंगे औ, आनन्द बढ़ायेंगे अनन्त सुख पायेंगे ।

दुनियामें फेर कर्मी आयेंगे न जायेंगे न, कर्मको खपायेंगे अमरपद पायेंगे ॥

योगतत्त्वमीमांसा

(लेखक—श्रीमत्परमहस्यपरिमाजकान्चार्य स्वामीजी श्रीश्रीजयेन्द्रपुरीजी महाराज)

नमो गुरुभ्यो गुरुपादुकाभ्यो नमः परेभ्य० परपादुकाभ्यः । आचार्यसिद्धेश्वरपादुकाभ्यो नमोऽस्तु लक्ष्मीपतिपादुकाभ्यः ॥



संसारमें जितने भी आस्तिक दर्शन हैं अथवा अन्य मत-मतान्तर हैं उन सबमें परस्पर किसी-न-किसी अंशमें विवाद अवश्य रहता है, परन्तु 'योग ऐहिक और आमुष्मिक कल्याणका हेतु है' इसमें किसी-का भी विवाद नहीं है। योगको सबने मुक्तकण्ठसे कल्याणका हेतु स्वीकार किया है। नास्तिक-से-नास्तिक भी योगकी प्रशंसा मुक्तकण्ठसे करते हैं।

सब आस्तिक दर्शनोंका यह सिद्धान्त है कि—‘अतीनिद्रिय अर्थमें वेद ही प्रमाण है, जिसमें निखिल विश्व प्रतिष्ठित है’ वस्तुतः जो सर्वथा दुःखादि सम्बन्धसे रहत असङ्ग चैतन्य तत्त्व है वही जानने लायक है, इतना ही कहकर वेद भगवान् उदासीनताका अबलम्बन नहीं करते, किन्तु ससारदुःखको समूल उच्छेद करनेकी इच्छावाला पुरुष तत्त्वव्योधकी इच्छा करता हुआ अनुपायके प्रहणद्वारा अन्ध-गोलाङ्गलन्यायसे अनर्थको न प्राप्त हो, इसलिये कृपा करके तत्त्वकी अभिव्यक्ति करनेवाली चार प्रकारकी प्रतिपत्तियोंमें विधि आदि अर्थको वतलानेवाले तत्त्वादि प्रत्ययद्वारा उपादेयता भी वतलाते हैं, यथा ‘आत्मा वा अरे इत्यादि योगतत्त्वो निदिध्यासितव्यः’ इत्यादि । यहाँ प्रथम प्रतिपत्ति (निश्चय) श्रवणरूप है। सम्पूर्ण उपनिषद्वावर्योंका अद्वितीय व्रद्धमें तात्पर्यनिर्णयानुकूल न्यायविचारात्मक, तत्त्वविषयक शास्त्रव्योधरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम श्रवण है। दूसरी प्रतिपत्ति मनन है, आगमके अविशद्दत्तर्कणारूप अथवा तत्त्वकी अनुमितिरूप अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषका नाम मनन है। तीसरी प्रतिपत्ति निदिध्यासन है, विजातीय प्रत्ययसे अनन्तरित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहका नाम निदिध्यासन है। श्रवणमननजनित सस्कारसहित अन्तःकरण निदिध्यासन करनेमें समर्थ होता है। और चौथी प्रतिपत्ति असङ्ग प्रत्यगभिन्न व्रहस्पदपका साक्षात्काररूप है। अनादि अविद्याकी निवृत्तिसे उपलब्धित निरर्तिशय अद्यानन्दत्वस्पव्यस्तित चितिशक्तिरूप रैयत्व, त्वर-साक्षात्कारका फल है। इस तुरीयसाक्षात्काररूप प्रतिपत्ति-

का अन्तरङ्ग साधन प्रत्ययैकतानतारूप निदिध्यासन नामक तृतीय प्रतिपत्ति है।

ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ।

(मुण्डकश्रुति ३।१।८)

वृद्ध योगी लोग इस निदिध्यासनका ही दूसरा नाम प्रत्ययैकतानतारूप ध्यान कहते हैं। अतएव भाष्यकार शङ्करभगवान् ने निदिध्यासितव्यका अर्थ ‘ध्यातव्य’ किया है। इस निदिध्यासनरूप ध्यानकी परिपक अवस्था ही समाधि है।

ध्यानद्वादशकेनैव

समाधिरभिधीयते ।

(स्कन्द०)

ध्यानादस्पन्दनं तुद्धेः समाधिरभिधीयते ।

यह विश्वरूपचार्यका बचन है। अतएव ‘समाध्य-भावाच्च’ (२।३।३९)। इस ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें ‘समाधि’ शब्दके विवरणमें ‘निदिध्यासितव्यः’, ‘ओमित्येवं ध्यायथ’ इत्यादि ध्यानप्रतिपादक वाक्योंका उदाहरण शङ्करभाष्यमें दिया है। अतएव योगसूत्रकारने भी ‘तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्’ (३।२) इस प्रकार ध्यानका निर्वचन करके

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।

(३।३)

इस योगसूत्रमें ध्यानका ही समाधिरूपसे निर्वचन किया है। समाधिको ही महर्षिलोग ‘योग’ कहते हैं—

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।

सयोगो योग हनुम्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः ॥

(याश्वलक्ष्य०)

अतएव—

यत्समत्वं द्वयोरन्त्र जीवात्मपरमात्मनोः ।

स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥

परमात्मात्मनोर्यादियमिवभागः परंतप ।

स एव तु परो योगः समाप्तात्कथितन्त्र ॥

—इत्यादि स्कन्दपुराणके वाक्योंमें समाधि और योगका

एक ही लक्षण कहा है।

बहुत क्या कहें, यह निदिध्यासन ही क्षण-घड़ी-घण्टा-प्रहर-दिन-रात्रि-अर्द्धमास-मास-ऋतु-अयन-वर्ष आदि काल-क्रमके अस्याससे परिपक्ष होकर प्रसख्यान, सम्प्रज्ञात, धर्ममेघ, ऋष्टम्भरा प्रज्ञा, गुणवैतुण्य, परवैराग्य, ज्ञानप्रसाद, ध्रुवा स्मृति, प्रसख्यान-पराकाष्ठा, असम्प्रज्ञात, निर्धिकल्प समाधि, सर्वग्रन्थविप्रमोक्ष, प्रतिप्रसवजीवन्मुक्ति आदि शब्दोंसे कहा जाता है। यह वार्ता विद्वान् योगियोंसे छिपी नहीं है। यहाँपर यह वार्ता जानने योग्य है कि प्रसख्यान, धर्ममेघ, सम्प्रज्ञातादि अवस्थापन्न ध्यान विज्ञानकी उत्पत्तिद्वारा मोक्षका हेतु है। और ज्ञानप्रसाद, परवैराग्य, ध्रुवा स्मृत्यादि अवस्थापन्न ध्यानयोग साक्षात् मोक्षका हेतु है। और असम्प्रज्ञात समाधि तो मोक्षके समान ही है।

इसलिये—

स्वरूपप्रतिष्ठा तटानीं चितिशक्तिर्था कैवल्ये ।

—इस सूत्रसे पतञ्जलिभगवान्-ने असम्प्रज्ञात समाधिको कैवल्यके सदृश कहा है। इसी अवस्थाको विसिष्टजी परा-(दा)-र्थाविनी और तुर्यगा कहते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त विद्वान् ही ब्रह्मविद्वरिष्ठ जीवन्मुक्त कहा जाता है।

शङ्का—प्रत्ययभिन्न ब्रह्मप्रमाणकी उत्पत्तिके लिये जिज्ञासु-को प्रमाकरण और करणव्यापाररूप इतिकर्तव्यता, इन दोनोंकी ही अपेक्षा है। इसमे करण ‘त त्वौपनिषद् पुरुष पृच्छामि’ इत्यादि श्रुतियोंसे ‘तत्त्वमसि’ आदि महावाक्य-का श्रवण है, और इतिकर्तव्यता अप्रामाण्य शङ्काको दूर करनेवाला मननरूप तर्क है, एव श्रवण-मननसे ही इष्ट स्वरूपसाक्षात्कारकी सिद्धि बन सकती है, अतः अत्यन्त क्लेशसाध्य निदिध्यासनरूप समाधियोगकी कोई अपेक्षा नहीं है। इसी कारणसे ‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ (२ । १ । ३) इस ब्रह्मसूत्रसे व्यासभगवान्-ने योगका खण्डन किया है। और—

एतेन सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यानेन, योगस्मृतिरिपि प्रत्याख्याता द्रष्टव्या ।

—यह गाङ्करभाष्य है। ‘विचारस्यासम्बवे योग ईरितः’—यह विद्यारण्यस्वामीका उपदेश है।

समाधान—स्वरूपप्रमाणकी उत्पत्तिके लिये प्रमाण और इतिकर्तव्यताके सिवा अन्य साधनोंका अनुष्ठान करना चाहिये, यह हम नहीं कहते। किन्तु अत्यन्त निविड़ अनादि भ्रम-

अनेक जाखावाली है। स्वरूपभिव्यक्तिका प्रथम प्रतिवन्धक भोगोंकी वासना है, जो निरन्तर अविकी तरह जलाती है, वृश्चिकादिकी तरह डॉसती है, भालेकी तरह छेदन करती है, रात्रिकी तरह अन्धा वनाती है, रस्सीके सदृश वॉधती है, तलवारकी तरह काटती है। दूसरा प्रतिवन्धक ‘उपनिषद् अद्वितीय ब्रह्ममें प्रमाण हैं कि नहीं’ इत्याकारक सशयरूप है, अथवा ‘उपनिषदोंसे अद्वितीय असङ्ग ब्रह्मका बोध सम्भव नहीं है’—यह प्रमाणगत असम्भावना है। तीसरा प्रतिवन्धक ‘आत्मा देहादिसे अतिरिक्त है या नहीं और अतिरिक्त होनेपर भी कर्ता है या अकर्ता, अकर्ता होनेपर भी चेतन है या जड़ है, और चेतन होनेपर भी आनन्द-स्वरूप है या आनन्द गुणवाला है, आनन्दस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मसे आत्मा भिन्न है या अभिन्न है’ इत्यादि विविध सग्यरूप है। अथवा अवाधित ब्रह्ममें भी वाधितत्व-कल्पनारूप प्रमेयगत असम्भावना है। और चतुर्थ प्रतिवन्धक ब्रह्मके प्रत्यक्ष हो जानेपर भी ब्रह्मसाक्षात्काररूप प्रमाणमें असाक्षात्कारत्वकी कल्पनारूप विपरीत भावना है। यहाँ जो प्रथम विषयभोगोंकी वासना है सो उपनिषद्-श्रवणके अङ्ग यम-नियम-विवेक-वैराग्यादिसे नष्ट होती है। प्रमाणगत असम्भावना श्रवणसे नष्ट होती है, और प्रमेयगत सन्देह अथवा असम्भावना मननसे नष्ट होती है। इसके लिये यद्यपि निदिध्यासनकी परिपक्ष अवस्थारूप समाधियोगकी अपेक्षा नहीं है, तथापि ‘वेदान्त यद्यपि ब्रह्मको बोधन करते हैं, ब्रह्म किसी मानसे वाधित भी नहीं है, तो भी ब्रह्म मुक्षको प्रत्यक्ष नहीं है, परोक्ष ही है’ इत्यादि भ्रान्ति और भ्रान्तिस्त्वारपरम्परारूप विपरीत भावनाकी अनुवृत्ति जबतक मौजूद है, तबतक विद्या प्रतिवन्धरहित अपने फलको नहीं दे सकती। अतः पूर्वोक्त भ्रान्तिनिरासपूर्वक ‘उपनिषदोंसे बोधित एव सर्वमानोंसे अवाधित सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही मैं हूँ, प्रत्यगभिन्न असङ्ग अद्वितीय स्वयंप्रकाश सच्चिदानन्द ब्रह्म मुक्षको सदा अपरोक्ष है’—इस प्रकार स्वानुभवपर्यन्त ब्रह्मसाक्षात्कारके लिये निदिध्यासनकी परिपक्ष अवस्थारूप योगकी शरण अवश्य स्वीकार करनी पड़ती है। ‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ इस सूत्रसे व्यासभगवान्-ने योगका खण्डन नहीं किया है, किन्तु प्रधानादि जगत्में त्रिकालावाध्यत्वरूप सत्यत्व, प्रधान स्वातन्त्र्य, जीवोंका परस्पर भेद, जीव-ईशका भेद आदि जो वेदके विशद्ध हैं, उनका केवल खण्डन किया है। क्योंकि व्यासभगवान्—

‘आवृत्तिरसकृदुपदेशात्’ ‘ध्यानाच्च’ ‘आ प्रायणात्तत्रापि हि इष्टम्।’ (४।१।१, ८, १२)

—इत्यादि ब्रह्मसूत्रोंसे प्रसरणानरूप अथवा निदिध्यासन-की परिपक्ष अवस्थालूप योगको प्रत्यगमित्र ब्रह्मसाक्षात्कार-द्वारा कैवल्यका हेतु स्वय स्वीकार किया है।

इसके अतिरिक्त अनेक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सभी योगकी कल्याणहेतुताको मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं, विस्तारभयसे यहाँ प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

ऋषि-मुनि-विद्वान् महात्माओंका अनुभव भी इसमे प्रमाण है। कामातुरके व्यवहित कामिनीसाक्षात्कारमें प्रसंख्यानकी कारणता प्रसिद्ध ही है। अतः योगके विषयमें साक्षात्कारकारणताकी कल्पना नवीन नहीं है। अतएव भामतीकार कहते हैं—

सा हि सत्कारदीर्घकालनैरन्तर्यसेविता सती इष्ट-भूमिविशेषसाक्षात्काराय प्रभवति कामिनीभाववेव स्त्रैणस्य पुंसः इति ।

प्रश्न—योगकी प्रमाकरणोंमें परिगणना न होनेसे योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार कामिनीसाक्षात्कारकी तरह प्रमा नहीं होगा।

उत्तर—जहाँ प्रमाणजन्यत्वाभाव हो, वहाँ प्रमात्व-का अभाव हो यह नियम नहीं है। क्योंकि जहाँ वाष्पको धूम समअकर पर्वतमें बहिकी अनुमितिके अनन्तर बहिका अर्थी पर्वतमें जाय और वहाँ बस्तुतः वहि विद्यमान हो तो वहाँ अनुमिति प्रमा है। यह प्रसङ्ग ‘पाणौ पञ्चवराटकान् पिष्वाय’ इत्यादि खाद्यखण्डनमें स्पष्ट है। बस्तुतः, जैसे घटसाक्षात्कारमें नेत्रका द्वार नेत्रका सनिकर्ष है, वैसे ही ब्रह्मसाक्षात्कारमें उपोनिषदोंका द्वार योग है, अतः योगकी प्रमाकरणोंमें गणना न होनेपर भी योगजन्य ब्रह्मसाक्षात्कार प्रमाणमूलक होनेसे उसमें अप्रमात्वकी शङ्का नहीं चनती। ‘ब्रह्मसाक्षात्कारका शब्द करण नहीं है, किन्तु शमदमादिसे सख्त मन ही करण है’—याचस्पतिके इस मतमें भी योगको द्वार माना है। अतएव ‘कथ तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते’—इस प्रकार आकाङ्क्षाको उठाकर ‘समाधिविशेषाभ्यासात्’ इत्यादि न्यायसूत्रसे गौतम मर्दपिने भी योगको तत्त्वज्ञानका हेतु वर्णन किया है। यह समाधिलूप योग चित्तका धर्म है, आत्माका धर्म नहीं है; क्योंकि ‘केवलो निर्गुणश्च’ इत्यादि श्रुतियोंसे

आत्मा निर्गुण है। ‘स च सार्वभौमाश्रित्तस्य धर्मः’—यह प्रथम योगसूत्रके भाष्यका वचन है। अर्थात् चित्तकी पॉच भूमियों हैं—भिस, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। रजोगुण अर्थात् शब्दादि विषयोंमें और रागद्वेषादिमें हर समयमें व्यग्र—अत्यन्त चञ्चल चित्तका नाम श्वित है, जैसे दैत्य-दानवोंका चित्त अथवा वन्दरका चित्त। तमोगुणके समुद्रेकसे निद्रादि वृत्तिवाले तमःप्रधान चित्तका नाम मूढ़ है, जैसे भैंसका चित्त अथवा अजगरका चित्त। जिस चित्तमें चञ्चलता बहुत हो और कदाचित् थोड़ी शान्ति भी हो वह चित्त विक्षिप्त कहा जाता है, जैसे देवताओंका चित्त अथवा जिज्ञासुओंका चित्त। किसी एक विषयमें तैलघाराकी तरह प्रवाहरूपसे बहनशील चित्तका नाम एकाग्र है। ऐसा चित्त सम्प्रज्ञात (सविकल्प) समाधिवाले योगीका होता है। जिस चित्तकी सम्पूर्ण वृत्तियोंका निरोध हो गया हो अर्थात् सम्पूर्ण संकल्पविकल्पोंसे रहित संस्कारमात्रग्रेष चित्तका नाम निरुद्ध है। ऐसा चित्त असम्प्रज्ञात (निर्विकल्प) समाधिवाले योगीका होता है।

प्रश्न—पतञ्जलि भगवानने ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’—इस सूत्रसे चित्तवृत्तिके निरोधको योगका लक्षण कहा है, परन्तु यह लक्षण ठीक नहीं है। क्योंकि शिस-मूढ़-विक्षिप्त भूमियोंमें भी सात्त्विक वृत्तिका निरोध विद्यमान है, इन भूमियोंमें होनेवाले निरोधको योग नहीं कह सकते, अन्यथा वन्दर, भैंस आदि सम्पूर्ण जीव योगी हो जायेंगे। दुनियामें ऐसा कोई भी चित्त नहीं है, जिसकी वृत्तिका निरोध न हो। यदि सर्ववृत्तियोंका निरोध योगका लक्षण है, तब सम्प्रज्ञात समाधियमें यह लक्षण नहीं जावेगा।

उत्तर—

क्षेत्रकर्मादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योगः ।

—इस लक्षणके स्वीकार होनेसे अतिव्यासि-व्यासि दूषण नहीं रह सकता। क्योंकि शिस-मूढ़-विक्षिप्त भूमियोंके निरोधमें क्षेत्रादिविरोधित्व नहीं है, और सर्व शब्दके अग्रहणसे सम्प्रज्ञातमें अव्याप्ति भी नहीं है। सम्प्रज्ञातमें राजस-तामस वृत्तियोंका निरोध होनेसे क्षेत्रादि-परिपन्थित्व विद्यमान है। प्रकृति और प्रकृतिके विकारोंमें जो समाधि है उनके फल अनेक प्रकारकी विभूतियों हैं। इन विभूतियोंका निष्पत्ति विभूतिपादमें वडे विनारने किया गया है। ये सद समाधिव जडसमाधि हैं, ‘भवप्रत्ययो विदेह-

प्रकृतिलयानाम्' इस सूत्रमे यही जड समाधि कही है। इसी जड समाधिका नाम भवप्रत्यय है। तत्त्वजिजासुको यह जड समाधि कर्तव्य नहीं है।

प्रकृति-विकृतिरहित अद्वितीय सर्वान्तर्यामी स्वय-प्रकाश चैतन्य ज्योतिःस्वरूप शुद्ध असङ्ग प्रत्यगभिन्न ब्रह्म-विषयक समाधि चैतन्य समाधि कही जाती है, यह समाधि ही जिजासुको कर्तव्य है। इस चैतन्य समाधिवाले योगीके भी यदि विषयवासना शेष रह गयी हो तो प्रत्यक् चेतनका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु वासनाके अनुसार उत्तम लोकोंकी ही प्राप्ति होती है। जबतक अणुमात्र भी विषयवासना रहेगी तबतक आवरणभग नहीं होगा। अतएव श्रीगौडपादाचार्यजी कहते हैं—

अणुमात्रैऽपि वैधर्म्ये जायमाने विपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥
(प्र० ४ । ९७)

इस चैतन्य समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है, यह समाधि द्वैतदृष्टिवाले योगियोंको दुर्दर्श है—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो विभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥
(प्र० ३ । ३९)

यह गौडपाद स्वामीका वचन है।

समाधि

समाधियोगका स्पष्टरूपसे वर्णन इस प्रकार है—

च्युत्थान-स्स्कारोंका तिरस्कार और निरोध-स्स्कारोंके प्रकट होनेपर अन्तःकरणका एकाग्रतारूप परिणाम समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है, एक सविकल्प और दूसरी निर्विकल्प। ज्ञाता-ज्ञान-चेयरूप त्रिपुटीभानसहित अद्वितीय ब्रह्मविषयक अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति सविकल्प समाधि है। यह सविकल्प समाधि दो प्रकारकी है। एक शब्दानुविद्ध, दूसरी शब्दानुविद्ध है। ‘अह ब्रह्मासि’—इस शब्दभानके सहित होनेसे समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है। और शब्द-भानसे रहित शब्दानुविद्ध कही जाती है। और त्रिपुटीभानरहित अखण्ड ब्रह्माकार अन्तःकरणकी वृत्तिकी स्थिति निर्विकल्प समाधि है। इस प्रकारसे समाधिके दो भेद हैं। इनमें सविकल्प समाधि साधन है एव निर्विकल्प फल है। जो सविकल्प समाधि है, उसमें यद्यपि त्रिपुटीरूप द्वैत प्रतीत होता है, तथापि वह द्वैत

ब्रह्मरूपसे ही प्रतीत होता है। जैसे मृत्तिकाके विकार घटादि विवेकीको प्रतीत भी होते हैं तो भी मृत्तिकारूपसे ही प्रतीत होते हैं, वैसे ही सविकल्प समाधिमें विवेकीको त्रिपुटीद्वैत ब्रह्मरूप ही प्रतीत होता है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें भी सविकल्प समाधिकी तरह त्रिपुटीद्वैत विश्वमान है, तथापि त्रिपुटीद्वैतकी प्रतीति नहीं होती। जैसे जलमें लवण डालें तो वहाँ लवण मौजूद है, परन्तु नेत्रेसे लवणकी प्रतीति नहीं होती। अतः सविकल्प-निर्विकल्प समाधिका यह भेद सिद्ध हुआ कि सविकल्प समाधिमें ब्रह्मरूप करके द्वैत प्रतीत होता है और निर्विकल्प समाधिमें द्वैतकी प्रतीति नहीं होती।

सुषुप्ति और निर्विकल्प समाधिका भेद

सुषुप्तिमें ब्रह्माकार वृत्ति नहीं होती और निर्विकल्प समाधिमें अन्तःकरणकी ब्रह्माकार वृत्ति तो रहती है, परन्तु वृत्तिका भान नहीं रहता। सुषुप्ति होनेपर वैठा हुआ शरीर गिर पड़ता है, समाधिमें नहीं गिरता। इससे मालूम होता है कि समाधिमें अन्तःकरणकी वृत्ति रहती है। समाधिसे उठनेपर ब्रह्माकार वृत्तिकी प्रतीति होती है, इससे भी निर्विकल्प समाधिमें वृत्तिकी अनुवृत्ति अवश्य रहती है। यद्यपि निर्विकल्प समाधिमें प्रयत्न नहीं है, तथापि प्रथमके प्रवल प्रयत्नसे निर्विकल्प समाधिमें ब्रह्माकारवृत्तिका प्रवाह अवश्य रहता है। इसके अतिरिक्त सुषुप्तिमें अन्तःकरण-का लय अज्ञानमें होता है और निर्विकल्प समाधिमें जल-प्रक्षिप्त लवणकी तरह चेतनमें अन्तःकरणका लय होता है। सुषुप्तिमें आवरण रहता है, आत्मविषयक निर्विकल्प समाधिमें आवरण नहीं रहता। सुषुप्तिमें आवृत आनन्दका अनुभव होता है, निर्विकल्प समाधिमें निरावरण आनन्द-स्वरूपका अनुभव है। यम-नियमादि प्रयत्नके विना चित्तका लय निद्रा है, यम-नियमादि-प्रयत्नपूर्वक चित्तका लय समाधि है—

निर्गृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विशेषः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥
लीयते हि सुषुप्तौ तन्निर्गृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥
(गौडपाद प्र० ३ । ३५)

निर्विकल्प समाधिके दो प्रकार

एक अद्वैतभावनारूप निर्विकल्प समाधि होती है, दूसरी अद्वैत अवस्थानरूप होती है। जो अद्वैत

ब्रह्माकार अन्तःकरणकी अज्ञात वृत्तिसहित हो वह अद्वैत-भावनारूप निर्विकल्प समाधि है। इसके अधिक अभ्याससे जब अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञान्त हो जाती है तब वृत्तिरहित अद्वैत-अवस्थानरूप निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है। जैसे तस लोहेपर जलकी बूँद गिरी हुई तस लोहेमें प्रवेश करती है, तद्वत् अद्वैतभावनारूप समाधिके द्वारा अभ्याससे अत्यन्त प्रकाशमान ब्रह्ममें वृत्तिका लय होता है।

यहाँ यह रहस्य है कि यद्यपि अद्वैत-अवस्थानरूप समाधिमें रज-तमका तिरोधान हो चुका है, तथापि शुद्ध सत्त्वगुण विद्यमान है एवं चशुद्ध सत्त्वगुणरूप उपादानमें ही वृत्तिके लयका सम्बन्ध है, निर्विकार ब्रह्मप्रकाशमें नहीं। तस लोहेपर जलविन्दुका दृष्टान्त जो कहा है, वहाँ भी चिन्हारदृष्टिसे पर्याप्त लोहेमें जलविन्दुका लय नहीं होता किन्तु जलका उपादान जो अग्नि है उसीमें जलविन्दुका लय होता है, तस लोहेमें उपचारमात्र है। तथापि ब्रह्मप्रकाशके भानरूप निमित्तसे वृत्तिका लय हुआ है, अतः उपचारसे ब्रह्म-प्रकाशमें लय कहा है। अथवा उस समाधिनिष्ठ ब्रह्म-विद्वारिष्ठकी दृष्टिसे गुणादिक है ही नहीं, शुद्ध ब्रह्म ही है, ब्रह्मका विवर्त ही निखिल विश्व है। अतः प्रकाशरूप ब्रह्ममें वृत्तिका लय कहा है।

चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगके आठ उपाय भगवान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें वर्तलाये हैं—

(१) 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'। अभ्यास तथा वैराग्यसे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। 'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णते'—इस वचनसे श्रीभगवान्ने भी चित्तनिरोधके उपाय अभ्यास-वैराग्य ही कहे हैं।

(२) 'ईश्वरप्रणिधानाद्वा'। अथवा प्रणवजप और प्रणवके अर्थचिन्तनसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(३) 'प्रच्छर्दनघिघारणाभ्यां वा प्राणस्य'। प्राणायामसे भी चित्तवृत्तिका निरोध होता है।

(४) नासिकाके अग्रभागमें संयम करनेसे दिव्य गन्धका प्रत्यक्ष होता है। 'त्रयमेकत्र संयमः'। किसी एक अभिमत लक्ष्यमें धारणा-व्यान-समाधिका नाम संयम है। जिहाश्रमें संयमके परिपाकसे दिव्य रसका, तालुमें संयमसे दिव्य रूपका, जिहाके मध्यमें संयमसे दिव्य स्पर्शका, एवं जिहाके मूलमें संयमसे दिव्य शब्दका साधात्कार होता

२०

है। इन गन्धादि प्रत्यक्षोंका नाम विषयवती प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति चित्तनिरोधद्वारा समाधिमें उपयोगी होती है।

(५) हृदयकमलमें संयम करनेसे चित्तका प्रत्यक्ष होता है। असितामें संयम करनेसे असिताका प्रत्यक्ष होता है, इस प्रत्यक्षसे भी योगीका चित्त निरुद्ध होता है।

(६) वीतराग पुरुषके चित्तके अनुकूल चलनेसे, अथवा वीतराग पुरुषोंके अन्तरङ्ग होनेसे भी चित्तका निरोध होता है।

(७) स्वप्नमें देखी हुई भगवान् महेश्वरकी मूर्तिमें संयम करनेसे भी चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगकी सिद्धि होती है।

(८) 'यथाभिमतध्यानाद्वा'। अथवा जो देवतादि-विग्रह अपनेको इष्ट हो उसीका ध्यान करे, उससे भी चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है। ये सक्षेपसे आठ उपाय योगके हैं।

मैत्रीकरणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।

(यो० स० १। ३३)

इस सूत्रमें कहे हुए मैत्री, करणा, मुदिता, उपेक्षारूप चतुर्विध भावनाओंका इन आठ उपायोंमेंसे प्रत्येकके साथ समुच्चय है। इनका विस्तार योगदर्गनके समाधिपादमें है, यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखते।

निर्विकल्प समाधिके (१) लय, (२) विक्षेप, (३) कपाय, (४) रसास्वाद—ये चार विश्व हैं। आलस्य और निद्रासे वृत्तिके अभावको लय कहते हैं। उस लयसे सुयुतिके समान अवस्था हो जाती है, ब्रह्मानन्दका भान नहीं होता है। अतः निद्रा-आलस्यादिक निमित्तसे जब वृत्तिका लय होता दीखे तब योगी सावधान हो, निद्रादिकोको रोककर वृत्तिको जगावे, और योगीमें जल और कपूर लगावे। इस वृत्तिके जागरणरूप प्रवाहके अनुकूल प्रयत्नको गौडपादाचार्य 'चित्तसम्बोधन' कहते हैं। 'ल्यात् सम्बोधयैचित्तम्'—यह गौडपादका वचन है।

जैसे वाज आदिके डरसे पक्षी धरमें प्रविष्ट होता है, और भयसे व्याकुल होनेके कारण धर्मके भीतर अपने वैठनेका स्थान न देखकर पुन तुरन्त वाहर आकर देदको प्राप्त होता है, वैसे ही अनात्मपदार्थोंको दुःखका हेतु जानकर

अद्वैतानन्दको विषय करनेके लिये अन्तर्मुख हुई वृत्तिको कुछ काल स्थितिके बिना चैतन्यस्वरूप आनन्दका लाभ नहीं होता, क्योंकि वृत्तिका विषय चेतन अति सूक्ष्म है। अतः वृत्ति वहिर्मुख होकर पुनः अनात्मपदार्थोंमें लग जाती है। इस रीतिसे वाहिर्मुख वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। अतः वृत्तिके अन्तर्मुख होनेपर जवतक वृत्ति ब्रह्माकार न होवे तबतक वाह्य पदार्थोंमें दोभावना ही करे, वृत्तिको वहिर्मुख न होने दे, किन्तु अन्तर्मुखता ही स्थापन करे। विक्षेपरूप विघ्नका विरोधी जो योगीका प्रयत्न है उसे गौडपादजीने 'अम' कहा है। 'विक्षित अमयेत् पुनः'—यह गौडपादजीका वचन है।

रागादिक दोषोंको 'कपाय' कहते हैं। रागादि दो प्रकारके हैं—एक वाह्य, दूसरे आन्तर। पुत्र-धनादिके प्रति वर्तमानविषयक राग-द्वेषप्रोटोडादिक वाह्य है, भूत और भावीका चिन्तनरूप मनोराज्य आन्तर है। रागादिक दोष-सहित अन्तःकरण क्षित है, इस क्षित अन्तःकरणका योगमें अधिकार ही नहीं है। अतः रागादिक दोषरूप कपाय समाधिके विघ्न हैं, यह कहना नहीं बन सकता। तथापि इसका समाधान यह है कि वाह्य अथवा आन्तर जो रागादिक है वे क्षित अन्तःकरणमें ही होते हैं, क्षित अन्तःकरणका योगमें अधिकार है नहीं, तो भी जन्म-जन्मान्तरमें पूर्व अनुभव किये जो राग-द्वेष हैं उनके सूक्ष्म संस्कार विक्षित अन्तःकरणमें भी बन सकते हैं। स्थूल राग-द्वेषादिकोंका नाम कपाय नहीं है, सूक्ष्म राग-द्वेषादिकोंके संस्कार ही 'कपाय' कहे जाते हैं। सूक्ष्म संस्कार अन्तःकरणमें रहते ही हैं। परन्तु राग-द्वेषादिकोंके उद्भुद संस्कार समाधिके विरोधी हैं, अनुद्भूत (अप्रकट) विरोधी नहीं है। योगीके अन्दर जब राग-द्वेषादिक संस्कार प्रकट हों तब यह उन्हें विषयोंमें दोषटापिते दवा दे। वाह्यविषयाकार वृत्तिको विक्षेप कहते हैं। योगीके प्रयत्नसे जब वृत्ति अन्तर्मुख हो तब जिन राग-द्वेषादिकोंके उद्भूत संस्कारोंसे अन्तर्मुख हुई भी वृत्ति रुक जाय, ब्रह्माकार न हो सके, उन राग-द्वेषादिके उद्भूत संस्कारोंका नाम 'कपाय' है।

रसास्वादका यह अर्थ है—योगीकी वृत्ति जब लय, विक्षेप और कपायके न होनेसे अन्तर्मुख हो तब ब्रह्म-साक्षात्कारके पहले विक्षेपकी निवृत्तिसे आनन्दभास होता है। जैसे भारवाही पुरुषको भार उत्तर जानेसे आनन्द होता है। वहाँ आनन्दमें और तो कोई विषय हेतु नहीं है, पर-

भारजन्य दुःखकी निवृत्ति होनेसे भारवाही यह कहता है कि मुझे आनन्द हुआ है। इससे दुःखकी निवृत्ति ही आनन्दका हेतु है। वैसे योगीको समाधिमें विक्षेपकी निवृत्ति होनेसे जो आनन्द होता है उस अनुभवका नाम रसास्वाद है।

विक्षेपरूप दुःखकी निवृत्तिसे होनेवाले आनन्दके अनुभवसे ही यदि योगी तृप्त हो जावे, तो सर्व उपाधिरहित अद्वितीय ब्रह्मानन्दाकार वृत्तिके नहीं होनेसे प्रत्यगभिन्न—निरुपाविक ब्रह्मानन्दका अनुभव योगीको नहीं होगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद भी समाधिमें विघ्न है।

इष्टकी प्राप्ति न होनेपर भी विरोधीकी निवृत्तिसे आनन्दकी प्राप्ति अन्य स्थलमें भी देखी गयी है। जैसे किसी पुरुषके घरमें निधि गड़ी हुई है, उसके ऊपर पृथ्वीमें बड़ा भारी काला नाग रहता है, वहाँ उस काले नागको मार देनेसे भी आनन्द होता है। यदि वह पुरुष काले नागके मरनेसे होनेवाले आनन्दमें ही अल्वुद्धि कर ले और निविं-प्राप्तिके लिये खोदनेमें प्रयत्न न करे तो निधिकी प्राप्ति नहीं होगी। वैसे ही अद्वैत ब्रह्मरूप निधि अब्रान्तसे ढकी हुई है, देह-गेहादिक अनात्मपदार्थोंकी प्रतीतिरूप (विक्षेप) नागके मरनेसे पैदा होनेवाले आनन्दमें अल्वुद्धि कर ले और अद्वितीय ब्रह्मके साक्षात्कारके लिये प्रयत्न न करे तो आवरणके भङ्ग न होनेसे योगी पुरुषार्थसे अष्ट हो जायगा। अतः विक्षेपनिवृत्तिजन्य आनन्दका अनुभवरूप रसास्वाद ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिमें विघ्न है।

अथवा सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दका नाम रसास्वाद है। यदि योगी सविकल्प समाधिसे होनेवाले आनन्दमें ही अल्वुद्धि कर ले तो निर्विकल्प समाधिके आनन्दसे विद्वित हो जावेगा। अतः निर्विकल्प समाधिका विघ्न सविकल्प समाधिजन्य आनन्दका अनुभव रसास्वाद है। अतः इस रसास्वादमें ही योगी अपनेको कृतकृत्य न माने, किन्तु असङ्ग होकर परवैराग्यके अभ्याससे निर्विकल्प समाधिके लिये ही प्रयत्न करे।

अतएव गौडपाद स्वामीजी कहते हैं—

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।

निश्चलं निश्चरचित्तमेककुर्यात्प्रयत्नतः ॥

(प्र० ३। ४५)

अर्थात् लय-विक्षेपरहित एकाग्र चित्तमें निर्विकल्प समाधिके पहले जो आनन्दाभासरूप सुख उत्पन्न होता है उसके स्वादमें मग्न न हो जावे, किन्तु उसको अज्ञान-विज्ञानमिति-मिथ्या समझकर निःस्वृह होवे, विवेकपूर्वक असङ्ग आत्माकी ही भावना करे । सर्व दोषोकी निवृत्ति होनेपर विद्वान्को जो निर्विकल्पक ब्रह्मविषयक समाधि होती है उसका स्वरूप भी श्रीस्वामी गौडपादजीने लिखा है—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृद्योतिः समाधिरच्छ्लोऽभयः ॥

(प्र० ३ । ३७)

‘सर्व वाह्य शब्दादि व्यवहारसे रहित, सर्व सूक्ष्म प्रपञ्चरूप चिन्तासे रहित, सम्पूर्ण अविद्यादि छेषोंसे रहित, सदा स्वयंप्रकाशमान, द्योतिःस्वरूप, अचल, भयादि द्वैत-रहित स्वस्वरूपका नाम ही समाधि है ।’ सम्पूर्ण प्रत्ययोंसे और सब प्रकारके सम्बन्धोंसे रहित होनेके कारण इस समाधिका नाम ही अस्पर्शयोग है ।

प्रश्न-अनादि-अनन्त कालसे सञ्चित अनात्मविषयक प्रत्ययोंके अनन्त होनेसे इनका अल्पकालके अल्पसख्यक आत्मविषयक प्रत्ययोंसे निरोध नहीं बन सकता ।

उत्तर-आत्मविषयक अभ्यासजन्य प्रत्ययोंके अल्प-सख्यक होनेपर भी इनका विषय आत्मा सत्य है, अतः इनसे मिथ्याविषयक अनात्मगोचर प्रत्ययोंका निरोध हो जाता है—‘भूतार्थ (सत्य)पक्षपातो हि घियां स्वभावः ।’

तावदेवेयमनवस्थिता आम्यति न यावद् तत्त्वं प्रतिलभते ।

—यह वाचस्पतिका बचन है ।

निरपद्वभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः ।
न यादोऽनादिभूतेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः ॥

यह बुधका बचन है । ‘ततः संस्कारोऽन्यसंस्कार-प्रतिमन्धी’ (१ । ५०) यह पतञ्जलिका सूत्र है । इसी योगसूत्रमें ‘ख्यातिपर्यवसानं हि चित्तचेष्टितम्’—यह व्यास-भाष्यका बचन है । लाखों भेदोंको मारनेके लिये एक ही शेर समर्थ हो सकता है । अतः बहुत सख्यावालोंसे अल्प संखयावालोंका बाघ होता है, यह नियम नहीं है ।

यहाँपर यह कम है—प्रथम गुरु और शास्त्रके द्वारा भवण किये दुए नमस्तरूपका स्वरण करे और पुनः-पुनः

आवृत्ति करता हुआ विजातीय वृत्तिके तिरस्कारपूर्वक सजातीय वृत्तिके प्रवाहको द्वावे, जब चित्त तैलधाराकी तरह लक्ष्यमें एकाग्र हो जाता है तब अनात्मवृत्तियोंका निरोध हो जाता है और एकाग्रताकी परिपक्वस्थारूप समाधि (निविचार) योगका लाभ होता है । इस समाधियोगके परिपक्व होनेपर वैशारद (रजस्तमसे अनभिभूत स्वच्छ सत्त्वके स्थितप्रवाह) का लाभ होता है । इसके अनन्तर अध्यात्मप्रसाद (यथार्थवस्तुविषयक युगपत् स्फुट प्रजाका आलोक) होता है । इस अवस्थाका वर्णन करते हुए योगभाष्यमें कहा है—

प्रज्ञाप्रसादमारुद्ध अशोच्यः शोचतो जनान् ।

भूमिष्ठानिव शैलस्थः सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति ॥

इस अध्यात्मप्रसादकी परिपक्व अवस्थाके लाभ होनेपर ऋतम्भरा प्रज्ञाका लाभ होता है । यह प्रज्ञा अन्वर्थ है, केवल सत्यको ही विषय करनेवाली है—चिपर्यासका इसमें गन्ध भी नहीं रहता । इस अवस्थाका वर्णन करते हुए व्यासलीने योगभाष्यमें कहा है—

आगमेनानुमानेन ध्यानाम्यासरत्सेन च ।

त्रिधा प्रकृत्यन् प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥

अर्थात् श्रवण, मनन, ध्यानाम्यासमें पुनः-पुनः आदरसे उत्तम योग (ऋतम्भरा प्रज्ञा) की प्राप्ति होती है । यह प्रज्ञा अद्वितीयत्व-असङ्गत्यादि विशेषविषयक होनेसे श्रुत और अनुमानजन्य प्रज्ञासे अन्यविषयक है । इस तत्त्वसाक्षात्काररूप प्रज्ञाके लाभ होनेसे योगीके स्वतःसिद्ध प्रज्ञासे पुनः-पुनः नवीन-नवीन सस्कार पैदा होता है । ‘तज्ज्ञानसंस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिमन्धी’ (१ । ५०)—यह तत्त्वसाक्षात्कारजन्य सस्कार व्युत्थानसस्कार आशयका बाध करता है । व्युत्थानसस्कारोंके अभिमवसे अनात्म-सस्कारजन्य प्रत्ययरूप व्युत्थान नहीं होता; प्रत्ययनिरोधसे समाधि होती है, एव समाधिसे पुनः तत्त्वप्रज्ञा होती है और उससे प्रज्ञावृत्त सस्कार—इस प्रकार नवीन-नवीन सस्कार, आशय पैदा होता है, ततः प्रज्ञा, ततः सस्कारः ।

प्रश्न-यह संस्कारका अतिव्यय चित्तको साधिकार क्यों नहीं करता ?

उत्तर-ये सस्कार तत्त्वज्ञानसे पैदा हुए हैं, अतः चित्तको साधिकार अर्थात् भोगादि कार्य करनेमें समर्थ नहीं कर सकते । किन्तु ये विवेकख्यातिजन्य सस्कार द्वेशस्य-

के हेतु है, अतः चित्तको भोगरूप कार्य करनमें असमर्थ कर देते हैं। अतएव योगभाष्यमें कहा है—‘ख्यातिपर्यवसान हि चित्तचेष्टितम्’। परवैराग्यसे तत्त्वज्ञान और तत्त्वज्ञानजन्य स्तकारोंका भी निरोध हो जानेपर निर्वौज समाधि होती है, इसी समाधिका नाम अस्पर्गयोग है। ‘तस्यापि निरोधे मर्वनिरोधान्विर्विजः समाधिः’—इस सूत्रसे पतञ्जलि भगवान्नने अस्पर्गयोगका ही वर्णन किया है। परवैराग्यजन्य निरोधस्तकारोंके सहित चित्त निवृत्त हो जाता है, चित्तके निवृत्त होनेसे पुरुष स्वस्वरूपमें स्थित शुद्ध मुक्त कहा जाता है। ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’—इस योगसूत्रने इसी अवस्थाका वर्णन किया है। यह योगका स्वरूप कहा।

इस योगके सामान्यतः चार भेद हैं—१ मन्त्रयोग, २ लययोग, ३ हठयोग, ४ राजयोग। मन्त्रयोगका वर्णन सक्षेपसे योगचूडामण्युपनिषद्में किया है—

हकारेण वहिर्योति सकारेण विशेषतुनः ।
हृंसं हृंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
पट् शतानि दिवा रात्रौ सहस्राण्येकविंशति ।
एतत्सख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥
अजपा नाम गायत्री योगिना भोक्षदा सदा ।
अस्याः सङ्कल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥
(३१-३५)

योगतत्त्वोपनिषद्में मन्त्रयोगके विषयमें इस प्रकार कहा है—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशावदं तु यो जपेद् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥
(२१ । २२)

तुलसीदासजीने भी मन्त्रयोगकी महिमा बहुत गायी है—
नाम जीह जपि जागहि जोगी । विरति विरचि प्रपञ्च वियोगी ॥
साधक नाम जपहि लय लाये । होहि सिद्ध अनिमादिक पाये ॥

पतञ्जलि भगवान्नने भी मन्त्रयोगका वर्णन किया है—
‘तस्य चाचकं प्रणवं’, ‘तज्जपस्तदर्थभावनम्’।
(योग० १ । २७-२८)

मनु भगवान् कहते हैं—

योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥
(२ । ८२)
जप्येनैव तु संसिद्धपैद्रवाह्याणो नात्र संशयः ।
(२ । ८७)

‘जो पुरुष प्रतिदिन आलस्यादिरहित होकर प्रणवध्याहृतिके सहित गायत्रीमन्त्रका जप तीन वर्षपर्यन्त नियमसे करता है, सो वायुकी तरह स्वतन्त्र गतिवाला होता है, और परव्रक्षको प्राप्त होता है।’

‘पवित्र मन्त्रके जपसे ही ब्राह्मण सिद्ध होता है, इसमें मन्देह नहीं है।’

यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम् ।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते ॥
(सन्यासोपनिषद्)

हकारेण वहिर्योति सकारेण विशेषतुनः ।
हृसं हृंसेति मन्त्रोऽयं सर्वेऽर्जविश्वं जप्यते ॥
गुरुवाक्यात् सुपुम्नायां विपरीतो भवेजपः ।
सोऽहं सोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते ।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ॥
(योगशिखोपनिषद् १ । १३०-१३२)

मन्त्रयोगसे पश्चिमपथ (सुपुम्ना) का दर्शन होता है। सुपुम्नादर्शनसे चित्तस्थितिद्वारा तत्त्वसाक्षात्कार ही मन्त्रयोगका फल है, अर्थात् ‘सोऽहम्’ इत्यादि मन्त्रजप करते-करते जो चित्तवृत्तिका निरोध होता है उसका नाम मन्त्रयोग है। मानस जप और मौखिक जप न हो सके तो लेखात्मक जप करे, इससे भी मन स्थिर हो जाता है।

लययोग

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तित ।
गच्छस्तिष्ठन् स्वपन् भुञ्जन् ध्यायेन्द्रिकलमीश्वरम् ॥
स एव लययोगः स्याद्………।
(योगतत्त्वोपनिषद् २३-२४)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादभाश्रितः ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४ । २९)

‘इन्द्रियोका नाथ (स्वामी) मन है, और मनका स्वामी प्राण है, प्राणका नाथ मनका लय है, मनका लय

नादके श्रवणसे होता है।' अर्थात् पण्मुखी मुद्रामें (अपने दो अङ्गूठोंसे कान, दो तर्जनियोंसे आँख, दो मध्यमाओंसे नाक, वाकी अङ्गुलियोंसे मुख बन्द करके आधी रात्रिके बाद आन्तर द्वंद्वमें मनको लगाना) मनका लय करे।

अभ्यस्यमानो नाढोऽयं वाह्यमायृणुते ध्वनिम् ।
पक्षाद्विक्षेपमस्तिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥
कर्पूरसनले यद्वत् सैन्धवं सालिले यथा ।
तथा संधीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥

(४।८३, ५९)

'लयो विषयविस्मृतिः', 'निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्', 'श्रुतोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते, विलापयेदित्यर्थः' । (४।३४, ५०, ४८)

—इत्यादि हठयोगप्रदीपिकामें लययोगका विस्तारसे वर्णन किया है।

सङ्कल्पमात्रकलनैव	जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव	मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिसुत्सृज	निर्विकल्प-
मात्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥	

—इत्यादि योगवासिष्ठमें भी विस्तारसे लययोगका वर्णन है।

पवनः स्वैर्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात्सम्प्राप्यते सौरव्यं स्वात्मानन्दं परं पदम् ॥
(योगशिखोपनिषद्)

निर्विकल्पे निराधारे निराकारे निरञ्जने ।
सर्वभूतलयं इष्टा भूतसिद्धिः प्रजायते ॥

हठयोग

०० हठयोगसतः शृणु ।

यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ॥
प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं अूमध्यसे हरिम् ।
समाधिः समतावस्था साषट्कारो योग उच्यते ॥
लघ्वाहारो यमेष्वेको मुख्यो भवति तेतरः ॥
अहिंसा नियमेष्वेका मुख्या चै चतुरानन् ! ।

(२४-२५, २८, २९)

—इत्यादि हठयोगका प्रतिपादन योगतत्त्वोपनिषद् में किया गया है। इन अर्गोंका वर्णन 'योगदर्शन', 'हठयोग-प्रदीपिका', 'धेरप्पदसहिता' आदि योगग्रन्थोंमें विस्तारसे

किया गया है। यहाँ लेखविस्तारके भयसे यमादिका वर्णन नहीं करते।

अथवा—

हकारेण तु सूर्यः स्यात् सकारेणैन्दुरुच्यते ।
सूर्याच्चन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥
हठेन ग्रस्यते जाग्यं सर्वदोपसमुद्धवम् ।
क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत् ॥
(योगशिखोपनिषद्)

सूर्य नाम दक्षिण स्वरका है, चन्द्र नाम वाम स्वरका है, दोनोंकी समताका नाम हठयोग है। अर्थात् नाभिसे उठकर नासिकाके अग्रभागसे वारह अङ्गुलपर्यन्त प्राणवायु वाहर जाता है, पुनः लौटकर नाभिसे प्राणवायु आता है, इस प्रकार प्राणवायुकी स्वाभाविक गति है।

प्राणायामके बलसे योगी प्राणवायुकी गतिको एक-एक दो-दो अङ्गुल क्रमग्राम घटाके, जब द्वाटश अङ्गुल वाहरकी गति बन्द हो जाय और केवल नासिकाके भीतर ही दोनों स्वर सम होकर सुपुग्नासे जिस अवस्थामें प्राण चले उस अवस्थाका नाम 'हठ' है। इस अवस्थाका वर्णन श्रीभगवान्ने गीतामें भी किया है—

प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ॥ इत्यादि ।

अथवा प्राणनिरोधद्वारा मनका निरोध हठयोग है, और मनके निरोधद्वारा प्राणका निरोध राजयोग है।

राजयोग

मन्त्रयोग, लययोग, हठयोगका फल राजयोग है। आत्मनिष्ठा, ब्रह्मनिष्ठा, राजविद्या, राजगुह्य, महायोग, अस्पर्शयोग, सांख्ययोग, अध्यात्मयोग, ब्रानयोग, राजाधि-राजयोग इत्यादि अनेक नाम राजयोगके हैं। १ विवेक २ वैराग्य ३ पट्सम्प्रत्ति ४ मोक्षकी इच्छा ५ श्रवण ६ मनन ७ निदिद्यासन ८ तत्पदार्थ, त्वं पदार्थका शोधन-रूप आठ अङ्गोंसे प्रत्यगमित्र ब्रह्मचिपयक निर्विकल्प समाधिस्तर राजयोगकी सिद्धि होती है। कर्मयोग, ध्यानयोग, भक्तियोग भी राजयोगके अङ्ग हैं। विग्रिसिद्धिवादणोप-निषद् में राजयोगके १ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान ८ समाधि, ये आठ अङ्ग कहे हैं, इन यमादिका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

देहेन्द्रियेषु वैराग्यं यम इत्युच्यते दुर्बः ॥
 अनुरक्तिः परे तत्त्वे सततं नियमः स्मृतः ।
 गर्ववस्तुन्मुदासीनभावमायनमुक्तमभ् ॥
 जगत्सर्वमिदं मिथ्याप्रतीतिः प्राणसंयमः ।
 चित्तस्यान्तर्मुखोभावः प्रत्याहारम्भु भक्तम् ॥
 चित्तस्य निश्चलोभावो धारणा धारणं विद्वः ।
 सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ॥
 ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिर्धायते ।

(२८-३२)

अर्थात् देहादिमें वैराग्य यम है । निरन्तर परतत्त्वमें अनुरक्तिका नाम नियम है । सर्व वस्तुओंमें उदासीनता आसन है । जगत्में मिथ्यात्वनिश्चय प्राणायाम है । चित्तकी अन्तर्मुखता प्रत्याहार है । चित्तका तत्त्वमें निश्चलभाव धारणा है । 'चिन्मात्र ब्रह्म ही मैं हूँ'—इस चिन्तनका नाम ध्यान है । ध्यानकी अच्छी तरह विस्मृति अर्थात् केवल सुस्कारशेष अवस्था समाधि है ।

तंत्रोविन्दूपनिपद्मं राजयोगके पन्द्रह अङ्ग कहे गये हैं ।

यस्मो हि क्षियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।
 आसन मूलवृन्धश्च देहस्याम्यं च दक्षिण्यतिः ॥
 प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।
 आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै फ्रान्तः ॥
 सर्वं ब्रह्मेति विज्ञानादिनिद्र्यग्रामसंयमः ।
 यस्मोऽयमिति सम्प्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्सुहुः ॥

(१।१५-१७)

(१) 'सम्पूर्णं ब्रह्म ही है'—इस जानसे जो इन्द्रिय-ग्रामका सथम है, सो ही यम हैं । इस यमका जिज्ञासुको पुनः पुनः अभ्यास करना चाहिये ।

(२) सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः ।
 नियमो हि परानन्दो नियमात्क्रियते दुर्बः ॥

(१।१८)

'अह ब्रह्मास्मि' वृत्तिका सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार नियम है । इसका यिद्वान्लोग नियमसे अनुष्टान करते हैं ।

(३) त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः ।

(१।१९)

अनात्मनिन्ताका न करना ही त्याग है । यह महान् पुरुषोंका पूज्य है, शीघ्र मोक्षको देनेवाला है ।

(४) ब्रह्म मन-वाणीका अगोचर है और 'नेति-नेति' श्रुतिप्रमाणसे अनात्मा वस्तुतः है नहीं, इस निश्चयको मौन कहते हैं ।

धृति वा तद्वंन्मौनं सर्वं सहजसंज्ञितम् ।

गिरा भाँनं तु वालानामयुक्तं ब्रह्मवादिनाम् ॥

(५) आदावन्ते च भव्ये च जनो यस्मिन्व विद्यते ।

येनदं सततं ध्यासं स देशो विजनः स्मृतः ॥

(१।२२-२३)

वस्तुतः जिसमें सर्वशा सर्वदा कोई भी मनुष्यादि प्रपञ्च नहीं है, सर्वका विवर्तायिष्यान होनेसे जो सर्वत्र सर्वदा विद्यमान है उस अपने आत्माको ही योगियोंने अभ्यासके लिये निर्जन एकान्त देश कहा है ।

(६) कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः ।

कालदशब्देन निर्दिष्टं शखण्डानन्दमद्यम् ॥

(१।२४)

ब्रह्मादि सर्वभूतोंकी जिसमें क्षणभरमें कल्पना होती है ऐसा अखण्ड आनन्द अद्वितीय ब्रह्म ही अभ्यासके योग्य काल है । अर्थात् अभ्यासीको देश-कालकी ग्रान्तिका त्याग करना चाहिये ।

(७) सुखेन्द्रव भवेद्यस्मिन्नजस्तं ब्रह्मचिन्तनम् ।

आसनं तद्विजानीयादन्यसुखविनाशनम् ॥

(१।२५)

यद्यपि आसन चौरासी लक्ष है, उनमें ८४ आसन प्रधान हैं, चौरासी आसनोंमें भी १ सिंह २ भद्र ३ पद्म ४ सिंठ, ये चार आसन प्रधान हैं; इनमें भी सिद्धासन ध्यत्यन्त प्रधान है । सिद्ध आसनका यह लक्षण है—वाम पाठकी एड़ीको ऊपर उपस्थिति करके उपर द्वाकर धरे, और वाम पैरके जॉय और ऊरुके वीचमें दक्षिण पैरके पजेको द्वाके रखें, और भृकुटीके ऊपर दृष्टि रखें, और स्थाणुकी तरह सरल निश्चल अरीर करे । इसका नाम सिद्धासन है । तथापि जिस आसनसे सुखपूर्वक निरन्तर ब्रह्मका चिन्तन हो सके वही आसन योगीको उपादेय है । अर्थात् जिस स्थितिमें एकाग्र मन ब्रह्मचिन्तन कर रहा हो, उस स्थितिको न बदले । स्थिति वदलनेपर एकाग्रताका सुख नष्ट हो जायगा । वस्तुतः जो सम्पूर्ण सिद्धोंकी सिद्धिका निमित्त है, जो सर्वभूतोंका आदि है, जो विवेका अविष्टान है, वही अद्वितीय ब्रह्म सिद्धासन है—

सिद्धये सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमद्यम् ।

यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धास्तिरसदासनमुच्यते ॥

(८) यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तवन्धनम् ।

मूलवन्धः सदा सेव्यो योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम् ॥

(१। २६-२७)

जो सर्वलोकान्का मूल है, जो चित्तनिरोधका मूल है, सो यह आत्मा ही ब्रह्मवादियोको सदा सेवन करना चाहिये ।

यही मूलवन्ध है, अन्य गुदासंकोचल्प मूलवन्ध जिज्ञासुको सेव्य नहीं है ।

(९) अङ्गानां समतां विद्यात्समै ब्रह्मणि लोयते ।

नोचेष्ट्वैव समानत्वमृजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥

(१। २८)

अपने हस्तादि सम्पूर्ण अगोको ब्रह्मरूप समझे, इस प्रकार समझनेवाला योगी ब्रह्ममें ही लीन होता है । इस ज्ञानके विना केवल कटि आठि अंगोंकी समता या कङ्जुता शुष्कवृक्षकी सरलताकी तरह व्यर्थ है ।

(१०) दृष्टि ज्ञानमर्थीं कृत्वा पश्येद्ब्रह्ममयं जगत् ।

सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥

(१। २९)

ज्ञानदृष्टिसे सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्मलूप देखे, यही दृष्टि परम उदार मोक्षको देनेवाली है, नासिकाके अग्रभागको विषय करनेवाली दृष्टि मुमुक्षुको कर्तव्य नहीं है । नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करनी चाहिये, इसका यह भाव है कि यदि योगी नेत्रोंको अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा, यदि सर्वथा नेत्र बन्द करेगा तो आलस्यादिसे चित्तका लय होगा, अतः योगी शाम्भवी मुद्रासे स्थित रहे, भ्रकुटीके मध्यमें आन्तरतत्त्वमें लक्ष्य रखें, नेत्रोंको किञ्चित् खुला रखें, इसको शाम्भवी मुद्रा कहते हैं ।

(११) चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।

निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायाम स उच्च्यते ॥

(१। ३१)

‘चित्तादि सर्व पदार्थोंमें ब्रह्मभावनाके परिणाकसे सर्ववृत्तियोंका निरोध हो जाता है और सर्ववृत्तियोंके निरोधसे प्राणका भी निरोध होता है । यही मुख्य प्राणायाम है ।’

‘नेति-नेति’ श्रुतिके वलसे प्रपञ्चका अभाव निश्चय करना रेचक प्राणायाम है । ‘ब्रह्मैवाहमसि’-इस वृत्तिका नाम पूरक है । ‘ब्रह्मैवाहमसि’-इस वृत्तिकी निश्चलता कुम्भक प्राणायाम है, ब्रह्मनिष्ठोंका यही प्राणायाम है । केवल नाक द्वाकर प्राणोंका रोकना अज्ञानियोंका प्राणायाम है ।

निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकात्यः समीरितः ।

ब्रह्मैवाहमाति या वृत्तिः पूरको चायुस्त्वयते ॥

ततस्तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।

अयं चापि प्रबुद्धानामज्ञानां व्राणपीडनम् ॥

(१२) विषयेष्वात्मतां द्वाष्टा मनसश्चित्तरञ्जकम् ।

प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽन्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥

(१। ३२—३४)

‘सम्पूर्ण विषयोंमें आत्मदृष्टि करनेसे जो चित्तका सन्तोष और जान्ति होती है वही प्रत्याहार है, यही प्रत्याहार योगीके द्वारा अभ्यास करने योग्य है ।’

(१३) यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणस्तत्र दर्शनात् ।

मनसा धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥

(१। ३५)

जहाँ-जहाँ मन जावे यहाँ-वहाँ ब्रह्मदर्शन, यही उत्तम धारणा है ।

(१४) ब्रह्मैवासीति सद्वृत्त्यां निरालम्बतया स्थितिः ।

ध्यानशब्देन विख्यातः परमानन्ददायकः ॥

(१। ३६)

अन्य विषयग्रन्थ जो ‘ब्रह्मैवाहमसि’ वृत्तिकी एकतानता है, यही ध्यान है । यह ध्यान परमानन्दका देनेवाला है ।

(१५) निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।

वृत्तिविसरणं सम्यक् समाधिरभिधियते ॥

(१। ३७)

निर्विकार अद्वितीय ब्रह्माकारवृत्तिकी स्थितिके अनन्तर परिणामित्यादि दोषदर्शनपुरात्सर परवैराग्यसे जो सर्वथा वृत्तिका विसरण और विलय है, सो सस्कारग्रेष अवस्था समाधि है । इस समाधिका तयतक पूर्णतया अभ्यास होना चाहिये, जयतक सम्पूर्ण विषयग्रन्थ ब्रह्मका प्रत्यक्ष स्वस्वलूपसे स्फुरण न हो जाय । एव योगचूडामणि उपनिषद्में राजयोगके आसनादि ६ ही अङ्ग कहे हैं । एवं श्रीजावालोपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगशिल्पोपनिषद् आदिमें भी राजयोगका विस्तारसे वर्णन किया है । यहाँ विस्तारके भयसे नहीं लिखते हैं ।

अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।

समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ॥

दान स्वघर्मो नियमो यमश्च

श्रुत च कर्माणि च सङ्कृतानि ।

सर्वे मनोनिग्रहलक्षणान्ता-

परो हि योगो मन्त्रः समाधिः ॥

योगसाधन-रहस्य

(लेखक—स्वामी श्रीदयानन्दजी)



योगात्ममें भक्तिको उपासनाका प्राण और योगको उपासनाका गरीर कहा गया है। जिस प्रकार विना प्राणके गरीर रह नहीं सकता, उसी प्रकार विना भक्तिके उपासना वन ही नहीं सकती, इस कारण भक्ति उपासनाका प्राण है। गरीरके विना जिस

तरह गरीरी आत्माका भोग असम्भव है उसी प्रकार योगकी शैलीके विना उपासनाका कोई साधन वन ही नहीं सकता। इसी कारण योगको उपासनाका शरीर कहा है। आवरण, विक्षेप आदि भावोंसे अन्तःकरणके युक्त रहनेसे परमात्माका स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता, इस कारण सर्वव्यापी परमात्मा जीवके अन्तःकरणमें विराजमान रहनेपर भी उससे दूर हो जाते हैं, अथवा यह कहिये कि, अन्तःकरणरूप जलाशय सदसद्वृत्तियोंसे तरङ्गायित और आलोड़ित रहनेके कारण परमात्मारूपी सूर्यका यथार्थ स्वरूप उस जलाशयमें दिखायी नहीं पड़ता। जब साधनकी सुकौशलपूर्ण क्रियाद्वारा उस जलाशयरूपी अन्तःकरणका वृत्तिरूपी तरङ्ग एकवार ही आन्त हो जाता है तभी सूर्यप्रतिविम्ब अथवा अपना मुख दर्शक उसमें देख सकता है। अत. योगशास्त्रमें कहा है—

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’

‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’

चित्तवृत्तिनिरोधकी सुकौशलपूर्ण क्रियाओंको योग कहते हैं। योगक्रियाद्वारा क्रमगः अन्तःकरणकी वृत्तियाँ शान्त होते-होते जब एकवारगी ही शान्त हो जाती हैं उस अवस्थाका नाम योगयुक्त अवस्था है। उसी अवस्थामें द्रष्टा अर्थात् परमात्मा अपने यथार्थ स्वरूपमें प्रकट हो जाते हैं। हम यह दिखा चुके हैं कि, चित्तवृत्तियोंके चाक्षर्ल्यके कारण सर्वव्यापक तथा जीव-द्वादश-विहारी परमात्मा जीवके हृदयसे छिप जाते हैं, यही उनका जीवसे दूर हट जाना है। जिन-जिन साधनोंके द्वारा इस प्रकार दूर हटे हुए परमात्मासे अनाथ हुआ जीव उनके निकट होकर सनाथ हो जाता है उन्हींको उपासना कहते हैं, अर्थात् उप—समीपे, आस्थते—प्राप्त होता है, अनया—इस साधनके द्वारा, इति उपासना। अत. जिन-जिन

क्रियाओंके अवलम्बनसे परमात्माके निकट होनेमें जीव समर्थ होता है, उन्हींको उपासना कहते हैं और जब चित्तवृत्तिनिरोध होते-होते उसकी पूर्णवस्थामें परमात्मा अन्तःकरणमें प्रकट होकर जीवके निकटस्थ हो जाते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि, उपासनाप्रक्रियामें सर्वथा सर्वरूपसे सहायक योग उपासनाका गरीररूप है।

योगशास्त्रमें व्युत्थान दग्गसे लेकर निरोध दग्गापर्यन्त चित्तकी पॉच भूमियाँ वतायी गयी हैं, यथा मूढ़, अक्षित, विक्षित, एकाग्र और निरुद्ध। चित्तकी मूढ़ भूमि वह कहलाती है जिसमें चित्त सदसद्विचारहीन होकर, आलस्य, विस्मृति आदिके बग्ह होकर वैलगाम घोड़ेकी तरह कुछ-से-कुछ करता रहता है। यह भूमि तमोगुणकी है। चित्तकी रजोगुणमयी दूसरी भूमिका नाम अक्षित है। इसमें चित्त किसी एक कार्यमें लगकर वृद्धिकी सहायतासे विचार करता हुआ किसी लक्ष्यका साधन करता रहता है। यथा—लगामवाला घोड़ा या विचारवान् प्रवृत्तिपर मनुष्योंके चित्तकी भूमि। चित्तकी तीसरी भूमिका नाम विक्षित है। यह भूमि सत्त्वगुणकी है और अक्षिसे विगिष्ठतायुक्त होनेसे ही इसका नाम विक्षित है। इस भूमिमें चित्त सुख, दुःख, विचार, आलस्य, रजोगुण, तमोगुण आदिसे पृथक् होकर शून्य हो जाता है और उसमें कोई भी चिन्ता नहीं रहती है। इस भूमिका उदय महात्माओंमें अधिक और सांसारिक जीवोंमें कभी-कभी वहुत थोड़ी देरके लिये होता है। तदनन्तर चित्तकी जो दो भूमियाँ हैं वे साधन अवस्थाकी हैं। इनमेंसे एकाग्र भूमिमें ध्याता ध्यानयोगके द्वारा ध्येय वस्तुमें चित्तको ठहरानेका प्रयत्न करता है जिसके लिये भगवान् श्रीपतञ्जलिजीने यम, नियम, आसन, प्राणायामादि अष्टाङ्गयोगरूप साधारण उपाय और ईश्वरप्रणिधान, अभिमतध्यान, स्वप्ननिद्राज्ञानावलम्बन, ज्योतिष्मती विशोकादर्शन आदि कई असाधारण उपाय बताये हैं। इस प्रकार साधारण तथा असाधारण उपायोंके द्वारा एकाग्र भूमिमें उत्तरांति लाभ करके अन्तमें जब साधक-के चित्तमें ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका बिल्य साधन होता है तभी अन्तिम भूमिरूप निरुद्ध भूमिका उदय होता है। इसी निरुद्ध भूमिमें ही योगी क्रमग. सम्प्रज्ञात समाधि-

की चार अवस्थाओंको अतिक्रम करके अन्तमें सिद्धावस्था-को प्राप्तकर मुक्त हो जाता है। अतः अधिकारानुसार चाहे कोई किसी रास्तेसे ही चले योगशास्त्रकी वतायी हुई एकाग्र भूमिसे निरुद्ध भूमिमें पहुँचनेका नाम ही साधन है।

चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली सुकौशलपूर्ण जितनी कियाएँ हैं उन्हींको पूज्यपाद महर्षियोंने अनेक गवेषणा करके निश्चय कर दिया है कि चित्तवृत्तिनिरोध करनेवाली कियाशैलीको चार भागोंमें विभाजित कर सकते हैं और चित्तवृत्तियोंको निरोध करनेके मार्गको आठ सोपानों अथवा आठ मार्गविभागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यह सारा नामत्पात्मक है अर्थात् परिवृश्यमान सारका कोई भी अङ्ग नामरूपसे बचा हुआ नहीं है। इसी कारण नामरूपमें फँसकर ही जीव बद्ध होता है। चित्तकी वृत्तियों भी नामरूपके ही अवलम्बनसे अन्तःकरणको चञ्चल किया करती हैं। अतः जहाँ मनुष्य गिरता है उसी भूमिको पकड़कर उठना चाहिये। अस्तु, नामरूपके अवलम्बनसे चित्तवृत्तिनिरोधकी जितनी कियाएँ हैं उनको मन्त्रयोग-के अन्तर्गत करके महर्षियोंने वर्णित किया है।

हठयोगका ढग कुछ और ही है। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरका ही परिणाम है। इस कारण स्थूल शरीरका प्रभाव सूक्ष्म शरीरपर वरावर समानरूपसे पड़ता है। अतः स्थूल शरीरके अवलम्बनसे सूक्ष्म शरीरपर प्रभाव डालकर चित्तवृत्तिनिरोध करनेकी जितनी शैलियों हैं उनको हठयोग कहते हैं।

लययोगका ढग कुछ और ही विचित्र है। जीवशरीररूपी पिण्ड और समष्टिसूर्यरूपी ब्रह्माण्ड ये दोनों समष्टि-व्यष्टिसम्बन्धसे एक ही हैं। अतः दोनोंको एक समझकर अपने भीतर जो प्रकृतिशक्ति है उसे अपने शरीरस्य पुरुषभावमें लय करनेकी जो शैली है और उसके अनुयायी जितने साधन हैं उनको लययोग कहते हैं।

राजयोगका अधिकार सबसे बढ़कर है। मनकी क्रिया मनुष्यको फँसाती है और बुद्धिकी क्रिया मनुष्यको मुक्त करनेमें सहायक होती है, यही कारण है कि अज्ञानसे जीव यन्धनको प्राप्त होता है और ज्ञानसे मुक्त होता है। अतः बुद्धिकिरातरूपी विचारद्वाग चित्तवृत्तिनिरोधकी जो शैली है उसको राजयोग कहते हैं।

योगमार्गके आठ सोपानरूप आठ अङ्गोंमेंसे चार वहिरङ्ग और चार अन्तरङ्ग कहते हैं। यम, नियम, आसन

और प्राणायाम ये चार वहिरङ्ग हैं और प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये चार अन्तरङ्ग हैं। वहिरङ्ग और अन्तरङ्गको मिलानेवाला प्रत्याहार अङ्ग है। जीव वहिरङ्गिनिर्दिय और अन्तरिनिर्दियमें फँसकर बद्ध रहता है। इस कारण वहिरङ्गिनिर्दिय और अन्तरिनिर्दियसे बीतराग करनेके जो अभ्यास हैं उनको यथाक्रम यम और नियम कहते हैं। इन दोनोंकी क्रियाशैली विभिन्न आचार्योंके मतानुसार विभिन्न प्रकारकी है। इस प्रकारसे यम और नियमके साधनोंसे उपासना-काण्डका साधक योगसाधनका अधिकारी बनता है। और तृतीय सोपानमें वह अपने शरीरको योगोपयोगी करता है। मीमांसाका यह सिद्धान्त है कि चाच्छब्द्यसे बन्धन और धैर्यसे मुक्ति होती है। अतः शरीरको वैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसको आसन कहते हैं। शरीरको धैर्ययुक्त करनेकी जो शैली है उसे प्राणायाम कहते हैं। प्राणायाम चतुर्थ अङ्ग है। प्राणायाम अङ्गके साधनके अनन्तर साधकको योगके अन्तरङ्ग साधनका अधिकार प्राप्त होता है क्योंकि मन और वायु दोनों कारण और कार्यरूपसे एक ही हैं। प्रत्याहार साधनके द्वारा साधक अपनी वहिर्दीषिको वहिर्जगत्से हटाकर अन्तर्जगत्से ले जाता है। कूर्म जिस प्रकार अपने अङ्गोंको समेट लेता है उसी प्रकार प्रत्याहाररूपी पञ्चम अङ्गके साधनसे उन्नत साधक वहिर्विषयसे अपनी विषयवती प्रवृत्तिको अन्तर्जयमें खींचकर वहिर्जगत्से अन्तर्जगत्से पहुँच जाता है। यही योगका पञ्चम अङ्ग है। अन्तर्जगत्से पहुँचकर सूक्ष्म अन्तर्जयके किसी विभागका अवलम्बन करके अन्तर्जयमें ठहरे रहनेको ही वारणा कहते हैं। इस प्रकारसे धष्ट अङ्गरूपी धारणा साधनद्वारा योगी जब अन्तर्जयको जय कर लेता है तब वहिः और अन्तर्जयके द्रष्टा परमात्माके सुगुण तथा निर्गुण स्वप्नके ध्यान करनेकी शक्ति योगीको प्राप्त होती है। उस समय ध्याता, ध्यान और ध्येयरूपी त्रिपुटीके सिवा और कुछ नहीं रहता है। यही योगका सत्तम अङ्ग है। तत्पश्चात् ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी त्रिपुटीका जब विलय हो जाता है और ध्याता ध्यानमें मिलकर दोनों ध्येयमें लय हो जाते हैं उसी द्वैतभावरहित वृत्तिनिरोधकी अन्तिम अवस्थाको समाधि कहते हैं। यही योगका अष्टम अङ्ग है। मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग इन चारों क्रियासिद्धांशोंकी जो क्रियाशैली पूज्यपाद मन्त्रियोंने कही है वे नव इन्हीं आठ अङ्गोंकी सदायतासे निर्णीत हुई हैं। ऐद

इतना ही है किसीमे किसी अङ्गका विस्तार है और किसीमे किसी अङ्गका सङ्कोच है। इस प्रकारसे साधक एकके बाद दूसरा सोपान दूसरेके बाद तीसरा सोपान इस प्रकारसे सोपान अतिक्रम करता हुआ अष्टम सोपानस्पी सविकल्प समाधिमें पहुँच जाता है और तदनन्तर निर्विकल्प समाधिमें पहुँचकर स्वरूप-उपलब्धि करनेमें समर्थ हो जाता है। निर्विकल्प समाधिप्राप्त योगी शारीरिक सर्व कर्म करता हुआ भी कुछ भी नहीं करता। तब वह चाहे स्वरूपस्थित रहे, चाहे व्युत्थान दग्गाको प्राप्त होकर कर्ममें प्रवृत्त हो, सब अवस्थाओंमें निर्विकल्प भावमें स्थित रहनेके कारण अद्वैत-भावमें रहता है। इसी दग्गाको जीवन्मुक्त दग्गा कहते हैं। इसीको अद्वैतस्थिति, इसीको परज्ञानकी दग्गा और इसीको पराभक्तिकी दग्गा भी कहते हैं। भिन्न-भिन्न विचारके अनुसार ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। उपासनाकी प्राणरूपिणी भक्ति और उपासनाके शरीररूपी योगका यही अन्तिम लक्ष्य है।

इन गात्रीय बच्चोंका तात्पर्य यह है कि चित्तवृत्ति-निरोधद्वारा जो अवस्था प्राप्त होती है और जिस अवस्थामें जीवात्मा और परमात्माका एकीकरण होकर स्वरूपकी प्राप्ति होती है ऐसे साधनको योग कहते हैं। इन बच्चोंसे यही सिद्धान्त निकलता है कि चित्तवृत्तियोंका जवतक निरोध नहीं होता है तबतक जीवकी पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है। परन्तु चित्तवृत्तिका जितना-जितना निरोध होता जाता है उतना-उतना ही अज्ञानमूलक जीवत्व-का नाग होकर स्वरूपका विकास होता है और चित्तवृत्तिके सम्पूर्णरूपसे निश्चद हो जानेपर जीवके जीवत्वका कारण नष्ट हो जाता है और तभी स्वरूपका पूर्ण विकास होता है। मन्त्रयोगकी सिद्धावस्थारूपी महाभाव समाधिमें और हठयोगकी सिद्धावस्थारूपी महावोध समाधिमें और लययोगकी सिद्धावस्थारूपी महालय समाधिमें साधकको जो सफलता प्राप्त होती है उन सफलताओंसे साधकको चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें साधक लौकिक पुरुषार्पद्वारा चित्तवृत्तियोंको दबाकर निरोध करनेमें समर्थ होता है। इन तीनों सविकल्प समाधियोंकी दशामें पूर्णरीत्या न चित्तवृत्तियोंका विलय होता है और न उनका मूलनाश ही हो सकता है। मन्त्र और इष्टदेवके रूपके एकीकरणद्वारा मन्त्रयोगकी महाभाव समाधिका उदय होता है। वायु-

निरोधद्वारा हठयोगकी महावोध नामक समाधिका उदय होता है और नाद और विन्दुके एकीकरणसे लययोगकी महालय नामक समाधिका उदय होता है। ये तीन समाधियों लौकिक उपायसमूह होनेसे, हठपूर्वक अनुष्ठित होनेसे और ज्ञानसम्बन्धरहित होनेसे यद्यपि वल्पूर्वक चित्तवृत्तिनिरोध करनेमें समर्थ होती है, तथापि चित्तवृत्तिके मूलोच्छेदमें समर्थ नहीं होती। अतः इन तीनों समाधिदग्गायोंमें वृत्तियोंका पुनरुत्थान होना सम्भव है। साधक इन तीनोंमेंसे किसी समाधिको प्राप्त करके जब योगकी उन्नत भूमिमें पहुँच जाता है, तभी वह देवदुर्लभ साधनकी उन्नत अवस्थाको प्राप्त करके राजयोगका अधिकारी बन जाता है। वस्तुतस्तु, मन्त्रयोग, हठयोग और लययोग जहाँ समाप्त होते हैं, राजयोगका श्रेष्ठ अधिकार वहाँसे प्रारम्भ होता है।

राजयोगके साधनक्रमकी समालोचना करनेसे यही सिद्धान्त होगा कि प्रथम परम भाग्यवान् राजयोगी सप्त दर्शनोक्त सप्त ज्ञानभूमियोंको एकके बाद दूसरी इस तरह क्रमः अतिक्रम करता हुआ जैसे मनुष्य सोपानद्वारा छतपर चढ़ जाता है, उसी प्रकार सप्त ज्ञानभूमियोंका रहस्य समझ जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे प्रथम सप्ताङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर सौभाग्यवान् योगी सत् और चित् भावपूर्ण प्रवृत्ति-पुरुषात्मक दो राज्योंके दर्शन करके उनकी धारणासे अनन्त रूपमय प्रपञ्चकी विस्मृति सम्पादन करनेमें समर्थ होता है। यही राजयोगके अष्टम और नवम अङ्गका साधनक्रम है। उसके अनन्तर वह योगिराज परिणामशील प्रकृतिके स्वरूपको सम्पूर्णरूपसे परिज्ञात होकर ब्रह्म, ईश और विराटरूपमें अद्वितीय ब्रह्मसत्त्वाका दर्शन करके ध्यानभूमिकी पराकाष्ठाको पहुँच जाता है। यही राजयोगोक्त सोलह अङ्गोंमेंसे दशम, एकादश और द्वादश अङ्गोंका साधनक्रम है। इसके अनन्तर परम भाग्यवान् योगाचार्य यथाक्रम वितर्कनुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत इन चारों आत्मज्ञानयुक्त (ये चारों समाधिकी दग्गाएँ पूर्वकथित मन्त्र-हठ-लययोगोक्त महाभाव, महावोध, महालय समाधिसे विभिन्न हैं) समाधि दग्गाको अतिक्रमण करते हुए स्वस्वरूपको प्राप्त हो जाते हैं। इसी दग्गाको जीवन्मुक्ति दशा कहते हैं। यही सब प्रकारके योगसाधनोंका अन्तिम लक्ष्य है। यही उपासनाराज्यकी परिधि है और यही वेदान्तका चरम सिद्धान्त है।

आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय-योग

(लेखक—ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी महाराज)



रम करुणामय श्रीश्रीसद्गुरु महाराजकी असीम कृपासे सज्जीवित होकर आत्म-स्वरूप अपने परमप्रिय सुधी 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंको परम कल्याणके मार्ग-पर चलनेकी विधियों वतलानेके लिये तैयार हुआ हूँ। यद्यपि मैं जानता हूँ कि यह विषय विशेष गूढ-गाल्यतत्त्व, भावतत्त्व और साधन-तत्त्वसे पूर्ण होना चाहिये, तथापि माल्झम नहीं अन्तरात्माने किसकी प्रेरणासे अनुप्राणित होकर मुझ-सद्गुर मूढ और गँवारसे लेखनी उठवायी है। यदि इस प्रवन्धमें कोई भूल-चूक हो तथा भाषासम्बन्धी दोष हों तो प्यारे सुधी पाठक उस ओर ध्यान न दे केवल कियाओंको विधिवत् करनेकी चेष्टा करें। मेरा विश्वास है कि वे स्वयं मेरी वातोंकी सत्यताका अनुभव करते हुए परमानन्दावस्था प्राप्त करेंगे। हाँ, मूल विषयपर आनेके पूर्व कुछ अपने जीवनका हाल लिखनेके लिये मैं विवर हो गया हूँ: क्योंकि पहले-पहल मुझे विशेष कष्ट उठाना पड़ा था, जिसे सामने रखनेसे आगेकी वातोंका यथार्थ मूल्य प्रकट होनेमे बहुत कुछ सहायता मिलेगी।

बचपनमें ही योगसाधनकी धुन मेरे सिरपर सवार हो गयी थी। तबसे मैं जिस किसी साधु सन्तको देखता, भले-हुरेका कोई विचार न कर उसीके चरणोंमें सिर छुका देता और साधनतत्त्व प्राप्त करनेके लिये अपनी विशेष उत्कृष्टा प्रकट करता। उस समय मेरी हालत ऐसी हो गयी थी कि किसी विषयपर विचार करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी तथा एक मुहूर्त मी व्यर्थ विताना पड़ा कष्टदायक माल्झम पड़ता था। फलस्वरूप अनेक साधु-सन्त मिले, अनेक प्रकारकी साधना भी उनसे प्राप्त की तथा उन्हीं साधनादिके फलस्वरूप दमा, ध्यय और रक्तपित्तकी व्याधियोंसे आक्रान्त होकर यमराजका अतिथि बननेके लिये तैयार होने लगा। उन्हीं दिनों परममङ्गलमय परमपिताकी अहंतुकी कृपासे 'योगी गुरु' नामक एक सर्वोग सुन्दर पुन्नक जन्मानक मेरे हाथ लग गयी। उसे पढ़नेपर माल्झम हुआ कि अनियमित रूपसे योगसाधन और प्राण-

यामादि करनेसे अनेक प्रकारके कठिन रोग हो सकते हैं; किन्तु पवन-विजय—स्वरोदय-गाल्यकी विधिके अनुसार चलनेपर साधक उन कठिन व्याधियोंसे मुक्त हो सकता है। तब मैं पवन-विजय—स्वरोदय-गाल्यकी विधिको अपने जीवनका एकमात्र सबल बनाकर धीरे-धीरे उसके अनुसार अम्यास करने लगा। उस पुस्तकमें उस गाल्यकी अनेक अद्भुत विधियों मौजूद थीं। आखिर सालभरके भीतर ही सब रोगोंसे मुक्त होकर मैंने पूर्ण स्वस्थ शरीर प्राप्त कर लिया और साथ ही साधन-तत्त्वका भी बहुत कुछ अनुभव प्राप्त किया। उसके बाद जीवन्मुक्त महापुरुषके श्रीश्रीचरण-सरोजोंमें आत्मसमर्पण करके, नियमितरूपसे साधन करके, अपने जीवनमें अपूर्व आनन्द प्राप्त किया। आज उसी साधनाका योग्य-सा अंग 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंके मंगलके लिये यहाँ लिखनेकी चेष्टा कर रहा हूँ।

योग अनेक प्रकारके होते हैं—जैसे राजयोग, कर्म-योग, हठयोग, लययोग, सांख्ययोग, क्रियायोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विज्ञानयोग, ब्रह्मयोग, विवेकयोग, विभूतियोग, प्रकृति-पुरुष-योग, मन्त्रयोग, पुरुषोत्तमयोग, मोक्षयोग, राजाधिराज-योग इत्यादि। सीधी वात तो यह है कि व्यापक कर्ममात्रको ही योग कहा जा सकता है, परन्तु वे सब एक ही प्रधान योगके अर्थात् जीवात्मा-परमात्माके मिलनके ही अग-प्रत्यंगमात्र हैं। योगी याज्ञवल्यजीने भी इसे ही योग कहा है, जैसे—

संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः।

अर्थात् जीवात्मा-परमात्माका मेल ही योग है। अनेक प्रकारके योगोंके नाम सुने जाते हैं तो भी वास्तवमें योग एक ही प्रकारका होता है, दो या अधिक प्रकारका नहीं। उस एक ही प्रकारके योगसाधनकी सोपानस्वरूप जितनी प्रक्रियाएँ हैं, वे सब ध्यानयित्वोपर्यं—उपदेश-विशेषमें एक-एक स्वतन्त्र योगके नामसे पुकारी जाती हैं, तथापि जीवात्मा और परमात्माका सबोग-साधन ही योगका

योगी श्रेष्ठता प्रदृष्ट उद्देश्य है। सब साधनाओंका मूल अर्थात् सर्वोत्तम सावना योग ही है।

ज्ञानमें भी लिखा है कि 'वेदव्यासपुर्व श्री-शुकदेवजीने पूर्वजन्ममें फिरी दृश्यकी शास्त्रामें छिपकर

भगवान् गियजीके मुँहसे निकला हुआ योगोपदेश श्रवण किया और उसीसे पक्षियोनिसे उड़ार पाकर परजन्ममें वह परम योगी बन गये । योगका उपदेश सुननेमात्रसे जब इतना लाभ होता है तब उसकी साधना करनेसे ब्रह्मानन्द तथा सब सिद्धियोंके प्राप्त होनेमें क्या सन्देह है ।

योग धर्म-जगत्का एकमात्र पथ है । तन्त्रका तन्त्र, मुसलमानोंके अल्लाह तथा ईसाइयोंके ईसा पृथक्-पृथक् होनेपर भी जब वे अपने-अपने अभ्यासके द्वारा आत्मलीन हो जाते हैं, तब वे अज्ञातभावसे भी योगाभ्यासके सिद्धा और क्या किया करते हैं । परन्तु किसी भी देशका कोई भी धर्म-शास्त्र आर्य-योगधर्मकी भौति परिणति और परिपुष्टिको प्राप्त नहीं हुआ है । अतः अन्यान्य जातियोंके सम्बन्धमें चाहे जो वात हो, परन्तु भारतीय तन्त्र, मन्त्र, पूजापद्धति, भक्ति आदि सभी योगमूलक ही हैं ।

योगाभ्यासके द्वारा चित्तकी एकाग्रता प्राप्त हो जाने-पर जान उत्पन्न हो जाता है एव उसी जानसे जीवात्माकी मुक्ति होती है । वह मुक्तिदाता परम जान योगके सिवा केवल शास्त्र पढ़नेसे प्राप्त नहीं हो सकता । भगवान् शंकरजीने कहा है—

अनेकशतसंख्याभिस्तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः ॥
(योगवीज ८)

‘सैकड़ों तर्कशास्त्र तथा व्याकरणादि पढ़कर मनुष्य शास्त्रजालमें फँसकर केवल विमोहित हो जाते हैं । वास्तवमें प्रकृत जान योगाभ्यासके विना उत्पन्न नहीं होता ।’

— मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि चैव हि ।
सारम्तु योगिभिः पीतस्त्रकं पित्रन्ति पण्डिताः ॥
(शानसकलिनी तन्त्र ५१)

‘वेदचतुष्य तथा सब शास्त्रोंको मथकर उसका मक्खन-स्वरूप सार-भाग तो योगी चाट गये हैं और उसका असार-भाग तक (छाढ़) पण्डित लोग पी रहे हैं ।’ शास्त्र पढ़नेसे जो जान प्राप्त होता है वह मिथ्या तथा कोरी ढींगमात्र है—वह प्रकृत जान नहीं । वाहरकी ओर मुँह किये हुए मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको सब वाहरी विधयोंसे निवृत्त करके अन्तस्मुखी करते हुए सर्वव्यापी परमात्मामें मिलानेका नाम ही वास्तविक जान है ।

वह जान योगाभ्यासके विना प्राप्त नहीं होता । साधारण लोगोंका जो जान है वह केवल भ्रान्त जान है ।

क्योंकि सभी जीव मायाके फन्देमें जकड़े हुए हैं और मायाका फन्दा तोड़े विना सच्चा जान नहीं उपजता । मायाका फन्दा तोड़कर सच्चा ज्ञानालोक प्राप्त करनेका उपाय योग है । योगसाधनके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे भी मोक्षका हेतुभूत जो दिव्य ज्ञान है, वह नहीं प्राप्त होता । योगविहीन सांसारिक ज्ञान वास्तवमें अज्ञान-मात्र है, उससे केवल सुख-दुःखका अनुभव होता है— मुक्तिपथपर चलनेमें सहायता नहीं मिलती । परम योगी महादेवजीने अपने मुँहसे कहा है—

— योगहीनं कर्थं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि ।
(योगवीज १८)

‘हे परमेश्वरि ! योगविहीन ज्ञान कैसे मोक्षदायक हो सकता है ?’ सदागिवजीने योगकी श्रेष्ठता वताकर पार्वती-को सुनाया था—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न स्मुक्ति लभते प्रिये ॥

(योगवीज ३१)

‘हे प्रिये ! ज्ञानवान्, ससारविरक्त, धर्मज, जितेन्द्रिय अथवा कोई देवता भी योगके विना मुक्ति नहीं पा सकता ।’ विना योगके केवल साधारण, नाममात्रके जानसे ब्रह्मज्ञान नहीं प्राप्त होता । योगरूपी अग्नि अशेष पाप-पुण्ड जला देती है एव योगके द्वारा दिव्य ज्ञान प्राप्त होता है । उस जानसे ही लोग दुर्लभ निर्वाण-पद पाते हैं । अब सुधी सज्जन समझ गये होंगे कि योगसाधनके अतिरिक्त दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेका दूसरा कोई सरल उपाय नहीं है । अब देखना चाहिये कि वह—

योग क्या है ?

सर्वचिन्तापरित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते ।
(योगशास्त्र)

जिस समय मनुष्य सब चिन्ताओंका परित्याग कर देता है, उस समय उसके मनकी उस लयावस्थाको योग कहते हैं । और—

योगश्चिन्तयृत्तिनिरोधः ।

(पातञ्जल० समाधिपाद २)

अर्थात् ‘चित्तकी सभी वृत्तियोंको रोकनेका नाम योग है ।’ वासना और कामनासे लिस चित्तको वृत्ति कहा है । इस वृत्तिका प्रवाह जाग्रत्, स्वप्न, सुपुर्सि—इन तीनों

अवस्थाओंमे मनुष्यके हृदयपर प्रवाहित होता रहता है। चित्त सदा-सर्वदा ही अपनी स्वाभाविक अवस्थाको मुनः प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करता रहता है; किन्तु इन्द्रियाँ उसे बाहर आकर्षित कर लेती हैं। उसको रोकना एवं उसकी बाहर निकलनेकी प्रवृत्तिको निवृत्त करके उसे फिर पीछे शुभाकर चिद्घन पुरुषके पास पहुँचनेके पथमें ले जानेका नाम ही योग है। हम अपने हृदयस्थ चैतन्यघन पुरुषको क्यों नहीं देख पाते? कारण यही है कि हमारा चित्त हिंसादि पार्पोंसे मैला और आशादि वृत्तियोंसे आन्दोलित हो रहा है। यम-नियमादिकी साधनासे चित्त-का मैल छुड़ाकर चित्त-वृत्तिको रोकनेका नाम योग है।

अब इस योगसाधनाका सरल उपाय, जिसके द्वारा अपने जीवनमे मुझे कुछ लाभ हुआ है, आपलोगोंके सामने रखनेका साहस करता हूँ। योगकी साधना करनेसे पहले सम्यक्लूपसे शरीर-तत्त्व जान लेना उचित है। विस्तार-भयसे मैं यहाँ उसका उल्लेख न कर केवल साधनाविधि ही लिखता हूँ। जो उसे जानना चाहते हो उन्हें पातञ्जलादि योग-शास्त्र या 'योगी गुरु' 'ज्ञानी गुरु' नामक पुस्तकोंका अवलोकन करना चाहिये।

योगके आठ अङ्ग हैं। उन्हींका साधन करना होता है। साधनाका अर्थ है अभ्यास। योगके आठ अङ्ग इस प्रकार हैं—

यमश्च नियमश्चैव आसनश्च तथैव च।
प्राणायामश्चया गांगि प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यान समाधिरेतानि योगाङ्गानि वरानने॥
(योगियाङ्गवल्क्य १ । ४५)

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि—ये ही आठ योगके अङ्ग हैं। योगका साधन करना हो अर्थात् पूर्ण मनुष्य बनकर स्वल्प-ज्ञान प्राप्त करना हो तो योगके इन आठों अङ्गोंकी साधना यानी अभ्यास करना चाहिये। पहले यम-नियमके साथ-ही-साथ आसनका भी अभ्यास करना उचित है। आसन किसे कहते हैं?

स्थिरसुखमासनम्।

(पातञ्जल ० साधनपाद ४६)

शरीर न हिले, न हुले, न दुर्दे, न चित्तमें किसी प्रकारका उद्देश नहीं, ऐसी अवस्थामें वैठनेको आरुन कहते

हैं। योगशास्त्रमें अनेक प्रकारके आसन बताये गये हैं, उनमेंसे योगसाधनके लिये सिद्धासन सर्वश्रेष्ठ है। जीवन्मुक्त महापुरुष और सिद्ध योगी सिद्धासन तथा मुक्त पद्मासनका उपदेश देते हैं। सिद्धासन कैसे करना चाहिये?

योनिस्थानकमद्विमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यमेत्
मेद्रे पादमयैकमेव हृदये कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुं संयमितेन्द्रियोऽचलदशा पश्यन् अुवोरन्तरं
चैतन्याख्यकपाटमेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥
(गोरक्षसहिता ११)

'योनि-स्थानको वाम-पदके मूलदेशसे दवाकर, दूसरे चरणसे मेद्र-देशको आवढ़कर, हृदयमें ठोड़ी जमाकर, देहको सीधा रखकर और दोनों भौंहोंके मध्यदेशमें दृष्टि स्थापित करके यानी शिवनेत्र होकर निश्चलभावसे वैठनेका नाम सिद्धासन है।' सिद्धासन सिद्धि प्राप्त करनेके लिये सहज और सरल आसन है। सिद्धासनका अभ्यास करनेसे अति शीघ्र योगमें सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी साधनासे किसी प्रकारका अनिष्ट होनेकी सम्भावना नहीं रहती। इसके द्वारा बहुत जल्द योगमें सिद्धि मिलनेका कारण यह है कि लिङ्गमूलमें जीव तथा कुण्डलिनी शक्ति अवस्थित है। सिद्धासनके कारण बायुका पथ सरल तथा सहजगम्य हो जाता है। इससे स्नायुओंका विकास होता है और समस्त शरीरकी विजलीके लिये चलने-फिरनेका सुभीता हो जाता है। योगशास्त्रमें कहा है कि सिद्धासन मुक्तिवाले दरबाजेके किवाड़ खोलता है तथा सिद्धासनसे आनन्दकारी उन्मनी (समुन्नत) दशा मिलती है। सभी सज्ज आसानीसे सिद्धासन कर सकते हैं।

अब पद्मासनकी वात सुनिये—

आसनं पद्मकमुक्तम् ।—(गारुड० ४१)

और भी—

वामोर्परि दक्षिण हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरुपरि चैव वन्धनविर्धि धृत्वा कराया दृढम् ।
तत्पृष्ठे हृदये निघाय चियुक नासाग्रमालोकयेद
एतद् अधिविकारनाशनकरं पश्यासनं प्रोच्यते ॥

(गोरक्षसहिता १२)

'वायों जॉधपर दाहिना पैर और दानिनी जॉधपर वायों पैर रखकर, दोनों ताथ पीटकी ओर शुभाकर वायें हाथसे वायें फैरका अँगूठा और दानिने हाथसे दानिने फैरका

अँगठा पकड़ना चाहिये । फिर छातीमें ठोड़ी सटाकर नाककी नोकपर इष्टि जमानी चाहिये । इस तरह वैठनेका नाम पद्मासन है ।

पद्मासन दो प्रकारका है—मुक्त और बढ़ । उपर्युक्त नियमसे वैठनेको बढ़-पद्मासन कहते हैं तथा शार्थोंको पीठकी ओर से बुमाकर अँगठे न पकड़, दोनों जॉयॉपर दोनों हाथ चित रखकर वैठनेका नाम मुक्त-पद्मासन है ।

पद्मासन लगानेसे निद्रा, आलस्य, जड़ता प्रभृति देहकी ग्लानि निकल जाती है । पद्मासनके प्रभावसे कुण्डलिनी चैतन्य भी जाती है एव दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है । पद्मासन लगाकर दौतकी जटमें जीभकी नोक जमानेसे सब प्रकारकी वीमारियाँ दूर होती हैं ।

उन दो प्रकारके आसनोंके अतिरिक्त स्वनिकासन, भद्रासन, उप्रासन, वीगासन, मण्डकासन, कूर्मासन, कुकुटासन, गुप्तासन, योगासन, शवासन, सिंहासन, मयूरासन, शीर्षासन आदि अनेक प्रकारके आसन प्रचलित हैं सही, किन्तु अनेक प्रकारके आसनोंका अभ्यास करनेमें समय नष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं । उपर्युक्त दोनों प्रकारके आसनोंमें जिसे जिस आसनमें सुभीता मालूम हो, उसे उसी आसनका अवलम्बनकर योगाभ्यास करना चाहिये ।

राजपूताना, मध्यभारत, पञ्चाव आदि नाना स्थानोंमें भ्रमण करते समय मुझे मालूम हुआ कि उन प्रदंगोंमें बहुत-से सज्जन शीर्षासन करते हैं । शीर्षासन योगसाधनके अनुकूल नहीं है, ऐसा अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंसे मुझे मालूम हुआ है । क्योंकि शीर्षासन करके प्राणायाम आदि यौगिक किया तथा पूजा, मन्त्र, जपादि कोई धर्मसम्बन्धी किया नहीं की जा सकती । हाँ, शीर्षासनद्वारा साधक व्रह्मरन्त्रसे जो अमृतधारा टपकती है, और जो अनाहत-पद्मसित अरुण-वर्ण सूर्यमण्डलमें पहुँचकर सूख जाती है, उसीको पीनेकी चेष्टा करते हैं । परन्तु उस क्रियासे कहाँतक सिद्धि प्राप्त होती है, यह कहना कठिन है । अनेक योगाभ्यासी सज्जनोंका कहना है कि उस क्रियासे न तो शरीर बलिष्ठ, पुष्ट और जरारहित होता है और न उस अमृतपानसे उनका चित्त ही लय होकर अनिर्बन्धनीय आनन्द प्राप्त करता है । आसन करनेका मतलब यही है कि शरीर स्वस्थ रहे तुम वीरे-धीरे कुल-कुण्डलिनी

जाएंगे तोकर क्रमः दिव्य ज्ञान प्राप्त भी जाय । आसनके सम्बन्धमें यान्त्र यही कहता है कि—

ततो हन्तानभिघातः । (पातञ्जलि साधनपाठ ४८)

आसनका अभ्यास करनेसे सब प्रकारके ब्रह्म द्वृत जाते रहे अर्थात् शीत-शीतम्, शुधा-तृणा, गग-द्वेष प्रभृति किसी प्रकारका हन्त योगसाधनमें वाधा नहीं ढाल सकता अर्थात् शीताके द्वितीय अध्यात्ममें वर्णित स्थितप्रश्नके लक्षण आप-ही-आप भी पहुँचते हैं । परन्तु नदा भी यह स्मरण रखना चाहिये कि आसनका मध्यसे मुख्य उद्देश्य यही है कि मेषदण्ड (पीठकी गीद) मदा भीधा रहे । त्योंकि उसीके अन्दर नुपुङ्गा नाड़ी विश्रमान है, जिसके भीतर क्रमः वैश्विणी, चित्रिणी तथा व्रजनाड़ी विश्रमान है । आसन, मदा तथा ध्यानद्वाग कुल-कुण्डलिनी-शक्ति जाएंगे होती है और व्रजनाड़ीके भीतरसे क्रमः पट्टचक्रको मेषनी हुई व्रह्मरन्त्रमें पहुँचती है, जहाँ परात्पर व्रह्म शिवजीसे मिलकर लय हो जाती है, या यों कहें कि साधक सम्माधिस्थ हो जाते हैं । साधनाके समय अगर मेषदण्ड टेढ़ा-वाँका रहे तो उपर्युक्त क्रियाके सम्पन्न होनेकी सम्भावना भी नहीं रहती और न दिव्य ज्ञान भी प्राप्त हो सकता है, वल्कि नाना प्रकारकी व्यावियाँ ही होनेकी सम्भावना रहती है । अतएव साधना करते समय सदा ही स्मरण रखना चाहिये कि रीढ़की हड्डी सीधी रहे ।

नित्य नियमितरूपसे त्रिकाल-सम्बन्धा तथा रात्रि-सम्बन्धा (रात्रि १२ बजे) अर्थात् चार बार आसन लगानेसे छः महीनेके भीतर आसनमें सिद्धि प्राप्त हो सकती है । हाँ, प्रत्येक बार कम-से-कम आध घण्टा अवश्य आसन लगाना चाहिये । आसन लगाकर वैठनेपर जब शरीरमें दर्द न हो अथवा किसी प्रकारके कष्टका अनुभय न हो, वन्निक एक प्रकारके आनन्दका उदय हो तभी समझना चाहिये कि आसन सिद्ध हुआ ।

साधनमें सबसे पहले निम्नलिखित कुछ वातोपर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) नित्य नियमितरूपसे एक ही स्थानपर आसन लगाना उत्तम है । ऐसा करनेसे उस स्थानपर एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है । जब कभी मन चञ्चल होता है तब उस स्थानपर पहुँचते ही शान्त हो जाता है तथा एक प्रकारकी आनन्दावस्था आप-ही-आप प्राप्त होती है ।

(२) जिस स्थानपर अर्थात् जिस कोठरीमें बैठकर साधना की जाय, वह स्थान विशेष हवादार, साफ़-सुथरा और शुद्ध होना चाहिये। उस स्थानको नित्य अपने ही हाथों साफ करना चाहिये, गोवर आदिसे लीप देना चाहिये। दूसरे आदमीसे यह सब काम नहीं कराना चाहिये। क्योंकि जब दूसरा आदमी कमरेमें आता है तब उसके शरीरमें उस शक्तिका, जो नित्य नियमितस्त्वसे साधना करनेसे उस स्थानमें पैदा होती है, कुछ अंग चला जाता है, जिससे वह आदमी तो कुछ आध्यात्मिक उन्नति करता है, मगर साधक उतने अग्रमें शक्तिहीन हो जाता है। इससे उत्तम तो यह है कि उस स्थानपर कभी कोई दूसरा व्यक्ति जावे ही नहीं।

(३) जिस आसन (जैसे कम्बलासन, कुशासन, व्याघ्रासन आदि) पर बैठकर स्वयं साधना की जाय, उस आसनको कोई हाथसे भी स्पर्श न करे—इस बातपर बराबर ध्यान रखना चाहिये। अगर कोई उसे छू दे तो उसे छोड़ ही देना उचित है।

(४) इस बातपर भी ध्यान रखना चाहिये कि जिस कपड़े, दुपट्टे तथा कौपीनको धारणकर साधन किया जाय, उसे भी कोई दूसरा आदमी न छुए। उसे अगर साफ करना हो तो अपने ही हाथों साफ कर लेना चाहिये।

(५) साधनके स्थानमें अपवित्र वस्तु मिट्टीके तेलको कभी नहीं जलाना चाहिये। निशाकाल तथा व्राण्मुहूर्तमें साधना करते समय जीवन्मुक्त महात्मा लोग तथा देवी-देवता साधकके पास आकर उसे नाना प्रकारसे सहायता पहुँचाते हैं। उस स्थानपर अपवित्र वस्तु रहनेपर अथवा स्वयं अपवित्र अवस्थामें साधन करनेपर वे कभी वहाँ नहीं पधारेंगे और न साधककी सहायता ही करेंगे। शुद्धभावसे साधना करनेपर कुछ महीने बाद ही साधक स्वयं उन सब जीवन्मुक्त पुरुषों तथा देवी-देवताओंकी अनुकम्पाका अनुभव करने लगेगा। यह बात सत्य, सत्य, प्राव तथा सत्य है।

(६) जिस समय साधना करने जाना हो उस समय शुद्ध होकर, अर्थात् सुविधा हो तो लान करके अथवा हाथ-पैर धोकर, धोती-कपड़ा आदि बदलकर, खड़ाऊँ पहनकर उस स्थानमें जाना चाहिये।

(७) अगर साधक अपना भोजन स्वयं बना ले तो इससे विशेष लाभ होगा। क्योंकि साधक स्वयं तो सांच्चिकभावकी प्राप्तिके लिये साधना कर रहा है, उस

अवस्थामें अगर तामसिक और राजसिक व्यक्तिके हाथका भोजन करेगा तो उसकी साधनामें वाधा पड़ेगी। अतएव साधकको इन सब बातोंपर सदा व्यान रखना चाहिये, तभी साधनाद्वारा कुछ लाभ हो सकता है।

उपर्युक्त जितनी बातें कही गयी हैं, सबका मतलब है शौच। शौच दो प्रकारका होता है। इस विषयमें शास्त्र-बचन इस प्रकार है—

शौचं तु द्विविधं प्रोक्तं धात्यमाभ्यन्तरं सथा ।
मृजलाभ्यां स्पृतं वाह्यं मनःशुद्धिस्थान्तरम् ॥
(योगियाशब्दलक्ष्य)

शरीर और मनकी मलिनताके दूर करनेको शौच कहते हैं। परन्तु सावुन, क्रीम, स्नो, पाउडर, फुलेल तथा एसेन्स इत्यादि विलासिताकी सामग्रियों शौचके साधन नहीं हैं, अतएव इन सबके मोहको छोड़कर गोमय, मृत्तिका तथा जल इत्यादिके द्वारा ही शरीरकी, एवं दृश्य इत्यादि सद्गुणोंद्वारा मनकी मलिनताको दूर करना चाहिये। उपर्युक्त बातें भी शौचके ही अङ्ग हैं। वर्तमान समयमें बहुतसे सज्जन बाहरके शौचकी ओर ही अधिक ध्यान देते हैं—आन्तर शौचकी ओरसे अन्धे बन जाते हैं। किन्तु इस विषयमें मुझे विस्तारके साथ लिखनेकी आवश्यकता नहीं—सब सज्जन जानते ही हैं कि आन्तर शौचके विज्ञा वाह्य शौचका कोई मूल्य नहीं।

प्रत्येक साधनसे हमें क्या लाभ होता है, इसका वर्णन हमें शास्त्रोंमें मिलता है। शौचके सम्बन्धमें शास्त्रका कथन है—

शौचात्स्वाङ्गज्ञुगुप्ता परैरसंसर्गः ।
(पातञ्जल० साधनपाद ४०)

हृदयमें पवित्रता रहनेपर शरीर यदि कहीं जरा भी अपवित्र मालूम होगा तो उससे धृणा होने लगेगी और दूसरोंके साथ सङ्गति करनेमें भी धृणा होगी। उस समय अवधूतगीताका यह महान् वाक्य मनमें जाग्रत् हो उठेगा—

विषादिनरकं धोरं भगं च परिनिभित्तम् ।
किमु पश्यसि रे चित्त कर्यं तत्रैव धावसि ॥

(८।१४)

अब साधन-विधिपर आवें। किसी प्रकारकी भी साधना क्यों न की जाय, जबतक मूँह खिर नहीं होगा तबतक

सब वृथा है। अतः आसनका साधन करते समय चुपचाप न वैठ मन स्थिर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। प्राणायाम-के द्वारा मन स्थिर तो जल्द हो सकता है, परन्तु वह काम कुछ कठिन है, और यदि प्राणायाममें कहीं नियमका ठीक-ठीक पालन न हुआ तो नाना प्रकारकी व्याधियाँ हो सकती हैं। सिद्ध योगियोंका कहना है कि प्राणायाम बहुत ऊँची साधना नहीं है,—हॉ, प्राणायामके द्वारा शरीरके स्वस्थ होने तथा आत्मज्ञान प्राप्त करनेमें थोड़ी-बहुत सहायता मिलती है। प्राणायाम शास्त्रानुसार आठ प्रकारका है, उनमेंसे योगिगण शरीर स्वस्थ रखनेके लिये केवल शीतली प्राणायाम करते हैं। परन्तु प्राणायामके पहले शरीरस्य नाडियोंका शोधन विशेष आवश्यक है। कृतादि युगमें साधु-सन्त नेति, धोति, कपालभाति आदि क्रियाओंसे नाडी-शोधन करते थे। परन्तु कलियुगके दुर्बल तथा अल्पायु मनुष्योंके लिये वे क्रियाएँ सुलभ नहीं हैं। हठयोग-की नेति, धोति आदि क्रियाएँ यदि सम्यक् प्रकारसे न हुई तो साधकको अवश्य ही दुःसाध्य व्याधियोंसे आक्रान्त होकर, नाना प्रकारके कष्ट भोगकर यमराजका अतिथि बनना पड़ेगा। परम मङ्गलमय भगवान् अपने प्यारे जीवोंपर सदा ही कृपा-दृष्टि डाले हुए हैं। कलियुगके मनुष्य इन सब कठिन क्रियाओंके करनेमें असर्वत्य होंगे, ऐसा सोच-

समझकर ही जगद्गुरु भगवान् श्री-
नाडीशोधन मन्त्रहृष्टराचार्यजीने नाडीशोधन नामक,

एक प्रकारकी अति सरल विधि बतलायी है। हठयोगकी विधिसे, अति कठिन तथा सदा विपद्युक्त मार्गद्वारा नाडीशोधनमें कम-से-कम एक युग तो चाहिये ही, परन्तु गङ्गरकी बतायी हुई विधिके द्वारा उसी नाडीशोधनकी क्रिया दो-तीन महीनेमें ही सिद्ध हो जाती है तथा इसमें कोई नुकसान भी नहीं होता। यह कितने आनन्दकी वात है!

सबसे पहले आसनका अभ्यास करना चाहिये। जब आसनमें सिद्धि प्राप्त हो जाय तब नाडी-

विधि शिरभावसे सुखासनमें वैठकर दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नशुनेको कुछ ढाककर वायें नशुनेसे जहातक हो सके, वायुको खींचना चाहिये और जरा-सी देर भी न ठहरकर अनामिका और कनिष्ठा अँगुलियोंसे वायें नशुनेको बन्दकर दाहिने नशुनेसे वायुका रेचन

करना अर्थात् वायुको निकाल देना चाहिये, फिर दाहिने नशुनेसे वायु खींचकर यथागत्ति वायें नशुनेसे निकाल देना चाहिये। परन्तु खींचनेका काम पूरा होते ही उसी क्षण वायुको निकाल देना चाहिये, जरा देर भी न रोकना चाहिये। पहले अभ्यास करते समय उपर्युक्त क्रिया तीन बार करनी चाहिये। इसके बाद तीन बारका अच्छी तरह अभ्यास हो जानेपर पॉच बार, फिर सात बार—इस प्रकार बढ़ाते जाना चाहिये।

रात-दिनमें इस तरह एक बार ब्राह्मसुहृत्तमें यानी सूर्योदयसे पहले, एक बार दोपहरको, एक बार सूर्यास्तके बाद रातके समय और एक बार रात १२ बजेके बाद—कुल चार बार क्रिया करनी चाहिये। रोज नियमसे चार बार अभ्यास करनेसे दो-तीन महीनेमें सिद्धि मिल जायगी।

नाडीशोधनमें सिद्धि प्राप्त हो जानेपर देह खूब हल्की मालूम होती है, आलस्य, जड़ता, सुस्ती सब कुछ दूर हो जाती है। कभी-कभी आनन्दसे मन उत्फुल्ल हो उठता है और समय-समयपर सुगन्धिसे नाक भर जाती है। जब ये सब लक्षण प्रकट होने लगें तब समझना चाहिये कि नाडी-शोधनकी क्रिया सिद्ध हो गयी।

अब प्राणायामकी वात सुनिये। प्राणायाम किसे कहते हैं?

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।
(पातञ्जल० साधनपाद ४९)

‘श्वास-प्रश्वासकी स्वाभाविक गतिका विच्छेद करके शास्त्रोक्त नियमोंके अनुसार चलानेका नाम प्राणायाम है।’ इसके अतिरिक्त प्राण और अपानवायुके सयोगको भी प्राणायाम कहते हैं। जैसे—

प्राणापानसमायोगः प्राणायाम इतीरितः ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुरुभक्तैः ॥
(योगियाज्ञवल्क्य ६ । २)

प्राणायाम कहनेसे हम साधारणतः रेचक, पूरक तथा कुर्मक इन तीन प्रकारकी क्रियाओंको ही समझते हैं। वाहरकी वायुको आकर्षित करके भीतर भरनेको पूरक, जलसे पूर्ण घड़ेकी तरह भीतर ही वायु धारण करनेको कुर्मक और उस धृत वायुको बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पहले दाहिने हाथके अँगूठेसे दाहिने नशुनेको

वन्दकर प्रणव (ॐ) अथवा अपने इष्ट-मन्त्रका प्राणायामकी विधि सोलह बार जप करते हुए वायुको धीरे-धीरे वायें नशुनेसे खींचकर भीतर यथा-अक्षि भरना चाहिये; फिर कनिष्ठिका और अनामिकासे वायें नशुनेको वन्दकर वायुको रोकते हुए ॐ या मूल मन्त्रका चौंसठ बार जप करते हुए कुम्भक करना चाहिये, उसके बाद ऊँटेको दाहिने नशुनेसे उठाकर ॐ या मूल मन्त्रका वत्तीस बार जप करते हुए दाहिने नशुनेसे वायुको निकाल देना चाहिये। फिर इसी प्रकारसे उलटे तौरपर अर्थात् श्वास छोड़नेके बाद उसी दाहिने नशुनेसे ॐ या मूल मन्त्रका जप करते हुए पूरक, दोनों नशुनोंको बन्द करके कुम्भक, और वायें नशुनेसे रेचक करना चाहिये। वायें हाथकी ऊँगुलियोंके पोरेंपर जपकी गिनती करनी चाहिये।

पहले-पहल पूर्वोक्त सख्यासे प्राणायाम करनेमें यदि कष्ट हो तो ८। ३२। १६ या ४। १६। ८ बार जप करते-करते प्राणायाम करना चाहिये। दूसरे धर्मावलम्बियों-को या जिनको मन्त्रजप करनेकी सुविधा न हो उन्हे एक, दो, तीन इत्यादि सख्याओंकी गिनती करते हुए प्राणायाम करना चाहिये, अन्यथा फल मिलनेकी सम्भावना नहीं रहेगी। क्योंकि ताल-तालपर श्वास-प्रश्वासकी क्रिया सम्पन्न होनी चाहिये। परन्तु सावधान! कभी जोरसे रेचक या पूरक न हो। रेचकके समय विशेष सतर्क एव सावधान रहना चाहिये। इतना धीरे-धीरे श्वास परित्याग करना चाहिये कि हाथपर रक्तवा हुआ सत्र भी निःश्वासके बेगसे उड़ न सके। प्राणायामके समय सुखासनसे वैठकर मेरुदण्ड, गर्दन, मस्तक सीधा और भौंहोंके वीचमें दृष्टि रखनी चाहिये। इसे कुम्भक कहते हैं।

परन्तु सिद्ध योगी इसकी सहायता न लेकर शीतली प्राणायामकी ही सहायता अधिक लेते हैं। क्योंकि शीतली प्राणायामसे गरीर विशेष स्वस्य रहता है।

सर्वदा साथयेद् योगी शीतलीकुम्भकं शुभम्।
अजीर्णं कफपित्तश्च नैव तस्य प्रजायते॥
(गोरक्ष-सहिता)

योगियोंको चाहिये कि सदा इसी शीतली कुम्भकी साधना करें। इसकी साधना करनेसे कभी अजीर्ण और

कफपित्तादि व्याधियाँ नहीं होगी। शीतली प्राणायामकी विधि इस प्रकार है—

जिह्वाया वायुमाकृष्ट्य उठरे पूरयेष्ठनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः॥
(धेरण्ड-सहिता)

‘जीभसे वायुको आकर्षित करना चाहिये अर्थात् दोनों होंठ सिकोड़कर वाहरकी वायुको धीरे-धीरे खींचना चाहिये। इस प्रकार अपनी अक्षिभर वायु खींचकर मुँह बन्द कर लेना चाहिये और वायुको धोंटकर पेटमें पहुँचाना चाहिये। इसके बाद योड़ी देरतक इस वायुको कुम्भकद्वारा धारण करके दोनों नशुनोंसे बाहर निकाल देना चाहिये।’

इस नियमसे वायु बार-बार खींचनेपर शीतली प्राणायामकी विधि कुछ काल बाद रक्त स्वच्छ हो जायगा एव गरीर कामदेवके सद्गु सतेज बन जायगा। शीतली कुम्भक करनेपर अजीर्ण और कफ-पित्तादि रोग नहीं पैदा होंगे। चर्मरोग प्रभृति वीमारीमें रक्त साफ करनेके लिये सालसा काममें न लाकर, उसके बदले यह क्रिया करके देखना चाहिये। यह सालसासे भी शीतली फलदायी हो सकती है और इसका फल दीर्घकालतक स्यायी भी हो सकता है।

रोज रात-दिनमें कम-से-कम तीन चार बार, पॉच्च-सात मिनट हर बार, स्थिरभावसे वैठकर इसी तरह मुँहसे वायु खींचनी चाहिये और नशुनोंसे निकालनी चाहिये। अवश्य ही जितना ही अधिक इसका अभ्यास किया जायगा, उतना ही शीतली लाभ पहुँचेगा।

मैले-कुचैले और वायु विगड़े हुए स्थानमें, वृक्षके नीचे, मिट्टीके तेलका चिराग जलाकर, घरमें और स्वाया हुआ अन्न न हजम होनेपर यह क्रिया नहीं करनी चाहिये। वायु निकालनेके बाद हॉफना भी नहीं चाहिये, इस बातका विशेष स्वयाल रखना चाहिये। विशुद्धवायुसे पूर्ण स्थानमें स्थिरासनसे वैठकर धीरे-धीरे पूरक तथा रेचक करना चाहिये। इसकी साधनाते क्या लाभ होता है, वह भी सुनिये—

गुल्मीहादिकान् दोपान् ज्वरं रेत क्षयं शुष्पाम्।
तुण्डाद्व शीतली नाम कुम्भकोऽर्थं निहन्ति वै॥
(धेरण्ड-सहिता)

जपसे ध्यानमें सौरुना अधिक फल होता है। ध्यानकी अपेक्षा सौरुना अधिक फल लाभ होता है—लययोगसे। अतः जपादिकी अपेक्षा सबको किसी भी प्रकारके लययोगका साधन करना चाहिये। अब साधनाकी विधि सुनिये। यों तो इस साधनाकी विधियों वहुत-सी है, परन्तु उनमेंसे जो सबसे सरल है, उसीको मैं बतलाता हूँ। विधि इस प्रकार है—

साधकको उपर्युक्त नियमसे शुद्ध होकर योगसाधनके स्थानपर उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके आसन जमाकर बैठ जाना चाहिये।
. नादानुसन्धान- विधि जिन्हें निर्वाण-मुक्तिकी इच्छा हो उन्हें उत्तर दिशाकी ओर मुँह करके बैठना चाहिये, परन्तु जिन्हें सांसारिक उन्नतिकी इच्छा हो, उनके लिये तो पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके बैठना ही उचित है।

जिसे जिस आसनका अभ्यास हो, उसे वही आसन लगाकर मस्तक, गर्दन, पीठ और उदरको बराबर सीधा रखकर, अपने शरीरको सीधा करके बैठ जाना चाहिये। तत्पश्चात् नाभिमण्डलमें दृष्टि जमाकर कुछ देरतक पलक नहीं मारना चाहिये। नाभिस्थानमें दृष्टि और मन रखनेसे निःध्यास धीरे-धीरे जितना कम पड़ता जायगा, मन भी उतना ही स्थिर होता जायगा। इस भावसे नाभिके ऊपर दृष्टि और मन लगाकर बैठनेसे कुछ दिन बाद मन स्थिर हो जायगा। मन स्थिर करनेका ऐसा सरल उपाय दूसरा और नहीं है।

आटक-योगकी विधिसे भी मन स्थिर हो सकता है, परन्तु अनियमसे ऑखकी बीमारी अथवा ऑख खराब हो सकती है। अतः उस विधिको मैं ठीक नहीं समझता हूँ और इस कारण उसका उल्लेख भी यहाँ करनेकी इच्छा नहीं है।

हाँ, उपर्युक्त विधिसे मन स्थिर करते समय यदि थोड़ी-योड़ी बायु भी धारण की जाय तो नाद-ध्वनि वहुत ही जल्द सुन पड़ती है। पहले झींगुरकी झन्झनाहट-जैसा या भूर्ज-जैसा झिं-झि शब्द सुनायी देगा। उसके बाद क्रमशः साधन करते-करते एकत्रे बाद एक बंशीकी तान, चादरका गर्जन, झाँझकी झनकार, भौंरिकी गुजार, घण्टा, धोंयाल, तुरही, करताल, मृदङ्ग प्रभृति नाना प्रकारके याज्ञोंके शब्द सुन पहेंगे। ऐसे ही रोज अभ्यास-

करते हुए नाना प्रकारकी ध्वनियाँ सुनी जाती हैं। मैंने जो विधि बतलायी है, उसका शास्त्रमें भी प्रमाण है—

नाभ्याधारो भवेद् पष्टस्त्र प्राणं समभ्यसेव ।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिरन्ततः ॥

(योगस्त्रोदय)

ऐसी ध्वनि सुनते-सुनते कभी शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, कभी किसी प्रकारका शब्द सुननेसे सिर चक्कर खाने लगता है, कभी कण्ठकूप जलसे पूर्ण हो जाता है। लेकिन साधकको किसी ओर भी ध्यान न देकर अपना काम करते रहना चाहिये। मधु पीनेवाला भौंरा जैसे पहले मधुकी सुगन्धसे आकृष्ट होता है, किन्तु मधु पीते समय मधुके स्वादमें इतना छ्रव जाता है कि उस समय उसका सुगन्धकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं रहता, वैसे ही साधकको भी नादकी ध्वनिसे मोहित न होकर शब्द सुनते-सुनते चित्तको लय कर देना चाहिये।

इस प्रकारका अभ्यास करनेपर हृदयके भीतरसे अभूतपूर्व शब्द और उससे द्रुत प्रति-शब्द कानमें पहुँचेगा। उस समय साधकको ऑख बन्द करके अनाहत-पद्ममें स्थित ब्राणलिङ्ग शिवके मस्तकपर निर्वात—निष्कम्भ दीपिंगिखाकी भौंति ज्योतिका ध्यान करना चाहिये। ऐसे ही ध्यान लगाते-लगाते अनाहत-पद्मस्थ प्रतिध्वनिके भीतर ज्योतिःदर्शन होगा।

अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।

ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥

(गोरक्ष-सहिता)

उस दीप-कलिका (दीपककी लौ) के आकारमें ज्योतिर्मय ब्रह्ममें साधकका मन सयुक्त होकर ब्रह्मतपी विष्णुके परमपदमें लीन हो जायगा। उस समय शब्द बन्द हो जायगा तथा मन आत्मतत्त्वमें छ्रव जायगा। साधक सर्वव्याधिसे मुक्त होकर तेजोयुक्त हो अतुल आनन्दका उपभोग करेगा। उस समयका वह भाव अनिर्वचनीय है। अवर्णनीय है। अलेखनीय है!!!

नित्य नियमितरूपने इसी तरह नाभिस्थानमें बायु-धारण करनेसे प्राणबायु अभिस्थानमें गमन करती है उस समय अपान-बायुद्वारा शरीरस्य अमि क्रमशः उदीन शो उटती है। इस क्रियासे और एक विद्वेष लाभ होता है। जिसकी

पाचन-गति कम हो गयी है—कोई चाल विकुल ही हजम नहीं होती,—वह अगर इस क्रियाको ठीक विधिसे करे तो योइ दिन बाद उसके गरीबका समुचित घोषन होकर पाचन-गति बढ़ जायगी और कोप्रभी स्वच्छ होना जायगा ।

आत्मज्योतिः दर्थनकी एक और दूसरी विधि है, उसे मूर्यदयकी ओर दृष्टि डालकर करना चाहिये ।

नाटसाधनके सम्बन्धमें आल्कका कहना है—

आसीद्धिदुस्तो नाढो नाटाच्छक्षिसमुद्धवः ।
नाटस्पा भद्रेशानि चिद्रूपा परमा कला ॥
(वायवीय सहिता)

आटि-प्रकृति देवीका नाम परा-प्रकृति है । मुतरां परा-प्रकृति आद्या-गति ही नाटस्पा होती है ।

न नाटेन विना ज्ञानं न नाटेन विना शिवः ।
नाटस्पं परं ज्योतिर्नाटस्पी परो हरिः ॥

और भी देखिये—

नाटाच्छेस्तु परं पारं न जानाति सरस्वती ।
अद्यापि मज्जनभयात् तुम्हं बहुति वक्षसि ॥

इस नाट-ध्वनिकी साधना करते-करते अन्तमें जो 'उँकार' ध्वनि सुननेमें आती है, वह व्यनि जवतक साधक जीवन धारण करता है, तबतक कभी बन्द नहीं होती । सदा सर्वावस्थामें अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न और सुपुस्तिमें भी नाटध्वनि चलती ही रहती है ।

ऊपर जितनी विधियाँ मैंने लिखी हैं, उनका अनुभव मैंने स्वयं साधना करके किया है । इसी कारण विद्याबुद्धि-विवर्जित होनेपर भी उन्हें यहाँ पाठकोंकी हितकामनासे लिख दिया है । अन्तमें सुधी सज्जनोंसे सविनय निवेदन है कि वे इनकी साधना करके चाहे तो प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं ।

क्षमध्वं पण्डिता दोपान् परपिण्डोपजीविनः ।
ममाशुद्धयादिकं सर्वं शोध्यं युष्माभिरुत्तमैः ॥

सिद्धयोग

(लेखक—परमहस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीशक्ति पुरुषोत्तमतीर्थ स्वामीजी)

एक समय स्थिरकर्ता ब्रह्माने देवादिदेव महादेवसे प्रश्न किया—

मर्वे जीवाः सुखेदुःखेमायाजालेन वेष्टिताः ।
तेषां सुक्तिं कथं देव कृपया बठ शङ्कर ॥
सर्वसिद्धिकरं सार्गं मायाजालनिष्टन्ततम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं सुखदं बठ ॥
(योगशिखोपनिषद् १।१०)

'हे अकर ! सब जीव मुख-दुःखस्प मायाजालसे मिर दृष्ट है । हे देव ! कृपया मुझसे यह कहिये कि इनकी सुक्ति किस प्रकार हो सकती है । ऐसा एक उपाय चतुर्याद्ये जिससे सब मिठियों प्राप्त हो, मायाजाल कट नाय और जन्म, मृत्यु, जग तया व्याधिका नाश हो जाय ।'

उसके उन्नगमें भगवान् महादेवने पिण्डुके नामिकमल-
मे उपर्युक्तमासे कहा—

नानामार्गेस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ॥
सिद्धिमार्गेण लभते नान्यथा पद्मसम्भव ।

(योगशिखोप १।३-४)

'हे पद्मसम्भव ! कैवल्यरूप परम पदकी प्राप्तिके अनेक उपाय कहे गये हैं, किन्तु उन समस्त उपायोंसे उसे प्राप्त करना सहज नहीं । एकमात्र सिद्धिमार्गके द्वारा ही कैवल्य-पद आसानीसे प्राप्त होता है । अन्य प्रकारसे नहीं प्राप्त होता ।' कैवल्य-प्राप्ति ही मानव-जीवनका उद्देश्य है । कैवल्य-सुक्ति होनेपर ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति होती है । दुःख नष्ट हो जानेपर मुनः उसकी उत्पत्ति न होनेको ही दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति कहते हैं । कैवल्य या मोक्ष प्राप्त होनेपर जीवको मुनः जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-जनित दुःख नहीं भोग करना पड़ता । इसे प्राप्त करनेका सहज पथ सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग है ।

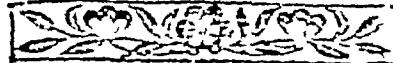
वह सिद्धिमार्ग कथा है, यहाँ इस वातका विश्वासप्तसे यर्णन करना आवश्यक है । जिस पथसे विना कष्टके योग

प्राप्त होता है, उसी पथको सिद्धिमार्ग कहते हैं। योग-रूप सिद्धि प्राप्त करनेका पथ सुषुमा नाड़ी है, जब इस नाड़ीसे प्राणवायु प्रवाहित होकर ब्रह्मन्त्रमें जाकर स्थित होता है तब साधकको जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानलक्षण योग प्राप्त होता है। सर्वप्रथम गुरुद्वारा शक्तिका सञ्चार होनेपर कुण्डलिनी-शक्ति जागरित होती है, और उसके बाद क्रमोन्नतिके द्वारा योगलाभ होता है। जिस तरह तुम्हें वरतन, लकड़ी, जल और अग्नि इत्यादि किसी चीजको परिश्रम करके जुटाना नहीं पड़ता, केवल दाताकी कृपासे ही उसके धरमें तैयार अन्नसे ही तुम्हारी क्षुधा आन्त हो जाती है, उसी तरह तुम्हें परिश्रम करके सब योगोंकी आधारस्वरूपा मूलाधारस्थिता कुण्डलिनी-शक्तिको जागरित करनेके लिये योगशास्त्रोक्त आसन, मुद्रा और प्राणायामादि कुछ भी अस्वाभाविक ढगसे अनुष्ठान करनेकी जरूरत नहीं, केवल गुरुशक्तिके प्रभावसे ही कुण्डलिनी-शक्तिके जागरित हो जानेसे स्वाभाविक रूपमें योगमार्ग प्राप्त हो जाता है। इसीको 'सहज कर्म' कहा गया है। स्वभावसे जो होता है, वही वास्तवमें सहज है। स्वाभाविक और अस्वाभाविक भेटसे योगपथ दो प्रकारका है। उनमें अस्वाभाविक उपाय अत्यन्त कष्टसाध्य तथा विभ्रसकुल है। स्वाभाविकसे विपरीत ही अस्वाभाविक है। जो स्वाभाविक है, अर्थात् जो स्वभावतः होता है, वही अनायाससाध्य और सुखद है, तथा उसमें किसी तरहकी विपत्तिकी भी सम्भावना नहीं। देखो, जब स्वभावतः हमें निद्रा, क्षुधा और मल-मूत्रादिका वेग होता है तब सोजाने, भोजन कर लेने और मलमूत्रादि त्याग देनेसे शारीरिक स्वस्थता तथा मानसिक आनन्दका अनुभव होता है। किन्तु निद्राकी इच्छा न मालूम होनेपर भी जबर्दस्ती सो रहनेसे सुपुत्रिके स्वानमें स्वप्न आया करता है और उससे शारीरिक और मानसिक अस्वस्थताका अनुभव होता है। भूख नहीं है, फिर भी भोजन कर लिया, तो उससे अजीर्णतादि दोषके कारण शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना रहती है। भूख न रहनेपर भोजन करनेसे वह उतना रुचिकर भी नहीं मालूम होता। मलका वेग नहीं हुआ, फिर भी कॉखकर मल त्याग किया, इससे भविष्यमें गुह्य रोगोंके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है किन्तु वेग होनेके बाद मल त्याग

करनेपर शारीरिक और मानसिक आराम मालूम होता है। उसी तरह अन्तःकरणमें स्वाभाविकरूपसे आसन, मुद्रा और प्राणायामादि करनेकी इच्छा होनेपर और उसके अनुसार क्रिया करनेपर वह सहज और शान्तिप्रद हो जाती है। स्वभावसे ही जो हो जाता है, उसमें वाधा डालनेपर वर्तिक अनिष्टकी सम्भावना रहती है। जैसे, गोकर्मे जिस समय रुलाई आती है, उस समय उसमें वाधा उपस्थित होनेपर हृदयमें भयानक चोट लगती है, किन्तु रो लेनेपर शरीर और मन हल्का मालूम होता है। मल-मूत्रादिका वेग होनेपर उसे रोक लेनेसे दुःख होता है और रोग उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है, किन्तु उसका त्याग करते ही आराम मिलता है। उसी तरह गुरुशक्तिके प्रभावसे स्वभावतः जो आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदि तथा नाना प्रकारसे अंगसञ्चालन आदि करनेकी इच्छा होती है, उसमें उस समय वाधा डालनेपर मानसिक अगान्ति मालूम होती है और शरीरको भी अच्छा नहीं मालूम होता।

जिस तरह यायु, पित्त और कफ इन तीनोंके स्वभावमें विधमता होनेपर वैद्यके पास जाना पड़ता है और वैद्यके बतलाये हुए औपध, पथ्यका व्ययहार करके स्वभावकी सहायता करनेपर शरीर स्वभावतः ही नीरोग हो जाता है, उसी तरह सद्गुरुकी कृपासे शक्तिसञ्चारके द्वारा सिद्धिमार्ग प्राप्त होनेपर एकमात्र गुरुपदिष्ट मन्त्रजप्य या ध्यानके द्वारा ही स्वभावतः आसन, मुद्रा, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान इत्यादि सब योगाङ्ग अनायास साधित हो जाते हैं, इसके लिये विशेष परिश्रम करने वा चेष्टा करनेकी आवश्यकता नहीं होती, अथवा गुरुसे इन सब आसन, मुद्रा और प्राणायाम आदिका स्वतन्त्ररूपसे उपदेश लेनेकी भी जरूरत नहीं होती।

उसी पथसे क्रमगत अग्रसर होते-होते साधक शीघ्र ही योगसिद्धि प्राप्त करके कृतार्थ और धन्य हो जाता है। इस उपायसे स्वभावतः योगाङ्गादि ताधनक्रमसे जीव और ब्रह्मका ऐक्यज्ञान अथवा अज्ञान-न्यानुभूति होती है और इसीको सिद्धिमार्ग या सिद्धयोग कहते हैं। परन्तु यह शक्तिसम्पन्न सद्गुरुकी कृपा प्राप्त नहोनेपर ही सम्भव है।



वाम-कौल-तान्त्रिक योग

(लेखक—श्रीगुलावासिंहजी शर्मा)

नमाभि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम् ।
महाद्वृग्प्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ॥

‘मृत्युरूप महाभयका नाश करनेवाली, अति दुस्तर विनोदोंको आनंद करनेवाली तथा महान् करुणाकी मूर्ति आप महादेवीकी मैं बन्दना करता हूँ ।’

जीवात्माका विकास जीवनके उत्कर्षपर निर्भर करता है । यह जीवनशक्ति और प्राणोंकी वृद्धि हम योगाभ्याससे ही विशेषतः लाभ कर सकते हैं । आहार-विहारमें व्यथायोग्य सव्यम करते रहने और स्वास्थ्यके साधारण नियमोंका पालन करनेसे हमारी जीवनशक्तिकी वृद्धि होती है । तब योग-सरीखे सर्वोच्च सयमनमार्गका अभ्यास करनेसे हमारी आत्मिक शक्ति अवश्यमेव विकसित होगी, यह ध्रुव सत्य है । हाँ, इन क्रियाओंमें पथप्रदर्शक अर्थात् गुरुकी आवश्यकता अनिवार्य है, और यदि मनकी लगन सच्ची हो तो गुरु भी मिल जाता है । योगके नामसे कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, परन्तु अनुभव हमें वतलाता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस दोनोंकी प्राप्ति सुगम हो—केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता । इसी सिद्धान्तको ध्यान-में रखते हुए आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्णने गीताजी-में कहा है—

तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

(२।५०)

अर्थात् ‘इससे समत्ववृद्धि योगके लिये ही चेष्टा करो, यह गमत्ववृद्धि-रूप योग ही कर्मोंमें चतुरता है ।’ फिर आगे चलकर भगवान् अर्जुनको उपदेश देते हैं—

तपस्यिभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगो भवार्जुन ॥

(६।४६)

अर्थात् ‘योगी तपस्योंसे श्रेष्ठ है और शास्त्रोंके ज्ञान-भी श्रेष्ठ माना गया है, तथा सकाम कर्म करने-रोगी श्रेष्ठ है । अतएव ऐ अर्जुन ! तुम योगी नह रह सकते हैं कि योग पूर्णोग-मार्ग है और मैं है कि यह न यिसीका त्याग वतलाता

है न किसीका ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गोंमें है । योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनोंको प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्थाको प्राप्त करा देता है । गाल्लोंको देखने, सुनने और विचार करनेसे पता लगता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह दावा है—

यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो

यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।

श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां

भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव ॥

अर्थात् जहाँ भोग है वहाँ मोक्ष नहीं है और जहाँ मोक्ष है वहाँ भोग नहीं है । किन्तु जो लोग भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरीकी सेवामें सलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं ।

तान्त्रिक साधनामें कर्मके त्याग-ग्रहणकी आवश्यकता नहीं, केवल कर्मफल त्यागनेकी आवश्यकता है । इस साधनाके विषयमें कुछ कहनेके पूर्व ‘कौल’, ‘वाम’ आदि गद्बोंसे जो भ्रम होता है, उसको दूर करना आवश्यक है ।

वाम—अस्त्रेभः अनेनः अनेद्यः अनवद्यः अनभिश्वस्तः दक्ष्यः सुनीयः पाकः वामः वयुनस्तिति दश प्रशस्य-नामानि ।

(निरुक्त)

अर्थात् उपर्युक्त दस नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठके वाचक हैं ।

य एव हि प्रशावन्तस्तु एव हि प्रशस्या भवन्ति ।

(दुर्गाचार्य)

अर्थात् जो प्रजावान् (बुद्धिमान्) हैं वे ही प्रशस्य हैं । ‘प्रशस्य’ शब्दका अर्थ है प्रजावान् । प्रजावान् प्रशस्य योगीका नाम ही ‘वाम’ है । तन्त्रके प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियोंके लिये भी अगम्य है ।

अधिकार—

परद्वयेषु योऽन्दश्च परस्तीषु नपुंसकः ।
परापवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यान् वामे स्वादधिकारिता ॥
(मेरुतन्त्र)

अर्थात् जो परद्वयके लिये अन्धा है, परस्तीके लिये नपुंसक है, परनिन्दाके लिये मूक है और जो इन्द्रियोंके सदा अपने वज्रमें रखता है ऐसा ब्राह्मण ही वाममार्गका अधिकारी होता है ।

कौल-कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।
कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिवीयते ॥
(सच्छन्दतन्त्र)

अर्थात् 'कुल' ग्रन्थ शक्तिका वाचक है और 'अकुल' शब्दसे गिवका वोध होता है, कुल और अकुलके सम्बन्धको कौल कहते हैं ।

तन्त्र-तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या -तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता ।
तन्त्रेशा तन्त्रविच्छिन्नसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी ॥
(ब्रह्मामल)

अर्थात् 'देवी तन्त्रको रचनेवाली, तन्त्रके द्वारा वर्चनीय, तन्त्रकी स्वामिनी, तन्त्रको मान्य, तन्त्रको जाननेवाली, तन्त्रके द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी हैं' ।

तात्पर्य तन्त्र शक्ति प्राप्त करनेका मार्ग है और तन्त्र ही स्वयं शक्ति है । तन्त्रशास्त्रके दो मुख्य साधनमार्ग हैं— एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनीका ऊर्ध्व-सञ्चालन । शास्त्रकार कहते हैं—

भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।
भावेन परमं शानं तस्माद् भावावलम्बनम् ॥
(रुद्रायामल)

एहुआपाद् तथा होमाद् कायङ्केशादिविस्तरैः ।
न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ॥
(भावचूदामणि)

अर्थात् भावसे सब कुछ प्राप्त होता है, भावसे ही देवदर्शन होता है और भावसे ही श्रेष्ठ ज्ञानकी प्राप्ति होती है । चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीरको कितना ही हेत्र पहुँचावें, भावके विना देवता यन्त्र और मन्त्रज्ञा फल नहीं हेते ।

इसी मूल सिद्धान्तको लेकर तमोगुणाधिक साधकके लिये पशु-भाव, रजोगुणाधिक साधकके लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधकके लिये दिव्यभावकी साधना तन्त्र-शास्त्रमें बतायी है । इन तीनों प्रकारकी साधनाओंके लिये साधक जिज्ञासुओंको किसी सुविज गुरुके पास जाकर उनका मर्म जानना चाहिये । केवल ग्रन्थ देखकर कोई साधना करेंगे तो भ्रममें फँसकर अपना पतन करेंगे ।*

अस्तु, कुलकुण्डलिनी क्या है, यह अब पहले देखना चाहिये—

Shortly stated, Energy (*Shakti*) polarises itself into two forms, namely, static or Potential (*Kundalini*) and dynamic (the working forces of the body as (*Prāṇa*)

—Sir John Woodraffe (*Shakti and Shakti*)
Kundalini is the static *Shakti*

It is the Individual bodily representative of the great Cosmic Power (*Shakti*) which creates and sustains the Universe —('The Serpent Power' by Arthur Avalon)

अर्थात् संक्षेपमें हम यों कह सकते हैं कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीरकी प्राणरूप सञ्चालिका शक्ति) स्पसे द्विविध हो जाती है । —सर जॉन बुडरफ ('शक्ति और शाक्त') ।

कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है । यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्तिका ही व्यष्टि गरीरस्यत त्य है ।

—आर्थर एवेलन ('कुण्डलिना शक्ति') ।

यह तो हुई पाश्चात्य विद्वानोंकी राय । शास्त्रकारोंके वचन ये हैं—

* तान्त्रिक शब्द सब पारिमापिक हैं और उनका अर्थ गुण है । जो गुरु-परम्परानुसार चल रहा है । अतः उन आदेशों और क्रियाओंको गुरु ही समझा जकता है । यह 'हृदयका गुप्त रहस्य' है, जो गुरुसे शिष्यको प्राप्त होता है और उस ही रक्ता जाना है—

प्रकाशाद् सिद्धिहानि स्वादानाचारगानौ प्रिये ।
अतो वामपथ देवि गोपयेत् नात्तुजारवत् ॥
(विश्वनार)

अर्थात् ऐ प्रिये 'वामाचारसार्गमें साधनको प्रकाशिन करने निदिद्धानि देनां हैं, अतः ऐ देवि' वाममार्गको जानाके ज समान गुप्त रखना चाहिये ।

| MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

सुसा नागोपमा ह्येपा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।
अहिवद् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीवीजसंज्ञका ॥
ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोनिर्भया स्वर्णभास्वरा ।
सत्त्वं रजस्तमङ्गेति गुणत्रयप्रसूतिका ॥

अर्थात् यह देवी सोयी हुई नागके समान माल्हम होती है तथा अपने ही प्रकाशसे दीप है । यह सर्पके समान सन्धिस्थानमें रहती है तथा वाग्देवीके वीज नामसे विख्यात है । इसे विष्णुकी शक्ति जानना चाहिये । यह निर्भय और स्वर्णके समान आभावाली है तथा सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोंका प्रसूतिस्थान है ।

अर्थात् सब शक्तियोंकी मूल शक्ति यह कुलकुण्डलिनी है । इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है । हमारे ऋषियोंने कई प्रकारके उपाय साधनाधिकारभेदसे बताये हैं, जैसे मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, विन्दुयोग (अथवा नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि । इनका विवरण ग्रन्थोंमें होनेपर भी साधकके लिये सिद्ध गुरुकी आवश्यकता है । सिद्ध गुरुके विना कुछ प्राप्त नहीं होगा और मैं भी यहाँ उतना ही वर्णन करूँगा जितनेके लिये गुरु-आज्ञा है ।

(१) सबसे पहले वाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिये । फिर (२) आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिये । (३) ऐसे आचार नहीं होने चाहिये जिनसे मस्तिष्कमें अविक लोभ पैदा हो । (४) ईश्वर अर्थात् इष्टमें पूर्ण प्रेम होना चाहिये । (५) आन्यात्मिक ग्रन्थोंका स्वाध्याय और गुरु-आज्ञापर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिये । (६) साधनाका स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुसुक्त हो । (७) साधन प्रातः-साय और अर्द्धरात्रिमें अवश्य करना चाहिये । आधीरातका समय ध्यान और जपके लिये श्रेष्ठ है । (८) जिहादि इन्द्रियोंका पूर्ण संयम करना चाहिये । (९) मन-बुद्धिसे किसीका भी अहित न सोचना, प्रत्युत प्राणिमात्रके हितकी भावना करनी चाहिये । (१०) हर द्वालतमें ब्रह्मशक्तिका स्वरूप अपनेको समझते हुए अपने आत्माको अजर, अमर, और सब शक्तियोंका केन्द्रस्थान समझना चाहिये ।

नी-जातिकों जगदम्बास्मय समझते हुए कभी अमझना चाहिये, वल्कि माताके रूपमें

ये हैं नियम जिनमें साधकको साधनासे पहले अपने-आपको ढालना होगा । तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिये—शीर्षासनका नित्य प्रातः-साय अभ्यास करो । प्रथम एक मिनटसे प्रारम्भ करके जब दस मिनटतकका अभ्यास हो जाय तब प्राणायामका अभ्यास करो । पद्म या सिद्ध आसनसे वैठकर रेचक, पूरक, कुम्भकका अभ्यास आरम्भ करो । प्रयत्न करो कि ज्यादा देरतक कुम्भक हो सके, पर वल्पूर्वक प्राणवायुको रोकनेका प्रयत्न मत करो । धीरे-धीरे अभ्यास करो । इसमें उँचके उच्चारणकी गिनतीका हिसाब रखें और प्रति सप्ताह पॉच मन्त्र बढ़ाते चलो । वीस प्राणायामसे अधिक न बढ़ाना चाहिये और तीन घण्टेतकका कुम्भक हृद है । स्मरण रखें कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है, वायुका विशुद्धतम अग ही प्राणवायु कहलाता है । विशुद्ध-विग्रेपका सम्बन्ध ग्रहोंकी शक्ति (Planetary Electricity) और विग्रेपकर सूर्यज्योतिसे है । जबतक सूर्य रहता है जाग्रति रहती है । सूर्यके न रहनेसे जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाते हैं और उन्हें विश्रामकी आवश्यकता पड़ती है । अतः जिस तरह वाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे अन्दर सूर्यकेन्द्र है, जिसको (Solar Plex) कहते हैं । इसका स्थान नाभिके पास है और यौगिक भाष्मामें उसे मणिपूर-चक्र भी कहते हैं । यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणोमें आया है कि शक्तिका स्थान मणिपूरमें है । (इसी तरह विष्णुका वेकुण्ठ और शिवका कैलास भी मनुष्यके शरीरमें ही है । पर तिनकेकी ओट पहाड़ है ।) अतः प्राणायामकी प्रक्रियाद्वारा यही चित्त-शक्ति बढ़ायी जाती है और जब वह समय आ जाता है जब मणिपूर-चक्र जगने लगता है । जब चक्र जगने लगता है तब साधकमें तेज चमकने लगता है । वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है । उसके बाद प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और तल्लीनता अर्थात् समाधि आरम्भ होती है ।

मस्तिष्कही जानरज्जुके रूपमें मेरुष्टंडके भीतर नीचेतक अनन्त स्नायु-तन्तुओंके रूपमें फैला हुआ है । पायुसे दो अङ्गुल ऊपर, उपस्थित चार अङ्गुल नीचे जानरज्जु मेरुष्टंडके बाहर चार अङ्गुल विस्तृत कन्दके रूपमें प्रकट हुई है । सिद्धोंके मतानुसार उसी कन्दसे बहतर हजार नाडियोंका सम्बन्ध है । इन नाडियोंमें मुख्य इडा-पिङ्गला और

सुपुम्ना है। हमारा उद्देश्य केवल प्राणायामसे उस कन्दको पुष्ट करके शरीरको पुष्ट करना ही न होना चाहिये, बल्कि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा, हमारा लक्ष्य होना चाहिये ब्रह्मानन्द-प्राप्ति—शिवशक्तिसम्मिलन। हमारी अन्तर्मुख शक्ति तब सिद्ध होगी जब हमारा सम्बन्ध सुपुम्नासे होगा। क्योंकि सुपुम्ना नाड़ी कन्दसे होती हुई मस्तिष्कतक जाती है और जीवात्मासे विशेष सम्बन्ध रखती है। अतः इसी सुपुम्नाद्वारा योगिगण केवल भावनासे प्राणायामसे सञ्चित शक्तिको ठोकर लगाकर कुण्डलिनीको जगाकर ऊर्ध्वगामिनी करनेमें समर्थ होते हैं और अमृत-पद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुल-कुण्डलिनी-रूपी राधिकाका कृष्ण ब्रह्मके साथ (वशीवटके निकट) मस्तिष्कके पास रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्गद होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है—सब प्रनिधियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनीके जागरणपर एक प्रकारका कम्प पैदा होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वयं निकलने लगती है तथा अनेक प्रकारके स्वर आने लगते हैं। यह ओंकार जगद्म्बाका उद्गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सरका नाश ही शुम्म, निशुम्म, चण्ड, मुण्डका वध है।

भृकुटीमें द्विदल कमल है, जहाँ शिवका निवासस्थान है और योगियोंके मतसे महाकाल रुद्र वहाँ लेटे हैं। जगद्म्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती है, उनके वक्षःस्थलपर भीषण नृत्य करके उनसे जीवनका सञ्चार करती है और गवसे शिव बनाकर सहस्रदलपद्ममें सदा ही विहार करती है। यही कालीका नृत्य है।

तान्त्रिक मतसे एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योगके शास्त्रास्वरूप मन्त्र, च्योति, नादादि योग हैं। पर

योग मात्रकी साधना तभी सिद्ध होती है जब कुण्डलिनी जाग उठे। सब योगोंका लक्ष्य भी एक ही है। इसमें बाद-विवादसे कुछ नहीं मिलेगा, यह तो करतव विद्या है, जो करेगा वह आनन्द लेगा। इससे अधिक कुछ नहीं लिखा जा सकता, न लिखनेकी आज्ञा ही है। आगे जो कुछ है वह अनिर्वचनीय और अनुभवगम्य है। अन्तिम प्रार्थना यही है कि जगद्म्बा हमारा और आपका सबका कल्याण करें। जो साधना करना चाहें उनसे प्रार्थना है कि वे पञ्चदेवोंके प्रति द्वेष-भावना छोड़ दें, देव एक है, वस्तु एक है, केवल भावना और साधन-प्रणाली पृथक्-पृथक् है—ऐसा समझकर एक-दूसरेके इष्टको प्रेमसे देखें। इससे सबका मङ्गल होगा। शास्त्रकार कहते हैं—

एकैव	माया परमेश्वरस्य
	स्वकार्यमेदाद् भवति चतुर्धा ।
भोगे	भवानी समरे च हुर्गा
	क्रोधे च काली पुरुषे च विष्णु ॥

अर्थात् परमेश्वरकी एक ही माया अपने कार्य-भेदसे चार प्रकारकी हो जाती है। भोगके समय उसे भवानी कहते हैं, समरमें वही दुर्गा कहलाती है, क्रोधमें वह काली नामसे विख्यात होती है, तथा पुरुषरूपमें वह विष्णुसज्जाको धारण करती है।

जो इस पथपर चलेंगे वे आनन्द प्राप्त करेंगे—

ब्रह्मानन्दरसं पीत्वा ये तु उन्मत्तयोगिनः ।

इन्द्रोऽपि रक्षवद्धाति का क्या नृपकीटकः ॥

अर्थात् ब्रह्मानन्दरूप रसको पीकर जो योगी उन्मत्त हो जाते हैं उनके सामने इन्द्र भी रक्षतुत्य प्रतीत होता है, साधारण नृपरूप कीटोंकी तो वात ही क्या है ?

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः



अस्पर्शयोग

(लेखक—प० श्रीनरेंद्रजी शास्त्री वेदतीर्थ)

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो विभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥
(गौडपादीय कारिका ३९)

श्रीआनन्दगिरिजीने इस कारिकाका अर्थ इस प्रकार किया है—‘वर्णश्रमधर्मसे, पापादि मलसे जिसको स्पर्श नहीं होता, जो इनसे सर्वथा अछूत रहता है वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है । वह यह योग अर्थात् जीवकी ब्रह्मभावसे योजना ही अस्पर्शयोग है ।’

भगवान् गङ्गराचार्य इसका भाष्य यो करते हैं—

यद्यपोदभित्यं परमार्थतत्त्वम् । अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवज्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै सर्वयते प्रसिद्धसुपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत दृष्टिदुर्दर्शः सर्वयोगिभिः, वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य पृथेत्यर्थः । योगिनो विभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवज्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिभित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन दृश्यर्थः ॥ ३९ ॥

इसका अर्थ यह है—

‘यह अस्पर्शयोग सब स्पर्शोंसे, सब सम्बन्धोंसे अलिस रहनेका नाम है और उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है एव कई स्थानोंमें इसका उल्लेख आया है । जिनको वेदान्तविहित विज्ञानका बोध नहीं उनके लिये ‘दुर्दर्शः’ है । यह अस्पर्शयोग सब प्रकारके भयोंसे शून्य है तो भी योगिजन इस योगसे भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस अस्पर्शयोगके अन्याससे आत्मनाश न हो जाय । इस प्रकार अस्पर्शयोगद्वारा अद्वैततत्त्वमें मिल जानेसे आत्मतत्त्वका नाश समझनेवाले योगियोंका अविवेक ही है अर्थात् अविवेकियोंको ही ऐसा भय रहता है, अन्योंको नहीं ।’

उपनिषदोंमें ‘न लिप्यते कर्मणा पापकेन’ इत्यादि वचन मिलते ह । अस्पर्शयोगवाले योगिजन पाप-पुण्यसे अलिस रहते ह । इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उसका गाङ्गराचार्य, उसपर की गयी आनन्दगिरिजीकी टीका इन सर्वका अभिप्राय अस्पर्शवादसे विशुद्ध अद्वैतका है ।

अभयके विषयमें यह निम्नलिखित कारिका म्या कहती है, देखिये—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।

दुःखक्षयः प्रवोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥

(गौडपादीय का० ४०)

‘अभय—आत्मदर्शनतत्त्व तो मनके निग्रहके अधीन है जिससे समस्त दुःखोंका क्षय होता है और प्रवोधचन्द्रका उदय भी । अक्षय शान्ति भी मिलती है ।’

गीताका कर्मयोग भी एक प्रकारसे अस्पर्शवाद ही है ।

उसमें भी फलकी आकांक्षासे अछूत रहकर कर्म करना पड़ता है—फलकी आकांक्षा छोड़कर केवल कर्त्तव्यके लिये कर्त्तव्य करते रहनेसे पुरुष पाप-पुण्यसे अलिस रहकर मोक्षका अधिकारी बन जाता है । ध्यानयोगका जो फल है वही फल इस प्रकारके अस्पर्शवादका है—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

(१)

योगका व्यानयोग

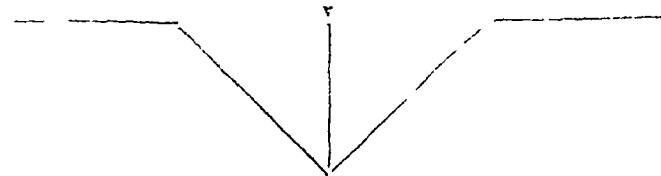
(२)

गौडपादका

(३)

गीताका कर्मयोग

अस्पर्शयोग



तीनोंका फल एक

अर्थात्

मोक्ष

जितना भी दुःख है वह है स्पर्शका, कर्मफलमें लिस रहनेका,—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।

(गीता)

X

X

X

न तेषु रमते बुधः ।

(गीता)

ससारके जितने संस्पर्शज भोग हे वे दुःखके ही कारण हैं—नुद्रिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, अलग रहते हैं,

अस्पर्शसे काम लेते हैं तब वे पुण्यापुण्यसे ऊपर उठते हैं, तब आत्मर्दर्जन कर पाते हैं, तब 'अभय' में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त कठिन है। साधारण योगियोंको तो क्या बड़े-बड़े योगियोंको भी अप्राप्य है। पर अभ्यास और वैराग्यसे वजीकारसज्जा प्राप्त करनेपर सहजगम्य है।

पुराकालमें हमारे इम पवित्र भरतखण्डमें इस प्रकारके उच्चकोटिके योगियोंकी कमी नहीं थी—जब भी वह खण्ड शून्य नहीं है पर पुराकालकी वह वात भी नहीं रही है। आजकल निम्नलिखित पारमार्थिक सत्यको समझानेवाले हमारे देशमें कितने मिलेंगे? और कहॉं मिलेंगे? मिलेंगे तो वे किस प्रकार पहचाने जायेंगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और तत्त्वको समझायेंगे?

न कश्चिज्ञायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चित्प्रज्ञ जायते ॥
(गौडपादीय कारिका ४८)

'वस्तुतः 'कर्ता' 'भोक्ता' जीव तो कभी उत्पन्न नहीं होता। स्वभावसे जो 'अज' है 'एक ही आत्मा' है वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसारमें जितने 'सत्य' हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें अनुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता।'

अब रही द्वैताद्वैतकी वात, उसको गौडपादीय कारिका ३१ में स्पष्ट वर्णन किया है—

मनोद्वैश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सच्चरम् ।
मनसो ह्यमनोभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥

'द्वैतकी सब वात मनके अधीन है—मनके कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहॉं? द्वैतकी वात बोलनेवाला कहॉं?

भक्तियोग तथा उसकी सर्वव्यापकता और उत्कृष्टता

(लेखक—माहिलानारायण प० श्रीमद्युरानाथजी शास्त्री, भट्ट, कविरत्न)

[१]

हे जिधित हो या अजिधित, आस्तिक हो या नास्तिक, सबका ध्येय सुख है। सबकी इच्छा यही रहती है कि दुःख-से बचें, और सुख मिले। मनुष्य ही क्या, प्राणिमात्र सुखके लिये ध्यम हैं। अपनी जानमें वह वही यक्ष करता है कि जिसे दुःखमें बचकर सुखके सम्मुख हो। किन्तु अपनी-अपनी त्रुदि और योग्यताके अनुसार उपायोंमें अन्तर है। एक आदमीके बक्तव्यकी पहुँच वर्दीतक हो पाती है कि कुछ दिनके लिये चाहे उसे दुःखसे छुटकारा भले ही मिल जाय परन्तु उस नियत अवधिके दीत जानेपर फिर उसे उसी दुःखका सामना करना पड़ता है। परन्तु दूसरा आदमी अपनी दूरन्देशीमें ऐसे उपायोंमें लगता है जिनके कारण अनन्त अवधिके लिये वह दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। गरमीके घासे घवराया हुआ पशु जब किसी मकानकी द्यायामें पहुँच जाता है तो समझता है, मैंने अपने उपायोंमें सुख प्राप्त कर लिया। किन्तु गूर्य र्दो-र्द्यों ऊपर चढ़ता

जाता है, छाया वहाँसे हटती जाती है। वह भी अपनी जानमें उपायोंमें कमी नहीं करता। उसके साथ-साथ आगे बढ़ता चला जाता है। किन्तु जब मकानकी भित्ति आ चुकती है, और धूपसे बचाव नहीं हो पाता तब वह अपने उद्योगको विफल समझकर घरा उठता है। सन्तापसे बचनेके लिये डधर-उधर दीन दृष्टि डालता है।

विचारशीलोंका एक वारीक विचार यहॉं और है। वह 'सुख' शब्दके अर्थपर ही डट जाते हैं। उनका कहना है कि 'सुख' पदार्थको ही अभी लोगोंने नहीं समझा है। वर्तमान परिस्थितिमें कुछ-न-कुछ उच्चति होना, थोड़ा-नहुत आराम और उत्कर्षकी तरफ जाना ही 'सुख' कहा जाना चाहिये। हमारी प्रचलित परिस्थितिमें एक आगन्तुक दुख जो अचानक आ पड़ता है उसकी निवृत्ति होनेपर हमें खुशी जल्द होता है किन्तु विचार-दृष्टिसे वह सुख नहीं कहा जा सकता। वह तो अचानक आवी हुई आपत्तिसे बचाव है न कि लाभ। जिस सेवक-को प्रतिमास पचास रुपया बेतन मिलता है, स्वार्मीकी अप्रसन्नताके कारण हर मात्र उसके यदि पॉच रुपये कुछ मासतक कटते रहे और फिर उन्हे पचास रुपया मारिये | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

मिलने लगे तो क्या इसे उत्तरि ममझेंगे ? रामना चलते हुए आदमीके सिरपर अचानक बोझ रख दिया जाता है जिससे वह बेचारा बवरा उठता है। उसके हट जानेपर जल्ल वह निश्चिन्तताका वास लेता है किन्तु क्या यह वामव सुख है ? सुख तो वह गिना जाना चाहिये जो कि उसे अपनी परिस्थितिसे कुछ आगे बढ़ावे। अतएव आगन्तुक दुःखोंके अभावको सुख नहीं मानना चाहिये। ससारके सुख प्रायः सब इसी तरहके हैं। भर्तृहरि कहते हैं—

निष्ठृत्तौ दुःखानां सुखमिति विपर्यस्यति जनः ।

इन सब वातोंको सोचकर ही विवेकगील दार्शनिकोंने उत्तमोन्नतम सुखकी परिभाषा अलग ही मानी है। वह स्वर्गसुखको उत्कृष्ट बताते हैं। दूसरे-दूसरे शास्त्रोंने 'स्वर्ग' को एक लोकान्तर माना है किन्तु इनके मतसे— 'जिस सुखमें दुःखका जरा भी मिलाव न हो, जो किसी सुखकी तुलनामें ढंगता न हो, जिसमें अन्तर (विच्छेद) न पड़ता हो, जो यथेच्छ प्राप्त हो, उसे ही स्वर्गसुख कहते हैं।'

जो ईश्वर और शास्त्रोंपर विश्वास नहीं करते उनके मतमें सुख और उसकी प्राप्तिके लिये उपाय-परिकल्पना कैसी होगी, इसपर मैं विचार करना नहीं चाहता। जो ईश्वरको केवल मानते ही नहीं, उसकी प्रसन्नता सम्पादनको ही जो परम पुरुषार्थ समझते हैं, शास्त्रोंको प्रमाण मानते हैं वे 'स्वर्गकामो यजेत' इस शास्त्राज्ञाके अनुसार स्वर्गसुखके लिये यज्ञ-यागादि किया करते हैं। किन्तु वह सुख भी साधिक (मर्यादी) है। किये हुए यज्ञादिका पुण्यफल जितने कालके लिये पर्याप्त हो सकता है उतनने कालके लिये वे भी उस लोकान्तर या सुखविशेषको भोगते हैं। फिर 'धीरे पुण्ये मर्त्यलोकं विगन्ति' ।

दूसरे, स्वर्गीय भी आपत्तियोंके आकर्मणोंसे एकदम वरी नहीं कहे जा सकते। माना कि हम परा-पगपर नाना-विध आपत्तियोंसे घिरे रहते हैं, चिन्ता और सन्ताप हमार दृग्दम पीछा किया करते हैं, सुख योद्धा और आपत्तियों वहुत। किन्तु एकदम सुखी तो देवता भी नहीं गिने जा सकते। और तो क्या, सब देवताओंके

अधिपति इन्द्र भी आये दिन शत्रुओंके आकर्मणोंका सामना किया करते हैं। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि स्वर्गमें पहुँचनेपर तो दुःखोंसे सदाके लिये छुटकारा हो ही जाता है ?

फिर यज्ञ-यागादिका पूरा पार पड़ जाना भी तो महज नहीं। उनकी विधिमें योद्धा भी अन्तर होते ही कार्यसिद्धि कैसी, उल्टा प्रत्यवाय (पाप) का भागी होना पड़ता है। 'त्रीहीन् अवहन्ति' वानोंका अवधार (काषाडिसे छड़ना) जहों विहित है वहों योद्धा भी अन्तर पड़ जानेसे कर्ममें वैगुण्य हो जाता है। 'दक्षिणे कुशानास्तीर्य' 'वेदीके दक्षिण भागमें कुश फैलावे'। यदि इसमें योद्धी भी भूल हो गयी तो कार्यसिद्धिमें अन्तर पड़ जाता है। मन्त्र योलते समय स्वरमात्रमें भी योद्धी-सी भूल हो गयी तो लेनेके देने पड़ जाते हैं। असुरोंकी तरफसे, इन्द्रको मारनेवालेको उत्पन्न करनेके लिये यज्ञ किया जा रहा था, किन्तु 'इन्द्रशत्रो' इस पदमात्रमें स्वर्गकी जरा-सी गलती करनेसे इन्द्रके हाथसे मरनेवाला पैदा हो गया। अब कहिये, कितनी बड़ी सावधानीका काम है। कितना अध्यवसाय, कितना परिश्रम, कितना काल अपेक्षित है ? फिर सौभाग्यसे पूर्ण सिद्धि हो भी गयी तो भी वह सुख सदाके लिये स्थायी हो, सो भी नहीं। 'पतनान्ताः समुच्छ्रुताः' के अनुसार कभी-न-कभी उसका भी अन्त होता ही है। अब कहिये, तपश्चर्या अथवा यज्ञादिके द्वारा जो हमने फलसिद्धि प्राप्त की उससे कौन-सा हमें आत्यन्तिक सुख मिल सका ?

फिर और लीजिये। यज्ञ-यागादि करनेके लिये, तपश्चर्या-विधानके लिये सब मनुष्य अधिकारी भी तो नहीं। प्रथम, वेदाध्ययनका ही सबको अधिकार नहीं, फिर उसके द्वारा यज्ञादि करना तो सबके हिस्सेमें आ ही कैसे सकना है ? वेदका सबको अधिकार क्यों नहीं ? मैं समझता हूँ, इसपर अगङ्गा करना जम नहीं सकेगा। क्योंकि 'वेद पढ़कर यज्ञ करनेसे स्वर्ग मिलता है' यह आपने कैसे जाना ? आप यही कहेंगे न कि शास्त्रमें लिखा देखा है। वस, उसी शास्त्रमें यह भी व्यवस्था की है कि अमुक वर्ण 'वेद पढे और अमुक नहीं।' फिर 'ब्रीश्चद्विजवन्यूनां त्रयी न श्रुतिगोचरं' पर ही आप क्यों विगड़ उठते हैं ? शास्त्र-के एक दिस्तेपर तो श्रद्धा रखकर यज्ञ करनेके लिये तैयार होते हैं और दूसरी तरफ शास्त्रको अप्रमाण भी मानते

जाते हैं ? यो मनमानी भी करना चाहते हैं और जान्मोंसे लाभ उठानेकी भी आशा रखते हैं ?

अब आप ही विचार कीजिये, सब प्राणियोंके लिये आत्मनिक सुखप्राप्तिका उपाय क्या हो सकता है ? मेरे पहले निवेदनपर ध्यान रहना चाहिये कि जान्मोंको जो प्रमाण मानते हैं उन आस्तिकोंके विषयमें ही मैं निवेदन कर रहा हूँ । और निवन्ध लिखना भी मेरा उन्हींके लिये है । जान्मज आस्तिकोंका कथन है कि आनन्दैकात्मक उन भगवान्से उत्पन्न हुआ उनका ही एकांग यह जीव जन्मतक उन्हीं भगवान्से सम्मुख नहीं होता तन्मतक इसको सुख नहीं मिल सकता । भगवान्से अपनी इच्छासे, अपनी क्रीडाके लिये, अपने ही व्यप्ति, स्वात्मक यह जगत् उत्पन्न किया है । जन्मतक वह स्वयं न चाहें तन्मतक इस क्रीडाकी समाप्ति न हो, वरावर यह क्रीडा चली जाय, इसके लिये कर्मवन्धका जो प्रवल चक्र चलाया गया है उसमें 'माया' का प्रधान हाथ है । वह इस जीवको ठिकानेपर आने ही नहीं देता । अपने स्वरूपको तथा अपने स्वामीको भूला हुआ यह जीव अन्धेकी तरह ससारचक्रमें अनन्त जन्मोंसे घूम रहा है । सौभाग्यवश सत्संगति मिल जानेपर जैसे ही यह उस सूक्ष्म सच्चे रास्तेके अभिमुख आने लगता है [यदि इसकी लगन दृढ़ न हुई] तो वह 'माया' फिर डमकी शुद्धिको त्रकरा देती है, जिससे यह उस रास्तेसे भटककर फिर उसी चौरासीके चक्रमें पढ़ जाता है ।

एक अन्धा यदि ऐसे एक वर्गीचेमें फँस जाय कि जिसके चारों तरफ लताओंसे आच्छन्न पुखता चहार-दिवारी हो, केवल एकमात्र सूक्ष्म दरवाजा ऐसा हो जिसपर भी आधेसे ज्वाडा लताएँ ढायी हुई हों । वह नि सदाय अन्धा चारों तरफ टटोलता-टटोलता बाहर निकलनेके लिये जैसे ही उस दरवाजेके सामने पहुँचने लगता है कि दरवाजेके सहारे खड़ा हुआ एक कौतुकी पुरुष मोरपञ्चकी पिंच्छी उसके शरीरपर छुआ देता है । वह नेचारा लताओंके धोखेसे उस दरवाजेमें न घुसकर फिर आगे बढ़ जाता है और उसी चहारदिवारीको टटोलता हुआ चक्र काटने लगता है । वस, यही हाल चौरासीके चक्रमें पड़े हुए इस जीवका है । जैसे ही यह सन्मार्गके अभिमुख होने लगता है कि फिर मायाकी चपेटमें पड़कर चौकड़ी भूल जाता है । गरज़ यह कि जन्मतक स्वयं उस फौतुक करनेवालेना ही आश्रय यह जीव नहीं

ले लेता तन्मतक यह उस 'भूलभूलैया' के बाहर नहीं निकल सकता । स्वयं भगवान् ही इस भेदको खोलते हैं कि— 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते' ।

[२]

भगवान्स्का आश्रय जिसमें लिया जाय, उनकी 'प्रपत्ति' जिसमें की जाय, अपने मनकी गति भगवान्स्में जहाँ लगा दी जाय, वह विगिष्ठयोग 'भक्तियोग' है ।

यों तो साच्चिक, राजस, तामस आदि भक्तिके अनेक भेद वताये गये हैं, परन्तु जहाँ और-और तरफ वहते हुए मनकी गतिको भगवान्स्में ही लगा दिया जाय, उस 'निर्गुण' भक्तिको ही सबसे प्रधानता दी गयी है । 'निवन्ध' वढ़न जाय, इसलिये केवल डेढ़ श्लोकसे ही इस 'भक्तियोग' का स्वरूप और उत्कर्ष दिखानेका यज्ञ करता हूँ । आशा है, मार्मिक लोगोंके लिये यही पर्याप्त होगा ।

भगवान् आज्ञा करते हैं—

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽस्तुधौ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हुदाहृतम् ।

'गङ्गाप्रवाहकी गति जिस तरह समुद्रकी तरफ अप्रतिरुद्ध और स्वाभाविक होती है, इसी प्रकार मेरे गुणोंको सुनकर सर्वव्यापक मुक्षमें अविच्छिन्न (प्रतिवन्ध-रहित) जो मनकी गति है वही निर्गुण भक्तियोगका लक्षण अर्थात् ज्ञापक (मूलक) कहा गया है' । यह पद्यका अधरार्थ हुआ । यहाँ एक-एक पदसे व्याक्या गृहीत्य सूचित किया गया है, अब जरा इसपर ध्यान ठीजिये—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण' इस पूरे पदमें प्रीतिकी स्वाभाविकता और मनोगतिकी अनिवार्यता सूचित की गयी है । मन गुणोंके कारण जब किसीपर अनुरक्ष होता है, वह अनुग्रह वडा दृढ़ और स्वाभाविक होता है । क्योंकि अपनी मनोरथपूर्तिके लिये जब किसीके प्रति किसीका स्विचाव होता है और वह अपने प्रेमपात्रको चाहने लगता है उसमें गुण दरअसलमें गुणका (रस्सीका) काम करते हैं । इसीलिये साहित्यवालोंने पूर्वानुग्राम कहा है—

श्रवणाद्वैर्णनाद्वापि मिथ्यं सहृदगगयो ।

श्रीरस्मिन्णीजीने जिस समय भगवान्के गुणोंको जुना उसी समय भगवान्से प्रति उनका हृदय तना झाकूँ

हुआ कि उन्होने सम्पूर्ण भूमण्डलके बड़े-बड़े प्रतापी राजाओंमें भगवान् श्रीकृष्णको ही अपने योग्य पति माना—

सोपश्चुत्य मुकुन्दस्य रूपचीर्यगुणश्रियः ।
... ...तं मेने सदृशं पतिम् ॥

इन गुणोंने श्रीरक्षिमणीजीके हृदयको इस प्रकार दृढ़ वॉध लिया था कि थोड़ा भी शैयित्य होना कहौं था ? इन गुणोंके कारण ती, विना भगवान्को देखे ही उन्होने भगवान्को अपना पर्णितक वरण कर लिया था । यह क्या सामान्य वात है ? वह कहती है—‘हे भुवनसुन्दर ! आपके गुणोंको सुनकर विवश हुआ यह मेरा हृदय सब अपत्रप (लजा) आदिको छोड़कर ‘आविश्वाति’ आपसे केवल लगा ही नहीं है, इसे एक तरहका ‘आवेद्य’ हो गया है । ‘तन्मे भवान् खलु वृतः पतिः’ ‘अतएव आपको मैंने अपना पति वरण किया है ।’ इस गुणश्रवणका प्रभाव यहींतक नहीं हुआ, वर्त्तक अपने प्राणपर्यन्त भगवान्को उन्होने अपेण कर दिये थे । वह अपने पत्रमें लिखती है—

यर्दम्बुजाक्षं न लभेय भवप्रसादं

जह्यामसन् व्रतकृशान् शतजन्मभिः स्याद् ।

हे कमलदललोचन ! यदि आपकी कृपा मुझपर नहीं होगी तो इन प्राणोंको मैं छोड़ दूँगी । ये प्राण पहले ही कैसे हैं—‘व्रतकृशान्’, आपकी प्राप्तिके लिये जो नाना व्रत किये हैं उनके कारण दुर्वल हो रहे हैं । फिर इनके चले जानेमें देर ती क्या लगेगी ? आप यह न समझें कि मेरा यह हृदयसमर्पण केवल इसी जन्मके लिये हुआ है । नर्ण-नर्ण, यदि आपका अनुग्रह इस जन्ममें न हुआ और आपको भ्रमण करते-करते यह घरीर छट गया तो फिर दूसरे जन्ममें भी आपकी ही प्रीति होगी । और दोहों भी आपके अनुग्रहकी ओही लालसा रहेगी । इस तरह चाहे मेरे अन (अनन्त) जन्म नी क्यों न हों, परन्तु मैं जापकी प्रगत्यात्मा प्राप्त किये गिना नहीं जी सकती । इस दृढ़तात्मो नूतन करनेके लिये ही आपने यहाँ कहा है—‘शतजन्मभिः स्यात् । वसु, गुण-श्रवणके द्वस सुदृढ़ और म्यादी प्रभावको दिखलानेके लिये ही भगवानने यहाँ कहा है—‘मद्गुणश्रुतिमाचेण’ ।

‘मात्’ इसमें या भृत्यन्त लिया गया है कि भक्तका ऐसा नामाचारण तोहं दृढ़ अनुगम नीना चाहिये कि एक राधाकृष्ण कर्त्ते ही भगवान्के प्रति उसका वह प्राप्तिन्दन है, जिसके प्रतिपत्तक नाममें उसके

हृदयको भगवत्प्रीतिसे रोक न सके । भगवद्विमुख राक्षस-मयी लङ्कामें रहते हुए भक्त विभीषणने जहौं भगवान्के गुणश्रवण किये वहाँ उनके हृदयका वह आकर्षण हुआ कि वस, उन्होने सर्वसमृद्ध लङ्का, स्त्री-पुत्र-वान्धव आदि सब कुछ छोड़कर भगवान् श्रीरामचन्द्रको ही अपना आत्मसमर्पण कर दिया । वह कहते हैं—

मवदूगतं मे राज्यं च जीवितं च सुखानि च ।

विभीषणने तवतक भगवान् श्रीरामचन्द्रका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं किया था । श्रीरामके त्रिलोकविख्यात गुण ही उनके कानोंतक पहुँचे थे । परन्तु गुणश्रवणसे ही उनके हृदयमें वह प्रीत्युद्रेक हुआ कि उन्होने सब राज्य-सुखादि-को तृणवत् छोड़कर, प्रत्युत भ्रातृत्यागसे हुई समस्त ससारकी अवहेलनाको भी सिरपर स्वीकार करके, श्रीरामचन्द्रकी चरणसेवाको ही आजन्मके लिये अङ्गीकार कर लिया । इसी प्रेमकी दृढ़ताको सूचित करते हुए वहाँ कहा है कि मद्गुणश्रुति ‘माचेण’ ।

‘मयि’ ‘मुझमें’ (मनोर्गतिः, मनका लगना), यही कहना पर्याप्त था, फिर ‘सर्वगुहाशये’ यह विशेषण देनेका तात्पर्य है ‘सर्वव्यापक, सर्वसाक्षी मुझमें’ । अर्थात् जिस तरह मेरे गुणश्रवण वह कर चुका है, उसी तरह मेरा प्रभाव, माहात्म्य भी जिसको अवगत हो चुका हो । इसका आवश्य यह है कि जिसको भगवान्के सर्वसामर्थ्य, ऐश्वर्य, सर्वव्यापकतापर दृढ़ विवास हो जायगा फिर उसकी भक्ति भगवान्से कभी भी हट न सकेगी । क्योंकि जब वह देखेगा कि भगवान्से बढ़कर चतुर्दश भुवनोंमें भी कोई समर्थ नहीं है तो अब उनको छोड़कर वह किसके पास जायगा ? प्रहादकी परीका करनेके लिये जिस समय भगवान्ने कहा—

वर वृणीष्वाभिमतं कामपूरोऽस्यहं नृणाम् ।

हे प्रहाद ! अपना अभिमत वर मौगो । मे मनुष्योंके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हूँ । उस समय ऐकान्तिक भक्तवर प्रहादने कहा कि—हे भगवन् ! मेरे सदृश तुच्छ तो पहलेसे ही मनोरथोंमें आसक हैं, फिर आप मुझे वरोंके द्वारा क्यों ग्रलोभित करते हैं । और हे भगवन् ! आपके सम्मुख आकर मैं मौगूँ भी तो क्या मौगूँ ? मनुष्यके प्रार्थनीय आनु, धन, वैभव ही क्या स्थिर हैं, जो इनके लिये आपके सम्मुख मुख्य नोना जाय । हे अस्तिलेश ! मैंने मनुष्य तो

क्या, देवताओंतकी दग्गा देख ली है। देवता भी कैसे ? सम्पूर्ण लोकोंके पालक होनेके कारण जो 'लोकपाल' कहाते हैं। मैंने देखा है कि उनके भी आयु, धन, वैभव, मेरे पिता (हिरण्यकशिषु) की भ्रुकुटिके कोटेपर चढ़े हुए थे। जरा-से फर्कसे इधरके उधर हो जाते थे। कोपसे उसकी भ्रुकुटि जरा बँकी हो जाती, इतने मात्रमें वह अपनी आयुकी समाप्ति समझ लेते थे, और प्रसन्नताएं जरा भी उसकी भ्रुकुटि नाच उठती तो वह अपना अहोभाग्य समझते थे। वह अद्भुत प्रतापी पिता भी जब आपके आगे क्षणभरमें निरस्त हो चुका, तो अब आपके सामर्थ्यको समझना कुछ बाकी रह गया ?

महाभारतके युद्धमें सम्मुख समरसे विचलित हुए अर्जुनको जिस समय भगवान्‌ने सम्पूर्ण सांख्ययोगादिका उपदेश दिया, उस समय युक्तियुक्त होनेके कारण सब बातें उसने मान तो लीं परन्तु उसके हृदयमें कुछ सन्देहरेखा वरावर बनी रही। जिस समय भगवान्‌ने कहा—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमन्ययम् ।
विवस्वान्मनसे प्राह मनुरिक्ष्वाकचेऽब्रवीत् ॥

इस अक्षय 'योग' का उपदेश मैंने सूर्यको दिया था, सूर्यने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुके लिये बताया था। उस समय सन्दिग्ध अर्जुनने पूछ ही तो लिया कि—'अपर भवतो जन्म पर जन्म विवस्वतः' [हे भगवन्। आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म तो आपसे बहुत पहले हो चुका है, फिर आपने यह उपदेश विवस्वान्को कैसे दिया ?] इसपर भगवान्‌को अपना माहात्म्य अर्जुनके लिये कहना पड़ा—

अजोऽपि सक्षम्यात्मा भूतानासीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यास्ममायथा ॥

'मैं जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित हूँ तथा प्राणिमात्र-का स्वामी हूँ तो भी दया-दाक्षिण्य आदि अपने स्वभावको लेकर अपनी लीलासे जगत्के उद्धारके लिये उत्तम होता हूँ।'

सर्वस्य चाहं हृषि सन्निविष्टो
मत्तः स्तृतिर्ज्ञनमपोहनं च ।

वैदैश्च सर्वैरहमेव वैद्यो

वैदान्तकुद्वेदविदेव चाहम् ॥

'मैं सबके हृदयमें अन्तर्यामीस्थप्तसे रहता हूँ। स्मृति और ज्ञान तथा उनका अभाव (विस्मृति और अज्ञान) यह सब मुक्ष्महीसे होता है। वेदोंके द्वारा उपदेश्य भी मैं ही हूँ तथा वेदोंका कर्ता और ज्ञाता भी मैं ही हूँ।'

इत्यादि भगवान्‌का अलौकिक माहात्म्य जब अर्जुनको विदित हुआ और विश्वरूपदर्शनके द्वारा जब भगवान्‌का सर्वसामर्थ्य उसके हृदयमें अच्छी तरह जम गया तब भगवान्‌के प्रति उसकी श्रद्धा और विश्वास अटल हो गया। अपने हृदयमें भगवान्‌के प्रति समानभाव रखनेकी जो धृष्टता उसने की थी उसके लिये गत-अत प्रणाम करके उसने क्षमा माँगी। हाथ जोड़कर उनकी प्रपत्ति की और कहा कि 'करिष्ये वचनं तव' 'मैं अब जो आपकी आज्ञा होगी वही करूँगा।' कारण इसका यही था कि अर्जुनको भगवान्‌के माहात्म्यका दृढ़ निश्चय हो चुका था। इसीलिये 'भक्ति' के लक्षणमें आचार्योंने कहा है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।
रगो भक्तिरिति प्रोक्तः……………॥

वस, भगवान्‌के सर्वसामर्थ्यको जानकर भक्तकी श्रद्धा और भी सुदृढ हो जाय इसीलिये यहाँ विशेषण दिया है—'सर्वगुहाशये'।

'मनका लगना' यह न कहकर 'मनोगतिः' यह कहना बड़ा गम्भीर भाव व्यनित करता है। जिस मनको निश्चल करनेके लिये योगी और मुनि चिरकालतक घोर परिश्रम करके भी कभी-कभी फेल हो जाते देखे हैं, उसी चञ्चलतम स्वभाव मनको निश्चल बनाकर किसी जगह लगा देना क्या स्वाभाविक बात है ? 'योग' और 'भक्तियोग' का तारतम्य जरा बारीकीसे परखनेका यही स्थल है। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' 'मनकी वृत्तिको रोक लेना' इसीपर योगकी नींव डाली गयी है। किन्तु चित्तवृत्ति रोक लेनेके इतिहासपर साधारण भी दृष्टि डालेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि इसकी सिद्धि होना क्या सबके लिये सरल है ? विश्वामित्रसदृश त्रिलोकविश्रुत तपस्ती, जिन्होंने कि अपने तप-प्रभावसे दूसरी स्थिति बनाना ही आरम्भ कर दिया था, वह भी इस मनके अनिवार्य वेगको जब नहीं रोक सकते हैं तब मनको निश्चल कर द्वालना क्या साधारण— | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

१. दृष्टि मया दिवि विभोऽविलिप्यपाना-
मायु थियो विभव इच्छनि याज्ञनोऽयम् ।
येऽसाप्तितु कुपितशासविजृभित्तम्-

विस्मृजितेन कुनिना स तु ते निरतः ॥

मी वात होगा । चब्बल और वेगवान् होनेमें मन आजतक दुनियाभरमें सबका उपमान रहा है । इससे बढ़कर कोई चपलस्वभाव नहीं ।

र्गातामं भी मनके नियत्की जहौं वात आयी वहौं अर्जुनको कहना पड़ा—

चब्बलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्वद्म् ।
तस्याहं नियह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

‘प्रमाथि’ ‘वलवद्’ ‘द्वद्म्’ इन तीनों विशेषणोपर योङ्गा विचार करनेकी आवश्यकता है । यदि कोई पदार्थ तेज तो हो किन्तु दुर्वल (कमजोर) हो तो फिर भी वचावकी आजा रहती है परन्तु यहाँ कहा है ‘वलवत्’ (वलवान्) । वलवान् भी हो परन्तु कुछ मृदुप्रकृति अर्थात् अपने निश्चयसे लौट आना भी जहौं सम्भव हो तो फिर वचतका अवकाश होता है किन्तु यह है ‘द्वद्म्’ । और तो क्या, यह जिस समय विकृत होता है और इसके रोकनेकी वलवत् चेष्टा की जाती है उस समय यह छद्मवेग होकर भीतर-ही-भीतर सब इन्द्रियोंको मथित (विहृल) कर डालता है । भला, इसकी गतिको रोक लेनेका ‘योग’ (तुसखा) सबसे सध सकेगा कि जिससे वे इस ‘भवरोग’ से छुटकारा पावें । इसीलिये ‘भक्त्योग’में गतिको रोकनेकी वात नहीं, प्रत्युत यहौं तो ‘गति’ का विशेषण दिया है ‘अविच्छिन्ना’ वे-रोक-टोक ।

आप मनकी गति रोक लेनेकी अस्वाभाविक और कठिन चेष्टा न कीजिये । उसकी गतिको अविच्छिन्न रहने दीजिये, किन्तु उसका मुख जरा मोड़ दीजिये । अपतक वह और-और तरफ बहता था, अब भगवान् कपिल इतना-ना ही भक्तिमें ‘योग’ साधन करनेके लिये आज्ञा दे रहे हैं कि वह गति ‘मयि’ में तरफ कर दो । मनका जितना भी वेग है सब मेरी तरफ जोड़ दो । जब आप उसकी गतिको जावरदम्ती रोकनेकी असाध्य चेष्टा नहीं करते तब वह भी ‘विद्रोही’ नहीं होगा । उसे आप मार्ग बना दीजिये, वह उसी रास्ते अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति से चरना रहेगा । पानी बहता हुआ जिस समय जाएगे आ रहा हो यदि आप उसे रोकना चाहेंगे तो फल यह होगा कि यह सब नगफ़ फैल जायगा । और अधिक च्याप घेनगा । यह भी वहुन सम्भव है कि यदि वह प्रवल आए तो रोकनेवाले नहीं रहा ले जाय । किन्तु यदि

आप उसकी गतिको मोड़ देंगे, रोकेंगे नहीं, तो वह सीधा-सीधा चला जायगा । इसी स्वारस्यको सूचित करनेके लिये दृष्टान्त भी दिया है ‘यथा गङ्गाम्भसः’ जैसे गङ्गाके जलकी गति ।

‘जैसे गङ्गाकी गति समुद्रकी तरफ होती है’ यहाँ कहना तो पर्याप्त था, किर ‘गङ्गाके जलकी गति’ यो बोलनेमें ‘भुजङ्गकी-सी गति’ क्यों ? सुनिये—भगवती गङ्गा हिमालय-गिरावरसे जिस समय उद्भूत होती है उनकी गति नीचेकी तरफ होती है । और जैसे-जैसे उनसे हिमका द्रव (पिघलाव) मिलता जाता है वह प्रवल प्रवाहके साथ आगेकी तरफ बढ़ती जाती है । गगनचुम्बी पर्वतसे उतरकर समुद्रकी तरफ जाती है, इसलिये ढलावकी तरफ छुका हुआ जलप्रवाह कितने प्रवल वेगसे चल रहा होगा यह सरलतासे अनुमान किया जा सकता है । उस प्रचण्ड प्रवाहमें यदि पर्वत-सरीखा भी आ जाय तो उसे भी एक बार तो भेदन करके वह निकल जाय । भला, जलके वेगको कोई रोक सकता है ? ढलावकी तरफ छुकी हुई जलकी और मनकी गति अनिवार्य होती है इस वातको महाकवि कालिदासने भी माना है । वह कहते हैं—

क ईस्मितार्थस्थिरनिश्चयं मनः

परश्च निष्ठाभिसुखं प्रतीपयेत् ।

‘अपने मनोरथकी तरफ प्रवलतासे छुके हुए मन और ढलावकी तरफ बहते हुए जलको भला कौन लौटा सकता है ?’

‘अविच्छिन्ना’ का तात्पर्य है प्रतिवन्धरहित । अर्थात् मनकी गति भगवान्से ऐसी हो जाय कि कोई उसे रोक न सके । सदा भगवान्सकी ही भावना रहे । ऐन्द्रिय विषयोंका भी यदि प्रसङ्ग आ पहे तो भी भगवान्सका सम्बन्ध न टूटे । नेत्रेन्द्रियको अच्छे दृश्य देखनेकी यदि लालसा हो तो भगवान्सकी सेवामें ही नाना तरहके वस्त्र-आभूषण—लता-वृक्ष पुष्पादिका आयोजन कर दीजिये जिसमें चकुरिन्द्रिय ‘विद्रोही’ न हो । प्रत्युत भगवत्सेवामें आसक्त होनेके कारण कल्याणमार्गका परिष्कारक हो जाय । इसी तरह आस्वाद्य पदार्थोंकी तरफ यदि जिह्वादिकी प्रवल उत्कण्ठा हो तो भगवन्नैवेद्योपयुक्त भोजयादिसे उसे जान्त करके अनुकूल मार्ग दे दीजिये । कहनेका

وَلِلْمُهَاجِرِينَ وَالْمُهَاجِرَاتِ وَالْمُهَاجِرَاتِ وَالْمُهَاجِرَاتِ

وَمِنْهُمْ مَنْ يَرْجُو
أَنْ يُنْهَا إِلَيْهِ الْمُؤْمِنَاتُ
فَلَا يَرْجِعُوهُنَّ إِلَيْهِنَّ
إِنَّمَا يُنْهَا إِلَيْهِ الْمُؤْمِنَاتُ
الَّتِي لَا يَرْجِعُوهُنَّ إِلَيْهِنَّ
أَنَّهُنْ لَا يَعْلَمُونَ

॥ କଥିଲୁଗନି କଥିଲୁଗନି କଥିଲୁଗନି କଥିଲୁଗନି
। କଥିଲୁଗନି କଥିଲୁଗନି

॥ अस्ति विष्णुः स विष्णुः विष्णुः विष्णुः विष्णुः ॥

ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ
ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ ପାତ୍ରମାନଙ୍କ

। ਕਲਾ ਜਾ ਸੂਬਦੀ ਜੇ ਕਿਵੇਂ ਜਿ ਪਿਆਸ
 ਕਲਾ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ ਸਪਨੇ ਹੋ ਪਿਆ ਉਮੈ ਆਖੀਂ
 ਜੇ ਬਚੇ ਪ੍ਰਾਣ ਰੱਖੇ ਕਲਾ ਹੋ । ਹੋ ਮਹੁੰ ਹਿਤਕਿਹੜੇ
 ਕਲਾ ਜਾ ਪ੍ਰਭਾਵ ਜੇ ਬਚੇ ਪ੍ਰਭਾਵਿਤ

۱۰۷

କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ କାହିଁ

(ପ୍ରକାଶିତ ମହାନାଟୀର୍ଥରେ ଲାଗୁ ହେଲା—ଶବ୍ଦିକ୍ଷା)

上卷

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है ? क्योंकि ब्रह्म-आभूषणादि, मित्र-भार्या-मुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं । परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् द्वृटनेवाला अतएव अनित्य है । इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणिको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर चीतती है । आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरञ्जक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिड़ियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके घेरमें फँसी हुई वह चिड़िया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असर्मर्य है, रक्षणकी इच्छासे एकनित कर, आखिर प्रवल ज्वालामिके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सवको पैरके तले दवाती हुई उनके भस्त्र होनेके बाद आप स्वयं उसी अभिमें भस्त्र हो जाती है । यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है । अस्तु,

इस सचारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्के प्रतीक हैं । इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं । इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्य रूपसे कर सकते हैं । परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्के प्रसाद-की कारण नहीं होती । इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमानजी अविसरणीय उदाहरण हैं । इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठवृद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्की भक्ति दी कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है ।

श्रीमन्मध्याचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं । शिशुपालादिसे शापादिसे द्वेषादि-वृद्धि थी । स्वरूपतः वे भक्त ही थे । इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विरुद्ध होनेपर भी भगवान्ने शमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया । यदि द्वेषादिको

भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आकमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्राप्तक ही क्यों न कहा जाय ? इससे 'द्वेषाचै-द्वादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपमक्तपर ही कही गयी है ।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-भक्तिके प्रकार से उसका ज्ञान नहीं हो सकता । प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है । उसमें कोई भक्तगण वाच्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तरन्वाच्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं । अतएव 'ग्रहतर्क' मे कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृस्यन्ति गायन्ति च यत्प्रिस्तम् ।
केचिच्छूष्णां भजन्त्येव केचिच्छौभयकारिणः ॥
इसी अभिप्रायसे पदरक्षावलीमें भी कहा है—
केचिद्दुन्मादवद्भक्ताः वाहालिङ्गप्रदर्शकाः ।
केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्छौभयात्मकाः ॥
सुखप्रसादादाद्याच्च भक्तिर्जेया न चान्यतः ॥
हसनादिलक्षणसुन्मादादावतिष्याप्तमित्यत उक्तं
सुखप्रसादादिति ।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—
एवंब्रतः स्वप्रियनामकीत्यां
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
स्युन्मादवस्थृत्यति लोकवाच्याः ॥
(११ । २ । ४०)

क्वचिद्दुन्त्यच्युतचिन्तया क्वचि-
द्ब्रह्मन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तृष्णां परमेत्य निर्वृताः ॥
(११ । ३ । ३२)

भगवान्का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्के विशेष चरित्र स्मरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, बिना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर दो या न हो । कभी हावभावसे भगवान्के चरित्रका अनुकरण करते हैं । कभी भगवान्की मनोहर नृतिको मनमें लाकर

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें बैलक्षण्य ही क्या रह जाता है ? क्योंकि वल्ल-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् द्वृटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोपर आकर बीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरूपक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ कर देनेके लिये एक चिदियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके धेरमें फँसी हुई वह चिदिया वडे कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रवल ज्वालामिके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सवको पैरके तले दवाती हुई उनके भस्त्र होनेके बाद आप खयं उसी अभिमें भस्त्र हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस ससारमें पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको कमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्यरूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्के प्रसादकी कारण नहीं होती। इस विषयमें कमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसूयाजी, सीताजी तथा हनुमानजी अविसरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठद्विद्वृपूर्वक करनेसे भगवान्की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्याचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-बुद्धि भी। स्वरूपतः वे भक्त ही ये। इससे पागल पुत्रादिके समान अपने विशद्ध होनेपर भी भगवान्ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। सुदूर द्वेषादिको

भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोका मनिदर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा स्वर्गादिप्राप्त ही क्यों न कहा जाय ? इससे 'द्वेषादि-द्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-

भक्तिके प्रकार से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तरण वाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तरन्वाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'व्रक्षतर्क' में कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृद्यन्ति गायन्ति च यत्प्रिसितम् ।

केचित्तृष्णां भजन्त्येव केचिच्चोभयकारिणः ॥

इसी अभिप्रायसे पदरक्षावलीमें भी कहा है—

केचिद्दुन्मादवद्धक्ताः वाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः ।

केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्चौभयात्मकाः ॥

सुखप्रसादादवर्द्धाच्च भक्तिर्हेण्या न चान्यतः ॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिव्याप्तित्यत उक्तं सुखप्रसादादादिति ।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

पूर्वं ग्रन्थः स्वप्रियनामकीत्या

जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

हसत्ययो रोदिति रौति गाय-

स्युन्मादवक्षृत्यति लोकवाहाः ॥

(११ । २ । ४०)

क्षचिद्दुन्मत्यच्युतचिन्तया क्षचि-

द्यसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

कृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं

भवन्ति दूषणीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(११ । ३ । ३२)

भगवान्का दर्शन हमे किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्के विशेष चरित्र सरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, विना पृष्ठे ही कभी लोगोंको भगवान्के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आदर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्के चरित्रका अनुकरण करते हैं।

भक्तियोग

(लेखक—पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेड़कर)

भन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौज-
स्तेजःप्रभाववलपौरुपद्विद्योगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य सुंसो
भक्त्या तुतोप भगवान् गजयूथपाय ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ९ । ९)

विश्वके कल्याणका अमोल सुयोग भक्तियोगपर ही निर्भर करता है । अतः उस रमणीय भक्तियोगको विश्वके 'कल्याण' द्वारा ही प्रकट करता हूँ ।

भक्तिका स्वरूप अनुग्रह, प्रेम, भक्ति ये तीनों एक ही स्नेहके पर्याय हैं । वयोमान, गुण, योग्यतादिसे किञ्चित् न्यून रहनेवाले सेवक, शिष्य, पुत्रादिपर जब इस स्नेहका दौरा पहुँचता है, तब वह अनुग्रहके नामसे जनतामें प्रसिद्ध हो जाता है । यदि अपनी वरावरीके मित्रण, भार्यादिसे स्नेहमय वार्तालाप, अथवा पत्रव्यवहारादि करने लगें तो यही स्नेह प्रेमरूपसे फड़कने लगता है । कदाचित् सौभाग्यवश अपनेसे श्रेष्ठ माता, पिता, गुरु और देवतादिके पास विनय, श्रद्धा, सदाचारादि अलङ्कारोंसे मण्डित होकर पहुँचे तो फिर यह स्नेह राजपर्वि प्रहाठ, अम्बरीप अथवा देवपर्वि नारदादिकी पक्षिमें भी बैठते नहीं सकुचता ।

केवल इसी स्नेहके ऊपर समस्त विश्वका उदय और आनन्द निर्भर है । यदि यही एक स्नेह समस्त भूमण्डलमें यथायोग्य सभी लोगोंमें फैल जाय तो भूलोक और स्वर्लोकमें अन्तर ही क्या समझ पड़ेगा ? माता पुत्रका, राजा प्रजाका, गुरु शिष्यका, विशेष म्या कहे करुणासागर भगवान् अपने सूज्य पदार्थोंका पालन केवल इसी स्नेहके वर्गीभूत होकर करते हैं । इसके विपरीत पुत्र, प्रजा, शिष्य आदि भी जो माननीयोंकी सेवा-आदरादि करते हैं वह भी इसी स्नेहका परिणाम है । यदि इसी दृष्टिकोणसे समस्त जगत्-की ओर देखा जाय तो इस स्नेहमयी वागडोरको माता, पुत्र, पिता, गुरु, शिष्य, वन्धु आदि समस्त जगत्-में फैलाकर, उसमें उस जगत्-को नर्थीकर, भगवान् किस प्रकारसे जगत्-का पालन करते हैं यह भेद खुल जाता है । और भगवान्-की इस अगाध महिमाका विचार करनेसे हमारा

स्नेहमय भक्तियोग ब्रह्माण्डमें न समाकर उसके भी परे रहनेवाले आनन्दकन्द मेघश्याम भगवान्-के चरणारविन्दी-में लीन हो जाता है । इसीसे भक्तियोगकी उत्कृष्टता और व्यापकता कितनी है, यह बात सुगमतासे ध्यानमें आ जाती है ।

भक्तियोगका स्वरूप ही उसकी महत्ता तथा व्यापकतामें प्रमाण है । इसलिये पहले उसका स्वरूप ही पाठकोंके सामने रखते हैं जिससे भक्तियोगकी अन्य विलक्षणता भी सहज ही दृष्टिपथमें आ जाय ।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीने अपने ग्रन्थोंमें भक्तियोगका वर्णन नीचे लिखे अनुसार किया है ।

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः ।

स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्तः तथा मुक्तिर्न चान्यथा ॥

(श्रीमन्महाभारतात्पर्यनिर्णय)

महत्त्ववृद्धिभक्तिस्तु स्नेहपूर्वाभिधीयते ।

तथैव व्यज्यते सम्यग् जीवरूपं सुखादिकम् ॥

(ब्रह्मसूत्रभाष्य)

इसी अभिप्रायसे योगिवर श्रीमत्यर्तीर्थमुनीन्द्रजीने 'श्रीमन्न्यायसुधा' ग्रन्थमें कहा है—

तत्र भक्तिर्नाम निरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्व-ज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयममस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिको-ऽन्तरायसहस्रेणाप्यप्रतिवद्धो निरन्तरप्रेमप्रवाहः ।

सारांश,अपरिमित अनवद्य कल्याणगुणोंके ज्ञानसे उत्पन्न हुए, अपने समस्त सम्बन्धिजन तथा पदार्थोंसे ही क्या, प्राणोंसे भी कई गुना अधिक, हजारों विन्न आनेपर भी न छूटनेवाले, अत्यधिक सुदृढ, गङ्गाप्रवाहके समान अखण्ड प्रेमके प्रवाहको भक्ति कहते हैं ।

इसीको दूसरे शब्दोंमें सक्षेपसे कहना हो तो इस प्रकार भी कह सकते हैं कि जिस अखण्ड स्नेहधारामें सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय है, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य भक्तियोग है । इसी प्रकार मातृपितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, पतिभक्ति, स्वामिभक्ति आदिमें भी अनन्यत्व जानना चाहिये ।

यदि सर्वसाधारण स्नेहको ही भक्ति कहा जाय तो अन्य पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहसे भगवानादि श्रेष्ठ पदार्थोंपर किये जानेवाले स्नेहमें वैलक्षण्य ही क्या रह जाता है? क्योंकि वस्त्र-आभूषणादि, मित्र-भार्या-पुत्रादि समस्त पदार्थोंपर यथाक्रम अधिकाधिक स्नेह हम सभी लोग करते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त है कि यह स्नेह कारण-वशात् दृटनेवाला अतएव अनित्य है। इस सिद्धान्तकी प्रतीति प्रत्येक प्राणीको उस समय स्पष्टरूपसे हो जाती है जब कि उसके खास प्राणोंपर आकर वीतती है। आध्यात्मिक तत्त्वोंको लोकप्रसिद्ध तथा मनोरक्षक दृष्टान्तोंसे समझा देनेमें परमकुशल श्रीवेदव्यासजीने, श्रीमन्महाभारत-जैसे उच्च कोटिके ग्रन्थमें यही सिद्धान्त अनुभवारूढ़ कर देनेके लिये एक चिह्नियाकी कहानी कही है जिसमें, कराल दावानलके बेरमें फॅरी हुई वह चिडिया बड़े कष्टसे पालन किये हुए अपने छोटे-छोटे सात बच्चोंको, जो कि उड़नेमें असमर्थ हैं, रक्षणकी इच्छासे एकत्रित कर, आखिर प्रवल ज्वालामिके तापसे विवश होकर, केवल अपनी रक्षाके लिये एकके पीछे एक सबको पैरके तले दवाती हुई उनके भस्त्र होनेके बाद आप स्वयं उसी अभिमें भस्त्र हो जाती है। यह स्वप्राणोंपर रहनेवाले स्नेहका चरित्रचित्रण है। अस्तु,

इस समारम्भे पुत्र, शिष्य, भार्या, सेवकादिकोंको क्रमशः माता-पिता, गुरु, पति, स्वामी आदि ही अनन्य भक्तिके लिये भगवान्के प्रतीक हैं। इनकी भक्ति करनेसे ही उनके अन्दर रहनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं अन्यथा नहीं। इनकी सेवाके अविरोधसे, अथवा इन लोगोंकी अनुमतिसे अन्य प्रतीकोंकी भी शास्त्रविहित सेवा अन्यान्यरूपसे कर सकते हैं। परन्तु यदि इनके विरोधसे जप, तप, पूजा आदि की जाय तो वह कभी भगवान्के प्रसाद-की कारण नहीं होती। इस विषयमें क्रमशः पुण्डलीकमुनि, रामचन्द्रजी, कृष्णजी, अनसुयाजी, सीताजी तथा हनुमानजी विविसरणीय उदाहरण हैं। इससे मातृभक्ति, पितृभक्ति आदि भी भगवन्निष्ठवृद्धिपूर्वक करनेसे भगवान्की भक्ति ही कहाती है, ऐसा सिद्ध होता है।

श्रीमन्मध्वाचार्यजीके सिद्धान्तमें द्वेषादि दोष भक्तिके साधन नहीं हैं। शिशुपालादिमें शापादिसे द्वेषादि-वृद्धि थी। स्वरूपतः वे भक्त ही थे। इसीसे पागल पुत्रादिके समान अपने विचद्ध होनेपर भी भगवान्ने क्षमाकर उनको अपने अन्दर स्थान दिया। यदि द्वेषादिको

भक्तिका स्वरूप ही कहा जाय, तो यवनादिकोका मन्दिर गौ इत्यादिपर किया हुआ आक्रमण, पुण्यप्राप्तिद्वारा सर्गादिप्रापक ही क्यों न कहा जाय? इससे 'द्वेषादि-व्यादयो नृपाः' इत्यादि वाक्योंकी योजना स्वरूपभक्तपर ही कही गयी है।

भक्ति, स्नेहविशेष मनोनिष्ठ धर्म होनेके कारण, प्रत्यक्ष-भक्तिके प्रकार से उसका ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्युत कार्यसे ही भक्तिकी पहचान हो सकती है। उसमें कोई भक्तगण बाह्य उन्मादादि चिह्नोंसे युक्त, कोई केवल आन्तर भक्त तथा कोई आन्तर-बाह्य दोनों प्रकारोंसे युक्त होते हैं। अतएव 'व्रद्धतर्क' में कहा है—

केचिद्भक्ताः प्रनृत्यन्ति गायन्ति च यथेष्टितम् ।

केचित्तृष्णोऽभजन्त्येव केचिच्छौभयकारिणः ॥

इसी अभिप्रायसे पदरक्षावर्लीमें भी कहा है—

केचिद्दुन्मादवद्भक्ताः बाह्यलिङ्गप्रदर्शकाः ।

केचिदान्तरभक्ताः स्युः केचिच्छौभयात्मकाः ॥

सुखप्रसाददार्ढ्याच्च भक्तिक्षेया न चान्यतः ॥

हसनादिलक्षणमुन्मादादावतिष्यासमित्यत उक्तं सुखप्रसादादिति ।

भक्तिके कार्योंका श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार वर्णन है—

एवं ब्रतः स्वप्रियनामकोत्पर्य

जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-

स्युन्मादवसृत्यति लोकवाह्यः ॥

(११।२।४०)

क्षचिद्दुन्त्यच्युतचिन्तया क्षचि-

द्धसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।

नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं

भवन्ति दूष्णों परमेत्य निर्वृताः ॥

(११।३।३२)

भगवान्का दर्शन हमें किस प्रकारसे होगा इस चिन्तासे भक्त कभी रोते हैं, कभी भगवान्के विशेष चरित्र सरण आनेसे हँसते हैं, आनन्द मानते हैं, नाचते हैं, विना पूछे ही कभी लोगोंको भगवान्के चरित्र वर्णन करते हैं, फिर उसमें लोगोंको आठर हो या न हो। कभी हावभावसे भगवान्के चरित्रका अनुकरण करते हैं! कभी भगवान्की मनोहर मृत्तिको मनमें लाकर

प्रसन्नचित्तसे चुपचाप बैठे रहते हैं, किसीके पूछनेपर भी उनको जवाब नहीं मिलता ।

इन्हीं भक्ति-कार्योंको लेकर अवधूतशिरोमणि श्रीविष्णु-तीर्थजीने भक्तिकी तीन अवस्थाएँ कही हैं । भक्ति-कार्य

भक्तवर प्रहादने यह भक्ति नौ प्रकारकी कही है । वही मध्यसिद्धान्तमें प्रमुख मानी गयी है ।

हासादि जिसमें स्पष्टरूपसे नहीं दीखते वह अपका भक्ति, जिसमें साधारण स्पष्टरूपसे उन्मादादि कार्य दृष्टिगोचर होते हैं वह पक्षकल्पा, तथा विशेषरूपसे जिसमें ग्रहग्रस्तके समान देखनेमें आते हैं वह पक्षभक्तियोग कहाता है ।

प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण	प्रकार	उदाहरण
१ श्रवणम्... परीक्षित, गार्गि, जनमेजय आदि ।		४ पादसेवनम्... हनूमान्, वलि, विभीषण आदि ।		७ दास्यम्... लक्ष्मण, हनूमान्, सात्यकि ।	
२ कीर्तनम्... सनक्षुमार, नारद, शुकाचार्य आदि ।		५ अर्चनम्... रुक्मिणी, द्रौपदी, (पत्रम्)	गजेन्द्र, शवरी, वलि (पुष्पम्)(फलम्)(तोयम्)	८ सर्व्यम्... अर्जुन, सुग्रीव आदि ।	और—
३ सरणम्... गजेन्द्र, अजामिल, गोपिका, कंस, शिशुपाल, (काम) (भय) (द्वेष)		६ चन्दनम्... रहूण, नलकूवर, मणिग्रीव आदि ।		९ आत्मनिवेदनम्... द्रौपदी, कुन्ती, उद्धव, आदि अनेक हैं ।	

भगवान् श्रीकृष्णजीने गीतामें—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविघोर्जुन । ज्ञातुं द्रष्टुं च तस्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

इस श्लोकसे तीन प्रकारको भक्ति ज्ञान, दर्शन और प्रवेशमें कारण कही है । तीनों प्रकारकी भक्ति अनन्य होनेपर भी उनका पूर्वापरी भाव होनेके कारण उनमें तारतम्य मानना पड़ता है । साधारणतः मोक्ष प्राप्त करनेके लिये कारणीभूत अनन्य भक्तिके द्वारा अधिकारीको चार सोपान (सीढ़ियाँ) चढ़ने पड़ते हैं ।

प्रथम सोपान अपक भक्तिके उपाय	द्वितीय सोपान पक्षकल्प भक्तियोगके उपाय	तृतीय सोपान पक्ष भक्तियोगके उपाय	चतुर्थ सोपान मोक्षके उपाय
१ श्रद्धा, आस्तिक्यबुद्धि-द्वारा शास्त्रविहित कर्म-नुष्ठानसे अन्तःकरणशुद्धि ।	१ अपक भक्तियोग (<u>अनन्य-भक्ति</u>) ।	१ पक्षकल्प भक्तियोग (<u>अनन्यभक्ति</u>) ।	१ पक्ष भक्तियोग (<u>अनन्य-भक्ति</u>) ।
२ तत्त्वज्ञानके लिये गुरुके पास गमन ।	२ विशेषरूपसे तत्त्वज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन	२ ध्यानतत्त्वके विशेष ज्ञानके लिये गुरुसमीपगमन ।	२ भगवान्का अतिशयिन प्रसाद ।
३ प्रणिपातादि(<u>नमस्कारादि</u>) गुरुसेवा ।	३ परिप्रश्नादि गुरु-सेवा ।	३ गुरुसेवा सर्वरूपसे ।	३ प्रारब्धकर्मभोगद्वारा अनिष्ट पुण्यपापोंका नाश ।
४ सामान्यरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन ।	४ विशेषरूपसे तत्त्वोंका श्रवण, मनन, ज्ञान ।	४ उपदेशानुसार ध्यान ।	४ उत्कान्ति ।
५ अपक भक्तियोग (<u>अनन्य-भक्ति</u>) ।	५ तत्त्वनिश्चयद्वारा पक्षकल्प भक्तियोग (<u>अनन्य-भक्ति</u>) ।	५ भगवान्का साक्षात्कार तथा उससे पक्ष भक्तियोग	५ सत्यलोकादिद्वारा वैकुण्ठादि लोकोंमें गमन भगवत्-प्रवेशादि क्रीडादि ।

उपरिनिर्दिष्ट विषयमें प्रमाण अनेक होनेपर भी लेखका विस्तार बहुत हो जानेके कारण स्थलाभावसे यहाँ नहीं दे सकते, इसलिये हम आशा करते हैं कि पाठकवर्ग क्षमा करेंगे ।

अन्य साधनोंसे अप्राप्य परम पुरुषार्थ मोक्ष भी जब भक्तिकी महत्वा मत्तिसे प्राप्त होता है तब इस भक्तियोग-से श्रेष्ठ अन्य पदार्थ और कौन-सा हो सकता है ? जिस समय अरण्यमें रहनेवाले पाण्डवोंसे मिलनेके लिये सत्यभामाको लेकर श्रीकृष्ण भगवान् गये उस समय सत्यभामा द्रौपदीसे पूछती है कि 'हे द्रौपदी ! हमें बहुत आश्र्य प्रतीत होता है कि तुम अपने पाँचों पतियोंको कैसे स्वाधीन रखती हो । हमें तो एक ही पति है परन्तु वह हमारे अधीन नहीं है । अतएव हमें भी अपनी शिष्या बनाकर उस वशीकरणमन्त्रका उपदेश दे दोगी तो अच्छा होगा ।' उस समय हँसकर सती द्रौपदीने सत्यभामासे कहा कि, केवल पतिको ही क्या, समस्त विश्वको अपने अधीन रखनेमें समर्थ ऐसा यह खियोंको अनन्य पति-भक्तिस्वरूप महावशीकरणरूपी बड़ा भारी मन्त्र है ।

भगवान् स्वयं इसकी महत्वा अपने मुखसे वर्णन करते हैं कि—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च ।
ममका यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

'हे प्रिय नारद ! हम वैकुण्ठमें ही वास करते हैं, अथवा योगीलोगोंके हृदयमें ही वास करते हैं यह समझना भूल है । जहाँपर हमारे भक्तिगण अत्यन्त भक्तिभावसे गायन करते हैं, वहाँ अवश्य ही हम रहते हैं ।'

श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् अपने भक्तोंको कहते हैं—

यस्यामृतामलयशःश्रवणावगाहं
सद्यः पुनाति जगदाश्वपचाद्विकुण्ठः ।
सोऽहं भवद्य उपलब्धसुतीर्थकीर्तिं-
शिष्टां स्वाहुमपि वः प्रतिकूलवृत्तिम् ॥
(३ । १६ । ६)

'जिसका अमृतरूपी निर्मल यश, श्रवणरूपी स्नानसे आचार्णालान्त समस्त जगत्को उसी क्षणमें पवित्र करता है, आप-सरीसे भक्तोंसे जिसको पवित्र कीर्तिका लाभ हुआ है, वह हम, आपलोगोंके प्रतिकूल आचरण करनेवाला यदि हमारा अपना ही हाथ क्यों न हो, उसे काट डालेंगे, फिर अन्यके विघ्यमें कहना ही क्या ?'

अतएव माठर श्रुतिमें कहा है—

भक्तिरेवै न यति भक्तिवशः पुरुषः ।

'भक्ति ही मोक्षका कारण है । परमात्मा भक्तिके अधीन है ।'

कठ श्रुतिमें भी भगवान्के प्रसादका असाधारण कारण भक्ति ही वर्णित है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो

न मेष्या न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू ऽस्ताम् ॥

शिष्यमण्डलीको जमाकर बड़े-बड़े अर्थशास्त्रके विद्वत्ता-प्रचुर व्याख्यानोंसे, अथवा तर्कशास्त्रादिके केवल फोडपत्रनिर्माणोपयोगिनी कुशलबुद्धिसे, अथवा समस्त देशोंके नाना प्रकारके समाचारपत्रादिके अध्ययनसे, अथवा भक्तिरहित अन्तःकरणसे भगवद्गुणानुवादोंका श्रवण-मननादि करनेपर भी भगवान् प्रसन्न (प्राप्त) नहीं होते किन्तु भगवान्, जिसको अपना भक्त कहकर स्वीकार करते हैं उसीको अपना स्वरूप तथा अधिकारीका स्वरूप प्रकट कर दिखाते हैं । सारांश भक्तिके सिंषा परमात्म-प्राप्तिका अन्य कोई भी उपाय नहीं है । इसीसे भक्तियोगके सदृश महत्वा अन्य किसी भी योगकी नहीं है ।

भक्ति उत्पन्न होनेका उपाय श्रीमद्भागवत-जैसे भक्तिप्रधान ग्रन्थमें अमङ्गलोंके नाश करनेवाले उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवादोंका श्रवणादि ही कहा है—

यस्तूतमश्लोकगुणानुवादः

सङ्गीयतेऽभीक्षणममङ्गलमः ।

तमेव नित्यं शृणुयादभीक्षणं

कृष्णमलां भक्तिममोप्समानः ॥

(१२ । ३ । १५)

भगवद्गुणानुवाद केवल अमङ्गलोंका नाश करनेमें ही पट्ट (चतुर) है, इतना ही नहीं किन्तु भक्तिप्रतिवन्धक इघर-उघरके ग्राम्य-समाचार, विषयप्रवर्तक प्रतीति-सुन्दर कथाओंमें भी अस्त्रचि उत्पन्न करनेवाला है । ऐसा कहा है—

यत्रोत्तमश्लोकगुणानुवादः

प्रस्तूयते ग्राम्यकथाविवातः ।

निषेष्यमाणोऽनुदित्तं सुमुक्षो-

र्मति सर्वी यच्छ्रिति वासुदेवे ॥

जान, भक्ति, वैराग्यप्रवर्तक 'कल्याण' मासिकका अन्य मासिकोंकी अपेक्षा अत्य ही कालमें इतना अधिक प्रचार इस विषयमें प्रज्वलित तथा आदर्श उदाहरण है। 'तस्य तावदेव चिर यावन्न विमोच्येत' इस श्रुतिके अनुसार भगवान्की प्राप्तिमें उतनी ही देर है जितनी देरतक भक्ति-प्रवर्तक विद्वकल्याणयोग प्रत्येक प्राप्तिको नहीं होता। लेख बहुत ही विस्तृत हो गया है। जिस भगवान्की प्रेरणासे ये चार शब्द 'कल्याण' भक्तोंके सामने रखनेका

सुयोग प्राप्त हुआ है उसीके चरणारविन्दोंमें यह अर्पणकर पाठकोंसे विराम ग्रहण करता हूँ।

यत्कीर्तनं यत्स्वरणं यदीक्षणं
यद्वन्दनं यच्छ्रवणं यदर्हणम् ।
लोकस्य सद्यो विधुनोति क्लमपं
तस्मै सुभद्रश्वसे नमो नमः ॥
(श्रीमद्भागवत २।४।१५)
श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।



भक्तियोग

(लेपक—आचार्य श्रीवाल्मीकी गोस्वामी)

योगेश्वराय कृष्णाय योगक्षेमप्रदायिने ।
भक्तियोगवित्तानाय श्रवतीर्णाय ते नमः ॥

योग शब्द कितने व्यापक वर्णोंमें व्यवहृत होता है, यह बात 'कल्याण' के दूसरे 'योगाङ्क' में प्रकाश्य विषयोंकी सूची देखनेसे ही विदित हो जाती है। इस अनेकार्थवाची शब्दोंसे दो अक्षरके 'योग' शब्दकी यथार्थ परिभाषा करना, कमसे-कम मेरी विद्या-बुद्धिके तो वाहरकी बात है, परन्तु 'कल्याण' के सुयोग्य सम्पादक मनोदृश्यके प्रेमभरे अनुरोधकी रक्षा करना भी मेरे लिये अनिवार्य है, अतएव मैं जो कुछ इस सम्बन्धमें लिखेंगा उसमें अपनी कोई कल्पना सम्मिलित न कर केवल योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णके ही उस मतका अनुसरण करूँगा जो उन्होंने इस विषयमें अपने योग-गार्थमें प्रकट किया है। वे योगकी परिभाषा करते हुए कहते हैं—

योगं कर्मसु कौशलम् ।

अर्थात् कर्मोंके करनेमें जो कुशलता (चतुराई) है, उसीका नाम योग है।

कर्मोंको कुशलतासे करनेका आशय यह है कि कर्म एक जड़ीय तत्त्व है। यह जीवोंके जड़वन्धनका कारण है। जड़बुद्धि जीवोंके लिये कर्मोंका करना अनिवार्य है। देहवारी जीव कर्म किये विना एक क्षण भी नहीं रह सकते, जीवोंकि कर्मके विना शारीरिक कृत्योंका होना असम्भव है। अतएव हमें ऐसी चतुराईसे

कर्म करने चाहियें, जिसमें वे यथावत् होते भी रहें और हमारे वन्धनका कारण भी न बनें। यह चतुराई हम तभी कर सकते हैं जब हम पहले कर्मके रहस्यको समझ लें। वह रहस्य यह है कि वास्तवमें कर्म स्वयं कोई फल उत्पन्न नहीं करता, उसके साथ हमारी जो इच्छा सम्मिलित होती है उसीके अनुसार फल प्राप्त होता है। यह बात इस उदाहरणसे भली-भांति समझमें आ जायगी—जैसे कोई दुष्ट मनुष्य जब किसीके शरीरपर अस्त्रद्वारा आघात करता है तब वह युलिसद्वारा पकड़ा जाकर न्यायालयसे दण्डित होता है, और डाक्टर साहब अनेक रोगियोंके शरीरपर रोज शस्त्रप्रयोग करते हैं तो भी वे राजाप्रजा दोनोंके द्वारा सम्मानित होते हैं। दुष्ट और डाक्टरका कर्म एक है, केवल उसके करनेकी इच्छा पृथक्-पृथक् है। दुष्टकी इच्छा तो दुख देनेकी होती है और डाक्टर साहबकी इच्छा आराम पहुँचानेकी होती है; इसीलिये दोनोंका कर्म समान होनेपर भी, कर्ताकी इच्छाके अनुसार फल भिन्न-भिन्न मिलता है। इसी नियमके अनुसार जो कर्म फलकी आशासे हम अपने लिये करते हैं, वे हमें फल भोगनेके लिये वन्धनमें ले आते हैं और जो फलाशा-त्यागपूर्वक भगवान्के लिये करते हैं वे हमें जड़मुक्त कर परमधामको पहुँचाते हैं। इस प्रकार कर्म करते समय अपनी इच्छाको ठीक रखना ही कुशलता है और यह कुशलता ही योग है। इससे भिन्न अर्थमें योग शब्दका प्रयोग योगेश्वरको स्वीकृत नहीं है। इसीसे वे कहते हैं—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि सतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
अर्थात् हे अर्जुन ! योगी पुरुष तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी
आदि सत्रसे श्रेष्ठ है, अतएव तू योगी बन जा ।

यदि कहो कि तपस्वी, ज्ञानी, कर्मी आदि भी तो
योगी कहे जाते हैं, तो योगेश्वर अपने अभिमत योगी-
के लक्षण भी बताते हैं—

योगिनामपि सर्वैर्पां मङ्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

‘अन्य समस्त योगियोमें जो अपने अन्तरात्माको
मुक्ष्में लगाकर श्रद्धापूर्वक मेरा भजन करता है मैं उसीको
सर्वोत्तम योगी मानता हूँ ।’

योगेश्वरने हमको अपने योगगात्रमें कर्मोंको कुगल-
तापूर्वक करनेकी प्रक्रिया भी उपदेश कर दी है। वे आज्ञा
करते हैं—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वमावदोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

‘आहार-विहार, कर्मोंकी चेष्टा एव ग्रथन-जागरण-
को युक्तरूपसे करनेवाले पुरुषका योग दुःखोंको नाश करता
है।’ योगेश्वर युक्त शब्दका भी अर्थ स्वय आदेश करते हैं—

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥

‘सर्व कामनाओंसे रहित एकाग्रचित्त जब आत्मामें
स्थित होता है तब वह युक्त कहाता है ।’

आत्माका अर्थ भी उन्होंके मुखारविन्दसे सुनिये—
अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।

‘समस्त भूतोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मैं ही सबका
आत्मा हूँ ।’

सबका सारार्थ यह है कि जो कुछ भी कर्मचेष्टा की
जाय, उसका सबका सम्बन्ध सर्वात्मा श्रीकृष्णके साथ
स्थापित करनेसे ही दुख दूर करनेवाला योग होगा ।

इससे योगेश्वरने कहा है—

यत्करोपि यदक्षासि यज्जुहोपि ददासि चर ।
यत्पत्स्यसि कौन्तेय तत्कुरुप्व भर्दप्गम् ॥

‘हे कौन्तेय ! तू जो कुछ करे, जो भोजन करे, जो
दूषन करे, जो दान करे, जो तप करे, वह सब मेरे अर्पण
कर दे ।’

ऐसा करनेसे क्या होगा ? सो भी योगेश्वर बतलाते हैं—
शुभाशुभफलैरेवं सोक्ष्यसे कर्मवन्धनैः ।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मासुपैष्यसि ॥

‘शुभाशुभ फलवाले कर्मवन्धनोंसे छूट जायगा और
कर्मत्यागरूप योगसे युक्तात्मा विमुक्त होकर मुझे प्राप्त करेगा ।’

सारांग यह है कि फलाग्रासे शून्य कुबलतासे किये
हुए कर्मकी कर्म संज्ञा नहीं होती, किन्तु वह योग नाम-
से अभिहित होता है और इसे अन्यान्य साधारण योगोंकी
अपेक्षा असाधारण सिद्ध करनेके लिये भक्तियोग आख्या
प्रदान की गयी है। अन्यान्य योगोंमें एव भक्ति-
योगमें सत्रसे बड़ा अन्तर यह है कि वे सब व्यभिचारी
योग हैं और वह अव्यभिचारी है। जो योग श्रीकृष्णसे
अतिरिक्त विषयान्तरोंसे प्रयुक्त होता है, वह व्यभिचारी है।
और जो एकमात्र श्रीकृष्णको ही विषयरूपसे वरण करता
है, वह अव्यभिचारी है। श्रीकृष्णसेवैकपरायण इस
भक्तियोगके द्वारा ही हम मायिक गुणोंसे पार होकर,
निर्गुण अवस्था लाभ कर सकते हैं, जैसा कि श्रीयोगेश्वरने
स्वयं श्रीमुखसे आज्ञा की है—

मां च योऽध्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समर्तात्मैतान् ब्रह्मभूयाय कृष्णते ॥

अर्थात् जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा
मेरा सेवन करता है, वह गुणोंको अतिक्रम कर ब्रह्मभावको
प्राप्त करनेमें समर्य होता है।

ब्रह्मभाव मुक्त जीवकी एक निर्गुण अवस्थाविशेष है,
यह भी श्रीयोगेश्वरने ही कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति ।

सम् सर्वेषु भूतेषु भद्रकिं लभते पराम् ॥

‘ब्रह्मभावको प्राप्त पुरुषका आत्मा प्रसन्न होता है,
न वह शोच करता है, न आकांक्षा करता है;
सब भूतोंमें समान भाव रखता हुआ मेरी पराभक्तिको
प्राप्त करता है ।’

अर्थात् भक्तियोगका ही अपर नाम साधन-भक्ति
है जिसके द्वारा पराभक्तिका अधिकार लाभ होता है।
यह श्रीयोगेश्वरके अभिमत ‘योग’ की व्याख्या है। इससे
आगे पराभक्ति भावराज्यकी बात है। उसके सम्बन्धमें
कुछ लिखना मेरे समान अभाविकके लिये और भी कठिन
है और इससे अधिक लिखनेके लिये स्थान भी नहीं है
अतः विषयको घट्टी विश्राम दिया जाता है।

भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद

(लेखक—देवर्पि पं० शीरमानाथजी शास्त्री)

ज्ञेहो भक्तिद्विधा वैधी स्वभावानुगता च या ।

प्रपत्तिरात्मनिष्ठेषः सा द्विधा रुदियोगतः ॥

ज्ञेह आनन्दधर्मः स्वादानन्दो भगवानिति ।

प्रपत्तिः स्वीकृतिर्विष्णोभेदोऽनयोद्दियोः ॥

‘स्नेह (प्रेम)’—रस ही भक्तिरस है । यह भक्तिरस दो प्रकारका है, एक आत्मप्राप्त और दूसरा स्वभावप्राप्त । पर अपने-आपको परमात्मापर छोड़ देना प्रपत्ति कहलाता है । यह प्रपत्ति भी दो तरहकी है, पहली रुदिप्राप्त और दूसरी योगप्राप्त ।

‘आनन्दकी ही एक किरण स्नेह है, और भगवान् स्वर्य आनन्दस्वरूप हैं । भगवत्कृत स्वीकारको (दूसरी) प्रपत्ति कहा है’ अतएव भक्ति और प्रपत्तिका भगवान्‌के साथ भेद और अभेद दोनों सम्बन्ध हैं ।

‘आनन्दः प्रियतातीव’ आदि वाक्योंसे और अनुभव-से यह सिद्ध है कि आनन्दका ही विस्तार स्नेह किंवा प्रेम है । और ‘सत्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म’ इत्यादि श्रुतियोंसे यह भी सिद्ध है कि आनन्द ही भगवान् है । अतएव कहना होगा कि भगवान् और भगवान्‌का स्नेह (प्रेम) वास्तवमें एक है । किन्तु एकतामें व्यवहार-आनन्द नहीं आता इसलिये यह भगवान्‌का आनन्द प्रेमरूप होकर हमारे पास आ गया । अब हमें भगवान्‌के आनन्दका स्वाद आने लगा । इस तरह भक्ति और भगवान्‌म परस्पर भेदाभेद सम्बन्ध है ।

यही वात प्रपत्तिमें भी है । प्रपत्तिका रूढ अर्थ है स्वीकार और यौगिक अर्थ है आत्मनिष्ठेप । प्र—प्रक्षेप, एकदम, पत्तिः—पदनम्, भगवान्में चले जाना और आत्मनः—अपने-आपको भगवान्में निष्ठेप—नितरां क्षेपः—एकदम डाल देना, दोनों वातें एक ही है । यदि प्रपत्तिका कोरा ‘स्वीकार’ अर्थ लेते हैं तो भगवान्‌के साथ प्रपत्तिका ‘द है और यदि आत्मनिष्ठेप लेते हैं तो अभेद है । इस रह प्रपत्तिका भी भगवान्‌के साथ भेदाभेद सिद्ध है । गवत्कृत जीवस्वीकार और जीवकृत भगवत्स्वीकार उनों प्रपत्ति हैं । पहली अनुप्रह (मुष्टि) प्रपत्ति है, और दूरी मार्यादिक प्रपत्ति । दृष्टान्त श्रीगोपीजन और तीव्रभीषण ।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्त्वयैव भजाम्यहम् ।

‘रसो वै सः’ ‘सत्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म’ ‘आनन्द

आत्मा’ । वह परमात्मा रस है । परब्रह्म सत्य, विज्ञान और आनन्द है । आनन्दमय परब्रह्मका आत्मा भी आनन्द ही है । इत्यादि श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा रसरूप है, आनन्दरूप है । और ‘ममैवांशो जीवलोके’, ‘अंशो नानाव्यपदेशात्’, ‘एकांशेन स्थितो जगत्’ इत्यादि स्मृतिसूत्रोंसे यह भी स्पष्ट होता है कि उस रसरूप परमात्माका ही रूपान्तर होनेसे—अंश होनेसे सब देहोंमें विद्यमान आत्मा (जीव) भी वास्तवमें रसरूप आनन्दरूप ही है । किन्तु माया, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और देहका आवरण आ जानेसे इसकी वह रसरूपता तिरोहित हो रही है । अतएव इसे अपना आनन्द तो अनुभवमें आता नहीं और वाह्य पदार्थोंमें आनन्द मालूम देता है । इससे यह वाह्य पदार्थोंमें प्रेम करने लगता है और अन्तमें उनमें आसक्त होकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़ जाता है । अस्तु ।

उस आनन्दरूप आत्माका ही विशुद्ध धर्म या किरण ही जब मनके द्वारा अन्तःप्रकट होता है तब वह स्नेह किंवा प्रेम कहाता है और इसीलिये प्राकृत लोग उस प्रेमको मनोधर्म कह देते हैं । वास्तवमें यह स्नेह आनन्दका ही धर्मान्तर होनेसे आत्मधर्म ही है । स्नेहका मूलरूप निर्गुण है, सत्त्वादि गुणोंका इसमें स्पर्शतक नहीं है । इसीको भाव किंवा रति भी कहते हैं । आत्मधर्म होनेसे ही यह नित्य है, अतएव स्थायी है । यह निर्गुण विशुद्ध प्रेम जहाँ कहीं भी (आलम्बनमें) पैदा होता है वहाँ निष्कारण ही पैदा होता है । यह अतीनिद्रिय है, केवल बुद्धिवेद्य है किंवा स्वसवेद्य है । गुणमात्रसे रहित है, अतएव दुःखरहित है और अनिर्वचनीय है । यह साधनोंसे बढ़ता नहीं और विशुद्ध साधनोंसे घटता भी नहीं । सदा एक स्वरूपमें ही रहता है । तथापि आधारोके द्वारा जब अधिक-अधिक अनुभूयमान होता है, तब उद्दीपन विभावादिके द्वारा इसका मूल व्यापक रूप प्रकट होने लगता है । इसी अवस्थाको सहृदय लोक रस, शृगार, वात्सल्य किंवा भक्ति कहते हैं । किन्तु यह याद रहे कि

लौकिकमें जो शृङ्खारादि हैं उनमें गुणोंका सर्व है किन्तु उस अलौकिक रसमें गुणोंका सर्व नहीं है। यहोतक यह प्रेमरस बढ़ता है कि सारे संसारमें प्रकाशित हो जाता है और फिर अन्तमें आप भी उसी व्यापक प्रेमानन्दमें विलीन हो जाता है। उस दशामें आनन्दसे अनुभवकी मात्रा बहुत कम हो जाती है। अतएव श्रुति 'नेति-नेति', 'यनो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' कहकर उसके स्वरूपका निर्देश करती है। इस प्रेमरसकी कुछ प्रारम्भिक दशाका वर्णन किसी अभियुक्तने थों किया है—

आविर्भावदिने न येन गणितो हेतुस्तनीयानपि
क्षीयेतापि न चापराधविधिना नस्या न यद्यर्थते ।
पीयूपग्रतिवादिनस्तिजगतीदुःखद्वृहः साम्प्रतं
प्रेम्णस्तस्य गुरोः किमद्य करवै वाढ्निष्ठतालाघवम् ॥

'जिस प्रेमने पैदा होनेके समय एकदम थोड़े भी कारणकी अपेक्षा न रखती और जो हजारों अपराध होनेपर भी नष्ट किवा कम नहीं होता। तथा चापल्सी करनेसे कभी बढ़ता भी नहीं और जो अमृतके सामने खम ठोककर 'तू मेरे सामने कौन बस्तु है' यह कहनेको सदा तैयार रहता है, उस सारे संसारके दुःखोंके नाश करनेवाले और अति महत् प्रेमको मैं आज अपनी वाणीसे कैसे कहूँ और कहकर उसकी आवरू कैसे विगाड़ दूँ।'

यह प्रेम जब अपने समानमें होता है तब उसे स्नेह किया शुगार कहा जाता है। अपनेसे छोटेमें वात्सल्य और अपनेसे बड़ेमें उत्पन्न होकर यह भक्ति नामसे प्रसिद्ध है।

ऐश्वर्य (हुक्मत, प्रताप), पराक्रम, यश, श्री, जान और वैराग्य इन पट्टगुणोंसे महत्त्व (वड्प्पन) होता है। इनमेंसे एक-एक गुण भी जहाँ आ जाते हैं वहाँ वह बड़ा कहा जाता है। यदि कहाँ यह सारे गुण एकमें ही स्वभावतः रहते हों तो फिर उसके माहात्म्यकी कथा ही क्या है। अतएव भगवान् सबसे बड़े हैं। उन पुरुषोत्तम भगवान्‌में उनके माहात्म्यको समझकर जो प्रेम किया जाता है उसे भक्ति कहते हैं। नारदपाञ्चरात्रमें यहीं वात इस तरहसे कही है—

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु बुद्धः सर्वतोऽधिकः ।
स्तेहो भक्तिरिति प्रोक्तस्या त्रुक्तिर्न चान्यथा ॥

विद्युद अवस्थामें यह एक भक्तिरस है फिन्तु जब इसमें

सत्त्व, रत्न और तम त्रिगुणका मेल हो जाता है तब वह भक्ति

तीन, नौ, इक्यासी, और आगे चलकर अनन्तविध हो जाती है।

यहोतक हमने विशुद्ध निर्गुण रसरूपा भक्तिका निरूपण किया। यह फलरूपा भक्ति है। अतएव इसीका रूपान्तर और इसका साधन भी एक नवधा भक्ति किंवा तनुजा वित्तजा सेवा नामक साधनभक्ति और भी है। इस वैधी साधनभक्तिका निरूपण श्रीमद्भागवतमें इस तरह है—

देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविकर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिं स्वाभाविकी तु या ॥
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।

(३ । २५ । ३२-३३)

वेद और वैदिक शास्त्रोंकी आज्ञासे और उनमें कहे गये साधनोंके अनुष्ठानसे जो क्रमसे प्रकट होती है उस स्नेहरूपा भक्तिको वैधी भक्ति कहते हैं। कर्मी-कर्मी किसी-किसी अधिकारीको जन्मसे ही यह भक्ति प्राप्त होती है, जैसे प्रह्लादजीको। उस जगह पूर्वजन्मके साधनानुष्ठानसे किंवा सामान्यानुग्रहसे ही वह प्रकाशित हुई है यह निश्चय है। इसलिये उसे भी वैधी भक्ति ही समझना चाहिये। इस वैधी भक्तिका क्रम इस तरहसे है। एक मनवाले सब दैविन्द्रियोंके व्यवहार स्वाभाविक होकर सत्त्वचिग्रह श्रीभगवान्से ही निरन्तर होते रहें वह भक्ति कही जाती है। फिर कामनारहित होकर सदाके लिये निर्गुण भगवान् पुरुषोत्तमको ही अपना निष्पत्र बना लें तब वे सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ ही पूर्वोक्त मनके साथ एकताको प्राप्त होकर भगवती अनिमित्ता वैधी भक्ति कही जाती है।

'द्व्याह वै प्राजापत्या' किंवा 'देनासुरा वै संयोतिरे उभये प्राजापत्याः' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार प्रत्येक प्राणीकी दसों इन्द्रियों दो प्रकारकी होती है—दैव और आसुर। इन दैवासुर इन्द्रियोंकी वृत्तियोंमें परस्पर प्रतिदिन युद्ध होता रहता है। दैव वृत्तियाँ स्वभावतः आनुश्रविक होती हैं। और आसुर वृत्तियाँ केवल लौकिक होती हैं। आनुश्रविक दैवेन्द्रियवृत्तियाँ जब-जब जिस-जिस इन्द्रियान्तवर्ति प्राणका आश्रय लेकर उन आसुर वृत्तियोंको जीतना चाहती है तब-तब ही वे बलिष्ठ आसुर वृत्तियाँ उनके उस आश्रयको पापविद्ध कर देती हैं। तब अन्तमें वे दैव वृत्तियाँ आसन्य-प्राणका आश्रय लेती हैं। वहाँ भी आसुर वृत्तियाँ पहुँचती | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashp

तो है पर वह मुख्यप्राण भगवद्रूप है अतएव मिट्ठीके ढेले पत्थरपर गिरकर जैसे विश्वर जाते हैं उसी तरहसे आसुर वृत्तियाँ इस मुख्यप्राणपर आक्रमण करनेसे स्वय ही नष्ट हो जाती है। फिर ये दैवेन्द्रियवृत्तियाँ वेदोक्त कर्मादिके द्वारा कार्यसे भी दैव बन जाती है। भक्तिके लायक अपना स्वरूप बना लेती है। बहुजन्माभ्यासी श्रद्धियोके, इन्द्रादि देवोंके किंवा अनुग्रहीत दैवसम्पन्न मनुष्योंके भी इन्द्रिय दैव होते हैं।

जिस तरह इन्द्रियों दो प्रकारकी होती है वैसे ही मन भी दो प्रकारका है। मनः शब्दसे यहाँ उस बुद्धिका प्रहण होता है जो मनके साथ एकताको प्राप्त होकर निश्चयका और इन्द्रियोंके द्वारा कार्य करनेका काम करती है। इस मन और बुद्धिका विशेष विवेचन गहन एवं विस्तृत होनेसे ज्ञेय होनेपर भी हम इसे यहाँ ही छोड़ते हैं।

मनोरूपा बुद्धि दो प्रकारकी है एक व्यवसायात्मिका और दूसरी अव्यवसायात्मिका बहुआख और अनन्त होती है। पर व्यवसायात्मिका एक ही रहती है। बुद्धिको व्यवसायात्मिका बनानेके लिये शास्त्रोंमें अनेक प्रकारके साधन कहे हैं उनके अनुष्ठानसे बुद्धि व्यवसायात्मिका हो जाती है, पर व्यवसायात्मिका बुद्धि जब आत्माके सहारे अपने कर्तव्यका निश्चय कर चुकती है और इन्द्रियोंके द्वारा कार्य करानेकी आज्ञा आत्मासे ले लेती है तब मनके साथ एकताको प्राप्त हो जाती है, मनोरूप हो जाती है। यह मन मननात्मक रहता है। अर्थात् विजातीय प्रत्ययरहित होकर सजातीय प्रत्ययद्वारा युक्त रहता है। इस तरह वेदोक्त साधनानुष्ठानोंके द्वारा जिस पुरुषका मन एकभावापन्न हो जाता है उस पुरुषकी वे पूर्वोक्त चक्षुरादि इन्द्रियों जब विशुद्ध सत्त्वविग्रह अवतीर्ण भगवान्में किंवा निर्गुण पुरुषोत्तम भगवान्में ही निरन्तर लग जाती है, उनकी वृत्तियाँ भगवान्की परिचर्यामें ही रहती हैं तब उसे तनुजा वित्तजा सेवा किंवा नवधा भक्ति कहते हैं। चक्षुका लौकिक कायोंमें दर्शनमात्र कार्य रह जाय पर उसकी वृत्ति (व्यवहार) तो केवल भगवान्में ही होने लगे। इसी तरह दसों इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ जब केवल निर्गुण भगवान्में लग जाती हैं तब आत्मानिष्ठ आनन्दका आवरण दूर हो जाता है जो नित्यविद्यमान भक्ति (प्रेम) प्रकट होती है। यह इस पूर्वमें सिद्ध कर चुके हैं कि भक्ति, प्रेम

किंवा आनन्द पदार्थ नित्य हैं, वे न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट। साधनोंके द्वारा उनका आविर्भाव-तिरोभाव ही होता रहता है। आवरण आनेसे तिरोभाव और आवरण-के हट जानेसे आविर्भाव हाता है। अजानीलोग आविर्भाव-को ही उत्पत्ति समझ लेते हैं। इस प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावके लिये जो पूर्वोक्त श्रवणादि नव साधन किंवा तनुजा वित्तजा सेवा करनेमें आती है उसे भी भक्ति ही कहते हैं, पर साधनभक्ति कहते हैं। शास्त्रमें कहा भी है—‘भक्त्या सजातया भक्त्या’, ‘मयि सजायते भक्तिः’। तनुजा वित्तजा सेवा और नवधा भक्ति, दोनों प्रायः एक हैं।

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्तराणं पादसेवनम् ।

अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

यह नवधा भक्ति है और तनुजा सेवामें भी यही साधन विचारपूर्वक किये जाते हैं, इसलिये दोनों एक ही पदार्थ है। विभवके बाहुल्यमें राजोपचारसे सेवाका निर्वाह करना ही वित्तजा सेवा है न कि पैसा देकर दूसरोंके द्वारा तनुजा कराना।

परम भागवतबक्त्ताके मुखसे भगवान्के स्वरूप, जन्म, लीला, नाम और स्तोत्र आदिको श्रद्धासे सुनकर उन सबका परमपुरुष भगवान्में निर्धारण कर लेनेको श्रवणभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी कीर्तनके समय किंवा अनवसरके समय श्रीभगवत् सुवोधिनी गीता आदिके सत्सगमें यह भक्ति होती है। प्रभुके नाम-चरित्र आदिके अधिकारानुसार श्रद्धासे कथनको कीर्तनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी यह कीर्तन प्रायः आठों दर्शनादि-में होते रहते हैं। भगवत्स्वरूप उनकी लीला आदि, तथा उनके परिकरका श्रद्धासे चिन्तन करना ही स्तरणभक्ति है। यह भी तनुजा सेवामें होता रहता है। सर्वदा श्रद्धासे-परिचर्या, अर्थात् भगवान्के वस्त्रप्रक्षालन आदि सर्वविधि सेवा करते रहना, यह पादसेवनभक्ति है। माहात्म्यबुद्धि रखकर शास्त्रोक्त विध्यनुसार किन्तु प्रेम और लोकरीतिसे जुदे प्रकारके उपचारोंसे भगवत्पूजा करनेको अर्चनभक्ति कहते हैं। तनुजा सेवामें भी यह दोनों किये जाते हैं। मनिदर-मार्जन, वस्त्रप्रक्षालन, नलाहरण, रसवतीकरण आदि पादसेवन कहा जाता है। और पञ्चामृतस्नान, अधिवासन, सङ्कल्प, देवोत्थापन, शङ्ख, शाँख, दुन्दुभिव्वनि, समन्वय-स्नान आदि अर्चनभक्ति है। भगवान्के आगे अपना हैन्य

प्रकाशित करते रहकर नमन-प्रणाम आदि करना ‘यन्दनभक्ति’ है। यह तनुजा सेवामें समान ही है। प्रभुके [सिवा अन्य किसीका भी आश्रय न लेनेको दास्य कहते हैं। तनुजा सेवामें भी अनन्याश्रय भगवत्प्रसादी चन्दन ताम्बूल भोज्य पटाथोंका भगवद्वत् बुद्धिसे ग्रहण करना ही दास्यभक्ति है। प्रभुकी सेवामें किसीकी भी प्रेरणाके विना अपनी प्रीति और श्रद्धासे प्रेरित होकर प्रभुके हितोंके अनुष्ठान करते रहनेको सख्यभक्ति कहते हैं।

करादिव शरीरस्य नेत्रयोरिव पक्षमणी ।
अप्रेरितं हितं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते ॥

इत्यादि वचनोंके अनुसार ग्रीष्ममें पखा करना, चन्दन धारण कराना, शीतकालमें गदा, रजाई प्रभृति रुई और मखमलके बन्न धारण कराना, सुहागसॉठ बगैरह गरम वस्तुओंका भोग धरना प्रभृति उन-उन ऋतुओंके अनुसार प्रेम और लौकिक रीतिके अनुसार उपचार करना सख्यभक्ति है। अपने-आपको स्त्री-पुत्र-धन-गृहादिसहित भगवत्सेवाके उपयोगी कर देना, उपकरण बना देना, वस यही आत्मनिवेदन है। यह नवधा भक्ति है और यही सब तनुजा सेवा है। तनुजा सेवामें सब नवधा भक्ति आ जाती है। और वही भगवदधीन सर्वेन्द्रियवृत्तियाँ हैं। किन्तु ये सब इन्द्रियव्यवहार किंवा तनुजा सेवा अनिमित्ता होनी चाहिये। भक्ति (सेवा) में केवल भगवान्‌का किंवा भगवत्प्रेमका ही प्रयोजन किंवा उद्देश्य रहना चाहिये। किन्तु देहसुख, स्त्रीपुत्र-धनादि लौकिक प्रयोजन किंवा यापनिर्हरण, स्वर्ग किंवा मोक्ष आदि अलौकिक प्रयोजन भी भक्तिका उद्देश्य न रहना चाहिये। क्योंकि—

भक्तिरस्य भजनमिहासुन्नफलभोगनैराश्येनासुप्तिमन्मनः-
कर्त्तव्यनम् ।

—इत्यादि श्रुतिमें तथा ‘इति पुंसार्पिता विष्णौ’, ‘भक्त्या त्यनन्यया’, ‘अनिमित्ता भागवती’ इत्यादि स्मृति-पुराणोंमें निष्काम भक्तिका ही विधान है। ‘श्रवण कीर्तन विष्णोः’ इत्यादि प्राह्लादके वचनमें ‘अर्पिता’ शब्द है। अर्थात् भगवान्‌में अर्पण करते हुए भक्ति करनी चाहिये, ऐसा कहा है। सेवा करते समय उस सेवा या नवधा भक्तिको भगवान्‌में ही सित रखना चाहिये। वहाँसे उठा न लेना चाहिये। भक्ति करके जो लोग भगवान्‌से किसी भी फलकी चारना करते हैं वे उस भक्तिको भगवान्‌के पाससे हटाकर

अपने पास ही ले लेते हैं। ऐसा न कर उसे श्रीभगवान्‌में ही अर्पित रखना चाहिये। ऐसी भक्ति अनिमित्ता कही जाती है।

अनिमित्ता होकर भी फिर यह भागवती होनी चाहिये। अर्थात् कोई निर्विशेष निर्धमक किंवा अनित्यात्पुण्ड्र वस्तु भक्तिका विषय नहीं होना चाहिये किन्तु भगवान् पौडैश्वर्य किंवा नित्यानन्तकल्याणपुण्ड्र पुरुषोत्तम ही उसका विषय रहना चाहिये तब वह अनिमित्ता भागवती भक्ति कही जाती है। यह सब भगवदनुग्रहके विना नहीं है। अतएव लक्षणमें ‘या’ यत् शब्दका प्रयोग किया है।

सामान्यानुग्रहसे भी इतना सब साध्य नहीं है। प्रभुका सामान्य अनुग्रह तो मनुष्यजन्म दे देता है। यही बात भगवान्‌ने कही है कि ‘मयानुकूलेन नभस्वतेरितम्’ सागरमें पतित नौकाके लिये अनुकूल पवनका चल जाना भी बहुत सहारा है। किन्तु दण्डका चलाना तो आवश्यक है ही। इसी तरह दैवी मनुष्यजन्मके मिल जानेपर भी साधनानुष्ठान तो आवश्यक है ही। दैवीसम्पूर्णव्यवजन्माके लिये तीन साधन हैं। ‘ज्ञान कर्म च भक्तिश्च’ इन तीन उपायोंमें सब उपायोंका समावेश हो जाता है। कर्म, ज्ञान और भक्तिरूप सब साधन हैं।

शिशु जब जन्म लेता है तब महीने-दो-महीनेतक उसके पास चेष्टाके सिवा अपनी फलसिद्धिके लिये अन्य कोई साधन नहीं है। फिर जैसे-जैसे उन चेष्टा (कर्मों) के द्वारा आवरण हटता जाता है वैसे-ही-वैसे उसके अन्तःस्थित ज्ञान और प्रेमका प्रादुर्भाव होता जाता है। इसी तरह जीवके पास अपने उद्धारके लिये पहला साधन ज्ञानसहित वेदशास्त्रोक्त कर्म है। निष्काम किंवा भगवदर्पित कर्मोंके द्वारा आवरण दूर होता है और भगवदग्रुप अतएव नित्य सिद्ध ज्ञान और प्रेम (स्नेह) अन्तःप्रकाशित हो जाते हैं। ज्ञानसहित निष्काम कर्म किंवा भगवत्-समर्पित कर्म करते-करते देहपात भी हो जाय तो भी उसकी हानि नहीं होती। भगवान्‌ने स्वय आज्ञा की है कि—

‘स्वप्नमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भमात् ।’
‘नहि कर्त्तव्याणकृत् कश्चिदद्वुर्गतिं तात गच्छति ।’

हे अर्जुन। सत्कर्म करनेवाला कभी भी नीचे नहीं गिरता। सत्कर्मका शोड़ा भी अब उसे बढ़े भयने भी बचा लेता है। फिर भी उसे उत्तम जन्म और बौद्धेतिक बुद्धि मिल जानी है। और यदि न मरा और उसी

जन्ममें वह उसका कर्म पूरा-पूरा पार उत्तर गया तो फिर 'पञ्चाभिविद्या' के अनुसार यह दूसरा जन्म उसे अन्तिम मिलता है। इस फलरूप जन्ममें पूर्वोक्त भक्ति पूर्वोक्त रीति-के अनुसार अनिमित्ता और भागवती प्राप्त होती है। किंवा स्वतन्त्रा भक्ति प्राप्त होती है। यह स्वतन्त्रा भक्ति पुष्टिमार्गीय है इसलिये हम इसे यहाँ ही छोड़ते हैं।

अनिमित्ता भागवती भक्ति (साधन) सायुज्य मुक्तिसे भी श्रेष्ठ होती है, क्योंकि इसका फल गाढ़ भगवत्प्रेम है। और सायुज्यमें प्रेमरूप तो है किन्तु प्रेमप्राप्ति नहीं। भक्तोंको आनन्दरूप हो जाना वाञ्छनीय नहीं है अपि तु आनन्दभोग वाञ्छनीय है। भगवत्प्रेम ही फलरूपा भक्ति है। यद्यपि इस मानसी सेवा (प्रेमभक्ति) के तीन फल हैं जो आगे कहे जायेंगे और इसलिये यह भी साधन ही है, तथापि ऐसे भक्तोंके लिये यह प्रेम ही सर्वोत्तम फल है, अन्य फलोंकी वे चाहना नहीं करते। अतएव अन्यत्र कहा है कि—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना सत्सेवनं जना ॥

भगवान् अपने भक्तोंको सालोक्यादि फलोंका दान करते हैं पर वे भजनके सिवा कुछ नहीं चाहते। इस फलरूपा भक्तिका वर्णन इस प्रकार किया है—

नैकात्मता मे स्पृहयन्ति केचि-

न्मध्यादसेवाभिरता मर्दीहाः ।

येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसव्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

पूर्वस्थोकोक्त तनुजा वित्तजा (नवधा) सेवा करनेसे भगवद्रस (प्रेम) की अभिव्यक्ति हो जाती है। इस श्लोकमें उस भगवद्रसके प्रकट हो जानेके तीन प्रत्यक्ष लक्षण कह रहे हैं। 'मत्पादसेवाभिरताः' 'मर्दीहाः' और 'येऽन्योन्यतो भागवताः' प्रसव्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि—ऐसे प्रेमी भक्तोंके काय, वाक् और मनके व्यवहार स्वाभाविक रीतिसे भगवान्में ही रहते हैं। मेरी सेवा करनेमें ही उनकी चित्तवृत्ति सर्वदा लगी रहती है, उनके शारीरिक व्यवहार भी सर्वदा मत्सम्बन्धी होते रहते हैं। और समानधर्म वे लोग परस्पर निष्पक्ष्वद्वन्न मित्रता रखते हुए भगवत्सम्बन्धी पराक्रमोंका ही सर्वदा सादर सप्रेम कथोपकथन तथा सत्कार किया करते हैं। अतएव भगवान् से प्रार्थना करना तो दूर है पर अपने हृदयमें सायुज्यादि चार मुक्तियोंकी अभिलाषा भी कभी नहीं करते। उनको तो भगवत्सरूपलीला और गुणोंके रसका अनुभव करते रहना ही परम उत्कृष्ट फल मालूम देता है। क्योंकि उनके हृदयमें आनन्दरूप भगवान्-का प्रादुर्भाव हो जाता है, उनका यही साध्य है, यही साधन है और जीवित भी यही है। 'तन्मे साध्यं साधनं जीवित च' उन्हें फिर जगत्के किंवा जगत्से बाहरके किसी पदार्थसे भी प्रीति नहीं रहती।

हमारे गीताके ठाकुरने भी आजा की है—

'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्टा निवर्तते ॥'

'यः सर्वत्रानभिस्नेहसत्तत्प्राप्य शुभाशुभम् ।

नाभिनन्दति न द्वैष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥'

१ (स चेद्गावती भवति साक्षात्गावन्तं विषयीकरोति भगवद्वावं घद्गुणरूपतामापद्यते । पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ यृत्तिः सैव जन्मान्तरे भागवती भवतीति वा । पञ्चाभिविद्यायां ज्ञानोपयिकदेहसिद्धिनिरूपिता । तथापि मुक्तेः सायुज्यादपीयं भक्तिरिष्टा मिद्दर्गरीयसी । एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः । तादृशभक्तानां ज्ञानिनाभिवाग्निभूत्यमाह प्रकारद्वयेन । तत्र प्रथममाह—त्रिभिन्नैकात्मतामित्यादिभिः । ह्यं हि फलरूपा भक्तिर्ज्ञातव्या । फलरूपता तदैव भवति, यदा भजनाद्वासोऽभिव्यक्तो भवति वहुधा । 'तस्या अभिव्यक्तेनिर्दर्शनम्, भगवत् एकात्मतां फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे । तेषां कायवाहूमनोयृत्तिः स्वभावत् एव भगवति भवतीत्याह मत्पादसेवेत्यादिना । तेषां फलावस्थामाह—पश्यन्ति ते म इति । ते मे रूपाणि पश्यन्ति, निरन्तरं भगवत्-साक्षात्कारो भवति यथा भिन्नैः सह क्रोडन्ति । ततस्तेषा सायुज्यमाह—तैर्दर्शनीयेति । भगवान् स्वगृहं गच्छन् सात्त्वपि नयति । ते तु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति । भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनामगम्यमतिसूक्ष्मसेव भगवदा-रम्यकं फलं प्रयच्छन्ति । सालोक्यादि फलमाह—अयो इत्यादि । सा चेद्गत्तिर्मध्यमा भवेत् ततोऽर्थं भिज्ञप्रक्रमः । अरम्य कालाङ्कराश लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमैश्वर्यादिकमश्चुवते । पूर्वं भेदवृत्तं निरूपितम्, सायुज्यं वैकुण्ठः जीवन् मुस्तिष्ठेति ।

(भाग० सुवौधिमी ३ । २५ । श्लोक ३२से ४०)

यह अनुवाद है, विधि नहीं है। इस प्रकार चिरकाल भगवद्ग्रन्थका अन्तःस्वाद लेते-लेते सर्वत्र भगवान्‌का वहिः-प्राकृत्य हो जाता है। उस समय वे भक्तलोग पूर्ण फलका अनुभव करते हैं। जहाँ भगवान्‌रस्य और परतन्त्र हो जाय और मक्तरसत्यिता तथा स्वतन्त्र हो जाय वह अवस्था भक्तों-की पूर्णफलावस्था है। शास्त्रमें इसे अलौकिक सामर्थ्य और परप्राप्ति भी कहा है। 'व्रज्ञविदाम्बोति परम्' इस कहाँ और 'सत्य ज्ञानम्' इत्यादि विवरणरूप व्राह्मणका भी यही तात्पर्य है। भक्ति (सेवा) तारतम्यसे फलतारतम्य हो जाता है इसलिये द्वितीय, तृतीय फल और भी है। भागवत तृतीय स्कन्धके इसी प्रकरणमें 'पश्यन्ति ते मे' से लेकर 'तान्मृत्यो-रतिपारये' पर्यन्त (३५ से ४०) श्लोकोंमें सायुज्य, व्यापिवैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति ये तीन सेवाफल कहे गये हैं। सायुज्यके दो अर्थ होते हैं सहयोग और ऐक्य। भक्तलोगोंको परमानन्दसहयोग भी अभिलिखित है, इसलिये 'पश्यन्ति ते मे' इस श्लोकमें सहयोग अर्थात् अलौकिक सामर्थ्यका निरूपण किया है। 'तैर्दीर्घनीयावयवैः' इस श्लोकमें द्वितीय सायुज्य परमानन्दैक्यका प्रतिपादन किया है। 'अथो विभूतिं मम' और 'न कर्हिचिन्मत्पराः' इन दोनों श्लोकोंसे व्यापिवैकुण्ठनिवासस्तप फलका कथन दिया है और 'इमं लोकम्' और 'विसृज्य सर्वानन्यांश्च' इन दो श्लोकोंसे जीवन्मुक्तिफलका निरूपण किया है। यहाँ जीवन्मुक्तिका अर्थ है अलौकिक अक्षरात्मक देहकी भ्राति। यहाँ तक हमने फलसहित वैधी भक्तिका स्वरूप कहा। यह भक्ति परमानन्दरूपा होनेसे भगवान्‌से भिन्न भी है जौर अभिन्न भी है।

अब इस भक्तिका दूसरा भेद स्वभावानुगता भक्ति है। स्वभावानुगता भक्ति पुष्टि (अनुग्रह) मार्गका विषय है। स्वभावानुगता भक्ति और पूर्वोक्त वैधी भक्तिमें विशेष भेद नहीं है। यह भी परमानन्दरूपा है और परमानन्दप्राप्ति दी इसका भी फल है। केवल कारणका भेद है। कारणके भेदको उपचारसे भक्तिमें कहा गया है। वैधी भक्ति साधनोंसे प्रकाशित होती है और स्वभावानुगता भगवान्‌के विशेषानुप्रदासे प्रकाशित होती है। भगवान्‌का अनुग्रह भगवद्दर्म है इसलिये नित्य है और साधनासाध्य है।

भक्ति और प्रपत्तिके स्वरूपमें भेद दिखानेके लिये प्रपत्तिका भी स्वरूपर्दर्शन कराना उचित है। प्रत्येक शब्द

रूढ और यौगिक भेदसे दो तरहके हो सकते हैं। प्रकृतिप्रत्यय-की तरफ ध्यान न देकर जिसकी सिद्धि अनादिसिद्ध मान ली गयी है वह रूढ शब्द है और प्रकृतिप्रत्ययके अनुसार जिसकी सिद्धि दिखायी गयी है वह यौगिक शब्द माना गया है। इन शब्दोंके अर्थ भी दो तरहके हैं—रूढ और यौगिक, किंवा रूढप्राप्त, योगप्राप्त।

प्रपत्ति शब्दको रूढ मानते हैं तब उसका स्वीकार अर्थ है। और जब उसे यौगिक मानते हैं तब प्र—प्रक्षेपण एक-दम, पत्तिः—पदन गमनम्, भगवान्‌के साथ सगत हो जाना अर्थ होता है। प्रपत्तिमार्गमें प्रपत्तिके दोनों अर्थ स्वीकृत हैं। यह प्रपत्तिमार्ग दो प्रकारका है, मार्यादिक (किसी विशेष मर्यादासे सम्बद्ध) और अनुग्रहलव्य। यद्यपि भक्तिमार्गकी तरह प्रपत्तिमार्गमें प्रेम और प्रेमप्रकर्ष रहता है तथापि 'प्रधानान्मिहारन्याय' से प्रपत्तिके ही आधिक्य रहनेसे यह प्रपत्तिमार्ग कहा जाता है, भक्तिमार्ग नहीं।

कलौ भक्त्यादिमार्गी हि द्वुःसाध्या इति मे मतिः ।

कलियुगमें कर्म, ज्ञान और भक्तिमार्गका निर्वाह करना अति कठिन है। इसीलिये भगवान् श्रीकृष्णने इन सबसे पृथक् शरण (प्रपत्ति) का मार्ग प्राकृत्य किया है। भक्तोंकी दृष्टिमें भगवत्प्रेम फल है, साधन नहीं। इसलिये भी प्रपत्तिमार्ग भक्तिमार्ग नहीं कहा जा सकता। वास्तवमें प्रपत्तिको मार्ग कहना भी युक्त नहीं है।

प्रपत्ति (स्वीकार) दो प्रकारकी है। भक्तकृत भगवान्-का स्वीकार और भगवत्कृत भक्तका स्वीकार। भक्तकृत भगवत्स्वीकार मार्यादिक प्रपत्ति है। वानरका शिशु अपनी माताको कसकर पकड़ता है। माता उतना उसे नहीं पकड़ती। वह तो अपने चलने-फिरने, खाने-पीने, उछलने-कूदनेमें लगी रहती है। किन्तु मार्जीरी (विद्वान्) अपने शिशुका स्वयं दृढ़तर ग्रहण करती है। शिशुको मार्जीरीकी उतनी परवा नहीं रहती। उस शिशुका सर्वाधार माता है। माता उसने आत्मनिष्ठेप कर रखा है। शिशु अपने साथ कोई साधन नहीं रखता। माता आती है तो शिशु उलटा अपने नेत्र मौंच लेता है। अब उसका जीवन मारण, धारण, नयन, स्वापन सब कुछ मार्जीरीके ही हाथमें है।

इसी तरह भक्तकृत भगवत्प्रपत्ति मार्यादिक है। भगवान् अपने स्वरूपमें है। अपनी लीलाएँ भी यथावत् करते चले | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

जाते हैं। किन्तु भक्तने अपने स्वरूप और चरित्रमें परिवर्तन कर दिया है। यह परिवर्तन छः प्रकारका है—

आनुकूल्यस्य सङ्गल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पणे षड्विद्या शरणागतिः ।

‘शरणागतिः रक्षकत्वेन भगवत्कर्मकः स्वीकारः ।’ भगवान्को ही अपना रक्षकरूपसे स्वीकार करना, वस, यही शरणागमन किंवा प्रपत्ति कही जाती है। यद्यपि यहो आत्मनिक्षेप है किन्तु अन्य साधन समान है। जेसे आनुकूल्यसङ्गल्प आदि है, उन्हींके जोड़तोड़का आत्मनिक्षेप भी है, वह फलरूप नहीं है। प्रपत्तिमें यदि आत्मनिक्षेपके साथ आनुकूल्यका सङ्गल्प भी है तब आत्मनिक्षेप उतना दृढ़ नहीं रहता। अस्तु ।

भगवदनुकूलताका स्वीकार, प्रतिकूलताका परित्याग, रक्षाके विषयमें विश्वास, केवल भगवान्का वरण (स्वीकार), आत्मनिक्षेप और दैन्य, इन छहोंको प्रपत्ति कहते हैं। पुष्टि प्रपत्ति और मार्यादिक प्रपत्ति दोनोंमें प्र—प्रकर्षण पत्तिर्गमनम्—एकदम भगवान्के साथ सङ्गम (आत्मनिक्षेप), ऐक्य है और वह सायुज्य (प्रत्यापत्ति) पर्यन्त गिना गया है। अतएव दोनोंको प्रपत्ति कहा गया है। किन्तु मार्यादिक प्रपत्तिमें साधनान्तरोंका सहयोग होनेसे आत्मनिक्षेप अदृढ़ (शिथिल) है।

मार्यादिक प्रपत्तिके दृष्टान्त अर्जुन और विभीषण हैं। गीताके प्रारम्भमें ‘शिष्यस्तेऽह जाधि मां त्वा प्रपन्नम्’ कहकर अर्जुनने भगवान्का रक्षकत्वेन स्वीकार किया है। मध्य मध्यमें ‘त्वमादिदेवः’ तथा अन्तमें ‘करिष्ये वचन तत्’ इत्यादि कहकर आनुकूल्यादि अङ्गोंका भी निर्वाह किया है। तथापि अर्जुनपर भगवान्का विशेषानुग्रह भी है, इसलिये इसकी प्रपत्ति पुष्टिसमिश्र है, शुद्ध मार्यादिक नहीं है।

अपने-अपने धर्मोंका त्याग करके जो एक दूसरेका दृढ़ स्वीकार तो वह अनुग्रह प्रपत्ति है। और व्यासजीने कहा भी है—

गृह्णोत्यान् स क्षितिदेवदेव ।

अर्जुनको भगवान्ने स्वीकार किया है। अपने धर्मोंका त्याग करके अर्जुनका स्वीकार किया है और उसके अन्य साधनोंका त्याग करकर अपना स्वीकार करनेका

उपदेश भी किया है। अर्जुनसे भगवान्ने अन्तमें स्पष्ट कहा है कि तू तो अभीतक धर्मोंको पकड़े वैठा है अतएव अभीतक तूने मुझे कसकर पकड़ा नहीं है, इसलिये यदि तू मुझे पूरा-पूरा पकड़ना चाहता है तो—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।

‘सब धर्मोंको छोड़कर एक मेरी शरणमें आ जा ।’

इसीका नाम ‘आत्मनः नितरा क्षेपः’ है। इतना ही नहीं, गीता और भागवतमें अर्जुन और भगवान्के चरित्र एव उन दोनोंके वचन ऐसे हैं जिनसे प्रतीत होता है कि दोनोंने स्वधर्मत्यागपुरःसर एक दूसरेका स्वीकार किया है। गीतामें—

यद्यावहासार्यमसत्कृतोऽसि

विहारशश्यासनभोजनेषु

और श्रीभागवतमें—

नर्माण्युदाररुचिरस्मितशोभितानि

हे पार्थ हेऽर्जुन सखे कुरुनन्दनेति ।

सञ्जित्पितानि नरदेव हृदिस्पृशानि

सर्वुर्लुठन्ति हृदयं मम माधवस्य ॥

(११५११८)

वञ्चितोऽह महाराज हरिण घन्धुरुपिणा ।

(११५१५)

—इत्यादि अर्जुनके वाक्य हैं। इनसे दोनोंका गहरा प्रेम और परस्पर स्वीकार प्रतीत होता है। इसलिये कुछ अशमे ऐक्य और प्रेमप्रकर्षके होनेसे अर्जुन केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण नहीं है।

केवल मर्यादाप्रपत्तिका उदाहरण विभीषण है। विभीषणने अपने धर्मोंका परित्याग नहीं किया है और न श्रीराघवने ही अपने धर्मोंका परित्याग किया है। विभीषणने श्रीरामचन्द्रका परिहास किंवा असत्कार भी नहीं किया है और न श्रीरामचन्द्र विभीषणके सारथी बने हैं और न दिव्याल्कोंको अपने ऊपर सहनकर अपनेसे भी विशेष विभीषणकी रक्षा की है। विभीषणके कर्तव्यको स्वय करके उसको महत्व दिलानेका कार्य भी श्रीरामचन्द्रने नहीं किया है। प्रत्युत विभीषणने लङ्घाका राज्य ग्रहण किया और प्रभुने विभीषणसे रावणकी रहस्य वार्ते जानकर युद्धमें सुभीता भी कर लिया, ये प्रेमसन्देहास्पद हेतु दोनोंमें मिल सकते हैं इसलिये दोनोंमें पूरा-पूरा

आत्मनिष्ठेप और प्रेमप्रकर्ष न होनेसे, और आनुकूल्य तथा प्रातिकूल्यवर्जनका निर्वाह होनेसे विभीषण केवल मर्यादा-प्रपत्तिका उदाहरण है। राज्याभिषेक होनेके बाद विभीषणको भगवान्ने विटा कर दिया और वह खुशी-खुशी चला भी गया, और जानेके बाद भी विभीषणके किसी व्यवहारमें परिवर्तन न होने पाया। ये केवल मर्यादाके लक्षण हैं। अतएव विभीषणकी प्रपत्ति मार्यादिक प्रपत्ति है और अर्जुनकी मर्यादापुष्टि प्रपत्ति है।

इन दोनों प्रपत्तियोंसे पृथक् अनुग्रह (पुष्टि) लब्धप्रपत्ति है और यही भगवान्को भी प्रिय है। अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिमें अनुग्रहके सिवा अन्य साधन हेतुभूत नहीं होते और प्रपत्ति होनेके बाद भी आनुकूल्य सङ्कल्पादि साधनोंका नियम नहीं होता, कभी हो भी जाय, कहीं नहीं भी। प्रत्युत कभी-कभी तो आनुकूल्यादि साधनोंका एकदम परिवर्तन हो जाता है। प्रपन्नकी इच्छाके आगे भगवान्की इच्छा नहीं चलती। भगवान्को प्रपन्नकी अनुकूलता देखनी पड़ती है। उसके प्रातिकूल्यको बचाना पड़ता है। भगवान् और प्रपन्न दोनों अपने-अपने धर्मोंका परित्याग करके धर्मीका (एक दूसरेका) दृढ़ स्वीकार करते हैं। दोनोंका परस्पर आत्मनिष्ठेप रहता है। अतएव ऐक्रय और प्रेमप्रकर्ष रहता है। इसलिये इस प्रपत्तिका नाम पृथक् शरणमार्ग है। यह आत्मनिवेदन परस्परका है इसलिये नवधा भक्तिके आत्मनिवेदनसे यह एकदम जुदा है। और यही प्रपत्ति हमारे गीताके ठाकुरको हृदयसे सम्मत है।

भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्तिका फलसहित उपदेश करके १८ वें अध्यायके अन्तमें अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका ८ श्लोकोंसे उपदेश देना प्रारम्भ किया है और अन्तमें ६५ वें श्लोकमें तो पृण प्रपत्तिका निल्पण कर ही दिया। गीताके कर्म, ज्ञान, भक्तिका भगवद्गुपदेश गुह्य धर्मका उपदेश है। मार्यादिक प्रपत्तिका उपदेश गुह्यतर है और अनुग्रहलब्ध प्रपत्तिका गुह्यतम उपदेश है। ‘भक्त्या मामभिजानाति’ इस ५५वें श्लोकपर्यन्त सागी गीतामें प्रायः गुह्य धर्मका निल्पण है। और ‘सर्वकर्माण्यपि मदा कुर्वाणः’—यहाँसे लेकर ‘इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतर मया’ इस ६२ वें श्लोकपर्यन्त मार्यादिक प्रपत्तिल्प गुह्यतर समझका उपदेश किया है। और सर्वान्तमें ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इत्यादि ६५वें श्लोकमें पूर्ण प्रपत्तिल्प गुह्यतम वस्तुका

उपदेश दिया है। सो भी परोक्ष रीतिसे। क्योंकि प्रत्यक्ष-में जिस अर्जुनको उपदेश दे रहे हैं वह उस प्रपत्तिका अधिकारी ही नहीं है।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेक शरणं व्रतं

—इस श्लोकके भाष्य और टीकाओंमें अनेक विद्वान् अर्थपरिवर्तन करनेका कष्ट करते हैं किन्तु वह अर्थ भगवदाग्रयगोचर नहीं है। वह अर्थ यदि मान लिया जाय तो निर्थक लक्षणाओंका ढेर लग जाय। यदि उसी अर्थको कहना भगवदभिमत होता तो स्पष्ट उन्हीं अक्षरोंमें कहना क्या भगवान्को नहीं आता था ? अतएव यथाश्रुत अर्थ ही भगवान्को अभिमत है। और इस तरह स्पष्ट रीतिसे कहनेमें भगवान्का आश्रय ही कुछ और है और वह आश्रय आचार्योंने अपने एक श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है—

न्यासादेशेषु धर्मत्यजनवचनतोऽकिञ्चनाधिक्रियेत्ता
कार्पण्यं नाह्नसुक्तं तटितरभजनापेक्षणं नो व्यपोद्भूम् ।
दुःसाध्येच्छोद्यमौ वा क्षचिद्गुपशमितावन्यसम्मेलने वा
व्रह्माक्षन्याय उक्तस्तदिह न विहतो धर्म आज्ञादिसिद्धः॥

‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इस प्रपत्तिके उपदेशमें जो सर्वधर्म त्याग करनेकी आज्ञा दी गयी है, इससे भगवान्-की ही आज्ञाएँ जो अन्यत्र धर्मान्वरणके विषयमें हुई हैं उन सबका बाध होता है। भगवान्का प्रादुर्भाव धर्म-रक्षार्थ माना गया है और गीतामें वहुत-सी जगह आपने धर्मान्वरण करनेका उपदेश दिया है। अब जो यह ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ सबसे अन्तिम आज्ञा हुई है इसने उन सब आज्ञाओंको मटियामेट कर दिया है, यह प्रथम यहाँ उपस्थित होता है। और यह ठीक भी है, एक जगह धर्म करानेका आश्रय और दूसरी जगह उसके त्यागकी आज्ञा देना यह क्या बात हुई ?

इसके उत्तरमें आचार्योंने पैंच कारणोंका निर्देश किया है। ‘अकिञ्चनाधिक्रिया उक्ता’ से लेकर ‘व्रह्माक्षन्याय उक्तः’ पर्यन्त। सबसे पहला कारण यह है कि सब धर्म उनके अधिकारानुसार निर्माण किये गये हैं। धर्मके द्वाग ही सबका उद्दार होता है, यदि सही है, किन्तु उन सबमें अधिकार नियन्त हैं। जगत्में ऐसे वहुत-से मनुष्य विवरमान हैं जिनकी प्रभु (धर्म) को छोड़कर धर्मोपर व्रदा ती नहीं जमती। इस आश्रयके अभियुक्तोंके बच्चन भी हैं—

सन्ध्यावन्दन भद्रमम्नु भवते भो स्तान तुभ्यं नमो
हे देवाः पितरश्च तर्पणविद्धौ नाहं ध्यमः क्षम्यताम् ।
यत्र ध्यापि लिपद्य याद्यकुलोत्तंसस्य कंसद्विषः
सार सारमध हरामि तदलं मन्ये किमन्येन मे ॥

इनका कहने का आग्रह है कि भगवदासक्त प्रेमी पुरुषको धर्मोंमें कुछ मतलव ही नहीं रह जाता । अब कहिये कि ऐसे पुरुषका किसी धर्ममें भी अधिकार रह जाता है क्या ? कितने ही अधिकारविद्योपके पुरुष कहने लगेंगे कि इस तरह सब धर्मोंमें अश्रद्धा रखनेवाला अवश्य नरकमें जाने लायक है । किन्तु इसका मर्म उनसे नहीं पूछा जा सकता । इसके विषयमें तो उसकी माता किंवा प्रिय पितासे पूछा जाय कि ‘तेरा पुत्र नरकमें जाता है, बोल, अब क्या करें ।’ मैं समझता हूँ कि प्रियता ऐसी चस्तु है कि वह विधिकी परवा नहीं करती । प्रिय मनुष्य अपने प्रियके वचावका कोई-न-कोई उपाय ढूँढ निकालता है । वह तो असर्वज्ञ और असमर्थकी बात है । और जो समर्थ और सर्वज्ञ है उनका फिर कहना ही क्या है । भगवान् सर्वज्ञ है, समर्थ हैं और सब जीवमात्रके ‘माता धाता पितामहः’ हैं । उनके बाब्य हैं कि ‘जिनका कोई भी सहारा नहीं है उनका मैं आश्रय हूँ ।’

तेषामहं समुद्दत्तां मृत्युसंसारसागराद् ।
भवामि नचिराद् पार्थं मद्यावेशितचेतसाम् ॥

इससे अकिञ्चन पुरुषोंके लिये प्रपत्ति है । अतएव ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इसमें उनका अधिकार दिखाया गया है ।

अथवा स्नान किये विना जैसे धर्मकार्य नहीं हो सकता, अतएव स्नान धर्मकार्यका प्रबोङ्ग है, वैसे ही निर्णिकञ्चन हुए विना प्रपत्ति होना दुष्कर है अतएव कार्यण्य (दैन्य) प्रपत्तिका प्रबोङ्ग है । और ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ कहनेर दैन्यका उपदेश किया है । प्रपत्तिके लिये दैन्य अपेक्षित है । किंवा भगवानसे अन्य और भगवान् दोनोंका भजन और अपेक्षणकी मनाही की गयी है । अन्य-भजन किया भगवद्गीता रही आवेगी तो कुछ-कुछ भरोसा और मान बना रहेगा और उनसे अपेक्षा रखना भी बना रहेगा । ऐसी अवगत्यमें आत्मनिषेप और भगवत्स्वीकार प्रा-पूर्ण न होने पावेगा । इसलिये ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ कहकर भगवान्नितरके भजन और अपेक्षानो हटाया है ।

अथवा इसी बहानेसे अन्याश्रयको दूर रखनेके लिये ‘ब्रह्मास्त्रन्याय’ कहा गया है । हनुमान्जीने मेघनादके ब्रह्मास्त्रका स्वीकार किया और वैध गये किन्तु राक्षसोंको ब्रह्मास्त्रपर उतना विश्वास न रहा, अतएव रस्से बगैरहसे भी उन्होंने हनुमान्जीको बाँधा । तब ब्रह्मास्त्रने हनुमान्जीको छोड़ दिया । यह कथा रामायणमें प्रसिद्ध है । इसी तरह यदि प्रमुका स्वीकार करनेपर भी अन्य धर्मोंका आचरण भी करते रहे तब ब्रह्मास्त्रन्याय हो जाता है, अर्थात् भगवान्की प्रपत्ति उसका परित्याग कर देती है । यह बात समझानेके लिये ही प्रमुने ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं द्यरण ब्रज’ यह आज्ञा की है । अतएव मार्गान्तर होनेसे आज्ञादिसिद्ध धर्मोंका विरोध नहीं होने पाता । प्रपत्तिके विशेषकी समझ चाहनेवालोंको ‘न्यासादेश’ ग्रन्थ देखना उचित है ।

जिस दिन श्रीकृष्णकी दृढ़ प्रपत्ति (स्वीकार) प्रहण की उसी दिन यह जीव छृतकृत्य हो चुका ।

‘तेषामहं समुद्दत्तां मृत्युसंसारसागराद् ।
भवामि नचिराद् पार्थं मद्यावेशितचेतसाम् ॥’
‘अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥’
‘थे यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।’

—इत्यादि प्रतिज्ञाओंके अनुसार जीवका उद्धार भगवान् का कर्तव्य रह गया । अब उससे जीवका कर्तव्य कोई नहीं रह जाता और अविश्वास रखनेकी भी विल्कुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्यसङ्कल्प हैं । ‘ब्रह्मास्त्रचातकौ भाव्यौ’ ब्रह्मास्त्र और चातकका विचार रखना चाहिये । प्रपत्तिके लिये अनन्यता और विश्वासका परित्याग करना विषके समान हानिकारक है ।

अविश्वासो न कर्तव्यः सर्वया चावकस्तु सः ।

अब यहाँ एक प्रश्न यह होता है कि यदि प्रपत्तिमात्रसे जीवका उद्धार हो चुकता है और फिर उसका कोई कर्तव्य नहीं रहता तो फिर भगवत्सेवा, भगवत्तामजप, सोवृपाठ आदि क्यों करने चाहिये ? और भगवदाजासिद्ध नरण्धर्मका पालन भी व्यर्थ है ।

ठीक है, ये सब नहीं करने चाहिये । और प्रपत्तिमात्रमें वह सब उस दृष्टिकोणमें भी नहीं जाते । यह ठीक है कि प्रपत्तिसमनन्तर ही उसका उद्धार हो चुका, वह कृतकृत्य हो चुका । अब उसका अपने उद्धारके लिये कोई

कर्तव्य नहीं रहा। तो अब यह प्रभु रहता है कि फिर उसे करना क्या चाहिये? प्रपत्तिके समनन्तर ही मनुष्य निश्चेष्ट हो जाय किंवा मर जाय, यह तो उसके हाथमें है नहीं, क्योंकि 'प्रकृतिस्वां नियोदयति'। किसी तरह जीवनकाल तो विताना ही पड़ेगा, कालक्षेप तो करना ही होगा। वस, कालक्षेपके लिये भगवत्परिचर्चर्या, भगवन्नामावृत्ति प्रमृति करते रहना सुन्दर उपाय है और लोकिकासक्तिको बचानेके लिये अपेक्षित आज्ञासिद्ध वर्णधर्मका भी पालन करते रहे तो हानि नहीं और ये सब अनवसरमें किये जाते हैं। इस तरह प्रपत्तिका भगवत्स्वीकार और आत्मनिक्षेप पूर्ण हो जाता है। ये बातें भी हमने असमर्थ त्रीवकी दृष्टिसे ही कही हैं।

वास्तवमें तो पूर्ण प्रपत्तिका उदाहरण गोपसीमन्तिनी है। यह तो हम अपने अन्य ग्रन्थमें कह ही चुके हैं कि श्रीगोपीजनोंके चार यूथ मुख्य हैं। उन सबमें नित्यसिद्धा गोपीजन मुख्य एव भगवद्गुरुपा है। ये ही इस मुख्य प्रपत्तिका मुख्य दृष्टान्त हैं। स्वामी और स्वामिनियों दोनों एक ही (स) पदार्थ हैं तब परस्पर स्वीकार और दृढ़ आत्मनिक्षेपका (एकीभावका) सन्देह करना तो व्यर्थ ही है। ग्राकट्य होनेके पहले और प्रत्यापत्तिमें तो दोनों एक ही हैं पर भूतलपर प्रकट होते ही श्रीगोपीजनोंने प्रभुको अपना आत्मनिक्षेप कर दिया, और प्रभुने उसी समय स्वीकार भी कर लिया, यह 'आत्मान भूषयांचकुः' 'यद्यज्ञनादर्शनीयकुमारलीलौ' इत्यादि प्रकरणोंमें सूचित है।

स्पष्ट आत्मनिक्षेपके पूर्व भी श्रीगोपीजनोंने आज्ञा की है कि 'सन्त्यज्य सर्वविषयांस्त्व पाठमूल ग्रासाः' धर्म, वर्य, काम और मोक्ष ये चारों पुरुषार्थ मनुष्यके मनको अपने साथ विद्वेष करके सी लेते हैं। इसलिये मोक्ष (आत्मज्ञान)पर्यन्त ये सब विषय सामान्य हैं। अतएव श्रीगोपीजन कहती है कि हे पुरुषोत्तम! हम इन सब विषयोंका वासनासहित (सर्वधर्मान् परित्यज्व) परित्याग करके आपके चरणतलमें आयी हैं। यहाँ भी पूर्ण स्वीकार और दृढ़ आत्मनिक्षेप है ही।

बच्छा, जब भगवान्ने दाढ़र्यपरीक्षार्थ त्रीधर्मका उपदेश किया, तब भी उसका उत्तर स्वामिनी देती हैं कि—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुशृत्तिरङ्ग

चीर्णां स्वधर्म इति धर्मविदा स्वयोक्तम् ।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे स्वयीदो
प्रेष्ठो भवांस्त्वुभृतां किल वन्धुरात्मा ॥

धर्मावलम्बी धर्मोपदेशकोने त्रियोके लिये पति, पुत्र, सास, ससुर प्रभृतिकी सेवा करना ही धर्म कहा है और आप भी ऐसा ही उपदेश दे रहे हैं, किन्तु ये सब व्यर्थ प्रवास हैं, क्योंकि न तो हमारी जान्मसे पहचान है और न धर्मसे। किन्तु यह अवश्य जान रही हैं कि आप धर्मसामान्यके पण्डित हैं, न कि धर्मविशेषके किंवा धर्मकि। हमारा धर्म क्या है, यह आपने जाना ही नहीं, अथवा जानकर भी आप छिपा गये हैं। अस्तु, प्रपत्तिको स्वामीके कर्तव्यकी विशेष छानवीन करना उचित नहीं है। हम तो इतना ही समझना ठीक मानती हैं कि आप ही सब प्राणीमात्रके अतिप्रिय हैं, रक्षक हैं, और सबके आधार हैं, इसलिये सर्वोपदेशोंके स्वानभूत अति दुर्लभ और हमारे लिये परम सुलभ आपको छोड़कर अब और कहाँ-कहाँ पृथक्-पृथक् भाव करती फिरें। हम तो अब आपमें ही सर्वभावसे आत्मनिक्षेप करती हैं। आपकी ही सेवाको सर्वसेवा जानती है। यहाँ अन्याश्रय और अविश्वासका सर्वथा परित्याग है। श्रीगोपीजनोंका भगवान् (धर्म) के सिवा अन्य किसी धर्मके साथ कोई सम्बन्ध नहीं था, यह बात मुक्तिस्कन्धमें भगवान्ने ही कही है—

ते नार्धातश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।
अन्नततस्तपसो मत्सङ्घान्मासुपागता ॥

सर्वसाधनरहित अनेक भक्तोंका निरूपण करते हुए उन्होंमें श्रीगोपीजनोंकी भी परिगणना की है, किन्तु उन सबसे श्रीगोपीजनोंका स्थान बहुत ऊँचा है। प्रपत्तिकी दृष्टिसे सत्सङ्ग भी साधन है, धर्मपरिग्रह है। 'सत्सङ्गेन हि दैतेवा.' (१११२।३) इत्यादि श्लोकोंमें निर्दिष्ट प्रपत्तिमें सत्सङ्गका परिग्रह विद्यमान था, किन्तु श्रीगोपीजनोंमें भगवान्से अन्य सत्सङ्गका लेन्द्र भी नहीं था। उनको तो भगवत्सङ्गसे ही भगवत्याति हुई है। अतएव श्रीगोपीजन ही पूर्ण प्रपत्तिके पूर्ण दृष्टान्त हैं।

जिस प्रकार श्रीगोपीजनोंने सर्वधर्मस्वागतुरुर भगवान्का स्वीकार और आत्मनिक्षेप किया था उसी प्रकार भगवान्ने भी स्वधर्मत्यागरूपक श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया था। भगवान्की यह प्रारम्भकी प्रतिज्ञा है—

तन्मान्मच्छरणं गोप्तं मज्जायं मत्परिव्रहम् ।
गोपाये स्वात्मवेतेन सोऽयं मे घत लाहितः ॥

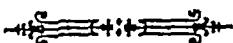
और मध्यमे भी आपने आज्ञा की है कि 'मया परोक्षं
भजता तिरोहितम् ।' और अन्यत्र भी कहा है—

ता मन्मनस्का सत्प्राणा मदर्थे त्यक्तलौकिकाः ।

सबसे विशेष तो यह है कि भगवान्का मुख्य धर्म आत्मारामता है, किन्तु भगवान्‌ने उसका भी परित्याग कर दिया और श्रीगोपीजनोंका स्वीकार किया—'आत्मारामो-इप्यरीरमत्' । यह भगवत्कृत भक्तस्वीकार आत्मनिक्षेप है ।

भगवान्को आत्मनिवेदन करके स्वामिनीवर्ग मर्वटाके लिये कृतकृत्य हो चुका था । अतएव वे समयका अतिवहन करनेके लिये भगवद्गुणगानादि करती रहती थीं । यह वात श्रीगुक्रह्यने इस तरह कही है—

गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्धुतचेतसः ।
कृष्णालौलाः प्रगायन्त्यो निन्युदुर्खेन वासरान् ॥



ज्ञानयोग

(लेखक—पं० श्रीविनायक नारायण जोशी 'साखरे महाराज')

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वाच्छब्दादेवापरोक्षधीः ।
सुषुस पुरुषो यद्बद्धव्यवैवावबुद्ध्यते ॥

'योग' शब्द सुनते ही श्रोताके मनमें सर्वप्रथम हठ-योगकी कल्पना आती है । परन्तु 'योग' शब्दका अर्थ हठयोग नहीं है । 'योग' में 'युज्' धातु होनेसे चित्तको एकाग्र करना, जोड़ना, एकत्र होना इत्यादि इसके अनेक अर्थ होते हैं । साधकका जिससे सम्बन्ध होगा, उसी सम्बन्धके अनुसार उसकी साधनाको नाम प्राप्त होगा । यदि साधकका सम्बन्ध कर्मके साथ है तो वह कर्मयोग, भक्तिसे सम्बन्ध है तो वह भक्तियोग, और ज्ञानसे सम्बन्ध है तो वह ज्ञानयोग कहा जायगा ।

निष्काम कर्मयोग

स्वर्गादि फलकी इच्छासे यदि नित्य-नैमित्तिक कर्मोंसे सम्बन्ध है तो उस कर्मयोगसे मोक्षप्राप्ति नहीं होती, वे कर्म तो कर्त्ताको स्वर्गादि फल प्राप्त कराकर क्षीण हो जाते हैं । किन्तु वे ही नित्य-नैमित्तिक कर्म जब निष्काम बुद्धिसे अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धिसे किये जाते हैं तब वे चित्तशुद्धि

वहौतक हमने यह प्रपत्तिका सक्षेपसे निरूपण किया है । भक्तिमें अनुग्रह है और प्रेमप्रकर्ष है । तथा प्रपत्तिमें भी अनुग्रह और प्रेमप्रकर्ष है । दोनोंमें भगवान् ही फल हैं । इस दृष्टिसे दोनों एक है, किन्तु केवल साधनाचरणका दोनोंमें भेद है । भक्तिमें साधनविशेषरूप धर्मविशेषका भी स्वीकार है, पर प्रपत्तिमें केवल धर्म (भगवान्) का ही स्वीकार है, साधनानुष्ठानका नहीं ।

भक्तिमें आनुकूल्यका सकल्प और प्रातिकूल्यका वर्जन है, किन्तु प्रपत्तिमें इनका नियम नहीं है । कहीं दोनों हैं, कहीं एक है, और कहीं दोनों ही नहीं । उपालम्भ-लीला, और मानादिलीलाओंमें और भ्रमरगीतादिके समय प्रातिकूल्य ही आभासित होता है । यद्यपि प्रपत्ति और भक्ति दोनोंहीके विषयमें वहुत वक्तव्य रह गया है, तथापि लेखके बढ़ जानेके भयसे आज यहींतक कहकर इस विषयको पूर्ण किया जाता है । हरिः औं शम् ।

करके मोक्ष प्राप्त कराते हैं और इसी कारण उन्हें निष्काम कर्मयोग कहते हैं ।

निष्काम कर्म क्या असम्भव है ?

किसी भी मनुष्यके लिये निष्काम कर्मका होना सम्भव नहीं, क्योंकि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते'— (प्रयोजनके विना कोई अदना काम भी नहीं होता ।) इस न्यायके अनुसार किसी भी मनुष्यमें फलकामनारहित किसी कर्मकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती । स्वर्गादि फलकी इच्छा न करके ईश्वरार्पणबुद्धिसे कर्म करनेवाले पुरुषके मनमें यह कामना होती ही है कि ईश्वरके प्रसादसे मोक्षकी प्राप्ति हो, प्राप्तमोगैश्वर्यका परित्यागकर स्वदेशके कल्याणके लिये दिन-रात आनंदोलन करनेवाले पुरुषके मनमें स्वराज्य-प्राप्तिकी कामना होती ही है, पितरोंकी कष्टप्रद सेवा करनेवाले सुपुत्रकी यह कामना होती ही है कि इन पितरोंकी सेवा करनेसे जो पुण्य प्राप्त होगा, उससे उत्तम लोककी प्राप्ति हो । तब निष्काम कर्म क्या हुआ यह प्रश्न रह ही जाता है ।

निष्काम कर्मकी सम्भवनीयता

कोई भी कर्म कामनारहित नहीं होता, यह वात सत्य है। तथापि वेदोंमें जिन-जिन कर्मोंका लौकिक फल कहा गया है, उनउन फलोंकी कामनासे जब कर्मरम्भ किया जाता है तब उस कर्मको सकाम कर्म कहते हैं। और लौकिक कर्मफलकी इच्छा न कर केवल मोक्षकी कामनासे, ईश्वरार्पणशुद्धिसे जब कर्म किया जाता है तब उस मोक्षकी कामनाको 'कामना' नहीं कहते, ऐसी शास्त्रमर्यादा है। यदि कोई यह कहे कि ऐसी शास्त्रमर्यादा क्यों है तो इसका कारण यह है कि मोक्षका स्वरूप क्रूठस्थात्मरूप है। आत्मरूप मोक्ष जीवोंको नित्य प्राप्त है। मोक्ष नित्य प्राप्त होनेके कारण ही आत्मप्राप्तिकी कामना भ्रमरूप है। कर्णको कौन्तेयत्व प्राप्त होनेकी कामना भ्रमरूप थी, क्योंकि वह तो स्वतःसिद्ध कौन्तेय (कुन्तीका पुत्र) था। रज्जुसंप्रभमरूप होनेके कारण वह सर्प नहीं है। उसी तरह आत्मा मोक्षरूप होनेके कारण मोक्ष-कामना कामना नहीं और इस कारण मोक्ष-कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कह सकते हैं। जीवन्मुक्त पुरुषके अन्तःकरण-में प्रारब्धवश उत्पन्न होनेवाली उपदेश करनेकी कामना कामना नहीं, इस कारण श्रीकृष्ण अथवा अन्य जीवन्मुक्त पुरुषोंके किये हुए उपदेशादि सब कर्म निष्काम हैं। अतएव सुमुक्षुद्वारा मोक्षेच्छासे किया हुआ कर्म भी निष्काम ही होता है। श्रीविद्यारण्यस्वामीने पञ्चदर्शीके छठे प्रकरण-में पुरुषकी इच्छाको काम कर कहते हैं, इसका निर्णय करते हुए लिखा है—

अहङ्कारचिदात्मानावेकोकृत्याविवेकतः ।

इदं मे स्यादिदं मे स्यादितीच्छाः कामशब्दिताः । २६१।

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यत्वहृष्टकृतिम् ।

इच्छांस्तु कोटिवस्तुनि न वाधो ग्रन्थिभेदतः । २६२।

इसका भावार्थ यह है कि 'शुद्ध चैतन्यरूप आत्मा और अहङ्कार वास्तवमें एक दूसरेसे मिल नहीं है, अविवेकके कारण ये एक ही हैं, ऐसा निश्चय करके मुझे अमुक-अमुक वस्तु चाहिये, ऐसी इच्छा (जीव) करता है। ऐसी इच्छाको काम कहते हैं। आत्मा और अन्तःकरणका भेद मालूम हो जानेपर यदि ज्ञानी करोड़ों वस्तुओंकी भी इच्छा करे तो ग्रन्थिभेद हो जुकनेके कारण उसमें कोई हर्ज नहीं। क्योंकि उस इच्छाको काम नहीं करा जा सकता।'

दूसरे, रक्षादि पापाण ही है, किन्तु उन्हे कोई पापाण नहीं कहता, इसी तरह मृतकका अमिसंस्कार करते समय घड़ा फोड़नेके लिये जो छोटा-सा पत्थर लिया जाता है, वह वास्तवमें होता तो पापाण ही है, किन्तु उसे पापाण न कहकर 'अश्मा' कहनेकी श्रेष्ठ लोगोंकी रुढ़ि है। अतएव कोई भी कर्म सकाम होनेपर भी उपर्युक्त कारणोंसे मोक्षकी कामनासे किये हुए कर्मको निष्काम कर्म कहनेकी शास्त्रोंकी प्रथा है। अतएव निष्काम कर्मयोग सम्भव है।

भक्तियोग

निष्काम कर्मयोगके विषयमें जो ऊपर विचार किया गया, उसीके अन्दर भक्तियोग भी है। नामस्मरण, चिन्तन, ध्यान, धारणारूप जो भक्ति है, वह भी एक मानसिक कर्म ही है। इसी कारण वह निष्काम कर्मयोगके अन्तर्भूत है। जिस तरह निष्काम कर्म अन्तःकरणकी शुद्धिका हेतु है, उसी तरह ईश्वरभक्ति अन्तःकरणकी स्थिरता-का हेतु है। जब अन्तःकरणकी शुद्धि और स्थिरता होती है तब आचार्यद्वारा महावाक्यका उपदेश लेनेपर जीव-ब्रह्मैक्य-फलरूप ज्ञान उत्पन्न होता है। यद्यपि महावाक्य सुननेसे शब्दगतिसे ही ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि अन्तःकरण यदि शुद्ध और निश्चल न हो तो उस ज्ञानसे मोक्षरूप परमानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम सुमुक्षुको निष्काम कर्मयोग और भक्तियोग दोनोंका अनुष्ठान करनेकी आवश्यकता है।

अन्तःकरणकी शुद्धि और निश्चलता प्राप्त होनेके बाद जीव-ब्रह्मैक्य-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्

समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।

—इस वेदाज्ञाके अनुसार सुमुक्षुको हाथमें समिव लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्यकी शरणमें जाना चाहिये।

सुमुक्षुके शरणमें जानेपर ब्रह्मनिष्ठ गुरु गिष्यकी 'तत्त्वमसि' महावाक्यका उपदेश करते हैं। इस वाक्यमें 'तत्' पदका अर्थ है ईश्वर और 'त्व' पदका अर्थ है जीव। इन दोनों पदोंके अर्थको लेकर 'असि' पदसे उनका एकत्व मानें तो अत्पन्न अत्पशक्ति जीव और सर्वज्ञ मर्दशक्ति ईश्वरका ऐक्य होना सम्भव नहीं। किन्तु जीव पदोंका अर्थ लेनेपर वाक्यार्थ अनुभवके विरुद्ध होता है तब लक्षण-से पदोंके अर्थको ग्रहणकर शुद्ध ब्रह्मके साथ कूटस्थरूप

शुद्ध जीवका एकत्र मान लें। इससे मुमुक्षुको श्रवण-कालमें जो आपाततः जीव-ब्रह्मात्मैक्यका विश्वास हुआ रहता है, वह इद हो जाता है। अतएव महावाक्यके अवणसे जो ब्रह्मके आत्मत्वसे ज्ञान प्रत्यक्ष होता है उस ज्ञानसे मुमुक्षु ससारमुक्त होकर ब्रह्मरूप परमानन्दको प्राप्त होता है अर्थात् परमानन्दरूप हो जाता है।

गङ्का—यहाँपर यह गङ्का हो सकती है कि यदि हम यह मान ले कि 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंसे नी ब्रह्मपरोक्ष ज्ञान हो जाता है, तब 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इत्यादि वेदवाक्योंसे विरोध होता है। वाणी परमात्माके स्वरूपका प्रतिपादन करती हुई, परमात्मस्वरूपको न पहुँचकर मनके साथ वापस आ जाती है अर्थात् वाणीसे परमात्माका वर्णन होना सम्भव नहीं। इसी तरह 'यद् चाचानभ्युदित येन वागभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि'-केनके प्रथम खण्डमें कहा गया है। वाणीके उपादानभूत स्वप्रकाशमान परमात्माका प्रकाश अर्थात् ज्ञान लेकर शब्दके स्थानमें जड़ पदार्थको प्रकाशित करनेकी शक्ति प्राप्त हुई है। दीपकके स्थानमें जड़ पदार्थ प्रकाशित करनेकी शक्ति जैसे दीपोपादानभूत अग्निकी है, वैसे ही शब्दके स्थानमें पदार्थ-प्रकाशनकी शक्ति शब्दोपादानभूत स्वप्रकाशमान अर्थात् ज्ञानरूप परमात्माकी है। जब ऐसी वात है तब—

येनेदं जानते सर्वं तत्केनान्येन जानताम् ।

(प० प्र० ३। १७)

अर्थात् जिसके योगसे सब प्रकाशित होता है उस ब्रह्मको ब्रह्मके अतिरिक्त जड़ पदार्थोंके द्वारा क्या प्रकाशित किया जा सकता है? कदापि नहीं। श्रीज्ञानेश्वर महाराजजी कहते हैं—

सूर्याचेनि प्रकाशो । जे काहीं जड़ आभासे ॥

तें तो गिरसे । सूर्यं कायी?

(ब० प्र० ५ ओ० १४)

अर्थात् सूर्यके प्रकाशसे जो सब जड़ पदार्थ प्रकाशित होते हैं, उन जड़ पदार्थोंसे क्या सूर्य प्रकाशित किया जा सकता है? कभी नहीं!

तो इस सम्पूर्ण विवेचनसे यह मालूम हुआ कि लौकिक विश्वदेसे तो नहीं, परन्तु वैदिक शब्दोंसे भी ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब तो वैदिक शब्द 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि साधारण वाक्य हों अथवा 'तत्त्वमसि' आदि

महावाक्य हों, एकदम शब्दोंसे ब्रह्मज्ञान होना सम्भव नहीं, ऐसा सिद्ध होता है। किन्तु आप कहते हैं कि आचार्यद्वारा तत्त्वमसि आदि वेदवाक्योंमें सुमुक्षुको ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। यह कैसे?

समाधान—किसी मनुष्यको यदि अपने मुँहके होनेकी बातपर विश्वास हो जाय तो भी उसे स्वयं अपना है मुँह आरसी आदि उपाधियोंके बिना कभी नहीं दिखायी दे सकता। अथवा चक्षुरिन्द्रियसे जो अग्राह्य अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु है, उसका ज्ञान सूक्ष्मपदार्थदर्शक दूरवीनके बिना होना सम्भव नहीं। दूरवीनकी सहायतासे उस सूक्ष्म जन्तु-का औपाधिक स्थूलत्व मालूम कर उसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। दृश्य पदार्थोंके विषयमें यह बात सबको मालूम है। ब्रह्म—आत्मा तो निरवयव, अरूप, निर्गुण है, इस कारण आरसी अथवा दूरवीनकी सहायतासे किसी भी इन्द्रियके द्वारा उसका ग्राह्य होना सम्भव नहीं। पञ्चज्ञानेन्द्रियों तो अपने-अपने उपादानभूत आकाशादिके गुणोंका अर्थात् केवल शब्दादि विषयोंका ज्ञान कराती हैं। आत्मा निर्गुण है, अतएव किसी भी ज्ञानेन्द्रियसे उसका ज्ञान नहीं हो सकता। इन्द्रियोंके सत्रिकट होनेपर किसी पदार्थका प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। परन्तु कुछ पदार्थोंका 'दशमस्त्वमसि' के अनुसार शब्दोंसे ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। इन्द्रियके सान्निध्यके द्वारा अथवा शब्दद्वारा अन्तःकरणकी वृत्ति ज्ञेयपरसे अज्ञानके आवरणको दूर करती है और अन्तःकरणस्थित आत्म-चैतन्यका आभास उस-उस आत्मभिन्न जड़ पदार्थको प्रकाशित करता है अर्थात् आवरणका नाश हो जानेके बाद अन्तःकरणकी वृत्तिं ज्ञेय पदार्थके आकारकी हो जाती है। उसीके साथ वृत्तिमें आया हुआ आत्मज्ञानका आभास ही उस पदार्थके आकारका हो जाता है, जिससे उस पदार्थका ज्ञान होता है, ऐसा कहते हैं।

गङ्का—हाँ, यह तो हम समझ गये कि जड़ पदार्थका ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिसे होता है। परन्तु आत्माका ज्ञान इन्द्रियों अथवा शब्दकी सहायतासे होना कैसे सम्भव है?

समाधान—मुख्य शकाका समाधान समझनेके लिये अन्तःकरणकी जैसी भूमि तैयार होनी चाहिये, वैसी तैयार होनेके लिये ही जड़ पदार्थके ज्ञानकी प्रक्रिया ऊपर कही गयी है। उसमें मुख्य रहस्य यह है कि आत्मभिन्न जड़ पदार्थको वृत्तिसे व्याप्त कर आभासके तदाकार हुए बिना

जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। अन्तःकरणकी वृत्ति जो पदार्थमें व्याप्त होती है, उसे वृत्तिव्याप्ति कहते हैं। और अन्तःकरणकी वृत्तिमें जो चिदाभास रहता है उसे शास्त्रकी माषामें 'फल' कहते हैं। उस आभासकी जड पदार्थमें जो व्याप्ति है, उसे फलव्याप्ति कहते हैं। कहने-का तात्पर्य, जड पदार्थका ज्ञान होनेके लिये वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्तिकी आवश्यकता है। इन दोनों व्याप्तियोंके निना जड पदार्थका ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ब्रह्म-आत्मा जड नहीं है, स्वप्रकाशमान है तथा उसके ऊपर अनादि अविद्याका आवरण है। अब अन्तःकरणकी वृत्तिके द्वारा उस आवरणके नष्ट होनेपर अर्थात् पूर्वोक्त निष्काम कर्म और निष्काम भक्तियोगके द्वारा शुद्ध और स्थिर हुए अन्तःकरणमें, अन्तःकरणस्थित ब्रह्मात्मचैतन्यकी सच्चिदानन्दरूपसे सहज अभिव्यक्ति होती है। इसीको ब्रह्मप्रोक्ष ज्ञान कहते हैं। प्रकाशमान सूर्य जब वादलोंसे आच्छादित रहता है तब यथार्थरूपमें नहीं दिखायी पड़ता। वादलके कारण सूर्यदर्शन नहीं होता, यह सूर्यके ही सामान्य प्रकाशसे मालूम होता है, परन्तु वादलके आच्छादनके द्वारा सूर्यके यथार्थ स्वरूपका भान नहीं होता। हवा चलनेसे वे वादल जब दूर हो जाते हैं तब सूर्यका स्पष्ट दर्शन होता है। उस समय लोक-च्यवहारमें यह कहा जाता है कि हवाने सूर्यदर्शन करा दिया। किन्तु वस्तुतः हवाने केवल वादलोंको दूर किया, सूर्यको तैयार नहीं किया। श्रीज्ञानेश्वर महाराजने गीताके १८ वें अध्यायके ५५ वें श्लोककी व्याख्यामें दो-तीन हृष्णान्त देकर इसी सिद्धान्तको बतलाया है—

वारा आभाळचि केढो। वांचूनि सूर्यांते न घडी।
कां हातु चाँखुली धाढी। तोय न करी ॥ १२३१ ॥
तैसा आत्मदर्शनो आद्वलु। उसे अविद्येचा जो मलु ॥
तो शास्त्र नाशी येरु निर्मलु। मो प्रकाशे स्वये ॥ १२३२ ॥
म्हणौनि आघर्वाचि शास्त्रे। अविद्या विनाशाची पत्रे ।
वांचोनि न होती स्वतन्त्रे। आत्मबोधी ॥ १२३३ ॥

अर्थात् हवा वादलोंके आवरणभावको दूर करती है। सूर्यको तैयार नहीं करती। अथवा पानीपर जमी हुई काईको एक किनारे कर देती है, वह पानीको तैयार नहीं करती, पानी तो काईके नीचे रहता है।

इसी प्रकार स्वप्रकाशानन्द आत्माका ज्ञान होनेमें प्रतिच्छक जो अविद्याका मल है, उस मलका ज्ञान शास्त्र

करते हैं। हे अर्जुन ! उस मलका ज्ञान होनेके बाद अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमें स्वप्रकाशमान परमात्मा स्वतः ही अभिव्यक्त होता है। अर्जुन ! सब शास्त्र केवल अविद्याका ही ज्ञान करनेवाले हैं। यथार्थ आत्मबोध करा देनः शास्त्रके हाथकी वात नहीं है।

इसी उद्देश्यसे समन्वयाधिकरणमें—

अविद्याकल्पितभेदनिष्ठृत्तिपरत्वाच्छास्त्रस्य । न हि शास्त्रसिद्धन्तया विषयभूतं ब्रह्म प्रतिपिपादयिष्यति किं तर्हि ? प्रत्यगात्मवेनाविषयतया प्रतिपादयदविद्याकल्पितं वेद्यवेदितृवेदनादिभेदमपनयति ।

—ऐसा कहा गया है। इसका अर्थ है कि क्रग्वेदादि शास्त्र सच्चिदानन्द ब्रह्मको 'इदत्वसे' अर्थात् अद्वृलीनिर्देश करके जिजासुको नहीं दिखाते कि यह ब्रह्म है। जीवके लिये आत्मरूप अविषय होनेसे ब्रह्मके प्रति उसमें अविद्याकल्पित वेद्यवेदितृवेदनादि भेद उत्पन्न हो जाते हैं जिससे वह ब्रह्मसे दूर हो जाता है, इसलिये शास्त्र केवल अविद्याकल्पित मिथ्या भेद-प्रतीतिका नाशभर करते हैं। कल्पित भेद निवृत्त हो जानेपर महावाक्यके शब्दणसे स्वप्रकाशमान ब्रह्म आत्मत्वसे अन्तःकरणमें अभिव्यक्त होता है। इसीका नाम ब्रह्मापरोक्ष ज्ञान है।

इस सम्पूर्ण विवेचनसे ऐसा मालूम होता है कि क्या वेद-चाक्य अथवा क्या अन्य शास्त्र, किसीके द्वारा साक्षात् आत्मज्ञान होना सम्भव नहीं। तब शास्त्रोंका उपयोग क्या है ? ऐसा यदि कोई कहे तो इसका उत्तर यह है कि यद्यपि ब्रह्म स्वप्रकाशमान है, सब जीवोंका आत्मा है, उसीके ज्ञानके आश्रयपर सब लौकिक और वैदिक व्यवहार चलते हैं, फिर भी जीवोंके अन्दर सच्चिदानन्दब्रह्मरूप आत्मा है, ऐसा जान नहीं होता, अतएव यह मानना होगा कि स्वप्रकाशानन्द आत्माके ऊपर अविद्याका आवरण है। उस आवरणका ज्ञान गुरुद्वारा वेदान्तमहावाक्य सुननेसे ही होता है, दूसरे किसी उपायसे नहीं होता। इसी कारण उपनिषदोंका ऐसा सिद्धान्त है कि आचार्यद्वारा महावाक्य सुननेसे ब्रह्मात्मक्य अपगेक्ष ज्ञान होता है। अवश्य ही वेदवाक्य ब्रह्मको अद्वृलीनिर्देश करके सामने दिल्ला नहीं देते। इसी अर्थमें 'यतो वाचो निवर्तन्ते' आदि श्रुतिने कहा है। परन्तु अन्तःकरण यदि अत्यन्त तुद तो तो वेदान्तमहावाक्यके द्वारा उसमें ग्रस्मन्दरूपकी अभिव्यक्ति

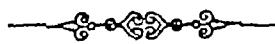
होती है। इसीका 'दृश्यते त्वय्यथा बुद्ध्या' (तीव्र बुद्धिसे देखा जाता है), 'मनसैवेदमात्मव्यम्' (मनसे प्राप्त होता है) आदिके द्वारा श्रुतिने प्रतिपादन किया है। यही चुम्हारी शकाका समाधान है।

इन सब वातोंका मतलब यह है कि मुमुक्षुको आत्मज्ञान प्राप्त करनेके लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं होती, आत्मा तो प्रतिक्षण अन्तःकरणमें अभिव्यक्त है। परन्तु बुद्धिके अन्दर भेदकी सत्यताका निश्चय है। इस प्रतिवन्धके कारण जीवको स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं। जबतक उस स्वच्छ आत्माका ज्ञान नहीं होता तबतक जीवके ससारसे मुक्त होनेकी सम्भावना नहीं। इस कारण भगवान् शकरा-

चार्यने गीताके १८ वें अध्यायके ५० वें श्लोककी व्याख्या के अन्तमें—

तस्माज् ज्ञाने यतो न कर्तव्यं किं त्वनात्मबुद्धि-
निष्टृत्तावेव, तस्माज् ज्ञाननिष्ठा सुसम्पाद्या ।

—कहकर यह बतलाया है कि निष्काम कर्मयोग, भक्तियोग, अष्टागादि योग, ध्यानादि अनन्त योग इत्यादि सब तरहके योग ज्ञानयोगके ही अग हैं। इन अगोंकी सहायतासे आत्मस्वरूप ज्ञानके प्रतिवन्धक अज्ञानावरणको दूर करना चाहिये और गुरुद्वारा प्राप्त महावाक्यकी सहायता-से ब्रह्मका अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करना चाहिये और मुक्त होना चाहिये। यही वैदिक ग्रन्थोंद्वारा अपरोक्ष ज्ञानोत्पत्तिकी प्रक्रिया है जो सक्षेपसे यहाँ कही गयी है।



सम्पूर्ण योग

(लेखक—प० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर)

प्रा चीन क्रिपि-मुनियोद्वारा जो धर्म मानवजातिके उद्धारके लिये प्रकाशित हुआ, उसमें 'योगसाधन' को प्रधान स्थान प्राप्त है। यदि मानवधर्मसे योगसाधनको पूर्णतया हटा दिया जाय तो फिर उसमें कोई विशेष महत्त्वकी वात ही नहीं रह जायगी। योगसाधनका ऐसा महत्त्व अपने सनातन वैदिक धर्ममें बताया गया है।

अगर अपनी भाषाका निरीक्षण किया जाय तो उसमें भी योगकी सार्वत्रिक उपयोगिताका पता लगता है। भाषामें 'प्रयोग, सयोग, वियोग, नियोग, अधियोग, अतियोग, सुयोग, उच्योग, अभियोग, प्रतियोग, उपयोग' इत्यादि अनेक ग्रन्थ प्रयोगमें आते हैं। ये सब भी 'योग' ही है। यदि इन योगोंका उपयोग भाषामें न किया जाय तो भाषा कितनी अधूरी हो जायगी, इसका ज्ञान प्रत्येक भाषाभाषीको सहजमें ही हो सकता है। भाषामें योगका यह सार्वत्रिक प्रयोग सिद्ध करता है कि भाषाकी पूर्णताके लिये 'योग' की अन्यत आवश्यकता है।

भाषा क्या है! भाषा आत्माका ही प्रकाश है। आत्मा बुद्धिके साथ युक्त होकर अपने जो भाव प्रकट

करता है, वही भाषा है। अर्थात् भाषा आत्माका भाव है अथवा प्रभाव है। और वह पूर्वोक्त योगोंके विना प्रकट नहीं हो सकता। इसीलिये कहा जाता है कि आत्माका प्रकाश प्रकट होनेके लिये 'योग' की आवश्यकता है।

आर्य वैद्यकमें औषध-योजनाको 'योग' कहते हैं। ज्योतिषग्रास्त्रमें ग्रहोंके योगको भी 'योग' कहा जाता है। गणितशास्त्रमें भी 'योग' है। इस तरह देखा जाय तो योगके विना कोई शास्त्र नहीं है, यह वात स्पष्ट हो जायगी। योगकी व्यापकता यहाँतक है कि 'वियोग' में भी 'योग' की आवश्यकता है, किर 'सयोग' में आवश्यकता है—यह कहनेकी तो आवश्यकता ही क्या है?

इस तरह भारतीय क्रिपि-मुनियों तथा तपस्वियोंने योगका मानवजीवनके साथ अदृष्ट सम्बन्ध देखा और अनुभव भी किया। इस समयमें भी प्रत्येक व्यक्तिको इस सम्बन्धका अनुभव करना चाहिये।

सभी ग्रास्त्रोंमें 'योग' कहा गया है। पातञ्जल योगदर्शनमें 'योगसाधन' का ही विचार किया गया है; कपिलमुनिके साख्यदर्शनमें भी 'सांख्ययोग' कहा है, पूर्वमीमांसामें 'कर्मयोग' कहा है, उत्तरमीमांसामें 'ब्रह्मयोग' है, श्रीमद्भागवतादि पुराणोंमें भक्तियोग है।

इस तरह अनेक ग्रन्थकार इस योगतत्वका विवेचन करनेमें ही प्रवृत्त हुए दीखते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सब आर्यग्रास्त्रोंका एकमात्र उद्देश्य यही है कि धर्म-जिज्ञासुओंके मनमें इस योगतत्वको स्थिर कर दिया जाय।

इतना प्रयत्न होनेपर तो हम सब सनातनधर्मियोंके मनमें योगकी प्रवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। विरले ही कोई योगसाधनमें लगते हैं, वाकी लोग वैसे ही कोरे रह जाते हैं जैसे योगके प्रचारके लिये कोई प्रयत्न ही न हुआ हो। ऐसा क्यों? इस प्रश्नका विचार करनेका समय आ गया है। जो लोग धार्मिक हैं, उन्हें इसका विशेष विचार करना चाहिये।

हमारे विचारमें इसका मुख्य कारण है 'सम्पूर्ण योगकी अवहेलना और अपूर्ण योगकी ओर अधिक झुकाव।' आथ. लोग समझते हैं कि भक्तियोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, लययोग, ध्यानयोग आदि सब योग एक दूसरेसे पृथक् हैं और एकका दूसरेके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह विचार इतना दृढ़ हो गया है कि योगमार्गका अनुसरण करनेवाले साधक भी अपने-आपको दूसरेसे पृथक् समझते हैं, अर्थात् भक्तिमार्गी लोग अपने-आपको हठयोगियोंसे पृथक् मानते हैं। इसी तरह ज्ञानमार्गियोंका कर्ममार्गियोंसे विरोध है और यह विरोध ग्रन्थोंमें भी स्पष्ट दिखायी देता है।

क्या भक्ति, ज्ञान, कर्म आदि परस्परविरोधी मार्ग हैं? क्या दूसरे मार्गका स्पर्श भी न कर केवल भक्ति, केवल कर्म अथवा केवल ज्ञानका अनुष्ठान होना सम्भव है? हमारे विचारसे सम्भव नहीं है। परन्तु कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गका परस्पर विरोध भाष्यकारोंने भी मान लिया है। और ऐसा भी मानने लगे हैं कि ये सब मार्ग एक ही केन्द्रविन्दुको प्राप्त होनेवाले हैं, फिर भी ये परस्पर भिन्न हैं।

यदि ये सब मार्ग भिन्न-भिन्न हैं तो यह निश्चित है कि इनमेंसे कोई मार्ग 'सम्पूर्ण' नहीं है। जो योग 'सम्पूर्ण' होगा, वह किसीसे भी भिन्न नहीं हो सकता।

हठयोगी कहते हैं कि हम आसन-प्राणायामादिके अभ्यासके द्वारा प्राण स्थिर करते हैं और चित्तकी एकाश्रता साधते हैं, ज्ञानयोगी कहते हैं कि हम विशेष मननादि साधनसे स्थिरताका साधन करते हैं, कर्मयोगी कहते हैं कि हम कर्म करनेमें ही अपना जीवन समर्पित कर देते हैं, भक्त कहते

हैं कि हम नाम-स्मरण आदि करते हैं। इस तरह प्रत्येक साधक अपने मार्गको दूसरोंसे पृथक् समझता है। इसका फल यह होता है कि हठयोगी आसनोंसे शरीर और प्राणायामके द्वारा प्राणोंपर विजय प्राप्त करता है, ज्ञानयोगी मननके द्वारा मनपर अच्छे संस्कार जमाता है; कर्मयोगी कर्मन्द्रियोंसे प्रयत्न करता है और भक्तिमार्गी नामस्मरण आदिमें ही लगा रहता है। इनमेंसे एक शरीरका आश्रय करता है, दूसरा प्राणपर निर्भर करता है, तीसरा मनका उपयोग करता है, चौथा कर्मन्द्रियोंका उपयोग करता है और पाँचवाँ स्मरणशक्तिका आश्रय लेता है। इस तरह इनमेंसे एक भी सम्पूर्ण मानवशक्तियोंका उपयोग नहीं करता। हर एक प्रकारका साधक एक-एक शक्तिका उपयोग करता है और इसोलिये अपने आपको दूसरेसे पृथक् अनुभव करता है तथा इस पृथक्त्वमें उसे अपूर्णताका भी अनुभव होता है।

मनुष्यके पास आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रियों, पञ्चभूत आदि अनेक पदार्थ हैं। इन सबका एक साथ योग होनेपर ही 'सम्पूर्ण योग' हो सकता है। जो यह कहते हैं कि हम केवल प्राणोंका साधन करते हैं, अथवा केवल अपने आत्माको ही परमात्माके साथ मिलाते हैं, वे अशका योग करते हैं, उनके सम्पूर्ण अङ्गोंके साथ योग नहीं होता। अतः वे अपूर्ण योग करते हैं और इसलिये पृथक्त्वका अनुभव करते हैं।

वस्तुतः देखा जाय तो केवल एक ही शक्तिका प्रयोग करना असम्भव है। अर्थात् हठयोगी जो यह कहते हैं कि हम आसन-प्राणायाम आदिके द्वारा केवल शरीरावयव और प्राणका ही अनुष्ठान करते हैं, वे गलती करते हैं। आत्मा, बुद्धि, मन, प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत आदि सबका उपयोग किये विना न हठयोगका अनुष्ठान हो सकता है और न अन्य योगोंका। थोड़ा-सा विचार करनेपर यह स्पष्ट तौरपर मालूम हो जायगा कि प्रत्येक योगमें सब साधनोंका न्यूनाधिक उपयोग होता ही है। परन्तु साधक यह अनुभव नहीं करता कि मेरे अनुष्ठानमें 'सम्पूर्ण योग' का अनुष्ठान हो रहा है, वल्कि भ्रमसे यह मानता है कि मेरा साधन-मार्ग दूसरोंके साधन-मार्गसे भिन्न है, पृथक् है। जो इस भ्रममें ही मस्त रहते हैं वे 'सम्पूर्ण योग' के लाभमें बद्धित रह जाते हैं और अपूर्णताका अनुभव करते हैं। इबना ही नहीं, ऐसे श्री लोग साधनमार्गोंके आपसी झगड़ेके

हेतु बनते हैं और इस तरह योगका सर्वव्यापक उन्नतिका साधन प्राप्त होनेपर भी वे उसके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित रह जाते हैं।

बहुत-से साधक यह समझते हैं कि योगकी सिद्धि आत्माका परमात्माके साथ मिलाप हो जाना है; अर्थात् वे यह समझते हैं कि हमारे मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रिय और पञ्चभूत आदिका परमात्माके साथ योग नहीं होता है। यही 'अपूर्ण योग' अथवा 'सम्पूर्ण योगका अपूर्ण ज्ञान' है और यही बहुत बड़ा धात करनेवाला है तथा नाश कर रहा है। क्रष्ण-मुनियोंने तो हमें सम्पूर्ण योगसाधन दिया, परन्तु उसे हमने ग्रहण नहीं किया, केवल उसके एक-एक अंशको लेकर ही हम आपसमें ज्ञागड़ रहे हैं और इसीलिये योगसाधनके सम्पूर्ण लाभसे वञ्चित हो रहे हैं।

साधकोंको यह समझ लेना चाहिये कि जबतक वे इस अपूर्ण साधनमें विचरते रहेंगे तबतक उनको पूर्णत्वका अनुभव नहीं होगा। अब प्रश्न यह होता है कि 'सम्पूर्ण योग' का लक्षण क्या है और उसका साधन कैसे करना चाहिये ?

जिस योगमें एक ही साथ सम्पूर्ण मानवी शक्तियोंका योग परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ होता है वह 'सम्पूर्ण योग' है और वह स्वरूपज्ञान होनेके बाद ही हो सकता है।

यहाँ सहज ही यह प्रश्न पाठक कर सकते हैं कि परमात्माकी और जीवात्माकी शक्तियों कौन-सी हैं ? गीतामें श्रीभगवान् कहते हैं—

भूमिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च ।

अहङ्कार इतीयं मे भिजा प्रकृतिरष्ट्या ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृति विद्धि मे पराम् ।

जीवभूता महावाहो यथेऽधं धार्यते जगत् ॥

(७ । ४-५)

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहकार यह आठ प्रकारकी अपरा प्रकृति और नहीं जीव-रूपी परा प्रकृति है। अर्थात् यह नौ प्रकारकी ईश्वरकी प्रकृति है। क्या यह नौ प्रकारकी प्रकृति जीवके पास नहीं है ? क्या पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहकार तथा जीवनकला मनुष्यके पास नहीं है ? है, अवश्य है। इससे वह सिद्ध होता है कि जो नौ शक्तियों परमेश्वरके पास है, वे ही

मनुष्यके पास भी हैं। फिर मनुष्य केवल एक ही शक्तिका योग क्यों करता है ? परमात्माकी सम्पूर्ण शक्तियोंके साथ अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका योग क्यों नहीं करता ? विचार करनेपर यह मालूम होता है कि मनुष्य ऐसा अवश्य कर सकता है। तब इस तरहका 'सम्पूर्ण योग' कैसे किया जाय, इसीका अब विचार करे।

साधकको पहले यह विचार करना चाहिये कि ईश्वरकी प्रकृतिमें जो नौ तत्त्व हैं, वे ही हमारे अन्दर भी हैं। परमेश्वरकी प्रकृति इस समूचे विश्वमें पूर्णतया व्याप्त है, कोई स्थान उससे रिक्त नहीं। इसी कारण ईश्वरको 'सर्व', 'विश्व' कहते हैं। (विश्व विष्णुः । पुरुष एवेद सर्वम् ।) जब परमेश्वर 'सर्व' है तब यह सब रूप उसीका रूप हुआ, जिसके अन्दर साधक भी हैं। इस तरह साधकको अपने-आपको महासागरके अन्दरके एक जलविन्दुके समान समझना चाहिये। जो तत्त्व सम्पूर्ण महासागरमें है वही एक जलविन्दुमें भी है। इसी तरह जो नौ तत्त्व ईश-प्रकृतिमें हैं, वे ही साधककी प्रकृतिमें भी हैं और ईश्वरकी महती प्रकृतिमें साधककी अल्प प्रकृति सम्मिलित है। महासागर प्रभु है और साधक उसीका एक विन्दुरूप। इस भावनामें साधकको स्थिर होना चाहिये। और यह विचार करके देखना चाहिये कि अपने पृथ्वी-तत्त्वके साथ ईश्वरकी प्रकृतिका पृथ्वी-तत्त्व मिला है या नहीं, गन्धसे पृथ्वी-तत्त्वका ज्ञान होता है। क्या कोई ऐसा स्थान है जहाँ गन्ध न हो ? अपने शरीरमें गन्धवती पृथ्वी है, वैसे ही सम्पूर्ण विश्वमें भी है। क्या अपने शरीरकी गन्धवती पृथ्वी विश्वरूपी त्रिहाण्डकी ईशप्रकृतिसे पृथक् है ? पृथक् कहाँसे हो सकती है ? गन्धम गन्ध मिला हुआ है। इसी तरह अपने शरीरके जल, तेज, वायु, आकाश आदि तत्त्वोंके साथ विश्वप्रकृतिके ये तत्त्व कैसे मिले हुए ह, इसका अनुभव करे। विवेकपूर्वक यह निश्चय करना चाहिये और इसका अनुभव करना चाहिये कि ईशके विश्वव्यापक गरीरसे मेरा शरीर पृथक् नहीं है। जैसे कपड़ेमें सूत्रका भाग है वैसे ही उस प्रभुमें मैं हूँ। न मैं उससे पृथक् हूँ और न वह मुझसे पृथक् है।

जबतक मनमें ऐसा निश्चय न हो जाय तबतक वार-चार विचार करके ऐसा अनुभव करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। और यह ब्रात जाननी चाहिये कि किस तरह अपनी प्रकृति ईश्वरकी प्रकृतिके साथ मिली हुई है। जब यह अनुभूति होगी तभी यह ज्ञान प्राप्त होगा कि अपनी प्रकृतिका सम्पूर्ण योग

परमात्म-प्रकृतिके साथ सदा-सर्वदा है ही। सम्पूर्ण योगके अभ्यासका यह प्रथम पाठ है।

इस योगमें यह भावना कि, 'मैं प्रभुके साथ सर्वदा सयुक्त हूँ' सदा जाग्रत् रहनी चाहिये। 'मैं अलग हूँ और वह अलग है'—यह भाव यहाँ है ही नहीं। अपनी सब शक्तियों उसके साथ नित्य सम्बद्ध हैं। यही अनुभव करना यहाँका अनुष्ठान है।

इसके आगेका दूसरा पाठ यह है कि क्या ये पञ्चमहाभूत थक् सत्ताधारी है अथवा एक ही सत्तत्वके ये पौच्छ गुण भी पारी पौच्छों इन्द्रियोंको पौच्छ अनुभव दिला रहे हैं?

पौच्छ अन्धे हाथी देखने गये। एकने जाकर पौच्छका पार्श्व किया तो उसको हाथी स्तम्भ-जैसा प्रतीत हुआ, उसको कान स्पर्श करनेपर सूपके समान मालूम हुआ। इसी पौच्छों अन्धोंने हाथीका वर्णन पौच्छ प्रकारसे किया। अनुभव ऐसा ही था, अवश्य ही अनुभव अपूर्ण था। इसी हमारी इन्द्रियोंकी है। एक सत्तत्वके साथ जब उसका काम करती है तब उसे उसका रूप दीखता है और उसका कान कार्य करता है तो उसे गब्द सुनायी देता है। पृथक् अनुभव ऑख, कान, नाक, जिहा और त्वचाकी नेजी आन्तरिक घटनाके कारण होता है। वस्तुतः जिसके पैर गुण अनुभवमें आते हैं, वह तत्त्व एक ही है। उस तत्त्वमें पृथक्-पृथक् भाव नहीं है। जैसे आमका पीला रंग ऑख लेती है, उसका स्पर्श हाथ करता है, उसका स्वाद जिहा लेती है, उसका गब्द कान सुनता है और उसकी गन्ध नाक लेती है, पर आम तो एक ही है, वैसे ही मूल सत्तत्व एक ही है, किन्तु उसका सम्बन्ध जानेन्द्रियोंसे होनेपर, पृथक् गुण अनुभूत होते हैं। एक ही मत्तत्वके अनेक गुण प्रतीत होते हैं।

इस तरह विचारद्वारा एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। पहले अभ्याससे यह जान हुआ कि अपनी प्रकृतिके पञ्चतत्त्वोंके साथ ईश-प्रकृतिके पञ्चतत्त्व मिले हैं। इस अभ्याससे यह अनुभव प्राप्त हुआ है कि जीव और शिवमें एक ही तत्त्व है और वह सब परस्पर मिला हुआ है, उसमें पार्थक्य विलुप्त नहीं है। यह 'सम्पूर्ण योग' का दूसरा पाठ है।

पञ्चतत्त्वोंका एकीकरण इन तरह प्रत्यक्ष अनुभवमें

आ सकता है। यह रेवल कल्पनाकी वात नहीं है। पाठक

विचार करें और अपने शरीरके पञ्चतत्त्व विश्वव्यापी पञ्चतत्त्वोंके साथ मिले हुए हैं, इसको अनुभव करे अथवा जिस एक तत्त्वके पौच्छ गुण पौच्छ इन्द्रियोंद्वारा प्रतीत होते हैं, वह एक तत्त्व जैसा अपने शरीरमें है वैसा ही सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त है, इस वातको विचार करके जान लें। यह जानते ही अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंका सम्पूर्ण योग विश्वव्यापक शक्तियोंके साथ हो जाता है और 'नेह नानास्ति किञ्चन' का अनुभव होता है। यही अखण्ड एकताका अनुभव है।

पाठक कहेगे कि यह तो प्राकृतिक तत्त्वोंकी एकता है। सच है। पर पहले यही एकता मनमें स्थिर होनी चाहिये। क्योंकि प्रकृतिमें वड़ी विभिन्नता है। यदि यह प्राकृतिक विभिन्नता हट जाय तो मानसिक, वौद्धिक और आत्मिक एकता समझनेमें कठिनाई न होगी।

जब पञ्चमहाभूतोंका योग हो गया तब उसके बाद मनका विचार करना चाहिये। मन क्या करता है? मन मनन करता है और सर्वत्र 'सत्ता, भान और प्रियता' का अनुभव करता है। साधक यदि विचार करके देखेंगे तो उन्हें पता लगेगा कि मनद्वारा तीन प्रकारके अनुभव होते हैं—(१) 'यह सब है', (२) 'यह मुझे प्रतीत होता है', और (३) 'यह मुझे प्रिय है।' इन्हीं अनुभवोंका संक्षिप्त नाम है—'सत्-चित्-आनन्द'। अस्ति-भाति-प्रियत्व भी इनको कहते हैं। देखनेवाला अपने अतिरिक्त सम्पूर्ण जगत्में ये तीन अनुभव करता है। यदि साधक अपने साथ सम्पूर्ण विश्वमें ये तीन अनुभव लेनेका यज्ञ करेगा तो इस तरह भी उसका 'सम्पूर्ण योग' सिद्ध होगा।

इस सम्पूर्ण विश्वका मैं एक अश हूँ और मेरे साथ जो यह सम्पूर्ण विश्व है, वह है, वह प्रतीत होता है और वह प्रिय है। ऐसा अनुभव होनेपर मनका विश्वव्यापक मनके साथ सम्पूर्ण योग हो जायगा। पार्थक्यका जान करानेवाला मन भी इस तरह विश्वरूपके साथ एक हो जायगा।

प्रथम पञ्चज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा पञ्चभूतोंका जान हुआ, वन् अब जाता रहा और एक ही वस्तुके तीन पहलुओंका जान हुआ। जो वस्तु (अस्ति) है, वर्ती (भाति) प्रतीत तोती है और वही (प्रिय) प्रेमरूप है। अणु-रेणुको इन तीन भावोंसे देखिये, उसमें अपने-आपको मिलाकर अपना पृथक्त्व हटानेका प्रबद्ध कर्त्तिये। इस उद्देशे

अभ्याससे यह ज्ञान उत्पन्न होगा कि सब वस्तु एक ही है। यह सम्पूर्ण योगका तीसरा पाठ है। इसमे पञ्चतत्त्व हट जाते हैं और केवल तीन भाव ही रह जाते हैं। सम्भवतः ऐसा भी अनुभव होने लगता है कि ये एक ही वस्तुके तीन भाव हैं।

इसके बाद बुद्धि आती है, वह कहती है कि यहाँ न तो पञ्चतत्त्व है, न तीन भाव ही हैं, केवल जड़ और चेतन दो ही वस्तुएँ हैं। विश्वमें कुछ जड़ और कुछ चेतन दिखायी पड़ता है। ऐसा दीखता भी है और अनुभवमें भी आता है। जो जड़ है वह चेतन नहीं है और जो चेतन है वह जड़ नहीं है। अतएव बुद्धिद्वारा केवल ये दो पदार्थ निश्चित होते हैं। इन्द्रियोंके सम्बन्धसे हमने पाँच पदार्थ निश्चित किये थे, मनके द्वारा तीन किये थे, अब बुद्धिके द्वारा केवल दो ही निश्चित होते हैं—जड़ और चेतन। विश्वमें जड़ भी है, चेतन भी। साधकमें गरीर जड़ है और जीव चेतन। अतएव जो जड़-चेतन विश्वरमरमें हैं वे ही साधकमें भी हैं। ऐसा विचारकर साधकको अपना जडभाग विश्वके जड़के साथ और अपना चेतन विश्वव्यापक चेतनके साथ मिला देना चाहिये। अब हम किस रूपमें अलग रहे? अपने साथ जो सम्पूर्ण विश्व है उसमें केवल दो ही पदार्थ रह गये हैं—एक जड़ और एक चेतन। शेष पञ्चमहाभूत, अस्ति-भाति-प्रियत्व अथवा सत्त्व, रज, तम सब उसी जड़-चेतनके अन्तर्गत आ गये।

अब साधक अलग कहाँ रहा? वह तो विश्वव्यापी जड़-चेतनमें ही मिल चुका है। अब यह प्रश्न उठता है कि क्या जड़ और चेतन पृथक्-पृथक् हैं? यहाँ आत्माको

साक्षीरूपमे देखना चाहिये। जागृतिमे जब यह देखता है तभी उसको ऐसा प्रतीत होता है कि यह जड़ है या चेतन। और तभी इनका अस्तित्व भी होता है। यदि यह द्रष्टा सो जाय और जागे ही नहीं तो कौन किसको जड़ कहेगा और कौन किसको चेतन? अतः इस द्रष्टाका ज्ञान ही यह सब होता है, द्रष्टाका स्वरूप ही ज्ञान है जो इस विश्वमें परिणत होता है। फिर द्रष्टासे भिन्न कौन-सा पदार्थ कहाँ रहा? जड़ और चेतनरूप जो यह भेद है वह इसीके निज रूपका भेद है।

अब साधक इस चतुर्थ पाठके समय स्वयं ही सब कुछ बन गया। अब वह यह कहता है कि जब मैं देखता हूँ तब यह सब है, नहीं तो नहीं है अर्थात् मुझसे भिन्न कुछ भी नहीं है, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सम्पूर्ण हूँ। यह सम्पूर्ण योगका अन्तिम पाठ है। इस समय निम्नलिखित श्रुतिवाक्य ठीक समझमें आ सकता है—

अहमेवाभस्तादहमुपरिषादहं पश्चादहं पुरस्तादहं
दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेद ४ सर्वम् ॥

(छान्दो० ७ । २५ । १)

‘मैं ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायीं और बायीं और हूँ, और मैं ही यह सब हूँ।’ यह ‘सम्पूर्ण योग’ की सम्पूर्णता है। वेद, उपनिषद् तथा अन्यान्य ग्राओंमें यही योग कहा गया है। अन्य सब योग इसी योगके अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और वे सब अपूर्ण योग हैं। यही सर्वाङ्ग सम्पूर्ण योग है। पाठक इसका मनन करें और पूर्ण बनें। अपूर्णतामें दुःख और पूर्णतामें सुख है। पाठक इस प्रकार सुखको प्राप्त कर सकते हैं।

अमर भये

(लेखक—स्व० योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी ‘यति’)

अब हम अमर भये न मरेंगे ।

या कारन मिथ्यात दियो तज क्योंकर देह धरेंगे ॥

राग द्वेष जग बन्ध करत हैं इनको नाश करेंगे ।

मरयो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे ॥

देह विनाशी, हूँ अविनाशी, अपनी गति पकरेंगे ।

नाशी जासी, हम थिर वासी, चोखे हैं निखरेंगे ॥

मरयो अनन्त वार विन समझीयो, अब सुख-दुख विसरेंगे ।

‘आनन्दघन’ निपट निकट अधर दो नहि समरे सो मरेंगे ॥

योगसिद्धिका रहस्य

(प्रेपक—श्रीनागेन्द्रनाथ शर्मा साहित्यालङ्कार, एम० आर० ए० एस०)

(१)

भूतजय तथा अष्टमहासिद्धि

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवच्चसंयमाद् भूतजयः ।

(पात० ३ । ४४)

इस सूत्रमे अणिमादि अष्टसिद्धियोंका पूर्वरूप भूतजय वर्णित है । इष्टषि कहते हैं कि स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवच्च इन पॉच्चमे संयम प्रयोग करनेसे भूतजय होता है । स्थूल अर्थात् नाम-रूप जैसे घट आदि । स्वरूप—स्थूल उपादान जैसे मृत्तिका आदि । सूक्ष्म तन्मात्र—जैसे गन्धादि । अन्वय—प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण, ये सभी पदार्थोंमे अन्वित हैं । इसीसे तीन गुणोंको अन्वय कहा जाता है । अर्थवच्च—प्रयोजनत्व अर्थात् निलेप आत्माका भोगापवर्गसाधनरूप लीलाविलास । भूतादिका यही प्रयोजन है । दृश्य वस्तुमात्रके ये ही पॉच्चरूप हैं । क्रम-क्रमसे इन पॉच्चमें वार-चार संयमप्रयोग करनेसे भूतजय होता है । भूतोका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होना ही भूतजय है । भूतसमूह परमार्थतः नहीं है, उनकी सत्ता नहीं है, इसका प्रत्यक्ष होना ही भूतजय नामक विभूति है ।

स्थूलसे अर्थवच्चपर्यन्त पदार्थोंके जो पॉच्च तरहके रूप प्रदर्शित हुए, धीरभावसे उनके धार्दिसे अन्ततक प्रत्येकमे संयमप्रयोग करनेसे पृथिव्यादि भूतोका यथार्थ स्वरूप जात हो सकता है । एक रहस्य यह है कि उक्त पॉच्च प्रकारके न्यूपमें प्रथमसे ठीक-ठीकरूपसे संयम प्रयुक्त होनेसे पर-परका आविर्भाव अपने आप ही होता रहता है, उन्हे तलाश करके नहीं लाना पड़ता । मान लीजिये कि एक घट है । उस नामरूपात्मक प्रथम दृश्यमान पदार्थमें संयम-प्रयोग करनेसे ही उसका स्वरूप अर्थात् स्थूलोपादान जो पृथ्वी—क्षिति है वह प्रकाशित होगी ही । तब फिर उस अश्रमें संयम प्रयोग करनेसे उसके सूक्ष्म स्वरूप गन्ध तन्मात्र स्वरूप-में उपनीत हुआ जाता है, उसमे सयत होनेसे चत्व, रज और तमोगुणरूप त्रिविधि स्पन्दनमात्र पाया जाता है । यही पदार्थकी दृश्म अवस्था है, इसीका नाम अन्वय है । त्रिगुणमें पहुँचनेसे तर उसका 'अर्थवच्च' प्रतीत होने लगता

है । तीन गुण जो स्वरूपके अज्ञानसे उत्पन्न आवरण-विक्षेपात्मक एक प्रकारका लीलाविलासमात्र हैं, यह प्रत्यक्ष होने लगता है । इस प्रकार स्थूलसे कारणपर्यन्त पदार्थोंकी अवस्था प्रत्यक्ष होनेसे फिर भूत या पदार्थ कहनेको कुछ नहीं रहता । भूत प्रत्यक्षरूपसे वर्तमान रहनेपर भी वे परमार्थरूपसे नहीं हैं, यह दृढ़ विश्वास हो जाता है । तब यह भूतजयनामी विभूति क्या है, समझमे आ सकती है । भूतोंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होनेसे उनपरसे हेयो-पादेय बुद्धि सदाके लिये दूर हो जाती है । यही यथार्थ भूतजय है । साधारण मनुष्य भौतिक वस्तुओंको परमार्थ वस्तु जानकर उनके संग्रह और रक्षणादिमे पूर्णभावसे आत्मनियोग करते हैं । किन्तु भूतजयी योगी ऐसा कभी नहीं कर सकते, अथवा करते नहीं । जबतक यह ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्नमात्र है, तबतक ही स्वप्नके देखे हुए पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं और उनके साथ संयोग-वियोगके कारण चित्तमें क्षोभ उत्पन्न होता रहता है । किन्तु स्वप्न एकदम भङ्ग हो जाय, तब फिर स्वप्नमें देखी वस्तुके नाश या प्राप्तिसे उत्पन्न चित्तविक्षेप नामको भी नहीं रहता, उस योगीको ठीक इसी प्रकार जगत् स्वप्नका स्वरूप जान पड़ता है, वह समस्त जगत्का आधिपत्य पाकर भी प्रसन्न नहीं होता, और सर्वस्व नाश भी हो जाय तो विचलित नहीं होता । भूतजय होनेसे योगीमें ये लक्षण प्रकट होते हैं । ये विभूतियों त्रैवर्गिकोंके लिये कल्पितरूपसे सिद्ध होती हैं ।

४४ वें सूत्रका आभास

पृथिव्यादि पॉच्च भूतोकी पॉच्च अवस्थाएँ हैं, जिन्हे अवधारण कर सकनेसे महाभूत योगीके अधीन हो जाते हैं अर्थात् योगीके इच्छानुसार भूतोकी क्रिया होती रहती है । स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवच्च—इन पॉच्च भूतभावोंपर योगीको दृष्टि रखना आवश्यक है । जिस-जिस मूर्ति या आकारसे वह दर्शन देते हैं, वही उनका स्थूल भाव है । अर्थात् आपाततः पाषाण, मूर्तिमें परिणत होनेपर भी, जिस कार्यको करनेके लिये उस अवस्थामें आया है वही उसका न्यूप है, यह स्वरूप और जिस अभिमानगतिके ऊपर निर्भर करके

प्रकाशित है वही सूक्ष्म भाव है। जगत्‌मे उद्देश्य या अभिप्रायरहित कोई पदार्थ नहीं है। जीवका अभिप्राय सहजमे प्रकाशित हो जाता है, जड़का उद्देश्य छिपा रहता है। यह उद्देश्य या अभिप्राय ही जड़की सूक्ष्म मूर्ति है। यह उद्देश्य भी निरन्तर परिवर्तनगील है। कारण कि सुखदुःख एव मोहरूप सत्त्व, रज और तमोगुण ये ही उद्देश्यके अवयव हैं। ये तीन गुण ही जड़की मूर्ति गठन करते हुए अभिप्रायभेदसे कार्यमे नियुक्त करते हैं। इस कारण प्रत्येक दशामे तीनों गुणोंका अन्वयभाव है, फिर इस परिणाम या भावान्तर होनेके उद्देश्यपर कठाक्ष करनेसे चित्त जब समझे कि परिणामसे भूतोंका अपना कुछ प्रयोजन नहीं है, अग्निको जलानेके लिये ही काष्ठकी चेष्टा है, वह व्यापार काष्ठका अपना कोई उद्देश्य नहीं है, यहाँतक कि अग्निकी सहायता करनेमे काष्ठ अपना शरीरतक खो देता है, उसी प्रकार प्रकृतिदंबी विच्चित्र किया और रूपके उत्पादनमें चैतन्यस्वरूप पुरुषका आत्मसाक्षात्कार व्यापारमात्र घटाती है, और आप अन्तर्द्वित हो जाती है। अतएव पञ्चभूत और उनकी तन्मात्राएँ, जो-जो सृष्ट वस्तुएँ दीख पड़ती हैं, उनमेंसे अपने लिये कोई वस्तु नहीं रखी है, सब जीवोंके भोग-सम्पादनके लिये हैं। जैसे अन्न-व्यज्ञनादि जो वस्तुएँ तैयार होती हैं वे सब मनुष्यके भोजनार्थ हैं। उसी प्रकार जगत् केवल जीवोंके भोगके लिये है, यही भूतग्रामका अर्धवत्त्व है। इन पौच्च भावोंमे सयम करनेसे पञ्चभूत योगीके अधीन होते हैं।

अतएव ब्राह्म भूतोंपर यदि आधिपत्य हो जाय तो आन्तरिक भूतग्राम भी योगीके बग्र हो जाता है, तब वह प्रत्येक पदार्थपर उक्त पौच्च अवस्थाओंका समन्वय स्थापन करके सबको अपने बग्र कर सकता है। चित्त निश्चिन्त और निस्तरङ्गभावसे विश्राम करता था। उसका वह शान्त प्रवाह भङ्ग करते हुए अपनी मूर्तिसे जो अकस्मात् आकर्षण किया, वही विषयका स्थूलभाव है। अकस्मात् एक आप्रकल देखकर उसका स्थूल भाव समझा। आकार-देखनेसे ही तो सन्तुष्ट नहीं हुआ जाता। यह क्या है? यह कहनेसे प्रश्नका उत्तर मिला—भोज्यकी योग्यता ही आप्रका स्वरूप है। कहो था? चृक्षकी चोटीपर हरसाल ही आता है। अतएव आप्रवृक्षके भीतर स्थित उत्पादिका जक्किविशेष ही आप्र है। आप्र

परिणत और सुपक्ष होकर जीवका भोज्य होनेके सिवा अपने स्वार्थका उसने कुछ भी परिचय नहीं दिया। इसी भावसे योगी जब समस्त दृष्ट पदार्थोंको देखना सीखेगा तब उसका देखना समाप्त होगा और वस्तु भी उसकी दृष्टिके अनुसार ही गठित होगी।

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्वर्मान-
भिधातश्च ॥४५॥

इस सूत्रमें अणिमादि आठ प्रकारकी विभूतियोंका वर्णन हुआ है। क्रृषि कहते हैं कि 'भूतजय' होनेपर अणिमोदि-का प्रादुर्भाव होता है और कायसम्पत् प्राप्त होती है और 'उसके धर्मका अनभिधात होता है।

१—अणिमा—अत्यन्त सूक्ष्मत्व, अणुग्रन्थका अर्थ है सूक्ष्मत्व, आकाशीय भाव। सूक्ष्म और क्षुद्र एक बात नहीं है। साधारणतः परमाणुको क्षुद्रतम अथ समझा जाता है, किन्तु दर्शनगात्रमें अणुग्रन्थ अधिकाश स्थलमे सूक्ष्म अर्थमे ही प्रयुक्त होता है। इस सूक्ष्मत्वकी जो पराकाष्ठा है उसका नाम है अणिमा, जिससे परे कोई सूक्ष्म वस्तु हो ही नहीं सकती। स्थूल देहकी अपेक्षा इन्द्रियों सूक्ष्म है। इन्द्रियोंसे मन सूक्ष्म है, मनसे बुद्धि सूक्ष्म है और बुद्धिसे भी आत्मा सूक्ष्म है। आत्मा ही सूक्ष्मकी पराकाष्ठा है। अतएव अणिमा कहनेसे केवल परमात्मा ही लक्षित होता है। 'मैं' ही अणिमा हूँ, परम सूक्ष्म मुक्षमे ही विद्यमान है, अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप मैं ही परम सूक्ष्म वस्तु हूँ, इस तरह जो प्रत्यक्ष अनुभूति है, उसीका नाम अणिमा-विभूतिका प्रादुर्भाव है। केवल शास्त्र पढ़ लेने या उपदेश सुनकर समझ लेनेमात्रसे वह विभूति-रहस्य, साधन त्रिना, हृदयङ्गम करना असम्भव है। आत्ममत्त्वदर्शनका नाम विभूति है। अणिमादिरूपसे आत्मसत्ताका अनुभव साधक-का परम सौभाग्य सूचित करता है। यह मुक्तिकी अति सन्निहित अवस्था है। प्रियतम साधक, तुम कब यहाँ आकर जीवन धन्य करोगे?

२—लघिमा—लघुशब्दका अर्थ है हल्का। पक्षीके रोएँ या रुई आदि वस्तुको इसके दृष्टान्तस्वरूपमें दिखाया जा सकता है। यह लघुत्व एक प्रकारका बोधमात्र है। यह जब पराकाष्ठाको प्राप्त होता है अर्थात् जिससे अधिक और कोई लघुविषय हो नहीं सकता, उसका नाम है लघिमा। यह लघिमा सत्तामात्रस्वरूप आत्ममे ही विद्यमान है। मैं ही लघिमा हूँ, परम लघुत्व मुक्षमे ही नित्य विराजित

है, ऐसा जो प्रत्यक्ष अनुभव है उसीका नाम लघिमा-विभूति है।

३-महिमा—महत्त्वकी जो पराकाष्ठा है, जिससे और महत् कुछ हो नहीं सकता, उसे महिमा कहते हैं। देश और काल महत् वस्तु है, वह भी बुद्धि या महत्त्वके दृश्य—ग्राह्यरूपसे अवस्थित है। अतएव महत्त्व देशकाल-की अपेक्षा भी महत्त्व है। फिर वह महत्त्व स्वप्रकाश-स्वरूप आत्माके प्रकाशसे ही प्रकाशित है, आत्माकी सत्तासे ही सत्तावान् है, अतएव बुद्धि या महत्त्वसे भी आत्मा महत्त्वम् है। महिमा परमात्माका ही अन्य नाम है। देश-कालका जो महत्त्व अर्थात् व्यापकना है वह विजातीय भेदन्परसे गृहीत होती है। बुद्धिका महत्त्व या महत्त्वकी व्यापकता स्वगतभेदरूपसे गृहीत होती है, और अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका महत्त्व मर्वभेदातीतरूपसे नित्य विद्यमान है। आत्माकी सत्ता विना महत्त्व भी सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती; इस कारण परममहत्त्व एकमात्र आत्मामें ही नित्य विद्यमान है। यह परम महत्त्व ही महिमा है, मैं ही वह महिमा हूँ, परम महत्त्व मुझमें ही नित्य विराजता है, इस प्रकार जो प्रत्यक्ष आत्मानुभव है उसीको 'महिमा' विभूतिका आविर्भाव कहा जाना है।

४-प्राप्ति—सर्वथा सब पदार्थोंकी प्राप्ति ही प्राप्ति नामकी विभूति है। मैं सत्तास्वरूप वस्तु हूँ, अतएव जहाँ जो कुछ 'है' रूपसे प्रतीत होता है वह सभी आत्माद्वारा सर्वथा प्राप्त है, इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवका नाम प्राप्ति है। मैं जवतक सत्तास्मूर्ति प्रदान न करूँ, तवतक कोई वस्तु ही सत्ता प्राप्त नहीं कर सकती, इस सत्य ज्ञानमें विश्वित रहनेके कारण ही साधारण मनुष्य सदा अनेक प्रकारके अभाव-अभियोगोंको प्रत्यक्ष करते रहते हैं। किन्तु भूतजयी योगी सर्वात्मर्द्दर्शनके फलसे इस प्राप्ति नामक विभूतिको पाकर धन्य होते और सब अभाव-अभियोगोंसे ऊपर चले जाते हैं।

५-प्राकाम्य—प्राकाम्य गद्वका अर्थ है—इच्छाका अनभिधात। भूतजयी योगी देखता है कि इच्छा एकमात्र परमेश्वरकी है जो सुषिटि, स्थिति और प्रलयका अधीकर है, जो आत्मा है, जो मैं रूपसे प्रकाशित है, वही इच्छा-निपीणी महती शक्ति है। यथा—

या देवीं सर्वभूतेषु इच्छारूपेण सस्तिता ।

नमभस्यै नमनस्यै नमनस्यै नमो नमः ॥

इम महती इच्छाका सम्यक् अनुवर्तन अर्थात् ईश्वर-प्रणिधान करनेके फलसे जीवभावीय इच्छा कहनेको फिर कुछ भी नहीं रहता। इस अवस्थामें पहुँचनेपर योगी देख पाता है कि उसे प्राकाम्यसिद्धि प्राप्त हुई है। इस अवस्थामें योगीके चित्तमें जो इच्छा उद्द्य होती है वह उस महती इच्छासे भिन्न न होनेके कारण कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रहती। छोटी-छोटी इच्छाएँ भी महती इच्छामें मिला दे सकनेसे साधक इस प्राकाम्य या इच्छा-की अनभिधातरूपा विभूति प्राप्त कर सकते हैं।

६-विगित्व—भूत-भौतिक वश्यता ही इसका स्वरूप है। भूत और भौतिकरूपसे जो कुछ प्रकाश हो रहा है वह सब आत्माकी—मेरी सत्तासे सत्तावान् और मेरे प्रकाशसे प्रकाशित है। मैं आश्रय या आधार हूँ और वह सब आश्रित या आधेय है, ऐसी प्रत्यक्ष अनुभूति प्राप्त होना ही विगित्व नामक विभूति है।

७-ईश्वित—स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ग्राह्य वस्तुमात्रकी ये तीन तरहकी अवस्थाएँ दीख पड़ती हैं। इन अवस्थाओं-को ठीक-ठीकरूपसे सुनिश्चित करनेकी जो सामर्थ्य है उसे ईश्वित कहते हैं। प्रबोक्ष विगित्वविभूतिसे ही इसका भी प्रकाश होता है। मैं ही तो सब स्थूल, सूक्ष्मादि-का नियन्ता हूँ। 'मेरे भयसे सूर्य उदय होते हैं, मेरे ग्रासनसे वायु प्रवाहित होती है, मेरे भयसे अग्नि ताप ढेरी है, मैं इम विश्वब्रह्माण्डकी स्थूल, सूक्ष्मादि सब वस्तुओंको भलीभौति नियमित रखता हूँ,' ऐसे प्रत्यक्ष अनुभवका नाम ईश्वितप्राप्ति है।

८-यत्रकामावसायित्व—कामनाओंका विलुप्त अन्त हो जानेका नाम 'यत्रकामावसायित्व' है। इसको पूर्णकामन्त्र भी कहा जाता है। 'पूर्णकामोऽस्मि सवृत्तः' मैं पूर्णकाम हुआ हूँ, अब मेरे देखने और पानेको कुछ वाकी नहीं है। मैंने अपने स्वरूपका पता पाया है। इसके बाद और जातव्य या प्राप्तव्य कुछ नहीं रह सकता। इस अनुभूतिके उदय होनेसे समझा जा सकता है कि योगी 'यत्रकामावसायित्व' विभूति पाकर धन्य हुआ है। केवल आत्मज्ञानमें ही सब कामनाओंका अन्त हो जाता है। भूतजयी योगी अभिन्न सत्तामात्रस्वरूप आत्माका पता पानेसे—इन आटो सिद्धियोंको प्राप्त कर लेते हैं।

इन अणिमादि आठ निदियोंके सम्बन्धमें लंगोंपरे जैसे सुषुद्ध मस्कार हो रहे हैं या मौजूद उन | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

लोगोंको यह व्याख्या पसन्द नहीं आ सकती, परन्तु भरोसा है कि जो योगीश्वरी 'मॉ' है वह आप ही प्रत्येकके अन्तर्यामिंदेवतारूपसे—गुरुरूपसे उनके चक्षु खोल देंगी, तब वे इस सत्यका पवित्र स्थिर प्रकाश पाकर सब सभय और सर्स्करणोंसे पार चले जायेंगे। मॉ—आत्मा-ब्रह्म-गुरु। सन्तानकी यह आगा कभी निष्फल हो नहीं सकती। तुम स्वयं ही तो इस द्वद्याकागमे आगारूपसे उदय होकर भविष्यतके उज्ज्वल प्रकाशका उज्ज्वल चित्र सत्यरूपसे दिखा देती हो। धन्य मॉ ॥१॥

रुपलावण्यवलवज्ज्ञसंहननस्वानि कायसंपत् ॥ ४६ ॥

इस सूत्रम् पूर्वोक्त कायसम्पत्का फल वर्णन करते हैं कि भूतजयी योगीका सुन्दर रूप, मनोहर कान्ति, और अत्यन्त वलवान् वज्रके समान सुदृढ शरीर हो जाता है।

(व्यासमाध्य)

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व इन पौच्छ भूतस्वभावोंमें सथमका उपर्युक्त पहले कहा गया है। उनमेंसे स्थूलभावमें सथम करनेसे अणिमा, लघिमा, महिमा और प्राप्ति वे चार सिद्धियों प्राप्त होती हैं। स्वरूपमें सथम करनेसे 'प्राकाम्य', सूक्ष्ममें सथम करनेसे 'वशित्व', अन्वयमें सथम करनेसे 'ईशित्व' और अर्थवत्त्वमें सथम करनेसे 'कामाचसाधित्व' होता है। इन सिद्धियोंके प्रयोगसे योगी भूत-भौतिक पदार्थोंके ऊपर अपने प्रयोजनानुसार कार्य अवश्य कर सकते हैं किन्तु भगवान्के अभिप्रायसे अन्यथा आचरण करनेपर भूतमर्ममें हस्तक्षेप नहीं कर सकते। योगीका प्रयोजन सिद्ध होनेपर भी मूलप्रवाह ईश्वरेच्छासे नीचलता रहता है।

वाह्य भूत वशीभूत होनेसे योगीका रूप, शरीरमें माधुर्य और वल साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा अलौकिक जान पड़ता है। वह देहको वज्रकी भौति कठिन कर सकता है अर्थात् भूतजगत् उसपर अपना प्रभाव कुछ नहीं ढाल सकता। जैसा कि दधीचि मुनिकी अस्थिसे वज्र बना या।

४६ वें सूत्रका रहस्य

ऋषि कहते हैं कि रूप, लावण्य, वल और वज्र-सम्बन्ध्य ये भी कायसम्पत् हैं। जो सर्वत्र प्रकाशित है तो भी भाषा या विचारद्वारा जिसका स्वरूप निरूपण नहीं किया जाता, उस मूकान्वादनवत् अनिर्वचनीय यस्तुका नाम न्यू है। साधारणतः हम जिसको रूप

समझते हैं वह रूप नहीं है—आकृति और रूप एक वस्तु नहीं है। रूपका कोई रूप नहीं तो भी सब उसे अनुभव कर सकते हैं, चैतन्य वस्तुका ही दूसरा नाम है रूप। चैतन्य जब जड पदार्थोंके साथ अन्वित होकर प्रकाश पाता है तभी उसका नाम रूप होता है।

२—लावण्य—

मुक्ताकलेषु च्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा ।

प्रतिभाति यद्वेषु तत्त्वावण्यमिहोच्यते ॥

प्राचीन विद्वानोंने लावण्यविषयमें इस श्लोकका उल्लेख किया है। साधारण वोलचालमें श्री, सोन्दर्य, चास्ता आदि-आदि शब्दोंसे हम जो समझते हैं, लावण्य उससे बहुत बढ़कर वस्तु है। अति कुत्सित वस्तुमें भी कुछ श्री है, यह श्री जहाँ बहुत अधिक प्रकाशित है वहीं लावण्यका प्रकाश है। गिर्युके मुखपर, चन्द्रमामें, कमलमें लावण्य पाया जाता है। यह रूप और लावण्य जगत्में सर्वत्र पूर्णभावसे अवस्थित है। बुद्धिकी मलिनताके कारण वह अनुभूत नहीं होता। भूतजयी योगीकी बुद्धि निर्मल हो जाती है, इस कारण वह विश्वमय रूप और लावण्यको अनुभव कर सकता है। अजी, आत्मदर्शनकारीके लिये सर्वत्र ही रूप-लावण्यकी मधुरिमा है। आत्मा ही रूप है, आत्मा ही लावण्य है, गुरु-कृपासे ज्ञानचक्षु उन्मीलित होनेपर वह प्रत्यक्ष होता रहता है। साधक ! प्रेमिक ! तुम ज्ञानसे या अज्ञानसे जिसको सबसे अधिक प्रिय समझते हो, जिसका वियोग तुम क्षणभर भी नहीं सह सकते, उसीका नाम रूप और लावण्य है। जिसके उदयसे मदन मूर्छा पा जाता है, काम-वासना सदाके लिये बुझ जाती है, वही रूप और वही लावण्य है।

केवल यही नहीं, वल और वज्रसंहनन भी उसीमें विद्यमान है अथवा वही वल और वही वज्रसंहनन है। देखो साधक ! इस जगत्में जो जिसके आश्रित है, वह उसीको वलवान् जानता है। केवल शारीरिक वल नहीं, धनवल, विद्यावल, तपोवल, योगवल आदि जितने प्रकारके वल हैं वे सब परमवल परमात्माके आश्रित हैं। परमात्मसत्तामें और परमात्माके ही प्रकाशसे दृश्य प्रपञ्च सत्तावान् और प्रकाशमय है। अतएव वल कहनेसे केवल आत्माको ही समझिये। उपनिषद् कहता है—

नायमात्मा वलहीनेन लभ्यः ।

‘वलहीन व्यक्ति आत्मप्राप्ति नहीं कर सकता।’ इस वाक्यका तात्पर्य वह है कि आत्माके सिवा अन्य कोई आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता। वह स्वस्वेद्य वस्तु है, वेत्ता और वेद्य दोनों वही है। लब्ध और लभ्य दोनों वही है, अतएव ज्वतक विन्दुमात्र भी अनात्मविश्वास है तत्त्वक साधक वलहीन है। वलहीन किस तरह वलस्वरूप वस्तुको प्राप्त करेगा? निरपेक्ष और अवधितभावसे अपने सत्ता-प्रकाशकी जो सामर्थ्य है वही बल है। अपना अस्तित्व प्रकाश करनेके लिये किसी दूसरेका मुँह नहीं ताकना पड़ता अथवा दूसरा कोई अपनी सत्ताके प्रकाशमें वाधा भी नहीं डाल सकता। यह जिस सामर्थ्यके प्रभावसे सम्भव है वही बल है। भूतजयी योगी आत्माके इस वलस्वरूपत्वको प्रत्यक्ष कर सकता है। यही विभूति है।

वज्रसंहननत्व—सहनन गव्दका अर्थ है शरीर और स्वरूप। वज्र गव्द भीतिसूचक है। रूप-लावण्यादिकी भौति भीषणता भी आत्माकी कायसम्पत् है। ‘महद्भय वज्रमुद्यतम्’, ‘भयादस्य तपति सूर्यः’ इत्यादि वाक्योंसे श्रुतिने आत्माको भीतिदायक वज्रस्वरूपसे वर्णन किया है। किसीके सिरपर यदि वज्र गिरनेको तैयार हो तो वह जिस तरह सदा सङ्कुचित और भयमीत रहता है, उसे वज्र गिरनेकी आशका रहती है और सर्वतोभावसे आज्ञानुवर्ती रहता है, ठीक उसी तरह इस विश्वके ऊपर, इस अहके ऊपर, इस चतुर्दश भुवनात्मक ब्रह्माण्डके ऊपर महद्भय उद्यत वज्रस्वरूप आत्मा विराजमान है, इसीसे सब नियमपूर्वक अपना-अपना कार्य करते हैं और कर्मचक चलता रहता है। एक तिलमात्र भी अन्यथा करनेका उपाय नहीं है। ज्योंही कोई इससे पृथक् जरा भी स्वाधीन-रूपसे अपनेको देखनेका विचार करे, त्योंही उसकी विशिष्ट सत्तातक लोप हो जाती है। ऐसा अव्यर्थ ग्रासन है। इसी कारण सत्यदर्शी ऋषियोंने उदात्तस्वरसे कहा है कि ‘उसीके भयसे सूर्यदेव प्रतिदिन नियमितभावसे उटित रहते रहते हैं, उसीके भयसे पवनदेव सदा सञ्चरण करते हैं, उसीके भयसे अग्निदेव गर्मी देते हैं, उसीके भयसे मृत्युदेव सदा जीव-सहरण-कार्यमें निरत रहते हैं।’ भूतजयी योगीको यह सब प्रत्यक्ष गोचर होता है।

वे जो रूप, लावण्य, बल और वज्रसंहननत्व चार कायसम्पद् हैं सो स्वरूपके ऐश्वर्य हैं। ‘चैतन्य-स्वरूपमें ही रूपमय, लावण्यमय, बलवान् और वज्रसंहनन

हूँ।’ इस तरह प्रत्यक्ष अनुभूति पानेका नाम ही कायसम्पद् विभूतिका आविर्माव है। अजी। मैं कितना महान् हूँ, यह विश्वरागि मेरी है, यह विश्वमय लावण्य मेरे ही अङ्गकी तरल छाया है, मेरा प्रकाश किसीकी अपेक्षा नहीं करता, न उसमे कोई वाघा डाल सकता है, मेरा स्वरूप वज्रके समान भयदायक और अनभिमत्वनीय है। ऐसी अनुभूति यदि आती रहे तो साधक समझ ले कि उसकी कायसम्पद् नामक विभूतिका वह प्रकाश है।

‘तद्धर्मनभिधात्’ पद पूर्व सूत्रमें उल्लिखित होनेपर भी यहाँ उसकी कुछ व्याख्या की जाती है। तद्धर्मका अर्थ रूप-लावण्य आदि कायसम्पद् लक्ष्य किया गया है। तद्धर्म अर्थात् रूप, लावण्य, बल और वज्रसहननरूप धर्मका अनभिधात होता है जिसका कोई चिनाश नहीं कर सकता। आत्मा नित्य वस्तु है, इसलिये कायसम्पत् भी नित्य ही विद्यमान रहेगी, किसी अवस्थामें उसका अभिधात नहीं हो सकता। आशका हो सकती है कि आत्मा तो धर्मधर्मिभेदरहित अद्वितीय वस्तु है, तब उसमें धर्म किस तरह सम्भव है? हाँ, सत्य है, आत्ममें न कोई धर्म है न रह सकता है तो भी आत्मस्वरूप-जिज्ञासुजनोंको समझानेके लिये ऐसे भेदवोधक वाक्योंका प्रयोग किया जाता है। वस्तुतः रूप, लावण्य, बल आदि आत्माका स्वरूप ही है। ये विभूतियाँ अपूर्व हैं। इनके आनेसे साधकको इतना आनन्द होता है कि पृथिवी-में नहीं समाता। साधकके प्रभावको यह विश्व धारण नहीं कर सकता। प्रियतम साधक। आओ, गुरु—ईश्वर-प्रणिधानके मार्गपर आगे बढ़ो, जिससे तुम भी इस विभूतिको पाकर धन्य हो सको।

(२)

इन्द्रियजय तथा मधुप्रतीकसिद्धि

ग्रहणस्वरूपासितान्वयार्थवस्त्वसंयमादिनिद्रियजयः ॥४७॥

इस सूत्रमें इन्द्रियजयरूप विभूतिका वर्णन हुआ है। प्रधिकहते हैं कि ग्रहण, स्वरूप, अस्तिता, अन्वय और अर्थवत्त्व यह पॉच प्रकार सयम प्रयोग करनेसे इन्द्रियजयत्वरूप विभूति आविर्भूत होती है। १-ग्रहण (ग्रहण विषय-संत्वर्द्धः) चक्षुः आदि इन्द्रियोंके साथ रूप, रस आदि विषयोंका संस्पर्श। २-स्वरूप (न्वरूप विषयमकाशकत्व) इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका प्रकाश, सांख्यकी मापामें इमे

आलोचन-ज्ञान कहते हे । ३-असिता (दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवासिता योग ० २ । ६) । दृक् गति और दर्शनगति इन दोनोंकी एकात्मता ही असिता है । दृक् गति-पुरुष, आत्मा, और दर्शनगति बुद्धि, इन दोनोंकी जब एकात्मता या तादात्म्य हाता है, दोनों एक ही जान पढ़ते हे, तब उसे असिता कहते हे । सूत्रमें जो 'उब' शब्द है वह इसलिये है कि यह वास्तविक तादात्म्य नहीं है, तादात्म्य-सा जान पढ़ता है । आत्मा सदा निलंप वस्तु है, उसका कभी बुद्धिके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता, तो भी बुद्धिसत्त्व जब अत्यन्त निर्मल होता है तब उसमें प्रतिविभित आत्मस्वरूप अति उच्चवलभावसे प्रकाशित होता है, इसी कारण बुद्धिसत्त्व आत्मस्वरूपसे प्रतीयमान होता रहता है । जैसे स्वच्छ कौचकी लालटैन उसके भीतरकी जलती हुई वत्तीसे विल्कुल पुथक् है, परन्तु दूरसे सारा कौच ही प्रकाशित जान पड़ता है । जलती हुई वत्ती जब पाससे देखते हे तब अलग जान पड़ती है । इसी प्रकार जबतक बुद्धिका आवरण पूर्णरूपसे भेद न हो तबतक बुद्धिमें ही 'आत्मबोध' होता रहता है, जिस बुद्धिमें यह आत्मबोध हुआ है उसीका नाम असिता है । ४-अन्वय (अन्वयो गुणत्रयः) शब्दका अर्थ है तीन गुण । ५-अर्थवत्त्व (अर्थवत्त्व लीलाशक्तिरिन्वचनीया) शब्दका अर्थ है अनिर्वचनीया लीलाशक्ति । इन पाँच प्रकारके सयमप्रयोगसे इन्द्रियजय सिद्ध होता है । इन्द्रियोंका सबसे प्रथम जो रूप हमारे अनुभवमें आता है, प्रधिने उसका नाम रखता है ग्रहण, विषयको ग्रहण करना ही इन्द्रियका प्रथम रूप है । अभीष्ट विषय समीप होनेसे यदि उसमें किसी प्रकारकी वाधा न पड़े तो इन्द्रियों विषयके साथ सम्बन्धयुक्त हो जाती है । इस ग्रहणभावको अवलम्बन करके धारणा, ध्यान और समाधिरूप सयमप्रयोग करनेसे इन्द्रियोंके पर-पररूप अपने आप उपस्थित होते रहते हैं । इन्द्रियोंका दूसरा रूप विषयप्रकाशकत्व है । यद्यपि निर्मल वौधसत्त्वके बिना विषयका सर्वोर्ग प्रकाशित नहीं होता 'तो भी इन्द्रियावच्छिन्न चैतन्य और विषयावच्छिन्न चैतन्यका सम्बन्ध होनेसे ही प्रमातृचैतन्यका आभास आ पहुँचता है और उसके द्वारा विषयका कुछ अश प्रकाशित होने लगता है । इस प्रकार इन्द्रियोंद्वारा विषयोंका जो आशिकभावसे प्रकाशित होना है, मूलमें इसीको इन्द्रियोंका स्वरूप कहा गया है । सयमकी सहायतामें योगी कमसे ग्रहण करते-करते इस स्वरूपमें पहुँच जाता है ।

इसके बाद है असिता । इन्द्रियों असिताके व्यूहमात्र हैं । 'मुझमें रूप ग्रहण करनेकी शक्ति है' 'मुझमें शब्द-ग्रहणकी शक्ति है' ऐसा जो वांधप्रयाह है उसीको चक्षु आदि इन्द्रियों कहते हे, अतएव इन्द्रियमें सयमप्रयोग करनेसे उसका ग्रहणभाव और स्वरूप क्रमसे असिता-क्षेत्रमें पहुँचा जा सकता है । इसके बाद अन्वय अर्थात् प्रकाश, प्रवृत्ति, स्थितिरूप तीन गुण हैं । असितामें सयत होनेसे उसके कारणस्वरूप तीन गुणोंमें आ पहुँचते हैं । अन्तमें इस अन्वय या तीन गुणोंका भी जो कारण है उसकी ओर लक्ष्य फिराते हैं, तब अर्थवत्त्व पाया जाता है । अर्थात् अविद्या-शक्तिद्वारा कन्धित पुरुषके भोगापवर्गरूप प्रयोजनसाधनके लिये ही जो तीन गुण प्रकाशित हैं वे अनुभवमें आते रहते हैं । इस तरह अनुभवके फलसे बुद्धि अत्यन्त स्वच्छ हो जाती है । तब जो यथार्थ सत्ता है, जिसको कोई रूप अन्यथा नहीं होता, वह चैतन्यस्वरूप वस्तु प्रकाशित होने लगती है । पक्षान्तरमें जिन इन्द्रियोंके आधारसे हम विशेषभावसे आत्मसत्ता अनुभव करते हैं उनकी फिर कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती । उन्हें पूर्णरूपसे परित्याग कर भी 'हम' अच्छी तरह रह सकते हैं । यह अनुभूति प्राप्त होनेके फलसे इन्द्रियोंकी पारमार्थिक सत्ताविषयक प्रतीति सदाके लिये चिल्य हो जाती है । इसीका नाम इन्द्रियजय नामक अपूर्व विभूति है । जिन इन्द्रियोंका उच्छेद करते हुए अनेक जन्म वीत गये, जिन इन्द्रियोंकी भोगलालसा निवृत्त करनेकी चेष्टामें अनेक बार जन्म-मरणकी यातनाएँ भोगी गयीं, वे इन्द्रियों वास्तविक नहीं हैं, तो क्या अवतक हम मोह या भ्रममें पड़े हुए थे ? छायाको भूत मानकर भूतके भयसे व्याकुल थे ? अहो ! आज कैसा आनन्द है । इन्द्रियों कहनेको कुछ भी नहीं हैं । किसी कालमें नहीं थीं । अजी ! ऐसी उन इन्द्रियोंके दासत्ववन्धनसे आज हम सर्वथा मुक्त हैं । इस जानका उदय होना ही इन्द्रियजय-विभूति है ।

प्रियतम साधक । याद रखिये, किसीको भी जीतनेके लिये उससे अधिक बलकी आवश्यकता होती है । जबतक आप इन्द्रियरूप छड़ीका सहारा लेकर आत्मसत्ताका अनुभव करेंगे तबतक आपको इन्द्रियोंके अधीन होकर ही रहना होगा । फिर जब गुरुकृपासे सयम-वल पाकर इन्द्रिय-विरहित आत्मसत्ताको अखण्डभावसे प्रत्यक्ष

कर सकेंगे उसी दिन आपका इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा । किस रीतिसे इन्द्रियजय किया जाता है, यह क्रियने ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्वलय क्रमसे वता दिया । भूतजयकी अपेक्षा इन्द्रियजय कठिन है । भूतजय होनेसे स्थूल देहात्म-बुद्धिका विलय होता है और इन्द्रियजय होनेसे सूक्ष्म देहमे जो आत्मबुद्धि है, वह भी विलीन हो जाती है । स्थूल ब्रात यह है कि भूतजयसे मतलब है ग्राहका विलय और इन्द्रियजय कहनेसे ग्रहणका विलय । साधनक्रमसे उन्नत स्तरपर आरोहण करते हैं । भूतजय किये विना कोई इन्द्रियजय नहीं कर सकता । जो लोग यह कहते हैं कि एकदम आत्मस्वरूप प्रकाशित होनेसे ही तो भूतजय और इन्द्रियजय सिद्ध हो जायगा, उन्हें यह भी याद रखना चाहिये कि इस योगशास्त्रके वताये हुए मार्गपर चलनेसे ही आत्मस्वरूपका पता मिलता है । प्रत्येक सम्प्रदायके साधक ज्ञात या अज्ञात सारसे इसी मार्गपर चलते हैं ।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च ॥४८॥

इस सूत्रमे इन्द्रियजयका फल कहा है कि इन्द्रियजय होनेसे—

- (१) मनोजवित्वं (मनसोऽवाधितविचरणसामर्थ्यमितिभावः । धर्माधर्मादिद्वन्द्वातीतसत्तालभादेवं भवति)
- (२) विकरण (कारणरहित आत्मसत्तानुभवः) (३) प्रधानजयश्च (प्रधानस्य लोलाशक्तेरितिभावः) (जयः त्रैकालिकसत्तार्हानतानुभव इत्यर्थः) सत्ता हि नाम सा, या खल्लैतन्यमात्रे व्यवस्थिता, न जडेऽनात्मनि ।

मनकी वेरोक-टोक चालकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं । जबतक आत्मस्वरूपका पता न पाया जाय तबतक मन स्वेच्छापूर्वक नहीं विचर सकता । पाप-पुण्य, सुख-दुःख आदि द्वन्द्व उपस्थित होकर मनके स्वाधीन उल्लासको विनष्ट कर देते हैं । साधक जितने ही मुक्तिसे अधिक सम्बिहित होते रहते हैं अर्थात् इन्द्रियरूपवन्धनरहित द्वेषक आत्मसत्तानुभवकी सामर्थ्य प्राप्त करते जाते हैं, उतना ही स्वाधीनताका आस्वाद पाते रहते हैं । पहले विधि-निषेधका विचार करते हुए कार्य करना होता था और अब खुले मैटानमें आकर उतनी भावना और विचार करनेकी आवश्यकता नहीं होती, मन स्वाधीन विचरता रहता है । साधक यह शङ्का न करें कि इन्द्रिययोगी तो

उच्छृङ्खल होकर धर्माधर्मविचार किये विना स्वच्छन्द कार्य करते होंगे । ऐसा कभी नहीं होता । इस क्षेत्रमे पहुँच जानेपर फिर उनसे निनिदित कर्म तो हो ही नहीं सकते, चित्त सम्यक् निर्मल हुए विना इन क्षेत्रोंमे पहुँचा ही नहीं जा सकता । अस्तु । अतीन्द्रिय वस्तुसे जितना ही समीप होते जाते हैं उतनी ही अधिक स्वाधीनता आती जाती है । मनकी इस स्वाधीन विचरनेकी सामर्थ्यको मनोजवित्व कहते हैं ।

विकरणभाव शब्दका अर्थ है करणरहित अवस्था । करण १४ है । ५ ज्ञानेन्द्रियों, ५ कर्मेन्द्रियों और ४ अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहङ्कार) । इन करणोंसे रहित होकर भी आत्मसत्ता अनुभव करनेकी सामर्थ्यको विकरण भाव कहते हैं । साधारण मनुष्यमे जब यह विकरण अवस्था उपस्थित होती है, तब वह सुपुत हो जाता है, फिर वह आत्मसत्ता अनुभव नहीं कर सकता, किन्तु इन्द्रियजयी योगी विकरण होकर भी भावमय-सत्तामय रूपमे अवस्थान कर सकता है । इस सामर्थ्यके प्राप्त होनेसे समझा जाता है कि विकरण विभूतिका आविर्भाव हुआ है ।

इसके बाद है प्रधानजय । प्रधान शब्दका अर्थ है प्रकृति । प्रकृति क्या है, यह योगसूत्रके द्वितीय पादमें विस्तारपूर्वक लिखा है । प्रकृति नामसे कुछ है, ऐसी प्रतीतिका लय होना ही प्रकृतिजय है । सत्ता केवल आत्मा (चैतन्यस्वरूप) मे ही विद्यमान है, यह प्रत्यक्ष होनेपर फिर अनित्य वस्तुकी सत्ताका जान रह ही नहीं सकता । अतएव प्रकृति (तीन गुणोंकी साम्यावस्था) वास्तवमें न है और न रह सकती है ।

साधनकी पहली अवस्थासे यही मान लिया जाता है कि पुरुष ही प्रकृतिरूपसे अपना प्रकाश करता है, यही ज्ञान लेकर आगे बढ़ते हैं, फिर जब गुरुकृपासे, अनेक जन्मसञ्चित पुण्यवल्से पुरुषका साक्षात्कार प्राप्त होता है तब समझमें आता है कि पुरुष पुरुष ही है, वह कभी प्रकृति नहीं हुआ और न उसे किसी प्रकृतिकी आवश्यकता ही है । इस प्रकार पारमार्थिकी प्रजाका उदय होनेसे प्रकृतिजय नामक चरम विभूतिका साक्षात्कार प्राप्त होता है । मनुष्यजीवनमें इससे श्रेष्ठ अम्बुदय और कुछ भी नहीं है ।

नाधक । आपने हर गौरी-मूर्ति देखी है? वराभय-मत्ता स्वर्णवर्णा गौरी हरकी गोदमे दैटी है । उस अपूर्व मूर्ति-MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

का मरण करनेसे इस प्रधानजयका चित्र चित्तपटपर फूट उठता है। जीव जबतक गिरु रहता है, विशुद्ध वोध-स्वरूप पुनर्पको अनुभव नहीं कर सकता, तबतक वह प्रकृति ती उस (जीवन्पी शिव) को जानसन्ध्य पान करावर अनेक जन्मोंतक परिपुष्ट करती रहती है। जब गिरुन्व दूर हो जाना है, जब जीव (शिव) अपने स्वरूप-में प्रतिष्ठित होता है, तब वह प्रकृति ही उसके बड़ीभूत

हो जाती है अर्थात् क्रोडोपरि विराजमान होकर अपूर्व आनन्दरसका आस्वाद प्रदान करती है। इसीसे हम—‘गिरुमाता गिरानी च व्रहाणी व्रहजननी वैष्णवी विष्णु-प्रसर्ती’ कहकर उनके चरणोंमें प्राणकी पुष्पाङ्गलि देकर धन्य होते हैं।

॥ इति शिवम् ॥

योगकी विभिन्न सिद्धियाँ

(लेखक—वेदान्तभूषण प० श्रीवद्रीदासजी पुरोहित)



जके जड़मुखापेक्षी, साधनामिद्धिरीन, विलासविभ्रमरत, मोहावृत भारतको योगकी सिद्धियोंकी बातें ‘खं पुष्प’ के समान लोगोंतो इसमें क्या आश्रव्य है! यद्यपि हमारे परमात्मदर्शी पूज्य महर्यियोंने इन सिद्धियोंको तुच्छ समझकर त्याग दिया था और उन्हें अपने आत्मोद्धारके पथमें विम्रस्वरूप माना था, फिर भी आज जबतक हम उन्हें प्राप्त न कर लें और निरे जवानी जमात्वर्चके माफिक यह कह वैठें कि ‘सिद्धियों यिमस्वरूप हैं’ तो इससे हमारेमें वह शक्ति, प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता नर्वी आ सकती जो हमारे पूर्वजोंमें थी। किसी साधारण वस्तुको त्याग देना या उसे तुच्छ वतला देना भल है, परन्तु एक अलौकिक शक्ति या सिद्धिको त्याग देना या उसे तुच्छ समझना वहुत बड़ी बात है। आज हम श्रद्धासाधनयिहीन मनुष्य जरा-सी भौतिक सिद्धिके लिये तो लालायित हैं परन्तु योगिगणप्राप्त सिद्धियोंको मोहवद अलीक कल्पना मानते हैं, या परमार्थमें व्याघक वत्तकर साधनसे पिण्ड छुड़ाना चाहते हैं। जिन पुरुषोंको पेटभर भोजन मिलना कठिन है, अपने देशमें न्यतन्त्र रहना भी दुष्कर है, उनके सामने योगकी मिद्धियोंकी चर्चा करना शास्त्रस्पृष्ट हो भक्ता है; किन्तु अदि गम्भीर चिनारपूर्वक देश जाय तो अपनी चंडी-परणगगत शक्तिका सरण कराना अनुचित नहीं है।

योगकी विभिन्न मिद्धियोंको प्राप्त करनेके लिये योग दया है, उसका द्विस प्रकार अभ्यास किया जाता है,

अभ्याससे पूर्ण योगसे कौन-कौन-सी सिद्धियों मनुष्यको मिल सकती हैं? इत्यादि प्रश्नोंको हल करना ही इस लेखका उद्देश्य है। उद्देश्यपूर्तिके लिये सर्वप्रथम हमें यह समझ लेना होगा कि ‘योग क्या है?’ आजकल ‘योग’ शब्दका रूढार्थ ‘प्राणायाम आदि साधनोंसे चित्तवृत्तियों या इन्द्रियोंका निरोध करना अथवा पातञ्जल-सूत्रोक्त समाधि या ध्यानयोग’ है। कठोपनिषद्की छठी बड़ीके ग्यारहवें मन्त्रमें भी इसी अर्थका प्रयोग हुआ है। जैसे—

तां योगसिति भन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियभारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥

परन्तु ध्यानमें रखना चाहिये कि योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णकी भगवद्गीतामें यही अर्थ विवक्षित नहीं है। ‘योग’ शब्द ‘युज्’ धारुसे बना है जिसका अर्थ ‘जोड़, मेल, मिलाप, एकता, एकत्र अवस्थिति’ इत्यादि होता है, और ऐसी स्थितिकी प्राप्तिके ‘उपाय, साधन, युक्ति या कर्म’ को भी ‘योग’ कहते हैं। ये ही सब अर्थ अमरकोपमें इस तरहसे दिये हुए हैं—

योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिः ।

फलित ज्योतिषमें कोई ग्रह यदि इष्ट अथवा अनिष्ट हों तो उन ग्रहोंका ‘योग’ इष्ट या अनिष्ट—अच्छा या बुरा कहलाता है। गीताके ‘योगक्षेमम्’ पदमें ‘योग’ शब्दका अर्थ—‘अप्राप्त वस्तुको प्राप्त करना है।’ श्रीमद्भगवद्गीतामें ‘योग’ और ‘योगी’ अथवा योग शब्दसे बने हुए सामाजिक शब्द लगभग ‘अस्ती वार’ आये हैं। उनमें चार-पाँच स्थानोंके लिया योग शब्दसे ‘पातञ्जलयोग’

अर्थ कहीं भी अभिप्रेत नहीं है। सिर्फ़ 'युक्ति, साधन, कुशलता, उपाय, भगवत्प्राप्ति, जोड़ और मेल' यही अर्थ कुछ हेर-फेरसे सम्पूर्ण भगवद्गीतामें पाये जाते हैं। अनेक प्रकारकी व्यक्ति सुषिटि निर्माण करनेकी कुशलता और अद्भुत सामर्थ्यको भी 'योग' कहा गया है और इसी अर्थमें भगवान् श्रीकृष्णको 'योगेश्वर' कहा है। यही अर्थ योगवासिष्ठमें लीला और चूडालाके आख्यानमें लिया गया है। क्रियात्मक 'योग' शब्दका मुख्य या विशेष अर्थ 'विशेष प्रकारकी कुशलता, साधन, युक्ति या उपाय ही' है। भगवान्ने स्पष्ट कहा है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् कर्म करनेकी किसी विशेष प्रकारकी कुशलता, युक्ति, चतुराई अथवा शैलीको योग कहते हैं। 'कर्मसु कौशलम्' का यही अर्थ भगवान् श्रीदाङ्कराचार्यने भी किया है कि कर्ममें स्वभावसिद्ध रहनेवाले बन्धनको तोड़नेवाली 'युक्ति' है। यदि सामान्यरूपसे देखा जाय तो एक ही कर्मके करनेके लिये अनेक 'योग' हैं। 'सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समवृद्धि रखनेको 'योग' कहते हैं।' इन सबका तात्पर्य यह है कि 'पापपुण्यसे अलिप्त रहकर कर्म करनेकी जो समत्ववृद्धिरूप विशेष युक्ति है वही कौशल है, और इसी कुशलता या युक्तिसे कर्म करनेको 'योग' कहा है।' उपर्युक्त प्रकारसे 'योग क्या है?' इस प्रश्नका समुचित उत्तर जब हमारी समझमें आ जाता है तब 'योगाभ्यास' करनेमें हमें अवश्य सफलता मिल सकती है।

भारतवर्षमें यों तो बहुत-से योगी हैं। लाखों प्रकारकी युक्तियों और विशेष प्रणालियोंसे लोग कर्म करते हैं परन्तु भारतका दिनोंदिन अधःपतन ही होता जा रहा है। कोई भी व्यक्ति योगेश्वरकी शक्तिको आदिक भी प्राप्त नहीं होता। जिस प्रकार भारतीय शान्त्रोंमें योगकी सिद्धियोंका वर्णन है, उसमेंसे दो-चार सिद्धियाँ भी आज हमें प्राप्त नहीं हैं। इसलिये यह बात निर्विवाद मान लेनी पड़ेगी कि हमने 'योगाभ्यास' जिस प्रकार करना चाहिये वैसा नहीं किया। यही कारण है कि आज हमारा देश और हमारा समाज दीन-हीन अवस्थामें पड़ा हुआ परमुत्तमेक्षी बन गया है। इस दुःखद अवस्थाको हमें हटाना होगा। हमें योगकी विभिन्न सिद्धियाँ प्राप्त करनी चाहिये। शान्त्रोक्त पुरुषार्थ करनेपर हम जो चाहें वही योगके द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु दुःख है कि हम भारत-

वासियोंके घरमें योगवासिष्ठ, उपनिषद् और योगदर्शन-के अलावा श्रीभगवद्गीता-नैसे अनुपम योगशास्त्रके रहनेपर भी आज हम दीन, दुखी और परतन्त्र हैं। ऐसा क्यों है? उत्तर स्पष्ट है कि हमने योग शब्दका अर्थ समझकर 'योगाभ्यास' को, समवृद्धिसे आसक्त त्यागकर सिद्धि और असिद्धिमें समान भाव रखके, नहीं किया, उसीका यह परिणाम हमारे समाने है कि हमारे वाप-दादोकी असख्य सिद्धियाँ, जो समस्त सासारको चकित करनेवाली थीं, हमे प्राप्त नहीं हुईं। जबतक हमारा 'योगाभ्यास' सफल नहीं होगा तबतक हमें किसी प्रकारका सच्चा सुख नहीं मिलेगा। अतः इसको प्रयत्नरूपक, मनसा, वाचा, कर्मणा सदैव करना चाहिये।

सच्चिदानन्दमय, अनादि, अनन्त ब्रह्म सदा एकरूप है, पूर्ण ज्ञानरूप वह सदैव निष्क्रिय और सुषिष्ठे अतीत है। न तो उनको किसी प्रकारकी क्रिया स्वर्ण कर सकती है और न उनमें कोई ह्लेशोंकी सम्मावना है। भूत, भविष्य और वर्तमानमें वह सदा एकरूपसे ही रहते हैं। इच्छा-अनिच्छा-रूप इच्छासे उन्होंकी इच्छामयी शक्तिसे यह संसार उत्पन्न होता है, वर्तमान रहता है और युनः उन्होंमें लयको प्राप्त हो जाता है। जब जीवरूपी चैतन्य अविद्यामें फँसकर अपने आपको प्रश्नितिवत् मानने लगा तब वही 'कारण शरीर' बन गया, और अन्तःकरण, पञ्चप्राणसहित पञ्चशानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय मिलकर 'सूक्ष्म शरीर' कहाया, और फिर पञ्चीकरण विधानके अनुसार सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे उत्पन्न पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश नामक स्थूल पॉच भूतोंके द्वारा 'स्थूल शरीर' उत्पन्न हुआ। यह 'स्थूल शरीर' जीवके देहपातके पश्चात् यहाँ पड़ा रहता है; और 'सूक्ष्म शरीर' विशिष्ट जीव ही जन्मान्तर प्राप्त करता है। 'स्थूल शरीर' केवल सूक्ष्म शरीरका विस्तारमात्र है। जीव जो कुछ कर्म करता है, जो कुछ कर्म भोगता है और जो कुछ कर्म भविष्यमें भोगनेके लिये होंगे उनका संस्कार ग्रहण करता है। वह सब 'सूक्ष्म शरीरसे' अन्तःकरणमें ही करता है। इसलिये जबतक अविद्याकी स्थिति है, तबतक जीवरूपी चैतन्य अपने आपको अन्तःकरण माने हुए हैं। जबतक उसका मानना है तबतक उस अन्तःकरणके काममें उसका फँसना भी रहेगा। और जबतक यह प्रमनूलक सम्बन्ध रहेगा, तबतक नाना दुख-दुखरूपी कर्मोंमें फँसता हुआ जीव आवागमनरूप चक्रपथमें भ्रमता रहेगा।

योग अवका अर्थ जोड़ना है। इससे जीवस्प चैतन्य जो अविद्यामें फँसकर परमात्मा, परब्रह्मसे मिल हो रहा है, उसकी इस मिलताको दूर करके उसके पहले स्पर्मे उसको लाकर 'जहाँसे निकला या वहीं पुनः पहुँचा देनेका नाम 'योगाभ्यास' है।' इस प्रकारके जितने साधन जीवको मुक्तिपदमें पहुँचानेके लिये वेदशास्त्रोंमें वर्णन किये गये हैं वे सब चार विभागोंमें विभक्त हैं। (१) मन्त्रयोग, (२) हठयोग, (३) लययोग और (४) राजयोग। शास्त्रोक्त किसी मन्त्रका जप और शास्त्रोक्त किसी स्पर्मका व्यान करते-करते चित्तवृत्तिनिरोधसे परमपद मोक्षके पथमें अग्रसर होनेका नाम 'मन्त्रयोग' है। शारीरिक क्रियाद्वारा चित्तवृत्तिका निरोध करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'हठयोग' है। पट्टनकके भेदसे वहिर्सुखी शक्तिको ब्रह्माण्डमें लय करके मुक्तिपथमें अग्रसर होनेका नाम 'लययोग' है। केवल वृद्धिकी सहायतासे ब्रह्माभ्यास या ब्रह्मविचारद्वारा चित्तवृत्तियोंसे उपराम होकर आधिभौतिकताको लीनकर अन्तःवाहकताको प्राप्त करते हुए मोक्षमार्गमें अग्रसर होनेका नाम 'राजयोग' है।

'योगाभ्यास' के क्रियासिद्धांशका सार्वभौम दृष्टिसे योगिराज महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन'में अच्छे प्रकारसे वर्णन है। यह सकल प्रकारके साधनोंकी वर्वभौम मिति है। साधक चाहे किसी प्रकारका हो, व्याहे वह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोगका अधिकारी हो, चाहे वह भक्त हो, चाहे ज्ञानी हो, चाहे भोगी हो, चाहे त्यागी हो, परन्तु 'योगाभ्यास' सब प्रकारके जीवोंके लिये कल्याणप्रद है। ऐसे 'योगाभ्यास' करनेके आठ भेद किये हैं और वे ही योगके आठ अङ्ग हैं। जैसे— 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, व्यान और समाधि।' इनमें यम, नियम, आसन और प्राणायाम ये चारों वहिर्जगत्के साधन हैं। और प्रत्याहार, धारणा, व्यान और समाधि ये चारों अन्तर्जगत्के साधन हैं। इन योगके आठों अङ्गोंका सुकौशलपूर्ण अभ्यास करते-करते साधक अनै-अनै. अन्तर्जगत्को निरुद्ध करता हुआ आधिभौतिकताको हटाकर अन्तःवाहकताको पा जानेपर केवल्य मोक्षको प्राप्त कर लेता है। यही 'योगाभ्यास' करनेका परमोक्तम फल है।

उपर्युक्त प्रकारसे योग क्या है? योगका अभ्यास कैसे किया जाता है? इन प्रनोंको जो पुरुष दृल कर लेते

हैं और 'योगाभ्यास' करके अपने स्थूल देह और अन्तःकरणसे अपना साक्षात् सम्बन्ध हटा लेते हैं वे योगी महात्मा अपने पुरुषार्थके प्रभावसे सभी कुछ कर सकते हैं। वे चाहे जहाँ जा सकते हैं। विना रोके सर्वत्र भ्रमण करनेके सिवा योगकी विभिन्न सिद्धियोंको प्राप्त करते हैं। योगाभ्याससे सिद्धियोंकी प्राप्ति कैसे होती है? और वे सिद्धियों कौन-कौन-सी हैं? इस तृतीय प्रश्नको हल करनेपर हमारे इस लेखका उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। हमने पहले वतला दिया है कि विना स्थूल देहका अध्यास हटाये अन्तःवाहकता अर्थात् अन्तर्जगत्में प्रवेश नहीं किया जाता। सूक्ष्मता प्राप्त करनेपर समस्त सिद्धियों प्राप्त हो जाती हैं। आधिभौतिकताको बिलीन करने और अन्तःवाहकता—सूक्ष्म शरीर—को पानेके लिये योगियोंने एक ऐसा साधन निश्चित किया है कि उस एक साधनसे ही योगकी विचित्र सिद्धियों प्राप्त की जाती हैं। सम्पूर्ण सिद्धियोंको देनेवाले साधनका नाम है—'सयम'। जिस योगीने 'सयम' कर लिया उसने सब कुछ पानेकी शक्तिको अपने बश कर लिया, ऐसा कहनेमें कोई अत्युक्ति नहीं है। 'सयम' क्या है? उसके लक्षण वतलाये जाते हैं—धारणा, ध्यान और समाधि इन तीन साधनक्रियाओंसे जब साधक एक ही पदार्थविशेषमें युक्त हो जाता है तब साधककी उस अवस्थाविशेषको 'सयम' कहते हैं। यह 'सयम' क्रिया सविकल्प समाधिमें हुआ करती है। यह 'सयम' साधनकी ही ताकत है कि जिसके द्वारा महर्षिगण त्रिकाल-दर्शी हुआ करते थे। यह उस 'सयम' साधनकी ही शक्ति है कि जिससे हमारे पूर्वजोने विना वाहरी चेष्टाके किये ही केवल 'सयम' से ही नाना शारीरविज्ञान और ज्योतिष आदिके अलौकिक चमत्कारोंका आविष्कार किया था।

'त्रयमेकत्र सयमः' धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको एक करनेका नाम 'सयम' है। जब किसी एक विषयमें इन तीनों अङ्गोंका एकत्र समावेश किया जाय, तब वही अवस्था सयमकी हो जाती है। सयमसे सम्बन्ध रखनेवाली जो धारणा और समाधि है उनमें विषयकी धारणा रहती है। व्येषका ध्यान वना रहता है और फिर भी समाधि की जाती है। ऐसा न हो तो अलौकिक योगसिद्धियों कैसे प्राप्त हो सकती हैं? यही कारण है कि यह समाधि द्वैताभायसे पूर्ण होती है। इस गहन विषयको और प्रकारसे भी समझ सकते हैं। 'सयमके जयसे प्रज्ञाका प्रकाश होता है।' जितना-जितना 'सयम' स्थिर होता

जाता है उतनी-उतनी ही पूर्ण ज्ञानमय परमात्माकी कृपासे समाधिविषयिणी दिव्य बुद्धि प्रकाशित होती हुई शेषमें पूर्णताको प्राप्त हो जाती है। समाधिविषयिणी बुद्धिसे तात्पर्य है उस भ्रमहीन बुद्धिसे कि जो योगकी विभिन्न सिद्धियोंमें कार्यकारिणी होती है। अतः 'सयमक्रियाका प्रयोगस्थान' केवल धारणा, व्यान और समाधि इन्हीं तीन भूमियोंमें है। 'सयमक्रिया' धारणाभूमिमें पहुँचकर विषयकी धारणासे प्रकट होकर 'विषयाकार वृत्तिसे' व्यानभूमिमें पहुँचकर समाधिभूमिमें जाकर सिद्धिलाभ करती है। यही कारण है कि 'सयम' जीवमें अनन्त ऐश्वी गतियोंको प्रकट कर देता है।

पूर्वोक्त प्रकारसे योगाभ्यास करनेवाले योगी महात्माओंको जो 'योगकी विभिन्न सिद्धियों' प्राप्त होती है, अब उनका सक्षित परिचय दिया जाता है। मोक्षरूपी परम सिद्धिकी प्राप्ति निर्वाज समाधिका फल है, परन्तु सब प्रकारकी दिव्य ऐश्वर्यरूपी नाना अपरा सिद्धियों सम्प्रज्ञात समाधिसे ही सम्बन्ध रखती है।

पहली सिद्धि

व्युत्थान-संस्कारोंका लय होकर जो निरोध-संस्कारोंका प्रकट होना है, तथा निरोधके क्षणमें जो चित्तका धर्मरूपमें दोनोंके साथ अन्वय है उसे 'निरोध-परिणाम-सिद्धि' कहते हैं। निरोध-संस्कारसे अन्तःकरणकी शान्ति प्रवाहित होती है। नाना विषयोंके संस्कारसे जो अन्तःकरणकी चञ्चलता होती है उस 'सर्वार्थता' का क्षय और एकाग्रताका उदय ही अन्तःकरणमें समाधिका परिणाम है। तब शान्त-प्रत्यय अर्थात् एकाग्रतापरिणाममें सिद्धिकी इच्छा रखनेवाले योगीका अन्तःकरण तरङ्गरहित जलाशयके समान वृत्तियोंकी सर्वार्थताओंसे रहित होकर आन्त हो जाता है, इसी अवस्थाका नाम 'शान्तप्रत्यय' है, और उदितप्रत्यय, अर्थात् शान्तप्रत्ययके साथ ही सिद्धियोंकी इच्छाजनित यासना धीजके वेगसे सिद्धिके उन्मुख योगीका अन्तःकरण रहता है, इसी अवस्थाका नाम 'उदितप्रत्यय' है। इन दोनों प्रत्ययोंकी समानतारूप चित्तकी जो स्थिति है वही 'एकाग्रतापरिणाम' है। इससे त्यूल, सूर्यभूत और इन्द्रियोंमें भी 'धर्मपरिणाम', 'लक्षणपरिणाम' और 'अवस्थापरिणाम' वर्णित किये गये हैं ऐसा समझना चाहिये। पृथ्वीरूप धर्मका जो घटरूप विकार है उसको 'धर्मपरिणाम' कहते हैं। घटका जो अनागत लक्षणके

त्यागपूर्वक वर्तमान लक्षणवाला हो जाना घटरूप धर्मका 'लक्षणपरिणाम' है; और वर्तमान लक्षणवाले घटका जो नयापन तथा क्षण-क्षणमें पुरातनपन है उसको 'अवस्थापरिणाम' कहते हैं। इन तीनों परिणामोंका इन्द्रियोंमें भी इस प्रकार विचार किया जाता है—जैसे इन्द्रियोंका जो नील-पीतादि विषयोंका ज्ञान है वही उनका 'धर्मपरिणाम' है, नीलादि ज्ञानका जो वर्तमान लक्षणवाला हो जाना है उसीका नाम 'लक्षणपरिणाम' है, वर्तमान दग्धमें जो स्पष्टपन या अस्पष्टपन है उसका नाम 'अवस्थापरिणाम' है। शान्त—अर्थात्, उदित—वर्तमान, और अव्यपदेश्य—भविष्यत्, जो धर्म है उनमें अनुगत होनेवाला 'धर्मी' है। परिणामोंके भेदमें क्रमोंका भेद कारणरूप है। क्रमके अदल-बदलसे ही परिणामोंका परिवर्तन होता है, जैसे प्रथम मिट्टीके परमाणु होते हैं, पुनः उनसे मिट्टीका पिण्ड बनता है, फिर मिट्टीके पिण्डसे घट बनता है। घट फूटकर कपाल हो जाता है, कपालसे ठीकरे हो जाते हैं, फिर ठीकरे परमाणुमें परिणत होते हुए, मिट्टीके रूपको ही धारण कर लेते हैं। ठीक वैसे ही अन्तःकरणकी पूर्ववृत्ति उत्तर-वृत्तिका पूर्वकारण होती हुई क्रमके अनुसार धर्मान्तर परिणाम करती है। प्रकृतिके सब तरঙ्गोंका परिवर्तन और अन्तःकरणमें सुख-दुःख आदि धर्मोंका परिवर्तन ये सब इसी क्रमनियमके ऊपर निर्भर हैं। अतएव धर्म, लक्षण और अवस्था नामक तीनों परिणामोंमें सयम करनेसे योगीको भूत और भविष्यत्का ज्ञान होता है।

दूसरी सिद्धि

शब्द, अर्थ और ज्ञानके एक दूसरेमें मिले रहनेसे संकर अर्थात् घनिष्ठ मेल है, उनके विभागोंमें सयम करनेपर 'सब प्राणियोंकी वाणी' का ज्ञान होता है।

तीसरी सिद्धि

संस्कारोंके प्रत्यक्ष होनेसे योगीको पूर्वजन्मका ज्ञान होता है। जैसे मनुष्यके छायारूप चिह्नों यन्त्रद्वारा धारण करनेकी शक्ति उत्पन्न करके वैज्ञानिकगण फोटोग्राफमें मनुष्यमूर्तिको यथावत् प्रकाशित कर देते हैं वैसे ही संस्कारोंमें संयम करनेसे संस्कारके कारणरूप क्रमोंका यथावत् ज्ञान योगीको हो रकता है।

चौथी सिद्धि

ज्ञानमें संयम करनेपर दूसरेके चित्तका ज्ञान होता है। जिस अन्तःकरणमें जैसा गुणपरिणाम रहता है वैसी ही

उस अन्तःकरणसे सम्बन्धियुक्त ज्ञानकी स्थिति होती है। अतः यदि किसी जीवविशेषके अन्तःकरणका हाल ज्ञानना हो तो उसके ज्ञानकी पर्यालोचना करके उस जीवके मनका सब हाल जान सकते हैं।

पाँचवीं सिद्धि

कायागत रूपमें सयम करनेसे उसकी ग्राह्य अक्षिका गतम हो जाता है; और गत्तिस्तम्भ होनेसे दूसरेके नेत्रके प्रकाशका योगीके शरीरके साथ सयोग नहीं होता, तब योगीके शरीरका अन्तर्धान हां जाता है। जैसे रूपविषयक सयम करनेसे योगीके शरीरके रूपको कोई नहीं देख सकता, उसी प्रकार शब्दादि पाँचोंके विषयमें सयम करनेसे योगीके शरीरके शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धको पासमें रहा हुआ पुरुष भी नहीं जान सकता।

छठी सिद्धि

सोपकम—जो कर्म शीघ्र फलदायक हो जाता है उस शीघ्र कार्यकारी कर्मकी अवस्थाका नाम 'सोपकम' है, जैसे जलसे भीगे हुए वस्त्रको निचोड़कर सुखा टेनेसे वस्त्र शीघ्र सख जाता है। तथा निरुपकम—कर्म-विपाककी मन्दताके कारण विलम्बसे फलदायक कर्मकी अवस्थाका नाम 'निरुपकम' है, जैसे विना निचोड़ा पिण्डीकृत वस्त्र वहुत कालम सखता है। इन दो प्रकारके कर्मोंम जो योगी सयम करता है उसको मृत्युका ज्ञान हो जाता है। अथवा त्रिविध अरिष्टोंसे मृत्युका ज्ञान होता है।

सातवीं सिद्धि

मैत्री, मुदिता, करुणा और उपेक्षा आदिमें सयम करनेसे तत्सम्बन्धी वलकी प्राप्ति होती है। मैत्रीवल, करुणावल, मुदितावल और उपेक्षावलकी प्राप्ति करके योगी पूर्ण मनोवल अर्थात् आत्मवल प्राप्त करता है। जो शक्ति अन्तःकरणको इन्द्रियोंमें गिरने न देकर नियमितरूपसे आत्मस्वरूपको ओर खींचती रहती है उसीको 'आत्मगल' या तेज कहते हैं।

आठवीं सिद्धि

बन्में सयम करनेसे योगीको इस्तिके वलादि प्राप्त हो गकते हैं। बल दो प्रकारका हैं—एक आत्मवल, दूसरा

शारीरिक वल। प्रकृति यिभिन्न होनेसे वलमें स्वतन्त्रता है, जैसे सिंहवल, गजवल, वलगाली खेचर पक्षियोंका वल और वलगाली जलचरोंका वल। जिस प्रकारके वलकी आवश्यकता हो उसी प्रकारके वलशाली जीवोंके वलमें सयम करनेसे योगीको उसी प्रकारके वलकी प्राप्ति हुआ करती है।

नवीं सिद्धि

ज्योतिष्मती प्रकृतिके प्रकाशको सूक्ष्मादि वस्तुओंमें न्यस्त करके उनपर सयम करनेसे योगीको सूक्ष्म, गुप्त और दूरस्थ पदार्थोंका ज्ञान होता है। ल्ययोगी अपने अन्तर्राज्यमें शारीरके द्विदलस्थानमें शुद्धतेजपूर्ण विन्दुका दर्शन करता है। वह ज्योतिष्मती प्रवृत्ति विन्दुरूपसे आविर्भूत होकर जब स्थिर होने लगती है तब वही विन्दुध्यान-की अवस्था है। उसी विन्दुके विस्तारसे योगी सयम-शक्तिकी सहायता और ज्योतिष्मती प्रकृतिकी सहयोगितासे अनेक गुप्त विषय और जलमग्न या पृथ्वीगर्भस्थित समस्त द्रव्यसमूहके देखनेमें समर्थ हो सकता है।

दसवीं सिद्धि

सूर्यनारायणमें सयम करनेसे योगीको यथाकम स्थूल और सूक्ष्म लोकोंका ज्ञान हो जाता है। स्थूल लोक प्रधानतः यही मृत्युलोक है। और सात स्वर्ग तथा सप्त पाताल ये सूक्ष्म लोक कहलाते हैं। अन्यान्य निकटस्थ ब्रह्माण्डोंका ज्ञानलाभ करना भी सूक्ष्म लोकसे सम्बन्ध-युक्त ज्ञान है।

ज्यारहवीं सिद्धि

चन्द्रमामें सयम करनेसे नक्षत्रव्यूहका ज्ञान होता है। ज्योतिषका सिद्धान्त है कि जितने ग्रह हैं उन सबमें चन्द्र एक राशिपर सबसे वहुत ही कम समयतक रहता है। इससे प्रत्येक ताराव्यूहरूपी राशिकी आकर्षण-विकर्षण शक्तिके साथ चन्द्रका अति धनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उसी शक्तिके अवलम्बनसे नक्षत्रोंका पता लगानेमें चन्द्रकी सहायता सुविधाजनक है।

बारहवीं सिद्धि

ध्रुवमें सयम करनेसे ताराओंकी गतिका पूर्ण ज्ञान होता है। ध्रुयलोक हमारे सौर्य जगत्से इतना दूरवर्ती है कि उस दूरताके कारण हमलोग उसको स्थिर ही देख

रहे हैं। कैसे दूरयती देशमें स्थित किसी अभिगित्ताको उसके स्वमावसे ही चञ्चल होनेपर भी हम एक अचञ्चल ज्योतिर्मय रूपवाली देखते हैं। कैसे ही ब्रुवके चलने-फिरनेपर भी उसके चलनेका हमारे लोकसे कोई सम्बन्ध न रहनेके कारण और परस्परमें अगणित दूरत्व होनेसे हमलोग ब्रुवको अचञ्चल ब्रुव ही निश्चय करते हैं।

तेरहवीं सिद्धि

नाभिचकमें संयम करनेपर योगीको शरीरके समुदायका ज्ञान होता है।

शरीरके सात स्थानोंमें सात कमल अर्थात् चक्र हैं; जिनमें छः चक्रोंमें साधन करके सिद्धि प्राप्त होनेपर सातवें चक्रमें पहुँचनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। घट्चक्रोंमें से नाभिके पास स्थित जो तीसरा चक्र है उसमें संयम करनेसे शरीरमें किस प्रकारका पदार्थ किस प्रकारसे है, वात, पित्त और कफ ये तीन दोष किस रीतिसे हैं; चर्म, रधिर, मांस, नख, हाइ, चर्वी और वीर्य ये सात धातुएँ किस प्रकारसे हैं, नाड़ी आदि कैसी-कैसी हैं; इन सबका ज्ञान हो जाता है।

चौदहवीं सिद्धि

कण्ठके कूपमें संयम करनेसे भूत्व और प्यास निवृत्त हो जाती हैं। मुखके भीतर उटरमें वायु और आहार आदि जानेके लिये जो कण्ठछिद्र है उसीको 'कण्ठकूप' कहते हैं। यहींपर पॉचबॉ चक्र स्थित है। इसीसे द्वृतिपासाकी क्रियाका घनिष्ठ सम्बन्ध है।

पन्द्रहवीं सिद्धि

क्रमनाड़ीमें संयम करनेसे दिघरता होती है। पूर्वोक्त कण्ठकूपमें कञ्चप आकृतिकी एक नाड़ी है, उसको क्रमनाड़ी कहते हैं। उस नाड़ीसे शरीरकी गतिका विशेष सम्बन्ध है। इसीसे वहाँ संयम करनेपर शरीर दिघरताको प्राप्त हो जाता है। कैसे सर्प अथवा गोह अपने-अपने विलमें जाकर चञ्चलता और क्रूताको त्याग देते हैं, कैसे ही योगीका मन इस क्रमनाड़ीमें प्रवेश करते ही अपनी स्वाभाविक चञ्चलताको त्याग कर देता है।

सोलहवीं सिद्धि

कपालकी ज्योतिमें संयम करनेसे योगीको सिद्धगणोंके दर्शन होते हैं। मस्तकके भीतर कपालके नीचे एक छिद्र

है उसे ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। उस ब्रह्मरन्ध्रमें मन ले जानेसे एक ज्योतिका प्रकाश नजर आता है, उसमें संयम करनेसे योगीको सिद्ध और महात्माओंके दर्शन होते हैं। जीवकोटिसे उपराम होकर सृष्टिके कल्याणार्थ ऐसी अक्षियोंको धारण करके एक लोकसे लोकान्तरमें विचरण करनेवालोंको ही सिद्ध या महात्मा कहा जाता है जो चतुर्दश भुवनोंमें ही विराजते हैं।

सतरहवीं सिद्धि

प्रातिभमें संयम करनेसे योगीको सम्पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है।

योगसाधन करते-करते योगियोंको एक तेजोमय तारा ध्यानावस्थामें दिखलायी पड़ता है, उसी तारेका नाम 'प्रातिभ' है। चञ्चलबुद्धि मनुष्य उस तारेका दर्शन नहीं कर सकते। योगीकी बुद्धि जब शुद्ध होकर ठहरने लगती है तभी उस भाग्यवान् योगीको 'प्रातिभ' के दर्शन होते हैं। इसी प्रातिभको स्पृह कर उसमें संयम करनेसे योगी ज्ञान-राज्यकी सब सिद्धियोंको प्राप्त कर सकता है।

अठारहवीं सिद्धि

दृद्यमें संयम करनेसे योगीको चित्तका ज्ञान होता है। चतुर्थ चक्रका नाम दृत्कमल है। इससे अन्तःकरणका एक विलक्षण सम्बन्ध है। चित्तमें नये और पुराने सब प्रकारके संस्कार रहते हैं, चित्तके नचानेसे ही मन नाचता है। चित्तका पूर्ण स्वरूप महामायाकी मायासे जीवपर प्रकट नहीं होता है। जब योगी दृत्कमलमें संयम करता है तब वह अपने चित्तका पूर्ण जाता वन जाता है।

उन्नीसवीं सिद्धि

बुद्धि पुरुषसे अत्यन्त पृथक् है। इन दोनोंके अभिन्न ज्ञानसे भोगकी उत्पत्ति होती है। बुद्धि परार्थ है, उससे भिन्न स्वार्थ है। उसमें अर्थात् अहंकारशून्य चित्प्रतिविम्ब-में संयम करनेसे पुरुषका ज्ञान होता है। बुद्धि-पुरुषका जो परस्पर प्रतिविम्ब-सम्बन्धसे अभेद ज्ञान है वही पुरुष-निष्ठ भोग कहलाता है। बुद्धि दृश्य होनेसे उसका वह भोग-स्वरूप प्रत्यय परार्थ यानी पुरुषके लिये ही है। इस परार्थसे अन्य जो स्वार्थ प्रत्यय है यानी जो बुद्धिप्रतिविम्बित चित्सत्तानो अवलम्बन करके चिन्मात्ररूप है उसमें संयम करनेसे योगीको नित्य, शुद्ध, उद्ध, मुक्तस्वभाव पुरुषका ज्ञान हो जाता है। बुद्धिके मलिनभावसे रहित शुद्धभाव-

मय, जेव अहकारसे शून्य, आत्मज्ञानसे भरी हुई जो चिन्हावकी दशा है उसीको जानकर उसमे जब योगी सथम करता है तब उसको पुरुषके स्वरूपका बोध हो जाता है। इस परा सिद्धिके पानेपर योगीको प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता नामक पट्सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाती है।

पट्सिद्धियोंका फल

‘प्रातिभ सिद्धिसे’ योगीको अतीत, अनागत, विप्रकृष्ट और सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थोंका ज्ञान हो जाता है। ‘श्रावण-सिद्धिसे’ योगीको दिव्य श्रवणज्ञानकी पूर्णता यानी प्रणवव्वनिका अनुभव होता है। ‘वेठनसिद्धिसे’ योगीको दिव्यस्पर्शज्ञानकी पूर्णता होती है। ‘आठर्ड्सिद्धिसे’ दिव्य दर्शनकी पूर्णता, ‘आस्वादसिद्धिसे’ दिव्य रसज्ञानकी पूर्णता, और ‘वार्तासिद्धिसे’ दिव्य गन्धज्ञानकी पूर्णता स्वतः प्राप्त हो जाती है। ये सब समाधिमें विम्बकारक हैं, परन्तु व्युत्थानदशा के लिये सिद्धियाँ हैं।

बीसवीं सिद्धि

वन्धनका जो कारण है उसके शिथिल हो जानेसे और सयमद्वारा चित्तकी प्रवेशनिर्गममार्गनाड़ीके ज्ञानसे चित्त दूसरे शरीरमें प्रवेश कर सकता है। चञ्चलताको प्राप्त हुए अस्थिर मनका शरीरमें द्वन्द्व तथा आसक्तिजन्य वन्धन है, समाधिग्रातिसे क्रमशः स्थूल शरीरमें सूक्ष्म शरीरका यह वन्धन शिथिल हो जाता है। सयमकी सहायतासे चित्तके गमनागमनमार्गीय नाड़ीज्ञानसे स्वतः सूक्ष्म शरीरको कहीं पहुँचा देनेका नाम प्रवेशकिया है, और पुनः उस सूक्ष्म शरीरको ले आनेका नाम निर्गमकिया है। इन दोनोंका जब योगीको बोध हो जाता है तब योगी जब चाहे तब अपने शरीरमें निकलकर दूसरेके शरीरमें प्रवेश कर सकता है।

इक्कीसवीं सिद्धि

उदानवायुके जीतनेसे जल, कीचड़ और कण्टक आदि पदार्थोंका योगीको स्पर्श नहीं होता और मृत्यु भी वशीभूत हो जाता है। ऊर्ध्वगमनकारी कण्ठसे लेकर सिरतक व्यापक जो वायु है वही ‘उदानवायु’ कहलाता है। यह ऊर्ध्वगमनकारी होनेसे उसमें सथम करनेवाले योगीका शरीर जल, पङ्क और कण्टक आदिसे नष्ट नहीं

होता। उदानवायुसे सब स्नायुओंकी कियाएँ नियमित रहती हैं। मस्तिष्कका स्वास्थ्य ठीक रहकर चेतनकी क्रिया बनी रहती है। इसके अतिरिक्त उदानवायुसे प्राणमय कोश-सहित ‘सूक्ष्म शरीर’ पर आधिपत्य बना रहता है। अतएव उदानवायुके जयसे योगी इच्छानुसार शरीरसे प्राणोक्त-मण्डल इच्छामृत्युको प्राप्त कर सकता है। जैसे भीष्म पितामहने उत्तरायण सूर्य आनेपर ही देहत्याग किया था।

बाईसवीं सिद्धि

समानवायुको वश करनेसे योगीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाता है। नाभिके चारों ओर दूरतक व्यापक रहकर समताको प्राप्त हुआ जो वायु जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखता है उस वायुको ‘समानवायु’ कहते हैं। इस शरीरकी समानताका इस वायुसे प्रधान सम्बन्ध है। शारीरिक तेजशक्ति ही जीवनी क्रियाको साम्यावस्थामें रखती है। इसीलिये समानवायुको सयमसे जीत लेनेसे योगी तैजःपुङ्ग हो जाता है।

तर्ईसवीं सिद्धि

कण-इन्द्रिय और आकाशके आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्धमें संयम करनेसे योगी दिव्यश्रवणको प्राप्त होता है। समस्त श्रोत्र और शब्दोंका आधार आकाश है। जबतक कानके साथ आकाशका सम्बन्ध रखता जाता है तबतक शब्द सुनायी पड़ते हैं, अन्यथा नहीं। इससे कान और आकाशका जो आश्रयाश्रयिरूप सम्बन्ध है उसमें सयम करनेसे योगी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म छिपे हुएसे अति छिपे हुए, दूरवर्ती-से-दूरवर्ती और नानाप्रकारके दिव्य शब्दोंको श्रण्यण कर सकता है।

चौबीसवीं सिद्धि

शरीर और आकाशके सम्बन्धमें सयम करनेसे और लघु यानी हलकी रुई जैसे पदार्थकी धारणासे आकाशमें गमन हो सकता है। आकाश और शरीरका व्यापक और व्याप्तरूपसे सम्बन्ध है। आकाश सब भूतोंसे हलका है। और सर्वव्यापी है, इसीलिये योगी जब आकाश और शरीरके सम्बन्धमें सयम करता है और उस समय लघुताके विचारसे रुद्ध आदि हलके-से-हलके पदार्थोंकी धारणा भी रखता है, तब इस क्रियासे उसमें हलकेपनकी सिद्धि हो जाती है।

पच्चीसवीं सिद्धि

शरीरसे बाहर जो मनकी स्वामाविक वृत्ति है उसका नाम 'महाविदेहधारणा' है, उसके द्वारा प्रकाशके आवरणका नाग हो जाता है। स्थूल शरीरसे बाहर शरीरके आश्रयीकी अपेक्षा न रखनेवाली जो मनकी वृत्ति है उसे 'महाविदेह' कहते हैं। उसीसे ही अहकादुका वेग दूर होता है। उस वृत्तिमें जो योगी सथम करता है उससे प्रकाशका ढकना दूर हो जाता है। जबतक शरीरका अहकार रहता है तबतक मनकी बाह्य वृत्ति रहती है, परन्तु जब शारीरिक अहकारको त्यागकर स्वतन्त्रभावसे मनकी वृत्ति बाहर रहती है तभी योगीका अन्तःकरण मलरहित और निःसङ्ग रहता है। शरीरसे लागी हुई मनकी जो बाहरी वृत्ति है उसका नाम 'कल्पिता' है। परन्तु शरीरकी अपेक्षा न रखकर देहाध्याससे रहित जो मनकी स्वामाविकी और निराश्रयी बाहरी वृत्ति है वही अकल्पित है। कल्पितको छोड़कर अकल्पित जो महाविदेहवृत्तिका साधन किया जाता है, उसके सिद्ध होनेपर प्रकाशस्वरूप बुद्धिका पूर्ण विकास हो जाता है। तब अहकारसे उत्पन्न हुए क्लेश, कर्म और कर्मफल, इनके सम्बन्धसे साधक मुक्त हो जाता है। तथा रजन्तमका आवरण हट जाता है जिससे योगी अपने अन्तःकरणको यथेच्छ ले जानेकी सिद्धिको प्राप्त करता है।

छान्दीसवीं सिद्धि

'पञ्चतत्त्वोंकी स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थ-वत्त्व ये पौच अवस्थायिगेष हैं, इनमें सथम करनेदेखे भूतोंपर जयलाभ होता है।' भूतोंकी 'स्थूल-अवस्था' वह है जो दृष्टिगोचर हुआ करती है। 'स्वरूपावस्था' वह है—जो स्थूलमें गुणरूपसे अदृष्ट हो। जैसे तेजमें उष्णता है। 'सूक्ष्मावस्था' तन्मात्राओंकी है। 'अन्वयावस्था' व्यापक सत्त्व, रज और तमोगुणकी है। और पञ्चम 'अर्थवत्त्वावस्था' फलदायक होती है। जब योगी पञ्चभूतोंकी इन अवस्थाओंमें सथमद्वारा उनको जय कर लेता है तब प्रकृति अपने-आप उस योगीके अधीन हो जाती है। जैसे गौ अपने-आप ही वच्चेको दूध पिलाया करती है वैसे ही पञ्चभूतके जयसे प्रकृति वशीभूत हो जानेपर वह प्रकृति माता अपने-आप ही उस योगीकी भेवामें तत्पर हो जाती है।

अष्ट सिद्धियाँ

'भूतजयानन्तर अणिमादि 'अष्ट सिद्धि', सिद्धियोंका प्रकाश, शारीरग्रन्थी सब सम्पत्तियोंकी प्राप्ति और शरीरके

रूपादि धर्मोंका अनभिघात होता है।' अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्रासि, प्राकाम्य, वशित्व और इंगित्व—ये ही 'अष्ट सिद्धियाँ' हैं। जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको सूक्ष्म अणुसे भी सूक्ष्मतर कर लेता है तब उसे 'अणिमासिद्धि' कहते हैं। 'लघिमासिद्धि'—उसको कहते हैं कि जब योगी इच्छा करते ही अपने स्थूल शरीर-को हलकेसे भी हलका कर सके और आकाशके अवलम्बनसे जहाँ चाहे वहीं जा सके। 'महिमासिद्धि' वह है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना बढ़ा सके। 'गरिमासिद्धि' वह कहलाती है कि जब योगी इच्छा करते ही अपने शरीरको चाहे जितना भारी-से-भारी कर सके। 'प्रातिसिद्धि' वह कहाती है कि जब योगी इच्छा करते ही एक लोकसे लोकान्तरमें यानी किसी ग्रह, उपग्रह, सूर्य या किसी महासूर्यमें जहाँ चाहे वहीं पहुँच सके। 'प्राकाम्यसिद्धि' वह है कि जब योगी जिस किसी पदार्थकी इच्छा करे तभी वह पदार्थ उसको प्राप्त हो जाय, अर्थात् त्रिलोकमें उसको अप्राप्त कोई भी पदार्थ न रहे। 'वशित्व-सिद्धि' वह कहाती है कि जिससे योगीके वशमें समस्त पञ्चभूत और सम्पूर्ण भौतिक पदार्थ आ जाते हैं। और वह जैसे चाहता है वैसे ही पञ्चभूतोंसे काम ले सकता है। वह स्वयं किसीके भी वशमें नहीं होता। 'इंगित्वसिद्धि' उसको कहते हैं कि जब योगी भूत और भौतिक पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय करनेकी शक्तिको प्राप्त हो जाता है, यदि वह नवीन सृष्टिको करना चाहे तो वह भी आंशिकरूपसे कर सकता है। ये ही अष्ट सिद्धि हैं। इन सिद्धियोंके साथ-साथ योगीको रूप, लायण्य, वल और वज्रतुल्य दृढ़ता ये सब कायसम्पत्तियों मिल जाती हैं। रूप और लायण्य उसे कहते हैं कि यह स्थूल शरीर ऐसी दिव्य सुन्दरताको धारण करे कि तब उस शरीरके रूपकी माधुर्यतासे सब प्रकारके दर्शक ही मोहित हो जायें। चाहे दर्शक देवता हो चाहे मानव, चाहे पशु और जीव हो, सब उसकी मूर्तिको देखते ही मोहित हो जायें। प्रकृति ही जिसके वशीभूत हो जाती है उसके वलकी तुलना किससे हो सकती है? सब शस्त्रोंसे महातीव वज्रकी तरह उसका शरीर दृढ़ हो जाता है।

सत्ताईसवीं सिद्धि

'ग्रहण, स्वरूप, अस्तिता, अन्वय और अर्थवत्त्व नामक इन्द्रियोंकी पौच वृत्तियोंमें नयम करनेदेखे इन्द्रियोंका जय | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

होता है।' सामान्य और विशेषरूपसे शब्दादि जितने विषय हैं वे सब बाहरी विषय ग्राह्य कहलाते हैं, उन ग्रहण करनेयोग्य विषयोंमें जो इन्द्रियोंकी वृत्ति जाती है उस वृत्तिको 'ग्रहण' कहते हैं। किसी रीतिसे विना विचारे विषय जब अकस्मात् गृहीत हो जाते हैं, तब मनका उसमें प्रथम विचार ही 'स्वरूपवृत्ति' है। उस अवस्थामें जो अहङ्कारका सम्बन्ध रहता है, वह अहङ्कारमिथित भाव ही 'अस्मितावृत्ति' कहा जाता है। फिर बुद्धिद्वारा उस स्वरूपके विचारको यानी जब बुद्धि सत्यासत्य, सामान्य और विशेष-का विचार करने लगती है तब उस वृत्तिको 'अन्वय' कहते हैं। नाना विषयोंको प्रकाश करनेवाली, स्थितिगोल, अहङ्कारके साथ सब इन्द्रियोंमें व्यापक, वहकी हुई जो वृत्ति है वही पञ्चम 'अर्थवच्चवृत्ति' कहलाती है। इन इन्द्रियोंकी पौँछोंवृत्तियोंमें सथम करके इन्हें अपने अधीन कर लेनेसे इन्द्रियगणका पूर्ण जय होता है।

इन्द्रियजयका फल

'इन्द्रियजयके अनन्तर मनोजवित्त्व, विकरणभाव और प्रधानजयकी सिद्धियों योगीको स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।' मनकी गतिके समान शरीरकी उत्तम गतिकी प्राप्तिको 'मनोजवित्त्व' कहते हैं, अर्थात् मनकी तरह शीघ्र ही अनेक योजनव्यवहित देशमें गमन करनेकी शरीरमें सामर्थ्य होनेका नाम मनोजवित्त्व है। शरीरके सम्बन्धको त्यागकर जो इन्द्रियोंकी वृत्तिका प्राप्त करना है उसे 'विकरणभाव' कहते हैं, अर्थात् जिस देश, काल या विषयोंमें अभिलाषा हो, शरीरके विना ही चक्षुरादि इन्द्रियोंसे गति प्राप्त होनेका नाम 'विकरणभाव' है। प्रकृतिके विकारोंके मूल कारणको जय करनेका नाम 'प्रधानजयत्व' है जिससे सर्ववशित्व प्राप्त होता है। ये सिद्धियों स्वतः मिलती हैं।

अड्डाईसर्वीं सिद्धि

'बुद्धि और पुरुषमें पार्थक्य-ज्ञानसम्पन्न योगीको सर्वभावाधिष्ठातृत्व और सर्वज्ञातृत्व प्राप्त होता है।' जब अन्तःकरणकी ऐसी निर्मल अवस्था होती है तब अपने-आप परमात्माका शुद्ध प्रकाश उसमें प्रकाशित होने लगता है, जिससे योगीको बुद्धिरूप दृश्य और पुरुषरूप द्रष्टामें जो तात्त्विक भेद है वह स्पष्ट अनुभव होने लगता है, और ऐसी परिस्थितिमें योगी अखिल भावोंका स्वामी और सकल विषयोंका जाता बन जाता है।

उनतीसर्वीं सिद्धि

जितने कालमें एक परमाणु पलटा खाता है उसको क्षण कहते हैं और उसके अवच्छिन्न प्रवाहको क्रम कहते हैं। उनमें संयम करनेसे विवेक यानी अनुभवसिद्ध ज्ञान उत्पन्न होता है। भौतिक पदार्थके सूक्ष्मातिरुक्ष्म भागको 'परमाणु' कहते हैं। जिस कालसे कम भागमें काल विभक्त न हो सके, उस सूक्ष्मातिरुक्ष्म काल-भागको 'क्षण' कहते हैं। उन परमाणुओंकी गति अर्थात् प्रवाहका जो रूप है उसको 'क्रम' कहते हैं। क्रमक्षणसे ही जाना जाता है। भूत क्षणका परिणाम वर्तमान क्षण है। वर्तमान क्षणका परिणाम भविष्यत् क्षण होगा। इस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डोंकी सुषिक्रिया एक ही क्षणका परिणाम है। इस योगबुद्धिसे क्षण और क्रममें संयम करके उनका साक्षात् ज्ञानलाभ करनेसे अभ्रान्त और पूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति होती है। तब योगी जिस विषयको देखता है उसका ही यथार्थ पूर्णरूप देख लेता है। यही योगीकी त्रिकालदर्शी अवस्था है।

परासिद्धि

'उपर्युक्त अपरा सिद्धियोंकी प्राप्तिके अनन्तर योगीको विवेकाख्यातिजनित वैराग्यके कारण दोषोंके वीज-नाश हो जानेपर 'कैवल्यकी प्राप्ति' होती है।' सिद्धियाँ दो प्रकारकी हैं, एक परा और अन्य अपरा। विषयसम्बन्धीय सब प्रकारकी उत्तम, मध्यम और अधम सिद्धियों 'अपरा सिद्धि' कहलाती हैं। ये सिद्धियों मुकुरु योगीके लिये हेय हैं। इनके सिवा जो स्वस्वरूप अनुभवके उपयोगी सिद्धियों हैं वे योगिराजके लिये उपादेय 'परा सिद्धियों' हैं।

पाठकगण ! लेख-विस्तारसे 'योगकी विभिन्न सिद्धियों' का सक्षिप्त परिचय दिया गया है। यदि आजकलका भारत इन सिद्धियोंमेंसे एकको भी भलीभौति प्राप्त कर ले तो हमारी दीनहीन दशा दूर हो जाय और हम पुनः अपने पूर्वजोंके समान सदैव सुखी और स्वतन्त्र हो सकें। अतएव योग क्या है ? योगाभ्यास किस प्रकारसे करना चाहिये ? और योगकी विभिन्न सिद्धियों किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ? इत्यादि प्रश्नोंका समीचीन उत्तर आपके सामने है। हमारी प्रार्थना है कि 'कल्याण'के प्रेमी पाठक इस लेखसे उत्साहित होकर योगाभ्यास करके अपना, अपने देश और समाजका अवश्य ही अभ्युत्थान करें।

हिन्दू और बौद्ध-धर्ममें सिद्धियोंका स्थान

(लेखक—डॉ एफ० बोटी श्राद्धर, पी-एच० डी०, विद्यासागर, कालि विश्वविद्यालय, जर्मनी)

सि

द्वियोंकी सचाईको भारतवासी अति प्राचीन कालसे मानते आये हैं। परन्तु वैज्ञानिक पद्धतिसे उनके नित्यपणकी अथवा उनके वर्गीकरण-की चेष्टा भारतीय वाद्ययमें उसी समयसे मिलती है जिस समय इस देशमें उन दार्शनिक सिद्धान्तोंका विकास हुआ जिनका क्रियात्मक भाग योगशास्त्रके रूपमें उपलब्ध होता है अथवा जिनके क्रियात्मक भागका एक अंश योगशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ। इन दार्शनिक सिद्धान्तोंमें केवल सांख्ययोग-नामसे प्रसिद्ध शास्त्र ही गामिल नहीं है जिसका यह सुयुक्त नाम इस वातको सूचित करता है कि उसमें सिद्धान्त और क्रिया दोनोंका समावेश है—अपितु बौद्ध एवं जैनदर्शन भी सम्मिलित हैं। इतना ही नहीं, हमारी यह धारणा भी युक्तिविशद्ध नहीं माल्यम होती कि उस प्राचीन युगमें किसी भी दार्शनिक सिद्धान्तके प्रचलित होनेकी तवतक आशा नहीं हो सकती थी जबतक उसमें जगत्की उत्पत्ति आदिका विचार (सांख्य) न किया गया हो और साथ ही जिसमें मार्नासिक शक्तियोंके विकास-की कोई प्रक्रिया (योग) न वतायी गयी हो। हॉ, पीछे जाकर अवश्य ये दोनों भाग किसी अशमें एक दूसरेसे अलग हो गये, जिसका कारण या उस समयके विद्वानोंकी किसी एक विषयको लेकर उसका स्वतन्त्ररूपसे विवेचन करनेकी प्रवृत्ति, यद्यपि फिर भी ये दोनों सर्वथा स्वतन्त्र नहीं हो गये और दोनोंमें परस्पर आदान-प्रदान वरावर जारी रहा, उदाहरणतः, पातञ्जलदर्शनमें केवल योगका ही नित्यपण करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, किन्तु उसका दार्शनिक आधार सांख्य ही है, और वेदान्तसूत्रके 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (वे० स० २। १। ३) इस सूत्रमें जो योगका निराकरण किया गया है वह केवल उसके उपर्युक्त दार्शनिक आधारका ही आंशिकरूपसे खण्डन है, न कि योगकी प्रक्रियाका। उसका तो अन्य दर्घनोंकी माँति वेदान्तने भी समर्थन किया है।

पातञ्जलयोग तथा बौद्धमतमें योगके उस भागका जिसका सम्बन्ध सिद्धियोंसे है क्या स्थान है, इसी वातका

विचार नीचेकी पक्षियोंमें सक्षेपरूपसे किया जायगा, योगसूत्रमें दो जगह, अर्थात् 'विभूतिपाद' नामक तीसरे पादके सेतीसर्वे और पचासर्वे सूत्रोंमें सिद्धियोंका गुणदोषनिरूपण किया गया है। सेतीसर्वों सूत्र इस प्रकार है—

ते समाधाबुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।

अर्थात् ये (सिद्धियों) समाधिमें विभ्रह्प हैं और व्युत्थान (जाप्रत) अवस्थामें सिद्धियोंहैं। इस सूत्रके पूर्वार्धमें सिद्धियोंकी जो विभ्रह्पसे हेतुता वतायी गयी है उसके सम्बन्धमें यदि किसीको कुछ शङ्का हो तो उसका पचासर्वे सूत्रसे निराकरण हो जाता है, जो इस प्रकार है—

तद्वैराग्यादपि दोपत्राजक्षये कैवल्यम् ।

अर्थात् इन (सिद्धियों) से भी वैराग्य कर लेनेपर (मन हटा लेनेपर) दोषोंका वीज नाश होकर कैवल्य (मुक्ति) की प्राप्ति हो जाती है। तात्पर्य यह है कि सिद्ध योगी अपनी इन अलौकिक शक्तियोंका उपयोग करना तो दूर रहा, उनकी ओर ऑख उठाकर ताकेगा भी नहीं, क्योंकि वह इस वातको जानता है कि वे उसके लिये सहायक न होकर उलटा उसके पतनका कारण हो सकती हैं, क्योंकि यह उन्हींको परम लक्ष्य मानकर सन्तोष कर बैठता है, जैसा कि श्रीसदागिवेन्द्र सरस्वती अपने 'योगसुधाकर' नामक ग्रन्थमें लिखते हैं—

यदि तत्रापेक्षा स्याद् तदा मोक्षाद् अष्टः कथं कृत्कृत्यताभियाद् ।

परन्तु इसपर यह शङ्का होती है कि उपर्युक्त सूत्रके उत्तरार्धमें जो सिद्धियोंकी प्रशंसा की गयी है उसका क्या अर्थ है? उसका अर्थ यह तो हो नहीं सकता कि जो योगी नहीं हैं उन्होंने सिद्धियोंकी इस प्रकार प्रशंसा की है, अपितु इसका अर्थ तो यह होना चाहिये कि वे योगियोंके लिये भी समाविसिद्धिमें, उसके सिद्ध न होनेतक किसी-न-किसी रूपमें सहायक होती है। यहाँपर यह प्रश्न होता है कि साधन-मार्गपर चलनेवाले योगीको किस भूमिकापर पहुँचनेपर ये सिद्धियोंप्राप्त होती हैं। विभूतिपाद-के अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामें भाष्यकार महर्षि व्यास इन

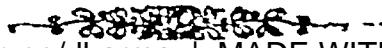
सिद्धियों (ऐश्वर्य) को 'समाधिज' अर्थात् समाधिसे उत्पन्न हुई बतलाते हैं। निश्चय ही यह समाधि वह समाधि नहीं है जिसका उल्लेख उपर्युक्त सूत्र (३।३७) मे आया है, क्योंकि यदि ये सिद्धियों उसी समाधिसे उत्पन्न होनेवाली हो जिसके मार्गमे ये विघ्नरूप हैं तो वे केवल उसका आनुषङ्गिक फल ही मानी जायेगी जिनका परिणाम अशुभके सिवा शुभ कभी हो नहीं सकता। वास्तवमे तो योगशास्त्रमे व्यवहृत 'समाधि' शब्दका अर्थ बहुत व्यापक है और उसके कम-से-कम दो विशिष्ट अर्थ हैं, जैसा कि 'सम्प्रज्ञात समाधि' और 'असम्प्रज्ञात समाधि' इन दो समस्त पटोंसे प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'व्युत्थान' शब्दका अर्थ भी विक्षुल असन्दिग्ध नहीं है। योगी जब ऊपर उठता हुआ क्रमशः उच्चतर स्थितिको प्राप्त होता है जो पहलेकी अपेक्षा उत्तरोत्तर आवरणशून्य होती जाती है, तो आगेकी उच्चतर स्थितिकी दृष्टिमें ग्रात्मन स्थिति व्युत्थान अवस्था ही है। अतः असम्प्रज्ञात समाधिकी अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधिमे मनकी व्युत्थित अवस्था ही रहती है और इसलिये उपर्युक्त सूत्रमें 'व्युत्थान' शब्द एक प्रकारसे सम्प्रज्ञात समाधिका ही बोध करता है। कहनेका तात्पर्य यह है कि इस सम्प्रज्ञात समाधिमे उपर्युक्त सिद्धियोंका विकास होता है और उनसे आगे बढ़नेमें सहायता मिलती है। सिद्धियोंकी उत्पत्तिका स्थान-निर्णय करनेमें हमारे लिये कदाचित् इससे अधिक सचाईके निकट पहुँचना सम्भव नहीं होगा। यह प्रसिद्ध ही है कि निम्न श्रेणीकी अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधिकी (सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार और निर्विचार, इस प्रकार) चार भूमिकाएँ हैं, परन्तु जहाँतक मुझे मालूम है, किसी भी ग्रन्थमें इनमेंसे किसी एकको सिद्धियोंकी उत्पत्तिमें विशिष्ट कारण नहीं माना गया है। और सिद्धियों अनेक हैं, इससे ऐसी व्रात सम्भव भी नहीं मालूम होती। इन सिद्धियोंको साधक चारों भूमिकाओंमें होता हुआ अथवा यों कहिये कि तीसरी और चौथी भूमिकामे एक-एक करके प्राप्त करता है (और कदाचित् सारी सिद्धियों प्रत्येक साधकके अन्दर प्रकट भी नहीं होती, क्योंकि सभी योगी समान शक्तिवाले नहीं होते)। अब अन्तिम प्रश्न यह रह जाता है कि सिद्धियोंसे योगीको जिस सहायताका प्राप्त होना माना गया है वह सहायता किस प्रकारकी होती है, उसका स्वरूप क्या है? इस प्रश्नका उत्तर योगसूत्रके किसी सूत्रमें नहीं मिलता। हॉ, व्यासजीने अपने भाष्यकी उस पक्षिमें जिसका उल्लेख हम

ऊपर कर चुके हैं यह लिखा है कि ज्ञानकी ही मौति समाधिजन्य ऐश्वर्य (अर्थात् सिद्धियों) भी सत्त्वशुद्धि (अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धि) का कारण होता है। इससे अधिक वे कुछ नहीं कहते और वाचस्पति मिश्र भी इस विषयपर कुछ अधिक प्रकाश नहीं डालते। ऐसी दशामें, आकाशगमन-जैसी सिद्धिसे किस प्रकार अन्तःकरण-की शुद्धि होती है इस वातका पता लगानेके लिये हमारे पास अनुमानके सिवा कोई दूसरा उपाय नहीं रह जाता। कदाचित् हम यह कह सकते हैं कि उपर्युक्त सिद्धियोंके प्राप्त हो जानेपर योगीको ऐसा अनुभव होने लगता है कि मैं प्रकृतिसे मुक्त हो गया अथवा मैंने प्रकृतिपर जय प्राप्त कर ली (देखिये योगसूत्र ३।४८) और इस प्रकार उसका देहाभिमान कम हो जाता है। परन्तु उनसे मुख्य लाभ तो हमारी समझसे साधकको यह होता है कि वे उसके लिये एक सनदका काम देती हैं जिसके द्वारा उसकी प्रगतिका पता लगता है और उसे अपने साधनमे आगे बढ़नेके लिये प्रोत्साहन मिलता है। अन्तमे ये ब्रातें ध्यानमे रखनेकी हैं कि (१) कैवल्यकी प्राप्तिके लिये सिद्धियोंकी आवश्यकता नहीं है (देखिये योगसूत्र ३।५५ का भाष्य), और (२) वे योगाभ्याससे ही मिलती हैं यह बात नहीं है, किन्तु कम-से-कम उनमेंसे कुछ तो जन्मसिद्ध भी हो सकती हैं अथवा ओषधिप्रयोग, मन्त्रवल अथवा तपोवलसे भी प्राप्त हो सकती है (देखिये यो० सू० ४।१)। अतः सभी सिद्धिप्राप्त पुरुष महात्मा ही हैं यह आवश्यक नहीं है, बल्कि उनमेंसे कुछ धूर्त भी हो सकते हैं।

अब हमलोग प्राचीन वौद्ध योगकी ओर एक दृष्टि डालें जो पातञ्जलयोगसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। भगवान् बुद्धने, जो निःसन्देह एक महान् योगी थे, समाधि और सिद्धि दोनोंका ही उपदेश दिया है। परन्तु सिद्धियोंका उल्लेख न तो उनकी 'महावोधि' के ही वर्णनमें मिलता है और न उनके परिनिर्वाणके प्रसगमे, और इन दोनों स्थितियों-के सम्बन्धमें यह वर्णन मिलता है कि समाधिकी उच्चतम अवस्थासे ही इनकी सिद्धि हुई थी। इस व्रातकी ओर लक्ष्य करना इसलिये आवश्यक हो गया है कि कतिपय यूरोपीय विद्वानोंने अभी थोड़े ही दिन हुए यह मत प्रकट किया है कि वौद्ध योगमे उच्चतम समाधि अर्थात् वौद्धोंके चतुर्थ ध्यानके आधारपर ही सिद्धियोंका विकास होता है। वे लोग

अपने इस मतकी पुष्टिमें 'सामन्नफल सूत' नामक एक ग्रन्थ-का प्रमाण देते हैं जिसमें चारोंध्यानोंकी सिद्धिको सिद्धियोंकी प्राप्तिके साथनोंकी अपेक्षा नीचा बतलाया गया है और यह भी लिखा है कि इन ध्यानोंके सिद्ध हो जानेके अनन्तर सिद्धियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है तथा इन्होंके साथ कृतिपय अन्य विभूतियों एवं अनुभूतियोंकी प्राप्तिके लिये साधन होता है और तब जाकर 'दुःखके पवित्र तत्त्व'का पूर्ण ज्ञान होता है। परन्तु परलोकवासी प्रोफेसर ऑटो फ्रैंके (Otto Frank) ने यह सिद्ध किया है कि इस ग्रन्थके अन्दर जो कुछ है वह जड़ों-तड़ोंसे सगृहीतकर भद्री तरहसे एक जगह रख दिया गया है। यह संग्रह भगवान् बुद्धके निर्वाणके पश्चात् किसी ऐसे समयमें किया गया होगा जब प्राचीन योगपद्धतिका वथार्थ ज्ञान बहुत कम लोगोंमें रह गया था। (जिस प्रकार वह आजकल उन देशोंमें जहाँ पाली ग्रन्थोंमें निरूपित वौद्धमतका प्रचार है केवल ग्रन्थोंमें ही रह गया है।) उपर्युक्त सिद्धान्तका ध्यानोंके मूल सिद्धान्तके साथ विरोध आता है, इसी प्रकार एक सिद्धान्त और भी इसके विरुद्ध मिलता है जो निःसन्देह पहलेकी अपेक्षा अर्वाचीन होनेके साथ-ही साथ उतना असङ्गत भी नहीं है। यह यह है कि आठ प्रकारके जो विमोक्ष कहे गये हैं उनमेंसे उच्चतर कोटिके विमोक्षोंसे कृतिपय ऐसे लोकोंकी प्राप्ति होती है जो ध्यानोंके द्वारा प्राप्त होनेवाले लोकोंसे जँचे हैं। पालीभाषाके धर्मग्रन्थोंमें इस बातके प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि वौद्धधर्मके मूल सिद्धान्तोंमें उच्चतम कोटिके ध्यानकी अपेक्षा सिद्धियोंका स्थान किसी प्रकारसे भी जँचा नहीं माना गया है। वहाँ उन्हें निर्वाणलाभके लिये आवश्यक नहीं समझा गया है। उनके सम्बन्धमें तो केवल यही माना गया है कि जो योड़े-से लोग प्रकृतिसे विषयलोक्षण होते हैं उन्हें योगभ्यासके आनुपङ्गिक फल-रूपमें वे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सिद्धिप्राप्त पुरुषोंमें (अथवा, यों कह सकते हैं कि उन लोगोंमें जिन्हें कृतिपय सिद्धियों प्राप्त थीं) देवदत्त-जैसा अधम अधिकारी भी या जो भगवान् बुद्धका चचेरा भाई और शिष्य या और जिसने अपने गुरुको मारनेकी कई बार चेष्टा की थी। पर, यह भी स्पष्ट है कि सिद्धियोंके प्रति भगवान् बुद्धकी आदरबुद्धि नहीं थी। अवश्य ही वे महामोग्नलन नामक अपने शिष्यको 'इदि' (सं. क्रद्वि=सिद्धि) प्राप्त पुरुषोंमें

अग्रगण्य, अनिश्चिकों दूरदृष्टिसम्पन्न पुरुषोंमें श्रेष्ठ एवं पन्थकको वहुकायनिर्माणमें प्रमुख कहकर उनकी प्रशंसा कीया करते थे, किन्तु पिण्डोल भरद्वाजकी इन्होंने इस बातके लिये बड़ी भर्त्सना की कि वह किसी गृहस्थके कहनेपर हवामें उड़ गया था। स्वयं उन्हें लोग वारन्नार कहते कि आप कम-से-कम अपने धर्मका विस्तार करनेके लिये ही अपनी सिद्धियोंका प्रयोग कीजिये, किन्तु वे सदा ही उनका विरोध किया करते थे। उनकी दलील यही होती थी कि लोगोंको अपना अनुयायी बनानेका यह एक जघन्य उपाय है और ऐसा करनेसे लोगोंको वह सन्देह हो सकता है कि वे किसी सामान्य जादू अथवा 'जन्तर-मन्तर'का प्रयोग करते हैं। विनय नामक आचारग्रन्थमें भिक्खुओंके लिये यह एक आज्ञा भी है कि वे गृहस्थोंके सामने अपनी सिद्धियोंका प्रदर्शन न करें, और दूसरा नियम यह है कि कोई धार्मिक अनुष्ठान (जिसमें चार भिक्खुओंकी आवश्यकता हो) उस स्थानमें विधिविनामाना जायगा यदि उनमेंसे एक भी भिक्खु अपनो सिद्धिके बलसे भूमिसे ऊपर उठ गया हो। ऐसी दशामें यदि इसी वर्गके ग्रन्थोंमें हमें इस प्रकारके आख्यान भी मिलें कि भगवान् बुद्धका एक समय किसी काले नागके साथ मन्त्र-युद्ध हुआ था, अथवा उन्होंने (सागत नामक) अपने अनुचर भिक्खुसे कहा कि तुम राज्याधिकारी पुरुषोंकी समामें जाओ और अपनी सिद्धियों दिखलाकर उन्हें चाकित करो, अथवा आर्य पिलिन्दवच्छने महाराज विम्बिसारके महलको सोनेका बना दिया, तो हमें इस बातके समझनेमें अधिक बुद्धिका प्रयोग करनेकी आवश्यकता नहीं पढ़ेगी कि इस प्रकारके आख्यान निरे कपोलकलिप्त हैं। बढ़ते-बढ़ते महायानसम्प्रदायमें तो चमत्कारोंका इतना प्राचुर्य हो गया कि यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि उनमेंसे कौन-से चमत्कार सिद्धियोंके बलपर दिखाये जाते थे और कौन-से निरे ऐन्डजालिक-प्रयोग होते थे। इस युगमें वौद्धमतका इतना अधःपतन हुआ कि महात्माका अर्थ ही चमत्कार दिखलानेवाला हो गया और उस कालके साहित्यमें हमें स्वानन्दानपर इस प्रकारके बाक्य मिलते हैं कि अमुक सिद्ध पुरुषने चमत्कारोंके बलपर अनेकों दिप्प बनाये।



योग-विज्ञान

(लेखक—श्रीताराचन्द्रजी पांडुथा)



ग कहते हैं मिलनेको । आत्मिक जगत्‌में इसके दो स्वरूप हैं—(१) आत्माका अनात्मीय पदार्थोंसे सम्बन्ध और (२) आत्माका आत्मामें लीन होना । अनात्मिक वस्तुएँ अनेक हैं, परस्परमें विषमता-को लिये हुई हैं, परिवर्तनशील हैं और आत्मासे विजातीय हैं । उनमें लीन होनेकी इच्छाका परिणाम सतत अनृति और दुःख है—वस्तुतः उनमें लीनता हो ही नहीं सकती । अतः आत्माका आत्मामें लीन होना ही वास्तविक योग है । यह स्वाभाविक और चिरस्यायी है । इसके दो अङ्ग हैं—विजातीय पदार्थोंसे वियोग करना अर्थात् अनात्मीय पदार्थोंसे रुचि हटाना, और आत्मासे योग करना । जिन उपायोंसे यह सिद्ध होता है उन्हें भी, अन्नम प्राणकी तरहसे कारणमें कार्यका उपचार करके, योग कहते हैं । असलमें ये उपाय सिर्फ कारण ही नहीं हैं वल्कि अल्पाधिक अशोभां आत्मामें आत्माकी तछीनताकी अवस्थाकी अभिव्यक्ति भी हैं—अर्थात् सचमुच योग है, क्योंकि आत्मा धर्मसे भिन्न नहीं है ।

योगके लिये आत्मा और अनात्माका भेद, प्रकृति अर्थात् कर्मका आत्माके प्रति आकर्षण (आश्रय) और उससे सम्बन्ध, नवीन कर्म-सम्बन्धका निरोध (स्वयर) तथा पूर्ववद कर्मोंकी निर्जरा होकर आत्मनिक सुकृतिकी उपलब्धि, इन विषयोंका ठीक तथा प्रतीतियुक्त ज्ञान होना आवश्यक है ।

देहधारों प्राणियोंमें जो विषमताएँ और जो सुख-शान-शक्ति आदिकी जल्पता और स्वस्वरूपप्रान्ति आदि दिखायी पढ़ते हैं वे आत्माके निर्जी स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि उनकी अल्पाधिकता होती रहती है तथा उनका आत्मनिक अभाव भी सम्भव है । अतः आत्माके ये भाव किसी अनात्मीय पदार्थके निमित्तसे हैं । यह पदार्थ कर्म है । जीवके यत्तमान कर्मोंके फलोंको भविष्यमें भोगनेसे भी कर्मकी चिद्धि होती है, क्योंकि कर्म और उसके फलके

समयमें अन्तर रहनेसे, कार्यकारणकी दृष्टिसे, कोई ऐसा तत्काल कर्मजन्य कार्य मानना पड़ता है जो कि समयपर फलोत्पत्ति कर सके ।

आत्माका देहसे सम्बन्ध होना, आत्माके मानसिक भावों और इच्छाओंका भौतिक पदार्थोंपर प्रभाव पड़ना, यथा क्रोधसे आँखें लाल हो जाना, आदिसे सूचित होता है कि उनका कारण भी भौतिक (पुद्गल) है, क्योंकि कारणके अनुरूप कार्य होता है ।

तस लोहेका गोला जिस तरह जलमें चारों ओरसे जल-को खींचता है उसी तरह मन, वचन, कायकी शुभ या अशुभ क्रियाओंसे आत्मामें परिस्पन्दन—हलनचलन होनेसे एक विशेष जातिके सूक्ष्म पुद्गल परमाणु कर्मरूप होकर आत्माकी और आकर्षित होते हैं, और क्रोधादि कषाय भावोंसे फलदानशक्ति तथा स्थितियुक्त होकर आत्माके साथ सम्बद्ध हो जाते हैं । ये कर्म दो प्रकारके होते हैं, धातिया और अधातिया । धातिया कर्म चार तरहके होते हैं—शानका आवरण करनेवाले, दर्शनका आवरण करनेवाले, आत्माको मोहनेवाले अर्थात् उसको आत्मश्रद्धान और स्वरूपाचरणसे वेभान कर देनेवाले, और दान, लाभ, भोगोपभोग और शक्तिमें यिन्न करनेवाले । अधातिया कर्म भी चार तरहके होते हैं, और उनके कार्य आयु (उम्र), शरीर, गोत्र और सुख-दुःखकी वेदना है । सामान्यतः तीव्र कषायोंसे शुभ कर्मोंकी फलदान-शक्ति और स्थिति कम और अशुभ कर्मोंकी अधिक होती है, और मन्द कषायका फल इसके विपरीत होता है । कुछ कालतक अनुदयरूप रहकर ये कर्म उदयमें आते हैं, अर्थात् अपना फल देने लगते हैं, और स्थिति पूरी होनेपर झङ्ग जाते हैं । फल भोगनेके समय आत्मा कपायभावसे फिर नये कर्म वृंद लेता है । तपस्या आठिके जरिये कर्म अपने समयसे पहले भी उदयमें आकर फल दें देते हैं । कई पूर्ववद कर्मोंमें यत्तमान क्रियाओंसे भी परिवर्तन हो जाता है । क्योंकि कर्म भिन्न-भिन्न स्थितियोंके होते हैं, अतः प्रत्येक क्षण कषायसहित आत्माके साथ नवीन कर्म वृंद रहते रहते हैं, वहुतसे पूर्वकर्म उदय होकर झङ्गते रहते हैं, और वहुतसे

पूर्वकर्म फल देनेका समय न आनेके कारण सत्तास्त्रपमें सम्बद्ध रहते हैं। इस तरह आत्मा और कर्मका यह सम्बन्ध प्रवाहरूपसे अनादि है, परन्तु प्रत्येक कर्मवन्ध सादि और सान्त है। आत्मज्ञान पाकर कषायोंको नष्ट कर देनेसे नवीन कर्मवन्ध न होनेपर और पुरातन कर्मोंके, समय पाकर या तपस्यासे, असमयमें ही इड़ जानेपर आत्मा सदाकालके लिये कर्मोंसे मुक्ति पा जाता है, और निज स्थाभाविक, स्वाधीन, पूर्ण आनन्द, ज्ञान, शक्ति आदिको भोगने लगता है। इसीको स्वस्वरूपमें लीन होना कहते हैं।

ऊपर वर्णित ज्ञानावरणादि पुद्गल कर्म द्रव्य-कर्म हैं। उनके निमित्तसे आत्माके जो अज्ञान, मोह, राग, द्वेषादि माय होते हैं वे भाव-कर्म हैं।

मनुष्यसे निपुकोटिके प्राणी कर्मोंके और तज्जनित वासनाओंके अधीन रहते हैं। परन्तु मनुष्यादि उत्तम जीवोंके कर्म और कप्राय अपेक्षाकृत मन्द रहते हैं। उनमें विवेकगति रहती है, और वे इच्छाओंके सर्वथा वशमें नहीं होते हैं। इसलिये वे उपदेशादिका निमित्त पाकर उपयोग और साधनासे अपने कप्रायोंको और स्वस्वरूपविसरणको नष्ट या मन्द कर सकते हैं, और इस तरह मुक्ति या मुक्ति-मार्गके अधिकारी होते हैं।

आत्माके साथ कर्मका सम्बन्ध मिथ्यात्व (अर्थात् स्वस्वरूपभ्रान्ति) अस्यम, वासना और मन-चचन-कायकी क्रियासे होता है। अतः इन कारणोंको दूर करनेसे नवीन कर्मवन्ध होना रुकता है। इनमेंसे मन-चचन-कायकी क्रियाका पूर्ण निरोध तो प्रायः देहसे मुक्ति पानेके नहीं हो सकता है, क्योंकि सूक्ष्म क्रियाएँ तो अनिच्छापूर्वक होती ही रहती हैं। इन क्रियाओंके द्वारा कर्मोंका आगमन होनेपर भी विना राग-द्वेष-मोहके उनका सम्बन्ध आत्मासे नहीं होता। अतः निरी क्रियाएँ वन्धका कारण भी नहीं हैं। इसलिये इनका व्याग्रव्य निरोध करना चाहिये, और प्रयोजनीय क्रियाओंको यज्ञाचारपूर्वक आसक्ति, कषाय और हिंसासे बचते हुए करना चाहिये।

कर्म-वन्धको रोकनेके उपाय वन्धके कारणोंसे विपरीत गुण हैं। यथा—प्रतीतिसहित स्वस्वरूपका सम्यक् ज्ञान (आत्मज्ञानी अन्तर्मुखी हो जाता है, और कर्म-फल भोगते हुए भी उसकी वासनाएँ मन्द हो जाती हैं तथा प्रतिक्षण अधिक-अधिक मन्द होती जाती हैं), मन-चचन-कायकी

क्रियाओंका निग्रह, यज्ञाचारपूर्वक प्रयोजनीय क्रियार्थाको करना, क्षमा, मार्दव आदि दश सामान्य धर्मोंका पालन, मैत्री, सुदिता, कस्ता, उपेक्षाकी चार भावनाएँ भाना, संसारकी अनित्यता और दुःखरूपता, मृत्युकी प्रवलता, देहकी मित्रता और अपवित्रता, अपने-अपने कर्मोंके फलोंको भोगनेमें अकेलापना, कर्मोंका और लोकका स्वरूप, धर्मकी महिमा और दुर्लभता, इनका वार-वार चिन्तन, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पञ्चमहाव्रतोंका पालन, वीतराग आत्माका आदरसहित चिन्तन, दुष्ट सङ्गतिका त्याग, क्षुधा-पिपासा आदि शारीरिक दुःखों और राग, द्वेष, अपमान, अलाभ, संशय, काम, क्रोध, मद आदि मानसिक दुःखोंको समतासे सह लेना और उनके निमित्त कारणोंसे चलायमान नहीं होना, समता धारण करना और स्वस्वरूपके समान आचरण करना आदि।

तप भी कर्मवन्ध रोकनेका एक बहुत बड़ा उपाय है। यह पूर्वसञ्चित कर्मोंको भी अपने समयसे पहले छोड़ा देता है। यह वास्तव और अभ्यन्तर-भेदसे दो प्रकारका है। गत्तयनुसार उपवास करना, एक वक्त भोजन, युक्ताहार, युक्ताहारमें भी घर, पदार्थ आदिकी सीमा वौधना, रसोका त्याग, एकान्तसेवन और विविपूर्वक समताभावसे कायद्धेश करना—ये वास्तव तप हैं। प्रायश्चित्त, साधुओं और गुरुओंकी सेवा और विनय, ज्ञानाभ्यास, वाह्य पदार्थोंका और तत्सम्बन्धी ममता और वासनाका त्याग, चित्तशुद्धि और ध्यान—ये अन्तरङ्ग तप हैं। इनमें ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। ध्यानके विना आत्मसिद्धि नहीं होती है। अन्य सब साधन ध्यानकी ही सिद्धिके लिये हैं। ध्यानी ही सच्चा योगी है। परमात्मावस्था भी तो एक तरहकी ध्यानावस्था ही है।

चित्तवृत्तिको अन्य सब क्रियाओं और पठार्थोंसे हटाकर एक पदार्थमें ल्याना, इस एकाग्रचिन्तानिरोधको ध्यान कहते हैं। उत्तम सहननवाले वलवान् शरीरधारीके ही यह ध्यान योद्धेसे कालतक हो सकता है। यह दो तरहका है—सासारसम्बन्धी और मोक्षसम्बन्धी। ग्रथमके दो भेद हैं—इष्टवियोग अनिष्टमयोग और पीड़ा, इनके होनेपर व्याकुल होकर दूर होनेका चिन्तन करते रहना तथा भाव्या विषयभोगका विचार करते रहना, यह आत्मध्यान है जो तिर्यक् गतिको ले जाता है। हिंसा, शूट, चोरी और विषयभोग, इनमें आनन्द मानना और इनका ही विचार करते रहना, यह

रौद्र ध्यान है और इसका फल नरक है। ये हेय हैं। इनको त्यागकर धर्म-ध्यानका आश्रय लेना चाहिये। तत्त्व-शानका चिन्तन, द्याभावका या पापसे मुक्ति पानेका चिन्तन, कर्म-स्वरूपका चिन्तन और तीन लोकके स्वरूप का और लोकमें आत्माके परिभ्रमणका—जन्म-मरणका—चिन्तन, ये चार भेद धर्म-ध्यानके हैं। पिण्डस्थ (गरीरस्थ निज आत्माका ध्यान), पदस्थ (मन्त्राक्षरोंका ध्यान), स्तुपस्थ (गरीरसहित परमैश्वर्ययुक्त सर्वज्ञ बीतरागी आत्माका ध्यान) और रूपातीत (अरूपी, देहमुक्त, सच्चिदानन्दसमय आत्माका ध्यान), ये चार ध्यान धर्म-ध्यानके चतुर्थ भेद लोकस्थान-ध्यानके अन्तर्गत हैं। पिण्डस्थ ध्यानके अन्तर्गत पॅच धारणाएँ हैं—पार्थिवी, आनन्दी, मारुती, वारुणी और तात्त्विक। इन धारणाओंमें क्रमशः पृथ्वीपर, सागरके बीच, सुमेरुपर, निजात्माको शान्त और तेजस्वीरूपमें विचारकर, निज कर्मोंका अभिसे भस्म हो जाना, हवासे उड़ जाना, जलसे धुल जाना विचार करके अन्तमें कर्मसलरहित निज शुद्ध स्वरूपका विचार होता है।

बुरे विचारों तथा वासनाओंको दूर करनेके लिये भिन्न-भिन्न रूचिवालोंके लिये ऊपर लिखे उपाय कितने उपयोगी हैं यह मनोविजानसे परिचित पाठकोंसे छिपा नहीं रह सकता। कोई आत्मस्वरूपका चिन्तन कर सकते हैं तो कोई साकार सशरीर ईश्वरका और कोई अशरीर ब्रह्मका। कइयोंको ससारकी निःसारतासे वैराग्य होता है तो कइयोंको पापके दुःखरूप होनेसे अथवा जन्म-मरणकी भीतिसे। कर्मफलके चिन्तनसे पापसे भीति होती है और सुख-दुःखका असली कारण जानकर क्रोधादि नष्ट होकर समताभाव आता है। जो भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्यके प्रेमी हैं वे उत्कृष्ट भौतिक ऐश्वर्य और सौन्दर्ययुक्त सशरीर पूर्णात्माका चिन्तन कर गैंग-गैंगेः आत्माके प्रेमी वनते हैं। कह्वा क्रोधादिका उनके विरोधी-भाव धमादिसे नाश करते हैं। पार्थिवी आदि धारणाएँ एक तरहका गहरा स्वयं सूचन (Self-suggestion) है। ज्ञानाभ्यास, ध्यान आदिके तीन कार्य होते हैं—(१) चित्त-वृत्तिके एक ही क्रियामें अकापादभावमें होनेसे तथा अन्य क्रियाओंके निरोधसे नर्यान वन्धका अभाव। (२) उस समय उदय होनेवाले कर्मोंके फलोंकी ओर उपयोग न होनेसे उनका विना कपादभाव उत्तेजित किये जाना। (३) ज्ञानादिके जरिये पुरातन वासनाओंके सस्कारोंको निर्वल कर देना।

सक्षेपमें, जितने अशमे त्याग और शान्ति है उतने ही अगमें वन्ध नहीं होता है।

योगका अभ्यास करते समय तपस्या, सयम, ध्यान, अहिंसा, अचौर्य, मैत्री आदिकी भावना आदिके फलसे, कर्मोंके अत्याधिक अयोपशम होनेपर कई अद्भुत शक्तियाँ अत्याधिक अज्ञोंमें प्रकट होती हैं। ये कुछ तो ज्ञान-सम्बन्धी होती है, यथा—अद्भुत बुद्धि, अद्भुत स्मृति-शक्ति, अद्भुत इन्द्रिय-शक्ति, देवकालकी सीमाको लिये भूत, भविष्य, वर्तमानकालके दूरस्थ और समीपस्थ पौद्वलिक पदार्थोंको जानना तथा स्व और परके पूर्व और आगामी जन्मोंको जानना (अवधिज्ञान), मनपर्ययज्ञान अर्थात् दूसरेके मनमें रहे हुए पदार्थोंको जानना आदि, कुछ तप और स्यमसम्बन्धी होती है, यथा कठोर तप करनेकी शक्ति, शरीरको तनिक भी निर्बल किये विना दीर्घकालीन और अनेक उपवास कर सकना, जल, थल, आकाशमें और बनस्पति आदिपर विना किसी जीवको वाधा पहुँचाये विहार कर सकना आदि, तथा कुछ गरीरसम्बन्धी और अन्य तरहकी होती हैं, यथा सर्वैषषि ऋद्धि (दृष्टि या बचनसे, या गरीरके स्पर्शसे, या शरीरके मल या स्वेदसे, अथवा गरीर-स्पर्शी रज, पवन आदिसे असाध्य भी रोग, विष आदिका दूर हो जाना), बल ऋद्धि (अपार शारीरिक, मानसिक और वाचनिक बल, विना थके हुए एक मुहूर्तके भीतर समस्त शांतोंका चिन्तन या उच्चारण कर सकना आदि), रस ऋद्धि (क्रुद्ध होनेपर दृष्टि या बचनसे दूसरेको विषाभिभूत करके मार सकना, कर-स्पर्शसे नीरस आहारका भी स्वादिष्ट रससयुक्त हो जाना अथवा बचनसे ही दूसरोंको अमृत-भोजन किये-जैसा तृप्ति कर देना आदि), अक्षीणमहानसद्धि (योगीको जिस पात्रसे या जिस वस्तुका आहार दिया जाय वह अत्यत्य होनेपर भी उससे या उसको चाहे जितने प्राणियोंको खिला देनेपर भी उस दिनके लिये उसका अक्षय होना), विक्रिया ऋद्धि जो दो तरहकी होती है, पृथक् (अपने शरीरके सिवा दूसरे शरीरादि वना सकना) और अपृथक् (अपने शरीरको ही अनेक आकाररूप बना सकना और उसको अति भारी, अति हल्का, अति सूक्ष्म, सुमेरुसे भी अति महान्, अति दीर्घ, अति छोटा आदि कर सकना, भूमिपर बैठें-बैठें भेस्तें शिखरको या सूर्यको छू सकना, अन्तर्धान हो सकना, पहाड़में भी आकाशके समान

गमनागमन कर सकना, जलमें थलके समान और थलमें जलके समान सञ्चार कर सकना, सर्ववशीकरण आदि)। जलमें समान सञ्चार कर सकना, सर्ववशीकरण आदि)। क्षेत्र ऋद्धि (योगीके ठहरनेका स्थान जरा-सा होनेपर भी उसमें अपरिमित मनुष्योंका सुखसे समा सकना), आहारक शरीर (तीर्थ-दर्गानके लिये या सन्देहके निवारणार्थ अति दूरस्थ उत्कृष्ट ज्ञानी—कैवली या श्रुतकेवली—के पास जानेके लिये मुनिके मस्तकसे रसादि धातुरहित, एक हाथ प्रमाण, चन्द्रिका-समान इवेत शरीर निकलना), तीव्र शुभ परिणामोंसे उत्पन्न हुआ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशमें दुर्भिक्ष, महामारी आदिको दूर करता है, और तीव्र अशुभ रोद्र परिणामोंसे उत्पन्न हुआ अशुभ तैजस शरीर जो बारह योजनतकके प्रदेशके सर्व बनस्ति, प्राणी आदिको भस्त कर अन्तमे मुनिके भी शरीरको भस्त कर देता है। विद्या-देवताओं या मन्त्र-देवताओंकी अधीनता या कृपासे भी अनेक सिद्धियों प्राप्त हो सकती हैं।

योगीकी अद्भुत शक्तियोंप्रकृतिके नियमोंके विश्वद नहीं होती। प्रत्येक पदार्थके अनन्त गुण हैं, परन्तु साधारण मनुष्योंका ज्ञान अत्यत्यल्प है। जब पदार्थोंके जात गुणोंसे विचित्र कोई घटना हो जाती है तो लोग उसे अप्राकृतिक कहने लगते हैं। वस्तुतः कोई कार्य या घटना अप्राकृतिक (Unnatural या Supernatural) हो ही नहीं सकती। आधुनिक वैज्ञानिक भी इसे मानते हैं कि हमारे विचार और चारित्र्यका प्रभाव हमारे शरीर तथा बाहरी पदार्थोंपर भी पड़ता है।

योगकी विभूतियोंमेंसे बहुत-सी तो आत्मज्ञानी योगीको ही प्राप्त होती हैं, और कुछ अज्ञानियोंको भी तप, सयम आदिसे मिल जाती हैं। जो आत्मज्ञानसे रहित है या मोह-बिंदू है वे इनसे मोहित होकर तपसे भ्रष्ट हो जाते हैं, और इन शक्तियोंका सांसारिक अर्थोंके लिये उपयोग करने लगते हैं, जिसके फलस्वरूप वे आत्मोन्नतिमें बाधा डालकर, आत्माको पतितकर, कर्मचन्द्रसे इन शक्तियोंको ही नहीं खो देते हैं बल्कि नरकादि दुर्गतियोंके भी अधिकारी हो जाते हैं और जन्म-मरणके चक्रमें फँसे रहते हैं। परन्तु जो आत्मवेज्ञा होते हैं, जिनको आत्माकी पूर्ण, और अनन्त शक्तिमें श्रद्धा है वे इन्हें पराधीन, अपूर्ण, गसिर और पूर्ण आत्मशक्तिका एक किरणाशमात्र

समझकर इनसे निरपेक्ष रहते हैं और आत्माकी पूर्णोपलब्धिके लिये अग्रसर होते रहते हैं।

धर्म-ध्यानके साधनसे शुक्ल-ध्यानकी सामर्थ्य होती है। शुक्ल-ध्यान मोक्षका साधात् कारण है। इसमें तछीनता होती है—ध्यान, ध्याता और ध्येयका भेद मिट जाता है। इसके चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क, एकत्यवितर्क, सूक्ष्म-क्रियाप्रतिपाति, और व्युपरत क्रियानिवृत्ति। प्रथममें वितर्क और विचार दोनों होता है, और यह मन, वचन, काय इन तीनों क्रियावालेके हो सकता है। दूसरा वितर्कसहित पर विचाररहित होता है, और यह एक क्रियावालेके ही हो सकता है। तीसरेमें सिर्फ सूक्ष्म देहक्रिया रहती है और चौथा सर्वथा क्रियारहित होता है। अन्तिम दो ध्यान तो जीवन्मुक्त सर्वज्ञ (अरहन्त) के ही हो सकते हैं, और प्रथम दो ध्यान उत्तम शरीरसंहननवाला सम्पूर्ण शब्द-ब्रह्मका ज्ञाता (श्रुतकेवली) योगी ही कर सकता है। ऐसा योगी शुक्ल-ध्यानके प्रथम दो भेदोंसे आत्मामें लीन होकर मोहनीय कर्मको और ज्ञानावरणी, दर्गनावरणी और अन्तराय इन तीन शेष धातिया कर्मोंको विनष्ट कर देता है। उनके नष्ट होते ही विशुद्ध स्वस्वरूप उपलब्धि, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त जक्षि और अनन्त आनन्दकी पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। तब आत्मा आत्माके ही जरिये, विना किसी इन्द्रिय या मनकी सहायताके, विना तर्क या अनुमानके, लोकालोकके सर्व पदार्थोंको उनके अनन्त धर्मों और उनकी त्रिकालीन सर्व अवस्थाओंसहित, युगपत् और सदा हस्तामलकवत् स्पष्ट देखने और जानने लगता है। अगर आयु-कर्मके शेष रहनेसे वह आत्मा इस शरीरमें रहे तो वह सर्वथा निःस्थृत होकर आत्मलीन होता हुआ, सिर्फ अपने अनन्त ज्ञानादि गुणोंको ही भोगता हुआ रहता है। इसीको जीवन्मुक्तावस्था, कैवल्यावस्था या अरहन्तावस्था कहते हैं। यही रूपस्थ ध्यानका व्येय है। वह आत्मा शुधा, तृष्णा, रोग, चिन्ता, श्रान्ति (थकाचट), निद्रा, स्वेद, राग, द्वेष, मोह, इच्छा, कथाय, विस्मय, शोक, भय, मद, ग्लानि, जन्म, जरा, मृत्यु आदि दोषोंसे गृहित रहता है। उसकी देह धातु-उपधातुरहित, मलरहित, छायारहित, अति सुन्दर हो जाती है। उसके नस, केश नहीं बढ़ते हैं और उसकी पलकें नहीं झपकती हैं। वह कवलाहार नहीं करता है। जहाँ वह रहता है वहाँ सदा प्रकाश रहता है और उस स्थानमें रहनेयाले प्राणियोंको

भूख, प्यास, शोक, वैर, भय नहीं सताते हैं। वहाँ सब अद्वितीयोंके फल-फूल एक साथ उत्पन्न होते हैं। आकाश, दिगाएँ और भूमि निर्मल रहती हैं और सुगन्धयुत, मन्द, सुखद पवन बहता है। उसके आस-पास चारों दिगाओंमें सौ-सौ योजनतक दुर्भिक्ष, महामारी आदि उपद्रव नहीं होते हैं। समस्त विद्याओंका स्वामीपना, सब सुरासुरों और हन्द्र-नरेन्द्रोंसे प्रांजितपना, चारों दिशाओंमें मुख दीखना, अदया और उपसर्गका अभाव अर्थात् न किसीको वाधा देना और न किसीसे वाधित होना, आकाशमें गमन और उस समय चरणतले देवोंके द्वारा कमलोंका विछाया जाना, देव-निर्मित अति मनोज और विस्तीर्ण सभामन्दिरमें दर्शन-मात्रसे अभिमानको हरनेवाला मानस्तन्त्र, और शोकको हरनेवाला अशोक वृक्ष, दर्शकके कई जन्म-जन्मान्तरोंको दिखानेवाला भामण्डल, रक्षमय सिंहासन, तीन छत्र, यक्षोंसे हुलाये गये चॅवर, दुन्दुभि, पुष्पवृष्टि और जय-

जयध्वनि इन देवकृत अष्ट प्रतिहायोंका होना तथा वहाँ-पर सर्वभाषारूप परिणत होनेवाली अनक्षरी दिव्य ध्वनिका, विना इच्छाके और विना ओंठोंके हिलाये, सर्वज्ञके तनसे निकलना और उसके द्वारा प्राणियोंके समर्पण वाड्मय ज्ञानका वोध होना आदि अनेक बाह्य विभूतियों उस जीवन्मुक्तके होती है (कहयोंके दिव्य ध्वनि नहीं भी होती है, अतः सभामन्दिर आदि भी नहीं होते हैं)।

आयु-कर्मकी समाप्तिके समय जीवन्मुक्तके शुङ्ख-ध्यानके अन्तिम दो ध्यान क्रमशः विना किसी यत्के स्वतः ही होते हैं। उनसे अवशेष अघातिया कर्म भी दूर होकर, सर्वदेह और सर्वकर्मसे मुक्त आत्मा सिद्धावस्थाको प्राप्त होती है जिसमें कि वह मनरहित, वचनरहित, कायरहित और समस्त अनात्मीय पदार्थोंके सम्बन्धसे रहित होकर निज अनन्त ज्ञान, आनन्दादि अनन्त धर्मोंको सदाकाल भोगती रहती है—स्वस्वरूप हो रहती है। #

शिवयोग

(लेखक—पण्डितवर्य श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, मैसूर)

योगजात्मके प्रवर्तक पतञ्जलि महर्षिजीने 'योगश्चित्त-वृत्तिनिरोधः' इस सूत्रमें चित्तवृत्तिके निरोधको ही योग कहा है। चित्तवृत्तिके निरोध करनेमें साधनीभूत जो योग है वे पॉच प्रकारके हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग और गियायोग।

एकाक्षरं द्वयक्षर वा पदक्षरस्मयापि वा ।

अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा ॥

'एकाक्षरात्मक 'ॐ' मन्त्रको, अथवा द्वयक्षरात्मक 'हृष्टः' अथवा 'सोऽहम्' मन्त्रको, अथवा षडक्षरात्मक 'ॐ नमः गियाय' मन्त्रको, अथवा अष्टाक्षरात्मक 'ॐ हां ही नमः गियाय' मन्त्रको मन्त्रक्रमके अनुसार मोक्षप्राप्तिके लिये जपना मन्त्रयोग कहाता है।'

यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह ।

लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि ॥

'चित्तका अपनी व्येय मूर्तिमें अथवा प्राणायामसे अभिव्यक्त नादमें मन और मारुतके साथ लय होना लययोग कहाता है।'

भवेदष्टाङ्गमार्गेण

मुद्राकरणबन्धनैः ।

तथा केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः ॥

'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि-नामसे प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा, अथवा महामुद्रा, महावन्ध, महावेघ, खेचरी, उद्धियान, मूलवन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, बज्रोली, और शक्तिचालन आदि दस प्रकारके बन्धसमूहोंसे, अथवा धौति, वस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कम्भोंसे, अथवा रेचक, पूरक प्राणायामोंको छोड़कर केवल कुम्भक प्राणायामसे वायुको वज्रमें कर लेना हठयोग कहाता है।'

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति ।

ज्ञाने वाय भगवृत्तिरहितो राजयोगविद् ॥

'जो मनुष्य वाय लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादिसे अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान) से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसीको मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते

* इस ऐतिहासिक अधिकाशमें जैनधर्मके अनुसार प्रतिपादन किया गया है।

है।' और इस प्रकारके अभ्यासको ही राजयोग कहते हैं। एवं निर्दिष्ट चार प्रकारके योगोंमें राजयोग ही सबसे श्रेष्ठ है।

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तस्वतः ।
शिवायिनां तथाप्येवसुक्तो बुद्धेः प्रवृद्धये ॥

'राजयोग और शिवयोगमें पारमार्थिक दृष्टिसे कोई भेद नहीं है। तथापि परशिवव्रह्मके साधात्कार चाहनेवाले मुमुक्षुओंकी जानवृद्धिके लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है।'

प्रतिपाद्यस्योर्मेदस्तथा शिवरतात्मनाम् ।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राहुः शिवयोगस्तु केवलम् ॥

'राजयोग और शिवयोग इन दोनोंमें क्या भेद है, इस विषयको शिवप्रेमियोंके लिये बतलाना आवश्यक है। मुमुक्षुजनोंको चाहिये कि वे इसको समझकर शिवयोगका ही अङ्गीकार करें।' गुणत्रयसाधात्कार ही तारकत्रय है, प्रकृतिमें भनको लय करना ही अमनस्कता है। इस वातको अच्छी तरहसे जानकर पुरुषसाधात्कारके लिये प्रयत्न करना ही राजयोग है, यह पातञ्जल्योगगान्ध्रमें कहा गया है। परन्तु शिवागमोंमें शिवभक्तिके आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रयके साधात्कारद्वारा उस गतिमें वृत्तिज्ञानको लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्वाभिव्यक्तिको ही 'शिवयोग' कहा गया है।

ज्ञान शिवमयं भक्ति शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ॥

'इस शिवयोगके शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नामसे पाँच प्रकार हैं।' शिवपूजामें शिवज्ञानादिका अन्तर्भाव होनेके कारण प्रधानतया शिवपूजाको ही शिवयोग कहते हैं।

शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न सशय ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजन्मं परिवर्तते ॥

'जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोगसे विमुक्त रहता है वह निश्चय ही पशु कहलाता है और वह संसारचक्रमें जननमरणादिकोंसे परिभ्रमण करता रहता है।'

अन्तर्योगो वहियोगो द्विविधं तच्छिवार्चनम् ।
मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च वाहार्चनोदिता ॥

'शिवपूजाके दो प्रकार हैं एक अन्तःपूजा और दूसरी वरिःपूजा। इन दोनोंमें अन्तःपूजा ही मुख्य है। वह

अन्तःपूजा वाह्यलिङ्गपूजासे ही उत्पन्न होती है।' वाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये विना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती, इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजाका मुख्य साधन है।

त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्ष्यकारणम् ।
सर्वसङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम् ॥
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलोभूतमानसः ।
यजेद्वाभ्यन्तररक्ष्यैरवधानेन तद्यथा ॥
शमारघुपरिषेचनं सकलपूर्णभावास्वरं
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा ।
स्वसंविद्वलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान्
शिवाय विनिवेद्येत् प्रकटभक्तिपुष्पाणि च ॥
धूपमन्तररक्षतुष्टेन तद्वीपभिन्द्रियगुणोत्करेण तु ।
क्षुद्रयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहरमान्तरे ॥
रजस्तामःसर्वगुणत्रयाख्यताम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च ।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पादय शङ्कराय ॥

'त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रयको नाश करनेवाले और अपने वामभागमें उमादेवीसे शोभायमान ऐसे शिव परमात्माका हृदयकमलमें एकाश्रचित्तसे ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारोंसे उनकी पूजा करनी चाहिये। आभ्यन्तर उपचारोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—गान्ति ही अभिषेकजल, विश्वद्व्यापकताभाव ही वन्न, इच्छानान्कियात्मक शक्तित्रय ही यजोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षता, परिशुद्ध भक्ति ही पुण्य, मनोद्विद्विअहकारपरमान्तःकरणतुष्ट्य ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सर्वरजस्तमोगुणत्रय ही ताम्बूल और प्राण ही नमस्कार है। इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारोंसे शिव परमात्माका पूजन करना चाहिये।'

शिवयोगसाधकोंको शिवयोग ही साध्य है, और हठयोग तो साधनमात्र है। हठयोग वाह्य और आन्तर अयाङ्गोंसे युक्त है। वीरदौर्योंको आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोगद्वारा शिवयोगका साधन करना चाहिये।

यमनियमगुरुणश्च स्वास्मशुद्धिं विधाय
स्ववशविविधपर्विरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।
असुनियमजलेन न्नापयेद्विलिङ्ग
प्रकटितचतुरङ्गं वाह्यमेतद्विधानम् ॥

शम्भोरथैन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यान प्रसूननिचयो दृढधारणा सा ।
वूपः समाधिरथचुद्धमहोपहारं
आभ्यन्तराख्यचतुरज्ञविधानमेतत् ॥ ;
एवमष्टाङ्गयोगेन सटान्तःपद्मसद्मनि ।
पूजयेत्परमं देवं किं वाहौर्देवपूजनैः ॥

‘यम-नियमोके सम्बन्धी चौबीस गुणोसे आत्मगुद्धि करना, और अपने बड़ीभूत पद्मादि आसनोंसे देहको स्थिर करना और प्राणायामरूपी जलसे दिव्य लिङ्गका अभिपेक करना, इसीको वाह्य चतुरज्ञ कहते हैं । शिवजी-के नेत्रादि इन्द्रियोंका विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्तिसे अन्तर्मुख हुए मनमे जो शिवध्यान किया जाता है वही पुष्प है, उन्हीं शिवजीको दृढ़ताके साथ धारण करना ही वारणा है, और जाताजातरूप समाधि ही नेत्रेव्य हैं । इसीको आभ्यन्तर चतुरज्ञ कहते हैं । शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोगका साधन करते हुए अपने हृदयकमलमें शिव परमात्माका पूजन करें ।’

वीरगैवमतमे ‘भक्त, महेश, प्रसादी, प्राणलिङ्गी, गरण, ऐक्य नामसे प्रसिद्ध जो पट्टस्थल है’ वे ही शिवयोगके मुख्याङ्ग हैं । यम-नियमादि अष्टाङ्गोंका भी पट्टस्थलोंम ही समावेश होता है ।

यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम् ।
स्थिरायनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः ॥

चराचरलयस्यानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम् ।
प्राणे तदृज्योग्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ॥
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसादीति न संशयः ।
ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः ॥
लिङ्गैवयोर्ड्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना ।
पूवमस्थाङ्गयोगेन वीरशीवो भवेन्नरः ॥

‘यम-नियमोसे जो युक्त है उसीको ‘भक्त’ कहते हैं । आसनसे जो युक्त है उसको ‘महेश्वर’ कहते हैं । चराचर प्रपञ्चका जिस लिङ्गमें लय होता है उस लिङ्गको ‘आकाश’ कहते हैं, ऐसे आकाशमे जो मनुष्य अपने प्राणको लय करता है उसीको ‘प्राणलिङ्गी’ कहते हैं । प्रत्याहारसे जो युक्त है उसको ‘प्रसादी’ कहते हैं । शिव परमात्माके ध्यान-धारणादिसे जो युक्त है उसीको ‘गरण’ कहते हैं । समाधिमें जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैत-भाव उत्पन्न हुआ है उसीको ‘ऐक्य’ कहते हैं । इस प्रकार अष्टाङ्गरूपी पट्टस्थलोंका आचरण करनेवाला सज्जन ही ‘वीरशीव’ होता है ।’ लिङ्गपुराणके प्रमाणोंसे भी इसी विषयका वोध होता है—

कीटो अमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम् ।
मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम् ॥

‘भ्रमरके योगसे कीड़ा जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है उसी प्रकार मानव भी शिवयोगसे केवल शिव ही हो जाता है ।’ यही शिवयोगका रहस्य है । अस्तु ।

सत्यमर्गप्रविष्टाना वह्याणं महालं शुभम् ।

प्रेमयोगी

प्रेम, सरिते तट वसे विरह धूनी तन तावे ।
आशाकी कोपीन भाव रँग रँगी चढ़ावे ॥
भस्म रागकी मले कमंडल शून्य घनाकर ।
ले विचारका दंड भावना भीख जमाकर ॥
उच्छ्वास अश्रु तड़पन किया, जिसका ‘प्राणायाम हो ।
निज हृदय तोड़ तन तजे जो, वह योगी ‘घनश्याम’ हो ॥

पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास

(लेखक—श्री चौ. आर. रामचन्द्र दीक्षितार एम. ए.)

लम होता है कि प्राचीन कालमे परिव्राजक साधुओंका एक ऐसा समुदाय था जो योगी कहलाते थे और जो किसी एक स्थानपर टिककर नहीं रहते थे। ये लोग जितेन्द्रिय होते थे और सदा योगेश्वर भगवान्के चरणकम्लोके स्थानमे रत रहा करते थे तथा इस नश्वर एवं मिथ्या सांसारिक जीवनके बन्धनसे मुक्त होनेकी खोजमे रहते थे।

इस प्रकारके परिव्राजक मुनि इस देशकी स्थायी सम्पत्ति रहे हैं। यवन यात्री मेगस्थनीजसे लेकर, जो ईसामसीहसे चार सौ वर्ष पूर्व यहाँ आया था, जितने विटेशी यात्री और अम्यागत इस प्राचीन देशमे आये उन सभीने इस प्रकारके योगियोंकी बातें लिखी हैं और आज भी ऐसे लोगोंसे हम अपरिचित नहीं हैं। गत चार-पाँच सौ वर्षोंमें जो यात्री यहाँ आये उनके वृत्तान्तको देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ये योगी भिन्न-भिन्न वर्णों और जातियोंके होते थे।

सिन्धुप्रदेशमें मुरातच्चवेत्ताओंको जो कुछ ध्वसावगेष प्राप्त हुए हैं उनको देखनेसे यह पता लगता है कि ईसवी सन्से ३००० वर्ष पूर्व तथा उससे भी पहले भारतवर्षमें योगका किसी-न-किसी रूपमे अवश्य प्रचार था। इन ध्वसावगेषोंमें कुछ खण्डित पत्थरकी मूर्तियाँ भी हैं ‘जिनका मस्तक, ग्रीवा और घड विल्कुल सीधा है और जिनके अर्धनिमीलित नेत्र नासिकाके अग्रभागपर स्थिर हैं।’ और योगाभ्यास करनेवालोंके बैठनेका यही ढग शान्तोंमें वर्णित है, (देखिये R Chanda Memoirs of Archaeological Survey of India, No 41, pp 33-34) वायुपुराणके पाशुपतयोगविषयक अध्यायोंमें इस प्रकारका जो वर्णन मिलता है उसका उपर्युक्त वर्णनसे मिलान करनेसे इस निर्णयपर पहुँचना अनिवार्य हो जाता है कि प्रार्गतिहासिक युगमें तथा ऐतिहासिक युगके प्रारम्भमे सिन्धुप्रदेशमें जो

* देखिये पश्चनाम मेननरचित ‘केरलदेशका इतिहास’ नं० ३, प० ६४२-९।

योगी रहते थे उनकी योगसाधना ही पाशुपतयोगका प्रारम्भिक रूप था। क्योंकि वायुपुराणमें लिखा है कि पाशुपतयोगका अम्यास करनेवाला छाती तानकर बैठे, मस्तक और ग्रीवाको विल्कुल सीधा रखते और नेत्रोंको अर्धनिमीलित कर दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करे, अन्य दिग्गायोंमें न जाने दे (देखिये वायुपुराण ११। १५-१६)। इससे योगसम्प्रदायकी प्राचीनता भलीभौति सिद्ध होती है। यद्यपि इस सम्बन्धमें कुछ अनुमान करना साहसका काम है तथापि हमारी ऐसी धारणा होती है कि ऋग्वेदसंहिता और यजुर्वेदके सकलनके वीचके कालमे ही यह योगसम्प्रदाय प्रवर्तित हुआ होगा। क्योंकि यजुर्वेदमें जटिल कर्म-कलापका वर्णन मिलता है और कर्मकाण्डपर विशेष जोर दिया गया है। इस कर्मवादके सिद्धान्तका इतनी तेजीके साथ प्रभाव बढ़ा कि इतिहास-पुराणके युगमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलने लगे कि कर्म ही सब कुछ है। और योगसाधना भी उसीकी सफल होती है जो शालोक विधिसे कर्मका अनुष्ठान करता है।

योगकी परिपाटी तथा उसके सिद्धान्त निःसन्देह आर्य-सभ्यताके चिह्न हैं और सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताके प्रवर्तक द्राविड नहीं अपितु आर्य ही थे, इस सिद्धान्तकी पुष्टिमें अन्य प्रमाणोंके साथ-साथ यह भी एक प्रमाण है। परन्तु यहाँ हमें इस विवादमें तो पड़ना नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि अधिक पहले नहीं तो कम-से-कम भारतीय इतिहासके ताप्रयुगमें सिन्धुप्रदेशमें इस आर्य परिपाटीका प्रचार रहा। यह तो एक स्योगकी बात है कि वायुपुराणमें भी पाशुपतयोगकी प्राचीनताके प्रमाण मिलते हैं। वायुपुराणकाल जो कुछ भी हो (इस प्रसंगमें देखिये लेखकका “Some Aspects of the Vayupurāṇa” शीर्षक निवन्व जो मद्रास विश्वविद्यालय-के सुसपत्रके सन् १९३३ के न्यारहवें संख्यामें प्रकाशित हुआ है) उसके पाशुपतयोगविषयक दश अध्यायोंमें योगके एक प्राचीन सम्प्रदायका वर्णन है। उन्हें ग्रन्थके

(११, १४ और १५) तीन अध्यायोंमें तो केवल पाशुपत-योगकी साधना और परिपाटीका ही वर्णन है और इनके अतिरिक्त भी कई अध्याय ऐसे हैं जो योगके मूल सम्प्रदाय-का अध्ययन करनेवालोंके लिये बहुत कामके हैं । इनमें योगोपसगों (योगके विद्वा), योगैश्वर्यों (योगलभ्य सिद्धियों), गौचाचारलक्षण (योगक्रिया) आदिका वर्णन है । एक अव्याय माहेश्वरवतारयोगविषयक है जिसमें महेश्वर अथवा योगेश्वरके २८ अवतारोंका वर्णन है । प्रत्येक कल्पमें एक अवतार माना गया है । इसके अनन्तर उक्त प्रन्थमें अष्टाङ्गयोगका वर्णन है । आठ अङ्गोंके नाम ये हैं—आसन (वैठनेकी झैली), प्राणारोध (प्राणवायुको रोकना), प्रतिहार (इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण न करना), धारणा (चित्तको एकाग्र करना), ध्यान (किसी वस्तुका निरन्तर चिन्तन करना), समाधि (परमात्मामें वृत्तिको स्थिर करना), यम (प्रधान कर्तव्य) और नियम (गौण-कर्म) । भगवान् पतञ्जलिने अपने योगसूत्रोंमें इन अङ्गोंके जो लक्षण वताये हैं यह वर्णन भी उन्हींके अनुसार है (देखिये यो ० सू ० २ । २९) । ईसामसीहसे ४०० वर्ष पुराना एक तामिलभाषाका व्याकरण है जिसे 'तोळकाण्पियम्' कहते हैं, उसमें भी इनका उल्लेख आता है । आगे चलकर, जैसा कि मैत्युपनिषद्के देखनेसे मालूम होता है, अष्टाङ्गयोगके दो अङ्गों, यम और नियमको निकाल दिया गया । फलतः अष्टाङ्गयोग घड़ज्ञ ही रह गया ।

मानों यह प्रमाणित करनेके लिये कि इस पुराणका मूल बहुत प्राचीन है, वायुपुराणमें गृहस्थोंके कुछ धर्म वताये हैं । योगीलंग अनेक वेष धारणकर देशमें सर्वत्र विचरते रहते हैं । जब कभी वे किसी गृहस्थके यहाँ आवें गृहस्थका यह धर्म है कि वह उनका हृदयसे स्वागत करे और अपनी कल्याणवृद्धिके लिये उनकी यथायोग्य सेवा-पूजा करे । दूसरी बात यह कही गयी है—जो पहलीकी

अपेक्षा विलक्षण है—कि श्राद्धपक्षमें भी गृहस्थ जहाँतक हो सके इन्हीं योगियोंको ढूँढ़कर लावे और भोजन करावे, ऐसा करनेसे पितृगण पूर्ण सन्तुष्ट होते हैं । श्राद्धके दिन एक योगीको भोजन कराना हजार ब्राह्मणों अथवा ब्रह्मचारियोंको भोजन करानेके तुल्य कहा गया है । पुराण-के इस बचनको पढ़कर आश्र्य होता है । स्मृतिग्रन्थोंमें ब्रह्मचारियों तथा यतियोंको भोजन करानेका स्पष्ट नियेध किया गया है । श्राद्धके अवसरपर केवल गृहस्थको भोजन करानेका विधान है । अतः यह पुराण उस प्राचीन कालका लक्ष्य कराता है जब श्राद्धके दिन योगियोंको भोजन कराना महान् लाभ समझा जाता था । यह प्रथा किस कालमें प्रचलित थी और कब इसका लोप हुआ, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता ।

ऊपरके वर्णनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है । हम भारतके प्रागैतिहासिककालकी जहाँतक खोज लगा सके हैं, हमें गिय, योगेश्वर अथवा महेश्वरकी उपासना ही सबसे प्राचीन मालूम होती है । अतएव योगके प्रारम्भिक स्वरूपमें इस उपासनाका गहरा समावेश था । हमें तो ऐसा मालूम होता है कि पाशुपतयोग ही सबसे प्राचीन योगसाधन थी, और प्राणायामका यथाविधि अभ्यास ही इस योगका स्वरूप है । ब्राह्मणलोग जो आज भी त्रिकालसन्ध्योपासन करते हैं उसमें इस पाशुपतयोगका कुछ अंग सुरक्षित है । इस योगका आरम्भ उस समय प्राणायामके आधारपर ही हुआ और समयकी प्रगतिके साथ उसका शास्वा-प्रशास्वा-रूपमें विस्तार होता गया । इन शास्वा-प्रशास्वाओंसे हमारा इस समय कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत निवन्धका विषय केवल पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास है, आगे चलकर इस पाशुपतयोगका स्वरूप कुछ बदल गया, आचार्य शङ्करने अपने प्रसिद्ध जारीरकमात्रमें पाशुपतमत-का जो खण्डन किया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है ।



योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त

(लेखक—स्वामीजी श्रीनिवासनन्दनी भारती)

योगशास्त्रका विषय इतना आवश्यक और उपादेय है कि अनादिकालसे ऋषि-मुनिलोग इसपर ध्यान देते और योगका अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास और सामान्य सस्कृत साहित्य-में ही नहीं किन्तु न्याय, वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शनतकमें योगका महत्व स्वीकार किया गया है। बहुत-सी उपनिषदोमें भी योगके सम्बन्धमें उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये हैं। यही कारण है कि गीता इस विषयमें सबसे आगे बढ़ गयी है—उसका कोई अव्याय ऐसा नहीं जिसमें योगके किसी-न-किसी सिद्धान्तका वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णकी गीता योगशास्त्रकी मानी हुई पुस्तक है और श्रीकृष्णजी महायोगेश्वर प्रसिद्ध हैं।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलिके योगसूत्रोंका दूसरा नाम है। इस दर्शनके सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शनमें किसी-न-किसी प्रकार इनपर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्रमें महर्षि पतञ्जलिने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायोंपर ऐसा सुन्दर लेख लिखा है कि दर्शनशास्त्रके बहुत-से रहस्य करामलकवत् सर्वथा निरावरण हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसका अध्यरशः अनुकरण करके जैन और वौद्ध-सम्प्रदायोंमें अभ्यास तथा वैराग्यके सम्म खड़े कर लिये गये हैं और आमिनक दर्शनोंका सामना किया गया है। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकोंको भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं जैसे आस्तिकोंको। योगशास्त्रके सर्वप्रिय होनेमें यह एक विचित्र प्रकारकी विशेषता है।

वेदान्तदर्शनके रचयिता महर्षि व्यास तो योगदर्शनके इतने प्रयासक थे कि उन्होंने पतञ्जलिके सूत्रोंपर स्वयं दिल लगाकर योगभाष्य लिखा है और योगके सम्बन्धमें बहुत-से बहुमूल्य विचार प्रकट किये हैं। इस छोटे-से लेखमें हमारी

इच्छा है कि व्यासप्रदर्शित व्याख्यानकी सहायतासे योगशास्त्रके दार्शनिक सिद्धान्तोंकी यत्किञ्चित् विवेचना करें और यह विचारों कि दर्शनशास्त्रकी कठिन समस्याओंको योगशास्त्रमें किस प्रकार सुलझाकर सरल किया गया है।

यद्यपि चित्तवृत्तिके निरोधके उपाय तथा समाधिके प्रकार और नाना प्रकारकी योग-विभूतियोंका वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्रमें विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि मोक्ष-विषयक उपेक्षा न करते हुए 'मनोविज्ञान' के कई गूढ़ रहस्योपर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इस निवन्धमें हम जिज्ञासु विचारकोंको योगशास्त्रके दो-एक दार्शनिक सिद्धान्तोंसे परिचित करानेमें प्रवृत्त होते हैं। आशा है, जो लोग योगशास्त्रको दर्शनशास्त्र नहीं मानते उनके विचारोंमें इससे परिवर्तन हो सकेगा।

चित्त और जगत् का सम्बन्ध

चिरकालसे दार्शनिक विद्वानोंके सामने यह जटिल समस्या उपस्थित रही है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं अथवा चित्तसे भिन्न इनकी बाहर स्वतन्त्र सत्ता है। वौद्ध विद्वानोंने बहुत ऊहापोह करनेके अनन्तर दृष्टिसृष्टिवादका सिद्धान्त स्थिर किया है और यह धोषणा की है कि जगत् और जगत्के पदार्थ चित्तके अन्दरसे निकलते हैं—इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। कई एक मनोविज्ञान (Psychology) के पाश्चात्य विद्वानोंका भी ऐसा ही सिद्धान्त है। न केवल यही वृत्तिक दृष्टिसृष्टिवादको वेदान्तियोंने भी स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आठि-ग्रन्थोंमें तो वल्पर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादन किया है कि जगत् मनसे ही निकला है और मनमें ही लीन होता है। दृष्टिसृष्टिवादीका कथन है कि जगत्के पदार्थ ज्ञानके समय ही प्रतीत होते हैं ज्ञानके पहले या पीछे नहीं, इसलिये जगत् ज्ञानसमकालीन होनेके कारण ज्ञानसे भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी वौद्ध—'धर्मकीर्ति' ने अपने विचारकी पुष्टिमें डकेकी चोट कहा है—

महोपलम्भनियमादभेदो

नीलतदियोः ।

भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानर्दश्य

इन्द्राविवादये ॥

अर्थात् 'नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियमके कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि नील वस्तु, नीलज्ञानसे अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है जैसे एक ही चन्द्रमा भ्रान्तिसे दो चन्द्रमा माल्स पड़ते हैं।' तात्पर्य यह है कि जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमासे पृथक् नहीं किन्तु वही है और नील वस्तु उभी समय प्रतीत होती है जब नीलविषयक ज्ञान हो—ज्ञानकालके अतिरिक्त उसका सद्ग्राव प्रतीत नहीं होता। उसी प्रकार जगत्के पदार्थ ज्ञानकालमें ही प्रकाशित होनेसे ज्ञानसे भिन्न नहीं है। किसी भी वस्तुकी उपलब्धि ज्ञानके समय ही होती है विना ज्ञानके नहीं—यही ज्ञान और वस्तुका सहोपलम्भनियम है।

परन्तु बौद्ध विद्वान्का यह कथन ठीक सिद्ध नहीं होता क्योंकि नियत सहोपलम्भवाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न—एक नहीं होते। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाशके होनेपर ही नील-पीतादि पदार्थोंकी प्रतीति होती है, अन्धकारमें नहीं। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्रसे यदि कहा जाय कि प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ एक ही हैं—भिन्न-भिन्न नहीं, तो सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा क्योंकि नील-पीतादि पदार्थोंके उठाने, धरने और टूटने-फूटनेसे प्रभा नहीं ढूटती-फूटती। यदि नील घट और दीपकका प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घटमें जल डालनेसे प्रभा बुझ जाती।

धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देता है कि—

नान्योऽनुभाव्यो द्वुद्ध्यास्ति तस्य नानुभवो परः ।
ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात् स्वयं सैव प्रकाशते ॥

अर्थात् द्वुद्धि अथवा ज्ञानसे कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहकसे भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल द्वुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञानसे जो पदार्थ जाना जाता अर्थात् ग्रहण किया जाता है वह ग्राहक ज्ञानसे पृथक् नहीं होता। जैसे आत्मा ज्ञानसे जाना जाता है और आत्मा ज्ञानसे पृथक् भिन्न सत्ता नहीं रखता किन्तु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थोंका ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञानसे ही ग्रहण किये जानेसे ग्राह्य है अतः यह ग्राह्य जगत् ग्राहक ज्ञानसे भिन्न नहीं है। स्वप्रके पदार्थोंका विज्ञानवेद मनोग्राह्य होना सभीको अनुभव होता है—जागनेपर उनका अस्तित्य नहीं रहता इसीलिये

उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध विद्वान् इसी विज्ञानवेदवत्-हेतुसे जाग्रत्के वाह्य जगत्को स्वप्रके आन्तर जगत्के समान मिथ्या मानता है।

ओक है कि बौद्धोंका यह सिद्धान्त भी वेदान्तके एक-देशी कई व्याख्याता विद्वानोंने अपनालिया है। इस स्थान-पर यदि हम ब्रह्मसूत्र और शांकरभाष्यकी सहायतासे काम लें तो बौद्धों और वेदान्तियोंको विचार करनेका बहुत उत्तम सुयोग प्राप्त हो सकता है। दंसिये वेदान्तसूत्र—

वैधर्म्यात्मा न स्वप्रादिवद् । (१२।३९)

शाकरभाष्य—यदुकं वाह्यार्थपलापिना स्वप्रादिप्रत्यय-वज्ञागरितगोचरा अपि स्वप्रादिप्रत्यया विनैव वाह्येनार्थं भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषाद्—इति, तद् प्रतिवक्तव्यम्। अत्रोच्यते—न स्वप्रादिप्रत्ययवज्ञागरितप्रत्यया भवितु-मर्हन्ति । कसाद् ? वैधर्म्याद् !—वैधर्म्यं हि भवति स्वप्र-जागरितयोः । किं पुनर्वैधर्म्यम् ? वाधावाधाविति ब्रूमः—वाध्यते हि स्वप्रोपलब्धं वस्तु, प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयो-पलब्धो महाजनसमागम इति, न द्यस्ति मम महाजन-समागमो निद्रागलानं तु मे मतो वभूव तेनैषा अन्ति-स्वद्भूवेति । एवं मायादिव्यपि भवति यथायथ वाधः। नैव जागरितोपलब्धं वस्तु स्वप्रादिकं कस्याच्चिदप्यवस्थायां वाध्यते, अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्, उपलब्धिवस्तु जागरितदर्शनम्…… “इत्यादि ।

‘वाह्य पदार्थोंका अभाव माननेयालेने जो यह कहा है कि—‘जागरितके स्वप्रादि पदार्थोंका ज्ञान भी स्वप्रके पदार्थोंके ज्ञानके समान विना वाह्य पदार्थोंके ही है, ज्ञान होनेके कारण। इसका खण्डन करो।’ सो इसका उत्तर यह है कि जागरितके ज्ञान स्वप्रादिके ज्ञानके समान नहीं हो सकते। क्यों ? वैधर्म्य होनेसे—स्वप्र और जागरितका परस्पर अत्यन्त भेद है। क्या वैधर्म्य है ? वाध और अवाध हम कहते हैं। सुनो, स्वप्रमें प्रतीत होने-वाली वस्तुका जागरितमें वाध हो जाता है—जागनेपर कहता है कि मैंने जो स्वप्रमें महाजनका समागम देखा है वह मिथ्या ही था क्योंकि यदि सच ही मुझे इष्टमित्रादि मिले होते तो जागनेपर भी रहते, यास्तयमें वात यह है कि निद्रादोषके कारण मेरा मन ठिकाने नहीं था इसीलिये यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। इसी प्रकार जैसे स्वप्रके पदार्थोंका वाध देखा गया है वैसे मायादिके पदार्थोंका भी वाध होता है, परन्तु जागरितमें उपलब्ध होनेवाले स्वप्रादि

पदार्थ तो किसी भी अवस्थामें वाधको प्राप्त नहीं होते। न केवल यही किन्तु स्वप्न और जागरितमें एक और भी वैधर्म्य है—स्वप्नका देखना तो स्मृतिमात्र है और जागरितमें पदार्थोंका दर्शन उपलब्धि है। प्रत्येकको स्वय अनुभव होता है कि स्मृति और उपलब्धिमें महान् अन्तर है—स्मृतिमें पदार्थ नहीं होता और उपलब्धिमें पदार्थ उपस्थित होता है। जैसे प्रिय पुत्रका स्वरण करता हूँ अर्थात् पुत्र इस समय मेरे पास नहीं है उसको प्राप्त करना चाहता हूँ।

ऐसी अवस्थामें यह नहीं कहा जा सकता कि जागरितके बाह्य पदार्थ स्वप्नके समान मिथ्या हैं। विचारशील विद्वानोंको अपने अनुभवका तो विरोध नहीं करना चाहिये।—इत्यादि।

भगवच्छकराचार्यने इसी भाष्यके अन्तमें कहा है कि स्वप्नके साधर्म्यसे जागरितके पदार्थोंको मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अभिको जलके साधर्म्यसे शीत कहना।

साधर्म्यमात्रसे दो पदार्थोंको एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्यपर दृष्टि न डालना दर्शनशास्त्रमें बड़ी भयकर भूल मानी गयी है। इसीलिये वैज्ञेयिक दर्शनमें तत्त्वज्ञानके लिये साधर्म्यवैधर्म्य दोनोंका ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। शाकरभाष्यके अनुसार जागरित और स्वप्नके पदार्थों तथा ज्ञानोंमें पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होने पर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मोंकी उपेक्षा नहीं की गयी। इसीलिये भगवत्पादोंने ठीक ही कहा है कि स्वप्नके पदार्थ वाधित हैं, जागरित पदार्थोंका किसी भी अवस्थामें वाध नहीं होता, स्वप्नके पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं, जागरित पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्नके पदार्थ ज्ञानके अधीन कल्पित हैं।

जिस प्रकार शङ्करभगवानने ‘धर्मकीर्ति’ के चिद्वान्तका व्याससूत्रोंके भाष्यमें विद्वत्तापूर्ण उत्तर दिया है उसी प्रकार योगमें भी खुला विचार किया गया है। वौद्धविद्वान् कहते हैं कि सासार मनःकल्पित है, चित्तने ही इसकी रचना की है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

वस्तुसम्ये चित्तमेदात्तयोविभक्तं पन्था।
(योग ४। १५)

यदि जगत् मनःकल्पित है तो यह वतलाओं कि एक ही यस्तुमें अनेक ज्ञानोंका क्या कारण है?—एक ही स्त्रीमें कामी पुरुषको प्रेम होता है, शत्रुको ह्रेय

होता है, विमूढ़को विपाद होता है और ज्ञानीको वैराग्य होता है। एक ही कर्मको धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दुःखदायक मानता है, विमूढ़ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वास्तवमें ज्ञानका मार्ग और है और यस्तुका मार्ग और है—दोनोंमें महान् अन्तर है, ज्ञान और पदार्थ एक नहीं है। यदि जगत्के पदार्थ ज्ञान अथवा मनसे कल्पित होते तो एक वस्तुमें अनेक प्रकारके ज्ञान न होते। इसपर यह भी जातव्य है कि वे एक मनके कल्पित हैं या अनेक मनोंके कल्पित हैं। एक मन (ज्ञान) से तो यह अनेक पदार्थोंसे भरा सासार उत्पन्न हो नहीं सकता क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत्को कैसे रच सकता है और न कोई मन ही ऐसा है जिसके अन्दरसे लाखों मन परिमाणवाले पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ीको ढौङ्गते हुए देखें तो वौद्धदृष्टिसे इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मनसे निकली—रेलके सैकड़ों यात्री, उनके ट्रूंक, विस्तरे, सामान तथा अन्य पदार्थ उस क्षणभरमें हमारे अन्दरसे पटरीपर आ पड़े और शृङ्खलावद्ध होकर सामने आ गये तथा थोड़ी देर पश्चात् जब गाड़ी हमारी ओर्खोंसे ओङ्काल हो गयी तो सारे डब्बे, यात्री, उनके सामान हमारे मनःकोटरसे प्रविष्ट हो गये। जिन लोगोंने कारखानोंमें लोहेके इक्किन, गाड़ियाँ आदि बनाया, गार्ड, ड्राइवर, यात्री, उनके परिवारको उत्पन्न करने तथा शिक्षित करनेमें वर्षों लगा दिया उनका वह सब व्यर्थ और झूठा और यह क्षणभरके देखनेवाले, अपने मनको इस दृश्यका रचयिता कहनेवाले महागय सच्चे—यह बात मानना किसी लौकिक या परीक्षकको समुचित नहीं मालूम होगा।

दूसरा दोष यह है कि एक चित्तकी कल्पित की हुई यस्तुको दूसरा चित्त कर्मी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्तके मनने जो स्वप्नहृष्य कल्पित किया उस स्वप्नके हृष्यको यजदत्त या विष्णुमित्रादि कोई अन्य व्यक्ति नहीं देख सकता। यदि यह व्यास जगत् किसी एक चित्तका कल्पित होता तो दूसरे चित्तोंसे कदापि हृष्य न होता, परन्तु इस जगत्को संसारके सभी लोग देखते हैं, इसलिये भी बन्तु और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं तथा मनसे जगत् उत्पन्न नहीं होता और जागरितके पदार्थ स्वप्नके समान नहीं हैं।

यदि कहा जाय कि अनेक जानों (चित्तों) ने जगत्‌की कल्पना की है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि अनेक चित्तोंसे एक वस्तुकी उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि अनेक कर्मकर्ता लोगोंसे यह, मन्दिरके समान माना जाय तो एक ही वस्तुके अनेक भागोंको अनेक चित्तोंसे रचित मानना होगा परन्तु यह अनुभवविरुद्ध है। एक वृक्षको पचास लोगोंने देखा तो एक भागको किसीने रखा, दूसरे भागको किसीने, अन्य भागोंको अन्योने—यह मानना प्रमाणशून्य है।

दृष्टिस्थिवार्दीका मत है कि जान समकालीन ही पदार्थ है, जानके पूर्व तथा उत्तर क्षणोंमें उनका भाव नहीं रहता; मर्हिं पतञ्जलि कहते हैं—

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणं तदा किं स्यात् ।

(योग० ४ । १६)

अर्थात् वस्तु किसी एक चित्तके अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (जान) के अधीन न होगी, तब क्या नष्ट होगी?

जिस कालमें चित्तका वस्तुके साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तुसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको विषय कर रहा है या एकाग्रताको प्राप्त है—उस कालमें जगत्‌का या जगत्‌के पदार्थोंका क्या नाश हो जायगा? गङ्गाविषयक जानके अभावसे गङ्गाका अभाव मानना, पर्वतविषयक जानके अभावसे पर्वतका अभाव मानना तथा रात्रिकालमें सूर्यविषयक जानके अभावसे सूर्यका अभाव मानना—सर्वथा प्रमाण-शून्य है। जब घटकों देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घटसे दृष्टि हटायी तो घट नष्ट हो गया, नगरपर दृष्टि पढ़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया—इस सिद्धान्तके युक्तियुक्त होनेमें कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये मर्हिं गौतमने न्यायदर्शनमें कहा है—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।

यदि विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थोंकी सत्ता नहीं मानते तो व्रतलाओं इस सिद्धान्तकी सिद्धि किस प्रमाणसे करते हो? यदि कहो कि विज्ञानसे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है इसलिये हमारे पास कोई प्रमाण नहीं तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होनेसे विद्वानोंसे उपादेय नहीं हो सकता।

यदि कहो कि प्रमाण है तो विज्ञानसे अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होनेसे आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गयी। दूसरी बात यह है कि प्रमाणको माननेसे प्रमेयकी सत्ता माननी अनिवार्य हो जायगी। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जानने योग्य घटपटादि वाह्य पदार्थोंकी विज्ञानसे अतिरिक्त सत्ता है।

उपर्युक्त योगसूत्रपर मर्हिं व्यासजी भाष्य करते हुए कहते हैं—

ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युद्रमपि न गृहेत, तस्मात्स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुष-साधारणः।
(योगभाष्य)

जब हम किसी वस्तुको देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण भागोंको एक कालमे कदापि नहीं देख सकते। घटका उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि एकदम नहीं देख सकते। तो जिस भागको देखते हैं क्या उस भागसे भिन्न अन्य भाग नहीं हैं? यदि घटपृष्ठको देखें तो दृष्टिस्थिवार्दीके मतमेउस घटका उदर, निम्नभाग तथा अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है, इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त कालमे घटपटादि पदार्थोंकी स्वतन्त्र सत्ता है और इसको सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो सर्वजनोंके अनुभवका विषय हो उसका निरादर करना उचित नहीं है।

यदि विज्ञानसे वाह्य पदार्थोंको भिन्न न माना जाय तो घटकों देखनेसे पटज्ञान और पटको देखनेसे नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानोंका कारण व्रतलाना होगा। विना कारणके कार्य नहीं होता—इसलिये विज्ञानसे अतिरिक्त घटपटादि पदार्थ हैं जिनके साथ सम्बन्ध होनेसे घटादिविषयक जान उत्पन्न होते हैं। घटपटादिकी पृथक् सत्ता है, जब घटके साथ मनका योग हुआ तो घटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—घटकी नहीं, जब पटके साथ योग हुआ तो पटज्ञानकी उत्पत्ति हुई—पटकी नहीं।

यदि ज्ञानमात्रसे भूतभौतिक सृष्टिकी उत्पत्ति मानी जाय तो जानके कल्पित मोदकोंसे रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकोंकी क्या आवश्यकता होगी। ऐसे व्यक्ति ‘मनोराज्यके शेखाच्छिली’ को वास्तविक भोजनादि वाह्य पदार्थोंके विना ही तृप्ति आदि होनी चाहिये, परन्तु हाती कदापि नहीं। इसलिये न तो वाह्य

पदार्थोंका अमाव ही है और न मनसे वाह्य जगत्‌की उत्पत्ति हुई है किन्तु वाह्य जगत् और उसके घटपटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ—स्वतन्त्र हैं। जिन जिज्ञासु सज्जोंको अधिक विचारकी आवश्यकता हो वे उपर्युक्त सूत्रोंपर व्यासमाध्य तथा बाच्सप्तिटीका और शाङ्करभाष्यका स्वाध्याय करें।

(२) मोक्षका स्वरूप

दार्शनिक जगत्‌में मोक्षके विषयमें भी बहुत कुछ विचार हुआ है। मोक्षका स्वरूपनिर्णय करनेमें तो कई लोगोंके सिद्धान्त परस्पर विलक्षण प्रतीत होते हैं। कारण यह है कि सब लोगोंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया है।

मोक्षके स्वरूप और उपायादिपर भिन्न-भिन्न दृष्टियोंकी आलोचना करनेसे पूर्व यदि हम मोक्ष शब्दके अर्थपर ध्यान दें तो हमारा विचार है कि इस विषयके बहुत-से प्रथमोंका स्थान समाधान हो जायगा।

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दोंका अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा ? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है—दुःख। दुःख तथा बन्धन पर्याय कह दिये जायें तो कुछ अनुचित न होगा। मोक्षका शब्दार्थ निकल आया—दुःखोंसे छूट जाना।

महर्षि गौतम न्यायदर्शनमें इसी युक्तिसे मोक्षपर विचार करते हैं। उनका सूत्र विलक्षण स्पष्ट है—

तदस्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः । (१ । १ । २२)

अर्थात् दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। मोक्षके लिये न्यायमें ‘अपवर्ग’ शब्दका प्रयोग किया गया है जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है क्योंकि जैसे मोक्ष अथवा मुक्तिका अर्थ छुटकारा है वैसे ही अपवर्गका अर्थ भी छुटकारा है; इसीलिये मोक्षका पर्याय अपवर्ग—दुःखकी अत्यन्त निवृत्तिका सूचक है। वेदान्ती कहता है कि यह लक्षण ठीक नहीं क्योंकि श्रुतियोंमें मोक्षके विषयमें कहा गया है—‘अत्र ब्रह्म समश्रुते’ यहाँ ब्रह्मानन्दका उपभोग करता है। इसलिये ऐसा लक्षण करो कि दुःख-अत्यन्त-निवृत्तिपूर्वक जहरों ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति है, वह मोक्ष है। नैयायिक कहता है कि दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है,

आनन्दप्राप्ति यद्यसाध्य नहीं, वह तो आत्माको स्वभावतः प्राप्त होगी, इसलिये वह लक्षण नहीं—जैसे मलिन वज्रका मलदोष दूर करना कथसाध्य है परन्तु मैल निकाल डालनेपर शुद्धता स्वतः प्राप्त हो जाती है—सफेर्दके लिये अन्य पुरुषार्थ अपेक्षित नहीं होता। जैसे मैल दूर करनेके लिये सावुन, सोडा, गरम जल आदि अपेक्षित हैं वैसे शुद्धताके लिये किसी वस्तुकी अपेक्षा नहीं होती, किन्तु मैल दूर होते ही शुद्धता प्रकाशित हो जाती है। ऐसे ही दुःखनिवृत्ति होते ही आनन्दप्राप्ति हो जाती है। यथा बृहदारण्यक श्रुति—‘तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्ये’—इसको दुःखोंसे छूटनेकी देर है फिर तो सम्पत्ति है। विचार किया जाय तो इसमें विवादका लेशमात्र भी अवकाश नहीं है परन्तु दार्शनिक विद्वानोंने पक्ष-विपक्षकी कुशिंश्में शुस्कर एक दूसरेको बहुत कुछ सुना डाला है।

महर्षि पतञ्जलिने मोक्षके लिये ‘कैवल्य’ शब्दका निर्धारण किया है। ‘कैवल्य’ का शब्दार्थ है ‘केवल वही होना’ अर्थात् आत्मा अपने आपमें हो और किसीके साथ उसका सम्बन्ध न हो। यद्यपि मोक्ष शब्दके अर्थके साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध ‘अपवर्ग’ का है उतना कैवल्यका नहीं है तथापि भावार्थ जैसा ‘कैवल्य’ से व्यक्त होता है वैसा न तो मोक्ष शब्दसे और न ‘अपवर्ग’ से ही। मोक्ष और अपवर्ग दुःख-निवृत्तिपर ध्यान आकपित करते हैं और ‘कैवल्य’ दुःखनिवृत्तिके अनन्तर अवस्थाविशेषपर।

बौद्ध लोगोंने मोक्षके लिये ‘निर्वाण’ शब्दको चुना है। यद्यपि दुःखनिवृत्ति और ‘निर्वाण’ पर्याय कहे जाने चाहिये तथापि बौद्धसिद्धान्त इसका घोर विरोधी है। शून्यवादी मात्यमिक कहता है कि निर्वाणका अर्थ है—‘बुझ जाना’। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है ऐसे ही जानज्योतिका बुझ जाना। यही शून्यवादके शून्यसिद्धान्तका शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु ‘शून्य’ हो जाना तो किसीको भी अभीष्ट नहीं है—तब ऐसे मोक्ष (?) के लिये कौन यक करेगा—दुःखोंसे निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्तिको अभीष्ट है, अपने स्वल्पमें स्थिति भी वहमूल्य सम्पत्ति है, परन्तु अपनेको बुझा देना अथवा उच्छेद या नाश कर डालना उन्मत्तके बिना और किसीको अच्छा नहीं लग सकता। शोक है कि बौद्ध विद्वानोंने विचारयान् तोकर भी ऐसी भयकर भूल पाल-पालकर सँभाल रखी है कि जो अत्यन्त

तानिकारक है। महर्षि गोतमने वडे प्रेमसे समझाया था कि शून्यवाद छोड़ दो, ‘परन्तु इन लोगोंने समुचित ध्यान नहीं दिया। महर्षि कपिलने भी—‘अपवादमात्रमवृद्धानाम्।’ (साख्यदर्शन १।४५) इत्यादि सूत्रोंमें बहुत कुछ प्रयत्न किया, परन्तु ये मार्गिके लाल नहीं समझे। अन्ततोगत्वा शङ्कर भगवान् आये। शङ्कराचार्यने कहा, यदि ‘शून्य’ ही परमतत्त्व है तो उस शून्यको या शून्य अवस्थाको कोई अनुभव भी करता है या नहीं। यदि अनुभव करनेवाला है, तो वह शून्यसे भिन्न भावपदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहो शून्यको अनुभव करनेवाला शून्य ही है तो यह बदतोव्याघात है—जैसे कोई कहे कि ‘मैं नहीं हूँ’ इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता। यदि कहा जाय कि शून्यका कोई साधी नहीं है, तो इस प्रमाणशून्य शून्यकी सत्ता कैसे सिद्ध करोगे। यदि कहो कि ‘शून्य’ अभावात्मक है, उससे भिन्न कोई भावपदार्थ नहीं है जो शून्यका अनुभव करे, तो यह बनाओ कि घटादि पदार्थोंके भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थके ज्ञानाधीन क्यों हैं—वस्तुका भाव हो या अभाव, परन्तु उसके ज्ञानेवाले साधीका भाव ही मानना होगा क्योंकि कोई पदार्थ साधीशून्य नहीं हो सकता—यदि साधी हो तो शून्य नहीं हो सकता। भगवती मैत्रेयी-को त्रस्तिपि याज्वल्यने यहीं वात सन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषिने कहा था—‘अविनाशी वारेऽयमात्मा नुच्छित्तिधर्मा’—देखि, यह साधी आत्मा अविनाशी है, इसका उच्छेद कभी नहीं होता।

जैन लोग आत्माको श्रीरपरिमाण-हस्तीका आत्मा हस्तीशरीर जितना ल्वा-चौड़ा, घोड़ेका आत्मा घोड़ेके शरीर जितना और पिंडिलिकाका आत्मा उसके अपने शरीर जितना मानते हैं। श्रीरपरिमाण माननेसे सकोच्च-विकास-याला मानना होगा और जो पदार्थ सङ्कोच्च-विकासवाला होता है वह रवरके समान साययव होता है। सावयवके लिये घटके समान परिणामी होना आवश्यक है। अतः जैनदर्शनमें भी आत्मोच्छेद दोष उपस्थित है।

महर्षि पतञ्जलि इन सब वातोपर विचार करके इस परिणामपर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन हैं तथा आत्माकी अपने स्वरूपमें स्थित ही मोक्ष है। सत्र यह है—

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप-प्रतिष्ठा वा चित्तशक्तिरिति । (योग० ४। ३४)

‘पुरुषको भोग तथा अपवर्ग दिलानेके कार्यसे निवृत्त होकर मन और बुद्धिका जो अपने कारणमें लीन हो जाना है उसका नाम कैवल्य है, अथवा यों समझो कि चेतनशक्तिका अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होना।’

कार्य-गुणोंका अपने-अपने कारण-गुणोंमें लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान निरोध स्स्कारोंका मनमें, मनका अस्मितामें, अस्मिताका बुद्धिमें, बुद्धिका अव्यक्त प्रकृतिमें लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा (पुरुष) को भोग देनेके लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणोंको कार्यरूपमें परिणत करती है तो गुणोंमें उत्तरोत्तर कारणकार्यभाव उत्पन्न होकर कार्यधमता हो जाती है और जब ये गुण अपवर्ग दिलानेको प्रवृत्त होते हैं तो क्रमानुसार अपने-अपने कारणमें लीन होते जाते हैं—इस भावको इसलिये ‘कैवल्य’ कहा गया है कि ऐसा होनेसे ही पुरुषके भोग समाप्त होते और कालान्तरमें मन, बुद्धि, चित्त, अहकार-का आत्मासे सम्बन्ध नहीं रहता। इनका सम्बन्ध ही बन्धन है—जब इनसे सम्बन्ध नहीं रहा तो वही कैवल्य है। उस अवस्थामें, जब कि गुण तो अपने-अपने कारणमें लीन होते होते प्रकृतिमें लीन हो गये—गुणोंके भोक्ता अर्थात् बुद्धिको भोग्य और अपनेको भोक्ता माननेवाले स्वृत्तिक मनके अधिष्ठाता पुरुषका क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है या छुप हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? महर्षि कहते हैं कि वह नष्ट नहीं होता, उसका परिणाम नहीं होता, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्तिका विपरिलोप नहीं होता—वह सदा रहनेवाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूपमें स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने आपको भी प्रकाशित करता है और अपने सामने आये हुए घटपटादि पदार्थोंको भी प्रकाशित करता है। यदि घटपटादि पदार्थ न हों तो उनके अभावको ही प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धिमें पड़े हुए प्रतिविम्बको भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते तब भी प्रकाश ही करता है। मन-बुद्धिके विना जो आत्माका प्रकाशित होना है, यही आत्माकी स्वरूपमें अवस्थिति है—यही उसका कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसीको मोक्ष कहते हैं। इस विषयमें श्रुतिकी भी सहायता है। शान्देशोपनिषद् ७। २४। १ में

महर्षि सनकुमारने नारदको उत्तर दिया है—‘स भगवः कसिन् प्रतिष्ठित इति ? स्वे महिमीति ।’—तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है ? अपनी महिमामें अर्थात् अपने स्वरूपमें ।

मोक्षमें आनन्दप्राप्ति या व्रह्माकारताके सम्बन्धमें योगसूत्रोंमें कुछ नहीं कहा गया। कारण यह है कि सुख-दुःखकी अनुभूति अन्तःकरणके द्वारा ही होती है और अन्तःकरणके साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मोका अपने (आत्मा) को धर्मी मानना ही मिथ्या ज्ञान है। इधर सर्वगात्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञानके रहते मोक्ष नहीं हो सकता। तब मोक्षमें आनन्द किस करणसे भोगा जायगा? विना करणके भोग असम्भव है और विना भोग-के आनन्दकी सिद्धि कठिन है। यदि कहा जाय कि उसका स्वरूप ही आनन्द है, तो फिर भोग या प्राप्ति कैसी? यह स्वरूपस्थिति ही हुई। कहा जा सकता है कि चेतनरूपता या चितिशक्तिकी स्वरूपस्थिति भी तो सन्देह-भरी है—चेतनताको किस करणसे अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है नहीं। वात यह है कि करणके द्वारा अपनेसे भिन्न पदार्थोंका अनुभव होता है—अपने स्वरूपके लिये—अपनी सत्ताके ज्ञानके लिये किसी करणकी आवश्यकता नहीं है जैसा कि वृहदारण्यको-पनिषद्में कहा है—

येनेद॑ सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ॥
विज्ञातारम्भे केन विजानीयात् । (४१५।१२५)

अर्थात् 'जिस (वात्मस्वरूप) से सबको जानता है उस (वात्मस्वरूप) को किस (करण) से जाने, अरे जाननेवालेको किससे जाने !' इसीलिये महर्षि पतञ्जलिने यिना किसी करण या करणकी क्रियाके वात्माकी स्वरूप-स्थितिको कैवल्य मोक्ष माना है। यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'कैवल चेतनरूपसे स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षणकी अपेक्षा नहीं रखता क्योंकि 'दुःख-स्वरूपनिवृत्ति' और 'आनन्दावासि' का इस कैवल्यस्थितिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विषय और करणसे घून्य आत्मस्थिति (कैवल्य) को मोक्ष मानना कई एक विद्वानोंको चन्चिकर प्रतीत नहीं होता । वे कहते हैं कि शिलके समान जडभावको प्राप्त हो जाना मिर्च छिड़ाखानों[हस्तशिल्प](#) महर्ता बैगु/छातिसगढ़

कैवल्यपद किसी कामका नहीं है। परन्तु विचार किया जाय तो दीपकबत् प्रकाशरूप स्थितिको शिला-समान समझना विद्वत्तासे बहुत ही इधरकी बात मालूम पड़ती है। आत्माको स्वत् प्रकाश ज्योतिःस्वरूप माननेवालेपर यह निकम्मा आक्षेप करना कि वह शिलाके समान परप्रकाश्य जड़रूप मानता है, सर्वथा उपेक्षणीय है। 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' को पतञ्जलिका मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है वहाँ श्रुतिसम्मत भी है।

आत्माको सच्चिदानन्दस्वरूप मानना, समझानेके लिये तो उपर्युक्त हो सकता है, परन्तु यदि इसपर आग्रह करके सिद्धान्त मान लिया जाय तो वेदान्तीके साथ इस विषयमें योगशास्त्रीका मतभेद हो जाना अनिवार्य है। योगी कह सकता है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूपका एक अर्थ नहीं है क्योंकि सच्चिदानन्दस्वरूपका अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना। एक ही बस्तु तीन स्वरूपोंवाली नहीं हो सकती—ऐसा तो हो सकता है कि एक तो उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों। ‘जो सत् होता है वह चेतन भी होता है’—इस व्यासिको कोई विद्वान् स्वीकार करनेके लिये उद्यत नहीं हो सकता क्योंकि घटपटादि जड पदार्थ सत् (अस्तित्व रखते) हैं परन्तु चेतन नहीं है। यदि घट-पटादिको चेतन माना जाय तो घटपटादिको फोड़ने-बालेको हत्याका अपराधी मानना होगा इत्यादि। इसी युक्तिसे सत्ता रखनेवाले पदार्थ आनन्दरूप नहीं कहे जा सकते। अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके धर्म (गुण) हैं। क्योंकि ‘जो चेतन होता है वह सत् होता है’ इस व्यासिका खण्डन नहीं हो सकता। यदि कोई खण्डन करनेको अप्रसर हो तो उसे ऐसा चेतन दिखाना होगा जो असत् हो—परन्तु यह सर्वया असम्भव है कि कोई चेतन तो हो और सत्ता न रखता हो। वेदान्तीके लिये कठिनता यह है कि वह आत्माको गुण-गुणी या धर्म-धर्मी-सम्बन्धसे युक्त मानना अद्वैत सिद्धान्तकी हानि मानता है क्योंकि निरुण श्रुति उसके ऐसा माननेमे भागी व्याकोपको प्राप्त हो जाती है। यह ठीक है; परन्तु जो श्रुति गुणगुणीभावका निषेध कर रही है वह गला फाइ-फाइकर यह भी चिछा रहा।

चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुणका सम्बन्ध नहीं है। यदि सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'चेता' (चिद्रूप) न कहती। श्रुति आत्माको चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी (आनन्दादि) गुणका वर्णन नहीं करती वल्कि 'केवल' कह रही है, इससे सिद्ध है कि आत्माका वास्तविक स्वरूप 'केवल चैतन्य' ही है, उसके साथ आनन्दादि नहीं। यदि कहा जाय कि आत्माको आनन्दस्वरूप मान लिया जाय तो आनन्दविधायक वचनोंकी सङ्गति भी लग जायगी और जो आनन्दस्वरूप होता है वह चेतन अवश्य होता है और जो चेतन होता है वह सत् भी अवश्य होता है— यह व्यासि भी चरितार्थ हो जायगी तो यह कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि यदि ऐसा मानना श्रुतिको अभीष्ट होता तो 'साक्षी चेता' और केवल तथा निर्गुण न कहती किन्तु 'आनन्दस्वरूप ही है' ऐसा कहती, परन्तु ऐसा तो श्रुतिने कहा नहीं। इसलिये निर्धिग्रह निर्धर्मक चेतनकी जो स्वरूपस्थिति है वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियों इसी स्वरूपस्थितिकी महिमाका व्याख्यान है और कुछ नहीं।

सक्षेपमे थोगी पतञ्जलिका सिद्धान्त यह है कि 'दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्षको अनुभव करनेवाला कोई चेतन अपेक्षित है जो दुःखाभावरूप जड़ नहीं हो सकता किन्तु दुःखाभावका साक्षी-अभावका द्रष्टा चेतन ही हो सकता है। इसलिये नैयायिकका अपवर्ग विना 'चेतनस्वरूपमें स्थिति' के माने कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। और यदि आनन्दप्राप्तिको भावपदार्थ माना जाय—दुःखाभावका दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्दको भी कोई भोगनेवाला होना चाहिये, क्योंकि विना चेतनके कोई भोग्य भोगा नहीं जा सकता। ऐसी अवस्थामें भोगके लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि) की आवश्यकता माननी होगी परन्तु वेदान्ती ऐसा नहीं मान सकता क्योंकि इससे आत्मासे भिन्न आनन्दरूप कोई भावपदार्थ सिद्ध होता है जो अद्वैत सिद्धान्तके विरुद्ध है तथा मोक्षका आनन्द नाशवान् मानना पड़ता है। तब यही कहना होगा कि आत्माके चैतन्यस्वरूपसे भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूपमें स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे नैयायिक हो

या वेदान्ती हो, योगप्रतिपादित कैवल्यकी उपेक्षा नहीं कर सकता।

(३) चित्त और आत्माका भेद

वहुत लोगोंका विचार है कि चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। इस सिद्धान्तके माननेवाले बौद्ध हैं। योगशास्त्रमें इस विषयपर भी विचार किया गया है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्त 'आत्मा' नहीं है और न केवल चित्तसे काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धिसे भिन्न आत्माकी पृथक् सत्ता है। यथा—

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्त्वयमोः पुरुषस्यापरिणामित्वाद्।

(योग० ४। १८)

'चित्तकी वृत्तियाँ पुरुषको सदा ही ज्ञात हैं, क्योंकि पुरुष अपरिणामी होता हुआ चित्तके परिणामोंका साक्षी तथा प्रभु है।'

तात्पर्य यह है कि चित्त अथवा बुद्धिमें परिणाम होते हैं, आत्मामें परिणाम नहीं होता। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्तकी वृत्तियाँ ही चित्तके परिणाम हैं। वृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहती—घट-सम्बन्धसे घटाकार, पट-सम्बन्धसे पटाकार, गृह-सम्बन्धसे गृहाकार होती रहती है—यही चित्तका परिणाम है। परिणाम तीन प्रकारका है—धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम और अवस्थापरिणाम। जैसे घट-पटादि पदार्थोंमें धर्म, लक्षण और अवस्थापरिणाम होते हैं—मृत्तिकाके चूर्णका पिण्ड बनता है, पिण्डका घट बनता है, फिर घट क्रमः पुराना होता जाता है। वैसे ही चित्तमें भी परिणाम होता है। एक परिणामके अनन्तर दूसरा परिणाम होता है, दूसरेके अनन्तर तीसरा। इस प्रकार चित्त परिणामी पदार्थ है। परिणामी पदार्थ जड़ होता हुआ अनित्य होता है इसलिये चित्त जड़ और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट-पटादिके समान किसी ज्ञाताकी अपेक्षा करती है, अतः चित्त ज्ञेय है तथा आत्मा उसका ज्ञाता है। चित्तमें चाहे कोई परिणाम हो, चित्त उस परिणामका कभी द्रष्टा या ज्ञाता नहीं हो सकता। बौद्ध क्षणिक विश्वनावादी हैं ही, अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकारसे अनावश्यक ही है। आशय यह है कि जिस चित्तमें परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक

अवस्था (सत्त्वात्मक मनके परिणाम) को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्तका वह स्वामी है और स्वामी अपने भूत्यपर अवश्य आसन करता है । यदि आत्माको परिणामी माना जाय तो उसके परिणामोंका साक्षी कोई और चेतन मानना होगा, वह भी परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना होगा । अतः इस अनवस्थासे बचनेके लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है ।

बौद्ध विद्वान् कहता है कि निःसन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतनको चित्तका स्वामी माना जाय । चित्तसे भिन्न इसलिये चेतनकी आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड़ है और जड़के लिये किसी चेतन प्रकाशकका होना अनिवार्य है । हम (बौद्ध) कहते हैं कि जड़ होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है । जैसे अग्नि घटादिको प्रकाशित करती है और स्वयं भी प्रकाशित होती है, इसी प्रकार चित्त भी स्वप्रकाश है अर्थात् विषयका भी प्रकाशक है और वृत्तियोंका भी । अतः चित्तसे भिन्न आत्मा माननेकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तको स्वप्रकाश मानना ठीक नहीं है । यथा—

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् । (योग० ४ । १९)

अर्थात् ‘चित्त दृश्य है इसलिये चित्तको स्वप्रकाश नहीं कह सकते ।’ जो दृश्य होता है वह घटादिके समान परप्रकाश्य होता है । चित्त भी दृश्य है, अतः वह भी परसे प्रकाशित है—स्वतः प्रकाशशील नहीं है । अग्नि यद्यपि प्रकाशशील है तथापि उसका प्रकाश जड़ है—अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाशसे घटपटादि पदार्थ प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाशमें अमुक-अमुक कार्य हो रहे हैं, यही अग्निकी दृश्यता अर्थात् जड़ता है । इसलिये इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जडपरिणामी है ।

वास्तवमें जिस प्रकार घटपटादिके लिये जैसे अग्निके प्रकाशकी आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्निके जानके लिये यद्यपि अन्य अग्निकी अपेक्षा नहीं; तथापि दृश्य होनेसे किसी द्रष्टाकी तो आवश्यकता वनी ही रहेगी, क्योंकि अग्निमें जान नहीं है ।

आत्माकी चित्तसे पृथक् सज्जा सिद्ध करनेके लिये और दर्गनामें भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियोंसे आत्माकी सिद्धि की गयी है । इस छोटेसे निवन्धमें सब वातोंका उल्लेख करना बहुत ही कठिन कार्य है । अतः लेखके आकार-प्रकारपर विचार करते हुए यही उचित प्रतीत होता है कि लेखनीको विराम दिया जाय ।

विरले योगी —

(लेखक—स्व० योगिवर्य महात्मा श्रीचिदानन्दजी यति)

अवधु निरपक्ष विरला कोई, देख्या जग वहु जोई—
सम रस भाव भला चित जाके थाप उथापन होई ।
अविनाशीके घरकी वाताँ जानेंगे नर सोई । अवधु०
राव रंकमें भेद न जाने कनक उपल सम लेखे ।
नारि नागिनीको नहिं परिचय ते शिवमन्दिर देखे । अवधु०
निन्दा-स्तुति श्रवण सुनीने हर्ष शोक नवी आणे ।
ते जगमें योगीसर पूरा नित चढ़ते गुण ठाणे । अवधु०
चन्द्र समान सौम्यता जाकी सागर जेम गँभीरा ।
अप्रमत्ते भारंड परै नित सुर गिरि सम शुचि धीरा । अवधु०
पंकज नाम धराय पंक सुं रहत कमल जिम न्यारा ।
'चिदानन्द' ऐसा जन उत्तम सो साहेबका प्यारा । अवधु०

पातञ्जल योगदर्शनकी प्राचीनता

(लेखक—श्रीमद्योगचार्य श्रीमन्मौकिकनाथजी नैरङ्गन)



द दर्गनगास्त्रका प्रादुर्भाव कैसे हुआ ? कव हुआ ? और कहासे हुआ ? इत्यादि प्रश्नोके उत्तर तो वडे-वडे दार्ढनिकोंकी प्रतिभाको भी अगम्य-से है। हॉ, हमारा यावन्मात्र अध्यवसाय है—‘श्रुति, स्मृति, पुराण और इतिहासादि सदूग्रन्थोमे जो-जो अध्यात्मविचार विद्यमान हैं उन्हीं सदुपदेशोंकी मीमांसा दर्गनगास्त्रोंमें समीचीनतया सगृहीत है।’ दर्गनगास्त्रोके विशेष महत्वका कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साझो-पाझ तथा सविस्तर विवरित रहते हैं। साथ ही इनकी रचनाचातुरी भी चतुरचित्तको चमत्कृत करनेवाली होती है। जिस प्रमेयकी सिद्धिमे सैकड़ों ग्रन्थ गीत ही गाया करते हैं, दर्शनशास्त्रका एक नन्हा-सा सूत्र भी चट्टसे उसकी सिद्धि कर दिखाता है। अतएव ‘गागरमें सागर’ की कहावत दर्गनगास्त्रमें ही अधरणः चरितार्थ होती है।

दर्शनोंकी रचनाशैली

दर्गनगास्त्रोंका श्रीगणेश ‘अथ’ शब्दसे और उसकी चरम सीमा ‘इति’ शब्दसे होती है। परन्तु यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है। कई दर्गन ऐसे भी हैं जिनकी स्वतन्त्रतामें ‘अथ’ और ‘इति’ कुछ भी वाधा नहीं डाल सकते। तथा अनेक दर्शन ऐसे भी हैं जिन्होने ‘इति’ शब्दका काम आम्रेडितसे अर्थात् द्विरुक्तिसे ही सिद्ध कर लिया है।

गदा-पद्यकी अपेक्षा दर्शनशास्त्रोंकी मूर्ति प्रायः छोटे-वडे विविध सूत्रोंसे लपेटी रहती है। अतः इन सूत्रोंपर न तो कोई कवि ही कठाक्ष कर सकता है और न छन्द-शास्त्र ही इनपर अपने दण्डकोंका द्वाव डाल सकता है। अतएव दर्गनगास्त्रका छोटे-से-छोटा सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र-स्वच्छन्दरूपसे वडे-वडे अखाड़ोंमें भी अकड़ा ही करता है।

दर्गनगास्त्रोंकी गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त अनुमान-प्रमाणके आधारपर ही निर्भर है। हॉ, अनुमानका लिङ्ग प्रायः उद्भूतरूपमें होना चाहिये, क्योंकि अनुमानका लिङ्गजन ही आधार है। माधवाचार्यने सर्वदर्शनसप्रहम-

जिन चार्वाकादि सोलह दर्गनोका सप्रह किया है उन्हींमें पाणिनिदर्शन भी गुँथा हुआ है। जब हमारी दृष्टि पाणिनि-के सूत्रोंपर पड़ती है तो—

‘लोपः शाकव्यस्य’	(८।३।१९)
‘अवद् स्फोटायनस्य’	(६।१।१२३)
‘ऋतो भारद्वाजस्य’	(७।२।६३)
‘ई३ चाकवर्मणस्य’	(६।१।१२०)
‘लडः शाकटायनस्यैव’	(३।४।१११)
‘वा सुप्त्यापिशले’	(६।१।९२)
‘तृतीयादिषु भापितपुंस्क पुंचालवस्य’	(७।१।७४)

इत्यादि विविध सूत्रोंमें शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाकवर्मण, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, चन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणोंके नाम और व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्त स्पष्टतया देखे जाते हैं। इसी प्रकार सांख्यदर्शनमें भी—

अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिख ।	(६।६८)
लिङ्गशारीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्य ।	(६।६९)

इत्यादि विविध आचार्योंके नाम उल्लिखित मिलते हैं। वेदान्तदर्शनमें भी—

‘बादरायण’	(१।३।२६)
‘बादरि’	(१।२।३०)
‘जैमिनि’	(१।२।२८)
‘आइमरथ्य’	(१।२।२९)
‘भौहुलोमि’	(१।४।२१)
‘काशकृत्स्न’	(१।४।२२)

इत्यादि दार्ढनिक महर्षि योगियोंके नाम तथा तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजूम्ममाण दिखायी देते हैं। अतः स्पष्ट है कि पाणिनिसे पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन केवल एक शब्दगास्त्रकी ही पुष्टिपर विद्यमान थे। तथा कपिलदेवसे प्रथम या तत्समयमें ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकोंके दर्शन केवल सांख्यशास्त्रके सम्बन्धमें ही रचे गये होंगे। एव वेदान्ततत्त्वका गहन सिद्धान्तमाण्डार भी पूर्वोक्त बादरायणादि परमयोगियोंकी देखरेखमें भरपूर

रहता होगा। परन्तु शोक है कि उन दर्शनोंके अभावसे आज एक अति साधारण वालक भी चट्टे कह उठता है कि, 'अजी ! आप क्या कहते हैं, अमुक-अमुक दर्शन तो प्राचीन हैं ही नहीं !' अस्तु ।

दर्शनशास्त्रकी गणनापद्धति निर्धारित न होनेपर भी आज पड़दर्शनोंकी कुरसी अच्छल है। इन्हीं छः दर्शनोंमें पातञ्जलदर्शनका नाम गुणा हुआ है। इसीको योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ लोगोंका कथन है कि 'कलियुगके प्रारम्भसे प्रथम ही योगशास्त्रका प्रचार लोप हो गया था। यदि ऐसा न होता तो श्रीकृष्णभगवान् ऐसा क्यों कहते—

स कालेनेह महता योगो नष्टं परन्तप ॥
(गीता ४।२)

अब रहे पातञ्जलसूत्र, इनमें तो आकाशकी पाताल ही दूसी हुई है। वेदादि सच्चास्त्र भी साक्षी नहीं देते कि पातञ्जलका सिद्धान्त सर्वथा मान्यतम है।' वस, इन्हीं वितकों और कुतकोंका समाधान करना इस लेखका प्रधान उद्देश्य है।

पातञ्जलकी प्राचीनतामें इतर दर्शनोंके प्रमाण

इस विषयमें केवल पड़दर्शनोंका ही विलोडन करना है। क्योंकि योगमार्गका भाण्डार इतना विराट् है कि वेदोंसे लेकर साधारण-से-साधारण कथा-कहानियोंमें भी उसके अमूल्य रत्नोंकी गणना ही नहीं हो सकती। फिर उन रत्नोंका उद्वरणरूपसे संग्रह किया जाय तो महाभारतसे भी चतुर्युण विस्तृत 'योगरत्नमहासागर' का पोथा बन सकता है। यदि ईश्वरेच्छा वलीयसी होती रहेगी तो वेदादि शास्त्रोंके तत्त्वयोगरत्नके नमूने 'कल्याण' के उपकरणमें समर्पण किये जायेंगे।

इन पड़दर्शनोंमें श्रीकपिलभगवान्का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषयकी पुष्टिमें, 'कृष्णिं प्रस्तुं कपिलम्' (श्वेता० ५।२) इत्यादि श्रुति ही शिरोधार्यं तमक्षी जाती है। तथा महाभारतमें भी—

ज्ञान च लोके यदिहान्नि किञ्चिद्

सांख्यागतं तत्त्वं वृहन्महात्मन् ।

(महा० शान्ति० ३०१।३०९)

अर्थात् इस सांख्यमें विभिन्न प्रकारके सम्पूर्ण ज्ञान साखोंसे ही ग्रास हुए हैं। 'सांख्यदर्शन' का रहस्य है Hinduisrn Disseverd Server https://dsc.ggg/dharma

पुरुष-प्रकृतिका ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा वा क्षेत्रज कर्तुर्त्व-भोक्तृत्वादिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है, और त्रिगुणात्मिका जड़लपा प्रकृति यानी प्रधान अर्थात् मूल प्रकृति पुरुषसन्निधिमात्रसे ही लोहचुम्बकन्यायसे चैतन्यताको प्रात होकर महदादिकमसे चराचर सासारका विसर्ग करती है। पुरुष जबतक प्रकृतिके गुणोंमें वैधा हुआ है, दुखी है, जब योगाङ्गानुषासनसे अपने स्वरूपका वास्तविक ज्ञान हासिल कर लेता है, तब सब वन्धनोंसे मुक्त हो जाता है। पुरुष-प्रकृतिके स्वरूपका सच्चा ज्ञान ही सांख्यशास्त्रकी मूलभित्तिका है। अतएव केचित् कलाकलापी महाग्रन्थोंका अपलाप है कि कपिल भगवान् तो निरीश्वरवादी निरे नास्तिक थे, क्योंकि आपने पुरुष-प्रकृतिके ज्ञानमात्रसे ही कृतकृत्यता मान ली है। पर वास्तवमें श्रीकपिलभगवान् निरीश्वरवादी या नास्तिक तो नहीं थे। क्योंकि 'ईश्वरेच्छासिद्धिः सिद्धा' (सं० द० ३।५७) 'इस प्रकारके ईश्वरकी सिद्ध सिद्ध है' की ढाप उनके दर्शनमें समुल्लिप्ति है ही। अर्थात् सन्निधिमात्रसे प्रकृति और पुरुषका प्रेरक तथा संसारसर्ग-विसर्गका निमित्त कारण ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है। कुलालके सदृश गारेका द्वेर लगाकर थापा-थापी करना ईश्वरका काम नहीं है।

पातञ्जलदर्शन और सांख्यदर्शन

पातञ्जलका सूत्र है—'वृत्तयः पञ्चतत्त्वयः फ़िष्टाफ़िष्टाः ।' (पात० स० १।५) 'चित्तकी वृत्तियों फ़िष्ट और अफ़िष्ट पॉच प्रकारकी होती हैं।' सांख्यदर्शनमें भी यही सूत्र अक्षरशः पाया जाता है। पतञ्जलिने चित्तवृत्ति-निरोधोपाय 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध ।' (पात० स० १।१२) 'अभ्यास और वैराग्यसे वृत्तिनिरोध होता है' लिखा है। कपिलजीने भी इसी सूत्रको व्यत्यय कर— 'वैराग्यादभ्यासाच्च' (३।३६) 'वैराग्य और अभ्याससे होता है' लिखा है। पतञ्जलिने 'तदा इष्टः स्वरूपेऽवस्थानम्' (१।३) 'तब द्रष्टाका स्वरूपमें अवस्थान होता है' इस सूत्रसे आत्माका वास्तविक स्वरूप दरसाया है। कपिलने भी 'तन्निवृत्ताषुपग्रान्तोपरागः स्वस्य ।' (२।३४) 'उसके निवृत्त और धान्तरज दोनेपर वह स्वस्य होता है' लिखकर पूर्वोक्त तत्त्वको ही स्पष्ट किया है। व्युत्थान अवस्थामें भी आत्माका स्वरूप 'इत्तिसास्पमितरब्र' 'अन्यत्र वृत्तिरूप नृप रहता है।' | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

(पात० सू० १।४) 'कुसुमवच्च मणिः' (सां० सू० २।३५) 'कुसुमके समान जैसे मणि।' इन दोनों सूत्रोंसे न्यष्ट हो जाता है। कपिलके 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः' (१।६१) 'सत्त्व, रज और तम इन तीनोंकी साम्यावस्था ही प्रकृति है।' इत्यादि सूत्रमे समारकी उत्पत्तिके साथ-साथ पुरुषके भोग और मोक्षका कारण भी प्रकृतिको माना है। इस रहस्यको पतञ्जलिने भी 'प्रकाशक्रियास्थितिगील भूतेन्द्रियात्मक भोगा-पर्वर्गार्थं दृश्यम्' (२।१८) 'प्रकाश, क्रिया और स्थिति दृश्यका स्वभाव है। भूत और इन्द्रिय उसके स्वरूप हैं और भोग और अपवर्ग उसके प्रयोजन हैं।' इस सूत्र-से सिद्ध किया है। पतञ्जलिका सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्व धर्म आत्माके नहीं हैं, सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा द्वुष्ठिवृत्तिका अनुसरण कर सुख-दुःखादि-धर्मवान् देखा जाता है। कपिलका भी यही सिद्धान्त है। क्रमग.—

दृष्टा दशिमाग्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य। (यो० सू० २। २०)
उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात्। (सा० सू० १। १६५)

योगदर्शनकी विवेचना है कि अविद्याग्रन्थिका जबतक सर्वतोभावेन तिगेभाव नहीं होता, तबतक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, ससाररूपी नान्यगालामे पुनः-पुनः जन्म लेकर जात्यायुर्भाँगात्मक सिनेमा टॉकीके सीन (दृश्य) उसे देखने ही पड़ेंगे। यही भाव सांख्यदर्शनका भी है। क्रमग.—

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भाँगा। (यो० सू० २। १३)

'मूलके रहते हुए उन कर्मोंका विपाक जन्म, आयु और भोग है।'

सस्कारलेशतस्तस्मिद्द्विः।

'सस्कारलेशसे उनको सिद्धि होती है।' इन्हीं सिद्धान्तोंकी साम्यताका ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्णभगवान्ने बड़े मधुर शब्दोंमें दिया है—

सारथयोगौ पृथग्वालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

(गीता ५।४)

साम्य और योग पृथक् हैं ऐसा मूर्ख कहते हैं, पण्डित नहीं। ऐसा, यह तो हुड़ी श्रीभगवान्की करुणाशृष्टि। परन्तु आश्रव्य यह है कि साम्यदर्शनके सिन्हद्वारपर ही एक वीरभद्र महाराज ऐसा दृढ़ खूंटा गाढ़कर बैठे हैं कि चार-वार लिलानंपर भी जरा-सा टस-से-मस नहीं होते।

प्रथम तो उनके दर्शनसे कुछ घवराहट-सी हो गयी थी, परन्तु कुछ परिचय होनेपर हमें प्रसाद मिला कि योगदर्शन सांख्यदर्शनसे बहुत प्राचीन है। उन वीरभद्र महाराजका यह परिचय है कि—

न वयं पट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्। (सा० सू० १२५)

'हम वैशेषिकादि गाल्लोंकी भौति पट्पदार्थवादी नहीं हैं।' इनका दृढ़तर अध्यवसाय है कि कपिलके सांख्यदर्शनसे कणादका वैशेषिक दर्शन प्राचीन है। इसलिये प्रथम इनका विचार हो ले।

पातञ्जलदर्शन और वैशेषिक दर्शन

यद्यपि वैशेषिक दर्शनका प्रतिपाद्य विषय द्रव्यगुण-कर्मादि छः पदार्थोंकी विवेचना है, तथापि मोक्षमार्ग-व्यासङ्गमें तो कणादको भी पातञ्जलसूत्रोंका आश्रय लेकर धीमी-धीमी चालसे चलना पड़ता है। पातञ्जलमे मोक्षका लक्षण—'तदभावात् सयोगभावो हानम्, तदद्वद्वोः कैवल्यम्।' (२।२५) लिखा है। इसीकी पूरी-पूरी नकल कणादके वैशेषिक दर्शन—'तदभावे सयोगभावोऽप्रादुर्भवित्वं मोक्षः।' (५।२।१८) 'उसके अभावमें सयोगका अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है।' में देखी जाती है। पूर्वोक्त सूत्रके भावार्थके साथ-साथ अक्षरोंकी साम्यावस्था भी सम्यक् उद्भूत ही है। कणादको अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है, अतएव आपने मोक्षमार्गकी प्रक्रिया—'आत्म-कर्मसु मोक्षो व्याख्यातः।' (६।२।१६) लिखी है। चन्द्रकान्त इस सूत्रका भाष्य—'आत्मकर्मसु=यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः' ऐसा करते हैं। पातञ्जलके—'क्लेशमूलः कर्माणयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय।' (२।१२) के आधारपर ही—'दृष्टादृष्टप्रयोजनाना दृष्टाभावे प्रयोजन-मभ्युदयाय।' इस कणादके सूत्रकी सृष्टि हुई। योगसूत्रोंके सद्वा कणादसूत्रोंकी चरम सीमा भी 'इति' अबद्वे उल्लिखित ही है। अतः दार्शनिकोंका निर्गंल निश्चय है कि पातञ्जल-सूत्रोंका विकास कणादके सूत्रोंसे बहुत प्राचीनतम कालका है।

पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन

जब हम गौतमके न्यायदर्शनका निरीक्षण करते हैं तो उसमें भी अष्टाङ्गयोगविना गति नहीं। यद्यपि वैशेषिक-के सद्वा गौतमका प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण-प्रमेयादि' सोबह पदार्थोंके विवेचनपर ही निर्भर है, तथापि मोक्ष-

धामकी पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोगकी ही माननी पड़ी। गौतमका सिद्धान्त है कि वाधालक्षण दुःखके अत्यन्ताभाव-का नाम अपवर्ग यानी मोक्ष है। यही ब्रात 'वाधनालक्षणं दुःखमिति' (१।१।२१) 'दुःख वाधास्वरूप है।' 'तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः' (१।१।२२) 'उससे अत्यन्त विमोक्षका नाम अपवर्ग है' इन सूत्रोंसे स्पष्ट की गयी है। दुःखोंकी निवृत्तिका उपाय भी—'तदर्थे यमनियमाभ्यामात्मस्कारो योगश्चाध्यात्मविव्युपायै।'—लिखा है। योगाभ्यासोपयोगी स्थानका निर्णय भी—'अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः' (४।२।४२) 'अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानोंमें योगाभ्यास करनेका उपदेश है' निर्धारित कर दिया है। समाधिसाधनाके विना ब्रह्मतत्त्वकी अभिव्यक्ति होती ही नहीं, इस सर्वतन्त्रसिद्धान्तकी सर्वोपादेयताका वर्णन भी—'समाधिविदेषाभ्यासात्' (४।२।३८) 'समाधिविदेषके अभ्याससे' से सुस्पष्ट कर दिया है। अतः दार्ढनिक तार्किकोका अग्रान्त सिद्धान्त है कि गौतमका न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शनसे सर्वथा अर्वाचीन है। अब रहे पूर्वमीमांसा यानी जैमिनिप्रणीत मीमांसादर्शन। वह तो याजिक कर्मकलापको ही अष्टाङ्गयोगका साधन बतलाते हैं। आपका विश्वास है कि 'याजिक कर्मकलापकी कसौटीसे चारन्वार मनमन्दिरको उत्कर्षण करनेपर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कभी-न-कभी अवश्य दर्शन देंगे ही। वस, छुट्टी पायी। अब हम इस छोटी-सी ब्रातके लिये श्रीमान् महर्षि जैमिनिजीको खामखा तकलीफ देना नहीं चाहते।

पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन

हाँ, अब हम पूर्वमीमांसाके छोटे भैयाके मेहमान बनते हैं। कहनेको तो आप पूर्वमीमांसाके छोटे भैया हैं, पर आप अपने सद्गुणोंसे ससारमरमे बड़े-से-बड़े समझे जाते हैं। आप बड़े छैलछन्नीले, चटकीले, रँगीले तो हैं ही, साथ ही आप मनमोहिनी विद्याके जादूगर भी हैं। अतएव आज नमूर्ण मानवसार आपके नामकी ही मनोहर मुरली बजा रहा है। आपका शुभ नाम है—वेदान्तदर्शन, च्यामसूत्र, उत्तरमीमांसा और शारीरकग्राम्य। वेदान्तदर्शनके देखते ही—'एतेन योगः प्रत्युक्तः' (२।१।३) 'इसे योगका प्रतिवाद हो जाता है।' यह प्रश्न उपर्युक्त होता है। जिन महानुभावोंने योग-नारंगके

महत्वका अवणतक नहीं किया वे यह कहा करते हैं कि पूर्वोक्त सूत्रसे योगका खण्डन होता है। परन्तु एवंविष सूत्रोंकी एकवाक्यता है ही टेढ़ी खीर।

अपरा विद्या और परा विद्या

मैं प्रथम ही निवेदन कर चुका हूँ कि योगमार्गके महत्वकी पराकाष्ठा सर्वसाधारणको अगम्य है। अनादिकालसे आजतक योगमार्गकी अनेक ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी बटेदार पद्धतियाँ चली आ रही हैं कि जिनके द्वारपर बूढ़े वेदभगवान्को भी चुपकेसे बैठकर दिन काटने पड़ते हैं। वेद क्या वस्तु है? योगिराजोंके अनुभवात्मक ज्ञानकी लघीयसी मात्रा। फिर भी अपरा विद्याके ह्लासमें ही उनको स्थान मिला। मुण्डक उपनिषद्के प्रारम्भमें ही एक कथा है कि— गौनक नामक कङ्गिने योगेश्वर अङ्गिराके पास जाकर प्रार्थना की कि है भगवन्। वह कौन-सी विद्या है जिसके ज्ञानसे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो? अङ्गिरा उपदेश देते हैं कि—ब्रह्मवेत्ता योगेश्वर दो विद्याओंका वर्णन करते हैं—(१) परा और (२) अपरा। कङ्गवेद, यजुर्वेद, सामवेद, अर्थवेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निश्चत्त, छन्द और ज्योतिषादि विद्या तो इहलैकिक सुखसाधक होनेसे अपरा यानी ऐहलैकिकी कहलाती है। और जिस विद्यासे अक्षर, अव्यय, अविनाशी पूर्णत्रैष्ट्र परमेश्वरका साक्षात् होता है उसका नाम परा विद्या है (मुण्डक० १३-५)। इसी प्रकारकी कथा नारद और सनत्कुमारजीके प्रसङ्गसे छान्दोग्यउपनिषद्के सत्तम अव्यायके प्रारम्भमें समुच्छित है।

योगसम्प्रदायका सिद्धान्त

अतएव अवधूत मत्स्येन्द्र-गोरक्षादि महासिद्ध योगविद्याकी अपेक्षा कर्ममर्यादी वेदविद्याको न्यग्रन्थ ही समझते हैं। क्योंकि वेदविद्यामें 'त्रैगुण्य प्रपञ्च ही तो है। योगेश्वर श्रीकृष्णभगवान् 'त्रैगुण्यविप्रया वेदा।'—(गीता २।४५) कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदोंकी कैसी अवहेलना दरते हैं वह तो विद्वस्तमाज मान ही रहा है। यही सही, वेद ही मान्यतम है, तो क्या वेद-यज्ञ-योगका वाचक नहीं है? मैं तो त्वदरूपमें प्रार्थना करना हूँ कि वेदोंके विकाससे प्रथम ही योगविद्या तरुण हो चुकी थी। या यों कह सकते हैं कि योगविद्याने गर्भसे ही वेदविद्याका जन्म हुआ। मुण्डसोपनिषद्के प्रारम्भमें ही लिखा है कि—

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूत विश्वस्य कर्ता
भुवनस्य गोपा ।

'देवताओंमें प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्वके कर्ता और
भुवनके गोपा हैं।' ठीक है, परन्तु जब विश्वरचनाकी
आवश्यकता पड़ी तो श्रीहिरण्यगर्भजीके पास विश्वरचना-
सामग्री तो थी ही नहीं, आप मन-ही-मन चिन्ता करने लगे।
तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्णब्रह्मका आदेश-
प्रसाद मिला कि—

स चिन्तयन्ध्यक्षरमेकदम्भ-
स्युपश्चित्तोद्द द्विर्गदितं वचो विभुः ।
स्पदेषु यत्पोदशमेकविश्वं
निष्कञ्चनानां नृप यद्वनं विदुः ॥
(श्रीमद्भा० २।९।६)

अर्थात् उन ब्रह्माजीने ऐसा विचार करते हुए एक
दिन (प्रलयकालके) जलमें दो अक्षरोंवाले एक
शब्दका दो बार उच्चारण सुना। उनमेंसे पहला वर्ण तो
स्पर्शवर्णोंमें (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् त था
और दूसरा इक्षीसवाँ अर्थात् प था। (जिनको मिला देनेसे
'तप' ऐसा अवृद्ध वन जाता है) और जिसे अकिञ्चन
पुरुषोंका धन कहते हैं ।

अब तो विभु महाराजको 'तुल्यास्यप्रयत्नं सर्वण्म्'
(१।१।९) की बाटिकामें दूरसे ही स्पर्श-कल्पद्रुम
दिखायी पड़ा। फिर क्या था जरा-न्सा हिलाते ही
स्पदोंमेंसे पोड़ग (त) और फिर एकविश्वतिसख्या
(ष) यानी 'तप' के प्रादुर्भावके साथ ही ससारका भी
प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया। कहिये तपकी कितनी महिमा
है। जिस तपने इतने बड़े ब्रह्माण्डकी रचना कर ढाली,
योगदर्शनमें उसकी गणना अति साधारणरूपसे नियमोंमें
पायी जाती है। अध्यात्मरसरासिक योगिराज क्या—
'ना वेदविन्मनुते त वृहन्तम्' (तै० ब्रा० ३।१२।
९।७) 'वेदको नहीं जाननेवाला उस वृहत्
परमात्माको नहीं जानता।' 'त त्वौपर्णनष्ट पुरुष
पृच्छामि' (वृ० ३।९।२६) 'उस उपनिषद्वेद्य पुरुषके
वारेमें मैं प्रश्न करता हूँ।' इत्यादि रहस्यका अनुमोदन
नहीं करते ? करते हैं, परन्तु उनका पक्ष सिद्धान्त
यही है कि—

राम राम सब कहत हैं, ठग ठाकुर अह चौर ।
दिनको योगीजन भजे, वह राम कहु और ॥

वेदान्तसूत्रके कर्ता 'योगाधिद्याके महत्वसे खूब परिचित
थे फिर भी 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' की प्रतिज्ञा
आपको शिरोधार्य है। इसके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्यजी
योगमहत्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुतिप्रमाण देकर
कहते हैं कि हमें इस विषयमें तो कुछ आपत्ति नहीं, परन्तु
सांख्यस्मृतिके सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्त्वाके
विना ही केवल प्रकृति-पुरुषद्वारा ही ससारका आविर्भाव
मानती है, अतः सांख्यस्मृतिके सदृश ही 'सङ्गदोषन्याय'
से योगस्मृतिका भी निराकरण हो सकता है। तथास्तु ।
परन्तु योगस्मृतिसे यदि पातञ्जलयोगदर्शनका अध्याहार
कर लिया हो तो हम स्पष्ट अन्दोंसे स्तुति करेगे कि
शारीरकसूत्रकी स्मृति ही स्वध हो गयी। प्रायः वेदान्त-
दर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति। इसीका नाम
'गजनिमीलिका' है।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है, अतः आपका उपदेश है
कि प्रकृति तो जड़ है ही, अतः सहत्यस्पा होनेसे
स्वयं परार्था भी है। रहे पुरुष, यद्यपि वे चिदधन हैं
तथापि अनेक जन्मोऽन्नव सुखदुःखात्मक कर्मोंके अकाट्य
निगड़ोंसे ऐसे निगड़ित हैं कि पादुपतदर्शनमें उन्होंकी
पशुसज्जा मानी गयी है। इन पुरुषोंसे जो विशेष शक्तिमात्
अर्थात् पुरुषोत्तम है वही इस जगत्का नियन्ता—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरप्राप्तः पुरुषविशेष ईश्वरः ।
(१।२४)

—'अविद्यादि पञ्चक्लेश, कर्म, उनके विपाक (सुख-
दुःख) और आशय (वासना) से अस्पृष्ट पुरुषविशेष
ईश्वर है।'—दयालु प्रभु है। इस वातकी शहादत
श्रीकृष्णभगवान् आप ही देते हैं—

यसात्क्षरमतोतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित पुरुषोत्तम ॥

(गीता १५।१८)

—'क्योंकि मैं क्षरसे परे हूँ और अक्षरकी अपेक्षा उत्तम
हूँ, इसीसे लोक और वेद दोनोंमें मैं पुरुषोत्तम नामसे
विख्यात हूँ।' वेदमें भी यही उपपत्ति है—

स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनि-

श्च. कालकालो गुणो सर्वविद् यः ।

प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः

ससारमोक्षस्थितिवन्धहेतुः ॥

(यजु —भेदा० ६।१६)

अर्थात् 'वह (परमात्मा) विश्वका कर्ता, विश्वका वेत्ता, स्वयम्भू, ज्ञाता, कालका भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुषका स्वामी, गुणोंका दृश्य और संसारके मोक्ष, स्थिति और वन्धका हेतु है।' सूर्यको दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्गव्ययादिका अड़ज्ञा अकाण्डताण्डव ही तो है। आखिरको हमें—

गुणः पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः।
(उत्तररामचरित ४। ११)

'गुणवान् पुरुषोंके अन्दर उनके गुण ही पूजाके पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है।' भवभूति कविके इस इशारेपर चलना ही पड़ेगा। वेदान्तदर्शनने अपने प्रयत्नोंमें कुछ वाकी नहीं छोड़ा, परन्तु आखिर—घट्टकुटीरप्रमात्र ५ इस न्यायके ही विश्रामभवनमें आश्रय मिला।

वेदान्तस्मृतियोगाङ्गोंके आसन-ध्यानादिका महत्त्व

आसीनः सम्भवात् । (४। १। ७)

'आसनपर बैठकर उपासना करे, क्योंकि तभी उपासना हो सकती है।'

ध्यानात्म । (४। १। ८)

'ध्यान भी तभी हो सकता है।'

अचलत्वं चापेक्ष्य । (४। १। ९)

'ध्यान अचलत्वकी अपेक्षा रखता है।'

स्थरन्ति च । (४। १। १०)

'स्मृतियोंमें भी ऐसा ही कहा गया है।'

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् । (४। १। ११)

'जहाँ एकाग्रता हो वही उपासना करनी चाहिये, अन्य कोइं विशेष वात नहीं है।'

आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम् । (४। १। १२)

'उपासना भी मृत्युपर्यन्त करनी चाहिये।'

—इत्यादि मधुर शब्दोंसे प्रतिपादन कर ही रही थी कि अकस्मात् वास्कलि नाम मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाघके योगाश्रममें ब्रह्मजिनासार्थ पधारे। और प्रार्थना की कि—
‘ऐ प्रभो ! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्मका द्या

* कुछ व्यापारी माल लेकर एक स्थानसे दूसरे स्थानको ना रहे थे। रास्तेमें घट्टकुटीर यानी चुगीघरसे बचनेके लिये चेरामर इधर-उधर भटकते रहे। भटकते-भटकते प्रातः काल ठीक चुगापरके सामने आ पहुँचे। जिससे बचना चाहते थे उसीसे सामना दृश्य। इसीको कहते हैं—‘घट्टकुटीरप्रभातन्यात्’।

स्वरूप है ?' वाद्य महाराज चुपचाप बैठे रहे। जब वार-वार वास्कलि पूर्वोक्त जिज्ञासापर ही डटे रहे तो वाद्य महाराज कुछ मुस्कुराकर बोले कि 'अरे वास्कले ! तेरे प्रश्नोका उत्तर तो मैं साथ-ही-साथ देता रहा, तेरी समझमें न आवे तो मैं क्या करूँ ?' आखिर आपने यह उपदेश दिया—

उपशान्तोऽयम् आत्मा ।

वात भी ठीक है। कियात्मक अष्टाङ्गयोगसाधनाके विना वेदान्तपरिभाषाके अक्षरोंमें ब्रह्म कभी नहीं मिलेंगे। वृसिंहाचार्यके वेदान्तडिण्डिमके सद्गत हम भी—
(१) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद्)—'ब्रह्म प्रज्ञानस्वरूप है।' (२) 'अह ब्रह्मास्मि' (यजुर्वेदीय वृहदारण्यक ० १। ४। १०)—'मैं ब्रह्म हूँ।' (३) 'तत्त्वमस्मि' (सामवेदीय छान्दोग्य ० ६। ८। ७)—'वह आत्मा तू ही है।' (४) 'अयमात्मा ब्रह्म'—(अथर्ववेदीय मुण्डक ०)—'यह आत्मा ही ब्रह्म है' इत्यादि मन्त्रोंका दिन रात पाठ किया करते हैं, परन्तु इन शब्दोंकी ध्वनि दशवें द्वारके त्रिकुटी-महलमें (जो सच्चिदानन्दका आमोदयोगमठ है) कभी नहीं सुन पड़ती। 'ज्ञान भारः क्रियां विना' 'क्रियाके विना ज्ञान भाररूप है।' अविद्या-प्रनिधिका नाश तो समाधिद्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शनके भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवीय समाधिका वर्णन क्या मधुरतासे करते हैं—

समाधिनानेन समस्तवासना

अन्येविनाशोऽस्तिलकर्मनाशः ।

अन्तर्वहिः सर्वत एव सर्वदा

स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नं स्यात् ॥

(विवेकचूटामणि ३६४)

'इस समाधिसे समस्त वासनारूप ग्रन्थिका बिनाश और अस्तिल कर्मोंका नाश होकर भीतर, बाहर, सर्वत्र एवं सर्वदा विना यत्न किये ही स्वरूपकी विस्फूर्ति होने लगती है।'

निर्विकल्पकसमाधिना स्फुर्तं

महत्तत्वसमवगम्यते भ्रुवम् ।

नन्यथा चलतया मनोगतेः

प्रत्ययान्तरविभिन्नित भवेत् ॥

(विवेकचूटामणि ३६५)

, वेदान्तदर्शन (३। २। १७) मूरका शांकर-भाष्य कहते।

‘निर्विकल्प समाधिसे निश्चय ही ब्रह्मतत्त्वका स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओंमें मनोवृत्तिके चञ्चल होनेसे वह ज्ञान अन्य प्रतीतियोंसे मिथित रहता है।’

फिर द्युत्थान अवस्थामें भी उस योगिराजको चराचर जगत्में—

ब्रह्मवेदममृतं पुरस्ताङ्ग्यं पश्चाङ्ग्यं दक्षिण-
तश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसूतम् ब्रह्मवेदं विश्वमिदं
वरिष्ठम् । (मुण्डक० २।२।११)

‘यह अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिणमें और ब्रह्म ही उत्तरमें है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म सबसे श्रेष्ठ भी है।’

—यही परमानन्द मिलता ही रहता है। वेदोंमें इस प्रकारकी समाधिके सहस्रों लक्षण विद्यमान हैं। भला जो निखिलतन्त्रचूडामणि-योगसमाधिभास्कर है उसके आगे तीन अध्यरके ‘प्रयुक्तः’—सैहिकेय (राहु) की कियती मात्रा है ।

पातञ्जलदर्शन और भक्तिदर्शन

लोकमान्य श्रीवालगङ्गाधर महोदयने गीतारहस्यके परिणिट प्रकरणके दूसरे भागमें यासन साहव तथा जानेवर महाराजके सिद्धान्तानुकूल ‘भीताका विकास पातञ्जल-सूत्रसे ही हुआ है’ यह मानते हुए भी यह कहा है कि ‘पातञ्जलसूत्रकी अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषिका भक्तिदर्शन अति प्राचीन है’ इत्यादि । परन्तु जब हम भक्तिदर्शनका दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्रका विकास भी श्रीशाण्डिल्यऋषिजीके अवतारसे भी बहुत प्राचीन है । शाण्डिल्यऋषि भक्तिमीमांसाका श्रीगणेश कर ‘सा परानुरक्तीश्वरे’ (१।१।२) ‘ईश्वरमें परम अनुरागका नाम ही भक्ति है।’ यह एक ही कदम आगे रख पाये थे कि योगदर्शनकी लाल-लाल औँखें दिखायी पड़ीं, और आपको भविष्यत्चिन्ता चकित करने लगी । यस, इसी चिन्ताके चिकित्सार्थ आपसे ‘हेया रागत्वादिति चेत्तोत्तमास्पदत्वात् सङ्गवत्’ (१।२।२१) ‘यदि कहो, नगरूप होनेसे यह हैय है, तो ऐसा ठीक नहीं, क्योंकि (उत्तम पुरुषोंके) सङ्गके समान उत्तम (पुरुषोंतम्)-विषयक होनेसे वह श्रेष्ठ ही है।’—इस सूत्रका आविर्भाव हुआ । चिन्ताका मूल कारण भी श्रवण कीजियेगा—

‘गग’ अब्द अनेकार्थ होनेपर भी पातञ्जलदर्शनमें उसकी गणना अविद्यादि पञ्चक्लेशोंमें ही की गयी है ।

रागका पर्याय रक्ति अब्द भी है, इन्हीं शब्दोंके प्रथम उपसर्गोंका समावेश करनेपर—अनुराग, सुराग, विराग, अनुरक्ति, विरक्ति, परानुरक्ति इत्यादि अनेक पर्याय अब्द सिद्ध हो सकते हैं । इसी रक्ति अब्दके पूर्व ‘परा और ‘अनु’ उपसर्गके मेलसे ‘सा परानुरक्तीश्वरे’ की स्थिती हो गयी, परन्तु—‘अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः (पञ्च) ह्लेशाः’ (पात० सू० २।३) ‘अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश ये पौच्छ ह्लेश हैं।’ इस पातञ्जल-सूत्रसे थरथराकर ही ऋषिजी महाराजको ‘हेया रागत्वाद्— (१।२।२१) इत्यादि सूत्र लिखना पड़ा । योगसूत्र राग वा रक्ति अब्दका गोलार्थ करता है—योगपरिपन्थी पदार्थोंमें ममत्वका अनध्यारोप या यो कहिये कि विषयासक्तिसे सर्वदा उदासीन रहना । हॉ, योगसूत्रने राग और रक्ति शब्दोंमें शृङ्गाररसकी भावना समझकर पूर्वोक्त शब्दोंके स्थानमें ‘प्रणिधान’ शब्दको ही सर्वोपरि माना है । अतएव ‘समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्’ (२।४५)—‘ईश्वरप्रणिधानसे समाधिसिद्धि होती है।’ यह सिद्धान्त स्थिर किया है । फिर इस छोटी-सी समस्याके आगे शाण्डिल्य महाराज घबडा उठे । दार्शनिक महोदयवर्य । कहिये, लोकमान्य तिलकजीका सिद्धान्त सर्वतन्त्र है या प्रतितन्त्र ?

पातञ्जलसूत्रोंके भाष्य आदि और हिरण्यगर्भ

यो तो श्रीमहर्षि वेदव्यासप्रणीत व्यासभाष्यकी विभिन्न अवतरणिकाओंसे स्पष्ट अनुमान होता है कि व्यासभाष्यसे पहले भी योगदर्शनपर भाष्यादि थे, परन्तु वर्तमानमें इन योगसूत्रोंपर जो-जो भाष्यादि है उनकी तालिका इस प्रकार है—

श्रीवेदव्यासप्रणीत

व्यासभाष्य

विज्ञानभिन्नुरचित

योगवार्तिक

मिश्र वाचस्पतिकृत

व्यासभाष्यव्याख्या

भोजदेवप्रणीत

राजमार्तण्ड

नारेश भद्रकृत

योगसूत्रवृत्ति

भावागणेशकृत

सूत्रवृत्ति

प० आनन्दकृत

योगचन्द्रिका

उदयङ्करकृत

यो० सू० वृत्ति

धेमानन्द कीथितकृत

नवयोगकलोलवृत्ति

जानानन्दकृत

यो० सू० वृत्ति

नारायणकृत

गृद्धार्थीपिका

भवदेवकृत

अभिनवभाष्य

,,

योगसूत्रिण्य

महादेवकृत	यो० सू० वृत्ति
रामानन्दकृत	मणिप्रभा
रामानुजकृत	यो० सू० भाष्य
बृन्दावन शुद्धकृत	यो० सू० वृत्ति
श्विवद्वारकृत	” ”
सदाचिवकृत	” ”
राघवानन्दकृत	पातञ्जलरहस्य
राधानन्दकृत	पातञ्जलरहस्यप्रकाश
उमापति मिश्रकृत	यो० सू० वृत्ति
स्वा० हरिप्रसादकृत	यो० सू० वैदिकवृत्ति

इन सब भाष्यादिकारोंका एक मत है कि पातञ्जल-योगदर्शनका विकास हैरण्यगर्भगान्ध्रसे ही हुआ है। इन भाष्यादिकारोंने निश्चय किया है कि योगसूत्र 'अथ योगानुशासनम्' (अब योगका उपदेश दिया जाता है।) से पतञ्जलि महाराजका योगसूत्रमें साक्षात् शासन न होनेपर अनुग्रासन ही है। तथा—

‘हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य पुरातन’।

‘हिरण्यगर्भ ही योगके वक्ता है, इनसे पुरातन और कोई वक्ता नहीं है।’ इस योगियान्वयवलङ्घ्यस्मृतिके प्रवल प्रमाणसे योगशास्त्रके विधाता श्रीहिरण्यगर्भ महाराज ही है। तथैवास्तु। परन्तु जिस प्रकार इतर दर्शनकारोंके इतिहास पुराणादिमें उपलब्ध है, श्रीहिरण्यगर्भजीका कोई भी इतिहास पुराणादिमें नहीं मिलता, न इस विध्यमें किसी महानुभावने कोई कष्ट उठाया और किसीको जल्दत भी क्या थी कि वहिरङ्ग परीक्षाके पीछे-पीछे फिरे। परन्तु कुछ गांधी-का समाकलन करनेपर हमें यह तो आपका पता मिला कि,

साख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्थिः स उच्यते।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्य. पुरातन.॥

(महाभा० १२। ३४९। ६५)

‘साख्यके वक्ता कपिलाचार्य परमर्थि कहलाते हैं और योगके वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे पुराना और कोई इस गाल्का वक्ता नहीं है।’ आगे चलकर इस प्रकार योगका रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एष च्छन्दसि स्तुतः।

योगे० सम्पूज्यते नित्य स च लोके विसु० स्मृतः॥

(महाभा० १२। ३४९। ९६)

‘यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही हैं जिनकी वेदमें स्तुति की गयी है। इनकी योगीलोग नित्य पूजा करते हैं और समागमें इन्हें विसु कहते हैं।’ और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्तृतः।

महानिति च योगेषु विरच्चिरिति चाप्यजः॥

‘इन हिरण्यगर्भ भगवान्को (समष्टि) बुद्धि कहते हैं, इन्हींको योगीलोग महान् तथा विरच्चि और अज (अजन्मा) भी कहते हैं।’

अपि च—

इदं हि योगेष्वर योरानैपुणं

हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत्।

(श्रीमद्भा० ५। १९। १३)

‘हे योगेष्वर ! यह योगकौशल वही है जिसे भगवान् हिरण्यगर्भने कहा था।’

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा।...

(बद्धुतरामायण १५। ६)

‘हिरण्यगर्भ जगत्के अन्तरात्मा है।’

हिरण्यगर्भः सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्सुखः।

(वायु० ४। ७८)

‘इस सर्गमें हिरण्यगर्भ चतुर्सुखस्पसे प्रकट हुए।’

इन पदोंका भावार्थ यह है—

वेदोंने जिसकी स्तुति की, जो योगिजोंसे पूजित है, वेदोंमें जो विसु, विरच्चि, अज, चतुर्सुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणोंसे उपश्लोकित हुए हैं। वस, उन्हींकी—‘महानिति च योगेषु’ है। इसकी टीका करते हुए श्रीनीलकण्ठजी फरमाते हैं—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम्।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराजकी यही ‘महान् डति’ है कि आपने वेदोंसे भी प्रथम योगविद्या याने परा विद्याका प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान्का छन्द यानी वेदमें—

हिरण्यगर्भः समवर्तताम्

भूतस्य जातः पत्तिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं धासुतेमां

कर्त्मै देवाय हविषा विधेम॥

(ऋ० १०। १०१। ११)

‘हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए जो समस्त भूतोंके एक पति थे। उन्होंने इस पृथिवी और स्वर्गलोकको धारण किया। उन अनिर्वचनीय देवकी हम पूजा करने हैं।’

—इस प्रकार स्तुति की गयी है, वस, इन्हींहिरण्यगर्भ महाराजके हैरण्यगर्भसूत्रोंका योगदर्शनमें अनुग्रासनकर ‘अथ योगानुग्रासनम्’ से योगदर्शनका प्रादुर्भाव हुआ है। अतः यह निर्विवाद है कि पातञ्जलयोगदर्शनमें प्राचीन कोई भी दर्शन समागमें है ही नहीं।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

। ग्रन्थभेद

(लेखक—वियालकार प० श्रीशिवनारायणजी शर्मा)

ब्रह्मग्रन्थभेद

शृण्वन्तु विड्वेऽमृतस्य पुत्राः ।

भिष्ठते हृष्टयग्रन्थदिश्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षोयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

प्रथम यह जानना चाहिये कि वे ग्रन्थियाँ हैं क्या चीज़ ?

ये आगामी, सञ्चित और प्रारब्ध तीन प्रकारके कर्म हैं । आगामी कर्मोंका नाम उपनिषद्में ब्रह्मग्रन्थ, चण्डी-में मधुकैटम और तन्त्रमें कुलकुण्डलिनी है । विराट् मन-प्राण और जान ये ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर हैं । उनको पानेके लिये जीवभावबाले मन, प्राण और जानकी खोज करना आवश्यक है । जिस प्रकार पृथ्वीके भीतर छिपा हुआ जग्यप्रवाह पानेके लिये आँगनमें कूप खोदना होता है, उसी प्रकार विराट् समष्टिको पानेके लिये अपने भीतर रमण अनुभूत होनेवाली व्यष्टिसत्त्वाका आश्रय लेना होता है ।

फिर सद्गुरुके आश्रय और उपदेशानुसार पहले मनुजत्वसे मनुत्व प्राप्त करना और जगत् की प्रत्येक वस्तुमें सत्यप्रतिष्ठा कर सत्रको गुरु समझनेकी दृढ़ भावना करनी चाहिये । ‘शिष्यस्तेऽह शाधि मां त्वां प्रपन्नम्’ यह मन्त्र चैतन्य ग्रो जानेसे जीव मनुजत्वकी मङ्गीर्णतारूप सीमासे बाहर निकलनेको ब्याकुल होता है । भगवान् मनु मनुष्य-जातिके पिता और ब्रह्मा पितामह हैं । मनु ही ब्रह्माकी प्रथम सुष्टि है । जब मनुष्य आधनवलसे ‘मनुत्व’ प्राप्त कर लेता है, तभी वह ‘भर्गो देवस्य धीमहि’ कहता हुआ अमृत-मय अनन्त ज्योतिकी लहरमें निमग्न होकर तन्मय हो जाता है । उत्र आप ‘तने पृष्ठण्पावृणु सत्यघर्माय दृष्टे’ कहते हुए, गूर्हमें सत्यप्रतिष्ठा कर सत्यदर्शी ऋषियोंकी भाँति मामासायकी आभासतरङ्गसे सवेदित होंगे, जर आप ‘योऽग्नावर्गो पुरुषः गोऽहमस्मि’—कहते हुए वैदिक युगके ऋषियोंकी भाँति सूर्यमें गन्य और प्राणप्रतिष्ठ तोकर जीव-भाव प्रिकूल भूत जाऊँगे, तब मनुत्वके शाधिकारी होंगे । राधक यह न समझें कि ऐसा होना आपके लिये असम्भव है । ज्ञानदर्शी ऋषि ऐसा अव्यय सरल मार्ग आविष्कार

कर गये हैं कि उसपर धीरे-वीरे सहजभावसे आगे बढ़ते जानेपर मनुष्यमात्र इसे प्राप्त कर सकते हैं ।

मनुत्व प्राप्त होनेसे अणिमा, महिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और घृणा, लज्जा आदि अष्ट पात्र-वन्धनोंसे जीव मुक्त हो जाता है । प्रथम मनुजत्वसे मनुत्व और फिर मनुत्वसे ब्रह्मत्व, ये तीन अवस्थाएँ क्रमशः सद्गुरु-कृपासे साधकके सम्मुख अपने आप आती जाती हैं । जीव यह समझने लगता है कि मनुरूप पिताकी गोदमें मैं निर्भय आनन्दपूर्वक नग्न सगल शिशुकी भाँति बैठा हुआ हूँ । मैं चाहे कितना ही क्षुद्र, दीन, अविश्वासी और श्रद्धाहीन हूँ परन्तु पिताकी गोदमें बैठा हूँ । जब हर बड़ी यही अनुभव करता रहता है तब मत्यंलोकमें रहकर भी वह अमरताके आस्तादमें सुगंध रहता है और साधारण जनोंके लिये जो जगत् सदा दुःखमय है उसीको वह आनन्दमयरूपसे भोगता हुआ अनिर्वचनीय शान्ति पाता है, ‘स शान्तिमधिगच्छति’ ।

मनुष्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय ‘मनु’ के इत्यारे-पर ही निर्भर है, वह प्रत्येक मनुष्यके सूक्ष्म और कारण देह तथा मनके भाव ‘प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है । हमारे हृष्टयपटलपर जन्मजन्मान्तरके सञ्चित भावसस्कार अद्वित ह, वे हमारे अनुभवमें नहीं आते, परन्तु जब हम मनुत्व प्राप्तकर मन्वन्तरके अविपत्ति होंगे तब अपने तथा दूसरोंके सस्कार, पाप, पुण्य, जन्म, जाति, आशु, भोग इत्यादि सब प्रत्यक्ष अनुभव कर सकेंगे । मनुत्वका ही आगिक फल प्राप्त कर लेनेवाले साधु अपने दर्शनार्थियोंके विचार विना कहे ही जान लेते और बतला देते हैं ।

मनुत्वका कुछ अश प्राप्त कर लेनेपर साधक सद्गुरु-से दीक्षित होनेपर अपनी इच्छाशक्तिद्वारा मनकी गति उलट देते हैं । मनके दो मुख ह, एक नीचेकी ओर दूसरा ऊपरकी ओर । नीचेका मुख प्रवृत्तिकी ओर स्वभावतः प्रवाहित रहता है और ऊपरका वन्द रहता है । कुछ दिन सद्गुरुका सत्सङ्ग प्राप्त होने वैदिक युगके ऋषियोंकी भाँति सूर्यमें गन्य और प्राणप्रतिष्ठ तोकर जीव-भाव प्रिकूल भूत जाऊँगे, तब मनुत्वके शाधिकारी होंगे । निसको मनुत्वपर कुछ अधिकार प्राप्त हो जुका है वही सद्गुरु और सत्सङ्ग करनेका अधिकारी है ।

वोधमय क्षेत्रमें पहुँच हो जानेपर ब्रह्मग्रन्थ शिथिल हो जाती है। साधक जीव जब अन्तःगरीरमें प्रवेश करता है तब देखता है कि अन्नमयसे आनन्दमय कोषतक पॉचों कोष धर्मसत्कारोंसे परिच्छिन्न हैं। शास्त्रीय विधि-निषेध आत्मज्ञानप्राप्तिमें प्रथम सहायक अवश्य होते हैं, परन्तु फिर वे वन्धनलूप हो पड़ते हैं। इतना जान लेनेपर भी उनकी उपेक्षा करनेका साहस नहीं होता। जबतक जीव आत्म-स्नेहमें मुग्ध नहीं होता तबतक वैध कर्मोंके सत्कार उसे बहुत ही सताते हैं, इस कारण वे नित्यानन्दके विधातक प्रवल शब्दु हैं।

स्थूल वृत्तियाँ मनुष्यकी साधारण शब्द हैं और सूक्ष्म वृत्तियाँ प्रवल शब्द हैं। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ आत्मराज्य-प्राप्तिमें उतनी विक्षकारक नहीं हैं जितनी सूक्ष्म वृत्तियाँ (सत्कार) वाधक हैं। इनके हाथसे छूटना अत्यन्त दुरुहृत है। यहाँपर जीवको विषादयोग होता है, इसके बाद फिर साधकको विषादयुक्त नहीं होना पड़ता।

गीताके कुरुक्षेत्रमें आत्मीय ज्ञानसे विमूढ़ युद्धविमुख अर्जुनके विपादयोगकी यहीं समाप्ति थी। गीताका युद्ध साधकप्रवर अर्जुनके अन्नमय क्षेत्रमें और विषाद मनोमय क्षेत्रमें या, एव चण्डीमें वर्णित मन्त्रविद्रोह और राजा सुरथके प्राणोंमें जो विषाद उपस्थित हुआ था वह विज्ञान-मय क्षेत्रमें होनेके कारण उससे सूक्ष्म (उच्चस्तरका) था।

सांसारिक साधारण दुःख और साधनजगत्के दुःखोंका अन्तर साधक ही जान सकते हैं, जैसे विरहामिका सन्ताप विरहिणी अनुभव कर सकती है, विरहकी अद्यिसे जब स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीर भसीभूत हो चुके तब कहीं उस प्रेमविभोर जीवका परमप्रिय तत्वसे तादात्म्य हुआ। विन्दुमें सिन्दु समागया। यह आनन्द वियोगी जाने वा योगी^१ अत्यन्त विरहासक्त ही प्रेमकी सबसे ऊँची अवस्था है। विरह एक प्रकारका पुट है। इसके विना प्रेमका रग चढ़ता ही नहीं। साधिका देवी सहजोवाईने कहा है—

प्रेमदिवाने जे भये, कहे अटपटे वैन।

कवहुँक मुख हाँसी लुटै, कवहुँक टप्पतै नैन॥

जीव जब भगवत्प्रेम करने लगता है तब अनुभवमें जाता है कि 'अरे। सत्कारोंने तो मेरा आनन्दमय कोष, निष्पशुद्धबुद्धत्व और स्वामित्व सब हरलिया। ये सत्कार ही मेरे मन्त्री थे। ये बहु दूष हैं। क्या देहराज्यमें, क्या मनोराज्यमें,

क्या आनन्दके केन्द्रमें कहीं तिलभर भी मेरी प्रभुता नहीं रही है ? क्योंकि देह मेरी इच्छा विना रुण हो जाती है, बृद्ध होती है, मन मेरी इच्छा विना विधर्योंकी ओर दौड़ता रहता है, ज्ञान मेरी ज्ञेय वस्तुओंको प्रकाशित नहीं करता, रहा आनन्द सो उसका तो तलाश करनेपर भी कहीं पता नहीं लगता। यद्यपि ये सब मेरे ही हैं तथापि विपक्षी हैं। अरे, मेरी इच्छासे तो एक वृद्ध रक्त भी चलायमान नहीं होता, ये सब मेरी आत्मराज्यप्राप्तिके प्रतिकूल खड़े हैं।' इससे उसे अत्यन्त विषाद होता है, यह विषाद बाहरसे नहीं दोख सकता। फिर विशेषतः यह कि इस विषादकी अवस्थाको प्राप्त हुआ जीव महाभाग्यवान् कहा जाता है, परन्तु साधारण असाधक जन उस पीड़िको क्या समझेगे !

कवहुँ वैक्ष न जानही तन प्रसूतकी पीर।

अथवा—

कवहुँ भैक न जानई, अमल कमलकी वास।

चण्डीमें सुरथका सर्वस्व दुष्ट मन्त्रियोने हरण कर लिया, वह महाभाग भी है और दुःखी भी है, ये दो विपरीत भाव एक साथ क्यों और कैसे ? कारण, ऐसा हुए विना उसे मेघस् ऋषिका सत्सङ्ग न मिलता, और न वह मनुष्वको प्राप्त होता। इससे वह महाभाग है, और जीवभाव और जीवत्वकी ग्रन्थियाँ उस समय उसे अत्यन्त दुःखमय जान पड़ती हैं, यह दुःख है।

अस्तु, जबतक आत्म (मातृ) दर्शन नहीं होता, तबतक यथार्थ ग्रन्थभेद नहीं होता। विषादयोगके बाहरी लक्षण गीतामें कहे गये हैं—

द्वष्टमें स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ।

सीटन्ति मम गत्राणि सुख च परिशुद्धति ॥

वैपशुश्च शरीरे मे रोमहर्पश्च जयते ।

गण्डीवं घंसते हस्ताव त्वक् चैव परिशयते ॥

ये विषादके चिह्न साधकप्रवर अर्जुनके त्वूर देह अन्नमय कोषमें प्रकट हुए थे, परन्तु सुरथका विषाद सूक्ष्म और कारणदेहमें अवतरित होनेके कारण उसका बाहर विशेष लक्षण कुछ प्रकट नहीं हुआ। प्रजाविद्रोह वा भावविरोधिता विज्ञानमय कोषमें, और मन्त्रियोंका विरोध वा धार्मिक संस्कारोंकी परिच्छिन्नता आनन्दमय कोषमें अनुभव होते हैं। ज्ञानका अधिकार जिसका जितना उच्च है उसका विषाद भी उतना ही सूक्ष्म और

उच्चमन्त्रका होता है। वालक मिट्टीका खिलौना दूट जानेमे रंगता है परन्तु समझदार विद्वान् पुरुष युवा युवकी मृत्युपर भी अर्धार नहीं दीख पड़ता, तो क्या उसे दुःख होता ही नहीं, अवश्य होता है, परन्तु अन्तःकरणके उच्चमन्त्रमें होता है।

साधक जब अपना चित्त बाह्य विषयोसे रोकता और व्याकुल होता है तब स्नेहमयी मौं उसे एक सरल मार्गपर ले जाता है। कारण, पहले तो साधक सद्यम, योग, ध्यान, मिदि, गत्ति आदिको चाहता था, परन्तु जब अनेक बार विफलमनोरथ हुआ, तब यथार्थ आत्मा (मौं) की गोज उसके प्राणमें उदित हुई, तब वह 'एकाकी ह्यमारुद्य जगाम गहन वनम्' इन्द्रियरूपी अद्वपर सबार होकर विषयारण्यमें ही आत्मानुसन्धान करने लगा, तब उसने क्या देखा—

य तत्राश्रममद्वाक्षीद् द्विजवर्यस्य मेधसः ।

यदी बुद्धियोगकी प्राप्ति है—

ददामि बुद्धियोगं तं येन मासुपयान्ति ते ॥

अहा! गीतामें मोक्षफलदायक कल्पवृक्षके जो वीज वोये गये थे उन्होंने चण्ठीमें पत्र, पुष्प और सग्स फलरूपमें परिणत होकर साधकोंको कृतार्थ कर दिया और करते हैं।

जीव जब अन्तर्ज्यमें रक्ती-रक्ती हूँडनेपर भी आत्माका पता नहीं पाता, तब विवश हो फिर इन्द्रियप्राक्ष विषयोके समीप आता है। पहले तो वह इन विषयोंको नायवान् और मिथ्या कहकर विषयवत् त्यागकर अन्तर्ज्यमें प्रविष्ट हुआ था, अब लौटकर फिर उसी विषयारण्यमें प्रवेश करता है, परन्तु इसमें मेद यह होता है कि पूर्व केवल विषय समझकर विषय भोगता था और अब आत्मानुसन्धानके निमित्तसे भोगता है। पहले-पहल प्रत्येक विषयमें 'मत्य' कल्पना करते-करते ही आत्मानुसन्धान जागरित होने लगता है। कारण कि प्रथम साधक विचारना है कि विषय तो यथार्थ आत्मा नहीं है, विषय क्षुद्र है, आत्मा अनन्त है, विषय भावोंकी पर्नीभूत अवस्था है, आत्मा भावातीत है, विषय अज्ञान-मात्र है, आत्मा ज्ञानमय है। इस कारण विषयमें विचर-भर नया अत्यन्त नदिपर्गीत विश्व आत्माका पता मिलना सम्भव है? परन्तु क्या किया जाय, अन्तर्ज्यमें जब अमृतमा पता न मिला तब वहिनरात्यमें तल्डा करनेमें

हानि ही क्या है? ऐसा करते-करते कुछ दिनोंके बाद यहीसे आत्मप्राप्तिका श्रीगणेश होने लगता है।

चाहे कोई भी पदार्थ आपके सामने आवे, इन्द्रियरूप अथव अपनी इच्छासे चलकर किसी भी पदार्थके सामने खड़ा कर दे, उसीको आप 'सत्य' 'आत्मा' मानकर ग्रहण कीजिये। चक्षु कोई रूप लाकर सामने उपस्थित करे उसे आप आत्मा 'मौं' का रूप समझिये, कानसे कुछ भी शब्द सुने, उसे 'मौं' के कण्ठका गच्छ मानिये, गन्धको आत्माके अङ्गका सौरभ समझिये, रसनासे जो विचित्र रस अनुभव करे उन्हे 'रसो वै स' कहकर अमृतायमान होइये, कोमल स्पर्शसे रोमाञ्चित हों तो स्नेहमयी मौं—आत्माका करस्पर्श समझिये, इस प्रकार आठों प्रहर जो कुछ भी करें उसे यही समझें कि, 'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्' यह रोम-रोमसे अनुभव कीजिये, केवल मुखसे कहनेसे यथार्थ फल न होगा। साधक! अबतक आप भाव, विषय और स्तकारोंके विश्व युद्धकर ध्यानविधत हुए हैं, अब उनके अनुकूल चलिये, परन्तु उनमें आत्म-सबेदनसे बार-चार सबेदित होते रहिये। अनेक जन्म-जन्मान्तरसे 'जगद्धात्व' का अभ्यास हो रहा है, आप जगद्भावमें ही मोहित रहे हैं। अब आप जो कुछ करे, जो कुछ देखें, समझें वह सब छद्मवेशधारिणी मौंकी ही मूर्ति है, यह आपकी बुद्धिमें सदा विकसित होता रहे, यही बुद्धियोग है। 'योग कर्मसु कौशलम्' है। यही मोक्षमार्गपर ले जानेवाला योगपथ है। समस्त दर्शन, वेद, शान्त्र यही एक वात कहते हैं। 'ईशा वास्यमिदः सर्वम्' 'सर्वे खल्विद्ब्रह्म'। भगवान् सर्वव्यापी हैं, इस वातकों तो प्रायः सभी मनुष्य कहते हैं; परन्तु इसे व्यवहारमें लानेवाले, तत्त्वतः जाननेवाले कोई कोई नहीं हैं, 'कथिच्चन्मां वेत्ति तत्त्वतः'। इस साधनके लिये कोई नशी वात सीखनी-सिखानी नहीं, जानना-सुनना भी कुछ ज्ञेय नहीं, जो कुछ सीखा-सुना-पढ़ा है, उसे कार्यरूपमें परिणत करनामात्र है। 'द्रम विना अमलके किस कामका'। यह बुद्धियोग ही चित्तकी चञ्चलता दूर करनेका अमोघ अन्त्र है। आपका मन कहेगा, सामने यह बृश है, तब आपकी बुद्धि जोर देकर कहे कि नहीं, यह वृक्षरूपमें मौं है। पहले-पहल ये वातें व्याजरूप ही जान पड़ती हैं। हमारा अविद्यासी मन इन वातोंको स्वीकार नहीं करना चाहता कि इस दीखनेवाले जगत्के रूपमें भगवान् ही सर्वत्र विगतमान हैं। परन्तु मनकी चतुराईसे, इन्द्रियोंकी

धूर्ततासे, आप धोखा न खाइये । बुद्धिवलसे सर्वत्र 'सत्य-प्रतिष्ठा' कीजिये, तब आप इसके मधुमय परिणामको देख सकेंगे । गीतामें कहा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
इक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यति स च मे न प्रणश्यति ॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितं ।
सर्वथा वर्तमनोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

(६।२९-३१)

आपको भगवान्‌की जो मूर्ति प्रिय हो, सबको उसी रूपमें देखिये और उसके साथ ठीक ऐसा ही वर्तीव कीजिये मानो सचमुच (इष्ट) देव ही मिल गये । ऐसा करते-करते आप यथार्थ भक्तिपर पहुँच जायेंगे ।

'भक्ति विना थोथे सभी जोग जग्य आचार'

देखिये भगवान् वस्तुतः दुर्लभ नहीं, अति सुलभ हैं, अणोरणीयान् महतो महीयान् हैं । परन्तु उसके चाहनेवाले दुर्लभ हैं—

चलन चलन सब कोड कहे पहुँचे विरला कोय ।

अरे । पलक बन्दकर खोलनेमें तो देर भी लगती है, कुछ चेष्टा भी करनी पड़ती है । पर भगवान्‌को पानेमें न चेष्टा करनी पढ़े, न देर लगो, वह तो 'सबहि सुलभ सब देस' है, वह कहाँ नहीं है, पर हमें उसकी चाह ही नहीं है ।

आँखोंमें तू है जिसके दिलमें खयाल तेरा ।
मुळिकल नहीं है उसको होना विसाल तेरा ॥
दिलका मेरे शिवाला सब मन्दिरोंसे आला ।
देसा कहूँ मैं इसमें हरदम जमाल तेरा ॥
दोनों जहाँम देकर वापिस किये सुदामा ।
क्योंकर कहूँ न होगा पूरा सबाल तेरा ॥
प्रहादकी तरह जो सच्ची है प्रति तेरी ।
किसकी है मौत आई लूटे जो बाल तेरा ॥
करणासे मुझको अपनी शादान रख जहाँमें ।
पूर्ल फले हुआ दे तुझको निहाल तेरा ॥
लीला तेरी न जानी नारदसे देवताने ।
'अनन्द चीज क्या है जाने जो हाल तेरा ॥

यदि सबसे निकट कोई वस्तु है तो आत्मा—भगवान् है । परन्तु उसमें विश्वास दुर्लभ है, जो कुछ आयोजन-

प्रयोजन-साधन और कठिनाई है वह इस विश्वासके दृढ़ करनेमें ही है । दृढ़ विश्वास होते ही साधक वि-श्वास, विगत श्वास 'सहज कुम्भक' हो जाता है, यही योगका सार है । श्वास भी अपने नहीं रहते, खुदी दूर हो जाती है ।

मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि वैत्र हि ।
सारस्तु योगिभिः पीतस्तकमश्नन्ति पण्डिताः ॥
आलोच्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राणि सर्वदा ।
योऽहं ब्रह्म न जानाति दर्वा पाकरसं यथा ॥
यथा खरश्नन्दनभारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
तथैव शास्त्राणि वहून्यधीत्य
सारं न जानन् खरवद् वहेत्सः ॥

(उत्तरगीता)

अत्थु, बुद्धियोगका कौशल (रहस्य) न जाननेके कारण ही लोग श्वास रोककर स्वयं चित्त स्थिर करनेकी चेष्टा करते हैं, परन्तु उसे (आत्माको) पाते नहीं । कारण, वे आत्माको चाहते नहीं हैं, वे तपस्वी होनेको तपस्या करते हैं, साधु वननेके लिये साधना करते हैं और जैसा चाहते हैं वैसे ही वन जाते हैं, क्योंकि भगवान् वाञ्छाकल्पतरु है ।

आनंदोग्यमें कहा है, 'मनो ब्रह्म इत्युपासीत्'—मनकी ब्रह्मरूपसे उपासना करना ही सत्यप्रतिष्ठा है, क्योंकि जगत् मनका भाव है, जगत्की उपासना ही मनकी उपासना है । बुद्धि (महत्तत्व) में चैतन्यका सबसे प्रथम प्रकाश होता है, समानधर्मवाले पदार्थ जैसे दूष और जल आपसमें सुगमतासे मिल जाते हैं । मनसे परे बुद्धि और बुद्धिसे परे आत्मा है । इस कारण अपने निकटतम सूक्ष्म अश्व बुद्धिद्वारा ही वह शीघ्र मिल सकता है । इन्द्रियों मनसे रुकती हैं, मन बुद्धिसे रुकता है, इस कारण पहले बुद्धि स्थिर होनी चाहिये । बुद्धियोगका गुण बड़ा विचित्र है । इसका जरान्सा भी अनुष्ठान महान् भयसे त्राण कर देता है । भगवान् कहते हैं—

नेहाभिकमनाशोऽन्ति प्रन्यवायो न विद्यते ।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥

(गीता २।४०)

इस बुद्धियोगकी सहायतासे साधकके दृढ़यमें एक अपूर्व मिथ्य चिदाकाश प्रकाशित होता है । उसके दर्शनमात्रसे प्राण अमृतरसमें निमग्न हो जाते हैं । अविक्षासी

चञ्चल मन स्थिर होकर उस निर्मल सत्य ज्योतिमे सुध हो जाता है, हृदयका सारा सन्ताप मिट जाता है। प्रथम यह चिटाकाड़ा कुछ मलिन, अस्थिर और अल्पक्षण स्थायी होता है, पिर सत्य-प्रतिष्ठामें अभ्यास वढ़नेपर क्रमङ्गः निर्मल, श्वेत, देरतक ठहरता और इच्छामात्रसे दिखायी देने लगता है। इसीका नाम अरण्यमें राजा सुरथको मेधस् सुनिका प्रशान्त श्वापदाकीर्ण मुनि-शिष्योपशोभित आश्रम-दर्शन होना है।

मेधस्=मेधा, स्मृति शक्ति पाना। इससे मोह नष्ट होता है।

नष्टे मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

यही बुद्धिका विकास गीताकी समाप्ति और चण्डीका आरम्भ है, बुद्धिमय क्षेत्र ही मेधस् का आश्रम है, यही व्रजशानप्रवेशका तोरणद्वार है। यहाँपर पहुँचना ही साधनमें एण्ट्रोन्स पास होना है। सुपुण्णाप्रवाह प्रकाशित होनेपर इस स्थानपर सहजमें पहुँच सकते हैं, तन्त्रमें इसको कुल-कुण्डलिनी-जागरण कहा जाता है। इसका साक्षात्कार होनेपर जीवकी ब्रह्मप्रन्थि शिथिल हो जाती है।

प्राचीन समयमें ऐसे क्षिणि-मुनियोंसे भारत अधिक औरवान्वित था, वे गृही हैं या सन्यासी, आश्रमी हैं या दण्डी, कुछ कहनेमें नहीं आता था। उनके स्त्री, पुत्र, धान्य, पशु सब कुछ था तो भी वे निर्मम थे, कुछ भी न था, वे सदा विश्वका कल्याण करनेमें लीन रहते थे। वर्तमानमें भी ऐसे सन्तोंका अभाव नहीं है। परन्तु उनका सत्सङ्ग सर्व-साधारणको प्राप्त होना-न होना भगवत्कृपापर निर्भर है, ससारमें किसी वस्तुका रूपान्तर भले ही हो जाय पर अभाव नहीं होता। अस्तु,

बुद्धिमय क्षेत्रमें पहुँचनेपर साधकके विरुद्ध भाव स्थिर हो जाते हैं, उनमें चञ्चलता नहीं रहती, काम, कोधाडि हिंसक जन्तु सताना भूल जाते हैं। साधन-जगत्‌में जवतक अनुमान और अप्रत्यक्ष रहे, तवतक समझना चाहिये कि अभी यथार्थ साधन-पथपर एक कदम भी आगे नहीं चले हैं। साधनमें जव पग-पगपर कुछ-न-कुछ प्रत्यक्ष होता रहेगा, तभी साधना सरस और मधुर होगी। मन्त्रनैतन्य इसमें परम सत्त्वायक होता है। जीवमात्र साधक हैं, कर्ममात्र साधन है, प्रकृति गुरु है, सुरुप इष्टदेय—लक्ष्य है। साधना सजीव होनेसे सिद्धि

अवश्य होगी, साधनमें जातिभेद या साम्प्रदायिक भेद नहीं है, अधिकारी (पात्र) होना आवश्यक है।

उस बुद्धिमय ज्योतिमे साधक आरम्भमें अधिक देरतक नहीं ठहर सकते, शीघ्र ही देहबुद्धिमें उत्तर आते हैं। कारण कि नीचेकी ओर मन (भर वोक्षा) वैध रहा है, यह मन भगवान्‌के चरणोंमें अर्पण कर देनेपर ही जीवत्वका अन्त होता है। और वह प्रकाश ठहरने लगता है तथा समाधिसे भेंट होती है। जो भक्तिवनसे धनवान्, गुरुकृपासे जानवान्, सत्यप्रतिष्ठाकी शक्तिसे वीर्यवान् और चिन्मय ज्योतिसे प्रकाशमान हैं उन्हींके कुलमें समाधिका आविर्भाव (जन्म) होता है।

आत्मा—ब्रह्मके दर्शनका उपाय है उसके दर्शनकी इच्छा का होना। ब्रह्म, सर्वत्र प्रकाशित रहनेपर भी जीवकी दर्शन करनेकी इच्छा हुए विना, दृष्टिगोचर नहीं होता, जैसे अपनी ऑर्गेंसें सबको देख सकते हैं पर अपनी ऑख नहीं दीखती। जीवकी ब्रह्मदर्शनकी इच्छा होनेपर प्रथम वह सद्गुरुरूपसे दर्शन देता है। सद्गुरु प्राप्त होनेपर साधक अपना देह, मन, प्राण सर्वस्व श्रीगुरुचरणोंमें अर्पण करनेको उद्यत होता है, क्रमसे गुरु ही उसका 'मैं' हो जाता है। जीवभावीय कर्तृत्वबोध उसका शिथिल हो जाता है। सत्-असत् चाहे कोई भी कर्म क्यों न हो, उसमें यह धारणा नहीं रहती कि 'मैं करता हूँ।' वह अपनेको द्रष्टामात्र समझने लगता है। यह समझता है कि—

केनापि देवेन हृदि स्थितेन

यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ।

इरीर यन्त्र है, आत्मा यन्त्री है। इसी ज्ञानसे उसके लौकिक कार्य होते रहते हैं। उनमें अनुराग या विद्वेष नहीं रहता। इसी कारण वे भविष्यत् कर्मके वीजरूप (वन्धन) में परिणत नहीं होते। इधर सांसारिक कर्मोंमें जितनी आसक्ति कम होती रहती है उधर उतनी हृदयस्थ गुरुपर साधककी आसक्ति बढ़ती जाती है, और उसमें वह मुँध होता रहता है। फिर क्रमसे उसमें आत्म-समर्पण कर साधक निश्चिन्त हो जाता है और समझ सकता है कि 'गुरु, आत्मा, मौ' एकहीके नाम हैं। वही अन्तरमें रहकर सब अनुष्ठान पूर्ण करा लेते हैं। साधकको अपनी अहबुद्धिसे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता, वल्कि किसी अलड्ड्य नियमके द्वारा समस्त कार्य क्रमशः अपने-आप सिद्ध हो जाते हैं। यह ग्रन्थ-

भेद करनेके लिये जब जैसा अव्यवसाय करना आवश्यक होता है, 'मॉ' उसी भावसे आत्मप्रकाश करती है। यही साधन-जगत्‌का यथार्थ क्रम या सोपान है।

ब्रह्मग्रन्थभेद सत्यप्रतिष्ठा है, विष्णुग्रन्थभेद प्राणप्रतिष्ठा है और रुद्रग्रन्थभेद आनन्दप्रतिष्ठा है। जब सत्य और प्राणप्रतिष्ठा हो जाती है तब आनन्दप्रतिष्ठा अपने आप हो जाती है, केवल आत्मा-मॉके होनेका विश्वास घनीभूत होनेसे ही जीवभावीय कर्तृत्व गियिल हो जाता है और आगामी कर्मोंका फल ध्वस हो जाता है, इसीको ब्रह्मग्रन्थ-भेद या मधुकैटभ-वध कहते हैं। यह प्रतिष्ठित होनेसे जीवत्वकी एक जड़ कट गयी, या समुद्रकी एक लहर ऊपर होकर निकल गयी। योगदर्शनमें है—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् । (२।३६)

सत्य वह है जो इन्द्रिय और मानस ग्राह्यरूपसे प्रकाशित हो रहा है। इस सत्यमें सत्त्व-विपर्ययरहित स्थिति हो तब क्रियाफलाश्रयत्व होता है। क्रिया शब्दका अर्थ है शास्त्र-विहित दैव-पौर्य कर्म और काय-मनोव्यापाररूप व्यावहारिक कर्म। इन्हीं कर्मोंका यथायोग्य फलाश्रयत्व होता है, सब क्रियाओंका फल केवल सत्यप्रतिष्ठ व्यक्तिका ही आश्रय करता है, जो सत्यप्रतिष्ठ नहीं है वह व्यावहारिक कर्मका भी पूर्णफल प्राप्त नहीं कर सकता, न उसको आत्मज्ञान हो सकता है। शास्त्रीय कर्मोंपर वर्तमानकालमें जन-साधारणकी अश्रद्धा होनेका कारण सत्यप्रतिष्ठाका न होना ही है। आजकल प्रायः मनुष्य सत्यसे विमुख हो गये हैं, जगत्‌को जड़ समझ लिया है, कर्मको जड़रूपसे देखते हैं, चैतन्यरूप द्रष्टाकी धारणा भी नहीं कर सकते। इसी कारण शास्त्रोक्त कर्म प्राणहीन अनुष्ठानमात्रमें समाप्त हो जाते हैं। शानरूप अमृतफल पानेके लिये ही कर्मक्षेत्र (देह) में निवास और अनेक प्रकारके कर्म किये जाते हैं। किन्तु हाय ! केवल सत्यप्रतिष्ठाके बिना सब कर्म निष्फल हो जाते हैं। मियतम साधक। यदि आप यथार्थ सुखी होना चाहते हैं तो सत्यप्रतिष्ठाका अवश्य अनुशीलन करें।

२-विष्णुग्रन्थभेद, महिषासुर-वध या प्राणप्रतिष्ठा

जानन्तु विद्वे अमृतस्य भक्ता

ब्रह्मग्रन्थभेद होनेसे मधुकैटभ-वध या आगामी कर्मोंका बीज नष्ट हो गया। साधक अब नित्य नयी-नयी आशा-

आकाशा लेकर कर्ममें प्रवृत्त न हों। कर्मक्षेत्र (शरीर) में रहनेसे वाध्य होकर कर्म तो किये ही जायेंगे, क्योंकि— न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

परन्तु अब अनासक्त होकर कर्म करने पड़ेगे। उनकी सफलता और निष्फलतामें हर्ष-शोक न हो। विज्ञान-मय गुरु मेवस्की कृपासे ज्ञाननेत्र जैसे-जैसे खुलते जाते हैं वैसा ही क्रमसे अज्ञानान्धकार दूर होता जाता है।

साधक ! पहले 'छी-पुच्छादि' गृहस्यके वन्धनको ही परमात्मप्राप्तिमें बन्धन समझते थे और उनका साथ छोड़ना चाहते थे। परन्तु अब गुरुने अनुभव करा दिया कि ये बन्धन नहीं हैं, वल्कि तुम्हारे सूक्ष्म शरीरमें अन्तः-करणके सस्कार ही यथार्थ बन्धन हैं, जो अनेक जन्मसे साथ चले आ रहे हैं। ससार तुम्हारे भीतर ही है, तुम किसी भी एकान्त स्थान वा पर्वतकन्दरामें भी न चले जाओ, पर ये संस्कार साथ ही रहेंगे; जब साधक भलीभौति यह अनुभव कर ससारका मूलोत्पाटन करना चाहता है तब सत्यप्रतिष्ठाके फल और सद्गुरुरूपासे सोती हुई प्राणगत्ति जाग्रत् होकर आगामी कर्मोंके बीजरूप मधुकैटभका प्रथम निधन करती है। विष्णुकर्णमलोद्धूतौ मधुकैटभौ ।

साधनक्षेत्रमें प्राणका नाम है 'विष्णु'। विष्णुका और एक विशेषण है प्रभु, अर्थात् स्वाधीन, जो स्वतन्त्ररूपसे इच्छाशक्ति चला सके। जब जगत् नहीं रहता तब जगद्-व्यापी प्राण 'शेषमास्तीर्य' अर्थात् भविष्य जगत्‌के बीजों-को शश्यरूप कल्पितकर 'अधःकृत' अपनेमें लीनकर योगनिद्रा लेते हैं। 'योग' का अर्थ है परमात्ममिलनभाव। उस समय जगद्भाव सुत रहनेके कारण व्ययदारमें वह निद्रारुल्य है, योग सिद्ध होनेपर जगद्भावमें सुतभाव होगा ही, इस दशामें विष्णुकी फिर स्वतन्त्रता नहीं रहती, योग-निद्रास्वरूपिणी मातृसत्ता विद्यमान रहती है।

विष्णुकर्णका अर्थ है व्यापक चिदाकाश (विष्णु—व्यापक, आकाश शब्दगुणात्मक है, शब्द कानसे ही मुनायी देता है।), मलका अर्थ है आवरक—आवरण करनेवाला, जो निर्मल शुभ्र चिदाकाशको आवरण करे वह मधुकैटभ है। मधुका अर्थ है आनन्द, कैटभका अर्थ है वहुत्व।

कीटवद् भाति इति कीटभः, तस्य भाव इति कीटभः ।

घोटे-घोटे कीड़ोंके समूहकी तरह सञ्चित कमवीज एक साथ अनेक भावोंको दरसाते हैं, अतएव अनेकताका | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

वीज ही कैटभ है। जब मधुकैटभ मारे गये तब मानो समारम्भीरहकी एक जट कट गयी, परन्तु अभी दो जड़ें वडी दृढ़तासे जमी हुई हैं, वे सहजमेनहीं उखड़तीं। सञ्चित कर्म जो तुमने वहुत्व चाहा था वह तो जमा है, चित्तक्षेत्रमें उनका कोष भरा हुआ है, उनका नाभ हुए विना—महिपासुर-वध हुए विना—भूमासुखकी प्रातिकी आशा नहीं। परन्तु भय नहीं, मैं तुम्हारी 'मौ' हूँ, मैंने गुरुरूपसे प्रकाश किया है, मैं स्वयं खङ्गपाणि होकर समराङ्गमें अवतीर्ण हो तुम्हारे सब सञ्चित सस्कार विलय कर दूँगी, तुम केवल मेरी गोदमें बैठे तमाशा—लीला देखते रहो। जब तुमने भयके कारण आर्त होकर मुझे 'मौ' कहकर पुकारा है, जब तुम मेरे महाप्राणमें प्राण मिलाकर व्याकुल भावसे देख रहे हो, तब निर्भय रहो, मैं तुम्हारे सब वन्धन काटकर अपने अङ्गमें मिला लैँगी। तुम्हें कुछ भी नहीं करना होगा, तुम सुख-दुःखमें निर्विकार आनन्दमय नम मरण शिशुकी भौति मेरी स्नेहमय गोदमें द्रष्टारूपसे अवस्थान करो।

जीव अनेक जन्ममें अनेक प्रकारके वैध कर्मोंके अनुष्ठान, योग, तपस्या या भक्ति-ज्ञानके अनुग्रीलनसे परमात्म-विषयक सस्कार सञ्चित करता है, वे ही देवता हैं। अर्थात् मन-त्रुद्धि-इन्द्रियोंकी जो परमात्ममुखी गति या मिलन-प्रयास है उसीका नाम देवगक्षि है और विषयाभिमुखी लालसा ही असुर है अथवा गीतोक्त देवासुर-सम्पत्तिको देवासुर समझिये। यह देवासुर-सप्त्राम जीव-देवमें मदा ही चला करता है। वह मूर्ख और कारणमें और स्थूल सप्त्राम कथा-वार्तामें सुना ही होगा। तीनों ही सत्य हैं।

अस्तु, रजोगुण महिपासुर है, 'क्रोधञ्च महिष दन्तात्' यहाँपर क्रोधरूप महिषका, देवीके प्रति, वलि देना कहा है, परन्तु—

काम पृष्ठ कोव पृष्ठ रजोगुणसमुद्रभवः।

कोव रजोगुणसे ही उत्पन्न है। कामना और वासनाएं रजोगुणके ती स्थूल विकासमात्र हैं। महिपासुर उनका अधिपति है। रजोगुणके अन्तमुखी विकासमूह देवता है। इनके अधिपति (जो नव द्वाख्याले देवरूप पुरको व्यसकर अर्थात् दन्तमयोध विलयकर देवत्वातीन, अवस्थाप्रयातीन, गुणत्वगतीत, परमात्मसत्ता, मानुअक्षम मिलनेका

प्रयास है वही) पुरन्दर हैं। अभय, सत्त्वसञ्चादि, दान, दम, तितिथा आदि देवभाव इनके आज्ञानुवर्ती हैं।

एक तरफ भोगकी लालसा-वासना, दूसरी ओर मोक्षका आकर्षण। यह सप्त्राम परमाणुमात्रमें हर समय चला करता है। परन्तु जोव जब मनुष्य-जरीरमें पहुँचता है तब आत्मयोध होनेपर विज्ञानमय कोपमें साधकोंके अनुभवमें आता है, तभी उसका मनुष्य-जीवन सफल होता है। साधक। देखते हो, तुम्हारे सञ्चित संस्कार आसुरी गक्षि-वलसे तुम्हें पराजित करते हैं (अपवर्गमें पहुँचनेकी तुम्हारी राहको रोकते हैं)। जब ऐसा विचार करनेमें कई जन्ममें सौ वर्ष पूरे हो जायेंगे तब यह सप्त्राम अपने आप समाप्त हो जायगा—'पूर्णमब्दगत पुरा।' हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ जीवन कहने योग्य नहीं है। कारण कि जीवन वह है जो गति-गक्षिकाला हो, जिसमें हम उत्पत्ति करें, देवासुर-सप्त्राम अनुभव करते हुए जिसकी समाप्ति हो। जिसने मनुष्य-जीवन-व्यापी देवासुर-सप्त्राम, रासलीला या रामलीलाका अन्तरमें अनुभव नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ गया।

'वृद्धा गतं तस्य नरस्य जीवितम् !'

'यत्रैव जायते तत्रैव मियते !'

इस साधन-समरमें पहले देवताओंकी हार हुई, देव-गक्षि और असुरगक्षि दोनों ही मनके भाव हैं। नाभि या मणिपूरचक्रसे नीचे असुरोका क्षेत्र है और इससे ऊपर देव-क्षेत्र है। नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है, मनका जो अग परमात्माभिमुखी हुआ है वह पद्मयोनि है, उसे आगेकर देवता (इन्द्रियाधिष्ठित चैतन्य) विष्णु और शिवके अरणापन्न हुए। विष्णु प्राणगक्षि है, इनका स्थान हृदयपन्न है। शिव ज्ञानगक्षि हैं, इनका स्थान ललाट या आज्ञाचक है) [सद्गुरु हृदय-कमलसे साधन आरम्भ कराते हैं अर्थात् पहले विष्णुकी आराधना कराकर धीरे-धीरे ललाट कमलतक पहुँचते हैं, जीवका निवास साधनसे पूर्व मूलाधार या पृथ्वी-चक्रमें होता है, इसके ऊपर स्वाधिष्ठान (जलचक्र), फिर मणिपूर (अग्निचक्र), इन तीनके ऊपर हृदय-कमलतक वडी ऊँची सीढियों हैं, समर्थ गुरु शिशु-सावकको गोटीमें ले अपने हाथसे चौथी सीढियोंपर विटा देते हैं। इससे ऊपरकी सीढियों कम ऊँची और चौड़ी हैं। इस कारण उनपरसे फिसलनेका डर नहीं होता, तो भी सद्गुरु अपने चतुर्भुजस्तपसे सावे या देखते रहते हैं। मन्तोंकी दिव्य दृष्टि पदार्थमें भी नहीं रुक सकती। वह

एक्तर-रेजले अनेक गुण तीव्र होती है। रेज़ रक्षमांसके पारतक ही दिखा सकता है, हड्डीके अन्दर उसकी गति नहीं]

मन (ब्रह्म) ने यह समझ लिया कि प्राण और ज्ञानकी सत्ता विना मेरी सत्ता है ही नहीं, यही शरणगति है। जीव जबतक अहताको जोरसे पकड़े रहता है तबतक उसका अभिमानसे उठा हुआ सिर किसी प्रकार छुकना नहीं चाहता और न तबतक शरणगतभाव आता है। शरणगत हुए या आत्मनिवेदन किये विना सावनका आरम्भ और आगे बढ़ना हो नहीं सकता।

इन्द्रियोंकी उद्धायतासे जो ज्ञान होता है उसकी पहुँच बुद्धितक है। इससे आगे वैष्णविक प्रकाश नहीं। इसी कारण वौद्ध-ज्ञानको ल्यका देवता कहा जाता है।

मन (ब्रह्म) ने, आजनक जो-न्जो वृत्तियों उदय होती रहीं उन सबको, बुद्धिके प्रकाशसे प्रकाशित कर प्राण-को मेट किया, परन्तु आज मन ही उसे असुरोका अत्याचार बतला रहा है। इधर मधुकैटभवव (ब्रह्म-ग्रन्थ-भेद) के समयसे प्राण (विष्णु) की भी निःश भङ्ग हो गयी है, ज्ञान-शक्ति भी विज्ञानमय गुरुह्यपसे प्रकाश कर रही है। जीव। अब तुम भी इधर-उधर भटकना छोड़कर अपने अन्त-स्थित ज्ञानमय गुरु-चरणकी द्वारण लो। वे साक्षात् हरि हैं।

तृणादपि सुर्वाचेन तरोरिच सहिष्णुना ।
लभानिना भानउन कोर्तनीय सदा हरि ॥

ऐसे बनकर, रोते हुए कहो, प्राणमय गुरो! इन असुरोंकी पांडासे बचाइये, वे नुज़े आपके समीनतक नहीं पहुँचने देते। द्वा कर, इन सञ्चित कर्मोंके विपरीत आकर्षणसे रक्षा कीजिये। आप ही मेरे—

गतिर्भर्ता प्रसुः साक्षो निवान् शरणं सुहृत् ।

—सब कुछ है। नेरी जड़ता दूर कीजिये। (जड़ता रहना ही असुरोंका अत्याचार है।)

देखो जीव। चैतन्य ही तुम्हारा स्वल्प है, तुम्हारी इन्द्रियाँ चैतन्यके ही प्रबाहमात्र हैं, जहाँ चैतन्य है वही अनुन है, किन्तु तुम असुरोंद्वान् ऐसे दृष्टसर्वत्र हो रहे हो कि असृजने रहते हुए भी आनन्दानुतकी एक बैदुको तरसने हो इच असुरके अत्याचारका अनुनव तो करो। ऐसे वै भूमा तन् सुखम्, नाल्ये तुखननिः। तुख ही स्वर्ग है (तु+अजन्तव्य)। अपने प्राणको अस—आनन्द 'मौ'

तमझकर आदर करो, प्रत्येक पदार्थको प्राणह्य अनुभव करो, तब तुम्हारे सब अभावोंका रोना सदाके लिये बन्द हो जायगा, 'मौ' राजराजेश्वरीमूर्तिसे हृदयमें प्रकाशित होगी। अपने अभीष्ट देवताके दर्घन पाकर तुम धन्य हो सकोगे। तुम्हारी 'विष्णुप्राण्य' खुल जायगी। इस प्राणको 'मौ' समझ लेनेसे फिर प्राणका पता नहीं पाया जाता। तुमने तो अपने नवद्वार बन्द कर रखे हैं, मौको प्राण-मिश्रा देना नहीं चाहते। इसीसे तो 'मौ' ने गोपालमूर्तिसे बृन्दावनमें अवतीर्ण होकर माखन (प्राण) चोरी की थी। वह बृन्दावन क्या है? बुद्धिमेत्र ही बृन्दावन है, इसी सानमें जीवात्मा-परमात्माका मिलन होता है, इसीमें रासलीला होती है, यही जीवनमुक्तका आनन्दनिकेतन है। रसह्य आत्मा, इन्द्रियान्तिर्पिणी गोपियोंसे परिवेष्टित आराधिता जीवप्रहृति राधाके साथ रसिकशिरोमणि 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' श्रीकृष्ण आत्माराम होकर भी रसण करते हैं। बौद्धोंकी भाषामें यही कैलास है। वहींपर विज्ञानमय महेश्वर, माहेश्वरी पराप्रहृतिके साथ विहार करते हैं। वहींपर 'सर्वमापोमय जगत्' जडमावका अभाव है, केवल 'चिन्मय' है। वहींपर विष्वसस्तर्यजन्य आनन्द और बहुत्वका अन्त होता है। एक सन्तका गान यहाँ याद आ गया—

हमार बृद्धनन उर और ।

माया काल तहाँ नहिं व्यापे जहाँ रसिक सिरमार ॥

कूट जाँच सब असन वसन मनकी दौरादौर ।

गोविंद रसिक लक्ष्मी श्रीगुरु अनल अलौकिक ठार ॥

जावक। तुम अपने प्राणको जबतक विश्वप्राणह्यपसे न समझ सकोगे, तबतक विष्णुप्राणियभेद न होगा। तुम्हारे जीवभावीय सत्कार है, वे प्राणमें अवस्थित हैं, उन्हें तुमने सङ्कीर्ण कर रखता है। इसीने तुम्हारी विष्णु (प्राण) ग्रन्थि खुलती नहीं। परमेश्वरी मौको—आत्माके तुख्यर जीवत्वकी स्वाही लगा, कङ्गालिनी बनाकर देहह्य प्रीर्ण कृदीरमें छिग रखता है, उससे अपने अभाव अभियोगोंका प्रतीकार होता हुआ न देखकर व्यङ्ग बचन कहते हो, हम तुच्छ हैं दीन हैं दर्शि हैं, परन्तु क्या कभी तुमने उस मौकी करतपर भी निगाह डाली है? वह सदेश्वरी दोकर भी तुम्हारे अभाव दूर न हुए दिन-दिन बटते ही जा रहे हैं, वह जार-ज्ञार गैरी हुड़े छष्ट उत्तरी हुड़े तुम्हारे दुर्लभताकर्त्ता है, जिन अपनी उग्गा विचानकर आङ्ग ग्राणसे

जो व्यथा सहती है उसका विचार करनेसे बज्जट्टय भी ढुकड़े-ढुकड़े हुआ जाता होगा कि राजराजेश्वरीकी सन्तानकी यह दुर्दशा ।

जीवकी उच्छृङ्खल कामनाएँ पूर्ण करते-करते मॉ ! आज तुम मिखारिणी हो रही हो, तुमने अपना सर्वस्व दे डाला है, परन्तु हम ऐसे कुपुत्र हैं कि तुम्हारी इस दग्धाका उलटा तिरस्कार करते हैं, हम कब मनुष्य होंगे ? कब अपनेको माँकी सन्तान समझ सकेंगे ? क्षमा करो मॉ, हम अकृतज्ञ, अधम, शिशु पुत्रोंका यह अज्ञानकृत अपराध क्षमा करो—

कुपुत्रो जत्येत क्वचिदपि कुमाता न भवति ॥

अब हम लज्जाके मारे कुछ कहने-विचारनेयोग्य नहीं हैं, इस असुरसे बचाओ ।

सुनो जीव ! तुम्हारी यह कल्पित भाव-दीनता देखकर मॉ तुम्हें आगीर्वाद, नहीं नहीं, वर देनेको तैयार हुई है, उसे ग्रहण करो, तुम्हारे सब अभाव दूर होंगे ।

यं लव्धा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचालयते ॥

(गीता ६।००)

विक्षेप-आवरणादि असुरवृत्तियाँ प्राणप्रतिष्ठा होनेपर प्राणमय हो गयीं, भेदज्ञान दूर हो गया, सञ्चित सस्कार दध वीजवत् हो गये, प्राणमय ग्रन्थि खुल गयी, अब सञ्चित सस्कारोंका फल भोगे बिना ही जीव मॉकी गोदमे आरोहण कर सकेंगे, विष्णुप्राण्यमेदका यही विशेष फल है । अब समझमें आ गया कि 'मॉ-गुरु' के प्राण ही हमारे प्राणरूपसे प्रकाशित हैं । विषयमात्र ही मानो प्राणकी मूर्ति हैं, अब यह देख पाया है । अब विषयोंपर जो ममता, अनुराग या विद्रेप था, वह भी दूर हो गया । तुम प्राण या चैतन्यपर प्रतिष्ठित हुए हो । ससारबृक्षकी दूसरी जड़ भी कट गयी । रजोगुणरूप महिषासुरका वध हुआ, सञ्चित कर्म दग्ध हो गये । परन्तु सबसे मजबूत प्रारब्धमोगरूप मोटी जड़ अभी शेष रही है, यह रुद्रग्रन्थमेद होनेपर मॉ—समर्थ गुरुकी कृपासे एक ही शरीरसे अनेक जन्मोंका फल भोग करकर स्वयं काट देगी ।

रुद्रग्रन्थमेद—शुभमवध या आनन्दप्रतिष्ठा
पद्यन्तु सर्वे अमृतस्वरूप
गच्छन्तु सर्वे अमृत निधानम् ।

अब हम रुद्रग्रन्थके समीप होते हैं, यद्यपि 'प्रारब्ध-कर्मणां भोगादेव क्षयः' श्रुतिमें कहा है, तथापि भगवान् श्रीकृष्णजीका उपदेश लक्ष्य भेदकर और भी आगे बढ़ता है—'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते' । प्रारब्ध जीव-रूप वृक्षका अन्तिम वन्धन है । मॉकी कृपासे यह करते ही अज्ञान-अन्धकार विल्कुल दूर हो जायगा, जीवका जो यथार्थ स्वरूप है वह प्रकाशित होने लगेगा । सुरथ ! तुम आत्मसमर्पणयोगकी सहायतासे मुक्तिसागरमे कूट पड़े हो, दो लहरें तुम्हारे ऊपर होकर निकल गयीं । स्थूल और सूक्ष्म शरीरपर जो अभिमान था वह दूर हो गया । अब इस समरके लिये कुछ अस्त्र आवश्यक हैं उन्हें दृढ़तापूर्वक काममें लाना होगा—(१) 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' इसपर दृढ़ विश्वास प्रथम अस्त्र है । (२) बुद्धितत्त्वमें अवस्थानकर स्वयंप्रकाशित चित्तिशक्तिकी ओर वार-वार लक्ष्य करनेका अभ्यास, यह दूसरा अस्त्र है । (३) युक्तिकी सहायतासे दृढ़ करना कि इन दृश्य पदार्थोंमें व्यावहारिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं, यह तीसरा अस्त्र है । (४) शास्त्रीय प्रमाणोंकी सहायतासे 'तत्त्वमसि' 'एकमेवाद्वितीयम्' 'नेह नानास्ति किञ्चन' इत्यादिकी सहायतासे अद्वयस्वरूप परिग्रह करनेका प्रयास करना, वह चौथा अस्त्र है । (५) मॉकी विशिष्ट कृपा पानेके लिये कातर प्रार्थना आदिसे अन्ततक कृपा रखनेकी प्रार्थना करना । कृपा ही अरणागतभावका अवश्यम्भावी फल है । आत्मप्राप्तिके पक्षमें आत्मकृपा ही प्रधान अवलम्बन है, कृपा प्राप्त होनेसे सब अनायास प्राप्त हो जाता है । ये व्युक्तिमें फल देते हैं । सबसे पहले मॉकी कृपाका अनुभव होता है, फिर विश्वास दृढ़ होता है, फिर शास्त्रवाक्यका अर्थ प्रतीत होता है, फिर युक्ति या विचारकी सामर्थ्य उत्पन्न होती है । अन्तमें अनुभूतिको लक्ष्यकर अभिन्नस्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेकी योग्यता होती है ।

यह योग्यता होते ही तीसरी लहर कारण शरीरका अभिमान भी दूर हो जायगा और तुम आनन्दमें प्रतिष्ठ होओगे, रुद्रग्रन्थमेद हो जायगा । आओ साधक ! आओ जीव ! एक स्वरसे मॉको प्रणाम कर आगे बढ़े और जिसने इस दुर्जय असुरकी पीड़ासे परित्राणकर अपने स्नेहमय बक्षपर रखकर आनन्दमय मन्दिरमें पहुँचाया है, उसके चरणोंपर प्रणत हों । प्रणाम करनेके सिवा और हम क्या सेवा-पूजा कर सकते हैं ? हमारा है क्या, सब कुछ उसीका

रुप है। अपना आत्माभिमान-बोध मॉके चरणोंमें देना ही प्रणाम है। जिसका प्रणाम जितना सत्य, सरलतामय और निष्कपट है वह उतना ही शीघ्र और सहजमें अपना अभीष्ट प्राप्त कर शान्तचित्त होता है।

आनन्दमय सन्तान। तुम सत्यके आनन्दमय आह्वानसे प्रवृद्ध हुए हो, प्राणके अमृतमय स्पर्शसे गरीरमें रोमाञ्च हुआ है, अब मेरी आनन्दमय सत्ताको प्रत्यक्ष करो, देखो, मैं आनन्दमय, मधुमय, अमृत, अभय और नित्यमुक्त हूँ। निरवच्छिन्न आनन्द ही मेरा स्वरूप है। श्रुति कहती है, 'आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कुतश्चन,' 'सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म'। यद्यपि आनन्दका थोड़ा-बहुत अनुभव प्राणिमात्रको है, जगत्में काम्य वस्तु प्राप्त होनेपर कुछ आनन्दभाव सबके हृदयमें उत्पन्न हो जाता है, तथापि वह विषयेन्द्रियसंयोगजन्य आनन्द है। यदि कदाचित् तुम्हें समर्थ गुरु कृपा कर एक ऐसी अवस्थामें ले जायें कि जहाँ किसी प्रकारका विषयसंस्पर्श नहीं, कुछ चिन्ता नहीं, कुछ भावना नहीं, त्याग नहीं, ग्रहण नहीं, दर्शन-श्रवणादि च्यापार नहीं बल्कि केवल आनन्द-ही-आनन्द है तो उस अवस्थाको ही 'मॉ-आत्मा' का स्वरूप समझ लो। और धीरभावसे आगे बढ़ो। आनन्द एक प्रकारका भाव या ज्ञान है। उसमें सजातीय, विजातीय और स्वगतभेद नहीं है, अङ्गाङ्गीभाव, भोक्तृभोग्यादिभाव भी नहीं है, वह केवल विशुद्ध आनन्द है। इसीको श्रुतिने 'एकमेवा-द्वितीयम्' कहा है। इस आनन्दका ही दूसरा नाम रस या प्रेम है। यहाँ प्रेम-प्रेमी और प्रिय तथा रसिक, रस और रस्य, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी कुछ विभिन्नता नहीं है। केवल प्रेमरस है। इसे भाषामें क्या कहे, कैसे समझावें, वह तो भाषासे वाहर है। परन्तु समझने-समझानेकी चेष्टा सदासे चली आयी है और चलेगी। अतएव पूज्य आत्मदेवका स्मरणकर यथागति लिखनेका साहस करते हैं, पाठकगण! ध्यान करें। श्रुतिने उसे—

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य भनसा सह'
'अशब्दमस्पर्शमस्तुपमव्ययम्' 'अस्यूलमनणवद्स्तुम्'
इत्यादि नेति-नेति मुखसे 'मॉ-आत्मा' का निर्गुण रूप समझानेकी बहुत चेष्टा की है।

इस निर्गुण निरखन स्वरूपके ऊपर आत्मा (मॉ) का दो प्रकारका महत्व प्रकाशित होता है—एक ईश्वरत्व, दूसरा जीवत्व। आनन्दते ही इन भूतोंकी उत्पत्ति है, Hinduisms Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

आनन्दमें ही उनका अवस्थान और आनन्द ही प्रलय-स्थान है। निर्गुणका अर्थ है अभिन्न गुण। ब्रह्मकी यह विशेषता है कि इसे जो जैसा कहे वह ठीक वैसा ही है। क्योंकि प्रकाग-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, सगुण-निर्गुण, सुख-दुःख इत्यादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्म भी तो एक साथ ब्रह्ममें ही मौजूद हैं, तो भी उसके निरखन स्वरूपमें कुछ व्याघात नहीं होता। केवल आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अपना निरखन स्वरूप सर्वथा अखण्ड रखते हुए भी एक साथ ईश्वर और जीवस्वरूपसे प्रकट हो सकता है। यही ब्रह्मका ब्रह्मत्व है। वह सत्, चित् और आनन्द है, यही प्रथम स्पन्दनमें सत् या सत्त्वगुण, द्वितीय स्पन्दन-में चित् या रजोगुण—आनन्दकी अनुभवशक्ति और तृतीय स्पन्दनमें आनन्द या तमोगुण अनुभाव्य—भोग्यभाव प्रकाशित होता है। उसका नाम 'आत्मा' 'मॉ' कुछ भी रख लीजिये। यह ज्ञानस्वरूप परमात्मा परम प्रेमास्पद है, जिसकी प्रीति साधनके लिये जीवत्वका बन्धन अनादि-कालसे लादे आ रहे हैं, जिसकी रक्षाके लिये 'आत्माये पृथिवीं त्यजेत्' सब पृथिवी त्यागना कहा है। पृथिवी मूलाधार कमल है, इसको त्यागकर उन्नत हुए विना आत्म-राज्यमें पहुँच नहीं हो सकती। वह आत्मा कितना धन आनन्दस्वरूप है, क्या मुखसे उसका वर्णन किया जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि हजार बार सगुण होनेपर भी उसकी निर्गुणतामें कुछ विकार नहीं होता, जैसे हजार आभूषण नाना प्रकारके वना लेनेपर भी सुवर्णका सुवर्णत्व नष्ट नहीं होता। ब्रह्ममें गुणातीत और गुणमय ये दोनों भाव साथ ही विद्यमान हैं। जब आनन्दमय आत्मा आप अपनेको बहुधा विभाजित कर भोग करता है तब वह ईश्वर है और जब उस समाइ ईश्वरानन्दको व्यष्टिरूपसे भोगता है तब वही जीव है। जैसे समुद्रका जल, जलकी लहरें और जलकी धूंधें इनमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार केवलानन्दमयी, सर्वकारिणी, ईश्वरानन्दमयी और फिर सर्वरूपिणी जीवानन्दमयी 'मॉ' है।

साधक। अब विचार कीजिये कि धीरे-धीरे आप कहाँ आ पहुँचे। अब आपकी देहका प्रत्येक परमाणु आनन्दके सिवा और कुछ भी नहीं है। आनन्द ही आपका निमित्त, आनन्द ही उपादान, आनन्द ही त्वरूप है। | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

आपके चारों ओर आनन्द-ही-आनन्द है। जड़ पत्थरतक सभी आपके पारिवारिक जन, आनन्दमय घन सत्ता हैं।

अजी, आप आनन्दसमुद्रमें मग्न हो, दिन-रात आनन्दकी सेवा करते हो और फिर भी नेत्रहीनको भौति खोजते हो कि 'आनन्द कहो है?' एक बार मॉकी ओर देखो तो सही, फिर आपको कहीं भी आनन्दका अभाव न रहेगा। यह ससार आनन्दमय भासने लगेगा और आपकी जगद्भौमिकी वासनाएँ विलकुल अन्तर्हित हो जायेंगी।

था देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।

नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

इस प्रकार विष्णुमाया, निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लजा, जान्ति, श्रद्धा, कान्ति, लक्ष्मी, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, सातृ और भ्रान्ति आदि सब आत्मा—मॉके ही रूप तो हैं, सबको प्रणाम। जब इतना छढ़ विश्वास हो जाता है, तब साधक नृपनन्दन कहलानेका अधिकारी होता है।

ऋषिरुचाच—

एवं स्तवादियुक्तानां देवानां तत्र पार्वती ।

चातुर्मध्याययौ तीये जाह्नव्या नृपनन्दन ॥३७॥

यहाँ साधकका चित्त आद्र होकर प्रेमाश्रु निकलने लगते हैं, यही गङ्गाजल है, इसमे स्नान करनेको 'मॉ' आती है। सन्तानके परम पवित्र प्रेमाश्रु विना 'उमा' का स्नान-अभिषेक नहीं होता। त्रितापसन्तापसन्तत सन्तान-के आकुल आर्तनादसे विक्षेपित मातृवक्षको शीतल-शान्त करनेके लिये निष्कपट प्रेमाश्रुओंकी ही आवश्यकता है। अर्थात् साधक देखते हैं कि यह परिदृश्यमान विश्व केवल जड़ पदार्थ नहीं है, आनन्दमयी मॉकी मूर्ति है—

सोऽव्रवीद् तात् सुरान् सुभुर्मवक्षिः स्तूयतेऽन्नं का ।

सरल अबोध बालिकाकी भौति 'उमा' गिवा सन्तान-को व्याकुल देख पूछती है, अरे! क्या हुआ? तुम किसकी स्तुति करते हो? यहाँ असितारूप शुम्भ दैत्यका निघन होगा। अन्नमयादि पञ्च कोशोंसे प्रकट होनेके कारण 'कौशीतकी' नाम पड़ा है—

कौशीतकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ।

एक बार अद्वयतत्त्वका साक्षात्कार प्राप्त हो जानेपर साधककी भेदभान्ति, वन्धनभय, मृत्युभय दूर होकर

अभय हो जाता है। उसके बाद जबतक स्थूल देह रहती है, तबतक साधक प्रारब्ध संस्कार क्षय करता और अन्तमें कैवल्य मोक्ष प्राप्त करता है। प्रबल प्रारब्ध रहनेतक शुम्भ-बघ या रुद्रग्रन्थिभेद (यथार्थ अद्वैततत्त्वप्रकाश) नहीं होता। यहाँतक तो साधकका ममता-क्षय (निशुम्भन्ध) हुआ। जबतक साधक यथार्थ अहके दर्शन नहीं कर सकता, तबतक उसका मिथ्या अह दूर नहीं होता, 'मैं-मॉ' के दर्शन होते ही ब्रह्मवित् पुरुष निरहङ्कार हो जाते हैं। सच्चे सन्तका लक्षण निरहङ्कार होना ही है।

अब असिता (शुम्भ) और दुर्गा (प्रतिव्रिम्ब और विम्ब) का दारूण युद्ध होता है। कारण, असिताकी सत्तासे ही सब लोकोंकी सत्ता है, असिता न रहे तो सर्व कहनेको कुछ रहता ही नहीं। असुर भी असिताके ही भिन्न-भिन्न स्फुरणमात्र हैं।

साधक एक दिन गीताके अन्तमे श्रीसमर्थ गुरुकी अर्पूर्व वाणी 'मामेकं शरणं ब्रज' सुनकर मुग्ध हुए थे, अपने 'मैं' को उनके चरणोंमें अर्पण किया था। इतने दिन बाद उसकी सार्थकता अनुभवमें आयी है, जब मॉने आत्मसत्तामें मिला लिया है, अब कहो—

धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं सफलं जीवनं मम ।

धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दं विभाति मे ॥

शुम्भ देवीके शूलसे आहत और गतप्राण होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। प्रबल प्रारब्धस्कार क्षीण होनेपर आत्मप्रकाश होता है। इसीको साधनकी भाषामें रुद्र-ग्रन्थिभेद कहते हैं। इस जगत्, देह आदिकी प्रतीति ही रुद्रग्रन्थि है। जगत्की सत्ता त्रिकालमें नहीं है, एक अद्वितीय आत्मा नित्य विराजमान है, आत्मा नित्य शुद्ध निरलजन है। उसपर जो अत्यन्त अनुराग है वही अहंतुकी भक्ति है।

असिता नष्ट होनेपर सर्वत्र प्रसन्नता दीख पड़ती है, आत्मप्राप्तिके बाद साधकके शब्द मधुर उच्चारित होते हैं, कण्ठमें आकर्षणभाव आ जाता है। रोग-शोकमें भी यह स्वरूपानन्द विच्युत नहीं होता। यह आनन्द ही सांख्यका पुरुष, वेदान्तका ब्रह्म, उपनिषद्की आत्मा, गीताका श्रीकृष्ण, देवीमाहात्म्यकी चण्डिका और साधककी 'मॉ-उमा' है। एक बार कहिये।

'सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ।'

‘तथा चात्मविद् संसारं तीर्त्वा ब्रह्मानन्दमिहैव
श्रामोति ।’

तनुं त्यजतु काश्यां वा श्रपचस्य गृहेऽथवा ।

ज्ञानसम्प्राप्तिसमये मुक्तोऽसौ विगताशयः ॥

खलः काले काले निशि निशितमोहैकमिहिका

गता लोके लोके विषयशतचौराः सुचतुराः ।

प्रवृत्ताः प्रोद्युका दिशि दिशि विवेकैकहरणे

रणे शक्तास्तेषां क हृव विद्विष्यः प्रोद्यु सुभटाः ॥

उपसंहार

वत्स सुरथ ! तुमने और समाधि वैश्यने कहा था कि
हम जानी हैं, जानते हैं, तो भी यह मोह हमें क्यों होता
है ? इस मोहके छूटनेका उपाय जो गीतामें कहा वही
यहाँ भी कहते हैं—

तामुपैषि महाराज शरणं परमेश्वरीम् ।

आराधिता सैव नृणां भौगस्वर्गापवर्गाद् ॥

माँकी आराधना करनेसे पहले वह ब्रह्मग्रन्थभेद
करेगी, उससे विषयासक्ति दूर होगी, तब पार्थिव भोग
अपने-आप आकर उपस्थित होंगे, यही माँका प्रथम दान
है। दूसरी मूर्तिसे विष्णुग्रन्थभेद करेगी, उसके फलसे
विश्वमय प्रियतम प्राणसन्ताके दर्शन कर तुम स्वर्ग-सुख-
भोगके अधिकारी होगे और तीसरी मूर्तिसे वह रुद्रग्रन्थ
भेदकर तुम्हें विशुद्धवोधस्वरूप (आत्मज्ञान) मे उपनीत
करेगी, तब तुम मोक्ष प्राप्त करोगे ।

तीन स्थानों (मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय क्षेत्र)में
उपासना करनेसे प्रसन्न होकर जगद्वात्री माँके चण्डिका-
रूपसे आविर्भूत होनेपर साधकका तीनों ग्रन्थभेद हो जाता

है। सुरथ और समाधिकी उपासनाप्रणाली क्रमशः साधन-
समरकी रीत अथवा योगकर्मका कौतल है ।

सुरथ जीवात्मा है, आत्म-राज्यसे विच्छुत हुआ है,
वह इन्द्रियवृत्तियोंपर आधिपत्य चाहता है जिससे
विषयेन्द्रियद्वारा पीड़ित न हो, और समाधि वैश्य (आत्म-
राज्यमे प्रवेश करनेवाले साधक) ने अह-ममत्वरूप
ससारासक्ति-विनाशक आत्मज्ञानके लिये प्रार्थना की है ।
माँके दर्शन होते ही मन विना रोक-टोकके भोग चाहता
है और प्राण आत्मामें तन्मय होना चाहते हैं, इस प्रकार
साधकको भोग और मोक्ष दोनों ही प्राप्त होते हैं । माँने
श्रीकृष्णरूपसे गीतामें कहा था—

आव्रहामुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।

मामुपेत्य तु कौन्तेय युनर्जन्म न विचरते ॥

(८।१६)

अनन्यचेताः सततं यो मां सरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम् ।

नामुवन्ति सहात्मानः संसिद्धिं परसां गताः ॥

(८।१४-१५)

‘न स पुनरावर्तते’

इत्थं यदा यदा वाधा दानवोत्था भविष्यति ।

तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरिसंक्षयम् ॥

इस प्रकार साधकोंकी सब वाधाएँ दूरकर माँ उन्हें
अपनेमें लीन कर लेती है, तब सारा जगत् ब्रह्ममय दीखने
लगता है—

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमामुयात् ॥

सांख्ययोग

(लेखक—स्व० महाराज साहव चतुरसिंहजीरचित्)

(मेवाड़ी भाषामें)

दीखे सो दीखी नहीं, अण देखी देखाण । राईमें पर्वत छिपै, उद्या अलख पिछाण ॥
रात पड़्याँ उगे रवी, दने न दिखे भाण । अस्या रात दिन वे जडे, उद्या अलख पिछाण ॥
देखूँ देखूँ छोड़ने, देखूँ देखूँ ठाण । हैं दीखूँ रो दीखणों, उद्या अलख पिछाण ॥
लेखण पै कागद लखे, अखर खुले असमान । उण आखर रे आलखे, उद्या अलख पिछाण ॥
कागद कीड़ी रे जस्यो, ची मे वेद कुरान । ची में अक्षर एक नी, उद्या अलख पिछाण ॥
नारी नारीने जणें, पण नर सू अणजाण । जाण वियाँ पै नी जणे, उद्या अलख पिछाण ॥
मुरदा मोजाँ घर करे, जिंदा जले मसाण । अस्या नगर रे नाथ है, उद्या अलख पिछाण ॥
सुलटी ने उलटी करे, उलटी सुलटी भाँय ने, उद्या अलख पिछाण ॥
सांख्य योगरो सार है, यो गीता रो ज्ञान । उपनियदाँ रो अरथ है, उद्या अलख पिछाण ॥

ब्रह्मचर्य और योग

(लेखक—ॐ 'श्रीविश्वास्ता')

योगका महत्त्व और उसकी कठिनाइयाँ

ग भारतवर्षकी बहुत ही प्राचीन सम्पत्ति है। यह भारतवर्षके गौरव एवं मानकी बस्तु है। इसका प्रभाव धर्म और सम्प्रदायमान्त्रपर पड़ा है। भारतीय शास्त्रोंमें योग-पर वड़ी-वड़ी रोचक, मनोहर एवं विचित्र कथाएँ लिखी हुई हैं।

योगके सम्बन्धमें यहाँ बुद्धोक्ति और किंवदन्तियोंकी भी कमी नहीं है। यौगिक तत्त्वोंपर भारतवर्षमें स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बहुत लिखे गये हैं, जिनमें पातञ्जल योगदर्शन जैसा उत्तम दर्शन है जो भारतीय प्रधान छः दर्शन-शास्त्रोंमें से एक दर्शनशास्त्र है। दार्शनिक विचार कितने जँचे, पवित्र और रहस्यमय होते हैं इसको कोई भी बुद्धिमान् पुरुष मान सकता है। दार्शनिक तत्त्व होनेसे ही योगकी गहनता, महत्ता, दिव्यताका पता लग जाता है कि योग कितनी कठिन समस्याका नाम है। इस योगकी महान् सिद्धिके लिये हमारे पूर्वजोंने हजारों वर्षोंतक कितने ही प्रयत्न कितनी ही सख्त्याओंमें किये हैं जिसपर भी उनमेंसे कोई एक ही योगकी परम सिद्धिको प्राप्त कर सका है। इस विषयपर वात्तीत करते हुए 'ॐ' से एक महात्माने कहा था कि 'गुव्वे' (एक प्रकारके सहै वा जुए) में तो सौ अङ्कोंमेंसे निन्नानवे अङ्क हारके एवं एक अङ्क जीतका होता है। परन्तु योगमें तो हजार अङ्कोंमेंसे नौ सौ निन्नानवे अङ्क हारके और एक अङ्क जीतका है। यद्यपि यह वाक्य व्यङ्ग शब्दोंमें योगपर कुछ आक्षेप-सा मालूम होता है परन्तु है यह विल्कुल सत्य, जो गीता अ० ७ श्लो० ३ में बड़े ही सुधरे शब्दोंमें कहा गया है—

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चित्यतति सिद्धये ।

यतताभिपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥

'प्रयत्नशील हजारों पुरुषोंमेंसे कोई एक पुरुष ही योगकी सिद्धि (यथार्थ मार्ग) को प्राप्त किया करता है और उस यथार्थगामी हजारों सिद्धोंमेंसे कोई एक ही मेरे तत्त्वको जाना करता है।' इस श्लोकमें 'सिद्धये' और 'मां वेत्ति तत्त्वतः' शब्द योगके रहस्य और तत्त्वको बतला

रहे हैं। प्रथम शब्द योगके कपाट खोलनेकी कुङ्गी है तो दूसरा शब्द योगकी गुप्त गुहामें रक्खे हुए दिव्य ईश्वर-रक्तको दिखानेयाला चक्षु है। 'सिद्धये' शब्दके आगे 'मा वेत्ति तत्त्वतः' आनेसे पता लगता है कि यहाँ योगके उसी मार्गका नाम सिद्धि कहा जाता है जिससे साधक ईश्वरके तत्त्वको भली प्रकारसे जान जाया करता है। असत्यसे दृष्टिको हटाकर सत्यपर जमा देना ही योगका सज्जा अर्थ है अर्थात् असदृष्टिचारदृष्टिको हटाना ही योगकी यथार्थ सिद्धि और सत्यपर विचारदृष्टिको जमा देना ही भगवान्-को तत्त्वसे जान लेना है। जो साधक इस अर्थको समझकर योगमें लगता है वही योगके तत्त्वको प्राप्त किया करता है, अन्य सब मार्गमें ही पड़े रह जाते हैं। जैसे कुछ साधक थोड़े दिन साधना करके अपनी व्यग्रता एवं चञ्चलताके कारण साधनको ही छोड़ दिया करते हैं तो दूसरे कुछ अपनी अनियमितताके कारण रोगी होकर जीवन विताया करते हैं। कुछ हठी दुराप्रही रोगी हो जानेपर भी मनमाने साधनमें लगे रहा करते हैं। ऐसे दुराप्रही साधकोंकी चिकित्सा मृत्यु-मुखके सिवा कुछ भी नहीं होती। यदि कोई साधक इन सब कठिनाइयोंसे पार हो भी गया तो वह भौतिक सिद्धियोंके फेरमे पड़े जाया करता है। उपर्युक्त तीनों विघ्नोंसे सताये हुए असिद्ध साधकोंका साधनसञ्चय दूसरे जन्म-में काम आ जाया करता है, क्योंकि वे अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्त करते रहते हैं। परन्तु सिद्धियोंका खोया हुआ साधक तो अपना सर्वस्व खोकर ही यहाँसे प्रस्थान किया करता है। जहाँ तीनोंको अपने विघ्नोंके लिये पश्चात्ताप हुआ करता है वहाँ इसको अपनी सफल सिद्धियोंपर प्रसन्नता बढ़ती रहा करती है। यह अपना सर्वस्व लुटाकर भी वधाई वॉटनेवालेके सदृश है।

उपर्युक्त सब विघ्न-वाधाओं एवं पापोंसे बचकर साधना करनेवाले साधकका ही 'सिद्धये' शब्दसे निर्देश किया गया है—वही सिद्ध साधक भेरे तत्त्वोंको जाना करता है, यही भगवान्के उपर्युक्त वाक्यका अभिप्राय है। इस भगवान्-को देखने, पकड़ने, पानेवाली सिद्धिको वही साधक प्राप्त कर सकता है जो 'ससार सत्य है' की भावनाको मिटाकर योगमें लगा करते हैं। जो ससारको सत्य मानकर

उसकी पुष्टि (भोगप्राप्ति) के लिये योगमें लगा करते हैं उन्हींको उपर्युक्त व्यग्रता, अनियमितता, दुराग्रह आदि दोष, विघ्न तथा सिद्धि आदि पाप सताया करते हैं। सच तो यह है कि भोगोंके लिये योगमें लगना रोग और मृत्युको पाना और भोगवासनाको भस्म करनेके लिये योगमें लगना भगवान्को पा जाना है। यही योगसाधनका मूल मन्त्र वा सिद्धान्तविन्दु है।

ब्रह्मचर्य

ॐ लिप्त योगकी महत्ता, दिव्यता, गहनता तथा कठिनता, कठोरता और क्रूरताको ऊपर कहा गया है, जिसके अनुसार चलकर साधक ईश्वरकी ज्योतिमें भी समा सकता है और मृत्युका कलेवा भी नन सकता है, उस योगको यदि आप साध्य बनाना चाहते हैं तो सर्वप्रथम आप ब्रह्मचर्यका पालन कीजिये। ब्रह्मचर्यके विना योगकी सफलताका अङ्गुर वैसे ही नहीं उगा करता जैसे जलके विना वीज। ब्रह्मचर्यके विना योग वैसा ही है जैसे प्रकाशके विना सूर्य और प्राणके विना प्राणी। ब्रह्मचर्यकी निष्ठाके विना योगको छूना अपनी मौतको आप बुलाना है। अतः योगके जिज्ञासुका ब्रह्मचारी होना उतना ही आवश्यक है जितना कि जीवनके इच्छुकको प्राणी (प्राणवाला) होना आवश्यक है। ब्रह्मचर्यव्रतसे युक्त साधकके प्राण स्वभावसे ही स्थिर रहा करते हैं। यही वात योगशास्त्रमें भी कही गयी है कि 'स्थिरे विन्दौ स्थिरः प्राणः' वीर्यके स्थिर हो जानेसे ही प्राण भी स्थिर हो जाया करते हैं। इस सिद्धान्तके पोषक वाक्य योगशास्त्रमें सैकड़ों ही मिलते हैं। जैसे—

सिद्धे विन्दौ महादेवि किं न सिध्यति भूतले।

हे पार्वति ! विन्दुके सिद्ध हो जानेपर ऐसी कौनसी सिद्धि है जो साधकको प्राप्त न हो सके ? पातखलयोग-दर्शनमें भी कहा है 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'। ब्रह्मचर्यकी निष्ठासे वीर्य 'विन्दु' की स्थिरता, ऊर्ध्वगति-का लाभ प्राप्त होता है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि—

ऊर्ध्वरेता भवेद्यावद् तावद् कालभयं कृत ।

जबतक साधक विन्दुको ऊर्ध्वगमी रखता है तबतक उसको काल-मृत्यु-प्राणक्षयका भय नहीं है। अर्थवेदमें भी कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपस् देवा सम्युपाप्तु।

ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको मार डाला। शिव-सहितामें मटादेव कहते हैं—

मरणं विन्दुपातेन जीवनं विन्दुधारणात् ।

विन्दुका पतन ही मृत्यु और विन्दुका धारण-स्थिरता ही जीवन है। आगे फिर कहा है कि, 'अह विन्दुः गिवो विन्दुः' मैं विन्दु हूँ, गिव ही विन्दु है। आगे फिर पार्वतीसे कहते हैं कि, हे पार्वति ! मैं विन्दुजयसे ही गिव-पदको प्राप्त कर सका हूँ। इस विन्दुके धारणसे ही तो ॐ का ॐकार ईशत्वको प्राप्त हो गया है। उसके मत्थे-परसे विन्दुको हटाकर देखिये कि वह फिर भी ॐ रहता है या नहीं। वह विन्दु हटते ही ईशत्वसे च्युत हो जाता है। विन्दु धारण ही उसको ईशत्वपद दिये हुए है। अस्तु, जब योगके जन्मदाता सुख्याचार्य शिवको शिवत्व ही विन्दु धारणसे प्राप्त हुआ है, जब योगके प्रदाता ईश्वरके प्रथम नाम ॐके ओमत्वका कारण भी विन्दु धारण ही है तो फिर साधारण ब्रह्मचर्यहीन पुरुष योगसिद्धि शिवत्वको प्राप्त हो सकेगा, यह वात असम्भवसे भी दुस्तर है। दुस्तर ही नहीं अपितु अपनी मौतको निमन्त्रण देना है। उपर्युक्त विवेचनसे आपको दो बातोंका पता लगेगा। एक, ब्रह्मचर्य विना योगका साधन करना अपनेको रोग और मौतके मुखमें भेज देना है और दूसरे, मरनेवाले मिथ्यात्वसे छूटना शिवत्वको प्राप्त करना है। यही योग गच्छका सच्चा तत्त्वार्थ है। ॐ के मतानुसार इस अर्थको लेकर योगसाधनमें लगनेवाला साधक ही योगमार्गकी कठिनाइयोंसे पार पहुँचा करता है।

आप ऊपर यह तो समझ ही चुके हैं कि ब्रह्मचर्य-से हीन साधक योगमार्गमें सफलता नहीं पा सकता है। ब्रह्मचर्य ही योग-सफलताकी कुञ्जी है। यही नहीं, अपितु ब्रह्मचर्य ही विश्वमात्रकी सफलताओंका वीज है। फिर यह सफलता चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक। यही कारण है कि हमारे पूर्वजोंने मनुष्य-निर्माणकी अवस्थाका नाम ही ब्रह्मचर्य रखा है। इस अवस्थाको पूर्णन्मपसे निभानेवाला पुरुष सकृदाका भण्डार ही हुआ करता है। इस तत्त्वका पता हमको ब्रह्मचर्य गच्छका अर्थ समझनेसे ही लग जाता है।

ब्रह्मचर्य शब्दका तत्त्वार्थ

ब्रह्मचर्यका गच्छार्थ समझना बहुत कठिन है। बहुतमें

Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma> | MADE WITH LOVE BY AVMASHA
AVMAHAKUMAR

जट आदि भेष बनाकर फिरना मात्र ही मान लेते हैं। सचमुच ब्रह्मचर्यका इतना अर्थ लेना ब्रह्मचर्यकी हत्या करना है। ब्रह्मचर्यका सम्बन्ध न तो कुँवारपनसे है और न किसी वेप-भूपासे ही है। स्थूलार्थमें ब्रह्मचर्यका अर्थ वीर्य-निरोध या काम-दमनसे ही है। परन्तु इतना समझनेसे भी ब्रह्मचर्यका अर्थ पूरा नहीं होता। ब्रह्मचर्यका पूरा अर्थ होता है वीर्यको रोकना, वेट ज्ञानको पाना, सत्-चित्-आनन्द ब्रह्ममें समाना। वीर्य एक दिव्य तेजका नाम है। जैसे कि शतपथ ब्राह्मणमें कहा है, 'वीर्यं वै भर्गः' वीर्य ही तेज, आभा, प्रकाश है। इस वीर्यरूप ब्रह्मके दीपनसे ही ब्रह्म-वेटके तत्त्वज्ञानका दर्शन और वेदतत्त्वके ब्रह्म दीपकसे सत्-चित्-आनन्द ब्रह्मका साधात्कार हुआ करता है। यह ब्रह्मतयसङ्गम ही ब्रह्मचर्यका पूरा तत्त्वार्थ है। इस ब्रह्म-त्रिवेणीका स्नाता पुरुष ही योगका सच्चा अधिकारी हुआ करता है।

ब्रह्मचर्यकी श्रेणी

हमारे गांधीमें वीर्यके वीजत्व, वीरत्व, ओजस्, वल, तेज, शुक्र, पवित्रता, रेत, रेतस्, कान्ति, विन्दु, भर्गादि नाम कहे हैं और वीर्यको ही सुषिका उत्पादक, पालक, सहारक भी कहा है। परन्तु योगगांधीमें वीर्यको ब्रह्म-विन्दु-ब्रह्मवीजतक कहा गया है। महादेवने योगगांधीमें कहा है कि 'अह विन्दु रजः शक्तिः' में (महादेव) विन्दु वीर्य हूँ और रज शक्ति (पार्वती) है। योगगांधीमें कहा है कि साधकके नाभिस्थानमें रज और मस्तकके मध्य केन्द्रमें वीर्य विन्दु रहा करता है। रजका सिन्दूर वर्ण और वीर्यका श्वेत वर्ण है। रजरूप पार्वतीको नाभिसे उठाकर मस्तकमें मिला देना ही योगसिद्धिका सफल रहस्य है। इस कथनमें वहुत वारीक वैज्ञानिक तत्त्व छिपा हुआ है। ब्रह्मचर्यका ब्रह्म शब्द भी वीर्य और ब्रह्मके अभेय सम्बन्धको बता रहा है। इस अभेय सम्बन्धको अभेय रखनेवाला साधक ही प्रथम श्रेणीका ब्रह्मचारी होता है। इस ब्रह्मचारीका अहविन्दु अपने स्वभावसिद्ध स्वरूप ब्रह्ममें ही स्थिर रहा करता है अर्थात् ऐसे ब्रह्मचारियोंको यह भी मालूम नहीं होता कि हमारे वीर्य तन्तुओंमें संसारसे सुम्बन्ध रखनेवाला कोई वीर्यरूप पदार्थ है या नहीं। उसका ब्रह्मविन्दु सब तरहके कम्पनोंसे रहित सदा स्थिर रहा करता है।

दूसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले साधकके ब्रह्मविन्दुमें कम्पन तो अवश्य उठा करता है परन्तु वह अपने कठोर सयम,

बल और भीष्म-प्रतिज्ञाद्वारा ब्रह्मविन्दुके उन कम्पनोंको ब्रह्मविन्दुकी ओर ही ढकेल दिया करता है। यह भूमिका साधकके लिये बहुत ही कठिन कसौटीकी है।

तीसरी श्रेणीके ब्रह्मचर्यवाले ब्रह्मचारी (साधक) के ब्रह्म-विन्दुमें जो सूजन-कम्पन उठा करते हैं, उन्हें वह ईश्वरका सृष्टि-सूजन-आदेश समझकर सन्तान-उत्पत्तिमें बदल दिया करता है। वह इस सूजनके ध्येयसे ही यहकार्यमें प्रवृत्त हुआ करता है। वह ब्रह्मकी उस ब्रह्मविन्दुमें होनेवाली 'एकोऽहं वहु स्याम्' की सांकेतिक सूक्ष्मान्तर दिव्य वाणीको सुना करता है जो उसको कहती है कि चल, तू भी मेरे बहुत होनेके कार्यमें समिलित हो जा। ईश्वरीय आज्ञाका पालक और विषयासक्तिसे रहित होनेसे यह साधक भी ब्रह्मचारी ही होता है। ऐसे साधकोंके सूजन-कार्यमें ईश्वरीय सूजन-प्रेरणा ही कार्य करती है।

प्राकृतिक धक्केके सिवा साधकका उससे कुछ भी नहीं बनता-विगड़ता। इस प्राकृतिक धक्केको पशु-पक्षी आदि अभीतक खूब अच्छी तरहसे समझते हैं। वे बारहों मास छी-पुरुषकी भावनासे रहित होकर विचरा करते हैं, जब उनको यह ईश्वरीय प्राकृतिक सकेत मिलता है तभी वे स्त्री-पुरुषमें बदल जाया करते हैं। इस प्राकृतिक सकेत-का वैज्ञानिक वोध ही पशु-पक्षी आदिमें बन्ध्यात्मके अभावका कारण है, घन्य है इन पशु-पक्षी आदिको जो अभीतक उस सूजन-विज्ञान ऋतुकालके रहस्यको समझते हैं। जो साधक इस ईश्वरीय सकेतको पाकर अनासक्त भाव और निष्काम बुद्धिसे साधधान हुए शास्त्रानुकूल सूजनकार्य किया करते हैं वे ब्रह्मचारी ही नहीं अपितु ईश्वरके आज्ञापालक ही हुआ करते हैं। उनका यह कार्य वैसा ही हुआ करता है जैसा कि कोई पुरुष इधरसे बस्तु लेकर उधर दे दिया करता है। ऐसे साधकोंके कामको ही तो भगवान् गीतामें अपना स्वरूप बताते हैं, जैसे कि 'प्रजनश्वासि कन्दर्पः' 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽसि भरतर्पम् ।' (सूजन धर्मके अनुसार सन्तान बनानेवाला काम मैं ही हूँ)। उपर्युक्त तीनों ब्रह्मचारी ब्रह्मके उपासक हैं। प्रथम ब्रह्मलीन, ब्रह्मस्थित, ब्रह्मरूप कहा जाता है। दूसरा योगी होता है, और तीसरा भगवान् का परम प्रिय भक्त कहा जाता है। ईश्वर भारतमें ऐसे ब्रह्मचारियोंको जन्म दे जिससे कि योगको पुनर्जीवन मिल सके। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

नादानुसन्धान ।

(लेखक—स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज)

योग कहते हैं चित्तकी वृत्तियोंके निरोधको । इस निरोधकी स्पष्टता कठोपनिषदमें नीचेके मन्त्रोंमें कही है—

यथा पञ्चावदिष्टन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरमिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रभ्रम्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवार्थ्यौ ॥

‘जिस कालमें योगाभ्यासके बलसे पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि ल्यभावको प्राप्त हो जाती है, उसको परम गति कहते हैं । मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मीस्थिति, निर्बाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसीको कहते हैं ।’ यही वात योगशालके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने शिवसहितामें कही है—

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत ।

वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ॥

‘जिस कालमें सविकल्प समाधिके साधनसे, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है, मन दृश्यका चिन्तन छोड़कर वृत्तिरहित हो जाता है, उस कालमें साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है ।’ यानी ‘उपाधिविलयात्प्रविष्टो’—के अनुसार, अशानकी कार्यरूप वृत्ति ब्रह्ममें लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है । जीव-ब्रह्मका स्वरूपसे तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यासके बलसे उस उपाधिका लय कर लेनेपर जीवात्मा ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ।’ यही वात दक्षिणामूर्तिजीने वेदान्तडिण्डिममें कही है—

न जीवब्रह्मोर्मेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मोर्मेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम् ।

‘जीव-ब्रह्मका स्फूरणरूपी वृत्तिसे भेद है, स्वरूप-से भेद नहीं । चेतनमें अविद्याकी जो उपाधि, जगत्की उत्त्यना, स्वरूपका विस्मरण, दृश्यमें आसक्ति है, यही जीवदशा है ।’ भगवान् शङ्कराचार्यजीने मनके लयका सर्वोच्चम साधन नादानुसन्धान, अपने ‘योगतारावली’ प्रन्थमें, नीचेके श्लोकोंमें व्रताया है—

सदा शिवोक्तानि सपादलक्ष-
ल्यावधानानि वसन्ति लोके ।

नादानुसन्धानसमाधिमैकं

मन्यमहे मान्यतमं ल्यानाम् ॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुम्यं
त्वां मन्यमहे तत्त्वपदं ल्यानाम् ।

भवत्यसादात् पवनेन साकं
विक्लीयते विष्णुपदे मनो मे ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥

‘योगशालके प्रवर्तक भगवान् शिवजीने मनके लय होनेके सबा लक्ष साधन बतलाये हैं, उन सबमें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है । हे नादानुसन्धान ! आपको नमस्कार है, आप परम पदमें स्थित करते हैं, आपके ही प्रसादसे मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णुके परमपदमें लय हो जायेंगे । योगसाम्राज्यमें स्थित होनेकी इच्छा हो तो सब चिन्ताओंको त्यागकर सावधान हो एकाग्र मनसे अनहट नादोंको सुनो ।’ शुक योगेन्द्रके शिष्य श्रीचरणदासजीने भी अनहट नादोंकी महिमा नीचेके शब्दोंमें गायी है—

अनहटके सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय ।

पट्टर कछु न दे सर्कूं सब कुछ है वा माँय ॥

पौँच थके आँदं बढे अरु मन ही बस होय ।

शुकदेव कही चरनदाससे आप अपन जाय खोय ॥

नाडिनमें सुपुम्ना बडी सो अनहटकी मात ।

कुंभकमें केवल बडा वह बाहीका तात ॥

मुद्रा बडी जो सेचरी बाकी वहिनी जान ।

अनहट-सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान ॥

सेवकसे खामी हैवे सुने जो अनहट नाद ।

जीव ब्रह्म होय जाय हैं पावे अपनी आद ॥

खिडकी खोली नादकी मिला ब्रह्मनें जाय ।

दसों नादके लाभकी महिमा कही न जाय ॥

शिवसहितामें भी मनको लय करनेमें उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है । जैरे—

नामनं सिद्धसद्वशं न कुम्भकसमं वलम् ।
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसद्वशो लयः ॥

‘सिद्धासनके तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं, केवल कुम्भकके तुल्य कोई वल नहीं, खेचरी मुद्राकी वरावरी करनेवाली और मुद्रा नहीं, मनको लय करनेवाले साधनोंमें, अनहट नादकी तुलना करनेवाला और कोई साधन नहीं।’ मनको लय करनेके अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

अनहट नादके प्रकट करनेका गुप्त साधन

हर एक मनुष्यकी देहमें लगभग साढे तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढे तीन कोटि परमात्माके नामका जप सद्गुरुमार्गसे कर लेता है तब अनहट नाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी बायुकी प्रकृति हो, उनके लिये है, और जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियों जल्दी शुद्ध होनेसे सबा कोटि जप सद्गुरुमार्गसे करनेसे ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दस प्रकारका है, अभ्यास करते-करते जब दसवाँ नाद, जो ब्रादलकी गर्जनाके तुल्य है, प्रकट हो तब नौ नादोंको छोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिये, दसवें नादकी पक्ष अवस्थामें प्राणवायु और मन ये दोनों ही लय हो जायेंगे। मन-पवनका लय होनेपर शैयोपमे ब्रह्मपद ही है। ब्रह्मनाडी जो सुपुम्पा है, उसके भीतर प्राणवायुका प्रवेश होनेपर नादका प्रकट होना आरम्भ होता है, शनैः-ग्रनैः अनहटको सुरतके वलसे दक्षिण कानसे सुनते जाना चाहिये। अभ्यासकी पक्ष अवस्थामें फल यह होगा कि कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होकर ब्रह्मज्ञान भी करा देंगी। अन्तमें कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्ममें लय हो जायगी। जीवदग्ना नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होगा। कुण्डलिनी जागकर ब्रह्मप्रनिधि, विष्णुप्रनिधि और रुद्रप्रनिधिको भेद करके अनेक प्रकारके चमत्कार दिखाती है। जबतक कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत नहीं होती, तबतक मनुष्योंका ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। अनुभवगहित गाढ़ीय ज्ञान नक्षेकी वर्मर्दके तुल्य है, और कुण्डलिनी जागरण-के बादका अनुभवी ज्ञान ऐसा है जैसे कि किसीने आठ महीने घूम-वृमकर वर्मर्दकी गली-गली देखी हो। इसी कारणसे चतुर साधकोंको चाहिये कि योगानुभवी सद्गुरुकी शरण लेकर कुण्डलिनी जाग्रत करें, इसके जागनेपर ब्रह्मका सम्पूर्ण ज्ञान करामलकवत् होकर शक्ति प्राप्त होगी।

दृश्यरूपी भ्रम, दृश्यके देखते रहनेपर भी दुःखदायी न रहेगा।

त्रिवन्ध

नीचे लिखे हुए हठयोगके साधन बहुत ही लाभदायक हैं। इन साधनोंसे शरीरकी नीरोगता, भजनमें निर्विघ्नता, प्राण-अपानकी समता, विन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोगके चौरासी आसनोंमें सिद्धासन और पद्मासन सुख्य हैं, सिद्धासनकी पक्ष अवस्थामें अपान प्राणमें मिल जायगा, योनिके पीड़नसे अग्नि दीप होगी, स्वप्नदोष तो कभी होगा ही नहीं, तीनों वन्ध इस आसनमें लगाने ही पड़ते हैं, इससे वन्धोंका अभ्यास भी हो जायगा। सिद्धासनके समय मूल वन्ध और खेचरी मुद्रा करनेसे अपानवायु प्राणवायुमें मिल जायगा। बद्ध पद्मासनसे सब रोगोंका नाश और वहत्तर हजार नाडियोंका मल साफ हो जायगा। प्राणायाम और तीन वन्धोंसे यह लाभ है—

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगस्य सम्भवः ॥
प्राणायामैर्द्वैद्वैपान्वारणाभिश्च किञ्चित्प्रपम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरानगुणान् ॥
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ।
दद्यन्ते ध्यायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणां दद्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥
न वहिः प्राण आयाति देहस्य मरणं कुतः ।
केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्धयति भूतले ॥

गुरुगम्य प्राणायाम करनेसे सब रोग नष्ट होते हैं। प्राणायामसे गलती होनेसे सब रोगोंके होनेकी सम्भावना है। प्राणायामके सम्यक् होनेसे, और वात, पित्त, कफ समतामें रहनेसे शरीर नीरोग रहता है। कुम्भकमें मन मलरहित हो जाता है। धारणासे पापोंका नाश होता है, प्रत्याहारसे इन्द्रियोंका जो विषयोंसे सर्सर्ग है, वह छूट जाता है। ध्यानसे परमात्माका ज्ञान होता है, समाधिसे निर्लिप्त केवली भावस्थ पुक्तिको प्राप्त हो जाता है। जैसे सोना अग्निमें तपानेसे मैलको छोड़कर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोधसे इन्द्रियों प्रमादरूपी अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती है। जिस योगीका प्राण

वर्हिगमन ही नहीं करता उसकी मृत्यु कैसी ? जिस योगी-
का केवल कुम्मक सिद्ध हो गया, उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं
है । मराठी भाषाके योगप्रन्थमें इकनायजीने लिखा है—

प्राणवायूचे धारण वैचि स्वच्छंड मृत्यूचे लक्षण ।

‘जिस योगीने प्राणवायु अपने वशमें करके
केवल कुम्मककी सिद्धि कर ली है, उसकी इच्छामृत्यु
होती है ।’ देह रक्खे या न रक्खे, यह उसकी इच्छाके अधीन
है । जैसे भीष्मपितामहने अपनी देहको दक्षिणावनमें न
त्यागकर, अपने इच्छानुसार उत्तरायणमें त्यागा । यह
प्राणविद्याकी महिमा है । जहाँतक प्राणवायु कुम्मकसे
निरद्ध है, वहाँतक मन भी वृत्तिरहित है, और दृष्टि भी
भ्रकुटीमें अचल है । ऐसी अवस्थामें कालका भय नहीं
है । चरणटासजीने इसी प्राणवायामकी महिमा नीचे लिखे
शब्दोंमें कही है—

प्राणायाम बडा तप माई । प्राणायाम सम बढ़ नहीं कोई ॥
प्राणवायुकूँ यह वस लावे । मनकूँ निश्चल कर ठहरावे ॥
आयुर्दिको यही बढ़ावे । तनमें रोग रहन नहिं पावे ॥
मोक्षमार्पणको यह पहुँचावे । चरनदास शुकदेव सुनावे ॥

प्राणायाम करते समय पूरकमें मूलवन्ध, कुम्मकमें
जालन्धरवन्ध और रेचकमें उड्डियानवन्ध करना ही
चाहिये । ये तीनों वन्ध गुरुसे ही सीखने चाहिये । लेख-
परसे या पुस्तकोंमें देखकर करनेसे हानिकी सम्भावना है ।

वन्धोंसे ये लाभ हैं—

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयो मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलवन्धनात् ॥
वद्धं मूलविलं येन तेन विश्वो विदारित ।
अजरामरमाप्नोति यथा पञ्चमुखो हर ॥
मूलवध गुण ऐसा होई । वायु अघोगति जाय न कोई ॥
उर्ध्वरेता यासूँ सधे, दिन दिन आयु सर्वाई बढे ॥

योग माहों यह है प्रधान । बुढ़ी देह पलट होय जवान ॥
जठराग्नि बाढ़े अधिकाय । जो चाहै तौ बहुते खाय ॥
यासों कारज सब वनि आवे । रोग रक्कके समीं नसावे ॥
योगी पहिले यह आरावे । अपान वायुको नीके ताषे ॥

‘मूलवन्ध और खेचरीमुद्राके अभ्याससे अपान
प्राणमें जाकर मिल जाता है, अग्रिकी दीसिसे मल-मूत्र
व्यय होता है, मूलवन्धके सतत अभ्याससे वृद्ध भी जवान-
तुल्य हो जाता है । जिस सावकने मूलवन्ध पक्ष कर लिया,
उसके सब विष्म मिट जाते हैं, और जैसे पञ्चमुख महादेवजी
अज्ञानामर हैं, वैसे ही केवल कुम्मक सिद्धिवाला योगी भी
हो जाता है ।’ जालन्धरवन्धसे यह लाम है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिन्हुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरकृते वन्धे पोडशाधारवन्धनम् ॥
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणा ।
अपान वायुकूँ ऊपर लावे । प्राण वायु नीचे ले जावे ॥
जो पैं यह साधन वनि आवे । योगी वृद्ध होन नहिं पावे ॥

जालन्धरवन्धमें ठोटीको नीचे छुकाकर हृदयके
चार अङ्गुल ऊपर दृढ़ जमावे । इससे सोलह आधारोंका
वन्धन होता है, जालन्धरवन्ध और महामुद्रा ये दोनों
मृत्युको हटानेवाले हैं । अब उड्डियानवन्धसे लाम
सुनिये—

उद्दरे पश्चिमं स्थानं नामेरुद्धर्चं च कारयेत् ।
उड्डियानो हसौ वन्धो मृत्युमातङ्केसरी ॥
अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥
प्राणायाममें रेचकके समय नामि पीछे खाँचकर मेर-
दण्डसे मिलायो, इससे वायु सुयुग्मामें प्रवेग करेगा, अभ्यास
करते-करते अन्तमें व्रह्मरन्त्रमें वायुका लय हो जायगा ।

ध्यान

करु मन नंदनँदनको ध्यान ।

यहि अवसर तोहिं फिर न मिलैगो, मेरौ कहौ अव मान ॥ १ ॥

बूँधरवारी अलकैं मुखपै, कुण्डल अलकत कान ।

नारायन अलसाने नैना, झूमत रूपनिधान ॥ २ ॥

—श्रीनारायण स्तासी

योग

(योगाचार्य श्रीश्रीमदवधूत श्रीशानानन्ददेवजीके उपदेश)

१-शिवनामामृत व्याकरणके मतसे गिवके साथ जीवकी सन्धि हो सकती है, उसी सन्धिका नाम योग है। उस सन्धिकी अवस्थामें यद्यपि जीव शिवके साथ मिल जाता है, फिर भी दोनोंका पृथक्-पृथक् अस्तित्व रहता है। इस प्रकार सन्धिकी अवस्थामें जीवके अस्तित्वका लोप नहीं होता।

२-योग एक प्रकारकी शक्ति है, जिस शक्तिके प्रभावसे जीवात्मा परमात्माके साथ युक्त होता है। जीवात्मा-परमात्माकी युक्तावस्थाका नाम अध्यात्मयोग है। अव्यात्मयोग अनिर्वचनीय है, उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

३-जिस शक्तिके प्रभावसे जीव और गिवका योग होता है, उसीको सन्व्याशशक्ति कहते हैं।

४-ब्रह्मसायुज्य निर्वाण भी नहीं है, ल्य भी नहीं है। सायुज्यका अर्थ है योग। दो विभिन्न चीजोंका परस्पर योग ही दोनोंका ऐक्य नहीं है। जीव-ब्रह्मका योग (सायुज्य) ही जीव-ब्रह्मका ऐक्य नहीं है।

५-लोहारकी भाथीकी आगसे लोहा आग हो जानेपर भी लोहा ही रहता है, वह केवल अन्य अवस्थापन्न लोहा हो जाता है। उसमेंसे अभिके बुझ जानेपर फिर लोहा ही रह जाता है। अभि रहनेपर दोनों मिले हुए हैं। इसी प्रकार जीवत्व और शिवत्व एक साथ रह सकते हैं। कभी योगावस्थामें जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं, कभी अयोगावस्थामें दोनों अलग-अलग रहते हैं। लोहा जलकर जब अभि बन जाता है तब जो अवस्था होती है, उसी प्रकारकी अवस्था जीवात्माकी भी परमात्माके साथ योग होनेपर होती है।

६-आत्मा-परमात्मामें जो योग होता है, उसे आत्म-परमात्मयोग कहते हैं। उस योगकी अवस्थामें योगीको बाह्यचैतन्य विल्कुल नहीं रहता।

७-जीवात्मा और परमात्माका जो ऐक्य है वही चास्तविक योगावस्था है। उस ऐक्यसे जो आनन्द प्राप्त होता है, उसी आनन्दको हम आव्यात्मिक मैथुन कह सकते हैं। उस मैथुनके प्रभावसे परमा शान्ति नाम्नी कन्या उत्पन्न होती है।

८-प्रधानतः दो प्रकारका मुक्तियोग वतलाया गया है—नित्यमुक्तियोग और अनित्यमुक्तियोग। नित्यमुक्तियोग दुर्लभ है, किन्तु अनित्यमुक्तियोग समय-समयपर किसी-किसी महात्माको प्राप्त होता है। परन्तु वह दीर्घकालतक स्थायी नहीं होता।

९-नाना प्रकारके योगके प्रभावसे नाना प्रकारकी घटनाएँ होती हैं। त्रिधिध क्रियायोगके द्वारा सूजन, पालन और नाश होता है। योगके विना कुछ भी नहीं होता।

१०-अधिक जप करनेसे, अधिक व्यान करनेसे, अधिक हरि-सङ्कीर्तन करनेसे अथवा अधिक हरि-सङ्कीर्तन सुननेसे, अधिक परिमाणमें भगवान्के सम्बन्धमें अन्य किसी प्रकारका सङ्गीत गानेसे अथवा सुननेसे, भक्तोंका अधिक सङ्ग करनेसे, भक्तचरित्रका अधिक पर्यालोचन करनेसे, भगवद्गत्तिसम्बन्धी अधिक आलोचना करनेसे, भगवद्गत्ति और प्रेमसम्बन्धी किसी ग्रन्थका पाठ करने अथवा सुननेसे अथवा जानपूर्ण अनेक वार्ते सुननेसे मन स्थिर होकर एकाग्र हो जाता है।

११-जो योगकी साधना करते हैं, वे योग-साधक हैं; योगसिद्ध होनेपर साधकों योगी कह सकते हैं।

१२-योगसाधक और योगसिद्ध एक श्रेणीके नहीं हैं। योगसाधक साधना करते-करते योगके कुछ अलौकिक अनुभव प्राप्त करते हैं। परन्तु उन्हे उस समय योग-सम्बन्धी समस्त निगृह तत्त्वोंको हृदयज्ञम करनेकी शक्ति नहीं होती। सिद्धयोगी योगके सम्बन्धमें सब कुछ जानते हैं। उनमें अलौकिक क्षमता—अद्भुत शक्ति होती है। वह कितनी ही असम्भव वातोंको सम्भव कर सकते हैं। उन्हें अद्भुत योगविभूतियों प्राप्त होती हैं।

१३-अत्यन्त ग्रीष्म-कालमें शरीरमें जलन होनेपर यदि सुशीतल जलमें स्थान किया जाय तो उससे शरीर जल नहीं हो जाता, किन्तु वह शीतलताकी शक्तिसे पूर्ण हो जाता है। इसी प्रकार जीवात्माका परमात्माके साथ अध्यात्म-योग होनेपर जीवात्मामें परमात्माकी शक्ति सञ्चारित होती है और वह परमात्मशक्तिसे पूर्ण होकर तन्मय हो जाता है।

१४-भावात्मक ममन्ध भी एक प्रकारका योग है। इश्वरके साथ जिनका ऐसा योग है वे ही धन्य हैं।

१५-जिनका स्वभावतः परब्रह्मके साथ मनोयोग होता है, उनको किसी प्रकारका आसन-अभ्यास करनेकी आवश्यकता नहीं। वह अगरको चाहे जैसे रखकर भी समाधिस्थ हो जाते हैं, वही उनका योगासन है।

१६-आत्मज्ञानके कारण जो योग होता है वह कैल्यका कारण है।

१७-आजकल बहुत से लोग योगी नामसे प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे वास्तविक योगी नहीं हैं। वास्तविक योगीको अतुल ऐश्वर्य और अनुपम विभूति प्राप्त होती है। उन्हे श्वास आदि कोई भी रोग नहीं होता। अग्रिमें प्रवेश करनेपर भी अद्भुत स्यमके बलसे, अग्रि उन्हें नहीं जलाती, जलमें प्रवेश करनेपर जल उन्हें नहीं हुवाता; तीखे कॉटोंके ऊपर चलनेपर भी उनके पैरमें कॉटे नहीं गड़ते, स्यमके प्रभावसे अन्व-प्रहार होनेपर भी वे धावल नहीं होते। योगी निर्भय होते हैं। योगी जीवन्मुक्त होते हैं। क्या किसी योगीके साथ किसी साधारण जीवकी तुलना हो सकती है? योगीकी शक्ति आश्र्वयजनक होती है।

१८-आठों सिद्धियाँ सिद्धयोगीको प्राप्त होती हैं। परमहस श्रीशङ्कराचार्यको भी अष्टसिद्ध प्राप्त थी। आज-कलके अधिकांश दण्डी परमहस योगको पसन्द नहीं करते, उनमें जो सबसे उत्तम होते हैं, वे वैदिक उपनिषद्, वेदान्त, भगवद्गीता और श्रीशङ्कराचार्य प्रभृति वैदानिक महायोगके वैदिक उपनिषद् और वेदान्तप्रतिपाद्य ग्रन्थ पढ़ते और सुनते हैं और उन्हों पठित तथा श्रुत विषयोंका विचार करते हैं।

१९-दिव्य कर्मयोगके विना दिव्य ज्ञानयोग, दिव्य भक्तियोग और दिव्य प्रेमयोग नहीं प्राप्त होता।

२०-कलियुगमें भक्तियोगमें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

२१-स्नान करनेसे जिस प्रकार शरीर सर्वदा शीतल नहीं रहता, उसी प्रकार भक्तिमान् जीवात्मा भी सर्वदा तन्मय होकर नहीं रहता।

२२-योगाभ्यासके लिये शीतकाल ही उत्तम समय है।

२३-इट्योग, राजयोग और राजाधिराजयोगका अभ्यास करते-करते मनोयोग होता है। मनोयोग इस विद्यिप योगका सिद्धफल है।

२४-इन तीन योगोंके सिवा मनोयोग होनेके और-और उपाय भी हैं।

२५-मनका स्थान करनेसे मन स्थिर होता है। मनके स्थिर होनेपर इष्टमें मनोयोग होता है।

२६-जिस प्रकार पातञ्जलयोगदर्ढनमें पद्मासन आदि किसी आसनका निर्देश नहीं है, उसी प्रकार गीतामें भी किसी आसनका नाम और निर्देश नहीं है। इन दोनों प्रसिद्ध योगशास्त्रोंसे मालूम होता है कि किसी निर्दिष्ट आसनके विना भी योगका अनुष्ठान हो सकता है।

२७-हठयोग एक प्रकारका व्यायाम है। हठयोगके अन्तर्गत नाना प्रकारके आसन और मुद्राएँ हैं।

२८-सब प्रकारका सोना, वैठना और खड़ा होना एक-एक प्रकारका आसन है।

२९-विधिध आसनोंका अभ्यास करते समय गोरुआ कौपीन पहनना चाहिये अथवा नम रहना चाहिये।

३०-आसनका अभ्यास अत्यन्त निर्जन स्थानमें करना चाहिये।

३१-शिशु तथा वालक-चालिकाओंके सामने, विशेष-कर युवती लिंगोंके सामने किसी प्रकारका योगाभ्यास करना निषिद्ध है। उनके सामने किसी प्रकारका साधन-भजन नहीं करना चाहिये।

३२-वास्तविक योगीके उपटेगानुसार प्राणायामका अभ्यास करनेपर किसी प्रकारका भयङ्कर रोग नहीं होता, उसके द्वारा उन्हें ही होती है, वल्कि उसके द्वारा योगी होनेमें विशेष सहायता मिलती है।

३३-निःश्वास-प्रश्वासके साथ-साथ जीवका स्वभावतः ही नर्वदा रेचक-पूरक होता रहता है। परन्तु योगाभ्यासके समय इस साधारण नियमका उल्लङ्घन करके योगशास्त्रके नियमोंका अवलम्बन करना चाहिये।

३४-कुम्भक स्वामाविक नहीं होता। योगियोंको उसका अभ्यास करना पड़ता है।

३५-योगदर्शनकी पद्धतिके अनुसार नामिका-रन्प्रद्वारा शरीरके अन्दर वायु भरनेका नाम पूर्ण है। शरीरके भीतरकी वायुके रेचन अर्थात् निकालनेका नाम रेचक है। शरीरके अन्दर वायु गोकर धारण करनेका नाम दुर्भक है। कुम्भमें शरीरके अन्दर वायु गेंक देनेपर श्वान-

प्रधास भी चन्दे हो जाता है। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायामके प्रधान तीन अङ्ग हैं। प्राणायामके साथ-साथ ध्यान किया जाता है।

३६—प्रगाढ़ भगवच्चिन्तनको ध्यान कहते हैं।

३७—ध्यान दो प्रकारका है—साकारका ध्यान और निराकारका ध्यान। साकारके रूपका और निराकारके स्वरूप और गुणका ध्यान किया जाता है।

३८—साधनात्मक ध्यानानन्दके परे स्वाभाविक ध्यानानन्द है, और उसके भी बाद स्वाभाविक योगानन्द है। वह योगानन्द किसी-किसी योगीको समय-विशेषपर प्राप्त होता है और किसी-किसीको स्वाभाविक तौरपर नित्य लाभ होता ही है।

३९—राजयोग प्राणायाम है। प्राणायामके अन्तर्गत रेचक, पूरक और कुम्भक हैं। इन तीनोंकी साधना उत्तम रूपसे पूरी हो जानेपर त्राटककी आवश्यकता है।

४०—त्राटकका अभ्यास करनेके लिये सबसे पहले कुछ समयतक दीपशिखाकी ओर एकटक देखना चाहिये। मफेद पत्थर अथवा स्फटिकके शिवलिङ्गके अप्रभागको भी देखनेकी पद्धति है। इस प्रकार साधन करनेसे क्रमशः जब दृष्टि स्थिर होने लगे तब एकाप्रताके साथ नासापुटको देखना चाहिये। जब नासापुटपर अनायास दृष्टि स्थिर होने लगे तब भ्रूमध्यमें दृष्टि जमानी चाहिये। भ्रूमध्यको देखते-देखते दिव्यदृष्टि प्राप्त होती है। दिव्यदृष्टिके फलस्वरूप नेत्रोंकी ज्योति बढ़ती है। चाक्षुषी ज्योति बढ़नेपर कुछ भी अदृश्य नहीं रह जाता।

४१—अच्छी तरह त्राटकका अभ्यास हो जानेपर पहले ऊँखें चन्दे करके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये। यह अभ्यास हो जानेपर फिर खुली ऊँखोंसे ध्यान करना चाहिये। इस प्रकार ध्यानकी साधना करनेपर ध्यान-सिद्धि प्राप्त होती है। इसी सिद्धिका दूसरा नाम ध्यान-योग है।

४२—जैसे धर्मसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्यान्य ग्रन्थोंका अध्ययन करके भी तुम यिदान् हो सकते हो। फिर पीछे उस उपार्जित विद्याके द्वारा कितनी ही धर्मसम्बन्धी पुस्तकोंकी रचना कर सकते हो। वैसे ही किसी जड़मूर्ति या किसी कल्पित मूर्तिका ध्यान करते-करते ध्यान सिद्ध हो जानेपर उसके द्वारा सच्चिदानन्दका भी ध्यान हो सकता है।

४३—यदि किसीका पुत्र विदेशमें हो और वहुत दिनोंसे उसका समाचार न मिला हो तो उसको जैसे स्वभावतः ही चिन्ता होती है, अभ्यास करके वह चिन्ता नहीं की जाती, उसी तरह भगवान्‌के प्रति प्रेम होनेपर उनके विरह-में स्वभावतः ही चिन्ता उत्पन्न होती है। यह चिन्ता साधनात्मिका नहीं होती। उस चिन्ताको ही ध्यान कहा जा सकता है।

४४—पहले चिन्तकी शुद्धि हुए विना, चिन्त निर्विकार हुए विना समाधि नहीं हो सकती।

४५—चिन्तशुद्धि होनेपर चिन्त निर्विकार होता है। चिन्त निर्विकार होनेपर शुद्ध भक्ति होती है। शुद्ध भक्तिके होनेपर यम, नियम, आसन, मुद्रा और प्राणायामके विना भी समाधि हो सकती है।

४६—मन स्थिर होनेपर एकाप्रता होती है। एकाप्रता होनेपर समाधि होती है।

४७—सविकल्प समाधिमें केवल कण्ठश्वास और नाभि-श्वास रहता है। सविकल्प समाधिमें स्थित पुरुषकी नाड़ी सुमूर्द्ध व्यक्तिकी नाड़ीके सदृश हो जाती है। इस समाधि-अवस्थामें शरीरके जलने अथवा अन्य प्रकारसे विशेष कष्ट पहुँचनेपर अन्त-करणमें उसका वोध होता है।

४८—खिलौनेका हाथी नामसे और बनावटसे हाथी होता है, परन्तु वास्तविक हाथी नहीं होता। उसी प्रकार निद्रा ही योगनिद्रा नहीं है। दोनोंमें वहुत बड़ा भेद है।

४९—समाधि-अवस्थाका एक नाम योगनिद्रा है।

५०—चक्षुस्थिरका अभ्यास करनेपर चक्षु स्थिर होता है। मरनेपर चक्षु स्थिर होता है। परन्तु अभ्यास करके क्या मरा जाता है? अथवा मरनेपर जो चक्षु स्थिर होता है वह क्या चक्षुका स्थिर होना है? अभ्यास करनेपर तुम्हें समाधि होगी? समाधि तो मृत्युके समान स्वाभाविक है। नीद क्या अभ्यासकी चीज़ है? वह तो स्वभावतः होती है। योगनिद्रा भी स्वभावतः होती है।

५१—जो योगी पूर्णरूपसे चैतन्यहीन हो जाता है, जिस योगीको इतना भी वोध नहीं रहता कि 'मैं हूँ', वही योगी योगनिद्रित है। उस योगीमें सब गुण और कियाशक्ति वर्तमान रहनेपर भी वह पूर्णरूपसे निर्गुण और निष्क्रिय है।

५२-निद्रावस्थामें 'मैं हूँ' इसका बोध न रहनेपर भी 'मैं' रहता है। मृत्यु होनेपर भी 'मैं हूँ' इसका बोध न रहने-पर 'मैं' रहता है। परन्तु योगनिद्रामें 'मैं' नहीं रहता। योगनिद्रा भङ्ग होनेपर 'मैं हूँ' ऐसा बोध होता है।

५३-चाहनेपर जिस तरह नींद नहीं आ जाती, उसी तरह चाहते ही समाधि नहीं लग जाती। नींद जिस तरह स्वभावतः आती है, उसी तरह समाधि भी स्वभावतः होती है। निद्रा अस्यासे नहीं होती। आँख बन्द करनेसे ही निद्रावस्थाकी प्राप्ति नहीं होती। इसी तरह किसी प्रकारका आसन लगाकर आँख बन्द कर लेनेसे ही समाधिस्थ नहीं ढुआ जाता।

५४-समाधिस्थ पुरुष मृत व्यक्तिकी तरह सुस्थिर, चड़की तरह अचल होता है।

५५-समाधिमें ब्रह्मके साथ मनोयोग होनेपर श्वास-प्रश्वासतक बन्द हो जाता है। उस समय रेचक, पूरक दोनों नहीं होते। इस प्रकारकी समाधिके जीवनमें योगीकी एक प्रकारसे मृत्यु हो जाती है और ब्रह्मसे उसके मनका वियोग होनेपर पुनः श्वास-प्रश्वास चलने लगता है, पुनः रेचक-पूरक होने लगता है। इस प्रकारकी समाधिकी रैसिति ब्रह्मकृपाका एक आश्र्यजनक प्रमाण है।

५६-बधिर तो बहुत-से लोग होते हैं, किन्तु दिव्य बधिर कितने लोग हो सकते हैं? इसी तरह दिव्य अन्धे भी कितने लोग हो सकते हैं? समाधिस्थ पुरुषके अतिरिक्त दिव्य बधिर और दिव्य अन्ध दुसरा कोई नहीं है। लकवा मार जानेपर एकसी-किसी मनुष्यका शरीर सुन्न हो जाता है; इसी तरह

समाधिस्थ पुरुषका शरीर भी सुन्न और अवश हो जाता है, उनके इस प्रकारके शरीरको कोई सर्व करे तो उन्हे उस स्पर्शका बोध नहीं होता। उनको शरीरकी इस अवस्थाके कारण किसी प्रकारके कष्टका भी अनुभव नहीं होता। वह इस अवस्थामें सुख-दुःख आदि सब अवस्थाओंसे अतीत हो जाते हैं।

५७-समाधिस्थ होनेपर समस्त इन्द्रियोंकी शक्ति निष्क्रिय हो जाती है। वह पुरुष उस अवस्थामें निश्चल और निष्क्रिय हो जाता है, जीवन्मृत हो जाता है।

५८-जिनको निर्विकल्प समाधि होती है, उनके लिये आहारके विषयमें कोई विधि-निषेध नहीं रहता। उनको किसी प्रकारका आसन और मुद्रा नहीं करनी पड़ती। वह प्राणायाम अथवा ध्यान भी नहीं करते। वह सदानन्द, जीवन्मृत पुरुष हैं।

५९-निर्विकल्प समाधि होनेपर कण्ठश्वास और नामिश्वासतक बन्द हो जाता है। यहाँतक कि उस अवस्थामें हाथकी नाड़ी भी स्थिर हो जाती है। मृत व्यक्तिके शरीरकी तरह सब अङ्ग ठण्डे हो जाते हैं। उसी अवस्थाको वास्तविक विदेह कैवल्यावस्था कहा जा सकता है। वह अवस्था जिनकी जब होती है, वह उस समय देहस्थ होनेपर भी देहस्थ नहीं हैं। उस अवस्थामें देहमें रहनेपर भी देहके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उस अवस्थामें उनकी देह जला देनेपर अथवा टुकड़े-टुकड़े करनेपर भी उनको कोई कष्ट मालूम नहीं होता।

(प्रैषक-श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त)

विश्व-कल्याण-योग

(लेखक—श्रीअनन्तशङ्करजी कोलहटकर वी० ए०)

'योगीश्वर याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुसरण व्रज्ययज्ञके समय हम करते हैं, उन सुनि याज्ञवल्क्यका आदेश है—
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनास्मदर्शनम्।

मानवमात्रका परम धर्म यही है कि योगसाधनसे आत्म-दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती है—'आत्मा वा चरे द्रष्टव्यः।' परन्तु, परम कठिन योग-साधनका अनुष्ठान करना तथा सिद्धियोंके मोहसे अपने-आपको बचाकर, अन्तिम सफलता प्राप्त करना बड़ा ही दुस्तर है।

हमारा एकमात्र सहारा इसमें—भगवत्-वरणागति है। परमात्मा कहीं दूर तो नहीं है! हमारे हृन्मन्दिरमें ही 'विराजते हैं। सरलचित्तसे उन्हें पुकारो। उन्हींके बताये पथसे चलो।

मन और इन्द्रियोंका सम्म करो। आत्म-तत्त्व एक ही है—ऐसी समवृद्धि धरो। भूतमात्रके हित-साधनमें प्रयदशील रहो और निश्चय रखो, तुम सुझे ही प्राप्त होगे। यही विश्व-कल्याण-योग है।

श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग

(लेखक—श्रीमुत्रापण शर्मा)

श्री



मत् शङ्कराचार्यके वेदान्त-सिद्धान्तमें योगका कहाँ क्या उपयोग है, उस विषयमें विद्वानोंमें गहरा मतभेद है। कुछ लोगोंका यह व्यान है कि योग तो श्रीशङ्करकी वेदान्त-प्रणालीका प्राण ही है, और कुछ इसके सर्वथा विपरीत यह समझते हैं कि योग या योगकी गुण वातांसे आचार्यका कोई वास्ता ही नहीं है। इन दो मतोंमें उत्तर-दर्शकण प्रयोगका-सा अन्तर है। पर सच्ची वात यह मालूम होती है कि इस अन्तरके मध्यमें कर्हींपर सत्य छिपा हुआ है। इस लेखमें उसीको दिखानेका बल किया जायगा। और यह प्रयत्न प्रस्थानत्रयपर आचार्यके जो भाष्य हैं उन्हींके आधारपर होगा।

श्रीशङ्कर अद्वैतमें योग देखनेवाले वार-वार यह कहा करते हैं कि अद्वैतकी सिद्धि विना निर्विकल्प समाधिके हो ही नहीं सकती। विवेकचूडामणि-जैसे प्रकरण-ग्रन्थोंसे जो कि आचार्यकृत वताये जाते हैं, वे अपने मतकी पुष्टि करते हैं। इसके विरुद्ध अन्य प्रकरण-ग्रन्थोंसे प्रमाण दिये जा सकते हैं पर उसका विचार छोड़ दें तो भी प्रस्थानत्रयके भाष्योंसे ही यह वात पूर्णरूपसे प्रमाणित होती है कि आचार्य अपने इस तर्कसिद्ध और अखण्डनीय सिद्धान्तको कही भी छोड़नेको तैयार नहीं हैं कि आत्मा और अनात्मके 'इतरेतराध्यास' से उत्पन्न हुआ वन्ध ज्ञानसे ही छूटता है, और किसी भी उपायसे नहीं। वृहदारण्यकभाष्यसे हम नीचे एक अवतरण देते हैं जिससे वात आप ही खुल जायगी। प्रसङ्ग है 'आत्मन्येवोपासीत' आठि वाक्य 'अपूर्वविधि' वतलाते हैं या क्या है, इसकी चर्चाका। यहाँ श्रीमत् शङ्कराचार्य कहते हैं—

न च 'आत्मन्येवोपासीत' इत्यपूर्वविधिः । कस्मात् ? आत्मस्वरूपकथनानात्मप्रतिपेधवाक्यनिरविज्ञानव्यति-रेकेणार्थान्तरस्य कर्त्तव्यस्य मानसस्य वद्यस्य वाभावाद् ।

अर्थात् 'यह अपूर्वविधि नहीं है, क्योंकि वाक्यसे आत्मविज्ञान होने और अनात्मका निरास होनेपर कुछ भी मानस या वास्त कर्म नहीं रह जाता।' इस सिद्धान्तके

विरोध-पक्षकी नव वातोंको काटकर आचार्य योगपक्षसे आनेवाली शङ्काकी खबर लेते हैं और उसका इस प्रकार समाधान करते हैं—

'निरोधस्तर्ग्यान्तरमिति चेत् । चित्तवृत्तिनिरोधस्य वेदवाक्ययजनितास्मविज्ञानादर्थान्तरत्वाद् । तन्त्रान्तरेषु च कर्त्तव्यतयावगतत्वाद्विधेयत्वमिति चेत्, न, मोक्षसाधनत्वेनानवगमाद् । न हि वेदान्तेषु भग्नारमविज्ञानादन्यत्परम-पुरुषार्थसाधनत्वेनावगम्यते । 'आत्मानमेवावेजस्मात्तसर्व-भवत्वं,' 'ब्रह्मविदामोति परम्' स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेदं ब्रह्मव भवति' 'आचार्यवान् पुरुषो वेदं' 'तस्य तत्वदेव चिरम्' 'अभयं हि वै ब्रह्म भवति य पूर्वं वेदं' इत्येवमादि-श्रुतिशतेभ्यः ।'

अर्थात् यह कहा जा सकता है कि निरोध तो इस ज्ञानसे भिन्न उपाय है। पर चित्तवृत्तिनिरोध वह आत्मज्ञान नहीं है जो वेदवाक्यसे होता है। यह चित्तवृत्तिनिरोध अन्य तन्त्रोंमें भी वताया है (जैसे साख्य और योगमें)। इसलिये यहाँ भी उसका विधान हो सकता है, ऐसा प्रश्न हो तो यही उत्तर है कि ऐसा नहीं हो सकता। वेदान्त-श्रुतिमें ब्रह्मात्मज्ञानसे अन्यत् और कोई परम पुरुषार्थ-साधन नहीं वताया है। 'वह अपने आपको जानता था इसलिये उससे सब कुछ हुआ।' 'ब्रह्मविद् ही परम पदको पाता है।' 'जो परब्रह्मको निश्चयसे जानता है वह ब्रह्म ही हो जाता है,' 'जो आचार्यवान् होता है वह उसे जानता है,' 'तमीतक उसे प्रतीक्षा करनी होती है,' 'जो यह जानता है वह निर्भय ब्रह्म होता है' इत्यादि शत-त्रय श्रुतिवाक्योंसे यह सिद्ध है। (वृहदारण्यक० ? । ४ । ७)

यह अवतरण स्फटिक-सा स्वच्छ है। इससे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य आत्मज्ञान और मुक्तिके बीचमें और कोई तीसरी चीज न आने देंगे।

तथापि योग या ध्यानका महत्त्व भी आचार्यके शिक्षा-सम्प्रदायमें कम नहीं है। जो लोग शुष्क शौद्धिक खेलको ही मुक्तिका एकमात्र द्वार समझे वैठे हैं उन्हें आचार्यपादसे उत्तरी ही निराशा होगी जितनी कि उन लोगोंको जो योगके स्तुति-स्तोत्र गाते फिरते हैं। आत्मज्ञान ही मुक्तिका प्रत्यक्ष साधन है, चित्तवृत्तिनिरोधरूप योगको आचार्य

आत्मज्ञानका-सा महत्व नहीं प्रदान करते, इतनी ही बात है, अन्यथा मनः-स्यमरूप प्रारम्भिक साधनके तौरपर उसको भी आचार्य उपयोगी बतलाते हैं। इस विषयमें आचार्य इस प्रकार कथन करते हैं—

(१) योगोऽप्यणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिफलः सर्वमाणो न शक्यते साहसमान्नेण प्रत्याख्यातुम् । श्रुतिश्च योगमाहा-त्यं प्रख्यापयति ।

अर्थात् योग भी जैसा कि स्मृतिने कहा है, अणिमादि ऐश्वर्यका देनेवाला है, इसलिये यह कहकर कि यह कुछ नहीं है, इसका तिरस्कार नहीं किया जा सकता। श्रुतिने भी योगकी महिमा गायी है। (ब्रह्मसूत्र-भाष्य १ । ३ । ३३)

(२) धैन त्वंशेन न विरुद्धयते तेनेष्टमेव सांख्ययोग-सूत्योः सावकाशत्वम् ।

अर्थात् जितने अशमें सांख्ययोगस्मृतियोका वेदान्तसे विरोध नहीं है उतने अशमें उनका ग्रहण इष्ट है। (ब्रह्म-सूत्र-भाष्य २ । १ । ३)

(३) सम्यग्दर्शननिष्ठानां संन्यासिना सद्योमुक्ति-रुका । ०० अयेदानीं ध्यानयोगं सम्यग्दर्शनस्यान्तरङ्गं वक्ष्यामीति तस्य सूत्रस्यानोयान् श्लोकानुपदिशति स्त ।

अर्थात् सम्यग्दर्शननिष्ठ जो सन्यासी हैं उनके लिये सद्योऽ(तत्काल) मुक्ति कही गयी। अब सम्यग्दर्शनके साधनस्य ध्यानयोगका विवरण करते हुए सूत्रस्थानीय श्लोक उपदेशसे कहते हैं। (भगवद्गीताभाष्य ५ । २७)

अब माण्डूक्य-कारिकाके भाष्यसे एक अवतरण और देते हैं जिससे आचार्यका मत इस विषयमें और भी स्पष्ट हो जायगा, एक तरहसे रहस्य ही खुल जायगा—

यैषा पुनः ब्रह्मस्वरूपन्यतिरेकेण रञ्जुस्पर्वक्त्वहिप्तमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं भोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत् एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथञ्चनेत्यवोचाम । ये त्वतोऽन्ये योगिनो भार्गरा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसम्बन्धिपश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुवोधरहिताना मनसो निग्रहयत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम् । किं च दुःख्योऽपि । न हात्मसम्बन्धनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्यविवेकिनाम् । किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव तथाक्षयापि भोक्षाख्या शान्तिस्तेषां मनोनिग्रहायत्तैव ।

'जिनके मन, इन्द्रियादि रञ्जु-स्पर्वत् केवल कल्पित है, परमार्थतः ब्रह्मस्वरूपके अतिरिक्त हैं ही नहीं, जो ब्रह्म-स्वरूप हो गये हैं उनके लिये अभय और मोक्ष नामकी अक्षय शान्ति एक ऐसी स्थिति है जो उनका स्वभाव ही है, उसके लिये उन्हें अन्य किसी सहारेकी आवश्यकता नहीं और इसलिये हमने कहा कि उन्हें वन्धनसे मुक्त होनेके लिये कुछ भी नहीं करना है। परन्तु जो इनसे भिन्न, योगी है और आत्मानुसन्धानके मार्गपर चल रहे हैं, जो हीन मध्यम दृष्टिसे मनको आत्मासे अलग आत्माका सम्बन्धी जानते हैं, ऐसे आत्मसत्यके अनुवोधसे रहत सब योगियोंका अभय मनोनिग्रहके ही अधीन है। उनका दुःखक्षय भी मनोनिरोधपर ही अवलम्बित है। आत्माका सम्बन्धी (और आत्मासे अलग) ऐसा जो मन है उसके क्षुब्ध होनेसे जो दुःख होता है उस अविवेकियोंके दुःखका (मनोनिग्रहके विना) क्षय नहीं हो सकता। इसी प्रकार इनकी अक्षय शान्ति भी जिसे मुक्ति कहते हैं, मनोनिग्रह-पर ही अवलम्बित है।'

अब यह बात स्पष्ट हो गयी होगी कि आचार्यने मुमुक्षुओंकी तीन कक्षाएँ की हैं। पहली कक्षा उन लोगोंकी है जिन्हें योग या अन्य किसी भी साधनके सहारेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि उनका अन्तःकरण शुद्ध निर्मल सत्य है और उन्हें गुरुद्वारा उपदिष्ट होते ही अद्वितीय ब्रह्मका वोध हो जाता है। मध्यम और हीन दृष्टिवाले जो साधक हैं और जिनकी सख्त्या ही अधिक होती है उनके लिये योग और कर्मयोग भी नितान्त आवश्यक हैं और योगमें जो मनोनिग्रहका अभ्यासक्रम है वह उनके लिये अनिवार्य है। आचार्यके भिन्न-भिन्न भाष्योंमें, विशेषकर श्रीमद्भगवद्गीताके भाष्यमें इत्स्तत् योगकी जो बातें मिलती हैं उन्हें तो हमारे ही जैसे चामान्य मुमुक्षुओंके लिये श्रीआचार्यचरणोंने दया करके कहा है, क्योंकि हम लोग परम ज्ञानके उस उच्चतम गिरजारतक दुर्लभ परम-हंसोंके समान उड़कर जा नहीं सकते और उसलिये हमें तो कर्मयोग और भक्तियोगके मार्गमें ही क्रमम्, ऊपर उठना होगा, तब किसी दीर्घकालके बाद ब्रह्मनिष्ठके उम महाप्राप्तादका प्रवेशद्वार भी कभी मिलेगा।

बौद्धधर्ममें योग

(लेखक—डा० श्रीविनयतोष मट्टाचार्य, एम०ए०, पी-एच० डी०)



धारण वोलचालमें तथा शास्त्रीय भाषामें भी 'योग' शब्दका अर्थ मेल अथवा सम्बन्ध जोड़ना है। पारिभाषिक भाषामें योग उस दर्शन-शास्त्रको कहते हैं जिसका व्येय है जीवात्मा या व्यष्टि चेतनका परमात्मा या समष्टिचेतनके साथ, अथवा यों कहिये कि जीवका ईश्वरके साथ, सम्बन्ध स्थापित करना। बौद्धग्रन्थोंमें 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है, उनके स्थानमें 'बोधिचित्त' और 'शून्य' शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धग्रन्थमें 'बोधिचित्त' एक प्रकारसे जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतनका ही वाचक है और 'शून्य' परमात्मा अथवा समष्टि चेतनका पर्याय है जिसमें 'शून्य', 'विज्ञान' और 'महासुख' ये तीन गुण माने गये हैं।

योग एक विशुद्ध रहस्यमय शास्त्र है जिसका आधार केवल निजी अनुभव है और भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे लोग यह मानते आये हैं कि सिद्धिप्राप्ति अथवा मोक्षलाभका योग एक वलवान् साधन है। जो लोग तर्ककी कसौटीसे इस बातको परीक्षा करना चाहते हैं कि योग-शास्त्रमें वर्णित सिद्धियोंमेंसे कोई-सी भी योगके द्वारा प्राप्त हो सकती है या नहीं अथवा उसके द्वारा जीवात्मका परमात्माके साथ सम्बन्ध स्थापित हो सकता है या नहीं, उन्हें सम्भवतः निराग ही होना पड़ेगा। क्योंकि तर्कके द्वारा विश्वके रहस्योंके एक सूक्ष्मतम अशका ही उद्घाटन हो सकता है और यह शास्त्र अलौकिक है, अतः तर्ककी यहाँतक पहुँच नहीं है। कदाचित् ऐतिहासिक युगके पूर्वसे ही भारतीय जिज्ञासुओंका तर्कसे समाधान नहीं हो सका और इसीलिये यह देखनेमें आता है कि उन्होंने सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि एवं अलौकिक साधनोंसे प्रकृतिके रहस्योंके भीतर प्रवेश करनेकी चेष्टा की है जिससे वे तर्कके द्वारा नहीं, अपितु अपने निजी अनुभवके सहारे उनका पता लगा सकें। उनकी दृष्टिमें रहस्यवाद तर्ककी परिधिको लॉघ जाता है।

भगवान् बुद्धके जीवनकालमें योगका सिक्षा जम

चुका था। लोग इस बातकी परवा न करके कि दार्शनिक गुरुत्थयोंको सन्तोषप्रद रीतिसे सुलझानेका कोई और मार्ग भी है या नहीं, योगका साधन किया करते थे।

उदाहरणतः हम देखते हैं कि स्वयं बुद्ध भगवान् घर छोड़कर बोधगयाके निर्जन वनमें जाते हैं और वहाँ 'आस्कानक समाधि' का अभ्यास करते हुए शरीरको इस प्रकार कसते हैं कि उनका आहार घटते-घटते चावलके एक दानेपर पहुँच जाता है। उन्हें बोध भी हुआ, किन्तु वह किस साधनसे हुआ, उनकी ऐकान्तिक तपोनिष्ठासे अथवा तपस्याके साधनको छोड़ देनेसे ? यह विचारणीय है। भगवान् बुद्धके प्रसङ्गमें तो, जो ईसामसीहसे लगभग ६०० वर्ष पूर्व हुए थे, यही कहना पड़ेगा कि तर्कको नीचा देखना पड़ा और रहस्यवादकी विजय हुई। बुद्धने अपने युगके सभी प्रसिद्ध तार्किकों एवं दार्शनिकोंके सामने अपनी शङ्काएँ रखर्वा, किन्तु किसीके उत्तरोंसे उनका समाधान नहीं हुआ। उन्हें तो आत्मनिरीक्षण एवं तपश्चर्यासे ही सिद्धि प्राप्ति हुई और इसीका उन्होंने उपदेश दिया।

इसमें कोई आश्रय नहीं है कि बहुतसे जिज्ञासुओं और श्रद्धालु पुरुषोंने बुद्धके उदाहरणसे उत्साहित होकर उन्हीं साधनोंको करना प्रारम्भ कर दिया जिनसे बुद्धको सिद्धि प्राप्त हुई थी। उस समयके इतिहाससे यह पता चलता है कि भगवान् बुद्धके कतिपय शिष्योंने उन्हीं साधनोंका सम्यक् प्रकारसे अनुष्ठान कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त कीं जिनसे उनके जीवनकालमें ही उनकी बड़ी ख्याति हो गयी। आधुनिक विद्वानोंका मत है कि योग-सूत्रोंके प्रणेता महर्षि पतञ्जलि शूङ्गवशीय महाराज पुष्यमित्र-के समसामयिक थे जिनका काल ईसवी सनकी दूसरी शताब्दी माना जाता है। उनका यह मत शङ्कासे शून्य नहीं है, क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि व्याकरण महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रोंके प्रणेता एक ही व्यक्ति रहे हों। जब पतञ्जलिने ही पहले-पहल इस शास्त्रको सूत्रबद्ध किया और अदि वे बुद्धके परवर्ती थे तो फिर बुद्ध-को योगका ज्ञान कैसे हुआ और कैसे उन्होंने अपने युगके

अच्छे-अच्छे तार्किकोंसे उनका समाधान न हो सकनेपर उस योगका अभ्यास किया ?

जब वहुत-से जिजासु, श्रद्धालु एवं विगिष्ट पुरुष किसी साधनामें प्रवृत्त होते हैं तो उनका यह आवश्यक कर्तव्य हो जाता है कि वे एक दूसरेके अनुभवोंका मिलान करें और इस प्रकार उन साधनाओंको शास्त्रका रूप दें। यह काम महर्षि पतञ्जलिके हिस्से पड़ा था (चाहे वे जो कोई रहे हों) जिन्होंने योगसूत्रमें योगशास्त्रकी उपयोगिताको सिद्ध करनेके लिये अनेक प्रमाण दिये और सिद्धि प्राप्त करनेके क्रियासाध्य उपाय बतलाये। उन्होंने स्पष्ट गव्दोंमें यह प्रतिश्ना की है कि योगपद्धतिकी सहायतासे साधक लोग कल्पनातीत सिद्धियोंको प्राप्त कर सकते हैं, और मोक्षलाभ भी कर सकते हैं जिससे सारे दुःखोंकी निवृत्ति हो जाती है और संसारके बन्धनसे सदाके लिये छुटकारा मिल जाता है।

वौद्धधर्मने योगके सिद्धान्तोंको चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीमें हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु वौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठ रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर राजयोग एवं हठयोग दोनों प्रकारके योगोंकी साधना किया करता था और उन लोगोंने अपने सामूहिक अनुभवकी सहायतासे उन साधनाओंको शास्त्रका रूप देकर एक ऐसी पद्धतिका निर्माण किया जो पातञ्जलयोगपद्धतिसे वहुत कुछ मिलती है, वल्कि ये कहना चाहिये कि दोनोंमें वहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोगकी मूलभित्तिपर तन्त्रोंका निर्माण हुआ और तन्त्रोंकी सहायतासे यह शास्त्र सर्वाङ्गपूर्ण बन गया।

वौद्धोंकी (राज) योग एवं हठयोगसम्बन्धी साधनाओं एवं क्रियाओंका स्पष्ट दिग्दर्शन हमें पहले पहल 'गुह्यसमाज' नामक तन्त्रसे मिलता है और यह ग्रन्थ मेरे अनुमानसे ईसवी सन्‌की तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ है जिसके लिये मेरे पास अनेक प्रमाण हैं। यह ग्रन्थ गायकबाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला (Gackwad's Oriental Series) का ५३ वाँ पुण्य है और जो लोग यह जानना चाहते हैं कि मेरे पास उसे तीसरी शताब्दीका लिखा हुआ माननेके लिये क्या प्रमाण है उनसे मेरा अनुरोध है कि वे उक्त ग्रन्थके साथ जोड़े हुए विस्तृत ग्रन्थपरिचयको ध्यानपूर्वक पढ़ें।

उक्त ग्रन्थका अठारहवाँ अध्याय इस दृष्टिसे बड़े महत्वका है कि उससे हमें वौद्धधर्ममें प्रचलित योग-साधनाओंका तथा उनके उद्देश्य एवं प्रयोजनका वास्तविक परिचय मिलता है। इस अध्यायमें केवल उन पारिभाषिक शब्दोंकी व्याख्या की गयी है जिनका वौद्धतन्त्रोंमें वहुत अधिक प्रयोग हुआ है। 'उपाय' शब्दकी व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि उपायके सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन ये चार भेद हैं। इनमेंसे सेवाके सामान्य सेवा और उत्तम सेवा इस प्रकार दो अवान्तर भेद बताये गये हैं। सामान्य सेवाका दूसरा नाम वज्रचतुष्य और उत्तम सेवाको 'ज्ञान सुधा' कहा गया है। किसी देवताविशेषके साक्षात्कारकी चतुर्विध प्रक्रियाका नाम वज्रचतुष्य है और उनका क्रम नीचे लिखे अनुसार है—(१) शून्यताप्रत्यय, (२) शून्यताका वीजमन्त्रके रूपमें परिणाम, (३) वीजमन्त्रका देवताके आकारका बन जाना और (४) देवताका विग्रहरूपमें प्रकट होना।

उत्तम सेवाका स्वरूप बताते हुए गुह्यसमाजकार कहते हैं कि इस सेवामें सिद्धि प्राप्त करनेके लिये पद्म-योगका सावन करना चाहिये। योगके इन छः अङ्गोंके नाम उसी ग्रन्थमें इस प्रकार उल्लिखित हैं—(१) प्रत्याहार, (२) ध्यान, (३) प्राणायाम, (४) धारणा, (५) अनुस्मृति और (६) समाधि।

प्रत्याहार उस क्रियाका नाम है जिसके द्वारा इन्द्रियोंका निप्रह किया जाता है। पॉच ध्यानी बुद्धोंके द्वारा पॉच इष्ट विषयोंपर मनको स्थिर करनेका नाम ध्यान है। इसका अर्थ सम्भवतः सत्ता (Being) के पॉच अवयवों अर्थात् रूप, वेदना, सत्ता, संस्कार और विज्ञानपर, जो पॉच ध्यानी बुद्धोंद्वारा अधिष्ठित हैं, मनको एकाग्र करना है। इस ध्यानके पॉच अवान्तर भेद बताये गये हैं जिनके नाम हैं वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता।

योगका तीसरा अङ्ग है प्राणायाम। गुह्यसमाजके अनुमार प्राणवायुके निगेधका नाम ही प्राणायाम है और इस प्राणवायुको पञ्चभूतात्मक अथवा पञ्चविध ज्ञानका स्वरूप माना गया है। इनकी नासिकाके अग्रभागपर स्थित एक पिण्डके रूपमें भावना की जाती है और फिर उनका पञ्चवर्णज्योतिको प्रानारित करनेवाले एक रक्षके रूपमें ध्यान किया जाता है।

चौथे अङ्गका नाम धारणा है जिसमें उपासक-को अपने डृष्टमन्त्रका हृदयकमलमें व्यान करना होता है। धारणासे इन्द्रियोंका निग्रह भी होता है, उनकी पुनः एक रसके रूपमें भावना की जाती है और उसे प्राणविन्दुपर स्थापित किया जाता है। धारणाका श्रद्धापूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास करनेपर 'निमित्त' अथवा चमत्कारपूर्ण चिह्न दृष्टिगोचर होने लगते हैं। ये पॉच प्रकारके होते हैं। प्रारम्भिक अवस्थामें मरीचिका (मृगत्रृणा) का चिह्न चित्ताकाशके सामने प्रकट होता है। दूसरी भूमिकामें बुँड़का चिह्न और तीसरीमें जुगनुओंका चिह्न व्यक्त होता है, इसके बाद तुरन्त ही चौथा चिह्न प्रकाशका नजर आता है और अन्तमें निरभ्र गगनके सदृश स्थिर प्रकाशका चिह्न दिखायी देता है।

गुह्यसमाजके अनुसार वौद्धयोगका पॉचवॉ अङ्ग अनुसृति है। अनुसृति उस पठार्थके अनवच्छिन्न ध्यानको कहते हैं जिसके निमित्त योगसाधनाका प्रारम्भ किया गया है। अनुसृतिका चिरकालतक अभ्यास करनेसे प्रतिभास (revelation) की उत्पत्ति होती है। 'प्रना' और 'उपाय' इन दो तत्त्वोंके संयोगसे सृष्टिमें स्थित समस्त पदार्थ एक पिण्डके रूपमें अभिव्यक्त होते हैं। उस एक पिण्डके समस्त वात्य प्रपञ्चका ध्यान करनेसे समाधिरूप अलौकिक शानकी अविलम्ब उपलब्ध हो जाती है।

गुह्यसमाजतन्त्रके अठारहर्चे अध्यायमें आगे चलकर उपसाधनोंकी व्याख्या की गयी है। उस प्रसङ्गमें यह लिखा है कि उपसाधनका साध्य देवताका साधात्कार है और साथ ही यह भी लिखा है कि उपसाधनोंका अभ्यास लगातार छः भानीनेतक करना चाहिये और उसमें खान-पान तथा अन्य इच्छित पदार्थोंके सम्बन्धमें किसी वन्धन-की आवश्यकता नहीं है। यदि इस अवधिके भीतर उसे देवताका माधात्कार न हो तो साधकको चाहिये कि वह उसी अनुष्ठानको तीन बार करे। यदि इसपर भी देवता योगीके सामने प्रकट न हो और उसे व्रोधिलाभ न हो तब उसे अपने ध्येयकी प्राप्तिके लिये हठयोगका अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये और इससे उसे अवश्य ही सर्वज्ञता प्राप्त होगी।

इस अवधिपर यह कौतूहलपूर्ण प्रश्न सामने आता है कि तन्त्र और हठयोगमें परस्पर क्या सम्बन्ध है। ऊपर कही हुई वात्तोंसे यदी समझमें आता है कि गुह्यसमाजकारने

हठयोगको देवताके साधात्कारका अन्तिम उपाय बताया है—जब अन्य किसी उपायसे ऐसा न हो सके तभी इसका अभ्यास करनेको कहा गया है। इससे यह बात स्पष्टरूपसे ध्यानमें आ जाती है कि तान्त्रिक उपसाधनका आधार हठयोग है और उत्तम सेवाका आलम्बन राजयोग है। इस प्रकार तन्त्रको राजयोग और हठयोगसे पृथक् करना कठिन है। गुह्यसमाजमें इस बातको खूब स्पष्ट कर दिया गया है कि तान्त्रिक साधना करनेके लिये यह आवश्यक है कि साधक पहले (राज) योग एवं हठयोगके रहस्योंसे परिचित हो ले। अथवा, दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि तन्त्रगात्रके रहस्योंमें प्रवेशकर उन्हें समझनेकी चेष्टा करनेके पूर्व साधकको चाहिये कि वह पहले (राज) योग और हठयोगमें निष्पात हो जाय। इन सब बातोंसे हम इस परिणामपर पहुँचते हैं कि जो लोग अदीक्षितोंको अथवा प्रारम्भिक साधकोंको मन्त्रसाधनाका उपदेश देते हैं अथवा जो स्वयं योगमें निष्पात हुए विना ही इस साधनाको करने लग जाते हैं वे सर्वथा भूलमें हैं और शास्त्रीय रहस्यसे अपरिचित हैं।

इस बातको लोग भलीभाँत जानते हैं कि हठयोग-विद्यामें पारंगत होनेके लिये बहुत समय अपेक्षित है। हठयोगके अभ्याससे मनुष्य ऐसे अनेकों कार्य कर सकता है जो साधारण मनुष्योंके लिये अक्य नहीं है। उदाहरणतः हठयोगी जब चाहे तब शासकों निरोध कर सकता है तथा रक्तकी गतिको बन्द कर सकता है। वह कई दिनोतक ही नहीं, कई महीनोंतक पृथ्वीके अन्दर समाधिस्थ होकर रह सकता है। कई हठयोगी अपनी अंतिमियोंतक बाहर निकाल लेते हैं। परन्तु एक सिद्ध हठयोगीने, जिनसे मिलनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था, मुझे स्वयं यह कहा कि हठयोगियोंको असाधारण शारीरिक शक्तियाँ अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु विना तान्त्रिक साधना अथवा राजयोगका अभ्यास किये उन्हें मानसिक अथवा आध्यात्मिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं हो सकतीं। इससे यह बात सिद्ध हो जाती है कि तान्त्रिक साधना उन्हीं लोगोंके लिये अभिप्रेत है जो हठयोगके द्वारा प्राप्तव्य ध्येयसे आगे बढ़ना चाहते हैं। किन्तु जब साधकको तान्त्रिक साधनासे बाल्छित सिद्ध प्राप्त होती न दीखे तो उसे समझ लेना चाहिये कि उसके स्थूल शरीरमें इतने विकार भरे पड़े हैं कि उन्हें हठयोगके द्वारा ही दूर करना होगा।

तन्त्रका प्रमुख अङ्ग 'साधन' अर्थात् वह क्रिया है जिसके द्वारा उपासक अपने इष्टदेवका दर्शन करनेके लिये उत्युक्त होता है, जिस इष्टदेवसे उसे वाञ्छित सिद्धि प्राप्त होती है। साधक किसी एकान्त स्थानमें जाकर 'साधन' नामक तान्त्रिक ग्रन्थोंमें निर्दिष्ट विधिके अनुसार कुछ कालतक अपने इष्टदेवका व्यान करता है। इस प्रकारके २१२ साधन-ग्रन्थोंका एक संग्रह आलोचनात्मक पद्धतिसे सम्पादित होकर 'गायकवाड़ प्राच्यग्रन्थमाला' में प्रकाशित हुआ है। इन साधन-ग्रन्थोंमें उन आचार्योंने जो पहले उन-उन देवताओंका कष्टसाध्य एवं अनुमानतः दोषयुक्त पद्धतिसे साक्षात्कार कर चुके थे, सरल-से-सरल एवं निर्भ्रान्त उपाय बताये हैं जिनके द्वारा साधक विना भूल किये उसी ध्येयको सहजहीमें प्राप्त कर सकता है। इन ग्रन्थोंके रचयिताओंका उन गोपनीय साधनोंके प्रकाश करनेमें जिनसे उन्हें सिद्धि प्राप्त हुई थी कोई निजी स्वार्थ नहीं था। उन्होंने केवल मानवसमाजके हितकी दृष्टिसे अथवा एक ऐसी विद्याको अमर बनानेके उद्देश्यसे ही ऐसा किया जिसके सम्बन्धमें उनकी यह धारणा थी कि इसे सुनिचित रीतिसे लेखवद्ध नहीं करेंगे तो उसका लोप ही हो जायगा।

जब साधक साधन-ग्रन्थोंमें बतायी हुई किसी विधिके अनुसार, अतिग्राह श्रद्धापूर्वक एवं सुदीर्घकालतक शूल्यका ध्यान करता है तब उसका इष्टदेव उसके सामने झलक दिखाने लगता है। सर्वप्रथम उस देवताका वीजमन्त्र उसके मनोगोचर होता है जिसका वह साक्षात्कार करने चला है। वह वीजमन्त्र शीघ्र ही एक अस्पष्ट-सा आकार धारण कर लेता है और आगे चलकर, जब साधना पूर्ण

होनेको होती है उस समय देवताकी अमित सुषमायुक्त तेजोमय मूर्ति विविध वर्णके मनोमोहक वस्त्र धारण किये तथा ठीक उसी प्रकारकी आकृति तथा गत्तात्त्वसे सुसज्जित होकर जैसा उस देवताके ध्यानमें वर्णन होता है उसके मानसिक नेत्रोंके सामने आविर्भूत होती है। इस देवताका एक बार साक्षात्कार हो जानेपर वह उपासकको कभी नहीं छोड़ता, वल्कि बार-बार उसपर कृपावृष्टि करता रहता है और उसे अधिकाधिक सिद्धियों प्रदान करता रहता है। ये सिद्धियाँ उसे उस देवताके साक्षात्कार-के फलरूपमें मिलती हैं; परन्तु उस साक्षात्कारलाभके लिये केवल तान्त्रिक साधनासे ही काम नहीं चलता, अपितु उपासकके लिये यह आवश्यक है कि वह राजयोग एवं हठयोगका भी ज्ञान एवं सिद्धि प्राप्त करे।

वौद्धयोगके परिशीलनके लिये आजीवन अध्ययन करनेकी आवश्यकता है। क्योंकि वह समुद्रकी भौति अगाध है। प्रस्तुत निवन्धमें इस विधयको निःशेष करना मेरा उद्देश्य नहीं है, क्योंकि ऐसा करना मेरे लिये शरीरसे भी सम्भव नहीं है। मैंने इस योगकी कुछ दिग्गजाओंका दिग्दर्शनमात्र कराया है और कुछ ऐसी वातोंपर विशेष लक्ष्य कराया है जिनके विषयमें वौद्ध और वैदिक योगमें खासा मतभेद है और जहाँ इन दोनों पद्धतियोंका समन्वय कर देनेसे महान् फलसिद्धि हो सकती है।

अन्तमें मैं पाठक एवं समीक्षक महोदयोंको युनः सरण दिलाना चाहता हूँ कि योगमार्ग एक रहस्यमार्ग है, इसके परिणामोंको निजी अनुभवकी कसौटीपर कसना होता है। योग चाहे वह वौद्धयोग हो अथवा वैदिकयोग, एक ऐसा विषय है जो मानवतर्ककी पहुँचके बाहर है।

शुद्धस्वरूप

मन तुम लागहु सुद्ध सरूपे ॥ टेक ॥

तन मन धन न्यौद्धावरि वारो वेगि तजो भव कूपे ॥ १ ॥

सतगुरु कृपा तहो लै लावो जहाँ छॉह नहीं धूपे ॥ २ ॥

पद्या करम ध्यान सौ फटको लोग जुगति करि सूपे ॥ ३ ॥

निर्मल भयो ज्ञान उंजियारो गृंग भयो लखि चूपे ॥ ४ ॥

भीखा दिल्य दृष्टि सौ देखत सोहे बोलत मूँ पै ॥ ५ ॥

—भीरा सादव

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीभगवत्तीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)

वि



द्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमें वैदिक यज्ञ-यागादि, पशुवलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता चर्सन्सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्य-सिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममें जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बृद्धवाले शानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विशेषरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा जीसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रखा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-सर्गीतियों अथवा महासभाओंका^१ आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस सर्गीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त संग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ चर्पोंमें इस विरोधभावने इतना जोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सच्च इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे

मतभेद वरावर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्धधर्ममें अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसच्चमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अद्वा जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२में तृतीय सर्गीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी सर्गीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय संगीतिके लगभग पचहत्तर वर्ष बाद मौर्य-सम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुद्धवशका राज्य प्रारम्भ हुआ। इसी शुद्धवशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अश्वमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ सस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी कावृलवाली सङ्कपर स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादिका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्ठ भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्ठके राजत्व-कालमें चतुर्थ सर्गीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैमाधिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग वतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बूद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्त्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबूद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान कहलाते हैं।

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० धनादेन मद्भूत 'बौद्धकालीन भारत' प० ३६६-३७० देखिये।

१. देखिये 'सरस्वती' जून १९२९ प० ६७८-६८५
(प्राचीन भारतकी सद्कें)।

अवतक मतभेद होते हुए भी सभी वौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति लाग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अहंतानकी ओर ही थी।

परन्तु कनिष्ठके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्प्रादित किया कि वौद्धोंके लिये केवल वौधिसत्त्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है। यहाँसे महायानकी नींव पड़ी। इसका वर्णन आगे किया जायगा।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा वौद्ध-दार्शनिक नागार्जुन थे। इनके विषयमें अनेक आश्र्वयजनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने वडी-वडी सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था। इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं। हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहबेघ (लोहको सोना बनाने) में सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है। स्वयं नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष^१ कही जाती है। इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्चात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है। ‘समराङ्गणसूत्रधार’ नामक वौद्धादेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे। नागार्जुनविषयक इन वातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D)

^१ देखिये जयचन्द्र विद्यालकारकृत ‘भारतीय इतिहास-की रूपरेखा’ भाग २ पृ० ९२४—९३६ और उन्होंका ‘भारतीय वाट्मयके अमररक्ष’ पृ० ३२—३५।

^२. ‘गङ्गा’का ‘पुरातत्त्वाकृ’ पृ० २१८।

^३. ईमोजदेवकृत ‘समराङ्गणसूत्रधार’ २ भाग
Gaekwad Oriental Series, Baroda

में जो किमियागीरों (Alchemists)^४ का प्रयत्न Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है।

नागार्जुनने अश्वघोषके वौधिसत्त्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित ‘प्रजापारमिता’ नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी वौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की। कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुस्थृत रूपान्तर अङ्गराचार्यजीका मायावाद है। इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ। ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध है। महायान वौद्धधर्मका प्रचार तिव्रत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अवतक पाया जाता है। वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्याममें है। हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके स्थृतमें।

स्वयं गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा वौधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। वौद्ध ‘ब्रह्मजालसुत्त’ तथा ‘आटानटीय सुत्त’ में भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है। अतः कोई आश्र्वयकी वात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका वौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर वौद्ध महायानसम्प्रदायमें मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो। और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि योडे ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उप्र ह्य धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ और इतने उथल-पुथलके बाद वौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी। अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ। आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

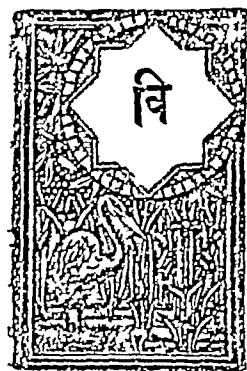
जन्मौपचिमन्त्रतपःसमाधिजाः मिद्यः।

इनमेंसे जन्मपर किसीका वक्ष नहीं। वह केवल

^४ इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये ‘Alchemy Ancient and Modern’ by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग

(लेखक—श्रीमगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए० डिप्टी-कलेक्टर)



द्वानोंका मत है कि महात्मा गौतमबुद्धके समयमें वैदिक यज्ञ-वागादि, पशुवलि तथा सकाम पुरश्चरणोंकी इतनी भरमार हो गयी थी कि साधारण जनता व्रस्त-सी होकर एक सरल तथा निष्काम धर्मके लिये उत्कण्ठित हो रही थी। इसी सामयिक उत्कण्ठाको लेकर और करुणायुक्त सेवाभावसे प्रेरित होकर शाक्य-सिंहने बौद्धधर्मका प्रचार किया। उनके इस नवीन धर्ममें कोई भी साधारण व्यक्ति भिक्षु अथवा भिक्षुणीरूपसे दीक्षित हो सकता था। किन्तु बौद्धधर्ममें जो आचार-विचारसम्बन्धी किञ्चित् कठोर नियम बनाये गये थे वे परिपक्व बुद्धिवाले शानवान् सन्यासी-तुल्य व्यक्तिके लिये विरोधरूपसे उपयुक्त थे न कि अशिक्षित जनता तथा छोसमाजके लिये। प्राचीनतम बौद्धधर्ममें भक्तिभावना तथा उपासनाके लिये प्रायः कोई स्थान नहीं रखा गया। इन्हीं त्रुटियोंके कारण सिद्धार्थके निर्वाणके अनन्तर ही बौद्धजनतामें मतभेद प्रारम्भ हो गया। और इसी मतभेदको यथासम्भव दूर करनेके लिये सुप्रसिद्ध चार बौद्ध-सर्गीतियों अथवा महासभाओंका आयोजन किया गया।

महात्मा बुद्धका निर्वाण ईसवी पूर्व सन् ४८३ में माना जाता है। इसके छः वर्ष बाद ई० पू० सन् ४७७ में महाकाश्यप, उपालि, आनन्द आदि पाँच सौ भिक्षुओंने राजगृहमें प्रथम महासभा की। इस सभीतिमें बुद्धके विनय तथा धर्मसम्बन्धी सिद्धान्त संग्रह किये गये। और कुछ कालके लिये मतभेदकी शान्ति की गयी। परन्तु सौ चाँचोंमें इस विरोधभावने इतना ज़ोर पकड़ा कि ई० पू० सन् ३७७ में दूसरी महासभा करनी पड़ी। इस सभामें बुद्धके उपदेशों तथा सिद्धान्तोंकी पुनरावृत्ति की गयी। किन्तु सम्पूर्ण सह इनको माननेके लिये तैयार न था। अतः विपक्षियोंने अलग अपनी सभा की। इसी समयसे

१. इन चार महासभाओंके विस्तृत विवरणके लिये प० चनादन भट्टकालीन भारत' प० ३६६-३७० देखिये।

मतभेद वरावर बढ़ता ही गया और कालान्तरमें बौद्धधर्ममें अठारह निकाय अथवा समुदाय पैदा हो गये।

सम्राट् अशोकके समयमें भिक्षुसङ्घमें आलस्य तथा दुराचारने अपना अहु जमा लिया था। इसी कारण मूल उपदेश तथा सिद्धान्तोंको माननेवाले (स्थविरवादी) बौद्धोंने ई० पू० सन् २४२ में तृतीय सर्गीति की। इस बार इन पुराने बौद्धोंमें भी मतभेद हो गया और विपक्षी दलने अपनी सर्गीति अलग नालन्दामें की। इन विपक्षियोंको सर्वास्तिवादी कहते हैं और इन्हींके कारण कालान्तरमें नालन्दाकी इतनी सुप्रसिद्धि हुई।

उपर्युक्त तृतीय सर्गीतिके लगभग पचाहत्तर वर्ष बाद मौर्य-साम्राज्यका अन्त होकर वैदिक मतानुयायी शुद्धवंशका राज्य ग्रारम्भ हुआ। इसी शुद्धवंशके प्रथम राजा पुष्यमित्रने दो अध्यमेध-यज्ञ किये। इस समय बौद्धोंपर अनेक अत्याचार होने लगे। अतः स्थविरवादी तो भागकर साँची चले गये और सर्वास्तिवादी मथुरा आ गये। मथुरामें सर्वास्तिवादियोंने अपने ग्रन्थ सस्कृत-भाषामें करा डाले, क्योंकि मूल बौद्धग्रन्थ पालीमें थे।

पचास-साठ वर्षोंमें मथुराकी कावुलवाली सङ्कपर स्थित होनेके कारण सर्वास्तिवादका प्रचार गान्धार (वर्तमान कन्धार) तक पहुँचा और सम्राट् कनिष्ठ भी उसके अनुयायी हो गये। इन्हीं कनिष्ठके राजत्व-कालमें चतुर्थ सर्गीति जालन्धरमें हुई। इसके उपरान्त सर्वास्तिवादियोंमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक दो सम्प्रदाय हो गये।

बौद्धधर्ममें निर्वाण अथवा मोक्षके तीन मार्ग वतलाये गये हैं। जो केवल स्वयं मुक्त होना चाहता है वह अर्हत् कहलाता है। जो कुछ और लोगोंकी मुक्तिके लिये भी परिश्रम करता है वह प्रत्येक-बुद्ध कहलाता है। और जो जगत्के मोक्षकी चेष्टा करते हुए निर्वाणपद प्राप्त करता है वह बोधिसत्त्व कहलाता है। ये तीनों मार्ग क्रमशः अर्हत्-यान, प्रत्येकबुद्धयान तथा बोधिसत्त्वयान कहलाते हैं।

अवतक मतभेद होते हुए भी सभी वौद्धनिकाय (सम्प्रदाय) इन तीनों मार्गोंको मानते थे और अधिकतर प्रवृत्ति लाग तथा वैराग्यपर निर्भर होनेके कारण अहंतानकी ओर ही थी ।

परन्तु कनिष्ठके सामयिक महापण्डित अश्वघोष जो प्रसिद्ध कवि तथा दर्शनिक थे, उन्होंने एक नया मत सम्पादित किया कि वौद्धोंके लिये केवल वौधिसत्त्वयान ही सर्वश्रेष्ठ है । यहाँसे महायानकी नींव पड़ी । इसका वर्णन आगे किया जायगा ।

अश्वघोषके शिष्य सुप्रसिद्ध रासायनिक तथा वौद्ध-दर्शनिक नागार्जुन थे । इनके विषयमें अनेक आश्र्वयजनक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं । कहा जाता है कि योगाभ्याससे इन्होंने वही-वही सिद्धियाँ प्राप्त कर ली थीं और इसी कारण इन्हें सिद्धनागार्जुनके नामसे पुकारा जाता था । इनके पूर्वके वैद्यकशास्त्रमें केवल सुश्रुत तथा चरकके ही ग्रन्थ मिलते हैं । हाँ, यदि योगसूत्रकार तथा महाभाष्यकार महर्षि पतञ्जलिको लौहशास्त्रकार भी मान लें तो उनका नाम भी नागार्जुनसे पूर्व ही आता है ।

नागार्जुनके विषयमें कहा जाता है कि उन्होंने रासायनिक ज्ञानसे लोहबेघ (लोहेको सोना बनाने) में सफलता प्राप्त की थी और रासायनिक समासोंसे ऐसे-ऐसे रसादिकी सृष्टि की थी कि जिनके कारण मनुष्य अमर-सा हो जाता है । स्वयं नागार्जुनकी आयु ६०० वर्ष कही जाती है । इस विषयमें यह मानना पड़ेगा कि आधुनिक पाश्वात्य वैद्यकशास्त्र सुवर्ण, पारद, अभ्रक तथा गन्धकके अनेकानेक प्रयोगोंसे अनभिज्ञ है । ‘समराङ्गणसूत्रधार’ नामक वहौदेसे प्रकाशित प्राचीन ग्रन्थमें तो यहाँतक लिखा है कि पूर्वकालके वायुयान पारदसे चलते थे । नागार्जुनविषयक इन वातोंसे स्पष्ट है कि यूरोपीय इतिहास-के मध्ययुग (Middle Ages 100—1500 A D)

१. देखिये जयचन्द्र विद्यालकारकृत ‘भारतीय इतिहास-की रूपरेखा’ भाग २ पृ० १० १२४—१२६ और उन्होंका ‘भारतीय वाट्स्मयके अमररत्न’ पृ० ३२—३५ ।

२. ‘गङ्गा’का ‘पुरातत्त्वाक्ष’ पृ० २१८ ।

३. श्रीमोजदेवचन्त ‘समराङ्गणसूत्रधार.’ २ भाग
Gaekwad Oriental Series, Baroda

में जो किमियागीरों (Alchemists)^१ का प्रयोग Elixir of Life (अमृत) तथा Philosopher's Stone (पारस-पत्थर) के लिये बतलाया जाता है उसका मूल स्रोत भारत ही है ।

नागार्जुनने अवधोषके वौधिसत्त्वयानसम्बन्धी सिद्धान्तको मानकर पूर्वप्रचलित ‘प्रज्ञापारमिता’ नामक दर्शनग्रन्थके आधारपर माध्यमिक अथवा शून्यवादी वौद्ध-सम्प्रदायकी सृष्टि की । कुछ विद्वानोंका मत है कि इसी शून्यवादका सुस्कृत रूपान्तर अङ्ग्रेजीयजीका मायावाद है । इसके अतिरिक्त मैत्रेयके योगाचारसम्प्रदायका भी विशेष प्रचार हुआ । ये ही दोनों मत (माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदाय) महायानके नामसे प्रसिद्ध हैं । महायान वौद्धधर्मका प्रचार तिव्वत, मङ्गोलिया, चीन तथा जापानमें अवतक पाया जाता है । वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक सम्प्रदाय हीनयानके नामसे पुकारे जाते हैं और हीनयानका प्रचार सीलोन, ब्रह्मा तथा श्यामसे है । हीनयानके ग्रन्थ पाली भाषामें हैं और महायानके स्कृतमें ।

स्वयं गौतमबुद्धने भी ध्यानयोग (राजयोग) द्वारा वौधिवृक्षके नीचे ज्ञान प्राप्त किया था । वौद्ध ‘ब्रह्मजालसुत्त’ तथा ‘आटानटीय सुत्त’ में भी इस विषयका कुछ वर्णन मिलता है । अतः कोई आश्र्वयकी वात नहीं कि नागार्जुन-जैसे सिद्ध योगीका वौद्धधर्मसे सम्बन्ध होनेपर और माध्यमिक तथा योगाचारसम्प्रदायोंके प्रादुर्भूत होनेपर वौद्ध महायानसम्प्रदायमें मन्त्रयोग क्यों न प्रचलित हो । और वास्तवमें हुआ भी ऐसा ही, क्योंकि थोड़े ही समयके अनन्तर महायानके अन्तर्गत मन्त्रयानका प्रचार हुआ जो उपर स्पष्ट धारणकर वर्तमान वज्रयानमें परिणत हो गया ।

पतञ्जलिकृत योगदर्शनका सूत्र है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोध’ और इतने उथल-पुथलके बाद वौद्ध भिक्षुओंके लिये चित्तवृत्तिनिरोधकी परम आवश्यकता थी । अतः उनके लिये मन्त्रयोग ही उपयुक्त प्रतीत हुआ । आगे चलकर उपर्युक्त दर्शनके चतुर्थ पादमें कहा है—

जन्मौपचिमन्त्रतपसमाधिजाः सिद्धय ।

इनमेंसे जन्मपर किसीका बड़ नहीं । वह केवल

१. इन Alchemists के विषयमें अधिक ज्ञानके लिये देखिये ‘Alchemy Ancient and Modern’ by Redgrove, William Rider and Son, London (1922)

कर्मानुसार ही होता है और घोषधियोद्वारा सिद्धि प्राप्त करना केवल नागर्जुन-जैसे सिद्धोंहीके वशमे था। अतः जनमाधारणके लिये तृतीय उपाय मन्त्रका ही अवलभ्यन सुलभ प्रतीत हुआ। मन्त्रयोर्गमें अध्यरोके अधिष्ठाता देवताओंका व्यान एक आवश्यक अङ्ग है। इसी कारण वौद्धधर्ममें इसी समयसे मूर्तियोंका बनाया जाना प्रारम्भ हुआ और बज्रमत्त्व, रक्षसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा चैरोचन नामक पौच्छधानी बुद्धो, मञ्जुश्री, अवलोकितेश्वर, बज्रपाणि, आकाशगर्भ, श्वितगर्भ, मैत्रेय, समन्तभद्र इत्यादि वौधिसत्त्वोंकी कल्पना प्रारम्भ हुई। इनके अतिरिक्त हिन्दुओंकी दश महाविद्याएँ तथा अनेकानेक अन्य देवी-देवता भी छङ्गरूपसे वौद्धधर्ममें ले लिये गये। चौड़ोंकी प्रधान देवी तारा हैं।

उपर्युक्त विषयपर वौद्धसाहित्यमें अनेकानेक ग्रन्थ मिलते हैं पर विद्वानोंके मतमें इनमेंसे मुख्य ग्रन्थें ‘मञ्जुश्री मूलकल्प’ ‘गुह्यसमाज तन्त्र’ ‘साधनमाला’ ‘श्री-चक्रसवर’ ‘सद्गमपुण्डरीक’ तथा ‘सुखावतीव्यूहसूत्र’ इत्यादि हैं जो सब छप गये हैं। इनके अध्ययनसे वौद्धधर्मके मन्त्रयोग, साधनक्रम तथा अन्य उपक्रम और उनके साधना-मेद माल्कम हो सकते हैं। इस छोटे-से लेखमें इन सबका मूल्य विवरण भी देना असम्भव है। हालमें काशी-विद्यापीठद्वारा प्रकाशित बुद्धघोष (ईसाकी पॉच्चीवी शताब्दि) कृत ‘शमथयान अर्थात् समाधि’ को देखनेसे तो प्रतीत होता है कि अनेक स्थलोंमें पतझलिके योगदर्शन-की पूरी-की-पूरी नकल कर ली गयी है।

१ मन्त्रशास्त्रके विषयमें अधिक जानकारीके लिये देखिये। Woodroffeकृत “Garland of Letters”, Ganesh & Co, Madras (1922).

२ ‘मञ्जुश्रीमूलकल्प’ (Trivandrum Sanskrit Series), ‘गुह्यसमाज तन्त्र और साधनमाला’ (Gaekwad Oriental Series), ‘श्रीचक्रसवर’ (Tantrik Texts Vol VII Edited by Arthur Avalon, Thacker Spink & Co, Calcutta), ‘सद्गमपुण्डरीक’ (Sacred Books of the East Vol 12), ‘सुखावती व्यूह’ (Anecdota Oxoniensia Aryan Series Vol II इसमें वौद्धवर्गकी कल्पना है) ‘सुखावती’ पर एक बड़ा सुन्दर लेख बाचायं नगेन्द्रटेवने ‘माधुरो’ अवद्वार १९२५ पृ० ४७१—४७६ (सुखावतीमार्ग) में लिखा है।

‘गुह्यसमाजतन्त्र’ के विषयमें कल्याणके पाठक ‘शिवाङ्क’ के ‘देवताका स्वरूप क्या है?’ शीर्षक लेख (पृष्ठ तीन-सौ एकहत्तर—तीन सौ तिहत्तर) में सूक्ष्म विवरण पायेगे। और ‘श्रीचक्रसवर’ की भूमिकाका सार ‘जक्तिअङ्क’ (पृ० पॉच्छी सौ चौबालीस—पॉच्छी सौ सैतालीस) में ‘वौद्ध और जैनधर्ममें जक्ति-उपासना’ शीर्षक लेखमें दिया गया है। ‘श्रीचक्रसवर’ के कुछ अवकाश अंग्रेजी अनुवाद Arthur Avalon सम्पादित Tantrik Texts के Volume VII में मिलेगा। उसके अध्ययनसे वौद्धमन्त्रयोगके महत्त्व तथा गाम्भीर्यका कुछ-कुछ आभास मिल सकेगा।

‘गुह्यसमाजतन्त्र’में लिखा है कि जहाँ मन्त्रयोग-की गति न हो वहाँ तन्त्रोंका आधार लेना पड़ता है। इसी कारण मन्त्रयानमें तन्त्रयानका समावेश होना अवश्यम्भावी था। तन्त्रोंकी साधनविधि तथा वाम और दक्षिणमार्गके विषय गुह्य तथा रहस्यमय हैं। वाममार्गके वीभत्स्य प्रतीत होनेवाले कृत्योका यथार्थ मर्म उस मार्गका साधक ही जान सकता है। अनभिज दर्शक उनको देखकर तन्त्रोंको गर्व बतलाने लगता है और अनभिज साधक उनका विपरीत प्रयोग करके नरकका भागी होता है और पतित हो जाता है। वौद्धमन्त्र-योगाचारमें वाममार्गका विशेष प्रयोग होने लगा था और अब भी होता है। अतः अनभिज जनतामें उसका प्रवेश होते ही अनर्थ होने लगा और भारतसे वौद्धधर्मके लोप होनेका यह एक मुख्य कारण हुआ। इस विषयमें अन्यत्र प्रकाशित ‘चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय’ शीर्षक लेख देखिये। उपर्युक्त मन्त्र-तन्त्रयानको ही बज्रयान कहते हैं।

वौद्धोंका मुख्य मन्त्र है ‘ॐ मणिपद्मे हुम्’ जिससे सम्पूर्ण तिव्यत रात-दिन गौँज रहा है। कुछ विद्वानोंका विचार है कि मणिपद्मसे कुण्डलिनीयोगके मणिपूरक-चक्रका निर्देश है और इस चक्रके देवता रुद्रका ध्यान

१ इस विषयपर एक बड़ा ही सुन्दर लेख Woodroffe कृत ‘Shakti and Shakta’ (Ganesh & Co Madras, third edn 1929) पृ० ५५३—६०७ (Pancha-Sattva the Secret Ritual) में मिलेगा।

२. देखिये ‘सरम्बती’ फरवरी १९२७ पृ० २४८—२५१ (वौद्धधर्मपर हिन्दू-धर्मकी छाप)।

बौद्धलोग अवलोकितेश्वर (अक्षोभ्य भैरव) रूपसे करते हैं । बौद्धोंके मन्त्र सस्कृतमें होते हैं और उनकी उपचार-यिदि हिन्दुओंके तान्त्रिक प्रयोगोंसे विलक्षण मिलती है ।

नागार्जुनका स्थान श्रीशैल कहा जाता है जो मद्रासके समीप है । सम्भव है, द्वितीय ज्योतिर्लिङ्गवाला श्रीशैल ही नागार्जुनके सिद्धिका केन्द्र हो । सस्कृत ग्रन्थोंमें भी (उदाहरणार्थ 'र्षचरित' 'मालतीमाघव') इस स्थानका एक तान्त्रिक केन्द्र होना पाया जाता है ।

नालंदाका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है । कहा जाता है कि सप्राट् अशोकने यहाँ एक बौद्धविश्वविद्यालय स्थापित किया । कुछ दिनों नागार्जुनने भी इस स्थानपर वास किया था । अतः सम्भव है कि उसी समयसे यहाँ तारादेवीकी तान्त्रिक उपासनाका प्रारम्भ हुआ हो । इसकी आठवीं शताब्दीमें किसी कारण इस विश्वविद्यालयका पतन हो गया । तबसे समीपस्थ भागलपुरके पासवाले विक्रमशिला-विश्वविद्यालयकी रुद्धाति बढ़ गयी । विक्रमशिलाके विश्वविद्यालय तथा उदन्तपुरीके पुस्तकालयके जन्मदाता वृगालके पालवशीय राजा थे । वे बौद्ध थे, अतः इनकी छत्रछायामें विक्रमशिला-चत्रयानकी साधनाका केन्द्र बन गया । इस विश्वविद्यालयके मध्यमें अवलोकितेश्वरका मन्दिर था और इस मन्दिरके चारों ओर तिरपन तान्त्रिक देवी-देवताओंके छोटे-छोटे मन्दिर थे । यहीसे चत्रयानका प्रयोग तिव्वतमें हुआ । इस विद्यालयमें अनेकानेक प्रकाण्ड बौद्ध तान्त्रिक हो गये हैं और सुप्रसिद्ध चौरासी मिठोंमेंसे भी अनेकोंका इस संस्थासे सम्बन्ध था ।

यहाँके लङ्काजयभट्टने ही उपर्युक्त 'श्रीचक्रसवर' नामक तन्त्र प्रन्थ लिखा था जिसका उल्लेख वार-वार चौरासी सिद्धोंकी 'चानियों' में आता है । लीलावज नामक आचार्यने अपने मन्त्रवलसे तुकोंके प्रथम

* देखिये 'शिवाक' पृ० ५४९-५५० (श्रीमार्हभार्जुन)

२. विस्तृत विवरणके लिये देखिये उपर्युक्त 'बौद्धकालीन भारत' पृ० ३७५—३७९ ।

३ देखिये 'भरत्स्वती' दिसम्बर १९१५ पृ० ३३९—३४४ (विक्रमशिलाका विश्वविद्यालय) ।

४ देखिये प० विवेशननाथ रेड्डू 'भारतके प्राचीन राजवश' (प्रथम भाग) पृ० १८१—१९७ ।

आक्रमणको निष्फल कर दिया था । आचार्य कमलरक्षितने अपने योगवलसे पॉच सौ तुकोंको मार भगाया था । कहते हैं कि इन्होंने तुर्कसेनापर पूर्णकुम्भ फैंका जिसके कारण तुर्क लोग खून उगलते हुए जान लेकर भागे । सन् १२०२ ई० में विल्लियर खिल्जीने इस स्थानको लूटकर यहाँके विशाल ग्रन्थसंग्रहको जला डाला ।

विक्रमशिलाके ध्वंसके बाद बौद्ध तान्त्रिकोंका भारतसे लोप ही हो गया । उनमेंसे बहुतेरे तो तल्वारके धाट उतारे गये, कुछ भागकर सीलोनकी ओर चले गये, और अधिकांश उत्तरकी ओर नेपाल तथा तिब्बतके अगम्य देशोंमें भाग गये । जो कुछ बौद्ध-तन्त्रका अवशेष भारतमें रहा वह आज भी मिथिलामें पाया जाता है, क्योंकि विक्रमशिलाके बाद ही नदिया तथा मिथिलाके विद्याकेन्द्रोंका उदय हुआ ।

इस समय चत्रयानका मुख्य गढ़ महाचीन (तिब्बत) है । तिब्बतमें बौद्धधर्मका प्रवर्ग ईसाकी आठवीं शताब्दिके प्रारम्भमें हुआ । उसके पहले इस देशमें 'बोन' धर्म^५ प्रचलित था जो वैदिक शैवसम्प्रदायका विकृत रूप था । 'बोन' धर्मका मुख्य स्थान कैलाश पर्वत था और देशकी असाधारण प्राकृतिक स्थितिके कारण 'बोन' धर्ममें जादू-टोना इत्यादि बहुत बढ़ गया था अर्थात् तमःप्रवान देवोंकी सकाम उपासनाका प्राधान्य था । नालंदाके महापण्डितोंकी रुद्धाति सुनकर तिब्बतसमाटने वहाँके आचार्य शान्तरक्षित (६० सन् ६५०—७५०) को अपने देशमें बौद्धधर्मके प्रचारके लिये आमन्त्रित किया । आचार्य तिब्बत गये किन्तु उनके पहुँचते ही अनेक प्राकृतिक उपद्रव उठ खड़े हुए । अतः उनके परामर्शसे राजाने पञ्चासम्भव नामक एक तान्त्रिकको भारतसे चुलबाया । इन्होंने अपने योगवलसे देशके सभी उप्रदेवी-देवताओंको शान्त किया । वर्तमान तिब्बतीय लामाधर्म इन्हीं पञ्चसम्भवकी मूल कृति है^६ । तिब्बतवाले इन्हे लामारिन-

५ देखिये नोट नम्बर ३ वाला लेख ।

६. देखिये राम्ल मार्ग्यायननृत 'तिब्बतमें मवा वर्म' पृ० १८७—२३ ।

७ देखिये 'Modern Review' August 1934 (Article on 'Home of Tantricism')

८ देखिये 'भाष्मी' नू० १९३६ पृ० ५७८—५८६ (विराट भारत)

पोचे कहते हैं और भर्तृहरि तथा आल्हाकी तरह इनको अमर मानते हैं। आज भी घर-घर इनका चित्र पाया जाता है। आचार्य शान्तरक्षितने उदन्तपुरीके विहार-के नमूनेका एक विहार तिव्वतमें सम्-ये नामक स्थानमें बनवाया जो अब भी मौजूद है।

इसके ३०० वर्ष बाद दीपंकर श्रीजान (ई० सन् १८२-१०५४) नामक विक्रमगिलाके प्रकाण्ड तान्त्रिक आचार्य तिव्वतमें बुलाये गये क्योंकि वीचमें वौद्धधर्म शिथिल हो चला था। इन्होंने अनेकानेक भारतीय ग्रन्थोंका तिव्वती भाषामें अनुवाद कराया। ये अनुवाद अवतक विद्यमान हैं। भारतके मूल ग्रन्थ धर्मान्ध यवनोंके हाथ कभीके भस्ते हो चुके।

स्वयं तिव्वतमें जे-चुन् मिल-रे-पा^१ नामक एक उल्कुष तान्त्रिक (ई० सन् १०४०-११२३) हो गये हैं और उनके निर्दिष्ट मार्गका अनुसरण करते हुए अब भी सैकड़ों वौद्ध मान्त्रिक तथा तान्त्रिक एकान्त गुफाओंमें वीस-वीस क्या चालीस-चालीस वर्षतक एकान्तवास तथा तान्त्रिक साधनाएँ करते हैं। इनकी गुफाओंमें प्रयिष्ठ होनेपर द्वार सदाके लिये अथवा नियमित यष्टोंके लिये बन्द कर दिया जाता है और केवल एक छिद्रसे भोजन पहुँचानेका प्रवन्ध रहता है। न तो भीतर प्रकाश पहुँचता है न एकान्तवासी किसीसे भोजनके छिद्रद्वारा भापण करता है^२। मिल रे-पाका एकान्तवासस्थान लप-चीमें था। वहीं अब भी विशेषकर उपर्युक्त प्रकारसे एकान्तवास करते हुए अनेकानेक सिद्ध मिलेंगे। सन् १९२१ वाले एथरेस्ट आरोहणवाले दलको लप-चीमें ३०० या ४०० एकान्तवासी मिले थे^३। और अपनी (Trans Himalaya) नामक पुस्तकके ३५ वें परिच्छेदमें Dr Sven Hedin (जिन्होंने सन् १९०६-७ में तिव्वतकी यात्रा की थी) इसी प्रकार-के एक एकान्तवासीका कल्पनायुक्त वर्णन किया है। ऐसे

१. देखिये राष्ट्र राष्ट्रत्यायनकृत 'तिव्वतमें वौद्धधर्म' पृ० २८ (श्रीशिवप्रसादजी गुप्त, काशी) ।

२. देखिये 'Trans-Himalaya' by Sven Hedin (vol II) Pp 1-12 (Macmillan & co, 1909 'Colonial Library' Edition)

३ देखिये 'सरस्वती' नवम्बर १९२२ पृ० २७७ (मौट एथरेस्टका आरोहण) ।

ही अनेक स्थान तिव्वतमें हैं। इनमें एक मुख्य स्थान ताशी लामाका निवासस्थान शीगर्ची है।

तिव्वतका राज्यतन्त्र ही लामा सिद्धोंके हाथमें है^४। प्रधान शासक दलाई लामा कहे जाते हैं। उनके बाद शीगर्चीके ताशी लामाका स्थान है। देशभरमें प्रधान अधिकारी लामा ही हैं। इनमें अनेक पाखण्डी तथा दुराचारी भी हैं किन्तु इनके सरक्षणमें यिस्मयकारी वज्रयान अथवा लामाधर्म अब भी पूर्ववत् अक्षुण्ण चला आता है। देशभरमें अनेकानेक मठ विद्यमान हैं जहाँ प्राचीन प्रणालीसे शिक्षा दी जाती है और जिनमें लाखों लामा लोग (शृहस्य इन मठोंमें भर्ती नहीं हो सकते) अब भी 'ॐ मणिपद्मे हुम्' के गम्भीर नादसे उस ज्योतिको जाग्रत् रख रहे हैं। इन लामाओंके हाथमें एक चरखी-सा यन्त्र होता है जिसमें कागजोंपर लिखे हुए हजारों 'ॐ मणिपद्मे हुम्' होते हैं। लामा लोग बराबर इस चरखीको बुमाया करते हैं और इससे निरन्तर मन्त्रजपका पुण्य माना जाता है। स्थान-स्थानपर यह मन्त्र पत्थरोंपर अथवा कपड़ोंके ढुकड़ोंपर लिखा मिलता है। सक्षेपमें यही वज्रयानकी गायत्री है।

यह तो हुई तिव्वतकी स्थिति। अब और उत्तरमें मझोलियामें बढ़ जाइये तो यही क्रम और घोररूपमें मिलेगा। कारण यह कि प्राकृतिक स्थितिके कारण मझोलिया आधुनिक सम्यताके लिये तिव्वतकी अपेक्षा अधिक अगम्य है। याद रहे कि तिव्वतमें विदेशियों (जिनमें भारतीयोंकी भी गणना है) के प्रवेशके लिये कठोर निषेध अवतक चले जाते हैं।

गत महायुद्धके बाद रुसमें जो राज्यविघ्नक हुआ उसमें बोलशेविकोंके हाथसे बचनेके लिये Count Ossendowsky नामक सजन मझोलिया होते हुए तिव्वतकी ओर भागे। इस निर्वासनकालका विवरण उन्होंने 'Beasts, Men, and Gods'^५ नामक पुस्तकमें दिया है।

१. देखिये एकार्द कावागुचीकृत 'तिव्वतमें तीन वर्ष' पृ० ३०१—३२२ (हिन्दी पुस्तक एजेंसी, कलकत्ता) ।

२. इनको 'मानी' कहते हैं।

३. Beasts Men and Gods by F Ossendowsky Edward Arnold & Co, London (17 th edition 1923) See pages 87, 96, 113-121, 177-181, 218-219, 257-262, 264-265, 287-316

इस पुस्तकको देखनेसे बज्रयानकी अलौकिक शक्तियोंका कुछ अनुमान किया जा सकता है। हड्डियोंको अग्निमेत्पाकर उनसे 'अरिष्ट' (योगदर्शन पा० ३ सू० २१) का ज्ञान प्राप्त करना, रक्तसे, थॉतोंसे अथवा Black Stone (काले पत्थर) से भविष्यका पता लगाना, व्योमविहरण, मृत्युयोंसे प्रबन्धोत्तर पाना तथा विना अग्निके दीपकोंका अपने आप जल उठना इत्यादि अनेक चमत्कारोंका इस पुस्तकमें उल्लेख है। उर्गा नामक स्थानमें 'प्रत्यक्ष बुद्ध' (Living Bogdo) नामक महापुरोहित रहते हैं। जिस समय उनमें देखावेग होता है उस समय उनके चेहरेके चारों ओर प्रभामण्डल (Nimbus) दीख पड़ता है। एक मन्दिरमें इस ग्रन्थके लेखकको थोड़ी देरके लिये अपने सुदूरस्थित घृहका दृश्य दीख पड़ा। दूसरे स्थानपर एक लामाने एक पुरुषको मार डाला पर थोड़ी ही देरमें वह मृत व्यक्ति ज्यो-का-त्यों पुनर्जीवित हो गया, इत्यादि। इन वार्तोंको योगदर्शनके तृतीय पादके साथ देखिये तब जात होगा कि केवल जादू-टोना कह देनेसे शङ्कासमाधान नहीं होता। इन चमत्कारोंको करनेकी शक्ति आयी कहोसे? केवल मन्त्र और तन्त्रप्रक्रियाओंसे। हॉ, कहीं-कहीं अजातरूपेण जन्मसिद्ध प्रथासे अथवा विशिष्ट जड़ी-बूटियोंके प्रयोगसे इन शक्तियोंकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

जन्मैषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ।

बैशाख-पूर्णिमाको तिव्वतमें बुद्धोत्सव^१ मनाया जाता है। इसी तिथिको महात्मा बुद्धका जन्म हुआ था और इसीको निर्वाण। आश्र्वर्यकी वात है कि इसी दिन इनको वोध भी हुआ था। उत्तरीय तिव्वतमें इस तिथिको रात्रिके समय एक चबूतरेपर बड़े-बड़े बौद्ध सिद्धांचार्य प्रतिवर्ष एकत्रित होकर बुद्धका आवाहन करते हैं। कहा जाता है कि बुद्धदेव प्रकट होकर आशीर्वाद देते हैं और पुनः अन्तर्हित हो जाते हैं।

कुण्डलिनीसम्बन्धी लेखमें मैं लिख ही चुका हूँ कि महायानीय जितनी बुद्धप्रतिमाएँ मिलेंगी उनमेंसे अधिकांग (पॉचर्वी शताविदके बादबाली) में बुद्ध धूंघराले बालबाले कनफटे योगीके रूपमें दिखलाये गये होंगे। ये धूंघराले केश सहस्रारचक्रके द्योतक हैं।

कहा जाता है कि सुप्रसिद्ध महाराणा जङ्गवहादुरके गुरु शंखेलामाने उन्हें बज्रोली मुद्राका अभ्यास कराया था।

हिमालयप्रान्त वैदिकमतानुयायी योगियोंका भी स्थान माना गया है। भर्तृहरि तथा आल्हा^२ अमर माने गये हैं और यह साधारण किंवदन्ती है कि वे हिमालयमें तपस्या कर रहे हैं।

अमीरपा

अमृत धारा देखिये पारब्रह्म वरिखन्त ।
तेजपुञ्ज द्विलिमिलि झरै, को साधूजन पीवन्त ॥
रसहीमें रस वरिखिहै, धारा कोटि अनन्त ।
तहैँ मन निहचल राखिये, दाढ़ु सदा वसन्त ॥
घन बादल विनि वरिखिहै, नीझर निरमल धार ।
दाढ़ु भाँजै आतमा, को साधू पीवनहार ॥
ऐसा अचरज देखिया, विन बादल वरिखै मेह ।
तहैँ चित चातग है रहा, दाढ़ु अधिक सनेह ॥

‘दाढ़ूजी’

१. देखिये ‘योगी’ (पट्टना) का ‘बुद्धाङ्क’ पृ० २९—३२ (महात्मा बुद्ध और बैशाख-पूर्णिमा) ।

२. देखिये ‘कल्याण’ पौप १९९० पृ० ९७४—९७७ (नहोवा और उसके देवस्थान) ।

जैनधर्ममें योगविद्या

(लेखक—मुनि श्रीहिमाशुभिजयजी न्यायसाहित्यतीर्थ)

भारतके वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्य दर्शन हैं। ये तीनों आत्मा, पुण्य-पाप, परलोक और मोक्ष इन तत्त्वोंको मानते हैं, इसीलिये ये आस्तिकदर्शन हैं। प्रस्तुत लेखमें हम जैनदृष्टिसे योगके विषयमें कुछ लिखेगे।

‘योग’ शब्द ‘युज्’ धातुसे बना है। सस्कृतमें ‘युज्’ धातु दो हैं। एकका अर्थ है जोड़ना और दूसरेका है ‘समाधि’। इनमेंसे ‘जोड़ने’ के अर्थवाले ‘युज्’ धातुको जैनाचार्योंने प्रस्तुत योगार्थमें स्वीकार किया है।

मोक्षेण योजनादेव योगो श्वत्र निरुच्यते ।

(श्रीयोगविजयकृता ‘द्वार्तिंशिका’ १०।१)

‘मुक्तेण जोयणात्मो जोगो’

(श्रीहरिभद्रसूरिकृता ‘योगविशिका’ १)

अर्थात् जिन-जिन साधनोंसे आत्माकी शुद्धि और मोक्ष-का योग होता है उन सब साधनोंको योग कह सकते हैं।

पातञ्जलयोगदर्शनमें योगका लक्षण ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ कहा है। इसी लक्षणको उपाध्याय योगविजय-जीने इस प्रकार और भी विशद किया है—

समितिगुस्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् ।

(पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति)

यतः समितिगुस्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः ।

(योगभेदद्वार्तिंशिका ३०)

अर्थात् मन, वचन, शरीरादिको सयत करनेवाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्माको उसके साध्य मोक्षके साथ जोड़ता है।

योगका शुद्ध अंग

इस प्रकार सामान्यतः सभी धार्मिक अनुष्ठान योगके अङ्ग हैं, तथापि यिंगेष्टसे तो मोक्षप्राप्तिके समीपतमवर्त्ति पूर्वकालका ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। आचार्य भगवान् श्रीहरिभद्र सूर्गिने ‘योगदृष्टिसमुच्चय’ में कहा है—

१. देखिये सिद्ध हेमचन्द्र-व्याकरण लघुवृत्ति पृ० ४८४
एमारी सम्पादित आवृत्ति ।

२. ‘युजृपी योगे’ गण ७ वाँ। ‘युजि च समाधौ’ गण ४

अतस्तु योगो योगानां योगः पर उदाहृतः ।

मोक्षयोजनभावेन सर्वसन्यासलक्षणः ॥१॥

केवल उन ज्ञानी योगियोंको जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करनेके पूर्व मन, वाणी और शरीरकी समस्त क्रियाओंका निरोध (सक्षय) करना पड़ता है, सभी बाह्य पदार्थोंका त्याग अर्थात् सर्वसन्यास करना पड़ता है। मोक्ष प्राप्त करनेमें ज्यव अ इ उ कङ् ल पञ्च-हस्ताक्षरउच्चारप्रमित काल शेष रहता है उस समयका जो शुद्ध ध्यान है वही सच्चा मोक्षसाधन अर्थात् योग है। इस अवस्थामें स्थित योगी ही सच्चा शुद्ध योगी है। उसके सङ्कल्प-विकल्प विलीन हो जाते हैं। उसके विचारोंका रज, तम या सत्त्वगुणसे भी स्पर्श नहीं होता। अति अल्प समयमें ही शुद्ध ध्यानके द्वारा वह मुक्त हो जाता है। मुक्तको ही सिद्ध कहते हैं। यहाँ सम्पूर्ण कृतकृत्यता हो जाती है।

योगकी विशेष व्याख्या

जैन आगमोंमें योगका अर्थ मुख्यतया ‘ध्यान’ लिखा है। ध्यान मूलतः चार प्रकारका है—१ आर्ति, २ रौद्र, ३ धर्म और ४ शुद्ध। इनमें आदिके दो ध्यान तम और रजोगुणविशिष्ट होनेके कारण योगमें अनुपयुक्त और प्रत्यूहकारी हैं। धर्मव्यान और शुद्धध्यान योगोपयोगी हैं। इनमें भी शुद्धध्यान अत्यन्त परिशुद्ध और अव्यवहित

३ तत्रानिवृत्तिशब्दान्त समुच्छित्रक्रियात्मकम् ।

चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिन ॥१०५॥

समुच्छित्रा क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च ।

समुच्छित्रक्रिय प्रोक्त तद्वार मुक्तिवेशमन ॥१०६॥

(गुणस्थान क्रमारोह)

४ अथयोगिगुणस्थाने तिष्ठतोऽस्य जिनेशितु ।

लघुपञ्चाक्षरउच्चारप्रमितैव स्थितिभवेत् ॥१०४॥

५ मन, वाणी और शरीरकी वृत्तियोंको भी जैनपरिभाषामें ‘योग’ कहते हैं—‘कायवाढ़मन कर्मयोग’ (तत्त्वार्थसूत्र ६।१) इसी अर्थसे पराक्रोटिको प्राप्त शुद्ध योगीको ‘अयोगी’ कहा है। ‘अयोगो योगाना योग पर उदाहृत’ यह भी इसी दृष्टिसे कहा गया है।

मोक्षसाधन है। इसके द्वारा दुःखरूप काष्ठके सहस्रों अरण्य क्षणमात्रमें सर्वथा भस्ते जाते हैं। इस विषयमें समाधिशतक, ध्यानशतक, ध्यानविचार, ध्यानदीपिका, आवश्यक निरुक्ति, अध्यात्मकल्पद्रुमटीका प्रभृति अनेक ग्रन्थ हैं।

त्रिविध योग

किसी भी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसपर अटल श्रद्धा होनी चाहिये। योगके लिये जो-जो कुछ आवश्यक है उसपर तथा जो पूर्णयोगी हैं उनपर परीक्षापूर्वक श्रद्धा रखना योगका आवश्यक अङ्ग है। इसको जैनदर्शनमें 'सम्यग्दर्शन' कहते हैं—'तत्त्वार्थश्रद्धान् सम्यग्दर्शनम्।' (तत्त्वार्थसूत्र १-२)। केवल विश्वास रखकर वैठ रहनेसे कुछ नहीं होता। विश्वासके साथ सम्प्रदायका रहस्यज्ञान भी परिपूर्ण रीतिसे होना चाहिये। इसको सम्यक्श्रुत होना कहते हैं। विश्वास और ज्ञान तो है, पर यदि चरित्युद्धि नहीं है—राग-द्वेष-मोहादिसे आत्मा व्याप्त है तो करोड़ों वर्षोंमें भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये 'सम्यक् चरित्र' होना चाहिये। यह ज्ञानदर्शनचरित्रात्मक 'त्रिविध योग' है। इसके पालनसे योग परिपूर्ण होता है और आत्माका आध्यात्मिक उत्कर्ष होता जाता है। योगकी पूर्णता ही मोक्षप्राप्ति कराती है। वैदिकदर्शनोंमें जैसे ब्रह्मसूत्र, गौतमसूत्र, कणादसूत्र आदि मौलिक ग्रन्थ हैं वैसे ही जैनदर्शनमें उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थधिगमसूत्र' है, उसका प्रथम सूत्र इसी त्रिविध योगके विषयमें है—'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।' इसी सूत्रपर आगे सम्पूर्ण ग्रन्थ है जिसे 'मोक्षगात्र' भी कहते हैं।

चौदह गुणस्थान

जब आत्मा विकासकी दिशामें प्रयाण करता है तबसे मोक्ष प्राप्त होनेकी अवस्थातककी योग्यताके चौदह गुण जैन-आगमोंमें वर्ताये हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) सास्वादन, (३) मिश्र, (४) सम्यग्दर्शन, (५) देशविरति, (६) प्रमत्तश्रमणत्व, (७) अप्रमत्तश्रमणत्व, (८) अप्रवृक्षण, (९) अनिवृत्ति, (१०) चक्षम लोभ, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षीणमोह, (१३) सयोगी केवली और (१४) अयोगी केवली। पातञ्जलयोगकी आठ भूमिकाओंमें प्रथम भूमिका यम है। इस 'यम' से भी पूर्व सूक्ष्मरीत्या योगकी जो भूमिकाएँ होती हैं वे भी इन चौदह

Hindu Sanskriti Online Library www.hindusanskriti.net/dsc.cgi/dharma |

'गुणस्थानक्रमारोह' तथा कर्मप्रन्थ, कर्मप्रकृति, गोमटसार आदि ग्रन्थोंमें इस विषयका सूक्ष्म विवेचन है।

अष्ट दृष्टि

आचार्य हरिभद्र सूरिने योगकी आठ दृष्टियों वर्तायी हैं—
मित्रा तारा वला दीपा स्थिरा कान्ता प्रभा परा ।
नामान्ति योगदृष्टीनां ॥
पातञ्जलयोगके जो आठ अङ्ग हैं उनसे इन दृष्टियों-का साहृदय है।

पञ्चविध योग

अर्वाचीन जैन न्याय-योग-साहित्यके अप्रणीतपाध्याय श्रीयगोविजयजीने पाँच प्रकारका एक अवान्तर योग भी वर्ताया है—

अध्यात्मं भावनाध्यायानं समता वृत्तिसंक्षयः ।
योगः पञ्चविधः प्रोक्तः योगमार्गविशारदैः ॥
(योगमेदद्वार्तिशिका)

योगमेदद्वार्तिशिकाके अतिरिक्त 'जैनदृष्टियोग' नामक गुजराती ग्रन्थमें भी इन पाँचोंका विशद विवेचन है।

त्रिविध योग

एक त्रिविध योग और है जो श्रीहरिभद्रयगोविजय आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है—

इच्छां शास्त्रं च सामर्थ्यमाश्रित्य त्रिविधोऽप्ययम् ।
गीयते योगशास्त्रज्ञिर्व्याजं यो विधीयते ॥

अष्टविध योग

महर्षि पतञ्जलि योगविद्याके महाप्राज्ञ आचार्य हुए। उन्होंने योगदर्शनमें योगके अङ्ग, लक्षण, परिभाषा, प्रकारादि जो कहे हैं उन्हें अनेक धर्मोंके विद्वानोंने माना और अपनाया है। पीछेके योगसाहित्यपर उन्होंके सूत्रोंकी गहरी छाप लगी हुई है। जैनाचार्योंने भी, अपनी सस्कृतिके अनुकूल, योगसूत्रोंका नाम, भेद, स्वरूप आदि ग्रहण किये हैं, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। आचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरिकृत योगशास्त्रमें पातञ्जलयोग-दर्शनके यम-नियमादि अङ्गोंको ही क्रमसे गृहस्थर्म, साधु-र्धर्म आदि कहा है। श्रीयगोविजयजीने भी आठ अङ्गोंका उल्लेख किया है। जैन योगी आनन्दघनजीने भी अपने पदोंमें आठों अङ्गोंका वर्णन किया है।

प्राणायाम

पतञ्जलि प्रभृति योगचार्योंने प्राणायामको योगका जौया आवश्यक अङ्ग माना है। परन्तु जैनाचार्योंने

MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

इसे आवश्यक नहीं माना है। श्रीहेमचन्द्र प्रभुति यिद्वानोंने तो इसका निषेध भी किया है—

तज्ज्ञाभूति भनः स्वास्थ्यं प्राणायामैः कदर्थितम् ।

प्राणस्थायमने पीडा तस्यां स्याद्विक्षितविद्वः ॥

(हैंयोगशास्त्र)

प्राणायाम हठयोग है और हठयोगको जैनाचार्योंने योगमार्गमें अनावश्यक माना है। हरिमद्र सूरिने कहा है— ‘ध्यानमें बलात्कारसे श्वासोन्छ्यासका निरोध न करना चाहिये’। ‘पातञ्जलयोगसूत्रकी वृत्ति’ में ‘प्रच्छर्दनविधारणाम्यां वा प्राणस्य’ (योगसूत्र १ । ३४) इस सूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीयशोविजयजी लिखते हैं—

अनेकान्तिकमेतत् । प्रसद्य ताभ्यां मनोब्याकुली-भावात् । ‘असां ण णिरुं भृ’ । (आवश्यकनिरुक्ति)

‘इत्यादिपारमर्थेण तद्विषेधाच्च ।’

तात्पर्य, किसी साधकको इससे लाभ हो तो वह प्राणायाम करे, इसमें कोई निषेध नहीं है। परन्तु सबके लिये प्राणायामको आवश्यक अङ्ग जैन विद्वान् नहीं मानते।

त्रिविध आत्मा

यों तो चैतन्यादि गुणोपेतत्वेन आत्मा एक ही

लक्षणका है, परन्तु तद्वत् भावोंके तारतम्यसे जैन विद्वानोंने तीन प्रकारका आत्मा माना है—(१) वहिरात्मा, (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। तीनोंके लक्षण इस प्रकार हैं—

आत्मबुद्धिः शरीरादौ यस्य स्यादात्मविभ्रमात् ।

वहिरात्मा स विज्ञेयो सोहनिद्राक्षेतनः ॥

वहिर्भावानतिक्रम्य यस्यात्मन्यात्मनिश्रयः ।

सोऽन्तरात्मा मतस्तज्ज्ञविभ्रमध्वान्तभास्करैः ॥

निर्लेपो निष्कलः शुद्धो निष्पन्नोऽत्यन्तनिर्वृत्तः ।

निर्विकल्पश्च शुद्धात्मा परमात्मेति वर्णितः ॥

शरीर-धनादि वाक्य पदार्थोमे मूढ होकर उन्हींमें जो

आत्मबुद्धि धारण करता है वह रजस्तमोगुणी वहिरात्मा है।

आत्मामें ही जो आत्मभाव धारण करता और यम-नियमादिको समझता और करता है वह अन्तरात्मा है।

मोहादि कर्ममलोंको सर्वथा धोकर जो मुक्तपदको प्राप्त होता है वह परमात्मा है।

उसी परमात्मपदको प्राप्त करनेका साधन योग कहाता है। योगके अभ्यासी मुमुक्षु योगधर्म जानकर उस परमपदकी ओर चलेंगे, यही आशा करके यह लेख पूरा करता हूँ।

जरथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग

(लेखक—श्री परच जहाँगीर तारापोरवाला वी० ष०, पी०-४८० टी० वार-एट-ला)



श्ररपासिके लिये सभी धर्मोंमें तीन मार्ग दिखलाये गये हैं—ज्ञान, भक्ति और कर्म। इन तीनों योगोंके साधन-से मुक्ति मिलती है ऐसा शास्त्रोंका बचन है। हिन्दूगांधोंमें इन तीनों-का बहुत स्पष्ट और सविस्तर वर्णन है, दूसरे धर्मोंमें भी न्यूनाधिक-रूपसे ये तीनों स्पष्ट प्राप्त होते हैं। कदाचित् ‘योग’ शब्दके अभावके कारण हमलोग सरलतापूर्वक यह बात न समझ सकें परन्तु मूल वस्तु तो यही है कि मुक्तिका मार्ग तीन प्रकारका है और प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावके अनुसार इन तीनोंमेंसे एक उसके अनुकूल होता है।

हमारे जरथोस्ती धर्ममें भी इन तीनों मार्गोंका उल्लेख है। अभावयवश जरथोस्ती धार्मिक साहित्य लगभग समूल नष्ट

हो चुका है और इसी कारण जो कुछ थोड़ा-बहुत साहित्य आज उपलब्ध है उसमें यह बात इतनी सरलतासे नहीं प्राप्त हो सकती है तो भी मननपूर्वक अध्ययन करनेसे और दूसरे धर्मोंके साथ तुलना करनेसे यह मूल सत्य प्राप्त हो सकता है। हमारे अवस्ता-साहित्यकी इक्षीस पुस्तकें थीं, उनमेंसे केवल दो ही पुस्तकें पूरी बची हैं, दूसरी चारमेंसे इधर-उधरके कुछ अशा प्राप्त होते हैं। जो पुस्तकें पूरी कहलाती हैं उनमें भी कई स्थानोंपर मूलसे इतना अधिक परिवर्तन हो गया है कि उन स्थानोंका वर्थ करना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव-सा हो जाता है। परन्तु सौभाग्यसदा मूलस्थापक जगद्गुरु ऋषिज्ञरथुष्ट्रके मूल श्लोक अभीतक सुरक्षित हैं और वे ही हमारे धर्मकी भित्तिस्तरप माने जाते हैं। कोई भी ग्रन्थ न रहकर केवल ये श्लोक ही रह जाते तो भी आज जरथुष्ट्रधर्मका अस्तित्व रह

सकता था। वे मूल श्लोक जरथुत्रकी 'गाथा' के नामसे विख्यात हैं और पाँच विभागोंमें बैठे हुए हैं। उन पाँचोंमें से प्रथम गाथा सर्वश्रेष्ठ गिनी जाती है और उसका नाम अहुन वइति गाथा है। सम्पूर्ण गाथाके २३८ श्लोकोंमें से इस प्रथम गाथामें १०० श्लोक आ गये हैं। इस 'अहुन वइति गाथा' नामका मूल अहुन-वर (अहुन-वईर्य) शब्द है जो हमारे धर्मका मूल मन्त्र माना जाता है और जिसके लिये हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि सुष्टि पैदा करनेसे पूर्व स्वय ईश्वरने इसका उच्चारण किया था और इसीमें से सुष्टि उत्पन्न हुई है। जरथुत्रकी अहुन वइति गाथाको इस अहुन-वईर्यकी टीका समझें तो कोई भूल नहीं है।

दूसरी वातोंको अन्य रखकर यदि केवल अहुनवरके गूढ अर्थका मनन किया जाय तो इसीमें से योगके तीनों मार्ग निकल आते हैं। इन तीनों मार्गोंको पीछेसे गाथामें विशेष विस्तारसे समझाया गया है। अहुनवरका रहस्य बहुत ही गहन है और उसका त्यों-ज्यों मनन किया जाता है त्यों-ही त्यों उसका अधिकाधिक आध्यात्मिक रहस्य प्रकट होता रहता है। और इसी कारणबश्य हमारे शास्त्रोंमें कहा गया है कि 'अहुनम्-वईरीम् तनूम् पाइति' अर्थात् अहुन-वईर्य तनका (आत्माका) रक्षण करता है।

अहुनवरके अनेक अनुवाद हो चुके हैं। इसपर प्राचीन अवस्ता साहित्यमें भी एक टीका लिखी हुई है। इसके अतिरिक्त सासानी कालमें^५ इस मन्त्रका पहलवी भाषामें अनुवाद हुआ था, उसमें इस मन्त्रमें समाये हुए तीन नामोंकी ओर सङ्केत किया गया है। ये तीन नाम 'अमर-पवित्र-शक्ति' (अमेघा-स्पेन्ता) के हैं और ये ही हमारे तीनों मार्गोंका सूचन करते हैं।

सर्वप्रथम हम 'अहुनवर' इस मन्त्रको देखें और उसका अनुवाद करें। इस मन्त्रमें तीन पक्षियाँ हैं जो प्रत्येक एक-एक वाक्य हैं और प्रत्येकमें एक महान् सत्य समाहित है।

- (१) यथा अहू वईर्या अथा रत्नश् अपाद्-चित् इति ।
- (२) वहृहेऽश् दज्दा मनहृहो इयोधननाम् अहृहेऽश् मञ्जाह ।

(३) क्षम्रमे-चा अहुराह आ यिम् द्विगुन्यो दद् वासारेम् ॥

अनुवाद—

(१) जैसे राजा सर्वोपरि (है) उसी प्रकार ऋषि (भी) अपने अपके कारण (है) ।

(२) वोहु-मनोका पुरस्कार जीवनके प्रभुके कार्य करनेवालोंको (मिलता है) ।

(३) ईश्वरका क्षम्र उसको (मिलता है) जो लाचारोंका रक्षक बनता है ।

(१) प्रथम सत्य यह है कि राजा अथवा इस स्थूल सुवनका जो अधिपति है उसके ही समान उतना ही महान् ऋषि भी गिना जाय। दूसरे शब्दोंमें कहें तो जिस प्रकार राजाका वडप्पन इस खाकी जहानमें है, इसी प्रकार ऋषि-का वडप्पन आत्मिक जगत्-पर है। किस कारणसे ऐसा है ? केवल अप के ही कारण। अब इस अपको हमलोग जरा गम्भीरतापूर्वक समझें। हम जरथोस्तियोंमें वोलचाल-में 'अपोई' शब्दका व्यवहार होता है और उसका अर्थ साधारणतः पवित्रता होता है। परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों हम प्राचीन समयकी ओर लक्ष्य करते हुए इसके अर्थको देखते जाते हैं त्यों-ही-त्यों वह अधिकाधिक गहरा होता जाता है। वास्तवमें इसका अर्थ अत्यन्त ही गहन है। अवस्ताका यह 'अप' शब्द वेदका 'ऋत' शब्द है। यह बात भाषाशास्त्रसे सिद्ध हो चुकी है^६। जिस प्रकार ऋत शब्दका वेदमें प्रयोग हुआ है उसी प्रकार हमारे शास्त्रोंमें अप का उपयोग हुआ है। जिस प्रकार देवता ऋतके अधिपति माने जाते हैं, उसी प्रकार हमारे यज्ञद (देवता) 'अपके सरदार' हैं। ईश्वरको प्राप्त करनेका एकमात्र मार्ग है 'अप हे पन्ताओं' (ऋतस्य पन्थाः)। एक खानपर स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'सर्वोत्तम अपकी सहायतासे, सर्वश्रेष्ठ अपकी सहायतासे, हे ईश्वर, हम तुक्षको देखें, तेरे पास पहुँचें, तेरे साथ मिल जायें। यह अप (ऋत) जरथुत्रके धर्मका मूल आधार है और इस क्षतिको जो समझता है उसको हमारे यहाँ रतु (ऋषि) के नामसे कहते हैं। यह ज्ञान-मार्ग है। रतु अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानप्राप्त पुरुष। और ऐसे 'खुओंके रतु' जगद्गुरु जरथुत्र हैं। जिस प्रकार गीतामें कहा गया है कि 'न हि ज्ञानेन सद्गं पवित्रमिह विद्यते'

* 'अप' का एक रूप 'अन' मार्द है। वह 'ऋत'के नाम मिलता है, वह तो स्पष्ट ही है।

उसी प्रकार यह अपका मार्ग (ज्ञानमार्ग) हमारे धर्मका मार्ग है ।

(२) परन्तु भक्ति विना केवल ज्ञान मनुष्यको अहङ्कारके गड्ढेमें ढकेल देता है और इसलिये उस अहङ्कारको जीतनेके लिये प्रेम-भक्तिकी आवश्यकता है । उस भक्तिका एक स्वरूप (या सर्वोत्तम स्वरूप) सम्पूर्ण कर्म ईश्वरके प्रति समर्पण करना है ।

यत्करोपि यदक्षासि यज्जुहोपि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुत्वं मदर्पणम् ॥

(गीता ९।२६)

इसी प्रकार अहुनवरमें भी कहा गया है कि मनुष्यको 'जीवनके प्रभुका कार्य करनेवाला' बनना चाहिये और ऐसा करनेसे वोहु-मनो (अच्छे मन) का पुरस्कार उसे प्राप्त होता है । वोहु-मनो (अच्छा मन) मनकी विशुद्धि प्रदर्शित करता है । मनमेंसे अहङ्कार (मैतूँका भाव) दूर करनेके लिये वोहु-मनो प्रकट होता है और उसके होनेपर सब जीवोंके प्रति प्रेम उद्घव होता है । वोहु-मनो प्रेमभक्ति प्रकट करता है और वह प्रेम केवल मनुष्योंके लिये ही नहीं प्रत्युत सारे जीवोंके लिये है । वोहु-मनो प्राणीमात्रके अधिष्ठाता हैं, खास करके गौ—पशु-रक्षा उनका प्रधान कर्तव्य माना जाता है ।

(३) उपर्युक्त दोनों मार्ग तो मनुष्यकी अपनी सिद्धिके काम आते हैं । ज्ञान तथा भक्ति दोनों साधनोंमें मनुष्य अपना जीवन सार्थक कर सकता है परन्तु

फिर भी पूर्ण मोक्ष तो उसे नहीं प्राप्त होता । पूर्ण मोक्षकी प्राप्तिके लिये तो ईश्वर (अहुरमजद) का सम्पूर्ण प्रभाव प्राप्त करना चाहिये । उसकी समानता प्राप्त करनी चाहिये । इसके लिये अहुरमजदका धथ (क्षत्र) साधन करना चाहिये । यह साधना गरीब, लाचारोंका रक्षक बननेसे प्राप्त होती है । इसमें कर्ममार्ग स्पष्ट दिखायी देता है । हमारा धर्म इस मार्गपर विशेष जोर देता है और आज भी जरथोस्ती लोग (पारसी जाति) कर्म-योगमें आगे बढ़े हुए दिखायी देते हैं ।

इस प्रकार ईश्वरप्राप्तिके तीनों मार्ग—ज्ञान, भक्ति और कर्मका समानतापूर्वक साधन करनेसे ही मनुष्य मोक्षका अधिकारी बनता है । ऐसी अहुनवरकी शिक्षा है । इसी कारणसे यह मन्त्र परम पवित्र माना जाता है । ईश्वरने सृष्टिरचनासे पूर्व ही यह मन्त्र उच्चारण किया ऐसा कहा जाता है अर्थात् इन नियमोंके आधारपर सृष्टिकी उत्पत्ति हुई और उसकी प्रगतिके लिये ये ही तीनों मार्ग नियत हुए ।

एक जगह ऐसा लिखा है कि यदि कोई मनुष्य अहुनवरके मन्त्रका शुङ्ख उच्चारण करके पाठ करे और उसका भावार्थ सम्पूर्णरूपसे समझे तो उसे दूसरे सब मन्त्रोंके पाठ करनेके समान ही युण्यप्राप्ति हो । जिस प्रकारकी त्रिविध योगसाधना इस मन्त्रमें समाहित है उसे देखते हुए इस कथनमें जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है ।

—ऋग्वेदसुखी—

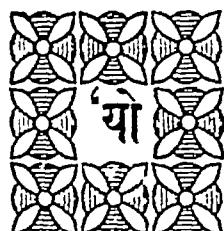
जागो !

मौत महा उत्कंठ चढ़ै नहिं सूअत अन्य अभागहु रे ।
चित चेतु गँवार विकार तजो जव खेत पढ़े कित भागहु रे ॥
जिन बुंद विकार सुधार कियो तन ज्ञान दियो पगुता गहु रे ।
'धरनी' अपने अपने पहरे उठि जागहु जागहु जागहु रे ॥

—धर्मदास

ईसाई-धर्ममें योगका स्थान

(लेखक—रेवरेण एड्विन ग्रीब्ज)



ग' गव्यका प्रचलित अर्थ ईश्वरके साथ एकता प्राप्त करना ही नहीं है, जो इसका मूल अर्थ है, अपितु उससे उन साधनोंका भी व्रोध होता है जो उक्त ध्येयकी प्राप्तिमें उपयोगी माने जाते हैं।

सम्बन्धतः 'योग' गव्यका यह दूसरा एव लाक्षणिक अर्थ पहलेकी अपेक्षा अधिक विचारकी अपेक्षा रखता है, किन्तु पहले अर्थके सम्बन्धमें हम जिस निर्णयपर पहुँचेंगे उसका अवश्य ही दूसरे अर्थके सम्बन्धमें स्थिर किये हुए हमारे विचारोपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ेगा। परमात्माके साथ एकता करनेके कई अर्थ हो सकते हैं और विचारके मनमें परमात्माका जो स्वरूप होगा उसीके अनुसार उसकी एकताका स्वरूप भी होगा।

कुछ लोगोंके मतमें 'एकता' का अर्थ लीन हो जाना है अर्थात् वह अवस्था जिसमें अपना कोई भिन्नत्व रह ही नहीं जाता, वह उस परमात्माका ही एक अङ्ग वन जाता है जिसमें वह लीन हो जाता है—वह परमात्मासे अभिन्न ही नहीं हो जाता वल्कि उसके साथ ऐसा शुल्मिल जाता है कि फिर उसका पृथक् अस्तित्व हूँढ़नेपर भी ध्यानमें नहीं आता। इसे हम एकताकी पराकाष्ठा कह सकते हैं। इससे नीचे उत्तरकर लोगोंने एकताकी कई श्रेणियाँ मानी हैं। परन्तु कदाचित् उन सभी श्रेणियोंमें योग करनेवालेकी पृथक् सत्ता किसी-न-किसी अवगमें अवश्य रह जाती है—वहाँ एकताका स्वरूप अभिन्नता न होकर अविसवाद अथवा मेल ही होता है। एकताका अर्थ है परमात्माके साथ एकमन हो जाना—परमात्माके सङ्कल्पके साथ अपने सङ्कल्पको मिला देना। साधक परमात्माकी प्रभुता और सुहृदताको समझकर अपनी दृष्टिको बदलनेकी, अपने भावको परिवर्तित करनेकी तथा अपनी निजी कल्पनाओं और जनसमाजकी युक्तियों और योजनाओंको परित्यागकर, जिनका साधारण जनता अनुगमन करती है, परमात्माके सङ्कल्पों और अभिमन्यिका अनुसरण करनेकी चेता करता है। हम परमात्माके सङ्कल्पोंके अनुनरण करनेकी वात हेतुपूर्वक कह रहे हैं, न केवल किसी मत-

विशेषका उपन्यास कर रहे हैं, न किसी ऐसे सिद्धान्त-वाक्यको ढोहरा रहे हैं जिसका अर्थ तो हम न जानते हो और केवल इसलिये ठीक समझते ही कि वह भगवद्वाक्य है। एकताका अर्थ है परमात्माके प्रति इस प्रकार प्रेम-पूर्वक आत्मसमर्पण करना कि जिससे हमारा चित्त उनकी दिव्य ज्योतिसे जगमगा उठे, हम हृदयसे वहीं चाहे जो उन्हे प्रिय हो और प्रतिदिन, नहीं-नहीं हर घड़ी, अपना आचरण एव व्यवहार ऐसा प्रगत्स एव परिष्कृत बनानेकी चेष्टा करें कि जिससे मनुष्यके साथ कैसा वर्ताव होना चाहिये इसका ईश्वरीय आदर्श हमारे सामने मूर्तिमान् होकर खड़ा हो जाय।

एक सच्चे ईसाईका अपने भगवान्के साथ किस प्रकार-का सम्बन्ध होना चाहिये इस विषयमें ईसामसीहके उपदेशोंका स्थूल आवाय स्पष्ट ही है। स्वय उनका अपने परमपिताके साथ जो सम्बन्ध है उसमें कई बातें विविक्त निराली हैं जिनके कारण उस सम्बन्धके स्वरूप और लक्षणोंके निर्देश करनेमें वडी कठिनाईका सामना करना पड़ता है। जहाँ हमारे प्रभुने 'मैं और मेरे पिता एक ही है' ("I and my Father are one") इस प्रकारके वाक्य कहे हैं वहाँ तो यह कठिनाई और भी सुस्पष्ट हो जाती है, एक तरफ तो उनका सम्बन्ध हमे इतना धनिष्ठ प्रतीत होता है कि उसे समझानेके लिये हमें मानव-जगत्-में कोई उदाहरण हूँढ़नेपर भी नहीं मिलता। किन्तु दो मनुष्योंमें मन और हृदयकी कैसी ही एकता, अभिन्नता क्यों न हो, वह उसकी तुलनामें नहीं ठहर सकती। दूसरी ओर हम उपर्युक्त वाक्यकां अद्वैतपरक अर्थ भी नहीं कर सकते क्योंकि उस हालतमें 'मैं और मेरे पिता' इस प्रकार-का द्वैत नहीं रह सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसका निर्देश हो सकता है अर्थात् अद्वैत नहीं है, दोनोंमें धनिष्ठ संयोग है, किन्तु सर्वथा अभेद नहीं। यदि हम इतनी ही बात पाठकोंके सामने उत्तरके रूपमें रखतें तो वह कदाचित् अपूर्ण समझी जायगी और उससे सबका समाधान न हो सकेगा। हमने तो केवल इस वातको समझनेकी कोशिश की है कि हमारे सामने एक ऐसा पहेली है जिसको बूझना हमारे लिये कठिन है, नहीं-नहीं, हमारी बुद्धिकी सीमाके | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

वाहर है, किन्तु फिर भी उसे हम एक महान् तथ्यके रूपमें अनुभव करते हैं। यह तथ्य हमारी बुद्धिके लिये अगम्य होनेपर भी हमारे समस्त चैतन्यांशको इस निश्चयसे आपूरित कर देता है कि वह रहस्य एक सत्य तथ्य है, केवल हमारे मन-की कल्पना नहीं है। अब रही परमात्माके साथ हमारे सम्बन्ध-की बात, सो इस विषयमें ईसामसीहका सिद्धान्त सुतरां स्पष्ट है। बाइबिलमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें अस्पष्ट रूपसे भी यह सकेत किया गया हो कि ईसाइयोंका ध्येय परमात्मामें मिल जाना है। बाइबिलमें एकताका जो वर्णन मिलता है उसका अर्थ है परमात्माकी इच्छाको जीवनका सञ्चालक एवं पथप्रदर्शक मानना, अपने आपको ईश्वरके मन तथा अभिसन्धिमें मिला देना और मनमें इस ब्रातका निश्चय रखना कि मनुष्यका परम ध्येय यही है, और उसीमें आनन्दित होना। महात्मा पॉलके पत्रोंमें हमें इस प्रकारके वाक्य मिलते हैं जिनका भाव है—मैं जीता हूँ पर अब मैं नहीं, मेरे अन्दर ईसामसीह जीते हैं। (I live and yet no longer I, but Christ liveth in me) परन्तु इस प्रकारके वाक्यका सम्भवतः कोई भी इससे अधिक अर्थ नहीं लगावेगा कि यह कहनेवाला पुरुष ईसामसीहको अपना गुरु मानकर उनकी 'सर्वतोभावेन वश्यता' स्वीकार करता है, अपनेको ईसामसीहके सञ्चालनमें रखकर उन्होंसे शक्तिसञ्चार, योगक्षेम एवं अनुग्रहकी आशा रखता है। उसीके आगे ये शब्द मिलते हैं—‘और अब जो जीवन इस शरीरमें है वह उन्हीं ईश-पुत्रमें विश्वासका जीवन है जिन्होंने मुझे प्यार किया और मेरेलिये अपने आपको दे दिया।’

(and that life which I now live in the flesh I live in faith, the faith which is in the Son of God, who loved me and gave Himself for)

रहस्यवादियों (mystics) में कुछ लोग अवश्य ऐसे मिलते हैं जो परमात्मामें लीन हो जानेको ही ईसाई-जीवनका एकमात्र परमपुरुषार्थ मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त अपवादस्वरूप ही है, बहुसंख्यक ईसाई ख्री-पुरुषोंके साधारण विचार इस प्रकारके नहीं हैं। एक ईसाईके जीवनकी चरितार्थता परमात्माके साथ एक ही जानेमें नहीं है, वृत्तिके उनके साथ पूर्ण साहचर्यमें है।

हमारे आलोच्य विषयका दूसरा अश है वे साधन जिनके द्वारा ईश्वरका साहचर्य प्राप्त हो सके। इस

सम्बन्धमें लोगोंने समय-समयपर कई तरहके विचार प्रकट किये हैं, परन्तु इस विषयमें कोई ऐसा सिद्धान्त सामने नहीं रखा जा सकता जो सर्वमान्य हो।

अधिक ध्यान देने योग्य ब्रात तो यह है कि बाइबिलमें हमारे प्रभुका जो जीवनवृत्तान्त तथा उपदेशोंका सम्प्रह है उसमें ऐसी किसी ब्रातका उल्लेख बहुत ही कम है जिसका योगसम्बन्धी साधनाओंसे निकट सम्बन्ध हो। उपदेशकार्य आरम्भ करते समय ईसामसीहने चालीस दिनका उपवास किया था, ऐसा वर्णन मिलता है, किन्तु उन्होंने इस तपको किसी साधनके रूपमें किया हो ऐसा नहीं मालूम होता, वृत्तिके कुछ समयतक वह अकेले जड़लमें रहे थे और वहाँ वह अपने भावी उपदेशकार्यको सोचनेमें इतने तल्लीन हुए कि उन्हें खाने-पीनेकी सुध भी न रही। एकाध जगत अवश्य 'प्रार्थना और उपवास' का उल्लेख आता है, और ऐसा भी वर्णन मिलता है कि प्रभु कभी-कभी एकान्तमें बैठकर प्रार्थना तथा ध्यानके लिये समय निकाला करते थे, परन्तु साधारण तौरपर हमारे प्रभुके जीवनमें तथा उनके उपदेशोंमें योग-साधनाकी आवश्यकताके सम्बन्धमें एक भी प्रमाण नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि वह सादा एवं साधारण मनुष्यों-का-सा जीवन व्यतीत करते थे तथा सामान्य कोटि-ख्री-पुरुषोंसे निःसङ्कोच होकर मिलते थे, यहाँतक कि उन्हें सामाजिक उत्सर्वोंमें भी सम्मिलित होनेमें किसी प्रकारका सङ्कोच नहीं होता था। उनकी दृष्टिमें ध्यान कोई बाह्यसाधन नहीं है, अपितु मनकी वृत्तिको अनवरतरूपसे भगवान्की ओर लगानेका नाम है जिससे कि जीवनमें अव्यक्त जगत्के सनातन सत्य तत्त्वोंकी सत्त्विधिका अनुभव होने लगे। 'वसुन्धरा भगवान्'की है और भगवान्'की साझता है।' भगवान्'ने मनुष्यके ही उपयोग एवं भोगके लिये सारे भौतिक पदार्थोंकी रचना की है। इसलिये उनका परिस्ताग करनेकी आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल इस ब्रातको ध्यानमें रखनेकी कि कहीं ये पदार्थ हमारे सिरपर सबार होकर हमें अपने अधीन एवं वशवतोंन कर लें, हमें अपना गुलाम न बना लें। मनुष्यको चाहिये कि वह वस्तुओंका यथार्थ मूल्य औंकना, उनके गुणदोषोंका विवेचन करना सीखे, आध्यात्मिक एवं सनातन तत्त्वोंका आधिमौतिक एवं जागतिक तत्त्वोंके द्वारा परामर्श न होने दे। प्रार्थना, निर्भरता, वश्यता, (ईश्वर एवं मनुष्यमात्रके प्रति) प्रेम, ये ही योगसाधनाएँ हैं जिन्हें

ईसामसीहने परमात्माके अधिकाधिक साहचर्यमें सहायक वताया है।

प्रभु ईसामसीहके कालसे लेकर अवतक ईसाइयोंने जिन जिन योगसाधनाओंका अभ्यास किया है उनकी कथा बहुत लम्बी-चौड़ी और वैचित्र्यपूर्ण है। ईसवी सन्दर्भ प्रारम्भिक शताव्दियोंमें उपवासादि कठोर व्रतचर्याओंको कई लोग बहुत उपयोगी मानते थे और उसके बाद भी भिन्न-भिन्न युगोंमें कुछ सम्प्रदायोंकी ऐसी ही धारणा रही है। परन्तु इस प्रकारकी धारणा अधिक संख्यक ईसाइयोंमें न तो सर्वमान्य ही रही है, न सामान्य ही। ईसाइयोंको ब्रावर चेतावनी दी जाती रही है कि वे भोगविलासकी ओर अप्रसर न हों, इन्द्रियोंके दास न बनें। उन्हे यह भी शिक्षा दी जाती रही है कि वे अपनी सम्पत्ति और अपनी सारी शक्तियोंको परमात्माकी सौंपी हुई पवित्र धरोहर समझें, उनका विवेकपूर्वक उपयोग करें और उदारता-पूर्वक उनका दूसरोंको भी उपभोग एवं उपयोग करने दे। उनको इस सम्बन्धमें सतर्क रहनेका उपदेश दिया जाता रहा है कि भौतिक सुख उनकी आध्यात्मिक दृष्टिको आवृत न कर दें, वे लोग इस जगत्को सराय-सा समझकर उसमें मुसाफिरोंकी तरह रहें, तथा इस बातको सदा सरण रखें कि हमारा वास्तविक और सनातन घर आगे है, किन्तु साथ-ही-साथ जो ईश्वरप्रदत्त वस्तुएँ हमें रास्तेमें पढ़ी हुई मिलें उनका धर्माविरुद्ध उपभोग भी करते रहें।

कदाचित् योगका सर्वसुलभ रूप उपवास है। रोमन कैर्थलिक तथा प्रैटिस्टण्ट दोनों मतोंके अनेक अनुयायी उपवासको बहुत अधिक उपयोगी मानते हैं और खास-खास अवसरोंपर अवश्य उपोषित रहते हैं। कुछ लोग ऐसे

हैं जो नियमितरूपसे उपवास तो नहीं रखते, किन्तु उसे आत्मोन्नतिका एक वास्तवमें उपयोगी साधन अवश्य स्वीकार करते हैं। वे यह समझते हैं कि ऐसे समयमें जब भौतिक सुखोंकी आत्मापर विजय होती दीखती है, उपवाससे मनुष्यको बड़ा साहस एवं बल मिलता है। इस वर्गके लोग उपवासको प्रायश्चित्तके रूपमें न देखकर आत्मोन्नतिका एक उपकारी साधन मानते हैं और यह समझते हैं कि उपवास जीवनमें आत्माके प्रभुत्वका योतक है और इस बातको भी सूचित करता है कि हम भौतिक जगत्के आधिपत्यको स्वीकार करनेके लिये तैयार नहीं हैं।

इन पंक्तियोंका लेखक इस बातको जानता है कि ईसाइयोंमें बहुत लोग ऐसे हैं जिनकी यह धारणा है कि ईसाईधर्ममें योगका महत्व जितना वह समझता है उनकी अपेक्षा कहीं अधिक है। वे ऐसा मानते हैं तो मानें। लेखक उनके इस भावका आदर करता है और यदि इस प्रकारकी साधनाओंका महत्व उनके अनुभवमें आया है तो उनकी बातका वह खण्डन भी नहीं करता, वल्कि उनके अनुभवकी सत्यताको स्वीकार करनेमें भी उसे कोई व्यापत्ति नहीं है। ईसाईधर्मका क्षेत्र बहुत व्यापक है, उसके अन्दर ईसाईजीवनकी अभिव्यक्तिके भिन्न-भिन्न स्वरूपों तथा भिन्न-भिन्न प्रकारके अनुभवोंके लिये गुजाइया है। सबसे मुख्य बात तो है ईश्वरके सम्बन्धमें क्रमः अधिकाधिक जानना और उन्हें जानकर उनसे प्रीति करना, उनपर भरोसा करना और उनकी इच्छाके अनुकूल आचरण करना। ईश्वरको जाननेका उपाय है ईसामसीह-की ग्रन्थमें आना और उन्हेंको एकमात्र गति मानना और प्रार्थना, निर्भरता और वश्यताके द्वारा जीयनकी पूर्णताको प्राप्त करना।



कर्वीरका योग

(लेखक—श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेनन)

योग और क्षेम दून दो शब्दोंको युक्त कर एक साथ व्यवहार करने की प्रथा हमारे देशमें प्रचलित है (गीता १ । २२) । शङ्कराचार्य योगको अप्राप्ति और क्षेमको उसकी रक्षा बताते हैं । श्रीधरस्वामी भी यही बात कहते हैं ।

अनन्त प्राचीन कालसे ही मनुष्यने योगके मर्मको अनुभव किया है । जिस मोहन-जो-दरोको पण्डितोंने आयोंके आगमनका भी पूर्ववर्ती बताया है उसमें भी सुन्दर-सुन्दर योगियोंकी मूर्तियाँ पायी गयी हैं । उन मूर्तियोंको देखते ही जान पड़ता है कि ये योगियोंकी मूर्तियाँ हैं जो किसी-न-किसी योगसाधनाको सूचित करती हैं ।

असीम अनन्त विश्वतत्त्वसे ही मनुष्यका उच्छ्य हुआ है । विश्व-सागरमेंसे अपना व्यक्तित्व लेकर मनुष्य एक लहरकी नाई प्रकट हुआ है । इसीलिये यह विश्वतत्त्व निरन्तर नानाभावसे उसे आकृष्ट कर रहा है । उसका जीवात्मा भी सर्वदा विश्वात्मके साथ युक्त होना चाहता है । वह व्याकुलता ही योगका मूल है ।

इस योगकी हम दो प्रकारसे उपलब्धि कर सकते हैं—भावोंसे या क्रियासे । हमारे देशके साधकोंने दून दोनों प्रकार-के योगोंके वैचित्र्यकी नाना रूपसे प्रार्थनाएँ की हैं ।

मिलनका एक मूलमन्त्र यह है कि जो लोग मिलेंगे उनमें परस्पर साधर्म्य होना चाहिये । समजातीय होनेसे भी मिलन होता है, जैसे जलके साथ जलका, और परस्पर परिपूरक (complementary) होनेसे भी योग होता है, जैसे विवक्ति के साथ शक्तिका । इस प्रकारकी परिपूरकताके क्षेत्रमें एक दूसरेके लिये व्याकुल आकांक्षा रहती है, इसीलिये ऐसा योग एक सावनामात्र न होकर एक अनुपम रस-वस्तु हो उठता है ।

मनुष्य और विश्व—विश्वात्मामें जो योग है उसमें समजातीयता और परिपूरकता दोनों ही भाव हैं । विश्वदेह और मानवदेहमें जो योग है वह समजातीयताका ही योग है, यद्यपि उसमें कुछ परिमाणगत भेद भी है । विश्वात्मा और मानवात्मामें जो योग है वह परस्पर परिपूरक है । यद्यपि दोनों ही कुछ हटक एक ही नियम मानकर चलते

हैं तथापि जीवात्मा सीमावद्ध है, विश्वात्मा या परमात्मा असीम । अवधा इस भेदके कारण ही दोनोंके योगमें इतनी प्रवल आकाशा और व्याकुलताका रस वर्तमान है ।

विश्व और मानव दोनोंमें ही एक साधर्म्य है । दोनों ही एक-एक सम्पूर्ण जगत् हैं । इसीलिये ग्रीक दार्शनिकोंने विश्वको (Macrocosm) या विराट् जगत् कहा है, और मानवको (microcosm) या क्षुद्र जगत् कहा है । नव प्लेटोनिक (नौ-अफलातनी) दार्शनिकोंने दार्शनिकभावसे इसकी नाना प्रकारसे आलोचना की है । फिर भी इसके रसरूपका अनुभव किया गया है भारतवर्षकी और स्क्रियों-की साधनामें, भक्तों और कवियोंकी वार्णीमें ।

नौ-अफलातनीयोंने ही केवल विश्व और मानवमें वह साधर्म्य नहीं दिखाया । उपनिषदोंमें देखते हैं,—‘इस विश्व आकाशमें जो तेजोमय, अमृतमय पुरुष हैं, वही हमारे आत्मामें भी तेजोमय अमृतमय पुरुष हैं ।’ (वृहदारण्यक ० २ । ५, १० । १४) तभीसे यह भाव और दोनोंके वीचकी मिलन-व्याकुलता ही भारतवर्षके सभी भक्त और साधक कवियोंकी प्राण-वस्तु रही है ।

इसीका क्रियासाध्य (Practical) रूप मोहन-जो-दरोकी मूर्तियोंमें दिखावी पड़ता है । वहाँका साहित्य तो हमलोगोंको मिला नहीं, मिली हैं सिर्फ कुछ मूर्तियाँ । मूर्तिमें idea अर्थात् भीतरकी मर्मकथा तो रक्खी नहीं जा सकती, इसीलिये वहाँकी भीतरी बात हम नहीं पा सके, पा सके हैं वाहरी योगचेष्टाका रूप ।

यह योगचेष्टा भी इस देशमें कम प्राचीन नहीं है । खूब सम्भव है, यह वेद-पूर्व सभ्यताकी एक विशेष सम्पत्ति हो । पहले-पहल वैदिक आर्यलोग इसके प्रभावमें नहीं आये, पर बादमें उन्हें इससे प्रभावित होना पड़ा था, इसे आर्यचिन्तासे दूर नहीं रखा जा सका । परवर्ती भारतीय साहित्य तो इडा, पिङ्गला, चक्र, कमल, कोश, नवद्वारा, मूलाधार, सहस्रार प्रभृति तत्त्वोंसे भरा पड़ा है । अर्थवेदमें भी इसका कुछ-कुछ आदि आभास मिलता है ।

अष्टा चक्र नवद्वारा देवानां पुरुषोध्या ।

तस्या हिरण्यमयः कोशः स्वर्णो ज्योतिषावृतः ॥

(अर्थवेदसहिता ८ । २ । ३१)

अष्टचक और नवद्वारसे युक्त है यह अजेय देवपुरी, वर्हीपर जो हिरण्मयकोश आवृत है वही स्वर्ग है।

तस्मिन् हिरण्मये कोशे इयरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

(अथर्व १०।१०।३२)

त्रि-अरयुक्त त्रिप्रतिष्ठित उस हिरण्मय कोशमें जो आत्मयुक्त यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष) विराजमान है, उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं।

इस स्थानपर परबर्ती योगगात्रकी अनेक वातें देख पड़ती हैं। इसके बाद एक और अपूर्व मन्त्र है—इसमें उस अन्तःस्थित अधिष्ठान पुरुषकी वात और भी चमत्कार-पूर्ण ढगसे वर्णित है—

पुण्डरीकं नवद्वार त्रिभिरुणेभिरावृतम् ।

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः ॥

तीनों गुणोंसे आवृत, नवद्वारोंवाला यह कमल है। उसमें वास करता है वही यक्ष (पूज्य अपूर्व पुरुष), उसे ब्रह्मविद् लोग ही जानते हैं। इसीमें योगगात्रकी सबसे बड़ी वात है।

इडा-पिङ्गला, शिव-ऋग्गि, चन्द्र-सूर्य, ज्ञान-प्रेय प्रभृतिके मिलनसे होकर नाना आकारों और नाना प्रतीकोंमें वियुक्त मानव और विश्वात्माके मिलनकी ही चेष्टा होती आयी है। एक मूलाधारसे वियुक्त होकर दो धाराएँ हुई हैं, उन्हें फिरसे एक बेणीमें मिलाना होगा। अधोधारा पट्टन्क वेध करके ऊपर ऊर्ध्वलोकमें जायगी।

वहिपुराण-क्रियायोगसार, विष्णुपुराण (धृष्ट अश सत्तम अध्याय), सौर पुराण (वारहवॉ अध्याय), ब्रह्मवैर्वत (कृष्णखण्ड), गरुडपुराण (चौदहवॉ अध्याय, उनचासवाँ अध्याय) और भागवतमें नाना भौतिसे इस विषयका वर्णन है। देहके द्व्युम्भूम सम्बन्धके साथ भी उसके सम्बन्धकी वात लिङ्गपुराण (नवाँ अध्याय), मार्कण्डेयपुराण (पैतीसवाँ अध्याय) आदिसे निर्द्वी है। योगका भाव-पक्ष भी गीतामें बहुत प्रकारसे बहुत तरहकी भाषाओंमें व्यक्त हुआ है। इस द्विसे योगवासिष्ठ बड़ा मूल्यवान् प्रन्थ है। तन्में और शैवागमोंमें, यहोतक कि उत्तरकालीन वौद्धप्रन्थोंमें भी योगका बहुत कुछ सन्धान पाया जाता है।

इसके बाद योगी और सिद्धाचार्योंके निकट आना पड़ता है। ये सब तो योगमतके ही ग्रन्थ हैं। गोरक्ष-सहितामें अथसे इतितक क्रियासिद्ध योगकी ही वात है। मेरे अपने अध्ययनका विषय मध्ययुगके सन्तोंकी वाणी है। इस युगमें भी सैकड़ों भक्तोंकी वाणियोंमें योगकी वात नाना भावोंसे वर्णित हुई है। इनमेंसे केवल कवीरकी ही वात बढ़ ली जाय, तो कवीरका साहित्य भी तो एक समुद्र है।

कवीरकी आध्यात्मिक धुधा और आकांक्षा विश्वप्रासी है। वह कुछ भी छोड़ना नहीं चाहते, इसीलिये वह प्रहणशील हैं, वर्जनशील नहीं। इसीलिये उन्होंने हिन्दू, मुसलमान, सूफी, वैष्णव, योगी प्रभृति सब साधनाओंको जोरसे पकड़ रक्खा है। फिर भी उन मतोंकी सङ्कीर्ण सम्प्रदायिकता कवीरके साथ मेल नहीं खाती। इसीलिये कवीर इन सबको ही अपने ढगसे अपना सके हैं। उनके क्रियाकाण्ड, उनकी साधना और उनकी सज्जाओंको भी कवीरने अपने विशेष भावसे व्यक्त किया है। कवीर भक्त हैं, प्रेमिक हैं, योगी हैं, मानवरससे भरपूर हैं, मैत्री, युक्त आदिसे परिपूर्ण हैं। इस तरह उन्होंने जिन मतवादोंको ग्रहण किया है उनमेंसे प्रत्येक कुछ हृदतक उनका गृहीत है, कुछ हृदतक अपनी विशेष व्याख्यासे उन्होंने अपने समान कर लिया है, कुछ हृदतक परित्यक्त है और किसी हृदतक उनके कठोर आधातोंसे आहृत है। कवीरके योगमतवादके सम्बन्धमें भी यही वात कही जा सकती है। उन्होंने कुछ अर्जोंमें उसे मान लिया है, कुछ अशोतक विशेष भावसे आत्मसात् कर लिया है, कुछ अशोतक छोड़ दिया है और फिर किसी-किसी अंशपर कठोर प्रहार भी किया है। कवीर-साहित्यकी आलोचना करते समय एक वात विशेषत्वप्रसंगसे मनमें उठा करती है। यह साहित्य तो बहुधा विविच्च है और नाना सम्प्रदायोद्वारा सघृष्ट किया गया है। फिर कौन-सी वाणीका आश्रय करके आलोचना को जाय ? योगमतकी आलोचनाके इस प्रसङ्गमें मैंने काशीकी नागरी-प्रचारिणी-उभाके स्तकरणका ही आश्रय लिया है।

कवीरके अनेक पदोंको देखकर ऐसा जान पड़ता है कि टीक पूर्ववर्ती योगियोंकी, वर्तोंतक कि कभी-कभी हृच्छ-वै ही वाते पहुँचे हैं। जैसे—

‘प्रथमे गगनकी पुहमी प्रथम प्रसु प्रथमे पवन कि पाणी ।’
(पदावली १६४)

कवीरकी प्रश्नोत्तरी और प्रहेलिकाएँ विल्कुल प्राचीन योगियोंके समान हैं । इसीलिये इन प्रहेलिकाओंको ‘गोरखधन्वा’ कहते हैं । कवीरका निम्नलिखित पठ भी योगी-पदोंके ही समान है—

सुनिमटलमें घर किया जैसें रहै सिचाना ।
उलटि पवन कहाँ राखिये कोइ मरम विचारै ॥
साथै तीर पतलकू, फिरि गगनहि मारै ।
ठीक इसी प्रकारका एक और पठ परिशिष्ट (२०७)में है ।
मूल दुर्घारै वध्या वधु । रवि ऊपर गहि रास्या चंदु ॥
पच्छम द्वारै सूरज तपै । मेर ढड सिर ऊपर वसै ॥
.....

खिडकी ऊपर दसवा द्वार । कहि कवीर ताका अत न पार ॥
योगके सम्बन्धमें भी कवीरके वैचित्र्यका अन्त नहीं ।
वह पवन उलटकर घट्चकमेड करके शून्य गगनमें
समाहित होना चाहते हैं ।

उलटे पवन पट्चक वेधा मेरडट सर पूरा ।
गगन गरजि मन सूनि समाँनौ वाजे अनहद तूरा ॥
(पद ७)

कभी कहते हैं, ‘मनको ही उलटकर उसमें भरना
होगा ।’..... पवन उलटकर घट्चक वेध
करके ‘शून्य सुरति’ में ही ‘लय’ लगाना होगा—

मन रे मनहीं उलटि समाँनौ ।
.....

उलटे पवन चक पट् वेधा सूनि सुरति है लागी ॥

इत्यादि (पद ८)

कभी वह द्वादश कूपसे वनमालीके समान नीरधारा
ऊपरकी ओर उलटकर सुपुण्णाका कूल पूर्ण कर देना
चाहते हैं—यह धारा दस दिग्गाओंमें ही फुलवारी पावेगी ।
द्वादश कुआँ एक वनमाली उलटा नीर चलावै ।
सहजि सुपमना कूल भरावै दह दिसि वाढी पावै ॥

(पद २१४)

कभी-कभी ईधन जलाकर जिस प्रकार भट्टीसे सुरा
चुआ लेते हैं, उसी प्रकार अन्तरके महारसको गगनमें

चुआकर उसी सुरामें मत्त होना चाहते हैं । परन्तु आश्रय यह है कि इस गगनरसको उन्होंने भक्तके समान ‘रामरस’ बना लिया है । उनके योग और भक्तिसम्बन्धी मत इसी प्रकार युक्त है । इसी रामरसमें मतवाला होना ही कवीरकी एकान्तवासना है ।

गगन साल चुए मेरी भाठी । सचि महारस तन मया काठी ।
वाँकौ कहिये सटज मतवार । पीवत रामरस ज्ञान विचार ॥
.....

(परिशिष्ट पद ५८)

‘चन्द्र और सूर्य ये दोनों ज्योतिके स्वरूप हैं । इसी ज्योतिके अन्तरमें अनुपम व्रस्त विराजमान है । ऐ ज्ञानी, वर्हीपर ब्रह्म-विचार करो—

चद सुरज दुइ जौति सरूप । जौति अन्तरि ब्रह्म अनूप ॥
करु रे ज्ञानी ब्रह्म विचारै । (इत्यादि परिशिष्ट पद ६७)

कभी-कभी कवीरने योगीके भेषको रूपककी भाँति
ग्रहण करके, सुरति-निरति आदिद्वारा सजाया है ।

अबधू जोगी जगथे न्यारा ।

मुद्रा निरति सुरति करि सीगी नाद न खडै धारा ॥

(पद ६९)

निरति मुद्रा और सुरति सिंगासे सजित होकर वह योगी
जगत्‌में ‘चेतन-चौकी’ पर बैठकर उस मधुर महारसको
पान करता है, जिस महारसको इस अन्तरकी भट्टीमें
चुआया गया है । वहाँ बैठकर वह दुनियाकी ओर
ताकता भी नहीं—

वसै गगनमें दुनी न देसै, चेतनि चौकी बैठा ।

चढ़ि अकास आसन नहिं छाडै, पीवै महारस मीठा ॥

(पद ६९)

गगनभट्टी चुआकर जिस अमृतरसका निर्झर झरा
करता है, उसे ही पान करना होगा । रसमें ही झरा
करता है वह रस ।

गगन ही मॉठी सींगी करि चूँगी कनक कलस एक पावा ।

तहुआँ चैव अमृत रस नीर्झर रसहीमें रस च्वावा ॥

(पद १५३)

यर्हीपर मनको मत्त कर देनेवाला ‘रामरसायन’ पान
करना होगा । दुनियामें सब भ्रमकी साधनामें भूले हैं—
.....

यह दुनिया कोई भरम भुलानी ।

मैं राम रसाइन माता ॥ (वही पद)

गगनमण्डलमें घर करना होगा । क्योंकि वहाँ सदा अमृत झरा करता है, सदानन्द उपजता है; बङ्गनालका रस पान करना होता है—

अवधू गगनमण्डल घर कीजै ।

अमृत झौर सदा सुख उपजै बकनाहि रस पीवै ॥

इत्यादि (पद ७०)

कभी-कभी कवीर अधोधाराको ऊर्ध्वमें उठानेके लिये जिन सब्र आयोजनोंकी ज़्रुतरत है उन्हें रूपकके रूपमें सजाकर लय, पवन, मन, सत्य, सुरति प्रभृतिकी सहायतासे सहज ही उस धारमें चलाना चाहते हैं—

ल्यौकी सेज पैनका ढीकू मन मटकाज बनाया ।

सतकी पाटि सुरतिका चाठा सहज नीर मुक लाया ॥

(पद १४)

कभी कवीरका यह योगसम्बन्धी सारा आयोजन रूपकके समान ही है । यद्यपि वह कहते हैं—‘हे अवधूत ! मेरा मन मत्त हो गया है, उन्मनिपर चढ़कर मनने उस महारसको मग्न होकर पान किया है, इसीलिये त्रिभुवन दीप हो गया है, उज्ज्वल हो गया है—

अवधू मेरा मन मतिवारा ।

उन्मनि चढ़या मग्न रस पीवै त्रिभुवन मया उजियारा ।

· ·

(पद ७२)

किन्तु इस महारसको चुआनेके लिये उन्होंने जानको किया है गुड़ और ध्यानको किया है महुआ । मन धाराको भट्टी बनाया है—

गुड़ करि ज्ञान ध्यान करि महुआ भाठी मन धारा ।

(परिशिष्ट पद ६२, एवं पद ७२)

इससे भी अधिक रूपक १५५ नम्बरके पदमें है—

एक धूँद मरि देह रामरस ज्यूँ मरि देह कलाली ।

काया कलाली लाहनि करिहूँ गुरु शबद गुड़ कीन्हाँ ।

काम क्रोध मोह मद मछर काटि काटि कस दीन्हाँ ॥

इत्यादि (पद १५६)

योगियोंका काम ही है, सारङ्गी बजाकर गानके सुरमें सबके चित्तको जागरित करना । यह वात भी कवीर रूपक-

से दिखाना चाहते हैं—वह योगी इस तनुयन्त्रको बजाता है । इसीलिये धर्मके दण्डमें, सत्यकी खूँटीमें, तत्त्वकी तॉत बॉघकर यह यन्त्र रखा गया है । मनके निश्चल आसनपर बैठकर रसनासे जपो उस रसको । इस प्रकार ससारका आवागमन छूट जाता है ।

जोगिया तनकौ जन्त्र बजाह, क्यूँ तेरा आवागमन मिटाइ ॥

तन करि तॉति धर्म करि डॉर्डी, सतकी सारि लगाइ ।

मन करि निहच्छ ऑसन निहच्छ, रसनाँ रस उपजाइ ॥

(पद २०८)

यहोंके पद २०४, २०५, २०९, २१० और २११ में नानाभावसे योगको अध्यात्मसाधनाके अर्थमें प्रयोग किया गया है ।

उन दिनों एक तरफ तो थी प्रवल मुसलमानी साधना और दूसरी ओर थी योगियोंकी योग-साधना । कवीरने दोनोंको ही स्वीकार किया है, पर अपने रास्तेसे। मुसलमान-धर्मपर उन्होंने कम आधात नहीं किया (देखिये—साच्चकौ अङ्ग ५—९ इत्यादि) योगियोंके ढोगपर भी उन्होंने कठोर रूपसे आधात किया है । ‘जोगी पड़े कि जोग कहै घर दूर है’ इत्यादि कवीरके ही तीव्र कगाधात है । मन-ही-मन शायद उन्होंने समझा था कि आधात करनेसे कोई लाभ नहीं, इसीलिये उन सारी व्रातोंको रूपकके द्वारा व्याख्या कर आत्मसात् कर लेना चाहा है ।

मुसलमानके लिये उनका कहना था कि मनको कर लो मक्का और देहीको करो किवला । इस काया-मसजिदमें ही तो दस दरवाजे हैं, वहाँ जाकर बॉग दिया करो—

मन करि मक्का किवला करि देही । बोलनहार परम गुरु एही ॥
कहु रे मुला बाँग निवाज । एकै मसीति दसै दरवाज ॥

(परि० पद ३५७)

उन दिनोंके साधारण लोक-प्रचलित योगमतवादी योगियोंके प्रति भी उनका प्रहार मामूली नहीं है । जोगी दण्ड, मुद्रा, कन्था प्रभृति लेकर भ्रमका भेख घरे धूमा करते हैं । अरे पागल ! आसन और पवन दूर कर दे और कपट छोड़कर नित्य हरिको भज । जिसे तू चाहता है वह स्वयं त्रिभुवनको भोग रहे हैं, फिर संसारमें तुग्हारी इस योग-साधनाका अर्थ क्या है ?

डंडा मुद्रा खिंया आधारी । भ्रमके माझ भैं मेन्वधारी ॥
आसन पवन दूरि करि बरं । दोषि कपट नित हरि भज बरं ॥

जिहि तू जाच्छहि सो त्रिमुवनमोगी । कहि कबीर कैसो जग जोगी ॥

फिर इसी योगीको समझाकर वह अपनालेते हैं—
‘पागल । मनकी मैल छोड़ दे । सिङ्गा, मुद्रा वगैरह दिखाकर
लोगोंको ठगनेसे क्या लाभ है ? विभूति लगानेसे ही क्या
होता है ?’

आसन पवन कियैं दिट् रहु रे । मनका मैल छाँडि दे वैरे ॥
क्या सिंगी मुद्रा चमकायें । क्या विभूति सब अंग लगायें ॥
(पद ३५५)

इसके बाद रूपक दिखाकर वह योगीके मतको
आत्मसात् ही कर लेना चाहते हैं । ‘वही तो योगी है,
जिसकी मुद्रा है मनमें, अपनी साधनामें वह रात-दिन जगा
रहता है । मनमें ही है उसका आसन और मनमें ही है
उसकी स्थिति । मनमें ही उसका जप-तप है, मनमें ही
वातचीत है । मनमें ही है उसका खप्पर, मनमें ही सिङ्गा,
वर्हीपर वह अनाहत नाद भी बजाता है । पञ्चको दण्ड
करके ही वह विभूति बनाता है । कबीर कहते हैं, वही तो
जीतेगा लङ्का’—

सो जोगी जाके मनमै मुद्रा । रात दिवस ना करइ निद्रा ॥
मनमें आसन मनमें रहनौं । मनका जप तप मनसूँ कहनाँ ॥
मनमें खप्परा मनमै सिंगी । अनहट बेन बजावै रगी ॥
पञ्च पर जारि भस्म करि भूका । कहै कबीर सो लहसै लका ॥

(पद २०६)

कबीरने उसीको सज्जा योगी बताया है जो लोक-
प्रचलित योगीपनके अतीत है । अर्थात् सारे सकीर्ण विधि-
विधानोंसे मुक्त साधक ही कबीरका चिर-आकांक्षित साधक
है । ऐसे साधकका न तो कोई दल होता है और न कोई
सम्प्रदाय । दल बोधते ही नाना मिथ्या आवर्जना अधिकार
जमा लेती हैं । इसीलिये उनका कहना है ‘वावा ! जिस
योगीका न मेला है और न तीर्थ, वही एक शब्दहीन
योगी है । उसके पास झोली नहीं, पत्र नहीं, विभूति नहीं,
बद्धा भी नहीं, वही अनाहत बेन बजाता है’—

वावा जोगी एक अकेला । जाके तीरथ बरत न मेला ॥

झोली पत्र विभूति न बटवा । अनहट बेन बजावै ॥

इत्यादि (पद २०७)

ऐसा ही योगी तो ‘मनका मानुष’ है । इसे बाहर
पाया कैसे जाय ? इस योगीका मर्म जो समझता है वही
राममें रमता है । त्रिमुवन उसे उपलब्ध होता है । प्रकट

कन्थामें छिपा हुआ है वह गुप्त आधारी । उसमें जो मूर्ति
है वही तो इस जीवनका प्रिय है । प्रभु निकट ही हैं,
लोग उन्हे दूर खोजा करते हैं । ज्ञानगुहामें भर लो सींगा ।
कबीर कहते हैं कि जो भक्त प्रतिक्षण अमृत-बल्डीका रस
पान करता है वही युग-युग जीता है ।

जो जोगियाकी जुगति बूझै । राम रमै ताको त्रिमुवन सूझै ॥
परगट कथा गुप्त अधारी । तामै मूरति जीवनि प्यारी ॥
है प्रभु नैरै खोजै दूरी । व्यानगुफामै सींगी पूरी ॥
अमरवेलिको छिन छिन पीवै । कहैं कबीर सो जुग जुग जीवै ॥
(पद २०५)

सच्चमुच ही जो योगी है उसकी साधना विश्वव्रह्माण्ड-
को लेकर है । वह एक मुढ़ी भीखके लिये घर छोड़कर
नहीं निकलता । कबीर कहते हैं कि वही योगी तो असल
योगी है जो नवखण्ड पृथिवीको भिक्षामें मॉग लेता है ।
ज्ञान ही उसका कन्था है । व्यानकी सुईसे ‘गवद’ के
तागेसे वह उसकी रचना करता है । पञ्चतत्त्वके सन्धानमें
वह निकल पड़ता है गुरुके रास्ते । कायाकी धुनी रमाकर
वह दृष्टि-अभिजला रखता है ‘दया है उसकी खड़ाऊँ—
सब योगोंका सार राम-नाम’ ही उसकी काया है, वही
उसका प्राण है । जिसने जीवनमें उनकी कृपा पायी है
वही सत्यकी धोषणा कर जाता है—

.....
नव सड़की प्रथमी भाँगै सो जोगी नगसारा ।
स्त्रिया व्यान ध्यान करि सूई सबद ताग मथि धालै ।
पञ्चतत्त्वकी करि मिरणानी गुरुके मारग चालै ।
दया फाहुरी काया करि धूई दृष्टिकी अग्नि जलावै ।

सभ जोग तम राम नाम है जिसका पिंड पराना ।
कहु कबीर जे किरपा धारै देह सच्चा निसाना ॥

(परि० पद १४६)

‘वही तो जोगी है जिसका सहज भाष है, अखण्ड
प्रेमकी भिक्षा ही जिसका उपनीच्य है । अनाहत शब्द ही
जिसका सिङ्गानाद है । जिसके न तो काम-क्रोध हैं और
न विषयवाद’ इत्यादि—

सो जोगी जाके सहज भाष । अकल प्रीतिकी भीख खाइ ॥
सबद अनाहत सिंगी नाद । काम क्रोध विषया न बाद ॥
इत्यादि (पद ३७७)

ऐसा आत्मानन्द योगी ही महारस पान करके अमृत-
रस सम्भोग करता है—

आत्मा अनन्दी जोगी । पैरै महारस अमृत मोगी ॥
इत्यादि (पद २०४)

योगकी यह परिपूर्ण इष्टि जब आती है तो फिर
सचारके इस मिट्ठीके घरमें मन नहीं रहना चाहता । उस
समय श्रीहरिके साथ युक्त होकर रहनेकी ही व्याकुलता
दिखायी देती है—

इव न रहूँ मार्टिके घरमें । इव मैं जाइ रहूँ मिलि हरिम् ॥
इत्यादि (पद २७३)

सारे योगका मूलगत अर्थ और उसकी अन्तिम परिणति
भगवान्के साथ प्रेम-मिलनमें है । जिस कवीरने सर्व धर्मों-
का समन्वय करना चाहा है, उनसे क्या हम किसी
साम्प्रदायिक साधनाकी आज्ञा कर सकते हैं ? कवीरकी
महादृष्टिमें सभी साधनाएँ एकत्र हुई हैं । वाघऔर वकरीको
एक घाट वही पानी पिला सकता है जिसमें सामर्थ्य है ।
कवीरकी साधनाका माहात्म्य तभी समझमें आता है जब
हम हिन्दू और मुसलमान साधनाको एकत्र सङ्गत देखते
हैं । उन्होंने योग और भक्तिको परस्परसे आसक्त किया
है । यह बात, किन्तु, ठीक, है कि कवीरके निकट ज्ञान, कर्म,
योग, भक्ति सभी साधनाएँ नदियोंके समान हैं । सब
साधनाओंका अवसान हुआ है भगवत्प्रेमके समुद्रमें ।



स्वामिनारायणसम्प्रदायमें योग

(लेखक—शार्णिकपञ्चाननपड्दर्शनाचार्य, मात्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य, पण्डित श्रीकृष्णवहभाचार्य स्वामिनारायण)



स्वामिनारायणजी सचारमें
योगरीतिसे ही धर्मोपदेश
देते थे, स्वयं योग करते थे
और शरणागतोंको सिखाते
थे । अष्टाङ्गयोगकी प्रणाली
प्रधानरूपसे आपको स्वीकृत थी ।
उन्होंने अपने अनेक शिष्यों-
को योगी बनाया और उनका
कल्याण किया । श्रीवैष्णवाचार्य
नारद, व्यास, रामानुज आदिकी रीतिसे परम भागवतधर्मका
प्रचार कर गये । उनके उपदेशोंमें स्थान-स्थानपर अष्टाङ्ग-
योगके साथ-साथ भक्तिको प्रधान स्थान मिला है ।
श्रीस्वामिनारायणसम्प्रदायके ‘शिक्षापत्री’ नामक ग्रन्थमें
अहिंसा, सत्य, अस्तेय, व्रद्धचर्य, अपरिग्रह इन पौँच
यमोंको तथा जौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-
प्रणिधान इन पौँच नियमोंको पालनेका विधान अति-
नियोगपूर्वक किया गया है । उनके समयसे वरावर यम-
नियमोंकी प्रणाली चली आती है, और वर्तमान समयमें
भी उनके आश्रित लोग उनकी आज्ञाके उल्लङ्घनको
अद्योगतिप्रद समझकर उनके आज्ञानुसार वरावर यम-
नियमादिपर ध्यान रखकर सब क्रियाएँ आचरणमें लाते हैं ।

यम तथा नियमकी आज्ञाएँ

अहिंसा—

कस्यापि प्राणिनो हिंसा नैव कार्यात्र मामकैः ।
सूक्ष्मयूकामत्कुणदेरपि बुद्धया कदाचन ॥११॥
देवतापितृयागार्थमध्यजादेश्च हिंसनम् ।
न कर्तव्यमहिसैव धर्मं प्रोक्तोऽस्ति यन्महान् ॥१२॥

‘हमारे आश्रित जन किसी भी जीव प्राणीकी हिंसा
कभी न करें और जान-बूझकर छोटे जूँ, खटमल, मच्छर
आदिको न मारें । देवता, पितृ, याग इनके लिये वकरा
आदिकी हिंसा कभी न करें, क्योंकि अहिंसा ही परम
धर्म है ।’

सत्य—

मिथ्यापवादः कस्मिंश्चिदपि स्वार्थस्य सिद्धये ।
नारोप्यो नापशब्दात्म भापणीयाः कदाचन ॥२०॥
‘अपने स्वार्थकी सिद्धिके लिये कभी मिथ्या न बोलना,
मिथ्या धारोप न करना और अपशब्द भी न बोलना ।’

अस्तेय—

त्तेनकर्म न कर्तव्यं धर्मार्थमपि केनचित् ।
स्वस्वामिकाएष्प्रादि न ग्राह्यं तदनाज्ञया ॥१७॥
‘धर्मकार्यके लिये भी हमारा कोई भी आश्रित चोरीका
कार्य न करे और मालिकका काष्ठ, पुष्प आदि जो हों

उनको उसके मालिककी आज्ञा विना न ले' इत्यादि ।

ब्रह्मचारी—

नैष्ठिकवत्वन्तो ये वर्णिनो मदुपाश्रयाः ।

तैः स्पृश्या न स्थियो भाष्या न न वीक्ष्याश्च ता धिया ॥७५॥

तासां वातां न कर्तव्या न श्रव्याश्च कठाचन ।

तत्पादचारस्थानेषु न च स्नानादिकाः क्रियाः ॥७६॥

न स्त्रीप्रतिकृतिः कार्या न स्पृश्यं योगितोऽशुकम् ।

न वीक्ष्यं मैथुनपरं प्राणिमात्रं च तैर्धिया ॥७७॥

‘नैष्ठिक व्रतके ब्रह्मचारी लोग स्त्रियोंको स्पर्श न करें, उनसे भाषण न करें, उनको न देखें, उनकी वातें न करें, न सुनें, उनके आने-जानेके स्थानोंपर स्नानादि न करें, स्त्रीका चित्र न बनावें, स्त्रीके वस्त्रोंको स्पर्श न करें, मैथुनासक्त प्राणीको न देखें’ इत्यादि ।

अपरिग्रह—

न द्रव्यसंग्रहः कार्यः कारणीयो न केनचिद् ॥८१॥

‘द्रव्यादिका संग्रह कभी न करें, न करावें ।’

शौच—

कायिक, वाचिक, मानसिक वहुत प्रकारके शौच शिक्षापत्री तथा अन्य धर्मग्रन्थोंमें निर्दिष्ट किये हैं ।

सन्तोष—

भाव्यं शमदमक्षान्तिसन्तोषादिगुणान्वितैः ॥८२॥

‘सदा शम, दम, क्षमा, सन्तोष आदि गुणोंसे युक्त हो ।’
तप—

उपवासदिने त्यज्या दिवा निद्रा प्रयत्नतः ॥८०॥

‘उपवासके दिन दिनमें निद्रा न लेना ।’ (रात्रिको जागरण करना तथा तसकुच्छुचान्द्रायणादि कायिक, वाचिकादि भेदोंसे वहुत प्रकार शिक्षापत्री टीका तथा भाष्यमें वर्णन किये गये हैं ।)

स्वाध्याय—

संस्कृतप्राकृतग्रन्थाभ्यासशापि यथामति ॥६५॥

अभ्यासो वेदशास्त्राणां कार्यश्च गुरुसेवनम् ॥१८॥

‘यथामति संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंका तथा वेदशास्त्रोंका अभ्यास करना, गुरुकी सेवा करना ।’
ईश्वरप्रणिधान—

भक्तैरैतैस्तु कृष्णायानपितं वार्यपि क्वचिद् ।

न पेय नैव भक्ष्यं च पश्चकन्तफलाद्यपि ॥६०॥

‘भगवद्ग्रन्थकोंको चाहिये कि भगवान्को समर्पण किये विना जल भी कभी न पीये, और पत्र, फल, फूल भी अर्पण किये विना अपने उपयोगमें न लें ।’

इन श्लोकोंकी टीकामें सम्पूर्ण विधियाँ बतायी हैं । ये सब विशेषरूपसे सम्प्रदायमें प्रचलित हैं । यम-नियमोंके योगदर्गनमें जो फल हैं वे सब भगवान् श्रीस्वामिनारायणने अनेक ख्यलोंमें चमत्काररूपमें बताये हैं । उनका वर्णन साम्प्रदायिक ग्रन्थोंमें है ।

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारको भगवान् स्वामिनारायण स्वयं करते थे और शिष्योंको सिखाते थे । उस समयसे गुरुपरम्परासे आसनादि अभीतक अनेक व्यक्तियोंमें प्रचलित हैं । विशेषरूपसे ध्यान, धारणा और समाधिपर ही निर्भर होकर स्वामिनारायणसम्प्रदायकी जड़ सासारमें फैल गयी । भगवान् श्रीस्वामिनारायण स्वयं जन्मसिद्ध योगनिधि थे । उनको योगरीति सीखनी नहीं पड़ी । आप छप्पिया नगरमें ब्राह्मणकुलमें धर्मदेव तथा भक्तिमातासे सबत् १८३७ के चैत्रशुक्र नवमीके दिन जन्मग्रहण करके जन्मसे ही अलौकिक चमत्कार दिखाने लगे ।

श्रीस्वामिनारायण भगवान् जन्मसिद्ध योगी थे, इसलिये गुरुपदेशके विना भी वह यम-नियम व्रावर पालते थे, यम-नियमोंके फलोंके चमत्कार भी उनकी जीवनीमें प्रसिद्ध हैं । चौरासी (८४) से ऊपर आसन करते थे, उनके प्रदर्शनकी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं । धौति, ब्रह्मि, नेति, त्राटक, नौलि, कपालभाति इन क्रियाओंको करते थे तथा सन्तोंको सिखाते थे । रेचक, पूरक, कुम्भकादि प्राणायाम करते थे, और कुम्भकप्राणायामको दीर्घकालतक करके आकाशमार्गमें उठ जाते तथा क्षणमात्रमें देशान्तरमें चले जाते थे । कुम्भकप्राणायामके भेद-सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्करी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा, प्लाविनी आदि तथा महासुद्रा, महावन्ध, महावेघ, खेचरी, उड्डियान, मूलवन्ध, जालन्धरवन्ध आदि करते थे । ये सब क्रियाएँ श्रीस्वामिनारायण भगवान्ने जन्मसिद्ध महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको विशेषरूपसे बतायी थीं । धारणा, ध्यान और समाधिमें सिद्ध थे और लक्षावधि मनुष्योंको ध्यानमें बैठाकर नाड़ी-प्राण खींचकर समाधि कराते थे । मूलधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञाचक्र, सच्चिदानन्दसहस्रारको बेधते थे ।

वे अपने यौगिक ऐश्वर्यप्रतापसे असंख्य प्राणियोंका कल्याण करते थे । अपनी जीवनलीलामें अगणित वड़े-वड़े

आश्रव्यजनक ऐश्वर्यचमत्कार उन्होंने दिखाये हैं। वे सब 'श्रीहरिलीलाकल्पतरु' 'सत्संगिभूषण' और 'सत्संगिजीवन' आदि साम्राद्यिक ग्रन्थोंमें वर्णित हैं। सत्संगिजीवनके पञ्चम प्रकरणमें अध्याय ५६ से ६५ तक श्रीस्वामिनारायण भगवदुपदिष्ट अद्यांगयोग ही निरूपित है। उन्होंने उत्तराख्यामें कठिन साधनोंकी ओर ध्यान कम करके धारणा, ध्यान और समाधि इन्हीं तीनोंका प्रचार अधिक किया और इनसे ही कोश्यवधि मनुष्योंको भगवद्गतिमें जोड़ा। वहुत-से सरल उपाय भी 'वचनामृतों'में वर्ताये हैं—

समामें श्रीस्वामिनारायण भगवान्नने ध्यानकी एक ऐसी युक्ति व्रतायी कि जिस ध्यानसे वडे-वडे भी सिद्धदशाको पा गये। उस ध्यानके समान अन्य कोई ध्यान नहीं है। जैसे कोई चमत्कारी मन्त्र अथवा ओषधिमें स्वाभाविक चमत्कार रहता है, वैसे ही इस ध्यानमें स्वाभाविक चमत्कार है जिससे साधक सिद्धदशाको पा जाते हैं। साधक अपने दक्षिण नेत्रमें सूर्यका ध्यान करे और वाम नेत्रमें चन्द्रका ध्यान करे, इस प्रकार ध्यान करते-करते सूर्य और चन्द्र जैसे आकाशमें हैं वैसे ही जब नेत्रमें भी दीखने लगें, तब दक्षिण नेत्र तपने लगेगा और वाम नेत्र शीतल होने लगेगा। उसके बाद सूर्यकी धारणा याम नेत्रमें करना और चन्द्रकी धारणा दक्षिण नेत्रमें करना। इस प्रकार धारणा करके सूर्य और चन्द्रको अन्तर्दृष्टि करके हृदयाकाशमें देखते रहना और द्रष्टा जो जीव है, उसके स्वरूपको भी देखना, और जीवके स्वरूपमें परमात्माका ध्यान करना। उसके बाद ध्याताका जो वासनायुक्त लिङ्गदेह है वह चक्रके समान आकाशमें धूमता हुआ भासने लगेगा। पश्चात् ध्यान करते-करते उसको भगवान्नके विश्वरूपका दर्शन होता है, उसमें चौदह लोकोंकी रचना दिखायी पड़ती है तथा समग्र ग्रन्थाण्डादि पदार्थ दिखायी पड़ते हैं। पश्चात् अणिमादि सिद्धियों भी उसको प्राप्त होती हैं, और सूर्यचन्द्रकी किरणें जहाँतक पहुँचती हैं वहाँतक उस ध्याताकी दृष्टि पहुँचती है। सिद्धियों मिलनेपर भी भगवद्गत्क होनेके कारणसे साधक उन सिद्धियोंको ग्रहण नहीं करता, केवल परमेश्वरका ध्यान ही करता है। तब वह ध्याता नारद, सनकादि, शुकदेवजीके समान चरम सिद्धदशाको पाता है। भगवद्गत्को वह ध्यान सिद्ध होता है और तात्कालिक सिद्धदशा ग्राप्त करनेका यह उत्तम उपाय है।

(भगवान्नवन्ननन्न १)

आत्मनिष्ठा तथा भगवान्का माहात्म्य-ज्ञान इन दोनोंमें जितनी न्यूनता रहे उतनी ही पूर्णकामभावमें भी न्यूनता रहती है। एक हरिभक्तको समाधि हुई, उसमें उसको अतिशय तेज दिखायी दिया, तेजको देख वह चिछाने लगा और कहने लगा कि मैं जलता हूँ। तब उस भक्तको वह समझाया गया कि तुम्हारा स्वरूप तो अच्छेव अभेद आत्मा है, देह नहीं है और फिर उसको कहा कि इस गणपतिके स्थानमें चार दलोंका कमल है, बट्टा जाकर अपने स्वरूपको देखो, समाधिवाला जब गणपतिके स्थानमें जाता है तब वहाँ नाद सुननेमें आता है तथा प्रकाश दीखता है, और उससे परब्रह्मके स्थानमें जाता है तब नाद भी खबर सुनायी देता है और तेज भी अतिशय दीखता है। उसके बाद जब विष्णुके स्थानमें जाता है तब अतिशय नाद सुनता है और तेज भी अधिक दीखता है, इस प्रकार जैसे-जैसे श्रेष्ठ-श्रेष्ठ स्थानमें जाता है वैसे-वैसे नाद ज्यादा सुनता है और ज्यादा-ज्यादा प्रकाश भी दीखता है। कभी-कभी भगवान् कडकडाहटके शब्द होते हैं। उस समय चाहे कितना ही धीरजवान् हो तो भी धैर्य छूटने लगता है इसलिये देहको आत्मासे भिन्न समझना चाहिये। इस प्रकारकी समाधिके दो भेद हैं—एक तो प्राणायाम करनेसे प्राणका निरोध होता है उसके साथ चित्तका भी निरोध होता है और दूसरा उपाय यह है कि चित्तके निरोधसे प्राणका निरोध होता है—‘जब सब स्थानोंसे वृत्ति हटाकर एक भगवान्में जोड़ी जाय, और सब स्थानोंसे वासना मिटाकर एक भगवान्में वासना दृढ़ हो जाय, तब भगवत्स्वरूपसे वह वृत्ति किसीके हटाये भी नहीं हटती। चित्त भगवान्का ही चिन्तन करे, मन भगवान्का ही सङ्कल्प करे, तुम्हि भगवान्के स्वरूपका ही निश्चय करे, ‘अहङ्कार—मैं आत्मा हूँ, भगवान्का भक्त हूँ’ इत्यादि अभिमान करे। प्राणसे जो चित्तका निरोध होता है वह अद्याङ्गयोगसे होता है। अद्याङ्गयोग साधन है, उसका फल निर्विकल्प समाधि है। केवल भगवान्के स्वरूपमें प्रणिधानसे चित्तवृत्तिका निरोध होनेपर अद्याङ्गयोग विना साधनासे भी सिद्ध हो जाता है’ इत्यादि।

(गड्पु-मन्यप्रकाश, वचनानुत—२६)

सांख्ययोगके और भी वहुत-से प्रकार वर्ताये हैं। इस प्रणालीसे श्रीस्वामिनारायण भगवान्नने अनेक भक्तोंको योगभार्गका उपदेश देकर उनका फलगण किया।

श्रीसामिनारायणकी परम करुणासे उनके समयमें अनेक भक्तजन दिव्य भावको प्राप्त करके बड़े-बड़े चमत्कार बताते थे, वे क्षणमात्रमें दूर देशान्तरमें चले जाते थे, अदृश्य हो जाते थे इत्यादि। ऐसे चमत्कारवाले बहुत-से योगिजन स्वामिनारायण भगवान्के साथ विचरते थे।

श्रीसामिनारायणसम्प्रदायमें सद्गुरु श्रीगोपालानन्द-स्वामी जन्मसिद्ध योगी थे और भगवान् श्रीसामिनारायणकी आज्ञानुसार अष्टाङ्गयोग सिद्ध करके अन्योंको सिखाते थे। वह 'ईडर' देशमें 'भीलोडा' जिलेमें 'पाडाटोडला' गाँवमें 'मोतिराम' नामके 'मात्यनिदनी' शाखाके शुक्ल यजुर्वेदी औदीच्यसहस्र ब्राह्मण थे, उनकी पक्षी 'जीवीबा' देवी महासती थीं, उनके घर सवत् १८३७ में माघ शुक्ल अष्टमी सोमवारके दिन पुत्रका जन्म हुआ, उनका नाम खुशाल भट्ट रखा गया। आठवें वर्षमें यज्ञोपवीत लेकर खुशाल भट्टने 'शेहेडार्ह' नगरमें वेदवेदांगादि यावच्छास्रोंका अध्ययन किया। इनका जीवन भी यौगिक चमत्कारोंसे पूर्ण था।

श्रीसामिनारायण भगवान्की शरणमें बहुत कालपर्यन्त रहकर खुशाल भट्टने भागवती दीक्षा ली। एक समय काठियावाडमें एक स्थलपर भूतोंका उपद्रव बहुत था। उसको दूर करनेके लिये महायोगी श्रीगोपालानन्द स्वामीको 'सारङ्गपुर' नगरके 'बाद्याखान्चर' दरबारने बुलाया। स्वामीने जाकर जल छिड़ककर भूतोंको मोक्ष दिया। उसके बाद विनती करनेसे 'सारङ्गपुर' में सवत् १९०६ में मनिदर बनवाकर उसमें हनूमान्जीकी प्रतिष्ठा की, प्रतिष्ठाकी आरतीके समयमें योगिराज गोपालानन्द स्वामीने हाथमें काठकी छड़ी लेकर उसको हनूमान्जीके चरणोंमें छुआ दिया, उसी समय हनूमान्जीकी दिव्य रमणीय पाषाणमय मूर्ति थर-थर कॉपने लगी। उस मूर्तिमें साक्षात् हनूमान्जीने दिव्यरूपमें प्रकट होकर सबको दर्शन देकर कृतार्थ किया, उस मूर्तिका बड़ा प्रताप है। वर्तमान समयमें भी गुजरात, काठियावाड, कच्छ, दक्षिण आदि देशोंमें सहस्रों मनुष्य उस मूर्तिका प्रताप जानते हैं। अस्तु।

भगवद्भक्तिके साथ साथ ध्यान, धारणा, समाधि करनेवाले और भी अनेकों सिद्धयोगी सन्तजन श्रीसामिनारायण भगवान्की सेवामें रहते थे। जूनागढ़में श्रीगुणातीतानन्द स्वामी थे, वे क्षणमात्रमें अदृश्य होकर देशान्तरमें प्रकट होते थे। वैसे ही व्यापकानन्द स्वामी परकाय-प्रवेश करते थे। सच्चिदानन्द स्वामी समाधि लगाते थे। और सन्तदासजी कुम्भक करके आकाशमार्गमें चलते थे।

महानुभावानन्द स्वामी, विज्ञानदासजी तथा वासुदेवानन्द स्वामी, स्वरूपानन्द स्वामी आदि दिव्यदृष्टिवाले, भगवान्की मूर्तिको धारनेवाले तथा दिव्य ऐश्वर्यवाले योगी थे।

भगवान् श्रीसामिनारायणका उपदेश यही था कि कर्मयोग, जानयोग, सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग आदि बहुत प्रकारके योगोंमेंसे किसी भी योगको सिद्ध करके भगवत्-प्राप्ति करनी चाहिये। यदि भगवत्प्राप्ति नहीं हुई तो सब प्रथक्ष निष्फल हैं। इस उद्देश्यके अनुसार श्रीसामिनारायण भगवान्के समयसे चलाया हुआ भक्तियोग ही सब योगोंमें प्रधान माना गया है, और सब योगोंके फल एक भक्तियोगके फलसे चरितार्थ हो जाते हैं। भक्तियोगवालेको अन्य योगोंकी आवश्यकता नहीं रहती। वर्तमान समयमें समग्र स्वाश्रित जनतामें भक्तियोगको प्रधानरूपसे स्थान मिलता है। भगवान्‌मे प्रेम-पराकाष्ठाको भक्ति कहते हैं। मुक्षुजन विषयोंसे विरक्त होकर अपने रक्षणके लिये वात्सल्यादि गुणसागर पुरुषोन्तम नारायणके समीप जाकर—'हे भगवन्! तुम्हारी प्राप्तिके साधनरूप तुम ही हो'—इस प्रकार महाविश्वासपूर्वक याचना करे, यही प्रपत्ति और शरणागति कहाती है। इस प्रपत्तिमें भगवान्की प्रसन्नतासे प्रारब्धका भी नाश हो जाता है—

साध्यभक्तिस्तु सा हन्त्री प्रारब्धस्यापि भूयसी।

(न्यायसिद्धांशन)

भक्तजन भगवान्के शरणमें रहकर प्रेमभक्तिमें यहाँतक लीन हो जाते हैं कि उस समय न तो उनको शरीरका भान रहता है, न इन्द्रियोंका या अन्तःकरणका विषयाभिज्ञान रहता है। सब वृत्तियाँ भगवान्‌में लग जाती हैं, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहने लगते हैं। प्रेमसे अहो! अहो! पुकारता हुआ भक्त सदा पुलकित रहता है, उसके शरीरको कोई मारे, काटे, जला डाले, धूल लपेटे, कीचड़ लगावे, चाहे कुछ भी करे, उस प्रेमसमय भक्तको उससे कुछ नहीं होता। उसकी वृत्तियाँ दिव्य मूर्तिमें लीन हो जाती हैं, जिससे तनु भी दिव्यभावको पा जाती है। पृथिवी, जल आदि उसे आवरण नहीं करते। ऐसी स्थितिके बाद स्वेच्छानुसार तत्काल या दीर्घकाल होनेपर ऐसे भक्त शरीर त्यागकर ब्रह्मलोकमें भगवान्की शरणमें जाकर परम मुक्तिको पाते हैं। ऐसी ब्रह्मदशाके लिये श्रीसामिनारायण भगवान्‌ने तथा उनके ब्रह्मनिष्ठ भक्तजनोंने बहुत-से ग्रन्थोंमें उपदेशद्वारा सरल मार्ग बताये हैं—

ज्यर्थः कालो न नेतृद्यो भक्ति भगवतो विना।

(शिक्षापत्री)

महायोग

(लेखक—श्रीरमणमहर्षिके एक भक्त)

आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतृष्ठो मन्त्रष्ठो निदिध्या-
सितष्ठो भैत्रेयास्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या
विज्ञानेनेद् सर्वं विद्वितम् । (बृहदारण्यक० २।४।५)

‘हे मैत्रेयी ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन और
निदिध्यास करनेयोग्य है, जिसे देखने, सुनने, समझने
और अनुभव करनेसे सब कुछ जाना जाता है ।’

श्रुति है—

अयमात्मा ब्रह्म ।

‘वह आत्मा ब्रह्म है ।’

तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मको ‘तटस्य लक्षण’ से इस
प्रकार वर्तलाते हैं—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि
जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति, तद्विज्ञासस्व,
तद्व्योत्ति ।

अर्यात् सृष्टि, स्थिति और लय तीनोंका कारण ब्रह्म है ।
स्वरूपलक्षणसे इस प्रकार वर्तलाते हैं—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।

‘ब्रह्म सत्य है, ज्ञानस्वरूप है और अनन्त है ।’ और—
सत्ताभावैकप्रकाशकं प्रकाशम्, हृत्पुण्डरीकम्……
न तेजो न तम् ।

‘एकमात्र सत्ता है, सबको प्रकाशित करनेवाला प्रकाश
है, दृष्टपद्म है, न शुक्ल है न कृष्ण है ।’

फिर भी ब्रह्मको मन-वाणीके परे ही कहा है—
यतो वाचो निवर्तन्ते अग्राप्य मनसा सह ।
‘जहाँसे मनसहित याणियाँ खाली हाथ लौट आती
हैं ।’ वास्तविक ज्ञान अनुभवसे ही प्राप्त होता है । उसी
अनुभवके लिये श्रवण, मनन, निदिध्यासन करनेको कहा
है । अथवा—

तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व, तपो ब्रह्मोत्ति ।
तपसे उस ब्रह्मको अनुभव करो, तप ही ब्रह्म है ।
मनसश्चेन्द्रियाणा च हैकाङ्गं तपः ।

‘मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता तप है ।’ यही अभि-
प्राय पतञ्जलिके ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ का है । तप है—
वायान्त करणसमाधानम् ।

‘इन्द्रियों और अन्तःकरणका समाधान ।’ यही वात
इसमें भी है—‘तमक्तुः पद्यति’ पूर्ण समाहित स्थितिमें
ब्रह्मको देखता है । दोनों वार्ते एक ही हैं । पर तपमें एक
वात और है—तप शोषण है, जो वात ‘नेति-नेति’
में है । तप, योग और निदिध्यासन तीनोंका इस प्रकार
सामज्ज्ञस्य हुआ है और तीनों एक हुए हैं ।

यदि यह सत्य है कि ‘मैं ब्रह्म हूँ (अह ब्रह्मासि)’,
यदि ‘यह जो कुछ है आत्मा है और आत्मा ही सत्य है
और वही आत्मा है और वही तुम हो (एतदात्म्यमिद् सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि),’ यदि आत्मा नित्य,
शुद्ध, त्रुद्ध और मुक्त है, ‘नित्यं सिद्धं’ है और ‘एक’ है
तो यह क्या वात है कि हम दुखी होते हैं और परमानन्द
और अमृतत्व, आद्यकैवल्यसे वियुक्त हो जाते हैं ? यह
वियोग आखिर किससे किसका हुआ है ? यही अनुसन्धान-
का प्रस्थान-विन्दु है और महायोग इसीका उत्तर देता है ।
आत्मा तो दो नहीं हो सकते, आत्मा अकेला है और
एक ही है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि आत्मैवास्मूद्विजानतः ।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषद् ७)

‘जिसमें सब भूत आत्मा ही हो जाते हैं, वहाँ उस
एकत्वके देखनेवाले ज्ञानीके लिये मोह और शोक क्या है ?’

आत्मा विभु होनेसे सर्वत्र व्याप्त है और सब कुछ वही
है । अभी जो पृथग्विध नाना भाव देख पड़ते हैं यह विपरीत
ज्ञानसे देख पड़ते हैं । यथार्थ ज्ञान होनेसे एक ही अव्यय-
भाव देख पड़ेगा ।

पराच्छि खानि द्यतृणस्यम्भू-

स्तम्भात्पराण् पद्यति नान्सरात्मन् ।

कश्चिद्दोरं प्रत्यगात्मानर्मक्ष-

दाष्टत्तचम्भुरमृतत्वमिष्ठन् ॥

(कठ० २।१।१)

स्वयम्भू (परमात्मा) ने वहिर्मुख इन्द्रियोंको निर्माण
किया । इस अपने अन्तरात्माको कोई नहीं देख पाता ।
पर कोई धीर, प्रशुप अमृतत्वका इच्छुक शोक अनुरूपि

साधकर प्रत्यगात्माको देख लेता है अर्थात् अन्तर्मुख होनेसे ही अन्तर्यामीका बोध होता है।

निदिध्यासनका जो वास्तविक अभिप्राय और कार्य है वह महायोगमें उत्तम रीतिसे दर्शित हुआ है। महायोगका जो साध्य है वही उसका साधन है। साधकको केवल इतना ही करना पड़ता है कि वह अपने विचारोंके प्रवाह-को रोककर इस मूल विचारपर आ जाय कि 'मैं कौन हूँ (कोऽहम्) ?' यह मूल विचार उसे हृच्छकमें ले जाकर छोड़ देगा, फिर उसे वहाँ आसन जमाकर बैठ जाना है, वहाँ उसकी निजगृहस्थिति और सनातन आत्मसत्ता है।

परन्तु यदि इस मायापटलको कुछ और ही समझा जाय और इसमें अनेक प्रकार और मत्तर देखे जायें तो निदिध्यासन भी तत्त्वकार और मत्तरके अनुसार ही जायगा। महायोगका रास्ता तो सीधा और साफ है। पर अधिकारभेदके अनुसार जो अन्य साधनाएँ हैं वे कठिन और कष्टसाध्य हैं। निदिध्यासनके अनेक प्रकार प्रचलित हैं जिनमेंसे निदिध्यासनका एक विशिष्ट पञ्चविष्ट प्रकार यह है—

(१) महायोग—अर्थात् उस अन्तर्यामी सदात्मा—प्रत्यगात्मामें स्थित होना, जो आदिमे—सुष्ठिके मूलमें, अन्तमें—सहारके मूलमें और मध्यमें जान और अज्ञानके मूलमें रहता है।

(२) मन्त्रयोग—अर्थात् स्वरोंके मूलको आत्मामें ढूँढ़ना।

(३) स्पर्शयोग—कुण्डलिनीको जगाकर सुपुम्नाद्वारा सहस्रारमें लेना।

(४) भावयोग—भावोंका ध्यान करना, जैसे—

मूँ पादौ यस्य नाभिविंयदसुरनिलश्रन्दसूर्यौ च
नेत्रैः० इत्यादि ।

(५) अभावयोग—परात्पर ब्रह्मका ध्यान।

महायोग यों समझनेमें बड़ा सरल मालूम होता है, पर समझमें आकर भी यह जल्दी समझमें नहीं आता और इसका आचरण करना तो कठिन ही है। हाँ, यदि साधकके पीछे भगवद्याका बल हो तो कुछ भी कठिन नहीं है। ऐसे साधकको उत्तम शुरु मिल जाते हैं और सब काम बन जाता है।

परीक्ष्य लोकान्कर्मचित्तान्द्वाय्यणो

निर्वैश्वर्यमायाज्ञास्त्यकृतः कृतेन ।

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छे-
त्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥
तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्य-
क्प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं
प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥
(मुण्टक० १ । २ । १०-१३)

'कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंको अच्छी तरहसे देखने-पर ब्राह्मणको यह वैराग्य हो आया कि कर्मसे अकृतरूप ब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिये उस ब्रह्मको जाननेके लिये वह समित्पाणि होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरुके पास गया। उस विद्वान् (गुरु) ने उस पास बैठे हुए सम्यक् प्रशान्तचित्त और समयुक्त (ब्राह्मण) से तत्त्वतः वह ब्रह्मविद्या कही जिससे सत्य अक्षर पुरुष जाना जाता है।' इसी रीतिसे प्राप्त जान अमोघ होता है, अन्य प्रकारसे उतना नहीं।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो वहुभा चिन्त्यमानः ।
अनन्यप्रोक्ते गतिरस्त्र नास्ति
अर्णीयान् द्यतकर्यमणुप्रमाणात् ॥
(कठ० १ । २ । ८)

'कोई अनधिकारी पुरुष इसको कहे तो उससे यह सुविज्ञेय (अच्छी तरह जाननेयोग्य) नहीं है। कारण, बहुत प्रकारसे इसका चिन्तन होता है। विना किसी दूसरेके कहे भी इसमें गति नहीं है, क्योंकि यह अणुप्रमाणसे भी सूक्ष्म और इसलिये अतकर्य है।'

नैपा तकेण मत्तिरापनेया
प्रोक्तान्यैनैव सुज्ञानाय ग्रेष ॥
(१ । २ । ९)

'यह (आत्म-) मति तर्कसे नहीं मिलती। हे ग्रेष ! दूसरेके द्वारा कही जानेपर ही यह अच्छी तरह जानी जाती है।'

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन ॥
(१ । २ । २३)

'यह आत्मा व्याख्यानोंसे, मेधासे या बहुश्रुत होनेसे ही नहीं मिलता।' भगवद्या ही इसके मिलनेमें मुख्य

कारण है। 'धातुःप्रसादात्' भगवान्‌के प्रसादसे ही यह ज्ञान प्राप्त होता है।

यमेवैप वृणुते तेन लभ्य-

स्तस्यैप आत्मा विष्टुपुते तनूऽस्वाम् ॥

'यह आत्मा ही जिसको बरण करता है उसीको यह प्राप्त होता है। उसका यह आत्मा अपनी (आत्म-) तनु उसके सामने प्रकट करता है।'

ऐसी भगवद्या साधु-सन्तों और ऋषि-महर्षियोंसे ही प्राप्त होती है और तब यह ज्ञान साधकके अन्तःकरणमें प्रविष्ट होकर ठहरता है।

यस्य देवे परा भक्तिर्था देवे तथा गुरौ ।

तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(चत्वारिंशत्तर०)

'भगवान्‌में जिसकी पराभक्ति है, जैसी भगवान्‌में वैसी ही गुरुमें है उस महात्मापर ये कथित अर्थ प्रकट होते हैं।'

सच्चे श्रद्धालु जिज्ञासुको गुरु वाक्यद्वारा उपदेश करते

हैं और अपनी मौन और प्रसन्न मुद्रासे प्रसाद प्रदान करते हैं। मौनकी वाणी इतनी सच्ची होती है कि वह अनसुनी नहीं हो सकती और उससे वरसनेवाली करुणाकी शोभा तो अनिर्वचनीय ही है। इस सम्पूर्ण उपदेशका सार एक श्लोकमें इस प्रकार है—

हृदयकुहरसध्ये केवलं ब्रह्ममात्रं

श्यहमहमिति साक्षादात्मरूपेण भाति ।

हृदि विश मनसा स्वं चिन्वता मज्जता वा

पवनचलनरोधादात्मनिष्ठो भव त्वम् ॥

(श्रीरमणगीता)

'हृदयकी गुफाके भीतर केवलमात्र ब्रह्म ही है जो 'अहम् अहम्' (मैं, मैं) इस साक्षात् आत्मरूपसे प्रकाशित होता है। इस हृदयमें मनसे प्रवेश करो, अपने आपको हृद्दो या गहरेमें गोता लगाओ या प्राणनिरोध करके आत्मामें स्थित हो जाओ।'

ॐ तत्सत्

श्रीअरविन्दका योग

जीवनरूप कलाका एक योग

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी)

(१)

अरविन्दने जब कहा कि 'हमारा योग हमारे लिये नहीं, प्रत्युत मनुष्य-जातिके लिये है' तब वहुतोंके ब्वराये हुए प्राण स्वस्य हुए, क्योंकि उन्हे अब यह आशा हुई कि श्रीअरविन्द-जैसे महान् पुरुष संसारके लेखे सर्वथा नहीं से नहीं हो गये हैं, कुछ तो बचे हैं, नहीं तो (उनकी समझसे) डर तो यह था कि हिन्दुस्यानमें जैसे अन्य अनगिनती सन्यासी व्रावरसे ही होते आये हैं वैसे ही यह भी एक और हुए जिनसे न देशका कोई लाभ, न मनुष्यजातिका कोई उपकार ।—देश और मनुष्य-जातिको जाने दीजिये, उनका अपना ही कोई उपकार होता हो सो भी नहीं देखनेमें आता ! लोगोंने तो यह समझा था कि श्रीअरविन्दका योग एक आधुनिक चीज़ है और उसका लक्ष्य है मनुष्यजातिकी सेवा । उनकी

आत्मस्थिति और आत्मसाधनाका मार तत्त्व चाहे मनुष्य-जातिकी सेवा न हो, पर उसका फल, कम-से-कम, मनुष्य-जातिकी सेवा तो है ही । इन लोगोंके विचारसे श्रीअरविन्द-का योग कोई ऐसा कौशल था जिससे कुछ ऐसी अदृष्ट शक्तियोंका पता लगे और उनसे काम लिया जाय जो कि मनुष्य-जीवनको अच्छा करने और उसका दुःख दूर करने में केवल वौद्धिक और वैज्ञानिक पद्धतियोंसे अधिक काम कर जायें ।

श्रीअरविन्दने यह देखा कि हमने जो कुछ कहा उसका मतलब तो ये लोग कुछ और ही लगा रहे हैं और असल चीज़को ही भुला रहे हैं । इसलिये उन्होंने अपने शन्ट बदल दिये और यह कहा कि 'हमारा योग मनुष्यजातिके लिये नहीं वृत्तिक परमात्माके लिये है ।' पर यह मालूम होता है कि श्रीअरविन्दकी यह बात लोगोंको अच्छी नहीं लगी, उन्होंने इसे पैतरा बदलना समझा और उदास हो गये, क्योंकि अब तो यह आशा विलुप्त ही जाती रही



कि श्रीअरविन्द देश या ससारका काम करनेके लिये कभी लौटेंगे । अब तो यह समझा जाने लगा कि श्रीअरविन्द सांसारिक पदार्थोंकी मायासे बिल्कुल अलग 'वेदान्त' में छूट गये हैं और ससारके लिये वैसे शुष्क और नीरस हो गये हैं जैसा कि अक्षर ब्रह्म ।

(२)

श्रीअरविन्दकी साधनाके लक्ष्यका ठीक-ठीक अनुमान करना हो तो यह अच्छा होगा कि हम उनके दिये हुए दोनों वचनोंको एक करके यह कहे कि उनका उद्योग मनुष्यजातिमें भगवान्को पाना और प्रकट करना है । यही सेवा है जो वह मनुष्यजातिकी करना चाहते हैं—अर्थात् मनुष्यजातिमें भगवान्को अभिव्यक्त और मूर्ति-मान् करना । मनुष्य-जीवनका केवल दुःख दूर करना ही नहीं, वाल्क उसका सर्वथा परिवर्तन और रूपान्तर कराना, मनुष्य-जीवनको दिव्य बनाना ही उनका लक्ष्य है ।

यहाँ भी सावधान रहना होगा, अन्यथा अनेक प्रकारके भ्रम हो सकते हैं । मनुष्य-जीवनको दिव्यत्व प्राप्त करानेका यह कोई खास मतलब नहीं है कि सारी मनुष्यजाति ही बदल जायगी और सब मनुष्य देवता हो जायेंगे । इसका मतलब है खिकास अर्थात् पृथ्वीपर श्रेष्ठ जातिके मनुष्योंका प्रकट होना, ठीक वैसे ही जैसे पशुओंनिसे ही खिकास होते-होते मनुष्य उत्पन्न हुआ जिसका यह मतलब तो नहीं होता कि सारी पशु-जाति ही मनुष्यजाति हो गयी—हुआ इतना ही कि पशु-जातिके रहते हुए पशु-जातिमें ही खिकासकमें मनुष्यजाति उत्पन्न हुई । और अब यह होनेको है कि मनुष्य-जातिके रहते हुए मनुष्यजातिसे श्रेष्ठतर मनुष्यजाति उत्पन्न होगी ।

यह जो कुछ होनेको है, इसके विषयमें श्रीअरविन्द कहते हैं कि यह केवल हो सकनेकी वात नहीं है, होनेवाली है—इसका होना अनिवार्य भ्रुव सत्य है । यहाँ यह वात सरण रहे कि जिस शक्तिके द्वारा यह कार्य होगा और अभी इस समय हो रहा है वह कोई वैयक्तिक मानवशक्ति नहीं है, चाहे कोई मानवशक्ति कितनी ही बड़ी क्यों न हो, वाटिक वह शक्ति है स्वयं सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की—श्रीभगवान् ही स्वयं उस कार्यमें लगे हैं और इसीलिये वह कार्य होनेवाला है ।

श्रीअरविन्द-योगकी गूढताका यही असली भेद है । श्रेष्ठतर अर्थात् दिव्य मनुष्योंका उत्पन्न होना चाहे कितना ही उद्गुत और आश्र्वयजनक-सा प्रतीत होता हो, पर वात कि यह वात अन् नित्यके व्यवहारमें आ चुकी है

क्योंकि यह काम किसी मनुष्यके द्वारा नहीं हो रहा है बल्कि स्वयं भगवान् अपनी पराशक्ति, परम ज्ञान और परम प्रेमके साथ इस कामको कर रहे हैं । श्रीअरविन्द-योगकी साधनाका सम्पूर्ण रहस्य ही यही है कि सामान्य मानवप्रकृति-स्वभावमें भगवान् उत्तर आवें—मानव-प्रकृतिको शुद्ध करें, उसे दिव्य बनावें और उसमें निवास करें । साधको और कुछ नहीं करना है, केवल शान्त और मौन होकर शान्तिसे भगवत्प्राप्तिके लिये उत्कण्ठ होना, भगवन्मुख होना, भगवदनुकूल होना और भगव-द्वयाप्रवाहको ग्रहण करना है, उसे स्वयं कुछ भी करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है, न कुछ उसे करना ही चाहिये बल्कि उसके मार्गदर्शक और प्रभु भगवान् ही उसके लिये सब कुछ करते हैं, और भगवान् जो कुछ करते हैं उसके वह केवल अनुकूल होता है । अन्य सब योगमार्ग अथवा पारमार्थिक पन्थ जो पूर्वकालमें हुए, उनका लक्ष्य देहात्म-भावका उत्थान होकर आत्मभावको प्राप्त होना और उसीमें मिलकर लय हो जाना रहा है । मनुष्यके प्राण-मय कोषमें और मानवप्रकृतिके नित्य व्यवहारमें भगवान्का अवतरण हो और वहाँ उनका आसन जमे यह वात उनके विचारमें नहीं थी और यदि किसी अंगमें थी भी तो यह उनकी साधना और सिद्धिका मुख्य लक्ष्य नहीं था । और फिर जिस अवतरणकी वात यहाँ कही जा रही है वह किसी प्रकारके दैवी या भागवत चैतन्यकी वात नहीं है, क्योंकि भगवचैतन्यके अनेक प्रकार हैं, यहाँ अवतरणसे अभिप्राय है अपनी शक्तिके साथ भगवान्के निज चैतन्यका अवतरण । कारण, भगवान्के निज चैतन्यके अवतरणके द्वारा ही इस युगका विकासात्मक रूपान्तर साधित हो रहा है ।

इस अवतरणका यथार्थ स्वरूप क्या है, वह कैसे होता है, उसका कार्यक्षेत्र कौन-सा है, और उससे क्या-क्या होगा इत्यादि वातोंका व्योरा मुझे यहाँ देना है । कारण, यह जो कुछ है, भगवदवतरण है । भगवज्ज्योति पहले बुद्धिमें आती है और वहाँ अपना शुद्धिकार्य आरम्भ करती है—यद्यपि सदा-सर्वदा ही सबसे पहले हृदयके अन्तस्तलमें ही भगवत्सत्त्वाका अनुभव होता है और वहीसे भगवत्कार्यके होनेमें अनुकूलता मिलती है और फिर बुद्धिके ऊपर कार्यारम्भ होता है, बुद्धिके ऊपर इसलिये कि बुद्धि ही सामान्य मनुष्यभावकी पराकाष्ठा है और भगवज्ज्योतिके प्रकाशके जो प्रवाह आते हैं उन्हे बुद्धि ही अधिक सुगमता और तत्परतासे ग्रहण करती है । बुद्धिसे यह प्रकाश छनकर चित्तकी नानाविधि बृत्तियों और

वासनाओं तथा जीवनकर्मों और प्राणकर्मों के स्थूल जगत्-में आता है; अन्तमें यह प्रकाश भौतिक देहके जड़ और तमसाच्छ्वन्न जगत्-में आता है, क्योंकि जड़ शरीरको भी तो प्रकाशमय करके परम ज्योतिका ही आकार और प्रतीक बनाना है। मानवजीवन वह प्रासाद है जिसमें कितने ही कंठे और कितने ही खण्ड हैं और इस प्रासादके परम कुशल स्थिरता और प्रभु स्वयं दयामय भगवान् हैं जो इस प्रासादको भगवत्सत्यकी परमानन्दलीला और परम सौन्दर्य-की अभिव्यक्तिके सॉचेमें ढालनेके लिये ही दयाभावसे अवतरित हुआ करते हैं। पर यह वात ऐसी है कि इसे वही मनुष्य और भी अच्छी तरहसे सोच समझ सकता है जो इस मार्गके रहस्यद्वारके अन्दर आ गया हो और दीक्षाके मुख्य अग साध चुका हो।

दूसरी वात जो साधारण मनुष्यके मनको बेचैन कर देती है वह यह है कि यह सब आखिर कब होगा—अभी या एक सहस्र संवत्सरके बाद या किसी ऐसे भविष्यकालमें। स्की गणना देववर्षोंसे की जाय? अथवा वह समय इतना दूर हो सकता है जैसा कि दूरत्व-सादृश्यके लिये एक सजनने सुन्नित किया है कि जितना कि सूर्यके ताप-रहित होकर ठण्डे हो जानेका समय। कार्यकी महत्त्व और प्रचण्डताको देखते हुए यदि यह कहा जाय कि इसके लिये अनन्त काल हमारे सामने है तो कुछ भी अनुचित न होगा, और एकाघ शत संवत्सर या सहस्र सवत्सर भी इतने बड़े कामके लिये कोई चीज नहीं है, कारण, यह कार्य तो अतीतके असंख्य सहस्र सवत्सरोंके सञ्चितको मिटाकर एक बहुत दूर आगे बढ़ा हुआ भविष्य निर्माण करना है। तथापि जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह कार्य भगवान्का अपना कार्य है और योगका अर्थ भी कार्य करनेकी वह एकायनीभूत सश्लिष्ट अवगुणित पद्धति है जिससे वर्षोंमें होनेवाला काम एक मिनटमें हो जाय, इसलिये यह आशा की जा सकती है कि जिस कार्यकी यहाँ वात है वह कार्य होनेमें विलम्बकी अपेक्षा श्रीप्रता ही अधिक है। यह जो कुछ होना है यहाँ होना है और अभी होना है—इसी पार्थिव जीवनकी इस पृथिवीपर और अभी इसी जीवनमें, इसी देहके रहते हुए—फिर कभी या और कहीं नहीं। आखिर इसमें निश्चितरूपसे कितना समय लगेगा, इसका ठीक-ठीक उत्तर तो कई वार्ताओंपर निर्भर करता है पर इसमें दस-चार वर्ष

इधर उधर हो जाना कोई वात नहीं है।

यह जो कार्य होगा सो कितना व्यापक होगा, यह कोई विचारकी मुख्य वात नहीं है। कारण, विस्तार या फैलाव कोई चीज नहीं है, चीज तो चीज ही है। वह थोड़ी भी हो अर्थात् उसका क्षेत्र छोटा ही क्यों न हो, तो भी, कम-से-कम आरम्भके लिये, वह बहुत है यदि वह असली चीज है—

स्वप्नमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयाव।

अब यदि कोई यह पूछ वैठे कि जो कुछ तुम कह रहे हो उसका प्रमाण क्या है, इस वातका क्या आश्वासन है कि वह भी एक प्रकारके मृगजलका पीछा करना नहीं है? तो इसका उत्तर तो यही है कि चीनीकी मिटास चीनी जीभपर रखनेसे ही मालूम हो सकती है।

(३)

अब अन्तमें इस लेखके नामकरणके सम्बन्धमें एक वात कहनी है, क्योंकि लोग पूछ सकते हैं कि क्या अध्यात्म-जीवन भी कोई कला है, आप इसे कलाओंकी पक्षिमें कैसे बैठाते हैं?

एक विशेष दृष्टिसे, अर्थात् पदार्थमात्रकी वास्तविक अन्तस्त्वत्ताकी दृष्टिसे, अध्यात्मजीवन कम-से-कम सब कलाओंका मूल तो है ही, चाहे उसे सबसे श्रेष्ठ कला कहनेमें किसीको कोई सकोच भले ही होता हो। पदार्थ-मात्रके अन्तःस्वरूपको व्यक्त कर देना ही कलामात्रका हेतु है और पदार्थमात्रका अन्तःस्वरूप यथार्थमें उसकी अन्तरात्मसत्ता है। इसलिये अध्यात्मजीवन अर्थात् आत्मा-परमात्माके साथ चैतन्ययुक्त सम्बन्ध-स्यापनका अभ्यास कलाओंकी पावन पक्षिमें अप्रपूजाका मान ही पाने योग्य है। फिर अध्यात्मजीवन सबसे श्रेष्ठ और सबसे कठिन कला है, क्योंकि यह जीवनकी ही कला है। जीवनको ऐसा परम सुन्दर और दर्शनीय बना देना कि जिसके अग-अगमें निर्मलता और पवित्रता झलकती हो, जिसकी छन्दोमय गति प्रमादरहित हो, रोम-रोममें जिसके शक्ति सञ्चरित हो रही हो, कान्ति जिसकी शुभ्रा द्योतिसे सुरञ्जित हुई और गात्र जिसके आनन्दसे स्फुरित और उत्सुक हो रहे हों—तात्पर्य, जीवनको ऐसा बनाना कि वह भगवान्की प्रतिमा हो, अध्यात्मजीवनका सबसे ऊँचा लक्ष्य है। इस दृष्टिसे देखा जाय तो श्रीभरविन्द जिस अध्यात्मजीवनकी साधना करते हैं वह कला-सृष्टिकी सबसे बड़ी चीज है।

श्रीअर्द्धविन्दका पूर्णयोग

(देवता—श्रीअनित्यवरण राव)

कम हो गयी है। जीव-जगत् में जैसे क्रमविकास होता है वेसे ही धर्मसाधना, अध्यात्मसाधनके जगत् में भी एक क्रमविकास, क्रमविवर्तनकी धारा चलती है, वह बात आजकल प्रायः सभी लोग मानने लगे हैं। भारतमें हम साधनाका विकास किस प्रकारसे होता आया है, इसका पर्यालोचन करनेसे समझतः श्रीअर्द्धविन्दकी शिक्षाका मर्म समझना अपेक्षाकृत सहज हो सकता है।

भारतमें अध्यात्मसाधनाका मूल सूत्र हाथमें आ गया था वेद और उपनिषद्के युगमें। वैदिक ऋषियोंने इस दृश्य जगत् के पीछे देवलोकको देखा था। देवताओंके साथ आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करके मनुष्यका जीवन दिव्य रूपमें परिणत किया जा सकता है और वही मानव-जीवनका वास्तविक लक्ष्य है—इसी सत्यकी अवलम्बन करके भारतीय शिक्षा-दीला और भारतीय साधनाका आरम्भ हुआ। इस सत्यकी दो दिगाएँ हैं—पहली दिशा यह है कि मनुष्य इस समय जिस रूपमें जीवन-यापन कर रहा है, वह दुःख, द्वन्द्व, अशान्ति और मृत्युसे प्रेर्ण है, उससे अर्थात् 'मृत्युसारसागरात्' ऊपर उठना होगा। पर उठकर कहाँ जाना होगा? मनुष्य जिस भगवान्से आया है, जिसके अन्दर ही वह रहता है, जिससे मनसा वियुक्त होनेके कारण अनेक दुःखों और द्वेषों-को भोग रहा है, उसीके साथ ज्ञानपूर्वक युक्त राना होगा—उसकी ज्याति, शक्ति और आनन्दके अन्दर विर प्रतीष्ठित होना होगा। पहली बातकं लिये चाहिये सांसारिक जीवनके प्रति तीव्र वैराग्य; दूसरीके लिये चाहिये भगवानका उपासना। और ये दोनों ही परस्पर सापेक्ष हैं, एकके द्वारा दूसरको महायता मिलती है। वैदिक युगमें इस साधनाके दो ऋद्ध ये, ज्ञान और कर्म। क्रमशः ये दोनों ऋद्ध दो साधन-पर्योगिता-परमें परिणत हो गये। किंविष्टे भनसे ज्ञानरे द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्यपर पहुँच सकता है और कर्म नो मनुष्यको आसारिक जीवनमें वौध रखता है। किंविष्टे भनसे कर्मके द्वारा ही मनुष्य प्रमार्थ लाने कर सकता है। गीतामें इन दोनों पर्योगिताएँ ऐसे दिखाया गया है—

ज्ञानयोगेन सामग्यात्। कर्मयोगेन योगिनाम् ॥

वेदके युगसे आगे चलकर अध्यात्मसाधनामें एक और विशेषता उपस्थित हो गयी। वैदिक क्रष्णियोंने चाहा था इस मानवजीवनको ही दिव्य रूपमें ल्पान्तरित कर देना। किन्तु परवर्ती युगमें साधनाका लक्ष्य यह नहीं रहा। मानव-जीवन—संसार—दुःख-मय है, इससे किसी प्रकार बाहर निकलकर आत्माके अन्दर मोक्ष या निर्वाण लाभ करना ही साधनाका लक्ष्य बना। गीतामें इन सब विरोधी मतों और पन्थोंमें एक प्रकारका अपर्व समन्वय किया गया है। गीतामें कहा है, ज्ञान और कर्म विरोधी मार्ग नहीं हैं। पक्षी जिस प्रकार उड़नेके लिये दोनों पहुँचोंकी सहायता ग्रहण करता है, मनुष्य भी उसी प्रकार एक ही कालमें ज्ञान और कर्मके समुच्चयके द्वारा लक्ष्यकी ओर द्रुत गतिसे अप्रसर होता है। किन्तु गीतामें यह दिखाया गया है कि भगवद्गतिमें ही ज्ञान और कर्मकी पूर्णता होती है। कर्म, ज्ञान, भक्ति—इन तीनोंका समन्वय जिस साधनामें है, गीताके मतसे वही द्विप्राप्तिका उत्कृष्ट पथ है। गीता यह और कहती है कि मोक्ष-ग्रासिके लिये मनुष्यको यह जीवन, यह देह ओड़कर कहीं जाना नहीं होगा, मृत्युके पूर्व, 'इहैव'—इसी शरीरमें मनुष्य भगवान्‌के साथ पूर्णरूपेण युक्त होकर उनका साधर्म्य प्राप्त कर सकता है। उस समय वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे, उसके पतनकी फिर कोई आगका नहीं रहती—

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।

परन्तु भगवान्‌के साथ साधर्म्य प्राप्त करनेके रहस्यका विस्तार गीतामें नहीं किया गया है—उसका केवल सङ्केतमात्र है। उस समय लोगोंका छुकाव उपनिषद् और दर्शन-गांठोंकी शिक्षाके फलस्वरूप ससार-त्याग, जीवन-त्याग, कर्म-त्यागकी ओर था, गीताने उसका प्रतिबाद करके जीवन और कर्मकी महिमाका प्रचार किया। अर्जुनने मोहके वश होकर कर्मका त्याग करके सन्यासका अवलम्बन करना चाहा था, उनका तीव्र भाषामें तिरस्कार करके ही गीतामें श्रीकृष्णकी शिक्षाका आरम्भ हुआ है। श्रीकृष्णने समझा दिया कि भीतरकी वासना, कामना, आसक्तिका त्याग ही वास्तविक वैराग्य और संन्यास है, इस कारण जीवन, कर्म, संसारके त्यागकी कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु पहले वौद्धर्मके प्रभावमें और पीछे आचार्य शङ्कर-द्वारा आपामर जनसाधारणके अन्दर बड़े जोरोंसे माया-

वादका प्रचार हो जानेके कारण गीताकी यह शिक्षा भारतवासियोंके जीवनमें अपने प्रभावका पूर्ण विस्तार न कर सकी। अवश्य ही भारतके जातीय जीवनके गठनमें शङ्कराचार्यके उपकारका मूल्य बहुत अधिक है। वौद्धर्मके प्रभावसे जिस समय भारतवासियोंकी आस्था वेद और उपनिषदोंपरसे उठ रही थी, उस समय आचार्य शङ्करने उसका प्रतिरोध किया, भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी मूल धाराकी रक्षा की और हिन्दूसमाज, हिन्दूर्धर्म जो अनेक भेदों और विवादोंसे विच्छिन्न हो गया था उसको उन्होंने सब मतों और उपासनाओंमें ऐक्य दिखाकर उस आसन्न-स्वससे बचाया, भारतके साधनागत ऐक्यको पुनः प्रतिष्ठित किया और उसके आगे बढ़नेका पथ परिष्कृत कर दिया। परन्तु वौद्ध-प्रभावको दूर करनेपर भी वह प्रभाव कुछ-न-कुछ रह ही गया। वौद्ध जिस शिक्षाका प्रचार करते थे, शङ्करके वेदोपनिषद् गीताके भाष्योंसे उसी शिक्षाका प्रचार हुआ—यह ससार माया है, मिथ्या है, इस संसारसे दूर हटकर आत्माके अन्दर, ब्रह्मके अन्दर लीन होना ही परम पुरुषार्थ है और इसके लिये ज्ञान ही श्रेष्ठ साधना है। यही शङ्करकी शिक्षाका मूल तत्व है और इसमें और वौद्धोंकी शिक्षामें मूलतः विशेष कोई अन्तर नहीं है। भारतवासियोंके जीवनपर शङ्करकी शिक्षाका प्रभाव बहुत अधिक पड़ा, फिर भी सबने उनका मत नहीं ग्रहण किया। अनेक साधक महापुरुषोंने ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिको ही साधनाके रूपमें श्रेष्ठ स्थान प्रदान किया। इस भक्तिमार्ग-का चरम विकास हम देखते हैं श्रीचैतन्यमें। वैष्णव कविका गान है—

यदि गौराग ना हत कि भेने हहत
केमने धरित दे रे ?
श्रीराघव महिमा रससिंघु सीमा
जगते जानात के रे ॥

किन्तु यह जो भक्तिकी साधना है, इसका भी लक्ष्य है सांसारिक जीवनका परित्यागकर ससारसे ऊपर गोलोक अथवा वैकुण्ठमें जाकर श्रीभगवान्‌के साथ संयुक्त होना। प्राचीन कालसे भारतमें जो ये तीन प्रकारकी साधनाएं चली आ रही हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग—इन तीनोंका लक्ष्य दुःखमय मानसारिक जीवनसे ऊपर उठकर द्रष्टव्य में लीन होना अथवा भगवान्‌के साथ युक्त होना है। किन्तु इस पृथ्वीपर मानव-जीवनके अन्दर रहकर ही

भगवान्के साथ साध्य प्राप्त करनेका जो उपदेश हम गीताके अन्दर पाते हैं, अद्यावधि वह कहीं भी परिस्फुटित नहीं हुआ। इस विषयमे कुछ प्रयत्न हुआ था तान्त्रिक साधनामे। अध्यात्मजीवन प्राप्त करनेमें जो-जो बाँतेवाधक समझी जाती हैं, उन्हींका व्यवहार साधनामे सहायकरूपसे करके जीवनको दिव्यरूपमें पलट देनेका जो आदर्श तान्त्रिकसाधनामें दिखायी पड़ा था, वह व्यभिचार और दुरुपयोगके कारण भारतके जातीय जीवनपर बहुत अधिक प्रभाव न डाल सका, यद्यपि इसके सारतत्त्वने बहुत कुछ अवामे बङ्गालकी शक्तिपूजाके अन्दर स्थान प्राप्त किया है।

भारतमे युग-युगमे इस प्रकार नाना प्रकारकी साधन-पद्धतियोंका अनुसरण किया गया है। जगत्‌में अध्यात्मसाधनाकी ऐसी कोई धारा नहीं दिखायी पड़ती, जिसकी चरम परीक्षा इस भारतभूमिमे न हुई हो। इस प्रकार भारतमें अध्यात्मसाधनाका ऐसा उत्तम क्षेत्र और वायुमण्डल बन गया है कि पृथ्वीके और किसी स्थानमे ऐसा नहीं दिखायी पड़ता। परन्तु सब अध्यात्मसाधनाओंका मूल लक्ष्य ससारत्याग, जीवनत्यागकी ओर होनेसे ऐहिक जीवनमें भारतकी बड़ी क्षति हुई, जीवनसंग्राममें भारत अन्यान्य जातियोंसे बहुत पीछे पड़ गया, और इसी कारणसे भारतकी अन्यात्मसाधनापरसे बहुत लोगोंकी श्रद्धा ही उठ गयी। जिस समय भारत पाश्चात्य-जातिके सर्पर्गमें आया, पाश्चात्य-जातिने अपनी असीम कर्मशक्ति और वसुन्धराका भोग करनेकी दुर्निवार आकर्क्षाके बलसे भारतपर अपना आधिपत्य स्थापित किया, उस समय भारतके बहुत-से लोग उसी आदर्शकी ओर छुक पड़े, और सब विषयोंमें पाश्चात्य जडवादी सम्यताका अनुसरण करनेके आग्रहके कारण आत्मविस्मृत हो गये। भारतके लिये वह वडे ही सङ्कटका युग था—राजनीतिक-क्षेत्रमें भारत पराधीन था, अध्यात्मसाधनाके क्षेत्रपर भी नाना प्रकारसे ग्लानि छायी हुई थी, वाह्याचार और प्रचलित रुद्धियोंको ही लोगोंने धर्म और आध्यात्मिकताकी सीमा मानकर अन्वभावसे पकड़ रखा था। इससे जीवनके सब क्षेत्रोंमें अधःपतन और मृत्युके लक्षण दिखायी पड़ते थे और दूसरी ओर पाश्चात्य-जातिका तीव्र जीवन्त आदर्श चमक रहा था। उस आदर्शकी ओर छुक पड़नेके कारण जिस समय अपना स्वर्धमं छोड़ने और परधर्म ग्रहण करनेका आग्रह इस

देशमे बढ़ रहा था, उसी सन्धिधरणमें परमहस श्रीरामकृष्ण आविर्भूत हुए। उन्होने अपने जीवनमे सब प्रकारकी साधन-पद्धतियोंकी सत्यता प्रत्यक्ष करके यह दिखा दिया कि भारतकी अध्यात्मसाधना मिथ्या, धोखेवाजी या कपट नहीं है, इसके अन्दर असीम शक्ति निहित है, इसीके द्वारा मनुष्य अपने जीवनको सार्थक कर सकता है। पाश्चात्य रगकी बाढ़में भारत जिस समय झूला हुआ था, उसी समयमे श्रीरामकृष्णके प्रिय शिष्य स्वामी विवेकानन्द भारतका रग लेकर पाश्चात्य-सम्यताके मर्मस्थलमे जा धमके। बहुत कालके बाद पुनः भारतकी विजय-यात्रा आरम्भ हुई। यह जो स्वामी विवेकानन्दने प्रत्यक्षमणसे पाश्चात्य-सम्यताके आकमणका उत्तर दिया, उसी दिनसे भारतके नवयुगका सूत्रपात दुआ, भारत पुनः अपनी वास्तविक शक्तिकी खोजमे प्रवृत्त हुआ, भारतकी अध्यात्म-साधना नवीन गौरवके साथ ससारवासियोंके सामने उद्घासित हुई।

श्रीरामकृष्णने यह दिखाया कि ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, यहौतिक कि ईसाई-धर्म, मुसलमान-धर्म आदि सब साधनाओं और सब धर्मोंमें सत्य है, मूलतः इनके अन्दर कोई भी विरोध नहीं। जितने मत हैं उतने मार्ग हैं—सब मार्गोंसे उसी एक गन्तव्य स्थानपर पहुँचा जाता है। श्रीरामकृष्णने सब साधनाओंका मूलगत ऐक्य दिखा दिया, पर उस ऐक्यके आधारपर अवलम्बित, सब साधनाओंकी मूल शक्तिका आश्रय करनेवाला जो सर्वयोगसमन्वय-साधन है, वह श्रीअरविन्दकी साधनामे परिस्फुटित हुआ है। और इसमें केवल साधन-पद्धतिका ही नहीं, अध्यात्म साधनाका जो लक्ष्य है, उसका भी पूर्ण समन्वय साधित हुआ है। मनुष्य अर्भा जैसा जीवन व्यतीत करता है, उसको छोड़कर ऊपर उठना होगा। इसका अर्थ यह नहीं कि मानव-जीवन, मानवजन्मका ही त्याग करके निष्पन्द, निश्चल ब्रह्मके अन्दर लीन होना होगा। यह ससार मिथ्या, माया है, ‘भगवान्की भूल’ है—ऐसा तो श्रीअरविन्द नहीं कहते। मनुष्यके अन्दर जो देवत्व निहित है, उसको देह, प्राण, मनमें पूर्ण विकसित करना होगा, मानवजीवनको दिव्य जीवनमें रूपान्तरित करना होगा, जरा, व्याधि, मृत्युको जीतकर अमृतत्व लाभ करना होगा, यही मानवजन्मका प्रकृत अर्थ है और यही सब अध्यात्मसाधनाओंका वास्तविक लक्ष्य है। किन्तु मनुष्य जवतक मनके स्तरमें ही अटका है तबतक उसका यह रूपान्तर सम्भव नहीं। उच्च जीवन

मनुष्य कृतव्य हो जाता है, उसे कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता, जीवन्मुक्तदशामें विचरने लगा—फिर वाकी क्या रहा। ‘मद्भक्तियुक्तो भुवन पुनाति’—उसकी कौन कहे, वह तो विश्वको पावन करने लगा, अब उसके दर्गन और परमात्माके दर्शनमें अन्तर नहीं रहा—‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति’ वह ब्रह्मतुल्य हो गया।

तस्मादन्तर्वृष्ट्या तारक एवानुसन्धेयः ।

(अद्यय० श्रुति)

इसलिये विजजनोंको आत्मदृष्ट्यारा तारकयोगका श्री अनुसन्धान करना चाहिये, इस प्रकार श्रुति आशा प्रदान करती है। इस वातका अनुमोदन स्मृति भी मुक्तकण्ठसे करती है। यथा—

गुरुविश्वेश्वरः साक्षात् तारकं ब्रह्म निश्चितम् ।

इस तारकज्ञानके प्रदान करनेवाले गुरुको साक्षात् व्यरस्वरूप समझना चाहिये और तारकज्ञानयोग निश्चय ब्रह्मस्वरूप है। जो तारकयोग प्रदान कर अन्यको भी अपने स्मान शक्तिसम्पन्न बना देता है वह ईश्वरस्वरूप तो है ही, उसे सन्देह क्या ? महर्षि पतञ्जलि भी अपने योगदर्शनके क्रम सूत्रमें ‘तारकयोग’ की अपूर्वता और विशेषता वीकार करते हैं। यथा—

तारकं सर्वविषयं सर्वथा विषयमक्तमं चेति विवेकजं शानम् । (योग० ३ । ५४)

‘विवेकद्वारा प्राप्त किया गया ‘तारकयोगज्ञान’ पिना क्रम सब विषयोंको प्रकागित करता है’ अर्थात् जैसे अन्य विद्या या योग क्रमशः धीरे-धीरे प्राप्त होते हैं, ऐसा तारक नहीं। यह तो एक कालायच्छेदेन अतीत अनागत प्रमाण प्रपञ्चका प्रकाशक होते हुए ब्रह्मसाक्षात्कार कराने-ला है। इसलिये इसे तारक नामसे पुकारते हैं। इस योगज्ञानके सम्मापक श्रीदेवचन्द्रजी महाराज है। और एक दिव्य शक्तिसम्पन्न योगिराज थे। सम्भवतः विकराल कलिकालकवलित प्राणियोंको योगविषयमें असमर्थ

देखकर परमात्माने देवचन्द्र व्यक्तिविशेषद्वारा इसे प्रकट कराया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। इनके पश्चात् इस तारकयोगवलका विशेष प्रचार इनके शिष्य स्वामी प्राणनाथजीने किया है। यही प्राणनाथ प्रभु बुन्देलखण्ड-केशरी वीर छत्रशालके धर्मगुरु थे। आपने इसी योगवलसे वीर छत्रशालको हीरोंकी खान प्रदान की है। इसी योगवलसे आपने जहरीली नदीको पान करने योग्य बनाया। यह नदी आज भी पन्नामें विद्यमान है। इनके अनेक शिष्य हुए हैं। आज भी इसके अनुयायी लगभग पाँच लाखकी सख्यामें विद्यमान हैं जो परनामी कहे जाते हैं।

यह योग क्या है और इसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है, यह द्रष्टव्य है। तारकयोग एक मन्त्रविशेषद्वारा प्राप्त ज्ञानको कहते हैं जिसमें ब्रह्मसाक्षात्कारका भेद ब्रताया गया है। इसे परा ब्रह्मविद्या भी कहते हैं। इसका सुख्य साधन प्रेम है। जहाँतक सच्चा प्रेम उत्पन्न नहीं होता वहाँतक तारकयोग सिद्ध नहीं होता। इसका वल प्रेम विना प्रकट नहीं होता। अन्य क्रियाओद्वारा सहायता मिलती है परन्तु इसका प्राप्त तो प्रेम ही है। प्रेमपुट लगते ही तारकज्ञान अपूर्व योगको प्राप्त हो जाता है। प्रेममें द्वाव न सही किन्तु आकर्षण है। भयङ्करता नहीं किन्तु तल्लीनता है; अभिमान नहीं किन्तु अपनापन है, निराशा नहीं अपितु विश्वास है। अतएव ‘तारकयोग’ प्राप्त करनेके लिये प्रधान साधनभूत प्रेम ही माना गया है। प्रेमद्वारा इसे प्राप्त करते विलम्ब नहीं, किन्तु होना चाहिये सच्चा प्रेम। इस योगमें एक अपूर्व विशेषता यह है कि इसका सम्बन्ध ज्ञान होते ही मनुष्य पद्मपलाशवत् निर्लिप्त होकर निर्भय विचरने लग जाता है। और सच्चिदानन्दके ज्ञानका अनुभवी होकर किसी प्रकारके विद्येपको प्राप्त नहीं होता—

इतर्ही वैठे घर जागे धाम । पूरन मनोरथ हुए सब काम ॥

इस विनश्वर विश्वमें वैठा हुआ भी वह अपनेको ब्रह्म-धाममें मानता है और पूर्णकाम होकर जन्मभरणके वन्धनसे मुक्त हो जाता है।



ऋजु-योग

(लेखक—त्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

भक्त्या पुमाज्ञातविराग ऐन्द्रियाद्-
दृष्टश्रुतान्मद्वचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्ठते ऋजुभिर्योगमार्गः ॥४५
(श्रीमद्भाग ३ । २५ । २६)

सं सारमें आसक्त हुआ मन जिसके द्वारा परमात्मामें जोड़ा जाय उसीका नाम योग है । अतः प्रभु-प्राप्तिके जितने साधन हैं सभी योग हैं । राजयोग, हठयोग, सुरतिशब्दयोग, कर्मयोग, क्रियायोग, सांख्ययोग आदि अनेकों योग हैं । जो जिस योगका अधिकारी होता है, उसके लिये वही योग उपयुक्त भी होता है । एक भक्तियोग ही ऐसा है जिसमें सबके लिये गुजाइश है । भक्तियोग वा भक्तिमार्गमें किसीके लिये मनाही नहीं, वह राजपथ है । अन्धा भी और्ख्ये बन्द करके सहज ही चला जा सकता है, किन्तु उसके लिये भी एक योग्यताकी आवश्यकता है—

कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना ।
विनानन्दाश्रुकलया ॥

जिसका हृदय स्वाभाविक ही मुलायम न हो, जिसे भगवत्-गुण-श्रवण-स्मरणसे रोमाञ्च न होते हों, जिसकी और्ख्यों-आनन्दाश्रु न बहाती हों, वह भक्तिका यथार्थ अधिकारी नहीं । इसीलिये भक्तिके दो भेद हैं—स्वाभाविकी और वैधी । जैसे प्यासा विना पानीके रह ही न सके, जैसे अग्नि लगी देखकर स्वाभाविक ही मनुष्य उससे दूर भागता है, ऐसे ही विषयोंसे स्वाभाविक विराग होकर प्रभुप्राप्तिकी स्वाभाविक इच्छा होना स्वाभाविकी भक्ति है । और शास्त्रोंमें भक्तिका माहात्म्य सुनकर भक्ति करना यह वैधी भक्ति है । किन्तु हमारी इन शूटी और्ख्योंमें न तो कभी

* भगवत्-कथा-श्रवणसे मनुष्यको भक्ति उत्पन्न होती है, भक्ति दो जानेपर देखे हुए और स्वर्गादि सुने हुए जितने इन्द्रिय-जन्य सुख हैं, उनमें वैगम्य उत्पन्न हो जाता है । ऐसा योगयुक्त पुरुष आत्माधनके उपयोगमें तत्पर होकर ऋजु-योग-मार्गोंसे प्रभु-प्राप्तिके लिये यत्ते करता रहता है ।

आनन्दाश्रु ही आते हैं, न यह वज्र-जैसा हृदय ही पसीजता है, फिर हम-ऐसे मूढ़मति पुरुषोंके लिये भी कोई मार्ग है क्या ? शास्त्रकारोंने हम-जैसे अल्पज्ञ पुरुषोंके लिये भी उपाय बताये हैं । भक्तिमार्ग वडा विशद है । उसके श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, पादसेवन, सख्य, दास्य, अर्चन और आत्मनिवेदन ये नौ अङ्ग हैं । दास्य, सख्य, वात्सल्य, शान्त और मधुर-ये पाँच भाव हैं । और भी अनेकों अनुभाव-विभावोंसे भक्तिमार्ग सुविस्तृत है । इसी भक्ति-सागरको मथकर इसका अल्पीभाव बनाकर हम सर्व-साधारण लोगोंके लिये मनीषियोंने ऋजु-योग-जैसे मार्ग बताये हैं । ऋजु-योग भक्तियोगके ही अन्तर्गत है । इसमें मृदुता और सरलता ही एक आवश्यक वस्तु है । हमारे जीवनमें पग-पगपर बनावट है । यह बनावट किसी तरहसे मिट जाय तो वह प्यारे प्रभु अपने-आप ही हमें हृदयसे चिपटा लें । छोटा निष्कपट सरल शिशु कभी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम मुझसे प्यार करो । किन्तु उसकी सरलता, मृदुता और निष्कपट चेष्टाको देखकर चित्त विना प्यार किये रह ही नहीं सकता । यदि इसी तरह हमारे जीवनमेंसे यह दुनियावी कपट-छल निकल जाय तो भगवान् प्रेम करनेको विवश हो जायेंगे । कपट-छल ही उन्हें अच्छा नहीं लगता—

निरमल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट-छल छिद्र न भावा ॥

किन्तु कपट-छल जीवनमेंसे जाय कैसे ? वह ऋजु-योगके ही द्वारा सुगमता और सरलतासे जा सकता है । ऋजु-योगकी नींव श्रद्धाके ऊपर है । प्रेरी न हो, स्वाभाविकी न हो, योद्धी ही सही, सुनकर ही सही, हठप्रवृक्ष ही हों, शास्त्रवाक्योंमें और गुरुवाक्योंमें श्रद्धा होनी चाहिये । योद्धी भी श्रद्धा होनेसे इस मार्गमें आनेपर धीरे-धीरे श्रद्धा स्वतः ही वढ़ जाती है । जो वेद, शास्त्र और गुरुवाक्योंकी निन्दा करता है, उन्हें दोग समझता है वह तो इधर आवेगा ही । नहीं । यदि अणुमात्र श्रद्धासे या वैसे ही शुरू कर देनेपर जो वढ़ता है, वह तो वढ़ता ही जाता है ‘स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ।’

ऋजु-योगके चार अङ्ग हैं—सत्सङ्घ, भगवत्कथा-श्रवण, कीर्तन और जप । इन चारोंके ही द्वारा मनुष्य परमपद-

तक पहुँच सकता है। इन्हींका नाम ऋजु-योग है, इसमें सभी श्रेणीके स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। सभी इस सरल मुगम सखिस मार्गसे अपने गन्तव्य मार्गतक पहुँच सकते हैं। बहुत सक्षेपमें इन चारोंपर यहाँ विचार कर लीजिये—

१. सत्सङ्ग-ऋजु-योगकी सर्वप्रथम सीढ़ी है सत्सङ्ग, भगवान् कपिलने अपनी माता देवहृतिको ऋजु-योगका उपदेश देते हुए आरम्भमें ही कहा है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तजोपणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
अद्वा रतिर्मक्तिरजुकमिष्यति ॥

अन्तःकरणको और वाह्य करणोंको आनन्दित करनेवाली कमनीय कथाएँ साधु पुरुषोंके सत्सङ्गमें ही सुननेको मिल सकती हैं। उन कथाओंके श्रवणसे अति श्रीमही परमार्थ-स्वरूप प्रभुकी प्राप्तिके विषयमें प्रथम श्रद्धा होती है, श्रद्धा होनेपर रति होती है और रति होनेपर भक्ति प्राप्त होती है। सत्सङ्गके विना इस मार्गमें जाना ही नहीं हो सकता। सत्सङ्गतिकी महिमा तो शास्त्रोंमें भरी पड़ी है, किन्तु विचारणीय यह है कि हम मन्दमतियोंको यह निर्णय कैसे हो कि यह साधु हैं। आजकल बहुत-से असाधु साधुवेषमें घूमते हैं। यद्यपि शास्त्रोंमें तितिक्षु, करुणायुक्त, सर्वप्राणियोंके मित्र, निवैर, शान्त, निरन्तर भक्ति करनेवाले, वीतरागी, गृहसागी, भगवत्कथा सुननेवाले आदि बहुत-से गुण साधुओंके बताये हैं, किन्तु हम साधारण लोगोंमें इतनी द्विदि कहो कि जो इन गुणोंकी परीक्षा कर सकें। इसलिये साधुकी मोटी पहचान यही है कि जो हर समय भगवत्-भजन, भगवत्-कथा-श्रवण और भगवन्नाम-जपमें लगा रहता हो। जिसका कोई भी समय व्यर्थकी वातोंमें-गप-शपमें न जाय। जो अपने शरीरके सुखोंके लिये चिन्ता न करता हो, यदि उसे कोई चिन्ता हो भी तो वह दूसरोंके दुःखोंकी चिन्ता हो। उसे साधु समझना चाहिये। श्रीमद्भागवतमें एक जगह लिखा है—

तप्यन्ते लोकतापेन साधवः प्रायशो जनाः ।
परमाराधनं तद्वि पुरुपस्याखिलात्मनः ॥

समदद्दीं साधु लोगोंके दुःखोंको देखकर दुखी होते हैं। इस अखिल ब्रह्माण्डमें व्याप्त उस अखिलेश्वर जनतान्पी जनार्दनकी सेवा करनेके निमित्त दुःख भोगना ही

उनकी परम आराधना है। जिनकी सभी चेष्टाएँ प्रेमपूर्ण हों और जिनके शारीरिक काम यदि हों भी तो वे परोपकारके लिये हों। वस, उन्हींको साधु समझकर उनकी सङ्गतिमें रहना चाहिये। साधु दूसरोंकी निन्दा न करेगा, न दूसरोंके दोषोंका ही वर्णन करेगा, उसकी सभी क्रियाएँ प्रेममयी होगी और वह दूसरोंके गुणोंको ग्रहण करनेमें सर्वदा तत्पर रहेगा। राजर्षि भर्तृहरिने सन्तकी कैसी सुन्दर सर्वांगीण व्याख्या की है, वे कहते हैं—

मनसि वचसि काये प्रेमपीयूषपूर्णा-

स्त्रिमुवनमुपकारश्चेष्टिभिः प्रीणयन्तः ।
परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥

जिनका मन प्रेमपीयूषसे परिप्लावित हो, जिनकी वाणी प्रेममयी मधुमयी हो, जिनका शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गोंकी चेष्टाओंसे प्रेम प्रकट होता हो और जो अपने उपकारोंकी बादसे त्रिमुवनको वहाते-से रहते हो तथा दूसरोंके अणुमात्र गुणको पर्वतके समान बनाकर अपने हृदयमें विकसित करते रहते हों ऐसे सन्त इस धराधामपर कितने हैं! यदि सौभाग्यसे ऐसे सन्त मिल जायें और हँडनेपर मिल ही जाते हैं तो उनका सङ्ग निरन्तर करना चाहिये।

२. भगवत्कथाश्रवण—दूसरी सीढ़ी है भगवत्कथा-श्रवणकी। इच्छापूर्वक, अनिच्छापूर्वक जैसे भी वने वैसे ही कथा सुननी चाहिये। भगवत्कथाश्रवणका व्यसन लग जाना चाहिये। अफीम-जैसी कङ्काली चीजको स्वादसे, स्वेच्छासे पहले-ही-पहले कोई नहीं स्वाता। खाते-खाते जब आदत पड़ जाती है, तब फिर विना उसके रहा ही नहीं जाता। वैसे ही भगवत्कथा हमारे शरीरकी खूराक वन जाय। यह कभी मत सोचो कि विना मनके कथा सुननेसे क्या लाभ? स्कल-कालेजोंके अधिकारी छात्र विना मनके ही पढ़ने जाते हैं। यदि उन्हें धरवालोंका, फेल होनेका और जुर्मानेका भय न हो तो महीनेमें बहुत कम दिनों वे अपनी इच्छासे पढ़ने जायें। वहाँ जानेपर भी सबका मन अध्यापककी व्याख्यापर या पाठ्यपर ही लगा रहता हो सो भी बात नहीं। प्रायः सभी कानोंसे व्याख्यान सुनते हैं। मनसे मित्र, ठोस्त, सिनेमा, सभा और शतरजकी वातें सोचते रहते हैं। फिर भी वे पास हो जाते हैं और इसी वेमनके अवणसे वी० ए०, एम० ए० वन जाते हैं। इसी वातको लक्ष्य करके भगवान् कपिल कह नहे हैं—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मर्दीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥

‘जिन्होने सब कार्य मेरे ही अर्पण कर दिये हैं और जिन्हें मेरे ही पानेकी इच्छा है वे मुझसे एकात्म होनेकी अर्थात् मोक्षकी भी इच्छा नहीं करते, क्योंकि वे तो मेरे पाद-पद्मोंकी सेवामें सलभ हैं। वे परस्परमें वैठकर हठ-पूर्वक भी-मन न लगता हो तो भी-एक दूसरेको आपसमें मेरे गुणोंको सुनाते रहते हैं और सुनते रहते हैं।’

भगवत्-कथाओंमें सुनते-सुनते रस आने लगता है। छोटा बच्चा पहले बेमनसे—माताके हठपूर्वक खिलानेपर अब्र खाता है, खाते-खाते अभ्यास हो जाता है। फिर रुचि भी बढ़ने लगती है तदनन्तर वह उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता है कि विना अब्र खाये उसे चैन ही नहीं पड़ता। जी तड़फड़ाने लगता है। इसी प्रकार हठपूर्वक कथा सुनते-सुनते सुननेका अभ्यास होगा फिर रुचि भी बढ़ने लगेगी। अन्तमें तो उसमें तल्लीन हो जायेगे। कथा सुने विना कल ही न पड़ेगी। यह दसरा अग है।

३ कीर्तन-तीसरी सीढ़ी है भगवन्नामकीर्तन। जैसे बने तैसे गाकर, रोकर, जोर-जोरसे, धीरे-धीरे, सबके साथ मिल-कर, अकेलेमें, वैठकर, खड़े होकर, तालस्वरसे, विना तालके, गा-गाकर अथवा बाजोंके तालस्वरके सहित भगवन्नामोंका और भगवत्-गुणोंका कीर्तन करना चाहिये। वैसे तो कीर्तन सभी युगोंमें सर्वश्रेष्ठ साधन है, किन्तु कलियुगमें तो कीर्तनके सिवा कोई गति ही नहीं। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

कीर्तनादेव कृपणस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत् ।

अर्थात् केवल श्रीकृष्णकीर्तनसे ही मनुष्य इस धोर कलिकालमें परमपदको प्राप्त कर सकता है। कीर्तनके विषयमें विशेष वतानेकी आवश्यकता नहीं। शास्त्रोंमें इसकी अनन्त महिमा है।

४ जप-ऋग्योगकी चौथी सीढ़ी है जप। जप वेदमन्त्रोंका तथा पौराणिक मन्त्रोंका भी होता है। उनकी शास्त्रोंमें अनेक विधियाँ हैं। विधिपूर्वक करनेसे उनका प्रत्यक्ष फल मिलता है। इसीलिये महादेवजीने जोर देकर पार्वती-जीसे तीन बार कहा है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्वरानने ।

‘हे वरानने! मैं तीन बार प्रतिज्ञा करके कहता हूँ जपसे सिद्धि होती है, होती है, होती है।’

किन्तु वैदिक मन्त्रोंके जपकी विधिको द्विजेतर मनुष्य नहीं कर सकते। द्विजोंमें भी पढ़े-लिखे और संस्कृत पुरुष ही कर सकते हैं किन्तु भगवन्नामजपमें किसी प्रकारकी विधि नहीं। यह जप तो सब विधिनिषेधोंसे परे है। चाहे जो हो, खी, शूद्र, अन्त्यज, चाण्डाल कोई हो, किसी भी अवस्थामें हो, किसी भी देशमें कहीं हो, हर समय इसका जप कर जाता है। और श्रद्धापूर्वक भगवन्नाम-जपसे वही फल मिल जाता है जो अन्य वैदिक मन्त्रोंसे मिलता है। इससे सरल कोई मार्ग ही नहीं।

इस प्रकार ऋग्योगके ये चार अङ्ग हैं। यदि आप राजयोग नहीं कर सकते, हठयोगके लायक आपका शरीर नहीं है, यदि आप प्राणोंको दसवें द्वारमें ले जाकर समाधि नहीं लगा सकते, यदि आप भगवत्-विग्रहकी घोड़गोपचार-रीतिसे पूजा करनेमें भी असमर्थ हैं तो आप मनसे, बेमनसे जैसे भी बने, भगवान्के नामोंका जप कीजिये। श्रीरामायण, भागवत और महाभारतकी कथा सुनिये, साधु पुरुषोंका सङ्ग कीजिये और भगवन्नाम तथा गुणोंका कीर्तन कीजिये। आप सभी योगियोंसे बढ़ जायेंगे, आप उस निर्वाणपदको भी पार कर जायेंगे। शास्त्रोंमें इसे ऋग्योग, सक्षिप्तयोग, सरलयोग या मृदुयोग कहा है।

यह बात नहीं कि ये चारों अङ्ग ही हैं और विना चारोंके किये सिद्धिलाभ होती ही न हो। ये चारों स्वतन्त्र भी हैं। केवल कथा ही श्रवण करते रहें और कुछ भी मत करें, निरन्तर भगवल्लीलाओंका श्रवण और उनका मनन करते रहें आप परमपदको प्राप्त कर लेंगे। और किसी भी साधनकी जल्दत नहीं। महाराज परीक्षित इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। केवलमात्र कथाश्रवणसे ही वे सर्वसगविनिरुक्त हो गये।

केवलमात्र सत्संग ही करते रहें, साधु पुरुषोंकी सेवा करें, उनके बचनामृतोंको सुनें, उनकी सब प्रकारसे शुश्रूषा करें, आपको परमयोगियोंसे भी ऊँची पदवी प्राप्त हो जायगी। वहुत-से यातुधान, खग, मृग, खी, शूद्र केवल-मात्र सत्सङ्गके सहारे ही इस ससाररूपी धोर सागरको बात-की-बातमें तर गये। केवल सत्सङ्ग ही सभी साधनोंका फल दे देता है।

अन्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ।
नान्तर्बहिर्यदि हरिस्तपसा ततः किम् ॥
(श्रीनारदपाद्वारात्र)

(४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन
यत्पादसेवाभिस्तपस्तिना-
मशोपजन्मोपचितं मलं धियः ।
सद्यः क्षिणोत्यन्वहसेधर्ती सर्ती
यथा पठाङुष्टविनिःसृता सरित ॥

‘जिस चरणसे निकलकर पुण्यसलिला श्रीगङ्गाजी समस्त सासारको पवित्र करती है, उस चरणकमलकी सेवा करनेसे अनन्त जन्मोंकी सञ्चित चित्तकी मलिनता तुरन्त नष्ट हो जाती है’ ।

(७) दास्य, (८) सख्य, (९) आत्मनिवेदन
इन तीन अङ्गोंकी परिसमाप्ति ‘रागात्मिका’ भक्तिमे होती है । इनका स्वरूप इस प्रकार है—
स वै मनः कृष्णपदारविन्दयो-

वैर्चांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।

करौ हरेमन्दरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोऽये ॥
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने ददौ
तद्भृत्यगाव्रस्पर्शोऽङ्गसङ्गम् ।
ब्राण च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमतुलस्या रसना तदर्पिते ॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुमर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
काम च दास्ये न तु कामकाम्यया
यथोत्तमलोकजनाश्रया रतिः ॥

(श्रीमद्भा० १४।१८—२०)

‘आत्मनिवेदनभक्तिकी अवस्थामें मन भगवान्के चरणकमलोंमें, वचन उनके गुणगानमें, हाथ मन्दिरादि मार्जन करनेमें, कर्ण उनकी सत्कथा श्रवण करनेमें, नेत्र उनकी मूर्ति देखनेमें, अङ्ग उनके भक्तोंके अरीर सर्व्य करनेमें, ब्राण उनके चरणसरोजके सुगन्धमें, जिहा उनके प्रसादके रस लेनेमें, चरण उनके तीर्थोंकी यात्रामें, मस्तक उनके चरणोंमें प्रणाम करनेमें और सकल कामना उनके दासत्वमें समर्पित होती है’ ।

रागात्मिका भक्तिकी अवस्था

रसानुभाविकानन्दशान्तिदा रागात्मिका ।

(अ० द० म० न० १२)

‘स अनुभव करानेवाली, आनन्द और शान्ति देनेवाली भक्तिको ‘रागात्मिका’ कहत हैं’ ।

MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

‘भगवान्की आराधना होती है तो तपसे क्या होगा ?’
यदि भगवान्की आराधना नहीं होती है तो तपसे क्या होगा ? यदि अन्दर-वाहर हरि विराज रहे हैं तो तपसे क्या काम ? और श्रीहरि यदि अन्दर भी नहीं, वाहर भी नहीं तो तपसे क्या होगा ?’

वैधी भक्ति (नवधा भक्ति)

विधिसाध्यमाना वैधी सोपानरूपा ।
(अ० द० म० न० ११)

‘विधिसे साधन होनेवाली भक्तिको ‘वैधी’ कहते हैं,
वह सोपानरूपमें है ।’

नवधा भक्तिके अङ्ग

(१) श्रवण

यथाभ्यः सुसमृद्धार्चिः करोत्येषांसि भस्ससाद् ।
तथा तद्विषया भक्तिः करोत्येनांसि कृत्यजाः ॥
प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम् ।
शुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरद् ॥

(स्मृति)

‘जैसे प्रज्वलित अग्नि ढेर-के-ढेर काष्ठको भस्स कर देती है । उसी प्रकार भगवान्की भक्ति साधकके पापसमूहको फैलानेमें निर्मूल कर देती है । भगवान्का मधुर-मधुर नाम कर्ण-कुहरमें प्रवेश करते ही हृदयका समस्त पाप दूर कर देता है । जैसे शरद् ऋतु जलका गँडलापन दूर कर देता है ।’

(२) कीर्तन

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदयेऽपि च ।
मद्रका यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठन्ति नारद ॥

‘वैकुण्ठमें चाहे मैं न रहूँ, अथवा योगियोंके हृदयमें भी मेरा पता न लगे, पर जहाँ मेरे भक्त मेरे गुणोंका गान करते हैं वहाँ तो मैं रहता ही हूँ ।’

(३) स्मरण

अनन्यचेता॒ सततं यो मा स्मरति नित्यशा॑ ।
तस्याह सुलभं पायं नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥

(गीता ८।४४)

‘जो अनन्यचित्त होकर नित्य मेरा सतत स्मरण करता है, हे अर्जुन ! मैं उस नित्ययुक्त योगीके लिये तुम्ह हूँ ।’

रसानुसव और आनन्दकी दशा

वाग् गदगदा इवते यस्य चित्तं
स्तुत्यभीक्षणं हमति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मन्महिसुक्तो भुवनं पुनाति ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १४ । २४)

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीत्यो
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।
इसत्यथो रोटिति रौति गाय-
स्युन्मादवन्त्रृत्यति लोकबाह्यः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २ । ४०)

क्वचिद्गुडन्त्यध्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृन्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । ३ । ३२)

‘रागात्मिका भक्तिके लाभ करनेपर भक्तको लोकलज्जा, लोकभय आदि किसी नातका विचार नहीं रहता । वह कभी निर्लज्ज होकर उच्च हास करता है, कभी उन्मादग्रसित (पागल) कान्सा नृत्य करता है, कभी उच्च स्वरसे गाता हुआ सर्वत्र भ्रमण करता है, कभी रोता है, कभी भगवान्के आनन्दाभृतको पान करके निस्तव्य होता है, कभी आत्मामें एकान्त रति प्राप्तकर जगत्को भूल जाया करता है ।’ रागात्मिका भक्तिकी यह अपूर्व महिमा है ।

रागात्मिका भक्तिकी परा शान्तिकी दशा

भक्ति हरौ भगवति प्रवहन्नजस्तः
मानन्दवाष्पकलया मुहुर्द्यमानः ।
विक्षिधमानहृदयः पुलकाचिताङ्गो
नात्मानमस्तरदसाविति मुक्तलिङ्गः ॥

इत्यध्युताद्विं भजतोऽनुषृत्या
भक्तिविरक्तिर्भगवत्प्रवोधः ।

भवन्ति वै मागवतस्य राजन्
ततः परा शान्तिसुपैति साक्षात् ॥

(श्रीमद्भा० स्कन्ध ११)

‘रागात्मिका भक्तिके उदय होनेसे साधकका चित्त पुनर्विन न हो जाता है, और साथेसे आनन्दाश्रुधारा प्रवाहित होती है और सबल साधनोंके फलस्वरूप परम पवित्र शान्ति

उस भक्तशिरोमणि वडभागी भक्तको प्राप्त हो जाती है ।’
परा भक्तिकी अवस्था
स्वरूपज्ञानापरपर्याया सा ।

(अ० द० मी० सद्गुण०९)

परा भक्ति, स्वरूपज्ञान दोनों एक ही हैं । परा भक्ति, स्वरूपज्ञान, निर्विकल्प समाधि, परवैराग्य सवकी एक ही स्थिति है—कोई भेद नहीं है । इसी स्थितिमें भक्त निखिल ब्रह्माण्ड—समस्त चराचर जगत्को भगवान्मय देखता है ।

‘तत्यमसि,’ ‘सर्वे खलिवद ब्रह्म’ इत्यादि महावाक्योंकी चरितार्थता इसी दशामें होती है ।

सर्वभूतेषु यः पश्येद्गवद्गावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मज्ञेष भागवतोत्तमः ॥

(श्रीमद्भागवत)

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
द्वैक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥

(गीता ६ । २९)

‘परा भक्तिकी दशा प्राप्त होनेसे भक्त भागवतोत्तम कहलाते हैं । जो सकल जगत्में भगवान्को और भगवान् में ही सकल चराचर जगत्को देखते हैं वे ही सर्वोत्तम भागवत हैं ।’

चार प्रकारके भक्तोंमें केवल ‘ज्ञानी भक्त’ ही परा भक्तिका अधिकारी हो सकता है ।

मन्त्रयोगका दूसरा अंग

शुद्धि

शुद्धि दो प्रकारकी है—वाहरकी शुद्धि और अन्तरकी शुद्धि ।

वहिर्शुद्धिमें—(१) शरीरकी शुद्धि
(२) स्थानकी शुद्धि
(३) दिशाकी शुद्धि

आन्तर्शुद्धिमें—(१) मनकी शुद्धि । यह मन्त्रयोगमें परमवश्यक है ।

(१) शरीरकी शुद्धि—स्नानसे होती है । स्नान सात प्रकारका है—

(१) मान्वस्नान—‘गङ्गे च यमुने च’—इत्यादि मन्त्र-से जल लेकर स्नान करनेसे होता है ।

- (२) भौमस्नान—गमलेसे अङ्ग पोछनेसे ।
 - (३) आगनेय—भस्म लगानेसे ।
 - (४) वायव्य—गोरज स्थगी करनेसे ।
 - (५) दिव्य—सूर्यदर्शनके होते हुए वर्षामें स्नान करनेसे ।
 - (६) वारुण्य—जलमे गोता लगाकर स्नान करनेसे तालाव-नदी इत्यादिमें ।
 - (७) मानस—श्रीभगवान्‌के रूपका मनमे व्यान करनेसे ।
 - (८) स्थानकी शुद्धि—गोमयसे अथवा वरगद, पीपल, अंगोक, विल्व, औंवलेके वृक्ष (पञ्चवटी) के नीचे बैठकर साधना-पूजा करनेसे होती है ।
 - (९) दिशाकी शुद्धि—दिनमे पूर्वमुख या उत्तरमुख बैठकर और रात्रिमें उत्तरमुख बैठकर पूजा करनेसे होती है ।
 - (१०) अन्त शुद्धि—मनकी शुद्धि दैवी सम्पत्तिके अभ्याससे होती है । अर्थात् इन्द्रियसंयम, भयशून्यता, चित्तप्रसन्नता, दान, यज्ञ, वेदपाठ, वेदसम्मत शास्त्रपाठ, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, लोभका त्याग, अहङ्कार, कुकर्मका त्याग, चञ्चलताका त्याग, चित्तकी ज्ञानिति, अविरोध, धैर्य, जौच, अमा इत्यादि भावोंके अभ्याससे होती है ।
- शुद्धिका फल—**वाहरकी शुद्धिसे आरोग्य, आत्मप्रसाद और इष्टदेवकी कृपा प्राप्त होती है । मनकी शुद्धिसे इष्टदेवका दर्शन होता है और समाधि प्राप्त होती है ।

मन्त्रयोगका तीसरा अङ्ग

आसन

मन्त्रयोगके साधनमे स्वस्तिकासन और पद्मासन, इन्हीं दो आसनोंका उल्लेख है । आसनकी आज्ञा श्रीगीता-जीके छठे अध्यायमें इस प्रकार है—

शुचौं देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमामनभात्मनः ।
नात्युच्छ्रुतं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥
तत्रैकाम्बं मनः कृत्वा यत्त्वित्तेन्द्रियक्रियः ।
उपविश्यासने युज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥
सम कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाम्बं स्वं दिशश्चानवलोक्यन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ण्यचारित्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मन्त्रित्वा युक्त आसीत मत्पर ॥

(११-१४)

‘पवित्र स्थानपर स्थिर आसन लगावे, न वहुत ऊँचा न वहुत नीचा । पहले कुशका आसन, उसपर मृगचर्म, उसपर वस्त्र । चित्त और इन्द्रियोंको वशमे करके, एकाग्र मनसे आसनपर बैठकर, शरीर, पीठ, मस्तक, गर्दनको समदेशमे अचल रखकर, इधर-उधर न देखे, नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि जमाकर गान्तचित्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ मेरा व्यान करे ।’

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्ध, अध्याय १४ में भी इसी आसनका वर्णन है ।

शुद्ध आसनका फल—श्रीभगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त होना ।

मन्त्रयोगका चौथा अङ्ग

पञ्चाङ्गसेवन

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके अनुसार गीता, सहस्रनाम, स्तुति, कवच, द्वादशका पाठ प्रतिदिन करनेसे योगी पापरहित होकर योगसिद्धिको प्राप्त होता है ।

मन्त्रयोगका पाँचवाँ अङ्ग

आचार

सात्त्विक साधकके लिये दिव्याचार, राजसिक साधक-के लिये दक्षिणाचार और तामसिकके लिये वामाचार होता है । वामाचार केवल शक्ति-उपासनामें ही देखा जाता है । पर वामाचारमे उन्नतिके बदले गिर जानेका सर्वदा भय है । इसके साधनको तलबारकी धारपर चलना कहा गया है । इसी वामाचारके बड़नेसे बड़ालमें अत्यन्त हानि हुई और वहां दुराचार फैला, जिसे देखकर, कहते हैं कि, स्वयं श्रीकृष्ण भगवान्‌को दुराचारका नाश करके शुद्ध प्रेमके प्रचारार्थं श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके रूपमें अवतरित होना पड़ा ।

मन्त्रयोगका छठा अङ्ग

धारणा (Concentration)

धारणा दो प्रकारकी है—(१) वहिर्वारणा, (२) आन्तर धारणा ।

वाहरके पदार्थोंमें मूत्रि, विग्रह, चित्र आदिमे धारणा करनेको वहिर्वारणा कहते हैं ।

आन्तर्जगत्के विषयोंमें धारणा आन्तर धारणा कही जाती है ।

फल—धारणाकी सहायतासे दिव्यदेशमें इष्टदेवका आविर्भाव होता है । इष्टदेव मिग्रह, चित्र इत्यादिसे प्रकट होकर साधकसे वार्तालाप करते हैं और मनोशान्ति वर देते हैं ।

'भक्तमाल' इत्यादि प्रन्थोंमें और पूज्यपाद श्रीराम-कृष्ण परमहस प्रभृति महात्माओंके जीवनमें ऐसी अनेक घटनाओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका सातवाँ अङ्ग

दिव्यदेवसेवन

दिव्यदेव सोलह हैं। धारणाकी सिद्धि होनेपर भक्ति, आचार, प्राणसयम, जपसिद्धि, देवतासान्निध्य, आचार, दिव्यदेवादिमें दैवी जक्तिका आविर्भाव और इष्टदेव-दर्शन दिव्यदेवमें होता है।

मन्त्रयोगका आठवाँ अङ्ग

प्राणक्रिया

प्राणायाम—चित्तवृत्तिसयम, आरोग्य, मनकी एकाग्रता और ध्यानकी सहायताके लिये प्राणायामका विधान है। प्राणायामके साथ करन्यास, अङ्ग-न्यास, मातृकान्यास, ऋष्यादिन्यासका भी विधान मिलता है।

श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें ध्यानयोगके वर्णनमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने श्रीमुखसे १० प्राणायाम प्रातः, १० प्राणायाम मध्याह और १० प्राणायाम सन्ध्याकालमें करनेकी आज्ञा दी है। इससे नाडीकी शुद्धता और नसीरकी नीरोगता सिद्ध होती है।

सहितप्राणायामकी विधि मन्त्रयोगमें सहायक है। सहितप्राणायाम पूरक, कुम्भक, रेचककी मन्त्रके साथ साधना करनेसे होता है।

मन्त्रयोगका नवाँ अङ्ग

मुद्रा

अपने-अपने इष्टदेव और सम्प्रदायके लिये पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है। मुद्रा-प्रदर्शन करनेसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं।

इष्टदेव

मुद्रा

श्रीगम—धनुष, वाण आदि।

श्रीदृष्टि—वेणु, कदम्बफल आदि।

श्रीयिष्णु—शश, चक्र, गदा, पद्म, श्रीयत्तु, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, विल्व, गरुड, नारसिंही, वाराही, हायग्रीवी, धनुष, वाण, परशु, जगन्मोहनिका, कामनामिका।

श्रीगशंदेय—विश्वल, माला, यर, अभय, मृग, खट्टवाङ्ग, वपाल, दमन, वरपादि।

श्रीगणेश—दन्त, पाश, अङ्गुश, विष, परशु, लङ्कुक आदि।
श्रीसूर्य—पद्ममुद्रा।

श्रीदुर्गादेवी—पाश, अङ्गुश, वर, अभय, खट्ट, चर्म, धनुष, शर, मूसल आदि।

इसी प्रकार श्रीलक्ष्मी, अग्निदेव, श्यामादेवी, तारादेवी, त्रिपुरसुन्दरी इत्यादि देव-देवियोंकी पृथक्-पृथक् मुद्राओंका वर्णन है।

मन्त्रयोगका दसवाँ अङ्ग तर्पण

अपने-अपने इष्टदेवका तर्पण करके अन्य देव-देवियों, ऋषि और पितृगणोंका तर्पण करना चाहिये। तर्पणसे इष्टदेव और अन्य देव-देवियोंकी तृती होती है। पृथक्-पृथक् काम्य-कर्मोंमें तर्पणकी सामग्री भी पृथक्-पृथक् है।

मन्त्रयोगका चतुरहवाँ अङ्ग हवन

हवनसे निखिल सिद्धियाँ लाभ होती हैं। नित्य होमसे इष्टदेव प्रसन्न होते हैं और सब देव-देवियोंकी तृती होती है। पहले १६ आहुति मूलमन्त्रसे अपने इष्टदेवके लिये देकर तत्पश्चात् अन्य देव-देवियोंको अपने इष्टदेवके अङ्गीभूत जानकर उनके लिये हवन करना चाहिये।

मन्त्रयोगका चारहवाँ अङ्ग वलि

वलिसे इष्टदेवकी प्रसन्नता और विष्णोंकी शान्ति होती है। आत्मवलिद्वारा अहङ्कारका नाश होकर साधक कृत-कृत्य हो जाता है। यह सर्वश्रेष्ठ है। काम क्रोधादि रिपुओंकी वलि द्वितीयखानीय है। उत्तम फलोंकी वलि भी इष्टदेवको देनी चाहिये। अपने-अपने सम्प्रदायके अनुकूल इष्टदेवको हिंसारहित वलि समर्पण करके अन्य देवों और पितरोंको वलि दे, तत्पश्चात् भूतों, कुत्तों, श्वपचों, पक्षियोंको भी वलि दे अर्थात् उन्हें खानेको दे।

मन्त्रयोगका तेरहवाँ अङ्ग याग

याग दो प्रकारका है—

(१) अन्तर्याग (मानसिक पूजा)

(२) वहिर्याग

वहिर्यागसे अन्तर्याग श्रेष्ठ है।

इष्टदेवकी पूजा करनेके लिये पञ्चोपचार, दशोपचार, पोडगोपचार और एकविश्वाति उपचारका वर्णन

है, जो मानसिक पूजा और वहिपूजा दोनोंमें होता है।
पञ्चोपचार-गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।
दशोपचार-पाद्य, अर्ध्य, स्नान, मधुपर्क, आचमन, गन्ध,
पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य।

षोडशोपचार-आवाहन, पाद्य, अर्ध्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत,
भूषण, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन,
ताम्बूल, आरति, प्रणाम।

एकविंशति उपचार-आवाहन, स्नान, आसन, स्थापन,
पाद्य, अर्ध्य, स्नान, वस्त्र, उपवीत, भूषण,
गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य, आचमन,
ताम्बूल, माल्य, आरति, नमस्कार, यिसुर्जन।

श्रीरामोपासके लिये श्रीअगस्त्यसहिता अध्याय ३३में,
मानसिक पूजाके लिये इकतीस उपचारोंका वर्णन है।
वह अवश्य दर्शनीय है।

एकविंशति उपचार-ध्यान, आवाहन, रक्षित्वासनप्रदान,
सन्निधान, सम्मुखीकरण, प्रार्थना, अर्ध्य,
मधुपर्क, प्रसन्नकरण, आचमन, पञ्चामृत, स्नान,
वस्त्र, यज्ञोपवीत, भूषण, गन्ध, चन्दन,
तुलसी पुष्प, अङ्गपूजा, धूप, दीप, नैवेद्य,
आचमन, फलदान, ताम्बूल, राजोपचार,
नीराजन, स्तुति, हृदयमें आसन, प्रार्थना।

यामका फल-यागकी साधनासे साधको अखण्ड फलकी
प्राप्ति होती है और अन्तमें वह साधक कैवल्य
लाभ करता है।

उपयाग

ब्रह्मयाग और जीवयागको उपयाग कहते हैं।

वेद, स्मृति, पुराणोंका पाठ ब्रह्मयाग, और ब्राह्मण,
अतिथि और समस्त जीवधारियोंके कल्याणके लिये भोजन,
यसन, जल आदि देना जीवयाग है। यह भी साधको
अवश्य करना चाहिये।

उपयागका फल-ब्रह्मयाग और जीवयागसे साधक इस
लोकमें और परलोकमें अनन्त कल्याण
प्राप्त करते हैं।

मन्त्रयोगका चौदहवाँ अङ्ग

जप

जप तीन प्रकारका है—

(१) वाचिक-जो दूसरेको सुनायी दे।

- (२) उपांशु-जो केवल साधकको सुनायी दे।
(३) मानस-जो साधकको भी सुनायी न दे।

वाचिकसे उपांशु (जिहाजप) शतगुण और उपांशुसे
मानसजप शतगुण श्रेष्ठ है। अति शीघ्रता या अधिक
विलम्बसे जप नहीं करना चाहिये। शीघ्रतासे जप करनेसे
धनक्षय, विलम्बसे जप करनेसे रोग होता है। अतएव
मध्यम वृत्तिसे जप करे।

मन्त्रजपसे हृदयकी ग्रन्थि खुल जाती है और समस्त
अवश्यक प्रवृद्ध होते हैं—

जपात्सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

जपके लिये अपने-अपने सम्प्रदाय और इष्टदेवके
अनुकूल मालाका पृथक्-पृथक् वर्णन है।

तुलसीमाला-अक्षय फल देनेवाली, श्रीविष्णुभक्तिको
देनेवाली है।

रुद्राक्षमाला-गिवभाव और शिवलोक देनेवाली है।

कितने तन्त्रशास्त्रोंका मत है कि रुद्राक्षमाला
पञ्च सम्प्रदायके साधकके लिये हितकर है।

तुलसी-माहात्म्य श्रीअगस्त्यसहिता अध्याय ६ में, और
रुद्राक्ष-माहात्म्य रुद्राक्षजात्रालोपनिषद्में विशेषरूपसे
वर्णित है।

मन्त्रयोगका पन्द्रहवाँ अङ्ग //

ध्यान

अपने-अपने हृष्टदेवके रूपको मनसे देखनेको ध्यान।
कहते हैं। ध्यानसे ही वन्ध और ध्यानसे ही मोक्ष होता है।
आत्मा केवल ध्यानसे ही बग हो सकता है, आत्माके बग
करनेका दूसरा उपाय नहीं है।

ध्यानसे समाधिकी प्राप्ति होती है।

मन्त्रयोगका सोलहवाँ अङ्ग

समाधि

मन्त्रसिद्धिके साथ देवतामें मन लय होनेसे जब मन,
मन्त्र और देवताका स्वतन्त्र वोध नहीं रहता, तीनों एक-
दूसरेमें लय हो जाते हैं, तभी ध्याता, ध्यान, ध्येयरूपी
त्रिपुटीका लय हो जाता है। इसी अवस्थामें आनन्दाश्रु,
रोमाञ्च आदि लक्षणोंका विकास होकर, मन लयको प्राप्त
करता है और समाधिका उदय होता है।

समाधि-प्राप्त साधक कृतकृत्य हो जाता है।

मन्त्रयोगके आचार्य—देवर्णि नारद, महर्षि अङ्गिरा, कश्यप, वसिष्ठ,
मन्त्रयोगका लक्ष्य—श्री

मन्त्रयोग

मन्त्र

१	२	३	४
भक्ति	शुद्धि	आसन	पञ्चाङ्गसेवन
गोणी (माधवबाल्की भक्ति)	परा शरीर (सिद्ध अवस्थाकी भक्ति)	मन दैवी सम्पत्तिके अ- स्थासदे	(१) गीता (२) सहस्रनाम (३) स्तव (४) कवच (५) हृष्ट्य- का पाठ प्रति- दिन
दैवी (नववा भक्ति) (१) श्रवण (२) वीर्तन (३) स्मरण (४) पाठसेवन (५) अचंन (६) बन्दन (७) दास्य (८) सम्प्र (९) आत्म- निवेदन	गगात्मिका (स्नानमें) प्रथम अवस्थाकी भक्ति	(स्नानमें) पूर्व उत्तर स्नान ७ मुख बैठकर प्रकारका है पूजा करनेसे (१) मान्त्र (२) भौम (३) आश्रय (४) वायव्य (५) दिव्य (६) वार्ष्ण्य (७) मानस ,	(१) पीपल (२) वरगढ (३) अद्योक (४) विल्व (५) ऊंबला- के नीचे बैठकर पूजा करनेसे
७ गौण रस <u>उदाहरण</u>	७ मुख्यरस <u>उदाहरण</u>		
(१) हास्य-गोपाल वाल्मीकि (२) वीर-भीमभिनामर (३) दशरथ-दशरथ (४) अद्गुन-राजा, अजुन, यशोदा, किंगडूरप देवननेमें (५) भवानद-कसु (६) वीरभन्न-वीरानन्द (७) रोद-राज	(१) दास्य-श्रीहनुमान् जी (२) सुरव्य-अर्जुन, उद्धव (३) वात्सत्य-दशरथ-कौसल्या, नन्द-यशोदा (४) कान्ता-वज्रगोपी (५) आन्मनिवेदन-श्रीनारद (६) गुण-वीर्तन-श्रीद्वास (७) तन्मयासन्कि-श्रीहरि, श्रीहर		
मन्त्रम			शुद्ध रस

, भरद्वाज, रार्ग, शाण्डिल्य, वार्त्माकि, भूगु, वृहत्समिति, चुक्र इत्यादि ।

व्रह्मका साक्षात् दर्शन ।

६ अक्ष

सत्त ज्ञानभूमिका

(लेखक—श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी वैद्य)

सुष्ठि, स्थिति और सहारणक्षिके अधिप्राता, परम सेव्य, ब्रेय, व्येय, परमकारुणिक सद्गुरु परमात्मा श्रीमन्नर-सिंहाचार्जीको इस शुभ चिन्तनके प्रारम्भमें सप्रेम प्रणति समर्पण करता हूँ।

प्राचीन कालमें अनेकों महर्षियोंने अध्यात्मवलको प्राप्त कर, परम प्राप्तव्य वस्तुको लाभकर जिस सर्वोत्कृष्ट स्थितिके भोक्ता बनने का सौभाग्य प्राप्त किया था, उस स्थितिको पानेके लिये प्रयत्नशील होनेकी जिसके हृदयमें उत्कट इच्छा जागृत हुई है उसी मनुष्यमें मनुष्यत्व है। अन्यथा केवल मनुष्य-देहधारण करनेसे ही वास्तविक मनुष्यत्व नहीं आता। परन्तु परम दयामय देवेशने मनुष्यको जो-न्जो उत्तम साधन प्रदान किये हैं उन साधनोंकी सर्वोत्तम शुद्धि करते हुए मनुष्यत्वकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ गुणयुक्त देवत्व और उससे भी उच्चतम ईश्वर्यको प्राप्त करनेके लिये प्रयत्न करनेवाला वीर साधक ही मनुष्य नाम पानेके योग्य है।

इस जगत्का प्रत्येक अणु—सजीव या निर्जीव प्रतिक्षण उत्तरगेत्तर शुद्ध होकर विकासमार्गमें गतिशील हो रहा है। इसीके अनुसार मानव प्राणीके भीतर भी अन्तिम सर्वोत्कृष्ट स्थिति—मुक्तिस्थिति—प्राप्त करनेकी अभिलाषा जात या अज्ञातभावसे रहती ही है। श्रुति भगवती कहती है—‘ऋग्ने ज्ञानान्न मुक्तिः’। इससे यह सिद्ध है कि ज्ञान प्राप्त हुए विना मोक्षाभिलापीकी मुक्त होनेकी आशा निर्थक है। वह ज्ञान क्या है, यह जानना चाहिये। इस जगत्में दीखनेवाली प्रत्येक लौकिक विद्या दुःखोंकी आत्मन्तिकी निवृत्ति और मुख्यकी परावधिकी प्राप्ति करवानेमें सर्वथा असर्वय है। यह वात शुद्धिमानोंके लिये सुस्पष्ट है। तब वह ऐसी कौन-सी विद्या है जिसके द्वारा मनुष्य कर्तव्य, ज्ञातव्य और प्राप्तव्यकी परमोत्तम सिद्धिको साधकर कृतकृत्य हो सकता है? इन विश्वमें आविष्कृत तथा अन्वेषित समस्त विद्याओंमें केवल व्रजविद्या ही सर्वोपरि है, और उसीकी सहायतासे मनुष्य मनुष्यत्वसे देवत्व और देवत्वसे आगे जाकर ईश्वर्यमें स्थित हो सकता है।

यथार्थत उन्नतिपर्यम श्रीग्र अप्रसर होनेकी इच्छा करनेवाले व्यक्तिको अपने स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण—इस देहचतुष्य, तथा मन, चित्त, बुद्धि और

अहकार इस अन्तःकरण-चतुष्यको शुद्ध करना परमावश्यक है। शुद्धि होनेपर ही सत्य वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो सकता है और सत्य ज्ञान होनेपर ही कर्तव्यकी परावधि प्राप्त होती है। जबतक यह स्थिति प्राप्त नहीं होती तबतक वार-वार इस दृश्यप्रपञ्चमें प्रवेशकर नाना प्रकारके अनुभव करने पड़ते हैं अर्थात् तबतक जन्म-मरणके वन्धन-से मुक्ति नहीं मिलती। जो महापुरुष मुमुक्षुपदमें स्थित हैं और जिनके अन्दर तीव्र मोक्ष-अभिलाषका उद्धव हुआ है, उनके लिये परम पूज्य महर्षियोंके पवित्र चरण-चिह्नोंका अनुसरण करना और उनकी आज्ञाके अनुसार कर्तव्य कर्मोंको सम्पन्न करनेके लिये कठिवद्ध होना बहुत ही आवश्यक है।

मोक्षप्राप्तिके उपयोगी दो मार्ग हैं—योगविद्या और वेदान्तशास्त्र। श्रीयोगवासिष्ठ महारामायणमें स्पष्ट लिखा है—

द्वौ क्रमौ चित्तनादस्य योगो ज्ञानं च राघव ।

योगस्तद्युत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥

असाध्यः कस्यचिद्योगो कस्यचिद् ज्ञाननिश्चयः ।

प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद् परमेश्वरः ॥

करोड़ों वर्षोंमें तय होनेयोग्य लम्बा रास्ता किस प्रकार सहज हो सकता है यह वतलाना योगका कार्य है। जिनको मुक्त होनेकी तीव्र इच्छा है उनको नजदीकका मार्ग बताना योगका उद्देश्य है। जिस मार्गसे चलनेपर बहुत ही थोड़े समयमें परमपद प्राप्त होता है अर्थात् सामान्य मनुष्यको जिस वस्तुकी प्राप्तिमें करोड़ों वर्ष लगाने पड़ते हैं उस वस्तुकी प्राप्ति एक ही जन्ममें सिद्ध महात्मा कर सकते हैं, वही मार्ग योगमार्ग है। आत्मतत्त्वकी अनन्त अपार अक्षियोंका अद्वृट धारावद्ध प्रवाह वहा देनेका प्रधान मार्ग ही योगप्रणाली है। परम तत्वके चैतन्यसागरमें से अनन्त सामर्थ्य प्राप्त करनेकी कला ही योगविद्या है। इस कलाको हस्तगत करनेपर इस विश्वमें कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता, और इसी कारणसे योगतत्त्वविद् महापुरुष कहते हैं कि योगविद्या ही सब विद्याओंकी परम अवधि है।

तत्त्वनिश्चय—तत्त्वका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके लिये मनुष्यको श्रीसद्गुरुका आश्रय लेना अनिवार्य है। क्योंकि

वेदान्तशास्त्रके सिद्धान्तको सत्यरूपमे केवल सद्गुरु ही समझा सकते हैं, उनकी सहायताके बिना केवल मिथ्या भ्रान्तिमें पड़कर मनुष्य अवनतिको प्राप्त हो सकता है। इसी कारण दीर्घिर्दर्जी तत्त्वज्ञानसम्बन्ध शास्त्रकारोंने भी आज्ञा दी है—

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् ।—(मुण्डकोपनिषद्)

इस सूत्रके समर्थनमे परमपूज्य आचार्यचूडामणि श्रीगङ्गरभगवान् भी कहते हैं—

गुरुमेवाचार्यं शमद्मादिसम्पद्मभिगच्छेत् । शास्त्रज्ञोऽपि स्वातन्त्र्येण व्यहज्ञानान्वेषणं न कुर्यात् ।

‘शमद्मादिसम्पद्म गुरुके समीप जाना चाहिये। शास्त्रका ज्ञान हानेपर भी व्रहज्ञानकी मनमानी खोज नहीं करनी चाहिये। लौकिक विद्याकी सिद्धिके लिये ही जब गुच्छकी आवश्यकता पड़ती है तब व्रहविद्याकी सिद्धिके लिये तो सद्गुरुकी निरतिग्य आवश्यकता है, यह सुस्पष्ट है। क्योंकि जिसको जिस वस्तुका अधिकार प्राप्त होता है, उसीके लिये वह प्राप्त हुआ पदार्थ हितकारक होता है। अनधिकारी वेदान्तज्ञानके मार्मिक रहस्यपूर्ण हेतुको नहीं समझ सकता, इसीलिये व्रहज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी आवश्यकता हमारे सारे शास्त्र मुक्तकण्ठसे स्वीकार करते हैं।

जब वेदान्तप्रदेशमें विचरण करनेका समय आता है तब व्रहज्ञान, तत्त्वज्ञान आदि शब्दोंसे ज्ञानको समझाना सहज होता है। ज्ञान और उस ज्ञानसे विभूषित महापुरुषोंकी अन्तर्व्याप्ति स्थितिके स्वरूपको समझनेमें सरलता हो, इसीलिये ज्ञानकी सात भूमिकाओंका वर्णन किया गया है।

इस विश्वमें सातका अङ्ग वहे ही महत्वका है। Alchemy ने कहा है कि ‘सातकी सख्या वड़ी ही चमत्कारिक है।’ हिन्दू लोग इस सख्याके द्वारा अपथ खाते हैं। सगीतविद्यामें भी स्वरसतककी व्यवस्था है। चतुर्तिःशास्त्र और आयुर्वेद आदिमें भी सप्ताङ्कका महत्व विराजमान है। पृथ्वीकी धातुएँ सात हैं, उपधातु भी सात हैं, मनुष्यदेहमें भी सात धातु हैं, और सात उपधातु है। चर्मके परत भी सात हैं, अग्निकी कलाएँ भी सात हैं, और उसमे रहनेवाले आगय भी सात हैं। सप्ताहके दिन भी सात हैं, जगत् की लौकिक शिक्षाकी पद्धतियाँ भी सात हैं और अज्ञानकी भूमिकाएँ भी सात हैं। इसी प्रकार ज्ञानकी भी सात भूमिकाएँ हैं। जैसे जगत्में चौथी नीतिसे ही महत्वका यथार्थ प्रारम्भ होता है उसी प्रकार इनमें चौथी भूमिकामें ही ज्ञानकी यथार्थ उत्पत्ति होती है। इस प्रकार ‘यथा पिण्डे तथा व्रहाण्डे’ इस सूत्रके अनुसार वेदान्तविज्ञान सूक्त ओत्प्रोत है। वे सात भूमिकाएँ ये हैं—

भूमयः सप्त तद्रस्युज्ञानस्योक्ता महर्षिभिः ।
शुभेच्छा ननु तत्राद्या ज्ञानभूमिः प्रकीर्तिता ।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा ॥
सद्वापत्तिश्रतुर्थी स्याद्रसंसक्तिश्च पञ्चमी ।
पदार्थाभावनी पष्ठो सप्तमी चाथ तुर्यगा ॥

(वेदान्तसिद्धान्तादर्श १९०—१९२)

महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाएँ कही हैं—पहली शुभेच्छा, दूसरी विचारणा, तीसरी तनुमानसा, चौथी सत्त्वापत्ति, पाँचवीं असंसक्ति, छठी पदार्थाभावनी और सातवीं तुर्यगा ।

१-शुभेच्छा-नित्यानित्यवस्तुविवेकादिपुरःसरा फल-पर्यवसायिनी मोक्षेच्छा शुभेच्छा ।

‘नित्यानित्यवस्तुविवेक-वैराग्यादिके द्वारा सिद्ध हुई फलमें पर्यवसित होनेवाली मोक्षकी इच्छा अर्थात् विविदिधा, मुमुक्षुता, मोक्षके लिये आत्मर इच्छा ही शुभेच्छा है।’

२-विचारणा-गुरुमुपसूत्य वेदान्तवाक्यविचारात्मक-श्रवणमननात्मिका वृत्तिः सुविचारणा ।

‘श्रीसद्गुरुके समीप वेदान्तवाक्यके श्रवण-मनन करनेवाली जो अन्तःकरणकी वृत्ति है वह सुविचारणा कहलाती है।’

३-तनुमानसा-निदिध्यासनाभ्यासेन मनस पृकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यता तनुमानसा ।

‘निदिध्यासन (ध्यान और उपासनाके अभ्यास) से मानसिक एकाग्रता प्राप्त होती है, उसके द्वारा जो सूक्ष्म वस्तुके ग्रहण करनेकी सामर्थ्य (योग्यता) प्राप्त होती है उसे तनुमानसा कहते हैं।’

ये तीन भूमिकाएँ जाग्रत् भूमिकाएँ कहलाती हैं। क्योंकि इनमें जीव और व्रहका भेद स्पष्ट जात होता है। इनमें स्थित व्यक्ति साधक माना जाता है, ज्ञानी नहीं। क्योंकि—

एतसिद्धान्तवस्थाप्रयत्ने ज्ञानोत्पादनयोग्यतामात्रं संपद्यते न च ज्ञानमुख्यते ।

इन तीनों अवस्थाओंमें तत्त्वज्ञानके प्राप्तिकी योग्यता प्राप्त होती है, व्रहज्ञान नहीं प्राप्त होता; अर्थात् इन तीन भूमिकाओंमें विचरता हुआ पुरुष त्रिसमें अभेद भावको प्राप्त नहीं होता। परन्तु ज्ञानकी प्राप्तिके लिये इनकी पहले अत्यन्त आवश्यकता होनेके कारण इनकी गणना अज्ञानकी भूमिकामें न रोकर ज्ञानकी भूमिकामें ही होती है।

ज्ञानभूमिकात्वं तु ज्ञानेतरकर्माद्यनधिकारित्वे सति ज्ञानस्यैवाधिकारित्वाद् ।

इन तीन भूमिकाओंमें स्थित पुरुष ज्ञानसे इतर कर्मादिका अधिकारी नहीं होता, प्रत्युत केवल ज्ञान—तत्त्वज्ञानका ही अधिकारी होता है।

४—सत्त्वापत्ति—निर्विकल्पव्रह्मात्मैव्यसाक्षात्कारः

सत्त्वापत्तिः ।

संशयविपर्ययरहित व्रह्म और आत्माके तादात्म्य अर्थात् ब्रह्मस्वरूपैकात्मत्वका अपरोक्ष अनुभव ही सत्त्वापत्ति नामकी चतुर्थ भूमिका है। यह सिद्धायस्था है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषको 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'का वास्तविक अनुभव ही जाता है। यद्यपि इस दशाको प्राप्त पुरुषको जगत्‌का भान होता है और शरीर तथा अन्तःकरणद्वारा सभी कियाएँ सावधानीके साथ होती हैं, तथापि मायावश जीव जिस जगत्‌को सत्यस्वरूप देखता है, उस जगत्‌के मिथ्यात्वका उसे यथार्थ अनुभव हो गया है। यह भूमिका स्वप्न कहलाती है।

५—अससक्ति—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्थासंसक्तिः ।

सविकल्प समाधिके अभ्यासके द्वारा मानसिक वृत्तियोंके निरोधसे जो निर्विकल्पक समाधिकी अवस्था होती है, वही अससक्ति कहलाती है। इसे सुपुत्रिभूमिका भी कहते हैं, ज्योंकि इस भूमिकामें सुपुत्रि-अवस्थाके समान ब्रह्मसे अभेदभाव प्राप्त हो जाता है। यह जगत्प्रपञ्चको भूला रहता है, परन्तु समयपर स्वय ही उठता है और किसीके पूछनेपर उपदेश करता है तथा देहनिर्वाहकी किया भी करता है।

अस्यामवस्थाया योगी स्वयमेव व्युत्तिष्ठते ।

६—पदार्थभावनी—असंसक्तिभूमिकाभ्यासपाटवाच्चिरं प्रपञ्चापरिस्फूर्च्यवस्था पदार्थभावनी ।

अससक्ति नामक पॉचर्वी भूमिकाके परिपाकसे प्राप्त पदुत्तके कारण दीर्घकालतक प्रपञ्चके स्फुरणका अभाव पदार्थभावनी भूमिका कहलाती है। पॉचर्वी भूमिकामें विव्वप्रपञ्चका विस्मरण अल्पकालतक ही रहता है और छठी भूमिकामें यह स्थित दीर्घकालपर्यन्त रह सकती है। इन दोनों भूमिकाओंमें केवल समयका ही भेद होता है। इस भूमिकाको गाढ़ सुपुत्रिके नामसे पुकारते हैं। इस भूमिकामें स्थित महापुरुष देहनिर्वाहादि किया भी स्वतः व्युत्थित दशामें आकर नहीं करता, परन्तु—

अस्यामवस्थाया परम्पर्यक्तेन योगी व्युत्तिष्ठते ।

अर्थात् अन्यके द्वारा व्युत्थान पाकर वह किया करता है। दूसरा कोई मुहमें प्राप्त देता है तो दॉत और जीमसे खानेकी किया हो जाती है। इत्यादि ।

७—तुरीया—तुर्यगा—ब्रह्मव्यानामवस्थस्य पुनः पदार्थान्तरापरिस्फूर्तिस्तुरीया ।

ब्रह्मचिन्तनमें निमग्न इस महापुरुषको पुनः किसी भी समय किसी भी अन्य पदार्थकी परिस्फूर्तिका न होना, यही ज्ञानकी सप्तम भूमिका तुरीया कहलाती है। इस स्थितिको प्राप्त महात्मा स्वेच्छापूर्वक या परेच्छापूर्वक व्युत्थानको प्राप्त ही नहीं होता, केवल एक ही स्थिति—ब्रह्मीभूत स्थितिमें ही सदा रमण करता है।

अस्यामवस्थाया योगी न स्वतो नापि परकीयप्रयत्नेन व्युत्तिष्ठते केवल व्रह्मीभूत एव भवति ।

इस प्रकार ज्ञानकी सात भूमिकाओंमें प्रथम तीन भूमिकाएँ ज्ञानकी प्राप्तिके लिये योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त बनायी गयी हैं। चौथीसे सातवीं भूमिकातक ज्ञानकी दशा है और यह उत्तरोत्तर उन्नत दशाकी भूमिका है। चतुर्थ भूमिकामें ही तत्त्वज्ञानका यथार्थ प्रादुर्भाव हो जाता है और वही तत्त्वज्ञान अन्तिम चारों भूमिकाओंमें स्थित रहता है। व्युत्थान दशाके तारतम्यसे इनमें भेद माना गया है।

शास्त्र कहता है—'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।' अतः ब्रह्मके ज्ञानेवालोंको ज्ञानी, तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानीकी सजासे शास्त्रोने स्थान-स्थानपर उल्लेख किया है—

एताः सत्त्वापत्त्याद्याश्रतस्त्रो भूमिका एव ब्रह्मविद्-ब्रह्मविद्वरब्रह्मविद्वरीयोब्रह्मविद्वरिष्टेत्यैर्नाभिर्यथाक्रमेण पूर्वं व्याख्याताः ।

'इस प्रकार सत्त्वापत्ति, अससक्ति, पदार्थभावनी और तुरीया—इन चार भूमिकाओंमें स्थित महात्मा क्रमशः ब्रह्मविद्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ट कहलाता है।'

योगा+यासद्वारा तपोव्रलको बढ़ाकर उसके प्रभावके द्वारा विश्वको वशमें करनेवाले अनेकों महापुरुषोंका आविर्भाव हो, इस शुभ भावनाके साथ यह ज्ञानभूमिकाओंका परिचय समाप्त किया जाता है।



भौगमें योग

(लेखक—काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुवेदोभयान्वार्य)

योग-विषय अनन्त तथा असीम है। सभी आचार्योंने सकी पृथक्-पृथक् परिभाषाएँ की हैं। योग-जैसे गहन और दुरुह विषयमें पूर्वाचार्योंके अनेक मत होना भौमाधिक है। जो विषय गूढ़ और जटिल होता है उसका निक प्रकारसे समीक्षण किया जाना भी एक प्रकारसे उसके महत्वका सूचक है। ‘योग’ शब्द प्रसङ्गाधीन अनेक शब्दोंमें पाया जाता है। अतः उसका सांकेतिक अर्थ करना प्रचित नहीं। कोई योगका अर्थ समाधि करता है तो किसीके मतमें अष्टाङ्गयोगद्वारा चिन्तवृत्तिका निरोध करना योग है। कुछ लोग योगका अर्थ सहकार करते हैं तो किसीके मतमें ‘योग’ नाम दो भावोंके सयोग या मिलापका। गवेषणापूर्वक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि योगका अर्थ ‘त्याग’ करना ही उचित है। वह चाहे किसी भिन्नते—अभीष्टके मिलापके लिये हो या स्वतन्त्र हो केन्तु योगका अर्थ ‘त्याग’ करना युक्ति एवं हेतुपूर्ण है। शेषकमें भी योग्यका अर्थ त्याग ही देखा जाता है। जैसे अमुक मनुष्य योगी हो गया, अमुकने तो मानो सासारसु गेग ही ले लिया हो, ऐसा लोग कहते हैं। सन्यासयोग, गुरुखयोग, निष्काम कर्मयोग आदि शब्दोंपरसे स्थिर होता है कि योग शब्द त्यागमात्रमें पर्याप्तित है। क्योंकि एकके त्याग विना दूसरेका मिलन नहीं होगा। वस्तुतः योग है क्या पदार्थ ? उसे कैसे प्राप्त किया जा सकता है और उसके लिये क्या करना होगा ? यह एक जटिल और गम्भीर प्रश्न है। इस विषयमें विद्वानोंके अनन्त मतभेद पाये जाते हैं—जैसे अष्टाङ्गयोग, हठयोग, राजयोग, भक्तियोग, प्रेमयोग, ध्यानयोग, सन्यासयोग, सांख्ययोग समाधियोग, कियायोग इत्यादि गतगः नाम लिये जा सकते हैं। परन्तु ध्येय सवका एक है। वह है ‘ऐहिक पदार्थोंके प्रति अनासक्तिपूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कार किंवा तत्प्राप्ति !’ इसपर किसीका वैमत्य नहीं। अत. सिद्ध होता है कि योगाभिन्नते परीक्षाका परीक्ष्य विषय अनासक्ति और कल ब्रह्मप्राप्ति है। अनासक्तिको वासनात्याग भी कहते हैं। ऐहिक वासनाका सम्यक् लय करना योगका काम है। वासना किंवा आसक्ति-त्याग दो प्रकारसे किया जा सकता है। किसी प्रेय पदार्थका स्वरूपसे त्याग और कामना और वासनात्याग। इस विश्वको विचित्रता और

व्यापकताको देखते हुए यथार्थ त्याग कामना और वासनाद्वारा ही हो सकता है। यदि हठयोगद्वारा जड़लमें जाकर या अन्य क्रियाओद्वारा ससारका स्वरूपसे त्याग किया भी जाय तो पूर्ण त्याग नहीं बन सकता। किसी-न-किसी रूपमें ससारका अस्तित्व बना ही रहेगा। कदाचित् वाह्य जगत्का त्याग किया भी तो आन्तरिक जगत्का त्याग न होगा। पञ्चभौतिक शरीरद्वारा ही पञ्चभूतोंका त्याग नहीं हो सकता। शरीरके रहते हुए शरीरका स्वरूप-त्याग नहीं बन सकता, अतः वासनात्याग-को ही यथार्थ मानना चाहिये।

वासनात्यागके लिये जड़लमें जानेकी या अमुक किया करनेकी जहरत नहीं, उसके लिये तो ब्रह्मज्ञ गुरुद्वारा आत्म-परमात्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान प्राप्तकर अन्तःकरण-वृत्तवृच्छन्न वासनाका त्याग करना होगा। संघर्षमय जीवनकी चञ्चलताको नष्टकर समताके साम्राज्यमें विचरना होगा। ‘समत्व योग उच्यते’ का पालन करना होगा; ‘सर्वमनास्य खलु’ की धारणा दृढ़ करनी होगी, ऐहिक ऐश्वर्योंको पाकर भी पञ्चपलाशवत् निर्लिप रहना होगा, जीते हुए मुरदा बनना पड़ेगा, सच्चा जनक विदेह बनना होगा; तभी भोगमें योगका आनन्द प्राप्त होगा, गृहमें जड़लसे अधिक मङ्गलमय जीवन व्यतीत होगा। इसीका नाम योग है। हठयोगद्वारा किसी वृत्तिको समूल नष्ट करना या किसी वृत्तिविशेषकी उत्पत्तिके पूर्व ही उसका नष्ट कर देना वास्तविक योग नहीं। दमनका नाम यथार्थ त्याग नहीं, वल्कि वह त्यागका उपहासमात्र है। त्याग-शक्तिकी दुर्वलताका परिचय देना तो एक प्रकारसे योग-की अवज्ञा करनेके वरावर है।

किसी प्रकार प्रश्न-पत्रोंको प्राप्त कर लेना, किसीसे पूछ लेना अथवा आत्मध्यात्मका भय दिखाकर परीक्षा पाप कर लेनेको ‘उत्तीर्ण’ होना नहीं कह सकते। इसी प्रकार जन्मसे ही दूर रहकर हठयोगद्वारा वृत्तिवैयोग्यका दमनकर वासनालय या आसन्नित्याग प्राप्त करना योगीका काम नहीं। योगी तो वही है जो विश्ववैभवसरोवरमें खड़ा होकर भी अपनेको सूखा रख सके, उसकी तरङ्गोंका रग न चढ़ने दे, विषयहृदयमें भी निर्द्वन्द्व रहे। निर्वात

दीपकी भाँति चित्तको निश्चल और मनको एकाग्र रखें। विषयरसको नीरस बना दे। किसीने कहा भी है—

इंधन विहूनी आग रखिवेको जतन कहा,
इंधनमें आग रखे वाहिको जतन है।
इन्द्री गलित करै, कहै कौन साधपनो,
इन्द्री वलित वैधे सोई साधपन है॥
'अक्षर अनन्य' विन विषय पाए त्याग कहाँ,
पाय करै त्याग सोई वैराग मन है।
घर छोड बन जोग मॉडनको निहोरो कहा,
घरहीमें जोग मॉडे सोई गुरुजन है॥

वास्तवमें योगविषयक 'अक्षर अनन्य' कविके उपर्युक्त पद्यका भाव अक्षरशः सत्य है। जब सम्भावना ही नहीं तब त्याग किसका ? बलात् इन्द्रियोंका दमन करना तो योगकी विडम्बना है। तृणके अभावमें अभिका रखना, 'अभिकी यथार्थ रक्षा' नहीं। तृणसमूहके होते हुए अभिको सुरक्षित रखनेका नाम ही रक्षा है। कमल जलमें वास करता है किन्तु जलमें लिस नहीं। जो गृहमें रहकर भी गृहमें लिस नहीं, उसमें आसक्त नहीं, वही सच्चा योगी है। किसीने सत्य कहा है—

पंकज ज्यों जलमैहि बसै, तो पै भिन्न रहै, जल परस न लावे।
हस बसै सर मॉहि सदा, पै छीर मैहै नीरहि विलगावे।—
ब्यूह समूह बसै जिमि ध्यानी, पै ध्यान धैरै, नहिं चित्त डिगावे।
भोग न वाधि सकै तिमि योगै जो भोगमें योग समाधि लगावे॥

शुद्धान्तःकरण और सात्त्विक अन्नभोगीके चित्तमें कभी विक्षेप उत्पन्न नहीं होता तब वाधा कैसी ? वह चाहे जिस आश्रममें वसे, किसीसे कम नहीं। चित्तवृत्तिके निरोधका नाम समाधि है, वह चाहे किसी प्रकार क्यों न प्राप्त हो। मानसिक वेगोंके शान्त होते ही 'नोद्वेजति न च द्वेष्टि योगी विगतकल्पः' हुआ नहीं कि वही सच्चा योगी हो गया।

यदि हमें भोगमें योग साधना है तो सबसे प्रथम आचारविचारोंको शुद्ध और पौरीमत करना होगा। तभी

अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न इस प्रपञ्चमय प्राणीको योगी बना सकेंगे। जहाँतक चित्तकी चञ्चलता और विक्षेपका नाश नहीं वहाँतक योग (त्याग) प्राप्त नहीं होता और त्याग, विना ब्रह्मसाक्षात्कार कैसा ? अतः स्थिर धारणा प्राप्त करनी होगी। स्थिरता तो समतामें है। तराजूके किसी पलड़ेमें यदि बोझ कम-ज्यादा होगा तो स्थिरता नहीं प्राप्त हो सकती। बस, यही दशा योगीकी है। मनकी तरङ्गोंका रग किसी तरफ चढ़ जाने दिया या उसकी परवान की तो फिर स्थिरता कहाँ ? चित्तवृत्तिमें विक्षेपका प्रवेश हुआ नहीं कि बस, कियाकराया सब धूल ! अतः यदि भोगमें योग प्राप्त करना है तो चित्तमें विक्षेपका प्रवेश मत होने दो, मनके विकारोंको नष्ट करो, कल्पनाको मिटा दो, उदासीनताका सेवन सीखो, जङ्गलमें नहीं किन्तु घरमें ही सच्चे जनक विदेह बनो। कौन कहता है कि भोगमें योग नहीं हो सकता ? निर्लिपं हृते ही सब ऋद्धि-सिद्धि आपकी दासी हो जायेगी। तृष्णा आपके आगे हाथ जोड़े खड़ी रहेगी। सन्तोष आपका मित्र होगा, फिर भय किसका ? कल्पना-कालका अभाव हुआ कि आप अजर-अमर योगी हो गये—'जलमें न्हाईये, कोरे रहिये, अन्तरमें कीजे बास'। अब शेष क्या रहा ? विशुद्धान्तःकरण मनुष्यको कुछ भी दुर्लभ नहीं—विक्षेपकल्पनातीतः समचित्तो विचारधीः। भोगे योगं न जानाति स योगी किं करिष्यति ॥

कल्पना, काल एवं विक्षेपस्त्रप शत्रुको जीतनेवाला, शान्तिके साम्राज्यमें स्थिरचित्त हो निश्चिन्त विचरनेवाला यदि भोगमें योग नहीं साध सकता तो वह योगी होकर ही क्या करेगा ? अरे, बन्धन तो वासनामें है, जब वासनालय हो गया, तब जाग्रदवस्था होते कितनी देर लगती है। और वासनारहित योगी सदा ही जीवन्मुक्त है, उसे भोगबन्धन कैसे हो सकता है !

वासनालिङ्गसम्बद्धो जीवः संस्तिहेतुकः ।
वासनालिङ्गनिर्लिपो योगी जाग्रदवस्थकः ॥
शान्तिः शान्तिः शान्तिः

क्षेत्रोंका स्वरूप और निवृत्ति

(लेखक—सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार)

अविद्यासितारागद्वेषभिनिवेशः क्षेत्रः ।
(पातञ्जल योगदर्शन, साधनपाद शू० ३)

अविद्या, असिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, इन पाँचोंकी क्षेत्र-सत्ता है। इन पाँचोंमें असिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश इन चारोंका मूल कारण भी अविद्या ही है—असिता आदि चारों क्षेत्र अविद्याके कारण ही उत्पन्न होते हैं और अविद्याके नष्ट होनेपर उनकी निवृत्ति है।

(१) अविद्या—अविद्याका अर्थ है विषय ज्ञान अथवा मिथ्या ज्ञान। अर्थात् अनित्यमें नित्यकी, अशुचिमें शुचिकी, दुःखमें सुखकी और अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति होना।

(अ) अनित्यमें नित्यकी^१ प्रतीति—अर्थात् अनित्य वस्तुको नित्य समझ लेना। स्वर्गादि लोक और उनके दिव्य भोगविलास, उनमें विहार करनेवाले देवता एव अपने पुण्यकर्मोंके फलसे स्वर्गीय सुखोपभोग प्राप्त करनेवाले व्यक्ति, सभी अनित्य हैं। क्योंकि इन्द्रादि देवताओंकी भी अवधि निश्चित है और पुण्यकर्मसे स्वर्गादि उपलब्ध करनेवाले पुण्यात्माओंकी भी। उनका वह वैभव नित्य नहीं, पुण्य क्षीण होनेपर वे भी स्वर्गसे गिरा दिये जाते हैं। भगवान् ने उद्यजीके प्रति कहा है—

तावद्यमोदते स्वर्गे यावत्पुण्यं समाप्यते ।

क्षीणपुण्यः पतल्यर्द्धर्गनिच्छन् कालचालितः ॥

(श्रीमद्भागवत ११।१०।२६)

अतः स्वर्गलोकादिके अनित्य भोगोंको सर्वदा स्थिर समझकर उनके लिये अभिलाष करना प्रथम अविद्या है।

(आ) अशुचिमें शुचिकी प्रतीति—अर्थात् अपवित्र वस्तुको पवित्र समझना। मनुष्यशरीरकी अत्यन्त अपवित्रता प्रत्यक्ष सिद्ध है—

स्थानाद् वीजाद्विष्टभाजित्यन्दाजिधनादपि ।

कायमाधेयदौचत्वात्परिष्ठता शशुचिं विदु ॥

(पातञ्जलदर्शन-भाष्य २।५)

अर्थात् मलमूत्रादि अत्यन्त दुर्गन्धित पदार्थोंसे लिप्त माताका उठर तो इस शरीरका उत्पत्तिस्थान है। माता और पिताका अत्यन्त मुर्ख और धीर्घ इस शरीरका

उपादान कारण है। तथा जिससे यह शरीर धारण किया जाता है—जो शरीरका उपष्टम् (आश्रय) है यह रस भी खाये-पीये हुए अनजलादिके परिपाकसे उत्पन्न होनेवाले रुधिर आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थोंसे बनता है। एवं इस शरीरसे मल-मूत्र, प्रस्वेद आदि अत्यन्त अपवित्र पदार्थ तो सर्वदा ही झरते रहते हैं। केवल इतना ही नहीं, जिस शरीरको चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित और वस्त्रालङ्घारोंसे विमूर्खित किया जाता है वही शरीर प्राण-वियोग होनेपर अस्पृश्य हो जाता है। और शूकर-कूकर आदि मांसभक्षी पशुपतियोंका भक्ष्य बन जाता है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

वासोविलेपनैर्यानि लालितानि पुनः पुनः ।

तान्यज्ञान्यङ्ग लुण्ठन्ति क्रज्यादाः सर्वदैहिनाम् ॥

मेरुशृङ्गतटोङ्गसिंगाङ्गजलरयोपमा ।

इष्टा यस्मिन्स्तने सुक्लाहारस्योङ्गासशालिता ॥

श्मशानेषु दिग्नन्तेषु स एव ललनास्तनः ।

श्वभिरास्ताद्यते काले लघुपिण्ड हवान्यसः ॥

(योगवासिष्ठ वैराग्य प्र० २१।४—६)

‘सुन्दर वस्त्र और अनेक प्रकारके सुगन्धित द्रव्योंसे शोभित किये जानेवाले देहधारियोंके अङ्गोंको मांसाहारी जीव नोच-नोचकर खा जाते हैं। एवं मोतियोंकी मालासे विमूर्खित लीके जो स्तन निर्मल गङ्गाजलसे सुगोभित मेरुशृङ्गके तुल्य आहादक प्रतीत होते हैं उन्हीं स्तनोंको कालान्तरमें श्मशानभूमिमें या अन्यत्र श्वान इस प्रकार आस्वादन करते हैं जैसे चावलके छोटे-से पिण्डको।’

इसके अतिरिक्त यदि मृत शरीरको तत्काल दग्ध न किया जाय तो सुडकर कीड़े पड़ जानेपर शूकर और श्वान आदि भी उससे घृणा करने लग जाते हैं। मनुष्य-शरीर ऐसा वीभत्स और घृणास्पद होनेपर भी किसी लीको देखकर यह समझना कि यह वही ही सुन्दरी है, मानो इसकी रचना विद्याताने अमृतके अवयवोंसे की है, या यह चन्द्र-मण्डलका भेदन करके पृथ्वीपर आ गयी है, निरी मूर्खता है। इस प्रकार छीमें कामान्ध होकर आसक होनेवाले व्यक्तियों-में और मलमत्रमें विद्या करनेयाले कीड़ोंमें क्या मेद हो | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

सकता है ? उर्वरोमें आसक्त होकर पश्चात्ताप करते हुए राजा ऐलने कहा है—

तस्मिन् कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विप्रजते ।

अहो सुभद्रं सुनसं सुसितं च मुखं स्थियः ॥

ध्वङ्गमांसरुधिरस्नायुमेदोमजास्थिसंहतौ ।

विष्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २६ । २०-२१)

“उस अपवित्र और तुच्छ गरीरमें ‘अहो इस लीका कैसा मनोहर सुख है, इसकी नासिका कैसी सम और सुन्दर है, इसकी मुस्कान कैसी मनोहारिणी है—ऐसी भावना करके मनुष्य आसक्त हो जाता है । यह कैसा मोह है ? त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेद, मज्जा और अस्थियोंके समूहरूप इस देहमें आसक्त पुरुषोंमें और अति अपवित्र मल-मूत्रमें किलविलानेवाले कीड़ोंमें क्या अन्तर है ?”

अतएव एवभूत द्वृणास्पद लीके गरीरको पवित्र समझना केवल मिथ्या जान है । लीमें आसक्त होना साधारण होश नहीं, किन्तु सर्वनाशका कारण भी है । श्रीदत्तात्रेयजीने राजा यदुसे कहा है—

योपिद्विरप्याभरणाम्बरादि-

द्रन्येषु मायारचितेषु मूढः ।

प्रलोभितात्मा हृषभोगघुङ्घया

पतञ्जवज्ञश्यति नष्टद्विः ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । ८ । ८)

‘लियोंके वस्त्रालङ्घारुके सौन्दर्यपर प्रलुब्ध होकर कामान्ध मूढ पुरुष उस पतञ्जली की भौति नष्ट हो जाता है जो दीपकके रूपपर मुग्ध होकर उसपर गिरकर नष्ट हो जाता है ।’

इसी प्रकार यजादिमें की हुई पापरूप हिंसाको पुण्यकर्म समझना और अनेक अनर्थकर्मोंद्वारा अर्जन-पालन किये जानेवाले धनको पवित्र समझना भी मिथ्या जान है । इसीसे उद्धवजीके प्रति भगवान्ने आज्ञा की है—

स्तेयं हिंसानृतं दर्श कामं क्रोधं स्यो मद् ।

मेदो वैरमविश्वासं स्पर्धा व्यसनानि च ॥

एते पञ्चदशानर्था श्यर्यमूला मता नृणाम् ।

तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थं दूरतस्त्यजेत् ॥

(श्रीमद्भागवत ११ । २३ । १८-१९)

‘चोरी, हिंसा, शूठ, दम्भ, काम, क्रोध, ओम, मद, भेदबुद्धि, वैर, अविश्वास, स्पर्धा और ली, दूत एवं मद्यका व्यसन, ये पन्द्रह मनुष्योंमें धनके कारणसे ही होते हैं; इसलिये श्रेयार्थी पुरुषको इस अर्थरूप अनर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये ।’

इस प्रकार अशुचिको शुचि समझना दूसरी अविद्या है ।

(इ) दुःखमें सुखकी प्रतीति—विषयसुख वास्तवमें महान् दुःखप्रद है । उसे सुख मानना भी मिथ्या जान है । क्योंकि—

परिणामतापसंस्कारदुःखैरुण्यवृत्तिविरोधात्म दुःखमेव सर्वं विवेकिनः । (पातञ्जलिदर्शन, साधनपाद सू० १५)

अर्थात् विवेकशील जनोंकी दृष्टिमें सारे विषय-सुख परिणाम, ताप और स्वकारदुःखोंसे परिपूर्ण एवं गुणवृत्तिविरोध होनेके कारण दुःखरूप है ।

परिणामदुःख—मनुष्यको पुत्र, स्त्री, मित्र आदि चेतन और यह, क्षेत्र आदि अचेतन पदार्थोंमें सुखका जो अनुभव होता है वह राग (प्रीति) के सयोगसे होता है—जिसमें गग होता है उसी पदार्थमें सुख भी माना जाता है । राग रजोगुणका कार्य होनेके कारण रागद्वारा सुखकी प्राप्तिके लिये धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है । एवं सुखके अनुभवकालमें दुःखकारक पदार्थोंसे द्वेष होना भी स्वाभाविक है । और द्वेष होनेपर अनर्थ कार्यमें प्रवृत्ति होती है । तथा दुःखके द्रू करनेमें असमर्थ होनेपर मोह होता है । मोह होनेपर कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान नहीं रह सकता । अतः मोह भी अनर्थरूप होनेके कारण पापजनक है । इसके अतिरिक्त विषय-सुखमें भूतहिंसाका होना भी अनिवार्य है । क्योंकि हिंसाके विना विषय-सुखका होना असम्भव है । जब गृहस्थी जनोंसे अपने जीवनयापन-के साधनोंमें भी—

पञ्च सूना गृहस्यस्य चुलो पेपण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च वध्यते यास्तु वाहयन् ॥

(मनुस्मृति ३ । ६८)

—चुली आदि पॉच प्रकारकी हिंसाओंका होना अपरिहार्य है, तब नाना प्रकारके विषयोपभोगोंमें हिंसाओंके होनेकी क्या गणना हो सकती है ?

यदि यह कहा जाय कि विषयोंके उपभोगद्वारा इन्द्रियोंकी तृप्ति होनेके कारण मोग-तृष्णाकी जो शान्ति होती है

क्या वह सुख नहीं है ? और उस तृष्णाकी शान्तिका न होना क्या दुःख नहीं है ? इसका उत्तर यह है कि विषय-भोगद्वारा भोग-तृष्णाकी शान्ति कहाँ ? प्रत्युत अग्रिमें धृत छोड़नेपर जिस प्रकार अग्रिमी अभिवृद्धि होती है उसी प्रकार विषयोंके उपभोगसे तो विषय-तृष्णाकी अधिकाधिक वृद्धि होती है—शान्ति नहीं । कहा है—

न जातु कामः कामानासुपमोर्गेन शास्यति ।

हविपा कृष्णवत्मेव मूय एवाभिवृद्धते ॥

(मनुस्मृति २ । १४)

अतएव विषयोंके उपभोगसे भोग-तृष्णा कभी शान्त नहीं हो सकती, यह प्रत्यक्षानुभवसिद्ध है । विषय-भोगका परिणाम क्या होता है, इस विषयमें भगवान् श्रीरामचन्द्रजी-ने कहा है—

पुत्राश्च दाराश्च धनं च बुध्या
प्रकल्प्यते तात रसायनामम् ।

सर्वं तु तज्जोपकरोत्यथान्ते
यन्नातिरम्या विषमूच्छ्वैव ॥

विपादयुक्तो विषमामवस्था-
मुपागतः कायवयोऽवसाने ।

भगवान् स्वरन् स्वानिह धर्मरिक्तान्
जन्तुर्जरावानिह दद्यतेऽन्तः ॥

(योगवासिष्ठ, वैंगम्य प्र० २७ । १३-१४)

अर्थात् पुत्र, लौटी और धन आदि जितने भी पदार्थ कल्पनामें अमृतके समान सुखकारक माने जाते हैं, वे अत्यन्त रमणीय प्रतीत होनेवाले सब पदार्थ कुछ भी उपकार न करके प्रत्युत अन्तकालमें विषके समान दुःख-प्रद हो जाते हैं । जब स्वयं सन्तत मनुष्य वृद्धावस्थासे ग्रसित होता है तब वह अपने पापकर्मोंका सरण करता हुआ दग्ध हो जाता है । विषयासक्ति ही सारे वन्धनोंका कारण है—

वन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्वै निविंपयं मनः ॥

(विष्णुपुराण ६ । ७।२८)

अतएव विषयसुखमें यह परिणामदुःखता है ।

तापदुःखता—विषयसुखोंके साधनोंकी पूर्णता न होनेसे चित्तमें जो परिताप होता है वह तापदुःखता है । विषय-सुखोंकी प्रतीतिके समय उसके विरोधी पदार्थोंमें द्वेष होनेके कारण कार्यिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा दूसरों-

को दुःख देनेमें अवश्य प्रवृत्ति होती है । क्योंकि अपने सुखके वाघक समझ कर ही—

असौ मया हतः शत्रुहनिष्ठे चापरानपि ।

‘आज इस शत्रुको मारा, अब औरौंको मारूँगा ।’—इस प्रकारकी चित्तवृत्ति उत्पन्न हुआ करती है । इस प्रकारकी चित्तवृत्ति भी भावी दुःखका कारण होनेसे विषयसुखमें तापदुःखता है । अतएव विषयचिन्तनमात्रको श्रीमद्भगवद्गीतामें सर्वनाशका कारण कहा है—

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।

सङ्गात्संजायते कामः कामात्कोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद्वर्ति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।

स्मृतिब्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणव्यति ॥

(२ । ६२-६३)

सस्कारदुःखता—सुखके संस्कारकी स्मृतिसे जो धर्माधर्म कार्योंमें प्रवृत्ति होती है उसके द्वारा भविष्यमें दुःख होनेकी सम्भावना, विषय-सुखमें सस्कारदुःखता है । अर्थात् सुखका अनुभव होनेसे सुखका सस्कार चित्तमें स्थिर हो जाता है । उस सस्कारसे सुखका सरण होता है । सरणद्वारा सुखमें राग (अभिलाषा या वासना) उत्पन्न होता है । जिससे सुखकी प्राप्तिके लिये कार्यिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाओंद्वारा शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्ति होना अवश्यम्भावी है । और उन कर्मोंके फलसे पुनः जन्म होता है । पुनर्जन्म होनेपर सुखादिके अनुभवद्वारा सस्कार, संस्कारसे सरण और सरणसे राग आदि उत्पन्न होनेसे सुखानुभवजनित सस्कारोंसे प्रत्येक जन्ममें कर्मोंका समूह बनता जाता है, यह विषयसुखमें सस्कारदुःखता है ।

जिस प्रकार विषयसुखमें उपर्युक्त परिणाम, ताप और सस्कारदुःख हैं, उसी प्रकार गुण-वृत्तियोंके परस्पर विरुद्ध होनेके कारण भी विषयसुख दुःखस्प है । अर्थात् सत्त्व, रज और तम, ये तीनों गुण परस्परमें अन्योन्याश्रित होकर ही प्रत्येक कार्यका सम्पादन कर सकते हैं, न कि स्वतन्त्र । अतएव विषयसुखोपभोगरूप शान्तवृत्ति भी त्रिगुणात्मक होनेके कारण दुःख और विपादमिश्रित होती है । इसके द्वारा सिद्ध है कि विषयसुख स्वभावतः दुःखरूप है । यदि सुखोपभोगात्मक शान्तवृत्तिकी कुछ कालतक अचल स्थिति गृह्णा सम्भव होता तो विषयसुख किसी अशमें सुख कहा भी जा सकता था । किन्तु गुण चञ्चल होनेके कारण वे क्षण-क्षणमें विलङ्घण परिणामको प्राप्त होते

रहते हैं अतएव सुख क्षणिक होनेके कारण अन्तमें दुःखरूप है। अतएव भगवान्ने आज्ञा की है—

ये हि संसर्जा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आथन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते ब्रुधः ॥
(श्रीमद्भगवद्गीता ५।२२)

‘हे अर्जुन ! इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न भोग दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, अतएव बुद्धिमान् उनमें नहीं रमता ।’

निष्कर्ष यह कि दुःखरूप विषयभोगमें सुख समझना तीसरी अविद्या है।

(ई) अनात्ममें आत्मत्वकी प्रतीति—पशु, पुत्र, स्त्री और भृत्य आदि चेतन तथा शश्या, आसन, गद्य और धन आदि अचेतन वाह्य उपकरण एव भोगका अधिष्ठान शरीर और पुरुषका उपकरण मनै, ये सभी आत्मासे मिल हैं, इनको आत्मरूप अर्थात् मैं और मेरे मान लेना मिथ्या ज्ञान है। अनात्ममें आत्मत्वरूप मिथ्या ज्ञान ही सारे मिथ्या ज्ञानोंका मूल है। इसके नष्ट होनेपर सारे मिथ्या ज्ञान नष्ट हो जाते हैं। इसीसे वृहदारण्यक उपनिषद्की—

आत्मानं द्वेद्विजानीयाद्यमसीति पूरुषः ।
किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्ञरेत् ॥
(४।४।१२)

‘यदि पुरुष अपने आपको जान जाय कि मैं सारे दुःखोंके सम्बन्धसे रहित नित्यमुक्त आनन्दस्वरूप हूँ तो वह फिर किसी पदार्थकी इच्छा करता हुआ किसलिये शरीरमें मिथ्या अध्यास करके विषयभोगोंके लिये दुःखसे सन्तुत होगा ।’

इस श्रुतिमें व्यतिरेकद्वारा आत्म-ज्ञानको ही सम्पूर्ण अनर्थोंका कारण बताया गया है। अतएव यह चौथी अविद्या है।

उपर्युक्त चारों प्रकारकी अविद्या ही राग, द्वेष आदि शेष चारों क्लेशोंका मूल कारण है। अतएव महर्षि गौतमने—

१. शरीरमें स्थित होकर पुरुष भोगोंको भोगता है, अतः शरीर भोगका अधिष्ठान है।

२. विषयभोगका साधन होनेके कारण मन पुरुषका उपकरण है।

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोपमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये
तदनन्तरापायादपवर्गः ।

(न्यायदर्शन, अध्याय १, सत्र २)

—इस सूत्रमें मिथ्याज्ञानात्मक अविद्याकी निवृत्तिद्वारा रागादिकी निवृत्तिको ही आत्मन्तिक दुःखनिवृत्तिका कारण बताया है।

(२) असिता—दृष्टकृति (द्रष्टा अर्थात् पुरुष) और दर्शनकृति (बुद्धि) की एकात्मता-सी (अभिन्नता-सी) प्रतीत होना असिता नामक क्लेश है।

पुरुष और बुद्धि, ये दोनों वस्तुतः अत्यन्त विलक्षण हैं—पुरुष कूटस्थ, दुद्ध, चेतन तथा भोक्ता है और बुद्धि परिणामी, मलिन तथा जड़ है। इन दोनोंका तादात्म्यभावसे (अभेदसे) प्रतीत होना असिता है। यह असिता ही पुरुषके लिये भोगका कारण है। क्योंकि इस असिताके कारण ही नित्य, शुद्ध, चेतन, अविकारी और कूटस्थ होकर भी पुरुष अपनेको जड़बुद्धिसे मिल न मानकर ‘मैं कर्ता-भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुखी हूँ’—इस प्रकार मान लेता है। अतएव द्रष्टा और दृश्यका अभेद-ज्ञानरूप असितासञ्जक क्लेश वन्धनका कारण है। योगवासिष्ठमें कहा है—

द्रष्टुदृश्यस्य सत्ताङ्ग वन्ध इत्यभिधीयते ।
द्रष्टा दृश्यवलाद्वद्वो दृश्याभावे विमुच्यते ॥

(उत्पत्ति प्र० १।२२)

‘द्रष्टाकी दृश्यरूपसे सत्ता मान लेना ही वन्ध है। दृश्यके वशमें होनेसे वह बद्ध है और दृश्यको मिथ्या समझनेसे मुक्त हो जाता है।’

(३), (४) राग और द्वेष—सुखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली सुखकी अभिलाषाका नाम राग और दुःखानुभवके अनन्तर चित्तमें रहनेवाली दुःखोंको निराकरण करनेकी इच्छाका नाम द्वेष है। अर्थात् सुख और दुःखके अनुभवके समय चित्तमें सुख और दुःखके स्वरूप स्थिर हो जाते हैं। समयान्तरमें उस पूर्वानुभूत सुख या दुःखका स्वरण हो आनेपर, ताड़ा सुखकी इच्छा और दुःखके प्रति द्वेष

१. सबका द्रष्टा होनेके कारण पुरुषकी द्रष्टा-सत्ता है।

२. निषयाकारसे परिणत होकर विषयरूपको प्राप्त होनेके कारण बुद्धिकी दर्शनशक्ति-सत्ता है।

उत्पन्न होना राग और द्वेष नामक क्लेश हैं। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने राग-द्वेषको महारोग कथन किया है—

रागद्वेषमहारोगा भोगपूरा चिभूतयः ।
कथं जन्तुं न वादन्ते संसारार्णवचारिणम् ॥
(योगवासिष्ठ)

अतएव राग-द्वेष क्लेशरूप बताये गये हैं। क्योंकि राग और द्वेष मनुष्यके परम गत्रु हैं—इनके बद्धीभूत होकर ही सब अनर्थ-कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। श्रीमद्भगवद्-गीतामें भी कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थं रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्वं वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥
(३ । ३४)

सभी इन्द्रियोंके शब्दादि विषयोंमें राग और द्वेष स्थित हैं, अर्थात् इष्ट वस्तुमें राग और अनिष्टमें द्वेष रहता है। अतएव राग-द्वेषके वशमें कभी न होना चाहिये, क्योंकि ये इस पुरुषके परिपन्थी हैं। परिपन्थीका अर्थ पूज्यपाद भाष्यकारने यहों ‘कल्याण-मार्गमें विघ्न करनेवाले चोरके समान’ किया है।

(५) अभिनिवेश—स्वभावसिद्ध मरणभय अभिनिवेश-संज्ञक क्लेश है। अर्थात् प्राणिमात्रकी अपने विषयमें ‘मैं कभी न मरूँ, सर्वदा जीवित रहूँ’ ऐसी इच्छा रहना ही अभिनिवेश है। अभिनिवेश केवल सम्प्रत्नात समाधिष्य योगीजन तथा विवेकजील ज्ञानी एवं भगवद्गत्कर्त्तोंके अतिरिक्त क्या मूढ़, क्या पण्डित, क्या वृद्ध, क्या वालक, सभीके हृदयमें एक समान स्थित रहता है। वह अभिनिवेश स्व-रस-याही है अर्थात् पूर्वमरणके अनुभवकी वासनाद्वारा रहा करता है। यदि पूर्वजन्ममें मरणका अनुभव न हुआ होता तो इस जन्ममें मृत्युका भय न होता। क्योंकि तत्कालका वालक या कीड़े आदि, जिन्होंने न तो मरण-दुर्घटका वर्तमानमें प्रत्यक्ष अनुभव ही किया है, न बनुमान ही कर सकते हैं और न आगम-प्रमाणसे ही अभिज है, उनको भी वह मृत्युभय होना प्रत्यक्ष देखा जाता है।

उपर्युक्त अविद्यादि पाँचों क्लेशोंकी चार अवस्थाएँ हैं—प्रसुत, तनु, विच्छिन्न और उदार।

प्रसुत अवस्थामें चित्तमें वर्तमान रहते हुए भी

Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

अपने कार्यको सम्पादन करनेकी शक्ति उनमें वीजभावसे बनी रहती है।

तनु अवस्थामें प्रतिपक्षभावनाद्वारा अर्थात् तप एवं स्वाध्याय आदि क्रियायोगोंके अनुष्ठानद्वारा क्लेश उपहत होकर क्षीण हो जाते हैं। अर्थात् सम्यक्ज्ञानद्वारा अविद्या, विवेकज्ञानद्वारा अस्मिता, माध्यस्थीद्वारा राग-द्वेष और अहता-ममताके त्यागद्वारा अभिनिवेश तनु अवस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। यद्यपि क्लेशोंकी तनु अवस्था क्रियायोग-द्वारा साध्य होनेके कारण उपादेय है, किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिष्य योगीके लिये तनु अवस्थावाले क्लेश भी त्याज्य होनेके कारण तनु क्लेश भी अविद्या मूलक ही है।

विच्छिन्न अवस्थामें क्लेश वीच-नीचमें विच्छिन्न होकर भी फिर उसी रूपमें प्रादुर्भूत होते रहते हैं। यह विच्छिन्न अवस्था दो प्रकारसे होती है—सजातीय रागकी उदारताद्वारा और विजातीय रागकी उदारताद्वारा। जैसे किसी पुरुषका अन्य लिंगोंकी अपेक्षा किसी विशेष लिंगमें उत्कट अनुराग हो, वह अनुराग लघ्ववृत्ति अर्थात् उदार है। किन्तु अन्य लिंगोंमें वही अनुराग उस समय भविष्यद्वृत्ति होनेके कारण विच्छिन्न है। अतः ऐसा राग सजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न होता है। और रागके समय क्रोध उत्पन्न न होनेके कारण जो अदृश्यमान क्रोध है वह विजातीय रागकी उदारताद्वारा विच्छिन्न हो जाता है।

एक क्लेशकी उदार अवस्थाके समय अन्य क्लेशोंकी केवल विच्छिन्न अवस्था ही नहीं किन्तु कहीं प्रसुत और कहीं तनु अवस्था भी रहती है।

उदार अवस्थामें क्लेश अपने विषयमें लघ्ववृत्ति होनेके कारण उत्कटरूपमें प्रकट होकर अपने कार्यमें तत्पर रहते हैं।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाएँ क्रियायोगके अनुष्ठान-द्वारा जिस प्रकार तनु हो जाती हैं उसी प्रकार विषय-चित्तन जादि उत्तेजक कारणोंद्वारा उदार हो जाती है।

१ यह ब्रह्म करने योग्य है और यह स्थाग करने योग्य, इस प्रकारके अनुकूल और प्रनिकूल शानके ज्ञानको नाष्टस कहते हैं।

अर्थात् क्रियायोग क्लेशोंकी क्षीणताका और विषयासक्ति क्लेशोंकी वृद्धिका कारण है।

क्लेशोंकी उक्त चारों अवस्थाओंमें प्रसुप्त अवस्था तत्त्व-लीन व्यक्तियोंमें रहती है। तनु अवस्था योगीजनोंमें और विच्छिन्न तथा उदार अवस्था विषयासन्त मनुष्योंमें रहती है—

प्रसुप्तस्तत्त्वलीनानां तन्वस्थाश्च योगिनाम् ।

विच्छिन्नोदारस्थाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम् ॥

(योगदर्शन—वाचस्पतिमिश्रकृत व्याख्या)

पूर्वोक्त अविद्या आदि पाँचों क्लेशोंकी उक्त प्रसुप्त आदि चार अवस्थाओंके अतिरिक्त एक दर्घ अवस्था भी है। परन्तु वह अवस्था तो वाञ्छनीय है, उस अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर क्लेश पुरुषको वाधित करनेमें समर्थ नहीं रहते।

क्लेशोंकी निवृत्ति

प्राणिमात्र क्लेशोंकी निवृत्ति और सुखकी प्राप्तिके लिये निरन्तर प्रथक्षील रहते हैं। किन्तु जिस विषय-भोगकी प्राप्तिको वे दुःखनाश और सुखकी प्राप्ति समझते हैं, वह न तो बस्तुतः दुःखका नाश है और न सुख ही। प्रत्युत विषय-भोगमें माना जानेवाला सुख तो दुःख (क्लेश)-रूप है, जैसा कि पहले स्पष्ट किया गया है। इसके अतिरिक्त जो लोग दुःखके नाश और सुखकी प्राप्तिके लिये स्वच्छन्द (अपने मनोनुकूल) उपायोंकी योजना करते हैं, उनके द्वारा भी दुःखका नाश या सुखकी प्राप्ति सम्भव नहीं। क्लेशोंकी निवृत्ति तो गाढ़ोक्त साधनोंद्वारा ही हो सकती है।

क्लेशोंकी निवृत्तिके लिये प्रथम उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंको क्षीण करनेके लिये तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोग^१ ही एकमात्र साधन है। क्योंकि अनादिकालसे किये गये कर्म और तजनित क्लेशोंकी वासनाद्वारा असख्य

^१ आत्मत्वभावना करके (जो अज्ञानजन्य ह) पञ्चमूल आदिमेंसे किमी तत्त्वका समाधिमें आलम्बन करके जो ध्यान करते हैं उनको तत्त्वलीन अथवा चिदेहप्रकृतिलिय कहते हैं और यह सम्प्रधात समाधि कही जाती है। यह समाधि मुक्तिका साक्षात् साधन नहीं, क्योंकि अपनी अवधिके अनन्तर तत्त्वलीनाको फिर समारम्भ आना पड़ता है।

२. क्रियायोगमें तीसरे साधन ईश्वरप्रणिधान (मत्ति) का भी योगदर्शनमें उल्लेख है, वह आगे लिखा जायगा।

प्रकारसे विषयोंमें प्रवृत्त करनेवाला रजोगुण और तमोगुणका विकास तप और स्वाध्याय आदि क्रियायोगके अतिरिक्त कभी विनष्ट नहीं हो सकता। यहाँ 'तप' द्वारा श्रीरको शोपण करनेवाले स्मृतियोंमें निरूपित कुच्छुचान्द्रायणव्रत आदि दुःखस्थ तपोमें तात्पर्य नहीं, क्योंकि चान्द्रायणव्रत आदि धातुवेपम्यकारक होनेके कारण योगके विरोधी हैं। यहाँ तो हित^२, मित^३ एव मेव्य^४ भोजन, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता और इन्द्रियोंके दमनात्मक युक्ताहार-विहारधार्दितप ही अभीष्ट हैं। जैसा कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा गया है—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

स्वाध्यायसे यहाँ प्रणवका जप, रुद्रसूक्त, पुरुषशूक्त आदि वैदिक मन्त्र और मोक्ष-प्रतिपादक पौराणिक शास्त्रोंका अध्ययन और श्रीभगवन्नामका जप अभीष्ट है।

उदार अवस्थाप्राप्त क्लेशोंकी क्रियायोगद्वारा क्षीण अवस्था हो जानेपर भी वे समूल नष्ट नहीं होते—वीजमावसे स्थित रहते हैं, अतः वीजमावसे स्थित क्लेश-वृत्तियों ध्यान (निदिध्यासन) योगद्वारा—जिसकी योग-आख्यमें प्रसख्यान अग्नि सज्जा भी है—दग्धवीज की जा सकती है।

ध्यानका अर्थ है ध्येयकार चित्तवृत्तिकी एकाग्रता हो जाना—

तत्र प्रस्थैकतानता ध्यानम् ।

(यो० चि० पा० स० २)

चित्तकी एकाग्रताके लिये अर्थात् चित्तवृत्तियोंके निरोध करनेके लिये अभ्यास और वैगाय ही एकमात्र साधन है—

अभ्यासवैराग्याभ्या तन्निरोधः ।

(यो० समा० पा० स० १२)

^१ योगीके विरोधी अति अम्ल, अति लवण, अति उष्ण, अति रुक्ष, तिल, सरसों, दही और मास आदिको छोड़कर गेहूँ, चावल, मैंग, गोदुख्य, शर्करा, द्वृत और मधु आदि हित-भोजन है।

^२ उदरके दो भाग अन्नसे और एक भाग जलसे पूर्ण करके शेष चोथा भाग वायुके सद्वारके लिये रिक्त (खाली) रखना मितभोजन है।

^३ मध, मास, मत्स्य, लहसुनको छोड़कर परवल, चरण (गिरीकन्द) आदि मेधभोजन है।

अर्थात् अभ्यासद्वारा यमनियमादि साधनोंकी दृढ़ अवस्था हो जानेपर और ऐहिक एवं पारलौकिक विषयोंमें अत्यन्त ग्लानि रखनेसे ही चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो सकती है।

अभ्यास और वैराग्यद्वारा चित्तकी एकाग्रता उपलब्ध हो जानेपर एकाग्रचित्तमें सच्चिदानन्दधन परमेश्वरके ध्यानद्वारा क्लेश दृश्यवीज हो जाते हैं। ध्यान अमूर्त और मूर्त दो प्रकारका होता है—

आश्रयश्वेतसो ब्रह्म द्विधा तच्च स्वभावतः ।

भूप मूर्तस्मूर्तं च परं चापरमेव च ॥

(विष्णुपुराण ६ । ७ । ४७)

नारदपाञ्चरात्रगत आनन्दसहितामें भी कहा है—

आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्तश्चामूर्त एव च ।

अमूर्त अर्थात् अव्यक्त—निर्गुण ब्रह्मका ध्यान और व्यक्त अर्थात् भगवान् श्रीरामकृष्ण आदि अपने अभिमत भगवान्की इष्टमूर्तिका ध्यान ।

इस प्रकार भगवान्के ध्यानद्वारा क्लेशोंके दृश्यवीज हो जानेपर उन क्लेशोंको निर्मूल करनेका एकमात्र साधन असम्प्रज्ञात समाधि ही है—

ते प्रतिग्रस्वहेयाः सूक्ष्माः । (यो० सा० पा० स० १०)

असम्प्रज्ञात समाधिमें ध्याता और ध्येयकी प्रतीति नहीं होती है^१ अर्थात् वह निर्वाजि (निरालम्ब) होती है। यह समाधि ही योगकी परमावधि है। इसीके लिये यम, नियम आठि अद्याङ्गयोगादि अनेक साधनोंका योग-दर्शनमें उल्लेख किया गया है। किन्तु असम्प्रज्ञात समाधिके योगशास्त्रोक्त साधनोंका अनुष्ठान सहज नहीं। अर्जुनके प्रश्न करनेपर स्वयं भगवान् आज्ञा करते हैं—

क्लेशोऽधिकतरस्तेपामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहविक्रिवाप्यते ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता १२ । ५)

वो अव्यक्त (अक्षर निर्गुण निराकार) ब्रह्मके उपासक हैं उनको देहाभिमानका परित्याग करना परमावश्यक है। देहाभिमानके त्याग विना निराकार ब्रह्मात्मक समाधि उपलब्ध नहीं हो सकती। देहाभिमानका त्याग अत्यन्त दुष्कर है—दूसके लिये यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, इन अद्याङ्गयोगोंके दुःसाध्य साधनोंद्वारा इन्द्रियोंपर विजय

प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। अतएव इन साधनोंके अत्यन्त कष्टसाध्य होनेके कारण परमद्वयालु भगवान् पतञ्जलिने क्लेशोंकी निवृत्ति और समाधिकी उपलब्धिके लिये एक सुखसाध्य साधन और भी बताया है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।

(योगदर्शन, समाधिपाद, स० २३)

ईश्वरप्रणिधानका अर्थ है भगवान्की भक्ति । इस सूत्रमें 'वा' के प्रयोगद्वारा ईश्वरप्रणिधानसे भी समाधिका उपलब्ध होना कहा गया है। अर्थात् जिस प्रकार श्रद्धा-पूर्वक यमनियमादि साधनोंके करनेसे तीव्र वैराग्य उत्पन्न होकर चित्तके निरोधद्वारा समाधि उपलब्ध होती है, उसी प्रकार भक्तिसे भी समाधि उपलब्ध हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि भगवान् पतञ्जलिने सम्पूर्ण क्लेशोंको नष्ट करनेके लिये असम्प्रज्ञात समाधिको ही परम पुरुषार्थ बताया है, जो उपर्युक्त योग और भक्ति दोनोंसे उपलब्ध हो सकती है। किन्तु, जैसा पहले दिखाया गया है, योग-मार्ग बड़ा दुःसाध्य है। भक्तिमार्गमें उन कठिन साधनोंकी आवश्यकता नहीं रहती। इस बातको ध्यानमें रखते हुए ही देवर्षि नारदजीने बेदव्यासजीको कहा है—

यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।

सुकुन्द्रसेवया यद्वत्तथात्माद्वा न शास्यति ॥

(श्रीमद्भागवत १ । ६ । ३६)

अर्थात् कामलोभादि क्लेशोंसे अहर्निश सन्तत मन जिस प्रकार भगवान्की सेवाद्वारा आन्त होता है उस प्रकार यम-नियमादि योगमार्गद्वारा नहीं हो सकता। इसीलिये नारदभक्तिसूत्रमें भी उन्होंने भक्तिको कर्म, ज्ञान और योगकी अपेक्षा अधिकतर बताकर सुषुप्तु-जनोंको भगवद्वक्तिका ही आदेश दिया है—

स तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा ।

(सूत्र २५)

तस्मात्सैव ग्राह्या सुसुषुभिः । (सूत्र ३३)

निष्कर्ष यह है कि क्लेशोंके विनाशके लिये योग और भक्ति दोनों ही महत्वपूर्ण साधन हैं। किन्तु इस कलिकाल-में अद्याङ्गयोगका यथावत् साधन होना असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुःसाध्य होनेके कारण साधारके क्लेशोंके आत्यन्तिक विनाशके लिये इस समय भगवद्वक्तिका आश्रय ही सुसाध्य है।

१. कहा है—मनसो वृत्तिशून्यस्य द्राकारतया स्विति । अनन्त्रज्ञानानासी

तमाधिनिधीयते ॥

२. पाताल योगनव, ज्ञापनपाद, सूत्र २९-५७ तथा विभूतिपादके प्राप्तमें हैं ।

योगमाया

(लेखक—प० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, शास्त्री, पम० ए०)

श्रीयोगमाया वह अद्भुत तत्त्व है जिसके कारण निर्गुण, निराकार परब्रह्म कल्याणगुणगणाकर मूर्तिमान् बन जाते हैं। यद्यपि इन दोनों-शक्ति तथा शक्तिमान् में कोई भेद नहीं है तथापि भक्तोंसे आराधित शक्तिमान् जिस प्रकार श्रीरामकृष्णादि अनेक रूपोंमें दर्शन देते हैं उसी प्रकार ऋषि-मुनि-सस्तुता शक्ति भी श्रीदुर्गा, देवी, काली आदि नानाविधि रूपोंमें प्रकट होती हैं। भावके तारतम्यके अनुसार ही शास्त्रमें, उपासनाविधिमें, व्यावहारिक भेद दृष्टिगोचर होता है, जैसे किसी भावुक भक्तको अघटनघटनापटीयसी शक्तिदेवीकी अपार महिमाके सम्मुख ब्रह्मा-विष्णु-महेश भी गौण प्रतीत होते हैं तो किसी दूसरे भक्तको शक्ति शक्तिमान् के अधीन विदित होती हैं। परमार्थतः दोनों एक ही वस्तु हैं।

शास्त्रमें इन महाप्रभावा योगमायाका वर्णन अनेक स्थलोंपर उपलब्ध है। वेदके एक मन्त्रमें शक्ति-शक्तिमान् को भाई-वहिन मानकर उनका आह्वान किया गया है—

‘पृप ते रुद्र भागः सह स्वस्त्रास्त्रिक्या

तञ्जुपस्त्र ……’ (शुद्धजु० ३। ५७)

‘अस्त्रिका वहिनके साथ है रुद्र ! यह आपका भाग है, इसे पाह्ये ।’

मार्कण्डेयपुराण तथा देवीभागवत इन जगजननीके सर्वोंपरि माहात्म्यका वर्णन कर ही रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें वह ब्रह्मके परिपूर्णवतार श्रीकृष्णचन्द्रजीकी अनुजा कही गयी हैं—

अद्वयतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहामुजा ।

‘भगवान् श्रीविष्णुकी छोटी वहिन अष्टमहामुजा आयुध लिये दिखायी दी ।’ इन्हीं योगमायाने श्री-मन्त्रारायणके आदेशके अनुसार गर्भसङ्करण नामक त्रिलोकीमें अश्रुतपूर्व चमत्कार किया था और अजा होकर भी यशोदामाताकी गर्भात्यामें शयन किया था—

या योगमायाजनि नन्दजायया ।

योगमायाकी इच्छासे ही वसुदेवजीके कारागृहके निरीक्षक द्वारपाल निद्राभिभृत हो गये थे ।

तथा हृतप्रत्ययसर्वष्टुत्तिषु

द्वाःस्थेषु पौरेष्वथ शायितेष्वपि ।

इन्हींके साहाय्यसे भगवान् श्रीकृष्णने रास नामक लोकोत्तर विसय किया था—

योगमायामुपाश्रितः । (श्रीमद्भा० १०। २९। १)

‘योगमायाका आश्रय करके ।’

सगुण ब्रह्मका जो सर्वातिशायी ऐश्वर्य है वह सब योगमायाका प्रभाव है। सनकादि नित्यमुक्त ब्रह्मिंश्योंके वैकुण्ठाधिष्ठान श्रीविष्णुभगवान् के साथ सलापमें भगवान् का जो विशेषण है उससे यही बात सिद्ध होती है—

ते योगमायायारवधपारमेष्वयमहोदयम् ।

प्रोन्तुः प्राज्ञलयो विप्राः प्रहृष्टाः क्षुभितत्वचः ॥

(श्रीमद्भा० ३। १६। १५)

‘योगमायासे जिनके परमैश्वर्यका महोदय प्रकट हुआ उन परमेश्वरसे वे आनन्दित पुलकित ब्राह्मण हाथ जोड़कर बोले ।’

योगियोंके योगप्रभावको भी योगमाया कहा जा सकता है। किन्तु प्रस्तुत प्रसङ्गमें वह अभीष्ट नहीं है, क्योंकि बद्ध मनुष्यकी अपेक्षा मुक्त योगीका ऐश्वर्य यद्यपि निरबग्रह हो सकता है और शास्त्रमें ऐसा कहा भी गया है, तथापि परमात्माके साथ तुलना करनेमें वह सावग्रह ही ठहरता है। योगदर्गनके मतानुसार समाधिके अनन्तर अन्यान्य विभूतियोंके अतिरिक्त योगियोंको सर्वज्ञत्व नामकी सिद्धिकी प्राप्ति हुआ करती है।

सत्त्वपुरुषान्यतात्प्रातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं
सर्वज्ञातृत्वं च ।

‘प्रकृति और पुरुषके भेदका यथार्थ ज्ञान जिसको हो गया वह सब भावोंका अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है।’ यह सर्वज्ञत्व तथा सर्वभावाधिष्ठातृत्व अवश्यमेव आपेक्षिक है। साधारण ससारी जीवकी अपेक्षा योगी सर्वज्ञ है ही, किन्तु उसमें निरतिशय सर्वज्ञवीज नहीं है, वह तो नित्य-सिद्ध परमपिताका ही सहज गुण है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञवीजम् ।

‘वहाँ सर्वोपरि सर्वशताका बीज है।’ इसी प्रकार योगीको प्रकृतिपर विजय प्राप्त हो जाता है, किन्तु वह जगत्की सृष्टि-स्थिति-प्रलय नहीं कर सकता। वेदान्त-शास्त्रका—

जगद्भ्यापारवनं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ।

—यह सूत्र इस विषयमें प्रमाण है। विश्वव्यापार तो

भगवान्की ही योगमायाका विलास है।

जिन अतक्यं महिमद्यालिनी ब्रह्मशक्ति भगवती श्री-योगमायाके भृकुटिविलासमात्रसे अनन्त आकाशमें अनन्त तारावली यथानियम अप्रमत्तरूपसे परिभ्रमण किया करती है उन जगबननी भक्तकल्याणकारिणी योगमायादेवीके श्रीचरण-नलिन-युगलमें हम सादर मस्तक नवाते हैं।

त्याग और लोकसेवारूप योग

(लेखक—रेवरेण्ड वार्थर ई० मैसी)

‘यदि कोई मनुष्य मेरा अनुसरण करना चाहता है तो वह अपना अहङ्कार त्याग दे और प्रतिदिन अपना कॉस उठाकर मेरे पीछे हो ले।’* (ल्यूक ९।२३)

योगके द्वारा मुक्ति तभी मिल सकती है जब उसकी सारी प्रक्रियाओं और पद्धतियोमें त्याग और लोकसेवाकी प्रवचनता हो, क्योंकि मायिक परिच्छिन्न जीवकी प्रत्येक चेष्टा व्यर्थ होती है। ईश्वर प्रेमरूप है और प्रेममें विधिकी पूर्णता है। जहाँ प्रेमकी प्रधानता है वहाँ त्याग, त्याग नहीं रह जाता, क्योंकि प्रेममें केवल प्रेमास्पदका ही ध्यान रहता है, अपना ध्यान विल्कुल नहीं रहता। वास्तवमें प्रेम ही सब कुछ है, जिसे हम अहङ्कार कहते हैं वह तो प्रतीतियोका एक निरुद्ध है जो हमारी भेद-बुद्धिको दृढ़ करता हुआ हमें उस एक एवं अद्वितीय सत्ताके साथ एकताका अनुभव नहीं करने देता। प्रत्येक सज्जा योगी एवं प्रत्येक सद्गुरु शानपूर्वक परमात्मयोगके प्रकाशमें विचरता है, उसके अतिरिक्त किसी दूसरी वस्तुको न तो वह जानता है और न इच्छा करता है। वह जगत्के परस्परविरोधी स्वरूपोंको अपने कानोंके समीप नहीं जाने देता, अपने अहङ्कारखुक्त विचारें और अनुभूतियोको शान्त कर देता है और उस आम्बन्तर प्रकाशकी सहायतासे ससारके कार्य करता है जो प्रकाश प्रत्येक वस्तुके वास्तविक स्वरूपको प्रकट करता है। वह यथार्थ मार्गको ही देखता और ग्रहण करता है और यथार्थ वात ही कहता है। प्रेमरूप शक्तिको ग्रहणकर उसे सब लोगोंको वितीर्ण करना ही उसका कार्य होता है, अतएव मनुष्यशरीरको तो वह अपने आपको सर्वतो-

भावेन जनतारूप जनार्दनकी सेवामें उत्सर्ग कर देनेका एक सुन्दर अवसर समझता है। सद्गुरु और आनन्दरिक ज्योतिमें कोई अन्तर नहीं है, इसलिये सद्गुरु या योगी बनना ही प्रत्येक कल्याणकामी पुरुषका ध्येय होना चाहिये। हमलोग विच्छिन्न व्यक्तियों नहीं हैं, अपि तु एक ही शरीरके अङ्ग हैं, और यदि हममेंसे कोई एक भी प्रभुकी पूर्णता प्राप्त करनेकी चेष्टा करे तो वह सारा समष्टिशरीर ही ऊँचा उठा हुआ अनुभव करेगा। क्योंकि शरीरके एक अङ्गमें पीड़ा होनेपर अन्य समस्त अङ्गोंको उस पीड़ाका अनुभव होता है, अथवा एक अङ्गके पूजित होनेपर समस्त अङ्गोंको प्रसन्नता होती है। इसलिये, यह जानकर कि दुःखसे चरित्रकी दृढ़ता होती है, हमको दुःखमें भी आनन्दित होना चाहिये। एक अङ्गकी पुष्टिसे सारा शरीर पुष्ट होता है और जगत्में उसकी क्षमता बढ़ती है, अतः त्याग और लोकसेवा योगका विशुद्धतम एवं सर्वोक्तुष्ट रूप है। ‘मैं उनके अन्दर रहता हूँ और मेरे अन्दर वे रहते हैं जिससे कि वे पूर्ण होकर ‘एक-मेवाद्वितीयम्’ वन जायें।’

प्रेमके विना परमात्मासे मिलनेकी सारी आकांक्षाएँ, योगकी सारी प्रक्रियाएँ और उसके विविध प्रकार व्यर्थ एवं निष्पक्ष हैं। प्रेम नवीन जीवन प्रदान करनेवाली तथा पवित्र करनेवाली महान् एवं अमोघ शक्ति है। ‘सत्यं शिव सुन्दरम्’ वननेकी सतत चेष्टासे ही मनुष्यके आध्यात्मिक शरीर अथवा आत्मका विकास एवं अभिव्यक्ति होती है। हमारा आध्यात्मिक स्वन्प स्वयं पूर्ण होनेपर भी सदा किसी ऐसे साधनका सोजमें रहता है जिसके द्वारा वह मानवजातिकी सेवा एवं सहायता कर सके और हमारे अन्दर सेवा और सहायता करनेकी

* “If any man would come after Me, let him deny himself and take up his cross daily and follow Me.” (Luke IX. 23)

जितनी योग्यता एव क्षमता आती है उतनी ही मात्रामें ईश्वर हमारे द्वारा अपनी इच्छा और अभिसन्धिको पूर्ण करते हैं।

सेवाके मार्गमें पैर रखनेके पूर्व हमें जाति, वर्ण, रंग, धर्म अथवा स्त्री-पुरुषके भेदको सर्वथा भुला देना होगा, नहीं तो हम कदापि इस कार्यमें सफल नहीं हो सकते, क्योंकि प्रेमकी इष्टिमें मनुष्यमात्र उस 'एकमेवाद्वितीयम्' के ही अनेक रूप है, अतः उनमें छोटे-बड़ेकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

मनुष्यके लिये परमात्माको खोजनेकी आवश्यकता नहीं है, जितनी अधिक उसकी खोज की जायगी उतना ही अधिक वह दुर्लभ होता जायगा। क्योंकि किसी कविने ठीक ही कहा है—

'वह (परमात्मा) प्राणसे भी समीप है और हाथ-पैरसे भी निकट है ।'* जब जीव अपनी युगान्तव्यापिनी मोहनिन्द्रासे जागता है, जब भौतिक विचारका आवरण उसकी इष्टिके सामनेसे हट जाता है और वह ब्रह्मसाक्षात्कारके समीप पहुँच जाता है, उस समय उसे यह दिव्य अनुभव होता है कि 'मेरे अन्दर अब 'अहम्' (मायिक क्षुद्र अहभाव) नहीं रहा, बल्कि स्वयं प्रभु प्रतिष्ठित हो गये हैं ।'† और इस प्रकार वह सच्चा त्यागी एव लोकसेवक योगी बन जाता है।

वाहरी वेष, कर्मकाण्ड, प्रतिमापूजन, तपश्चर्या आदि सभी आत्माके विकासमें सहायक हैं, यद्यपि इनमेंसे कोई भी अनिवार्य नहीं है। किन्तु ध्येयकी प्राप्ति होते होते ये सब सांपकी केंचुलीकी भौति अवश्य छूट जाते हैं और जब कुछ भी नहीं वच रहता तब वहाँ स्वयं भगवान् आयिराजते हैं। इस भौतिक जगत्के लिये 'भवाटी' और 'दुःखाल्य' आदि शब्दोंका प्रयोग इसीलिये किया गया है कि हम इसे मूर्खतायश्च प्रकृति नटीका एक नश्वर खेल न समझकर प्रत्यक्ष एव सत् मान वैठे हैं। अतएव वे कष्ट, निर्वेद एव यन्त्रणाएँ जिनका हम जीवनमें अनुभव करते हैं सभी इस रूपमें आवश्यक हैं कि वे हमें सनातन सत्य तत्त्वका-उस अलौकिक जानितका लक्ष्य कराते हैं जो हमारी दुष्कृतिमें भी नहीं आ सकती ("Peace that passeth

* "Closer is He than breathing,
Nearer than hands and feet."

† "Not 'I' but Christ that liveth in Me."

all understanding") प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्गनिक स्पिनोजा (Spinoza) ने एक जगह कहा है कि 'ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करना उसका अपलाप करना है' (To define God is to deny Him)। उनका यह कहना सर्वथा सत्य है, क्योंकि जितना ही अधिक हम ईश्वरका लक्षणोंके द्वारा निर्देश करनेकी चेष्टा करते हैं उतना ही अधिक हम उस अपरिच्छिन्नको परिच्छन्न अथवा ससीम बनाते हैं। अतः सभी विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों, दर्शनों, आचार्यों एवं अधिकारी पुरुषोंको नमस्कार कर निरन्तर एव दृढ़तापूर्वक मौनका ही अभ्यास करना श्रेयस्कर है, जिससे हम अपने हृदयस्थित अन्तरतम प्रदेशमें परमात्माका सयोग प्राप्तकर उनके साथ आलाप करें और अन्तमें उन्हींके अन्दर अपने आपको विलीन कर दें—जिन परमात्माको उपनिषदोंने 'एकमेवाद्वितीयम्' कहा है तथा जिनके अतिरिक्त और कोई सत्य वस्तु है ही नहीं।

इस वातको जान लेना श्रेयस्कर है कि परमात्मा ही प्रकृतिके द्वारा अपनी अभिसन्धिको पूर्ण कर रहे हैं।

"सर्वप्रथम वाष्पसद्ग धूम्रवर्ण ज्योति उत्पन्न हुई और तदनन्तर ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदिकी सृष्टि हुई। इसके अनन्तर खनिज पदार्थों एव शख, सीप आदिकी उत्पत्ति हुई, इसके अनन्तर छोटी-छोटी मछलियाँ एव विस्तोऽया आदि जीव उत्पन्न हुए और फिर उन गुहाओं और कन्दराथोंकी रचना हुई जिनमें जगली मनुष्य रहने लगे। इसके बाद मनुष्योंको कानून एव सौन्दर्यका ज्ञान हुआ और अन्तमें उनकी इष्टि पार्यिव पदार्थोंके परे आत्माकी ओर गयी। कुछ लोग उत्पत्तिके इस क्रमको परिणाम या विकास कहते हैं और दूसरे लोग इसीको ईश्वरके नाम-से पुकारते हैं।"‡ हाँ, प्रकृति कोई विरानी अथवा ईश्वरसे भिन्न वस्तु नहीं है, बल्कि उन्हींका निःश्वास है। एक सच्चे योगीकी इष्टिमें प्रकृति ईश्वरका ही प्रत्यक्ष रूप है,

* "A fire-mist and a planet,
A crystal and a shell,
A jelly-fish and a saurian,
And caves where the cave-men dwell,
Then a sense of law and beauty,
And a face turned from the clod,
Some call it Evolution,
And others call it God."

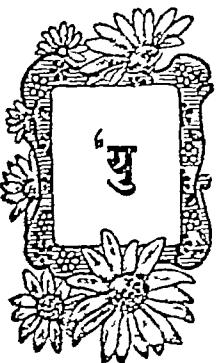
विश्वात्मका शरीर है। 'तुम्हारी ज्योतिमें ही हमे प्रकाश-
का दर्शन होता है।' प्राकृतिक गतियों परमात्माके सनातन
कर्मका—जगत् के अन्तःस्थित उनके सजीव सङ्कल्पका
योतन करती हैं। इसाने जिस सत्यका उपदेश दिया
उसकी पूर्वके आत्मवित् योगियोंको नये ढगसे व्याख्या
करनी होगी। इसामसीह पूर्णीय आचार्य थे। उनका
प्राकृतिक जगत् के साथ जो गाढ़ परिचय था, उन्हें मनुष्य-
के अन्तःकरणका जो परिज्ञान था, उन्होंने सहानुभूति,
प्रेम और सेवाका जो रहस्यमय सिद्धान्त सासारके सामने
रखा, उनका छोटे बच्चों, दीन-दुर्खियों, पापियों और
पतितों—उन पथभ्रष्ट प्राणियोंके प्रति जिन्हे संसार
उपेक्षाकी दृष्टिसे देखता है किन्तु जगत् का वह
महान् मातृदृढ़य जिन्हें सदा आलिङ्गन करनेके लिये प्रस्तुत
रहता है,—उनके प्रति उनका जो विशेष प्रेम था, उनकी
एकान्तप्रियता जो शोकके सौन्दर्यको प्रकट करती थी,
उनकी उत्सर्गजनित कोमलता, उनकी सौम्य वाणी और
उससे भी सौम्यतर मौन, उनकी प्रेम और विनयपूर्ण
आचारनीति, उनका दृढ़यस्थित परमात्माके साथ संयोग
स्थापित करनेवाला धर्म, उनका विशुद्ध जीवन, उनकी
मृत्यु जिससे उन्होंने सासारको सनातन परमात्माके पवित्र
दृढ़यका परिचय दिया—अवश्य ही ये सब वातें पूर्वके
आदर्शवादी योगियोंको सहज ही दृढ़यज्ञम हो सकती हैं
और इन्हींके द्वारा की जानेवाली व्याख्यासे पाश्चात्य
जगत् के आध्यात्मिक जीवनका पुनरुत्थान होगा। हमलोग
सासारके इतिहासमें एक नवीन युगका आरम्भ देख रहे हैं,
जगत् के पुनर्जन्मका काल उपस्थित है, प्राचीन व्यवस्थाका
स्थान नवीन व्यवस्था ग्रहण कर रही है। समाज, शासन-
व्यवस्था, दार्यनिक सिद्धान्त एवं धर्म, सभीका नये ढगसे
पुनर्निर्माण होनेवाला है और इस कार्यमें पूर्व और पश्चिम
दोनों ही अपने-अपने ढंगसे योग देंगे। पाश्चात्य जगत्
भावी सासारको वैज्ञानिक सघटन, नैतिक शक्ति और
राजनैतिक प्रगतिका पाठ पढ़ायेगा, वह व्यक्तित्वका मूल्य
और परिस्थितिका महत्त्व बतायेगा और कर्मके सिद्धान्त-

का समर्थन करेगा, और प्राच्य जगत् उसकी इस
आवश्यक शिक्षाको प्रसन्नता एवं कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण
करेगा।

यह सब ठीक है, परन्तु पश्चिमको भी उच्चतर जीवनके
गहनतत्त्वोंका अनुशीलन करनेके लिये, पुरातन ज्ञानको
आत्मसात् करके उसका अपनी दैनिक आवश्यकताओंमें
उपयोग करनेके लिये, योगियोंकी-सी दृष्टि प्राप्त करनेके
लिये, प्रकृतिको केवलमात्र वैज्ञानिकोंकी प्रयोगशाला न
समझकर उसे आत्माके मन्दिररूपमें देखनेके लिये, ध्यान-
का अभ्यास करनेके लिये, और इस बातको भलीभाँति
समझ लेनेके लिये कि कर्म ही उपासना नहीं है अपितु
उपासना भी एक आवश्यक कर्म है, पूर्वकी ही शरण लेनी
होगी। हम पाश्चात्य देशवासियोंके लिये अभी यह सिद्धान्त
समझना बाकी है कि सत्य कोरी कल्पना नहीं है अपितु
आत्माके अनुभवका विषय है और उसकी उपलब्धि केवल
आलोचन-प्रत्यालोचनसे अथवा पदार्थोंका त्रुद्धिके द्वारा
विश्लेषण करनेसे नहीं हो सकती, अपितु उसके लिये
सद्वयतापूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि और उसी प्रकारके
जीवनकी अपेक्षा है। प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक शोपनहॉर
उस दिनका स्वप्न देखा करते थे जब पूर्वकी ज्ञानगङ्गा
पश्चिमकी ओर वह निकलेगी। जिस दिन वह काल पूर्ण-
रूपसे आ जायगा उस दिन पूर्वके रहस्यमय ज्ञानका
विकासवादकी अपेक्षा कहीं गहरा प्रभाव पड़ेगा। उस
समय भिन्न-भिन्न विश्वधर्मोंके प्रति योरपकी दृष्टि विलुप्त
बदल जायगी और वहाँके निवासी इस बातको भलीभाँति
समझ जायेंगे कि सत्यका किसी धर्मविशेषने ठीका नहीं
ले रखता है, ईश्वरीय ज्ञानके प्रकाशकी कहीं इतिश्री नहीं
हो गयी और रहस्यमय ज्ञानमें एक ऐसा समन्वय-तत्त्व
है जिससे अन्तमें जाकर पूर्व और पश्चिम दोनों पारस्परिक
सौहार्द एवं सामज्ज्ञस्य, तथा एक दूसरेके प्रति त्याग और
सेवाके अद्वृट पादामें वैधकर एक ही जायेंगे, वही योगका
प्रारम्भ और यही उसका चरम लक्ष्य है।

योग-शब्द

(लेखक—पण्डितप्रवर श्रीश्रीपञ्चाननजी तर्करत)



जू' धारुसे 'योग' गव्दं वनता है । पाणिनिके गणपाठमें तीन 'युज्' धारु हैं । दिवादिगणके 'युज्' धारुका अर्थ है समाधि । हमारा आलोच्यमान 'योग' गव्द इसी 'युज्' धारुसे उद्भूत हुआ है, इसमें कोई मतभेद नहीं है । इसके सिवा और दो 'युज्' धारु हैं । एक रुधादिगणमें, जिसका अर्थ सयोग होता है, और दूसरी चुरादिगणमें, जिसका अर्थ होता है संयमन । अब यह विचारना है कि ये दोनों 'युज्' धारु भी आलोच्यमान योग-शब्दकी प्रकृति हो सकते हैं या नहीं ।

वहुतेरे कहेंगे कि 'दूसरी दोनों युज् धारुओंसे योग-शब्दका उद्भव होनेपर भी वह इस लेखका आलोच्य विषय नहीं है, क्योंकि वह योग समाधि नहीं है । 'समाधि' शब्दका भट्टोजि दीक्षितद्वारा प्रदर्शित अर्थ है चित्तवृत्तिनिरोध । पातञ्जलदर्शनमें उसका मूल विद्यमान है—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' । अतएव समाधिवोधक 'युज्' धारुसे ही इस योग-शब्दका उद्भव है, अन्य 'युज्' धारुसे नहीं ।'

परन्तु मैं इस मतका पूर्णतः समर्थन नहीं करता । मैं कहूँगा कि 'दिवादिगणीय 'युज्' धारुसे जो 'योग' शब्द उद्भूत होता है उसके समाधिवोधक होनेपर भी अन्य 'युज्' धारुसे उद्भूत 'योग' शब्द समाधिवोधक नहीं हो सकता', यह कोई आवश्यक वात नहीं है । क्योंकि समाधि-शब्दके प्रकृति-प्रत्ययका निर्देश करनेसे उसकी उपलब्धियों होती है । सम्+आ+धा+कि, सम्=सम्यक्, आ+धा=स्थापन, यहो 'किप्' प्रत्ययका अर्थ घात्वर्थसे अतिरिक्त नहीं है, क्योंकि 'किप्' प्रत्यय भाववाच्यमें होता है ।

सम्यक्-स्थापन समाधि-शब्दका प्रकृति-प्रत्ययद्वारा प्राप्त अर्थ है । चित्तको इस प्रकार एक नाढ़ीमें स्थापन करना पड़ता है जिसके द्वारा चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है । अतएव 'समाधि' शब्दके प्रकृति-प्रत्ययके अर्थानुसार पातञ्जलदर्शनका सत्र 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' है ।

प्रकृति-प्रत्ययसे प्राप्त अर्थद्वारा यदि पदसमुदयके वाचकत्व-का निर्धारा होता है तो इसके विषयमें रुढ़ि-कल्पना करना व्यर्थ है । सामान्यवाचकका विशेषपरक अर्थ होनेपर तो रुढ़ि-कल्पना मान्य ही होती है ।

मेरा कथन यह है कि नैयायिक लोग प्रधानतः सयोगको ही समाधि कहते हैं—

अमद्विशिष्टानान्तु योगिनां युक्तानां योगजघर्मानु-
गृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशादिक्षालभनस्यु तत्समवेत-
गुणकर्मसामान्यविशेषेषु समवाये चावितयं स्वरूप-
दर्शनमुपपद्यते । (प्रशस्तपादभाष्य)

इस भाष्यके व्याख्याकार वगालके प्रथम नैयायिका-
चार्य श्रीधराचार्य कहते हैं—

योगः समाधिः, स द्विविधः, सम्प्रज्ञातोऽसम्प्रज्ञातश्च ।
सम्प्रज्ञातो धारकेण प्रयत्नेन क्वचिदात्मप्रदेशो वशीकृतस्य
मनसः तत्त्वदुभुत्साविशिष्टेनात्मना संयोगः । असम्प्रज्ञातश्च
वशीकृतस्य मनसो निरभिसन्धिनिरभ्युत्थानात्क्वचिदात्म-
प्रदेशो संयोगः ।

अर्थात् जिस विषयमें तत्त्वनिर्णयकी इच्छा हो, उसके अतीन्द्रिय होनेपर भी चञ्चलताको दूर करनेवाले प्रयत्नके द्वारा वशीकृत मनका उस इच्छासे युक्त अपने आत्माके साथ किसी एक अंगमें संयोग होना सम्प्रज्ञात समाधि है । तथा निम्नलिखित विशेषरूपसे मनःसंयोगको असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं । यह मनःसंयोग अभ्युत्थान और व्युत्थानके अभावके कारण, अभिसन्धिसम्बन्धसे रहित तथा अपने किसी आत्मप्रदेशमें उत्पन्न होता है । अतएव 'युजिर् योगे'—यह 'युज्' धारु भी यहो परिस्तक्त नहीं होती, यह वात तो सुस्पष्ट हो ही गयी । वल्कि कारिकावलीके कर्ता विश्वनाथ पञ्चाननकी प्राचीनोक्ति भी प्रधान कारिकामें देखी जाती है—'युक्तयुज्जानमेदतः'
अर्थात् योगजप्रत्यक्ष दो प्रकारका होता है, एक युक्तका और दूसरा युज्जानका । यह युज्जान-शब्द 'युज् समाधौ' इस 'युज्' धारुसे नहीं उद्भूत हो सकता । उससे तो युज्यमान पद वनेगा । नैयायिक-सम्प्रदायमें 'युजिर् योगे' यह रुधादिगणीय धारु भी योगजप्रत्यक्षवर्णनके प्रसङ्गमें सादर गृहीत हुई है ।

संयमन अर्थवाली चुरादिगणीय 'युज्' धातुका सम्बन्ध भी 'वशीकृतस्य मनसः' इस अंगद्वारा समर्थित होता है। मनको वशमें करना ही मनका संयमन है। पातञ्जल दर्शनमें भी समाधिमें संयमनके विशेष सम्बन्धकी सूचना है—'त्रयमेकत्र संयमः।' समाधिके अन्तरङ्ग प्रत्याहार, धारणा और ध्यान, इन तीनोंको एक ही साथ 'संयम' नाम दिया गया है। इस प्रकार त्रिविध 'युज्' धातु ही योग-शब्दके मूलमें वर्तमान रह सकती है, यह सिद्ध हुआ।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।

यह गीता-वचन भी वियोगविधक 'योग' शब्दके निर्देशके द्वारा रघादिगणीय 'युज्' धातुको योग-शब्दकी प्रकृतिस्पृष्टमें प्रहृण करनेका सङ्केत करता है। 'योग' शब्दका यह प्रकृतिविचार प्राचीन योगदर्शनके स्वरूपनिर्णयमें उपयोगी है।

न्याय और वैशेषिक समानतन्त्र होनेके कारण एक ही सम्प्रदायमें सामान्यतः गृहीत होते हैं। अवान्तर भेद होते हुए भी ये दोनों सम्प्रदाय 'शैवयोगी' नामसे प्रसिद्ध हैं। षड्दर्शनसमुच्चयकी गुणरूप नामक टीकामें इनका सामान्यतः ऐक्य और विशेषतः भेद वर्णित है। कौटिल्य^१ या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें जो योगका नाम आया है वह न्याय और वैशेषिकका ही शापक है, असलमें वैशेषिक पूर्वन्याय और गौतमसूत्र उत्तरन्याय कहलाता है। कौटिल्य या कौटल्यकृत अर्थशास्त्रमें गृहीत 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका ही वोधक है। इसके प्रमाण-स्वरूप उन्होंके द्वारा रचित न्यायभाष्यकी † यह स्पष्टोक्ति पढ़िये—

पुरुपकर्मादिनिभितो भूतसर्गः कर्महेतवो दोपा-
प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्वेतना असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुद्ध्यत-

* कौटिल्य या कौटल्य चाणक्यका ही नामान्तर है। वात्स्यायन नाम भी चाणक्यका ही है। चण्क मुनिके पुत्र होनेसे चाणक्य नाम पड़ा।

† वत्स ऋषिकृतकी अन्यतम शाखाके कुटिल या कुट्टल नामक गोत्रकार मुनिके वशमें चाणक्यका जन्म हुआ था, इसलिये उन्हें वात्स्यायन और काटिल्य या कौटल्य कहते हैं। विस्त्यान र्णनाचार्य हेमचन्द्रसूर्यके अभिधानमें चाणक्यके इन सब नामोंका उल्लेख है। वर्णोंय साहित्यसम्मेलनके नैहारीके अधिकेशनमें दर्शनशाखाके सभापतिस्पृष्टसे मैंने जो भाषण दिया था उसमें इसका विशेषरूपसे उल्लेख है।

Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

इति योगानाम्।

यहों न्यायभाष्यकारने योगामतके द्वारा असत् वस्तुओं-की उत्पत्ति, उत्पन्नके ध्वंस आदिका उल्लेख किया है। यह मत न्यायवैशेषिकका है, प्रचलित योगदर्शनका अर्थात् पातञ्जलदर्शनका नहीं। पातञ्जल दर्शन सांख्यके ही अन्तर्गत है, इसीसे इसका दूसरा नाम 'सेश्वर सांख्य' है। विज्ञानभिष्ठुने पातञ्जलका 'सांख्यप्रवचन दर्शन' नाम स्वीकार किया है। पातञ्जलदर्शन असद्वस्तु-उत्पत्तिवादी नहीं है, वल्कि सत्कार्यवादी है। अतएव वात्स्यायन अर्थात् कौटिल्यके मतसे त्रिविध आन्वीक्षिकी या आन्वीक्षकीके अन्तर्गत 'सांख्य' शब्दसे कायिल और पातञ्जलदर्शनका ही वोध होता है।

न्यायवैशेषिकके मतसे 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दका तात्पर्य 'चित्तकी चञ्चलताका निवारण' हो सकता है, परन्तु पातञ्जलवर्णित प्रमाणसंग्रहादिवृत्ति उस मतमें चित्तवृत्ति न होनेके कारण उनका निरोध इस लक्षणके द्वारा निर्णीत नहीं हो सकता। वृत्ति-शब्दका अर्थ यदि धर्म हो तो चित्तकी चञ्चलता जिस प्रकार चित्तका धर्म है, उसी प्रकार आत्माके साथ जो चित्तका सयोग है वह भी चित्तका धर्म अर्थात् चित्तवृत्ति हो सकती है। परन्तु यह संयोग समाधिकालमें भी निरुद्ध नहीं होता। इसी कारण नैयायिकोंके मतसे 'मनःसंयोगविशेष' ही योग है और वह सयोग ही समाधि है। इसी सयोगका उल्लेख श्रीधराचार्यकी पक्षियोंको उद्घृत करके पहले किया गया है।

नैयायिकसम्प्रदायके मतसे चित्त, मन और अन्तः-करण एक ही पदार्थ हैं। 'वृथते अनेन' इस प्रकार करण वाच्यमें 'वुधु-क्तिन्' प्रत्ययद्वारा निष्पत्र 'वुद्धि' शब्दका अर्थ भी मन होता है। मनको निर्देश करनेके लिये 'वुद्धि' शब्दका प्रयोग न्यायसूत्रमें आया है—

प्रधृत्तिर्वाग्भुद्धिशरीरारम्भः। (१।१।१७)

भाष्यकार लिखते हैं—

मनोऽत्र बुद्धिरित्यनेन अभिप्रेत-वृथते अनेनेति बुद्धिः।

अर्थात् प्रवृत्ति-शब्दका अर्थ यहों वाचिक, कायिक और मानसिक कर्मोंका समूह है। प्रबलमूप प्रवृत्तिकी वायु मूर्ति उक्त कर्मसमूह है। बुद्धिपदवाच्य जिस अन्तःकरणके लिये सुनें तो आप इसके बाहर नहीं आएंगे।

और आभिधानिक नाम आत्मा भी है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं है, तथा नैयायिकमतसिङ्ग जीवात्मा और परमात्मा भी नहीं है। उपनिषद्में भी इस प्रकार अन्तःकरणको 'आत्मा' गव्दके प्रयोगद्वारा अनेक स्थलोंमें प्रतिपादित किया गया है। जैसे—

बुद्धेरात्मा महान् परः । महतः परमध्यक्त-
मध्यक्तात्पुरुषः परः ।

(कठोपनिषद्)

यहाँ पुरुष ही ब्रह्म अथवा न्यायमतप्रतिपादित आत्मा है। इस उपनिषद्-मन्त्रमें प्रथम प्रथम व्यवहृत 'आत्मा' गव्द पुरुष नहीं, महत्तत्त्व है। यह वात उक्त मन्त्रमें स्पष्ट है।

महत्तत्त्वकी वात सांख्यदर्शनमें है, न्यायके मतसे वह मन ही है। मुण्डकोपनिषद्में है—

प्रणवो धनुः शस्त्रो द्यात्मा ब्रह्म तत्त्वसुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धर्षं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

प्रणवके धाश्रयसे यहाँ योगका उपदेश दिया गया है, प्रणव धनुरूप है, आत्मा अर्थात् अन्तःकरण वाण-स्वरूप है। ब्रह्मको लक्ष्य करके इस वाणके प्रयोगके द्वारा लक्ष्यको वेवनेसे तन्मयता आ जाती है। लक्ष्यवेष-गव्दके द्वारा सयोगविशेषका ही वोध होता है। यहाँ आत्मा-गव्दका 'अन्तःकरण' अर्थ सर्वादिसम्मत नहीं है, केवल नैयायिकमतसम्मत है, परन्तु लक्ष्यवेष-गव्दमें जो सयोग-विशेष जान पड़ता है वह सभी डैतवादियोंको अभिप्रेत है। ज्ञानादिके लिये मनके जो विशेष-विशेष सयोग स्वीकार किये जाते हैं, न्यायके मतसे उसका स्थूल विवरण इस प्रकार है—'मन अणुपरिमाण है, परन्तु विद्युतके समान क्षिप्रगतियुक्त है। नाडीविशेषके साथ संयोग होनेपर वही एक मन ज्ञान, इच्छा, सुख, दुःख, प्रयत्नादि विभिन्न गुणोंका उत्पादन करता है, जिस नाडीसे मनका सयोग होनेसे चाक्षुप्रत्यक्ष होता है उसी नाडीसे मनः-सयोगके द्वारा श्रावणादि प्रत्यक्ष नहीं होते। उसी प्रकार जिस नाडीसे मनःसयोग होनेपर श्रावण प्रत्यक्ष होता है उसीके साथ मनःसयोग होनेसे चाक्षुषादि प्रत्यक्ष नहीं होते। इसी कारण अन्यमनस्कता-गव्दका व्ययहार होता है।'

एकाप्रचित्तसे रूपका दर्शन करते समय किसीकी वात शीत्र नहीं सुन पड़ती, सरीत श्रवण करते समय दूसरा

ज्ञान नहीं होता। क्योंकि गरीबमें वहत्तर हजार नाडियाँ हैं, उनमें केवल वहत्तर ही प्राणवहा प्रधान नाडियाँ हैं। इन प्रधान नाडियोंमें दस प्रमुख हैं—(१) इडा, (२) पिङ्गला, (३) सुषुम्ना, (४) गान्धारी, (५) हस्ति-जिह्वा, (६) पूषा, (७) यशस्विनी, (८) अलम्बुषा, (९) कुहू और (१०) शङ्खिनी।

शङ्खिनी नाडीके अभ्यन्तर जो नाडी है उसके अन्तर्गत पुरीतत् नाडी है। मनके पुरीतत् नाडीमें प्रविष्ट होनेपर सुषुम्ना हो जाती है, उस समय कोई भी ज्ञान नहीं होता। पुरीतत् नाडी जिस मेधा नाडीद्वारा आवृत है उसमें मनःसंयोग होनेसे निद्रा और निद्रामें स्वप्न-दर्शनादि ज्ञान होता है। मनका गान्धारीके साथ संयोग होनेपर वाम चक्षुद्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और हस्तिजिह्वामें मनका संयोग होनेसे दक्षिण चक्षुद्वारा। पूषामें मनका सयोग होनेसे दक्षिण-कर्णद्वारा श्रावण प्रत्यक्ष होता है और यशस्विनीमें मनःसयोग होनेसे वाम कर्णद्वारा। अलम्बुषाके ऊर्ध्वदर्शमें मनःसयोग होनेसे ग्राणज प्रत्यक्ष, और मध्यदेशमें मनः-संयोग होनेसे रसास्वादनका ग्रहण अर्थात् रासनप्रत्यक्ष होता है। कुहूमें मनःसयोग सम्भोगसुखका हेतु है, शङ्खिनीमें मनःसंयोग मलोत्सर्ग-प्रयत्नका हेतु है। सुषुम्नामें मनःसंयोग योगारम्भ, और सुषुम्नामध्यस्थित चित्रिणी प्रभृति नाडीमें शान्त मनका गाढ सयोग समाधि है। यह समाधि दो प्रकारकी है, यह वात पहले कही जा सकती है।

सुषुम्नाके अतिरिक्त अन्य सब नाडियोंमें मनका संयोग विविध प्रकारके यत्र, इच्छा, द्वेष, शारीरिक चेष्टा तथा विविध विधयोंके भोगके लिये उपयोगी होता है। इडा-पिङ्गलाके साथ मनःसयोग जीवन, योनि, यत्र प्रभृतिका उत्पादक है।

पातञ्जलोक्त चित्तवृत्तिनिरोध सुषुम्नान्तर्गत नाडीमें मनःसयोगसे होता है। 'युज् समाधौ' यह 'युज्' धातु उसी गाढ सयोगका वोध करती है। अपर दोनों 'युज्' धातुओंसे 'योग' गव्द उद्भूत होनेपर भी उसके सामान्यवाचक होनेके अतिरिक्त विशेष अर्थका भी वोध होता है—जिस प्रकार त्रास्त्रण कहनेसे पञ्चगौड़, पञ्चद्राविड सब त्रास्त्रणोंका वोध होता है, किन्तु कान्यकुञ्ज कहनेसे एक विशेष सम्प्रदायका ही ज्ञान होता है।

'योग' शब्दके 'युज्' धातुसे उद्भूत होनेपर भी समाधि या संयोगविशेषके अर्थमें उसका प्रयोग पुँलिङ्ग, तथा शास्त्रवाचक होनेपर नपुसकलिङ्गमें होता है। 'योगमाच्छेयत्' इस वाक्यमें योग+णिच्च+अच् प्रत्ययसे निष्ठव्व 'योग' शब्द ही शास्त्रवाचक है। यह योगवक्ता पुरुषका वाचक भी हो सकता है।

विद्यासमुद्देशप्रकरणमें कौटिल्य लिखते हैं—‘सांख्यं योग लोकायत चेत्यान्वीक्षिकी’—यहाँ 'योग' शब्दसे न्याय और वैशेषिकका ही बोध होता है, यह वात प्रमाण पूर्वक पहले ही वतलायी जा चुकी है। आन्वीक्षिकीका मुद्रित पुस्तकमें आन्वीक्षकी पाठ मिलता है।

ब्रह्मसूत्रमें 'एतेन यागः प्रत्युक्तः' सूत्र है, इसमें भी पुँलिङ्ग प्रयोग है; परन्तु इसका वाच्यार्थ शास्त्र नहीं है, अर्थात् वहाँ 'योग' शब्द शास्त्रका वाचक नहीं है। शास्त्र वहाँ लक्ष्यार्थ है, 'योग' शब्दकी योगसाधनशास्त्रमें लक्षण है। यह लक्षणा निम्नलिखित न्यायसूत्रद्वारा सिद्ध होता है—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिष्ठयेभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसकुचन्दनगंगाशाटकाज्ञपुरुपेष्वतज्ज्वेऽपि तदुपचारः। (२।२।५९)

'साधनात् अन्न प्राणाः' इति भाष्यम्। भगवान् शङ्कराचार्यके मतसे ब्रह्मसूत्रस्थ 'योग' शब्द हिरण्यगर्भोक्त योगशास्त्रपरक होनेपर भी सूत्रकारके अभिप्रायानुसार यह न्यायका वौधक है या नहीं, यह कौन कह सकता है? क्योंकि

ब्रह्मसूत्रमें ही नहीं, वल्कि शारीरकभाष्यमें भी न्यायमतका खण्डन नहीं है।

'एतेन शिष्टपरिग्रहा अपि व्याख्याताः'—इस ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते समय भगवान् शङ्कराचार्य परमाणुकारणवादका उल्लेख करते हुए भी न्यायमतका खण्डन नहीं करते। न्यायसूत्रकारका सृष्टिविषयमें वैशेषिकके साथ मतसम्य प्रसिद्ध होते हुए भी मोक्षक्रममें न्यायसूत्रका प्रामाण्य स्वयं शङ्कराचार्य स्वीकार करते हैं, तथा—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषभिष्याज्ञानानामुत्तरोत्तरपाये तदनन्तराभावादपवर्गः। (१।१।२)

—इस न्यायसूत्रको उद्धृत करते हैं। परमाणुकारणवादके खण्डनमें ब्रह्मसूत्र और शारीरकभाष्यमें जो विचार हैं उनमें भी भगवान् शङ्कराचार्य वैशेषिकमतका ही उल्लेख करते हैं, न्यायमतका तो नाम भी नहीं लेते।

अद्वैतज्ञानके विना मुक्ति नहीं होती। न्यायमत अद्वैतज्ञानका समर्थक नहीं है, उसका योग मुक्तिका साक्षात् कारण नहीं है, इस अभिप्रायसे 'योगः प्रत्युक्तः' ही सकता है। जो हो, उस विचारकी यहाँ विशेष आवश्यकता नहीं है। नपुसकलिङ्गमें 'योग' शब्द न्याय और वैशेषिकका वाचक है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अभिधानचिन्तामणि और अन्य कतिपय प्राचीन जैन ग्रन्थोंमें नैयायिकके पर्याय शब्दरूपमें 'योग' शब्द व्यवहृत हुआ है। 'योग' शब्द त्रिविध 'युज्' धातुसे उद्भूत हो सकता है तथा तदुपदेशक शास्त्रवाचक हो सकता है, एवं शास्त्रोपेत्रज्ञवाचक भी हो सकता है—इस सिद्धान्तकी इस लेखके द्वारा आलोचना की गयी है।

जग माहीं ऐसो रहो, ज्यों अमृजसर माहिं।
रहै नीरके आसरे, पै जल छूवत नाहिं॥
जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥
ऐसा हो जो साध हो, लिये रहै वैराग।
चरनकमलमें चितधरै, जगमें रहै न पाग॥

—चरनदास

श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी)

यों तो श्रीरामचरितमानसमें सर्वत्र ही भक्तियोगका पवित्र और परम शान्तिदायी सागर लहरा रहा है, परन्तु प्रकृत भक्तियोगका प्रसङ्ग बनकाण्डके अन्तर्गत—

एक वार प्रभु सुख आसीना । लछिमन बचन कहे छलहीना ॥

इस चौपाईसे आरम्भ होता है और—
भगतियोग सुनि अति सुख पावा । लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा ॥

—इस चौपाईपर समाप्त हो जाता है। इस भक्तियोगके साथ उन पॉन्टों स्वरूपोंके विषयमें प्रश्न किया गया है जिनका वेद-शास्त्रानुसार वौध प्राप्त करना भवसागर पार करनेवाले मुमुक्षुका परम घ्येय है। पॉन्च स्वरूप ये हैं—

प्राप्त्यस्य ब्रह्मणो रुपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः ।

प्राप्त्युपायं फलं प्राप्तेस्तथा प्राप्तिविरोधकः ॥

वदन्ति सकलं वेदाः सेतिहासपुराणकाः ।

मुनयश्च महात्मानो वेदवेदान्तवेदिनः ॥

अर्थात् (१) परस्वरूप, (२) स्वस्वरूप, (३) उपास्यस्वरूप, (४) फलस्वरूप और (५) विरोधस्वरूप इन्हेंके सम्बन्धमें प्रश्न किया गया है, यथा—
कहहु ग्यान विराग अरु माया । कहहु सो भगति करहु जेहि दाया ॥

ईश्वर जीवहि भेद प्रभु, सकल कहहु समुक्षाइ ।

जाते होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ ॥

जान-विराग (उपास्यस्वरूप), भक्ति (फलस्वरूप) माया (विरोधस्वरूप), ईश्वर (परस्वरूप) और जीव (स्वस्वरूप) के विषयमें यह प्रश्न पूछा गया है। परन्तु इन सब प्रश्नोंका पर्याप्तान केवल भक्तियोगमें ही हुआ है, जिसका सम्पुट प्रश्नके साथ ही लगा हुआ है, यथा—
प्रश्नके आदिमें कहा है—

मोहिं समुक्षाइ कहहु सोइ देवा । सब तजि करौं चरन-रज-सेवा ॥

और प्रश्नके अन्तमें कहा है—

'जाते होइ चरन रति, सोक-मोह-भ्रम जाइ ॥'

और 'मैं पूछौं निज प्रभुकी नाईं ।'—भावको स्पष्ट करके ही प्रश्न पूछा गया है, जिससे भगवान्‌का यह विरद्ध भी—भगतिवन्त अति नीच्छ प्रानी। मोहिं प्रान प्रिय असि मम बानी ॥
—लक्षित हो जाय ।

उपर्युक्त प्रश्नोंका उत्तर आरम्भ करते समय भी सर्वप्रथम अहङ्कारका ही त्याग कराया गया है। जैसे—
थेरेहि महें सब कहाँ बुझाइ । सुनहु तात मति मन चित लाई ॥

तात्पर्य यह कि अन्तःकरणचतुष्यमेसे (१) मन, (२) बुद्धि और (३) चित्तको लगाकर अर्थात् अहङ्कार (चौथे) को त्याग कर सुनो ।

इस भक्तियोगका मुख्य सार अहङ्कारका निःश्वरूपसे त्याग ही है। विरोधस्वरूप मायाका स्वरूप भी जो दो भेदोंसे—'मैं अरु मोर तोर तैं' अविद्या, और 'गों गोचर जहँ लगि मन जाई' विद्या—वतलाया गया है, उसका भी मूल कारण अहकार ही है। क्योंकि दुःखरूप अविद्यामें तो 'मैं' 'मोर' 'तोर' आदि शब्द स्पष्ट ही अहङ्कार-सूचक हैं और यवनिका (परदा) स्वरूपा विद्याके कार्य-रूप जगत्में जो नानात्यका दर्शन होता है, वह भी अहङ्कार-मूलक ही है। तभी तो दोनोंकी निवृत्तिमें निर्मानावस्था उत्पन्न होनेपर समदृष्टिसे जगत्को ब्रह्मरूप देखना ही ज्ञान कहा गया है—

ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं । देखु ब्रह्म समान सब माहीं ॥

तथा—

तृन सम सिद्ध तीन गुन त्यागी—

—द्वारा वैराग्य वताकर इस ज्ञान-वैराग्यको भक्तियोगका उपायस्वरूप वतलाया गया है।

ईश्वर (परस्वरूप) के लक्षण '(१) वन्धमोक्षप्रद, (२) सर्वपर, और (३) मायाप्रेरक' कहकर भी सर्वथा अहङ्कारकी ही जड़ उखाइ दी गयी है। क्योंकि ईश्वर, जीव और माया—इन तीनोंमेंसे जो एक शेष दोनोंपर अपना अधिकार जमाये हुए है, वही सर्वपर (सबसे बड़ा) हुआ। अतः सर्वपरत्व गुण ईश्वरमें निश्चित होनेसे जीवके वन्धन और मुक्तिका अधिकार ईश्वरमें ही रहा, जिसे इस चौपाईके द्वारा दरसाया गया है—

नट मरकट इव सबहि नचावत । राम खोगेस वेद अस गावत ॥

चेतन सर्कटकी ही तरह यह चेतन जीव नट-रूप

ईश्वरके अधीन है; उसका वन्धन और मोक्ष अपने अधीन न होनेसे अहङ्कारको स्थान कहाँ ? पुनः ‘मायाप्रेरक’ तीसरे गुणसे जो मायाको प्रेरित करनेका अधिकार है, वह— उमा दरु जोषित की नाहूँ। सवहिं नचावत राम गुसाहूँ ॥

—इस चौपाईद्वारा जड कठपुतलीकी उपमा देकर स्थापित किया गया और फिर—

ईश्वर वस माया गुणखानी । माया वस्य जीव अभिमानी ॥

—यह कहकर जीवके अहङ्कारकी आत्मनिक निवृत्ति भूचित की गयी है। क्योंकि यह जीव जब मायाके वश हो रहा है और माया ईश्वरके बश है तब ‘परवस जीव स्ववस भगवन्ता’ यह स्पष्ट हो जानेसे ‘माया ईश न आयु कहूँ जान कहिय सो जीव’—जीवका (स्वस्वरूप) अपना स्वरूप निर्दिष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपर्युक्त चौपाईयोंमें जो मायाके लक्षण कहे गये हैं तथा दोहेके नीचेबाले पदमें जो ईश्वरके लक्षण वर्णित हैं, उन दोनोंसे अलग ही जीवको अपना स्वरूप समझनेके लिये कहा गया है। अतः यह जीव जब ईश्वर और ईश्वरकी आजानुवर्त्तीनी माया दोनोंके ही अधीन ठहरा तब इसका अहङ्कार-से कल्याण होना कैसे सम्भव है ? वल्कि अहङ्कारकी ही सुरणा होनेसे इसके सहज स्वरूपकी हानि होती है। इसीलिये जीवमात्रके कल्याणका मार्ग अहङ्कारको सर्वथा त्यागकर सर्वोपायशूल्य होकर श्रीभगवान्‌के गरणपत्र-प्रपञ्च होना ही बतलाया गया है, इस प्रपत्तिको ही ‘भक्तियोग’ कहते हैं। अतएव स्पष्ट वाक्योंमें कहा गया है— जाते वेणि द्रव्यों में मर्हि । सो मम भगति भगत मुखदर्हि ॥ सो स्तत्र अवलम्ब न आना । तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ॥

क्योंकि कर्मयोग और ज्ञानयोग दोनों अपने-अपने पूर्व साधनोंके अपेक्षित रहनेसे स्वतन्त्र अवलम्ब नहीं हैं। कहा है—

धर्म ते विरति योग ते ज्ञाना । ज्ञान मोक्षप्रद वेद वसाना ॥

अर्थात् जबतक वर्णाश्रम आदिके अनुसार स्वर्घर्मका पूर्ण पालन नहीं किया जायगा तबतक (धर्म ते विरति) वैराग्य उत्पन्न ही न होगा; जबतक वैराग्य न होगा तबतक कर्मोंका फलत्यागादि न होनेके कारण कर्मयोग न हो सकेगा, जबतक कर्मयोग न होगा तबतक (योग ते ज्ञाना) ज्ञान उत्पन्न न होगा, और जबतक ज्ञान न होगा तबतक मोक्षकी ग्रासि नहीं हो सकेगी। परन्तु यह भक्ति-

योग मेरे भक्तोंके लिये सुखद, सुलभ, स्वतन्त्र अवलम्ब है। इसके द्वारा मैं बेगि (तुरन्त) ही द्रवीभूत होकर (अह भक्तपराधीनः) स्वयं अपने भक्तोंके अधीन हो जाता हूँ (फिर मोक्षकी तो गिनती ही क्या है ?) ।

इस प्रकार जो जीव ईश्वर तथा माया दोनोंके अधीन होकर—

सो माया वस भयो गुसाहूँ । वैध्यो कौर मरकटकी नाहूँ ॥

—दुःखस्तप भवकूपमे पड़ा था, वही जीव भक्तियोगके सुलभ सहारेसे सहज ही मायाको कौन कहे, ‘सर्वपर’ नित्यस्वरूप ईश्वरको भी अपने प्रेमाधीन कर लेता है, क्योंकि ‘राम पुनीत प्रेम-अनुगामी’ हैं।

इस भक्तियोगकी प्राप्तिके सुलभ और सुगम पन्थ निवृत्ति-मार्ग और प्रवृत्ति-मार्गवालोंके लिये अलग-अलग दो प्रकारके बतलाये गये हैं। भगति तात अनुपम सुखमूला । मिलै जो सन्त होहिं अनुकूला ॥

सन्तके अनुकूल होनेपर भक्तिकी प्राप्ति होनेकी बात उन वडभागियोंके लिये कही गयी है, जिनका मन प्रवृत्ति-मार्गसे उपराम हो गया है और जिन्होंने यहस्याश्रम-धर्म-का त्यागकर, विरक्तवेष धारण कर, किसी विरक्त सन्त सद्गुरुकी शरण लेकर सदाके लिये शिष्यभावसे उनकी सेवामें अपना जीवन समर्पित कर दिया है। ऐसे समाश्रितोंको उनके अधिकारके अनुसार भगवद्भक्तिका पात्र समझकर जब भक्तियोगी सन्त उनके अनुकूल होते हैं, तब उन्हें भक्तिकी प्राप्ति होती है। इसी कारण इस मार्गकी नवधा साधन-भक्तिका वर्णन प्रसिद्ध प्रवण-कीर्तनादिके क्रमके अनुसार न होकर दूसरे ही क्रमसे है। इस क्रमको स्वयं श्रीभगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे श्रीगवरीजीसे इस प्रकार कहा है—

प्रथम भगति सन्तन कर सगा । दूसरि रति मम कथा प्रसगा ॥

गुरु-पद-पक्ष-सेवा, तीसरि भगति अमान ।

चैथि भगति मम गुनगन, कैरु रुपट तजि गान ॥

मंत्र जाप मम दृढ विस्तासा । पचम मजन सो वेद प्रकासा ॥

षट दम शील विरत बहुकर्मा । निरत निरन्तर सजन धर्मा ॥

सतई सब मोहिमय जग देखै । मोते सन्त अधिक कर लेखै ॥

अठई जयाताम सन्तोषा । सपनेहुँ नहि देखे पर देखा ॥

नवम सरल सद्वासो छलहीना । मम भरोस हिय हरय न दीना ॥

प्रवृत्ति-मार्गवाले यहस्याश्रमियोंके लिये (जिनको विरक्त होकर किसी त्यागी सन्त सद्गुरुकी अनुकूलताका

नुयोग नहीं प्राप्त हो सका है, उनके लिये) इस प्रकार वत्तलाया गया है—

भगतिके साधन कहाँ बतानी । सुगम पथ मोहि पावहि प्रानी ॥
प्रथमाहि विप्र चरन अति प्रीती । निज-निज धरम निरत श्रुतीरीती ॥
यहिकर फल पुनि विषय विरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भगति दृढ़ार्ही । मम लीला रति अति मन मार्ही ॥

अर्थात् इन भाग्यवानोंको पहले ब्राह्मणोंके चरणोंमें निष्ठा होने और गृहस्थाश्रमादि वर्णाश्रम धर्मोंका वेदानुसार पालन करनेसे (१) श्रवण, (२) कीर्तन, (३) स्त्ररण, (४) पादसेवन, (५) अर्चन, (६) वन्दन, (७) दास्य, (८) सख्य और (९) आत्मनिवेदन, इस नवधा साधनाद्वारा (जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट आया है) भक्तियोगकी प्राप्ति होती है । इस प्रकार साधनावस्थाकी नवधा भक्ति दोनों मार्गयालोंके लिये दो प्रकारकी होनेपर भी सिद्धा, प्रेमा या पराभक्ति एक ही है । अतएव यहस्य और विरक्त दोनोंके लिये अपने-अपने अधिकागानुसार उपर्युक्त प्रकारसे भक्तियोग सुलभ है ।

अतएव स्वयं श्रीभगवान् कहते हैं—

सन्त चरन परज अति प्रेमा । मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु ब्रु पति देवा । सब मो कहै जाने दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन वह नीरा ॥
काम आदि मद दम न जाके । तात निरतर वस मैं ताके ॥

वचन कर्म मन मोरि गति, भजन करहि नि काम ।
तिन्तके छद्यकमल महै, करौं सदा विश्राम ॥

अर्थात् उन भक्तियोगियोंकी प्रीति केवल भगवत् और भागवतोंमें ही अत्यन्त दृढ़ हो जाती है और मनसा, वाचा, कर्मणा अनन्यभावसे मेरा भजन करनेका ही उनका नियम निश्चित हो जाता है । वे गुरु, पिता, माता, बन्धु, पति, देवता आदि सब सुक्षकों ही जानकर दृढ़तासे मेरी सेवामें लगे रहते हैं, मेरा गुणानुवाद गाते हुए पुलकित हो जाते हैं, उनकी वाणी मेरे प्रेमसे गदगद हो जाती है और उनके नेत्रोंसे अश्रुधारा प्रवाहित होती है । मैं सदा ऐसे निष्काम और निष्कपट भक्तियोगिके वशमें रहता हूँ ।

वास्तवमें भक्तियोग ही एक ऐसा सुलभ और स्वतन्त्र अवलम्ब है जिसके प्रभावसे सर्वेश्वर स्वतन्त्र ईश्वरको भी प्रेमाधीन होकर निरन्तर भक्तोंके वशमें रहना पड़ता है तथा सदैव उनके हृदयमें ही बास करना पड़ता है । इसीलिये—

भगतियोग सुनि अति सुख पावा । लछिमन प्रभु चरनन्हि सिर नावा ॥

—इस भक्तियोगको सुनकर जीवमात्रको कल्याण-पथ लखानेवाले (शेषावतार रामानुजाचार्य) श्रीलक्ष्मणजीने परमानन्द प्राप्त किया और प्रभुके चरणोंमें शीश नवाकर शरणागति-मार्ग—भक्तियोगको शिरोधार्य किया । अतः जीवमात्रके लिये भगवत्-प्रेमावलम्बन ही यथार्थ योग है तथा भगवत्-प्रेमकी प्रधानता ही यथार्थमें जान है, नहीं तो जहाँ भगवान्की भक्तिका प्राप्तान्य नहीं है, वह योग कुयोग है एव वह जान अज्ञान माना गया है । यथा—

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू । जहैं नहिं राम प्रेम परधानू ॥

‘सियावर रामचन्द्रकी जय’ ।

—४७५—

× × × ×

दूलन चरनन लागि रहु, नामकी करत पुकार ।
भक्ति सुधारस पेट भर, का दृहुँ लिखा लिलार ॥
जग रहु जगते अलग रहु, जोग जुगतिकी रीति ।
दूलन हिरदे नाम ते, लाइ रहौ दृढ़ प्रीति ॥

—दूलनदास

× × × ×

मनको वश करनेके कुछ उपाय* /

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।

वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्नुमुपायतः ॥

(गीता ६ । ३६)

श्रीभगवान् कहते हैं—‘जिनका मन वशमें नहीं है उनके लिये योगका प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, यह मेरा मत है, परन्तु मनको वशमें किये हुए प्रयत्नगील पुरुष साधनद्वारा योग प्राप्त कर सकते हैं ।’

भगवान् श्रीकृष्ण महाराजके इन बचनोंके अनुसार यह सिद्ध होता है कि मनको वश किये विना परमात्माकी प्राप्तिरूप योग दुष्प्राप्य है । यदि कोई ऐसा चाहे कि मन तो अपनी इच्छानुसार निरद्धुग होकर विषयवाटिकामें खच्छन्द विचरण किया करे और परमात्माके दर्शन अपने-आप ही हो जायें, तो यह उसकी भूल है ।

दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति और आनन्दमय परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवालेको मन वशमें करना ही पड़ेगा, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है । परन्तु मन स्वभावसे ही वडा चञ्चल और बलवान् है, इसे वशमें करना कोई साधारण वात नहीं । सारे साधन इसीको वश करनेके लिये किये जाते हैं, इसपर विजय मिलते ही मानो विश्वपर विजय मिल जाती है । भगवान् गङ्गराचार्यने कहा है—‘जित जगत् केन, मनो हि येन’ । ‘जगत्को किसने जीता ?—जिसने मनको जीत लिया ।’ अर्जुनने भी मनको वशमें करना कठिन समझकर कातर गद्दोंमें भगवान्से यही कहा था—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् ददम् ।

तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिच सुदुर्घरम् ॥

(गीता ६ । ३४)

‘हे भगवन् ! यह मन वडा ही चञ्चल, हठीला, दृढ़ और बलवान् है; इसे रोकना मैं तो यायुके रोकनेके समान अत्यन्त दुष्कर समझता हूँ ।’

इससे किसीको यह न समझ लेना चाहिये कि जो वात अर्जुनके लिये इतनी कठिन थी वह हमलोगोंके लिये कैसे सम्भव होगी । मनको जीतना कठिन अवश्य है, भगवान्-

ने इस वातको स्वीकार किया, पर साथ ही उपाय भी बतला दिया—

असशयं महावाहो मनो हुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णते ॥

(गीता ६ । ३५)

भगवान्ने कहा, ‘अर्जुन ! इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस चञ्चल मनका निग्रह करना वडा ही कठिन है, परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें हो सकता है ।’ इससे यह सिद्ध हो गया कि मनका वशमें करना कठिन भले ही हो, पर असम्भव नहीं, और इसके बग किये विना दुःखों-की निवृत्ति नहीं । अतएव इसे वश करना ही चाहिये । इसके लिये सबसे पहले इसका साधारण स्वरूप और स्वभाव जाननेकी आवश्यकता है ।

मनका स्वरूप

मन क्या पदार्थ है ? यह आत्म और अनात्म पदार्थके बीचमें रहनेवाली एक विलक्षण वस्तु है । यह स्वयं अनात्म और जड़ है, किन्तु वन्ध और मोक्ष इसीके अधीन हैं ।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।

वस, मन ही जगत् है, मन नहीं तो जगत् नहीं ! मन विकारी है, इसका कार्य सकल्य-विकल्य करना है । यह जिस पदार्थको भलीभौति ग्रहण करता है, स्वयं भी तटाकार बन जाता है । यह रागके साथ ही चलता है, सारे अनथोंकी उत्पत्ति रागसे होती है, राग न हो तो मन प्रपञ्चोंकी ओर न जाय । किसी भी विषयमें गुण और सौन्दर्य देखकर उसमें राग होता है, इसीसे मन उस विषयमें प्रवृत्त होता है । परन्तु जिस विषयमें इसे दुःख और दोष दीख पड़ते हैं उससे इसका द्रेप हो जाता है, फिर यह उसमें प्रवृत्त नहीं होता, यदि कभी भूलकर प्रवृत्त हो भी जाता है तो उसमें अवगुण देखकर द्रेपसे तत्काल लौट आता है । यास्तवमें द्रेपवाले विषयमें भी इसकी प्रवृत्ति रागसे ही होती है । साधारणतया यही मनका स्वरूप और स्वभाव है । अब सोचना यह है कि यह वशमें क्योंकर हो । इसके लिये उपाय भगवान्-

* इन लेखमें नितने उपाय बताये गये हैं वे सभी किसी-न-किसी ऊचे जायगा वा महात्मा पुरुषों द्वारा अनुमूल हैं । लेखन-

वतला ही दिया है—अभ्यास और वैराग्य। यही उपाय योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलिने वतलाया है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तज्जिरोधः ।

(समाधिपाद १२)

‘अभ्यास और वैराग्यमें ही चित्तका निरोध होता है’, अतएव अब इसी अभ्यास और वैराग्यपर विचार करना चाहिये।

वशमें करनेके साधन

(१) भोगोंमें वैराग्य

जबतक ससारकी वस्तुएँ सुन्दर और सुखप्रद माल्म होती हैं तभीतक मन उनमें जाता है, यदि यही सब पठार्थ दोषयुक्त और दुःखप्रद दीखने लगें (जैसे कि वामव्रं ये हैं) तो मन कदापि इनमें नहीं लगेगा। यदि कभी इनकी ओर गत्ता भी तो उसी समय वापस लौट आवेगा, इसलिये ससारके सारे पदार्थोंमें (चाहे वे इहलौकिक हो या पारलौकिक) दुःख आर दोषकी प्रत्यक्ष भावना करनी चाहिये। ऐसा दृढ़ प्रत्यय करना चाहिये कि इन पदार्थोंमें केवल दोष और दुःख ही भरे हुए हैं। रमणीय और सुखरूप दीखनेवाली वस्तुमें ही मन लगता है। यदि यह रमणीयता और सुखरूपता विपर्योगसे हटकर परमात्मामें दिखायी देने लगे (जैसा कि वास्तवमें है) तो यही मन तुरन्त विपर्योगसे हटकर परमात्मामें लग जाय। यही वैराग्यका मावन है और वैराग्य ही मन जीतनेका एक उत्तम उपाय है। सच्चा वैराग्य तो ससारके इस दीखनेवाले स्वरूपका सर्वथा अभाव और उसकी जगह परमात्माका नित्यभाव प्रतीत होनेमें है। परन्तु आरम्भमें नये साधकको मन बग करनेके लिये इस लोक और परलोकके समस्त पदार्थोंमें दोष और दुःख देखना चाहिये, जिससे मनका अनुराग उनसे हटे।

श्रीभगवान्नने कहा है—

इन्द्रियायेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदीपानुदर्शनम् ॥

(गीता १३ । ८)

‘इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंमें वैराग्य, अहङ्कारका त्याग, (इस शरीरमें) जन्म, मृत्यु, बुद्धापा और रोग (आदि) दुःख और दोष देखने चाहिये।’ इस प्रकार वैराग्यकी भावनासे मन बगमें हो सकता है।

यह तो वैराग्यका सधिस साधन हुआ, अब कुछ अभ्यासोंपर विचार करें।

(२) नियमसे रहना

मनको बश करनेमें नियमानुवर्त्तिसे बड़ी सहायता मिलती है। सारे काम ठीक समयपर नियमानुसार होने चाहिये। ग्रातःकाल विछौनेसे उठकर रातको सोनेतक दिनभरके कार्योंकी एक ऐसी नियमित दिनचर्या बना लेनी चाहिये जिससे जिस समय जो कार्य करना हो, मन अपने-आप स्वभावसे ही उस समय उसी कार्यमें लग जाय। ससार-साधनमें तो नियमानुवर्त्तिसे लाभ होता ही है, परमार्थमें भी इससे बड़ा लाभ होता है। अपने जिस इष्ट स्वरूपके व्यानके लिये प्रतिदिन जिस स्थान-पर, जिस आसनपर, जिस आसनसे, जिस समय और जितने समय बैठा जाय उसमे किसी दिन भी व्यतिक्रम नहीं होना चाहिये। पॉच मिनटका भी नियमित व्यान अनियमित अधिक समयके व्यानसे उत्तम है। आज दस मिनट बैठे, कल आध घण्टे, परसा विल्कुल लॉघा, इस प्रकारके साधनसे साधकको सिद्धि कठिनतासे मिलती है। जब पॉच मिनटका ध्यान नियमसे होने लगे तब दस मिनटका करे, परन्तु दस मिनटका करनेके बाद किसी दिन भी नौ मिनट न होना चाहिये। इसी प्रकार स्थान, आसन, समय, इष्ट और मन्त्रका बारबार परिवर्त्तन नहीं करना चाहिये। इस तरहकी नियमानुवर्त्तिसे भी मन स्थिर होता है। नियमोंका पालन खाने, पीने, पहनने, सोने और व्यवहार करने, सभीमें होना चाहिये। नियम अपनी अवस्थानुकूल शास्त्रसम्मत बना लेने चाहिये।

(३) मनकी क्रियाओंपर विचार

मनके प्रत्येक कार्यपर विचार करना चाहिये। प्रतिदिन रातको सोनेसे पूर्व दिनभरके मनके कार्योंपर विचार करना उचित है। यद्यपि मनकी सारी उधेड़-बुनका सरण होना बड़ा कठिन है, परन्तु जितनी याद रहे उतनी ही वातोंपर विचार कर जो-जो सङ्कल्प सात्त्विक माल्म दें उनके लिये मनकी सराहना करना और जो-जो सङ्कल्प राजसिक और तामसिक माल्म पहँड़े उनके लिये मनको धिकारना चाहिये। प्रतिदिन इस प्रकारके अभ्याससे मनपर सत्कार्य करनेके और असत्कार्य छोड़नेके सक्तार जमने लगेंगे, जिससे कुछ ही समयमें मन बुराइयोंसे

वचकर भले-भले कायोंमे लग जायगा । मन पहले भले कार्यवाला होगा, तब उसे वश करनेमें सुगमता होगी । कुसङ्गमें पढ़ा हुआ वालक जबतक कुसङ्ग नहीं छोड़ता तबतक उसे कुसङ्गियोंसे दुरी सलाह मिलती रहती है, इससे उसका वशमें होना कठिन रहता है । पर जब कुसङ्ग छूट जाता है तब उसे दुरी सलाह नहीं मिल सकती, दिनरात घरमें उसको माता-पिताके सहुपदेश मिलते हैं, वह भली-भली बातें सुनता है । तब फिर उसके सुधरकर माता-पिताके आज्ञाकारी होनेमें विलम्ब नहीं होता । इसी तरह यदि विषय-चिन्तन करनेवाले मनको कोई एक साथ ही सर्वथा विषयरहित करना चाहे तो वह नहीं कर सकता । पहले मनको दुरे चिन्तनसे बचाना चाहिये, जब वह परमात्म-सम्बन्धी शुभ चिन्तन करने लगेगा तब उसको वश करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी ।

(४) मनके कहनेमें न चलना

मनके कहनेमें नहीं चलना चाहिये । जबतक यह मन वगमे नहीं हो जाता तबतक इसे अपना परम शत्रु मानना चाहिये । जैसे शत्रुके प्रत्येक कार्यपर निराशानी रखनी पड़ती है वैसे ही इसके भी प्रत्येक कार्यको सावधानीसे देखना चाहिये । जहाँ कहीं यह उलटा सीधा करने लगे वहीं इसे घिक्कारना और पछाड़ना चाहिये । मनकी खातिर भूलकर भी नहीं करनी चाहिये । यद्यपि यह बड़ा वलवान् है, कई बार इससे हारना होगा, पर साहस नहीं छोड़ना चाहिये । जो हिम्मत नहीं हारता वह एक दिन मनको अवश्य जीत लेता है । इससे लड़नेमें एक विचित्रता है । यदि दृढ़तासे लड़ा जाय तो लड़नेवालेका वल दिनोदिन बढ़ता है और इसका क्रमशः घटने लगता है, इसलिये इससे लड़नेवाला एक-न-एक दिन इसपर अवश्य ही विजयी होता है । अतएव इसकी हॉ-मैं-हॉ न मिलाकर प्रत्येक कार्यमें खून सावधानीसे वर्तना चाहिये । यह मन बड़ा ही चतुर है । कभी डरावेगा, कभी फुसलावेगा, कभी लालच देगा, वड़े-वड़े अनोखे रग दिखलावेगा, परन्तु कभी इसके धोखेमें न आना चाहिये । भूलकर भी इसका विश्वास न करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे इसकी हिम्मत दूर जायगी, लड़ने और धोखा देनेकी आदत छूट जायगी । अन्तमें यह आज्ञा देनेवाला न रहकर सीधा-सादा आज्ञा-पालन करनेवाला विश्वासी सेवक बन जायगा ।

मन लोभी, मन लालची, मन चंचल, मन चौर ।

मनके मत चरित्ये नहीं, पन्नक पतक मन और ॥

(५) मनको सत्कार्यमें संलग्न रखना

मन कभी निकम्मा नहीं रह सकता, कुछ-न-कुछ काम इसको मिलना ही चाहिये; अतएव इसे निरन्तर काममें लगाये रखना चाहिये । निकम्मा रहनेसे ही इसे दुरी वातें सूझा करती है, अतएव जबतक नींद न आवे तबतक तुने हुए सुन्दर माझलिक कायोंमें इसे लगाये रखना चाहिये । जाग्रत् समयके सत्कार्योंके चित्र ही स्वप्नमें भी दिखायी देंगे ।

(६) मनको परमात्मामें लगाना

श्रीभगवान् ने कहा है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्यिरम् ।

तत्सत्तो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

(गीता ६ । २६)

‘यह चञ्चल और अस्तिर मन जहाँ-जहाँ दौड़कर जाय वहाँ-वहाँसे हटाकर वारवार इसे परमात्मामें ही लगाना चाहिये ।’

मनको वशमें करनेका उपाय प्रारम्भ करनेपर पहले-पहले तो यह इतना जोर दिखलाता है—अपनी चञ्चलता और शक्तिमत्तासे ऐसी पछाड़ लगाता है कि नया साधक घबड़ा उठता है, उसके हृदयमें निराशा-सी छा जाती है; परन्तु ऐसी अवस्थामें धैर्य रखना चाहिये । मनका तो ऐसा स्वभाव ही है और हमें इसपर विजय पाना है, तब घबड़ानेसे थोड़े ही काम चलेगा । मुस्तैदीसे सामना करना चाहिये । आज न हुआ तो क्या, कभी-न-कभी तो वशमें होगा ही । इसीलिये भगवान् ने कहा है—

शनैः शनैरुपरमेदु बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।

आत्मसंस्थ मन. कृन्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत ॥

(गीता ६ । २५)

‘धीरे-धीरे अभ्यास करता हुआ उपरामताको प्राप्त हो, धैर्ययुक्त बुद्धिसे मनको परमात्मामें स्थिर करके और किसी भी विचारको मनमें न आने दे ।’

बड़ा धैर्य चाहिये । घबड़ाने, ऊनने या निराज होनेसे काम नहीं होगा । शाइसे घर साफ कर लेनेपर भी जैसे धूल जमी हुई-सी दीख पड़ती है, उसी प्रकार मनको सत्कारोंसे रहित करते समय यदि मन और भी अस्तिर या अपरिच्छिन्न दीखे तो इसमें कोई आश्र्यकी वात नहीं है । पर इससे दूरकर शाइ लगाना बन नहीं करना चाहिये ।

इस प्रकारकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेनी चाहिये कि किसी प्रकारका भी वृथा चिन्तन या मिथ्या सङ्कल्पोंको मनमें नहीं आने दिया जायगा । वड़ी चेष्टा, वड़ी दृढ़ता रखनेपर भी मन साधककी चेष्टाओंको कई बार वर्यथ कर देता है, साधक तो समझता है कि मैं ध्यान कर रहा हूँ पर मनदेवता सङ्कल्प-विकल्पोंकी पूजामें लग जाते हैं । जब साधक मनकी ओर देखता है तो उसे आश्र्वय होता है कि यह क्या हुआ । इतने नये-नये सङ्कल्प-जिनकी भावना भी नहीं की गयी थी—कहाँसे आ गये ? बात यह होती है कि साधक जब मनको निर्विपथ करना चाहता है तब ससारके नित्य अभ्यस्त विषयोंसे मनको फुरसत मिल जाती है, उधर परमात्मामें लगनेका इस समयतक उसे पूरा अभ्यास नहीं होता । इसलिये फुरसत पाते ही वह उन पुराने दृश्योंको (जो स्वकाररूपसे उसपर अङ्गित हो रहे हैं) सिनेमाके फिल्मकी भौति क्षण-क्षणमें एकके बाद एक उलटने लग जाता है । इसीसे उस समय ऐसे सङ्कल्प मनमें उठते हुए मालूम होते हैं जो ससारका काम करते समय याद भी नहीं आते थे । मनकी ऐसी प्रवलता देखकर साधक स्तम्भित-सा रह जाता है, पर कोई चिन्ता नहीं । जब अभ्यासका बल बढ़ेगा तब उसको ससारसे फुरसत मिलते ही तुरन्त परमात्मामें लग जायगा । अभ्यास दृढ़ होनेपर तो यह परमात्माके ध्यानसे हटाये जानेपर भी न हटेगा । मन चाहता है सुख । जबतक इसे वहाँ सुख नहीं मिलता—विषयोंमें सुख दीखता है, तबतक यह विषयोंमें रमता है । जब अभ्याससे विषयोंमें दुःख और परमात्मामें परम सुख प्रतीत होने लगेगा तब यह स्वय ही विषयोंको छोड़कर परमात्माकी ओर दौड़ेगा, परन्तु जबतक ऐसा न हो तबतक निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये । यह मालूम होते ही कि मन अन्यत्र भागा है, तत्काल इसे पकड़ना चाहिये । इसको पक्के चोरकी भौति भागनेका बड़ा अभ्यास है, इसलिये ज्यों ही यह भागे त्यों ही इसे पकड़ना चाहिये ।

जिस-जिस कारणसे मन मांसारिक पदार्थोंमें विचरे उस-उससे रोककर परमात्मामें स्थिर करे । मनपर ऐसा पहरा बैठा दे कि यह भाग ही न सके । यदि किसी प्रकार भी न माने तो फिर इसे भागनेकी पूरी स्वतन्त्रता दे दी जाय; परन्तु यह जहाँ जाय वहाँपर परमात्माकी भावना की जाय, यहाँपर इसे परमात्माके स्वरूपमें लगाया जाय ।

इस उपायसे भी मन स्थिर हो सकता है ।

(७) एक तत्त्वका अभ्यास करना

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि लिखते हैं—

तत्प्रतिपेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । (समाधिपाद ३२)

चित्तका विक्षेप दूर करनेके लिये पॉच तत्त्वोंमेंसे किसी एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये । एक तत्त्वके अभ्यासका अर्थ ऐसा भी हो सकता है कि किसी एक वस्तुकी या किसी मूर्तिविशेषकी तरफ एकदृष्टिसे देखते रहना । जबतक ऑखोंकी पलक न पड़े या ऑखोंमें जल न आ जाय तबतक उस एक ही चिह्नकी तरफ देखते रहना चाहिये । चिह्न धीरे-धीरे छोटा करते रहना चाहिये । अन्तमें उस चिह्नको विल्कुल ही हटा देना चाहिये । ‘दृष्टिः स्थिरा यत्र विनावलोकनम्’—अवलोकन न करनेपर भी दृष्टि स्थिर रहे । ऐसा हो जानेपर चित्तविक्षेप नहीं रहता । इस प्रकार प्रतिदिन आध-आध घण्टे भी अभ्यास किया जाय तो मनके स्थिर होनेमें अच्छी सफलता मिल सकती है । इसी प्रकार दोनों भ्रुओंके वीचमें दृष्टि जमाकर जबतक ऑखोंमें जल न आ जाय तबतक देखते रहनेका अभ्यास किया जाता है । इससे भी मन निश्चल होता है, इसीको त्राटक कहते हैं । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस प्रकारके अभ्यासमें नियमितरूपसे जो जितना अधिक समय देसकेगा उसे उतना ही अधिक लाभ होगा ।

(८) नाभि या नासिकाग्रमें दृष्टि स्थापन करना

नित्य नियमपूर्वक पद्मासन या सुखासनसे बैठकर सीधा बैठकर नाभिमें दृष्टि जमाकर जबतक पलक न पड़े तबतक एक-मनसे देखते रहना चाहिये । ऐसा करनेसे शीघ्र ही मन स्थिर होता है । इसी प्रकार नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि जमाकर बैठनेसे भी चित्त निश्चल हो जाता है । इससे ज्योतिके दर्शन भी होते हैं ।

(९) शब्द श्रवण करना

कानोंमें ऊँगुली देकर शब्द सुननेका अभ्यास किया जाता है । इसमें पहले भैरवोंके गुजार अथवा प्रातःकालीन पक्षियोंके चुन्नुहाने-जैसा शब्द सुनायी देता है, फिर क्रमगः बुँबुरु, शङ्ख, धण्डा, ताल, मुरली, भेरी, मृदज्ज, नफीरी और सिंहर्गर्जन-के सटशा शब्द सुनायी देते हैं । इस प्रकार दस प्रकारके शब्द सुनायी देने लगनेके बाद दिव्य ३० शब्दका श्रवण

होता है, जिससे साधक समाधिको प्राप्त हो जाता है। वह भी मनके निश्चल करनेका उत्तम साधन है।

(१०) ध्यान या मानसपूजा

सब जगह भगवान्के किसी नामको लिखा हुआ समझ-कर वारंवार उस नामके ध्यानमें मन लगाना चाहिये अथवा भगवान्के किसी स्वरूपविग्रेषकी अन्तरिक्षमें मनसे कल्पना कर उसकी पूजा करनी चाहिये। पहले भगवान्की मूर्तिके एक-एक अवयवका अलग-अलग ध्यान कर फिर हृष्टाके साथ सारी मूर्तिका ध्यान करना चाहिये। उसीमें मनको अच्छी तरह स्थिर कर देना चाहिये। मूर्तिके ध्यानमें इतना तन्मय हो जाना चाहिये कि सदाचारका भान ही न रहे। फिर कल्पना-प्रसूत सामग्रियोंसे भगवान्की मानसिक पूजा करनी चाहिये। प्रेमपूर्वक की हुई नियमित भगवदुपासनासे मनको निश्चल करनेमें वड़ी सहायता मिल सकती है।

(११) मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षाका व्यवहार

योगदर्शनमें महर्षि पतञ्जलि एक उपाय यह भी बतलाते हैं—

मैत्रीकरुणासु दितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविपयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (समाधिपाद ३३)

‘तुखी मनुष्योंसे प्रेम, दुखियोंके प्रति दया, पुण्य-त्माओंके प्रति प्रसन्नता और पापियोंके प्रति उदासीनताकी भावनासे चित्त प्रसन्न होता है।’

(क) जगत्के सारे सुखी जीवोंके साथ प्रेम करनेसे चित्तका ईर्ष्यामल दूर होता है, डाहकी आग दुःख जाती है। उसारमें लोग अपनेको और अपने आत्मीय स्वजनोंको सुखी देखकर प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे उन लोगोंको अपने प्राणोंके समान प्रिय समझते हैं। यदि यही प्रिय भाव सारे उसारके सुखियोंके प्रति अर्पित कर दिया जाय तो कितने अमन्दका कारण हो ! दूसरेको सुखी देखकर जलन पैदा करनेवाली वृत्तिका नाश हो जाय।

(ख) दुखी प्राणियोंके प्रति दया करनेसे पर-अपकारलप्त चित्त-मल नष्ट होता है। मनुष्य अपने कट्ठोंको दूर करनेके लिये किसीसे भी पूछनेकी आवश्यकता नहीं समझता, भविष्यमें कष्ट होनेकी सम्मावना होते ही पहलेसे उसे निवारण करनेकी चेष्टा करने लगता है। यदि ऐसा ही भाव जगत्के सारे दुखी जीवोंके साथ हो जाय

तो अनेक लोगोंके दुःख दूर हो सकते हैं। दुःखपीड़ित लोगोंके दुःख दूर करनेके लिये अपना सर्वस्व न्योछावर कर देनेकी प्रवल भावनासे मन सदा ही प्रफुल्लित रह सकता है।

(ग) धार्मिकोंको देखकर हर्षित होनेसे दोषरोप नामक मनका असूया-मल नष्ट होता है, साथ ही धार्मिक पुरुषकी भर्ती चित्तमें धार्मिक वृत्ति जागृत हो उठती है। असूयाके नागसे चित्त शान्त होता है।

(घ) पापियोंके प्रति उपेक्षा करनेसे चित्तका क्रोधरूप मल नष्ट होता है। पापोंका चिन्तन न होनेसे उनके स्त्वकार अन्तःकरणपर नहीं पड़ते। किसीसे भी धृणा नहीं होती। इससे चित्त शान्त रहना है।

इस प्रकार इन चारों भावोंके वारंवार अनुग्रीलनसे चित्तकी राजस, तामस वृत्तियों नष्ट होकर सात्त्विक वृत्तिका उदय होता है और उससे चित्त प्रसन्न होकर शीघ्र ही एकाप्रता लाभ कर सकता है।

(१२) सद्ग्रन्थोंका अध्ययन

भगवान्के परम रहस्यसम्बन्धी परमार्थ-ग्रन्थोंके पठन-पाठनसे भी चित्त स्थिर होता है। एकान्तमें वैठकर उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भगवत्, रामायण आदि ग्रन्थोंका अर्थसहित अनुग्रीलन करनेसे वृत्तियों तदाकार बन जाती हैं। इससे मन स्थिर हो जाता है।

(१३) प्राणायाम

समाधिसे भी मन रक्तता है। समाधि अनेक तरहकी होती है। प्राणायाम समाधिके साधनोंका एक मुख्य अङ्ग है। योगदर्शनमें कहा गया है—

प्रच्छर्द्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य। (नमाधिपाद ३४)

नासिकाके छेदोंसे अन्तरकी वायुको बाहर निकालना प्रच्छर्द्दन कहलाता है, और प्राणवायुकी गति रोक देनेको विधारण कहते हैं। इन दोनों उपायोंसे भी चित्त स्थिर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने भी कहा है—

अपाने ऊहति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे ।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा ॥

(४१२९)

‘कई अपानवायुमें प्राणवायुको द्वन करते हैं, कई प्राणवायुमें अपानवायुको होमते हैं और कई प्राप्त और अपानकी गतिको रोककर प्राणायाम किया करते हैं।’

इसी तरह योगसम्बन्धी ग्रन्थोंके अतिरिक्त महाभारत, श्रीमद्भागवत और उपनिषदोंमें भी प्राणायामका यथेष्ट चर्णन है। श्वास-प्रश्वासकी गतिको रोकनेका नाम ही प्राणायाम है। मनु महाराजने कहा है—

दद्यन्ते ध्मायसानानां धातूनां हि यथा भलाः ।
तयेन्द्रियाणां दद्यन्ते दोपाः प्राणस्य निग्रहाद् ॥

‘अत्रिमे तपाये जानेपर जैसे धातुका मल जल जाता है उसी प्रकार प्राणवायुके निग्रहसे इन्द्रियोंके सारे दोष उग्र हो जाते हैं।’

प्राणोंको रोकनेसे ही मन रुकता है। इनका एक दूसरेके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। मन सबार है तो प्राण बाहर है। एकको रोकनेसे दोनों रुक जाते हैं। प्राणायामके सम्बन्धमें योगशास्त्रमें अनेक उपदेश मिलते हैं, परन्तु वे वडे ही कठिन हैं। योगसाधनमें अनेक नियमोंका पालन करना पड़ता है। योगाभ्यासके लिये वडे ही कठोर आत्मसंयमकी व्यावश्यकता है। आजकलके समयमें तो कई कारणोंसे योगका साधन एक प्रकारसे असाध्य ही समझना चाहिये। यहाँपर प्राणायामके सम्बन्धमें केवल इतना ही कहा जाता है कि वाई नासिकासे बाहरकी वायुको अन्तरमें ले जाकर स्थिर रखनेको पूरक कहते हैं, दाहिनी नासिकासे अन्तरकी वायुको बाहर निकालकर बाहर स्थिर रखनेको रेचक कहते हैं और जिसमें अन्तरकी वायु बाहर न जा सके और बाहरकी वायु अन्तरमें प्रवेश न कर सके, इस भावसे प्राणवायु रोक रखनेको कुम्भक कहते हैं। इसीका नाम प्राणायाम है।

साधारणतः चार बार मन्त्र जपकर पूरक, सोलह बारके जपसे कुम्भक और आठ बारके जपसे रेचककी विधि है। परन्तु इस सम्बन्धमें उपयुक्त सद्गुरुकी आत्मा विना कोई कार्य नहीं करना चाहिये। योगाभ्यासमें देखादेखी करनेमें उलटा फल हो सकता है।

देखा देखी सावै जोग। छीजै झाया बाहै रोग।

पर यह स्पष्ट रहे कि प्राणायाम मनको रोकनेका एक बहुत ही उत्तम साधन है।

(१४) श्वासके द्वारा नाम-जप

मनको रोककर परमात्मामें लगानेका एक अत्यन्त मुलभ और आशङ्कारहित उपाय और है, जिसका अनुष्ठान मधीं कर सकते हैं। चह है आने-जानेवाले श्वास-प्रश्वासकी

गतिपर व्यान रखकर श्वासके द्वारा श्रीभगवान्के नामका जप करना। यह अभ्यास वैठते-उठते, चलते-फिरते, सोते-खाते हर समय, प्रत्येक अवस्थामें किया जा सकता है। इसमें श्वास जोर-जोरसे लेनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्वासकी साधारण चालके साथ-ही-साथ नामका जप किया जा सकता है। इसमें लक्ष्य रखनेसे ही मन रुककर नामका जप हो सकता है। श्वासके द्वारा नामका जप करते समय चित्तमें इतनी प्रसन्नता होनी चाहिये कि मानो मन आनन्द-से उछला पड़ता हो। आनन्दरससे छक्का हुआ अन्तःकरण-खली पात्र मानो छलका पड़ता हो। यदि इतने आनन्दका अनुभव न हो तो आनन्दकी भावना ही करनी चाहिये। इसीके साथ भगवान्को अपने अत्यन्त समीप जानकर उनके स्वरूपका व्यान करना चाहिये, मानो उनके समीप होनेका प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है। इस भावसे ससारकी सुध भुलाकर मनको परमात्मामें लगाना चाहिये।

(१५) ईश्वर-शरणागति

ईश्वर-प्रणिधानसे भी मन बगमें होता है, अनन्य भक्तिसे परमात्माके जरण होना ईश्वर-प्रणिधान कहलाता है। ‘ईश्वर’ शब्दसे यहाँपर परमात्मा और उनके भक्त दोनों ही समझे जा सकते हैं। ‘ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति’, ‘तस्मस्तज्जने भेदाभावात्’, ‘तन्मयाः’—इन श्रुति और भक्ति-शास्त्रके सिद्धान्त-वचनोंसे भगवान्, ज्ञानी और भक्तोंकी एकता सिद्ध होती है। श्रीभगवान् और उनके भक्तोंके प्रभाव और चरित्रके चिन्तनमात्रसे चित्त आनन्दसे भर जाता है। ससारका वन्धन मानो अपने-आप ढूटने लगता है। अतएव भक्तोंका सङ्ग करने, उनके उपदेशोंके अनुसार चलने और भक्तोंकी कृपाको ही भगवत्प्रातिका प्रधान उपाय समझनेसे भी मनपर विजय प्राप्त की जा सकती है। भगवान् और सब्जे भक्तोंकी कृपासे सब कुछ हो सकता है।

(१६) मनके कायोंको देखना

मनको वशमें करनेका एक वडा उत्तम साधन है ‘मनसे अलग होकर निरन्तर मनके कायोंको देखते रहना।’ जबतक हम मनके साथ मिले हुए हैं तभीतक मनमें इतनी चञ्चलता है। जिस समय हम मनके द्रष्टा बन जाते हैं उसी समय मनकी चञ्चलता मिट जाती है। वास्तवमें तो मनसे हम सर्वथा भिन्न ही हैं। किस समय मनमें क्या सङ्कल्प होता है, इसका पूरा पता हमें रहता है। वर्वैमै वैठे हुए

एक मनुष्यके मनमें कलकर्त्तेके किसी दृश्यका सङ्कल्प होता है, इस वातको वह अच्छी तरह जानता है। यह निर्विवाद वात है कि जानने या देखनेवाला जाननेकी वा देखनेकी क्षत्तुसे सदा अलग होता है। आँखको आँख नहीं देख सकती। इस न्यायसे मनकी वातोंको जो जानता या देखता है वह मनसे सर्वथा भिन्न है, भिन्न होते हुए भी वह अपनेको अनके साथ मिला लेता है, इसीसे उसका जोर पाकर मनकी उद्घण्डता वढ़ जाती है। यदि साधक अपनेको निरन्तर अलग रखकर मनकी क्रियाओंका द्रष्टा बनकर देखनेका अभ्यास करे तो मन बहुत ही गीव्र सङ्कल्परहित हो सकता है।

(१७) भगवन्नामकीर्तन

मम होकर उच्च स्वरसे परमात्माका नाम और गुण-कीर्तन करनेसे भी मन परमात्मामें स्थिर हो सकता है। भगवान् चैतन्यदेवने तो मनको निरुद्धकर परमात्मामें लगानेका यही परम साधन बतलाया है। भक्त जब अपने गमुका नामकीर्तन करते-करते गद्दूदकण्ठ, रोमाञ्चित और अग्रुपूर्णलोचन होकर प्रेमावेशमें अपने आपको सर्वथा मुलाकर केवल प्रेमिक परमात्माके रूपमें तन्मयता प्राप्त कर लेता है, तब भला मनको जीतनेमें और कौन-सी वात बच रहती है? अतएव प्रेमपूर्वक परमात्माका नामकीर्तन करना मनपर विजय पानेका एक अत्युत्तम साधन है।

योगबल

(लेखक—पू० स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज)

आत्मौपन्नेन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुख वा यदि वा हु ख स योगी परमो भत् ॥

(गीता ६ । ३०)

कालदर्शी ऋषियोंके द्वारा प्रकट होनेवाले ईश्वरके ज्ञानरूप वेदको हम परिपूर्ण ग्रन्थ मानते हैं। जो वेदोंमें है वही न्यूनाधिक रूपसे सर्वत्र मिलता है और जो उसमें नहीं है उसका कहीं अस्तित्व ही नहीं है। वेदमें जो जड़-चेतन, लोक-परलोक,

त्वर्ग-नरक, पाप-पुण्य, कर्म-अकर्म आदि लौकिक-अलौकिक यिष्योंका वर्णन किया गया है उनके यथार्थ स्वरूपको प्रत्यक्षता देखनेवाला योगी है। निगूढ़ वैदिक तत्त्वोंको प्रत्यक्ष करनेवाला योगाभ्यास है। वेदमें सब विषयोंका स्पष्ट

इस प्रकारसे मनको रोककर परमात्मामें लगानेके अनेक साधन और युक्तियाँ हैं। इनमेंसे या अन्य किसी भी युक्तिसे किसी प्रकारसे भी मनको विषयोंसे हटाकर परमात्मामें लगानेकी चेष्टा करनो चाहिये। मनके स्थिर किये विना अन्य कोई भी अवलम्बन नहीं। जैसे चञ्चल जलमें रूप विकृत दीख पड़ता है उसी प्रकार चञ्चल चित्तमें आत्माका यथार्थ स्वरूप प्रतिविम्बित नहीं होता। परन्तु जैसे स्थिर जलमें प्रतिविम्ब जैसा होता है वैसा ही दीखता है, इसी प्रकार केवल स्थिर मनसे ही आत्माका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। अतएव प्राणपणसे मनको स्थिर करनेका प्रयत्न करना चाहिये। अवतक जो इस मनको स्थिर कर सके हैं वे ही उस व्यामसुन्दरके नित्यप्रसन्न नवीन-नील-नीरद प्रकुल्ल मुखारविन्दका दर्शन कर अपना जन्म और जीवन सफल कर सके हैं। जिसने एक बार भी उस 'अनूप-रूपगिरोमणि' के दर्शनका सयोग प्राप्त कर लिया वही घन्य हो गया। उसके लिये उस सुखके सामने और सारे सुख फीके पड़ गये। उस लाभके सामने और सारे लाभ नीचे हो गये !

यं लद्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

'जिस लाभको पा लेनेपर उससे अधिक और कोई-सा लाभ भी नहीं जँचता ।'

यही योगसाधनका चरम फल है अथवा यही परम योग है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

क्योंकि उनके पास योगबल नहीं है। यदि योगशक्तिसे वैदिक सिद्धान्तका अवलोकन किया जाय तो आज नाना मतभेदपूर्ण विभिन्न सम्प्रदायवादसे कर्तव्यकर्म या धर्मके स्वरूपके विषयमें जो सन्देह हो रहा है वह न हो। जब शान्तिके साधनमें सन्देह है तब शान्ति कहो?

हम योगसे परमात्माके असली स्वरूपका अवलोकन कर सकते हैं। हम प्रकृति और उसके विकारोंको यथार्थ स्पष्टमें देखने योग्य हो सकते हैं। हम पहले क्या और कहों थे, आगे क्या और कहों होंगे, इत्यादि अनेक जन्म-जन्मान्तरोंका पता लगा सकते हैं, पाप और पुण्यजनक कर्मोंका निश्चय कर सकते हैं। अभी तो हमें यही पता नहीं कि मनुष्यका क्या कर्तव्य है? इसका पता भी योगसे ही लगेगा। सारामें एक-न्ने-एक शक्तिवाली लोग पड़े तेरे उनमेंसे एक चुच्चदूर बांधी तेरे तर्कयुक्तियोंसे आज

जो बात समझा गया, कल उससे भी कोई अधिक वाहदूक वड़ी-वडी दलीलें देकर विपरीत वोध करा गया, फिर तीसरा आकर और कुछ निश्चय करा गया, इससे हमारा शुद्धिभेद कम होनेके बजाय दृढ़ हो गया। हमारी शुद्धि मानो कुट्टबॉल हो गयी, जिसको खेलाड़ी लोग ठोकरे मार-मारकर इधर-से-उधर लिये फिरा करते हैं। योग ऐसी कर्तव्याकर्तव्यविमर्शशूल्य शुद्धि-को कर्तव्यपरायण बनाकर भ्रान्त होनेसे रोक देगा। योग उस अस्थिर और चञ्चल चित्तवृत्तिको पर्वतसे भी अधिक दृढ़ और समुद्रसे भी ज्यादा गम्भीर बना देनेवाला एकमात्र साधन है। योग सब शङ्काओंका समाधान कर देनेवाला प्रधान प्रकार है। योगीके समक्ष सब ज्ञागड़े आप-से-आप मिट जाते हैं। विवाद (ज्ञागड़ा) दुराग्रह और वस्तुके असली स्वरूपके न जाननेसे होता है। योगी सब वस्तुओंके यथार्थ स्वरूपको देख लेता है। हाथीके पॉव, सूँड़, पूँछ और पेट आदि अवयवको अन्धजन अवयवी (हाथी) कहकर लड़ सकते हैं, पर जो इनके स्थोगको जानता है उसका ज्ञागड़ा आप-से-आप मिटा पड़ा है। सब मत-मतान्तरोंके विवाद उस समय आप-से-आप मिट जायेंगे जब वे योगमहिमासे धर्मके असली स्वरूपको देख या पहचान जायेंगे, जब योगके दीपकसे धर्मका सम्पूर्ण रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष हो जायगा। योग प्रकृति-पुरुषके भेदको प्रत्यक्ष दिखाकर मायाके सारे बन्धनोंको तोड़कर जीव या पुरुषको उससे मुक्त कर देता है। वस्तुतः योगका प्रधान उद्देश्य ही यह है कि वह प्रत्येक वस्तुके स्वरूपको प्रत्यक्ष कर दे।

वृहदारण्यकादि उपनिषदोंमें आत्माके साधात्कार करनेका उपाय योग वताया गया है—

आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।

हे मैत्रेयि ! आत्मा देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है। यहाँ निदिध्यासनका अर्थ ध्यान है, और ध्यानको ही समाधि कहते हैं। समाधि (योग) से चित्तवृत्तिका निरोध हो जाता है, जिसका चित्त स्थिर है, जिसका मन चञ्चल नहीं है, यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म गहनतिगहन विषयोंको वड़ी आसानीसे समझ लेता है। हमारे साथ नदिया-शान्तिपुरमें एक आचारी छात्र न्याय पढ़ता था, उसे वहुत समझानेपर भी मोटी-सी वात भी

नहीं समझमे आती थी। उसने एक सन्यासी महात्मासे तीन वर्षमें कुछ योगका अभ्यास कर लिया, इतनेहीसे उसकी शुद्धि इतनी निर्मल हो गयी कि वह तीन वर्षकी पढाई तीन मासमें पढ़ गया। गीता-प्रचार करते-करते जब मेरा शरीर श्रान्त हो जाता है या जब मुझे कोई सामर्थिक सार्वजनिकलाभयिषयक प्रश्न हल करना होता है तब मैं अपनी आदतके अनुसार कुछ दिनोंके लिये एकान्तवास करने हिमालयपर्वतपर कैलास आदि स्थानोंकी ओर चला जाता हूँ। वहाँ मैंने कई बार योगकी अद्वृत शक्तिका चमत्कार स्वयं अपनी ऑसों देखा है। एक महात्मा वहुत दिनोंसे पहाड़ोंमें रहनेके कारण यह भी नहीं जानते थे कि अखबार क्या चीज होती है, पर मैंने समाचारपत्र पढ़कर जो बार्ते उनको सुनानी चाही, उसके आगेकी बात उन्होंने स्वयं कह दी। एक साधुको रात-दिन वरफकी चट्टानपर ऐसे सोते देखा मानो ये शश्यापर सो रहे हों। तिब्बतके इस तरफ टिङ्गरीनूर (आकाश-सरोवर) के तटस्थ जगली प्रदेशमें वहुत कालसे रहनेवाले एक महात्माको वहुत दिनोंतक निराहार रहनेकी सामर्थ्य थी। पूँछनेपर मालूम हुआ कि वे योगद्वारा ब्रह्मरन्त्रसे साव होनेवाले अमृतविन्दुसे हमेशा तृप्त रहते थे। इससे उनकी शारीरिक सम्पत्ति वहुत ही सुन्दर और मुडौल हो गयी थी। मैंने कई गृहस्थ भोटियोंको दीर्घायु और सदा आरोग्य रहते देखा है। पूँछनेपर मालूम हुआ कि वे लामा साधुओंकी कृपासे कुछ योगाभ्यासकी विधि जान गये हैं। कई उनमें आसनदृढ़ (वहुत कालतक एक जगहसे न हिलना-हुलना) और कई गुड़ाकेश थे। ये चमत्कार तो क्या चीज हैं, अणिमादि अद्यसिद्धि और नव निधियों भी योगके साधारणतम करिश्मे हैं। योगका प्रधान प्रयोजन तो अन्तःकरणकी शुद्धिपूर्वक ज्ञानानन्तर मोक्षकी प्राप्ति है। सिद्धि-निधि तो नान्तरीयकतया आप-से-आप आ उपस्थित होती हैं।

मैंने उत्तराखण्डके पर्वतोंमें विचरते हुए एक दिन इन प्रश्नोंपर विचार करना आरम्भ किया कि एक सम्प्रदायके लोग दूसरे सम्प्रदायपर क्यों आक्रमण किया करते हैं ? मनुष्य मनुष्यके खूनका प्यासा क्यों है ? सबके लिये समान भागसे दी हुई ईश्वरकी भू, जल आदि विभूतियोंपर केवल अपना अधिकार करके, दूसरोंको उससे प्राप्त होनेवाले लाभसे बँधित और अपने-आपको

लभान्वित करके मनुष्य क्यों अनधिकार चेष्टा किया करता है? इत्यादि अनेक प्रश्नोंका उत्तर मुझे एक यही मालूम पड़ा कि मनुष्यके वस्तुस्थिति न जाननेके कारण (पदार्थोंके असली स्वरूपको न जाननेके कारण) ही ये सब बरेहे खड़े होते हैं और उनके सही स्वरूपका प्रत्यक्ष करा देनेवाला एकमात्र योग है। राजा-प्रजा, छोटे-बड़े, नीच-ऊंचके वीचका विवाद उस दिन काफूर हो जायगा जब योग सवकी ओंखे खोल देगा। नहीं तो संसार पॉव, पेट आदि अवयवोंको हाथी बताकर लड़नेवाले अन्धोंकी तरह पारत्परिक झूठे विवादके कारण कभी शान्ति नहीं पा सकेगा।

लघुत्वमारोग्यमलोकुपत्वं

वर्णप्रसादः स्वरसौष्ठवं च ।

गन्धः शुभो मूत्रपुरीप्रस्तरं

योगप्रवृत्तिं प्रथमां वदन्ति ॥

न तस्य रोगो न जरा न दुखं

प्राप्तस्य योगाभिमयं शरीरम् ।

इसमें योगका फल बताया गया है। आलस्य मनुष्य-को कुछ करने नहीं देता, और योग आलस्यका परम विरोधी है। योगसे शरीर हल्का हो जाता है, नीरोग रहता है, विषय-वासनाकी लालसा जाती रहती है, कान्ति बढ़ जाती है, स्वरमें माधुर्य आ जाता है, गन्ध अच्छी बाने लगती है, मल-मूत्र कम होने लगता है—यह योगकी पहली सीढ़ी है। उसे न रोग होता है, न दुःखापा आता है, न कोई कष्ट होता है, जिसने योगाभिमय देवीप्यमान शरीर पा लिया।

पर विना अधिकारी है किसीको कोई वस्तु-मिल नहीं सकती। योगका अधिकारी वह हो सकता है जिसकी आत्मामें परलोक, शुभाशुभ कर्मोंके अनुष्ठान, वेद और आचार्यमें श्रद्धा हो। जो महात्माओंका सत्सङ्ग अन्य काम छोड़कर भी करनेकी इच्छा रखता हो, योगका नाम उन्ते ही जिसके रोमाञ्च हो जाते हों और अन्यकर्मोंसे प्रेमाश्रुओंकी झड़ी लग जाती हो, जिसने पूर्व जन्म या—इसी—जन्ममें कोई शुभ कर्म किया होगा वही इसका अनुरागी हो सकता है।

क्षिणि और अद्विष्टमेदसे प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति, ये चित्तकी पॉच वृत्तियाँ हैं। ‘अभ्यास-वैराग्यम्या तन्निरोधः’—अभ्यास और वैराग्यसे उनका निरोध होता है। ‘तत्र स्तितौ यज्ञोऽम्यासः’ इस सूत्रमें बल और

उत्साहपूर्वक ईश्वरमें चित्तकी वृत्ति सम्पादन करनेका नाम अभ्यास बताया गया है। योगभाष्यके अनुसार यों समझना चाहिये कि चित्त एक नदी है। इसमें वृत्तियोंका प्रवाह सदा वहता रहता है। इसकी दो धाराएँ हैं—एक विषयोंके मार्गमें वहती हुई ससारसागरमें जा मिलती है, और दूसरी विवेकके मार्गमें वहती हुई कल्याणसागरमें जा मिलती है। पहलीका पता तो जन्मके साथ ही मिल जाता है, पर दूसरी धाराका पता शास्त्र और आचार्य बताते हैं। जब एक नदीकी दो धारा होकर दोनों तरफ वहती है, यदि एक तरफकी धारा वॉध वॉधकर रोक दी जायगी तो स्वाभाविक ही दूसरी धारा तीव्र होकर वहने लगेगी। यह बात हरिद्वार-ब्रह्मकुण्डके तटपर बैठकर उस पारके नील पर्वतके नीचेवाले नहर विभागके उन फाटकोंको देखनेपर अच्छी तरह समझमें आ सकती है जिनके खोल देनेसे ब्रह्मकुण्डकी धाराका सारा पानी पर्वतकी तरफ वहने लगता है और वन्द कर देनेसे सब जल बड़ी भारी धाराके रूपमें ब्रह्मकुण्डकी ओर प्रवाहित होने लगता है। इसी प्रकार जब विषयोंके स्रोतपर वैराग्यका वॉध वॉधकर अभ्यासकी सहायतासे सारे प्रवाहको विवेकके स्रोतमें डाल दिया जाता है, तब वड़े वेगसे सारी धारा कल्याणके सागरमें जा गिरती है और उससे आगे बढ़कर निरोधके सागरमें लीन हो जाती है। मन अत्यन्त चञ्चल है, अभ्यास और वैराग्य दोनों मिलकर मनको साध लेते हैं। ‘अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्णते’—इस गीतायचनमें मनके निरोधका कारण अभ्यास और वैराग्यको ही बताया गया है।

ससारमें जो कार्य सिद्ध हो जाते हैं वे इष्ट और जो विफल हो जायें वे अनिष्ट माने जाते हैं। पर योगके लिये यह बात नहीं है। ‘शुचीनां श्रीमतां गेहे योगप्रथोऽभिजायते’, ‘अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्’ इत्यादि भगवद्-वाक्योंके अनुसार योगीको एक बार विफलता होनेपर भी फिर उस मार्गमें आनेका अवसर मिल जाता है।

योगी लोग ‘हेत्कर्मविपाकाग्नैरपरामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः’—ईश्वरका ऐसा स्वरूप मानते हैं कि यह हेत्कर्म, उसके कल और वासनाओंसे नहीं लुभा गया है और उसका प्रणिधान करनेके लिये ‘तत्त्व वाचकः प्रणवः’ इस योगकृतमें ‘ठैं’ यह (परमात्माका) सबसे बड़ा नाम बताया गया है, ‘तज्जपत्तर्थभावनम्’ इन दूसरें उसका प्रणिधान (उपाचना) बताया गया है। नामसे नामीके गुण, शक्ति, स्वभावादिनियक जिज्ञासाका लक्षण होना

स्वाधारिक है। रामायण, महाभारतादिकी कथामें राम, कृष्ण आदिके नाम सुननेसे श्रोताको उनके गुण, स्वभावादि- के विषयमें जिजासा पैदा होनी उचित ही है। 'तत्र प्रत्ययैक- तानता ध्यानम्'-जिसमें चित्तकी वृत्ति लगी है उसीमें लगी रहे, उसका नाम ध्यान है। उसीको समाधि कहते हैं। बात यह है कि जब एकान्तताकालमें ध्याता, ध्यान, ध्येय- ये तीनों भासते हैं तब वह ध्यान कहलाता है। जब ध्यान- की प्रवलतासे ध्येयके अतिरिक्त (विशेषरूपसे) कुछ भी नहीं भासता, उस अवस्थामें वह ध्यान समाधि कहाने लगता है। इस समाधिके किलेमें वैठकर यह नवर मनुष्य- जीवन कालवलिसे लड़कर विजयी बन जाता है।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलसेदिनौ ।

परिव्राद् योगयुक्तश्च रणे चाभिसुखे हतः ॥

—इस अभिजनोक्तिके अनुसार जब चाहता है तभी योगी सूर्यमण्डलमें होकर यथेष्ट प्रदेशमें चला जाता है।

उपादानकारणभूत रजोवीर्य-जैसी गन्दी चीजेसे इस शशीरक्षी उत्पत्तिका होना आश्रयमें डाल देता है। यदि शरीर और प्राणका वियोग हो जाय तो चाहे जितने वारण्ट कटा दिये जायें, चाहे जितने वर्षों खोजा जाय, पर इसका कहीं पता न लगेगा। जिस शरीरके तैयार होनेमें दृतना कष्ट और समय लगाना पड़ा, उसके विराङते क्षण- मात्र भी नहीं लगता। जो आपाततः साफ-सुधरा प्रतीत होता है, जिसके साथ बैठना, सोना, खाना, पीना बहुत अच्छा लगता है, यदि उस शरीरसे चेचकके ब्रणोंके कारण पीव बहने लगे, या विसूचिका-रोगसे निरन्तर वह मल-मूत्र त्यागने लगे तो उसके प्रेमी ही उससे घृणा करने लगेंगे। परन्तु धन्य है उन उद्यमशील ऋषि-मुनि महापुरुषोंको कि जिन्होंने ऐसे अनित्य और मलसार शरीरमें ऐसी विद्या प्रकट कर दी है कि जिसकी सहायतासे मनुष्य इस लोक और परलोकमें भी अधिक सुखोपभोग कर सकता है। प्रकृतिके प्रतिकूल आधात-प्रत्याधातको भी सहन करनेयोग्य हो जाता है। वस्तुतः मनुष्य जबतक शरीरके भीतरके पदार्थ नहीं जान सकता तबतक वाहरके पदार्थ क्या जानेगा। मनुष्यके शरीरके भीतर अन्तःकरणचतुष्प्रय- के प्रन्तर्गत मन एक ऐसा विश्वकारक है कि मनुष्यको मसागी ज्ञानांतरमें पँसाकर इहलौकिक और पारलौकिक सुखोंसे बचित कर देता है। धर्म और मोक्षका चिन्तन नहीं करने देता। अर्थ और कामके चक्षरमें डाले रहता है। इस उपद्रवको दूर करनेके लिये महापुरुषोंने योगका

प्रकार बताया है, योगी मनको ऐसे वशमें कर लेता है जैसे अच्छा सारथी घोड़ोको। आध्यात्मिक, आधिमौतिक और आधिदैविक दुःखोंकी निवृत्तिका कारण मोक्ष है। इस अक्षय सुखकी प्राप्तिका साधन मन और इन्द्रियोंका निग्रह है। मनोनिग्रह योगके विना हो नहीं सकता। जैसे अभिमें तपा देनेसे धातुओंके सब मल नष्ट हो जाते हैं वैसे ही योगाभ्याससे मनुष्यके मलविक्षेप और आवरण- दोष छूटकर अन्तःकरणशुद्धिद्वारा आत्मज्ञानसे उसकी मुक्ति हो जाती है।

साधारण-से-साधारण काममें भी चित्तवृत्तिका निरोध किये विना काम नहीं चलता। विना चित्तके एकाग्र किये खियों अपने सिरपर कई घड़े कैसे उठा सकती है ? ऐसे ही नटका निराश्रय तारपर चलना तथा जिमनास्टिकके बड़े-बड़े कुदूहलजनक खेल चित्तवृत्तिके निरोधके फल हैं। मन लगाकर किया हुआ कोई भी काम अवश्य सफल होता है।

योग बहुत-सी चीजोंके एकत्रीकरणका भी नाम है। ऐसा होनेपर भी यह कहना पड़ेगा कि ससारमें कोई भी काम विना योग (मेल) के हो ही नहीं सकता। कलियुगमें तो योग (सघशक्ति) का बहा महत्व है—

तपस्विभ्योऽधिको योगीज्ञानिभ्योऽपि भतोऽधिकं ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

—इस वाक्यमें भगवान् योगको सबसे अधिक महत्व देते हुए सबके लिये आवश्यक बता रहे हैं।

योगके विषयमें बुद्धिमानोंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। किन्तु जिजासुओंको ग्रन्थकृपाकी अपेक्षा गुरुकृपा अधिक आवश्यक है। हमने कई सज्जन-ऐसे देखे हैं कि जिन्होंने किसीके साधारण इशारेपर या कोई ग्रन्थ देखकर योगाभ्यासकी सदिच्छासे प्रेरित हो किया करना आरम्भ कर दिया, फल यह हुआ कि जन्मभरके लिये रोगी हो गये। ग्रन्थ सहायक हो सकते हैं, पर कार्यसिद्धि गुरुकृपापर ही निर्भर है, लगन सच्ची चाहिये, फिर तो सद्गुरु मिलना दुल्हन होनेपर भी अलभ्य नहीं है। जो जितना ऊँचा काम होगा, अन्तराय भी उसमें उतना ही प्रवल होगा। धण्टेमें सैकड़ों मीलकी दौड़ लगानेवाला व्योमयान (हर्याई-जहाज) यदि विगड़कर नीचे गिर पड़े तो उसके सवारों-की एक हड्डी भी खोजे न मिलेगी। ऊँचे-से-ऊँचे ध्येयतक पहुँचानेमें समर्थ नियमपूर्वक किया जानेवाला योगभार्ग जैसा निष्कण्टक है वैसा ही यह विविहीन किया हुआ-

खतरनाक भी है। भय किसमें नहीं है, किन्तु भयके कारणको दूर करते हुए उद्योग करना चाहिये।

यह नियम नहीं है कि सन्यासी ही योगाभ्यास कर सकता है, या वह बिना पहाड़ोंकी कन्दरोंमें गये योग हो ही नहीं सकता। काश्मीरके पहलगाँव नामक स्थानमें एक ग्रामण, जिसके ब्री-पुत्र, पुत्रवधु साथ थी वह बहुतसे लोगोंको योगाभ्यासकी शिक्षा देना था। और उसकी ब्री शिक्षार्थियोंकी क्रियामें सहायता पहुँचाती देखी गयी है। एक दिन योगी ग्रामण धरपर नहीं थे। क्रिया करते हुए एक अभ्यासीके गलेमें धोती अटक गयी। उस समय उस ग्रामणीने गरम पानीकी सहायतासे अनायास धोती निकाल दी। वह ग्रामण सफलतापूर्वक शिक्षा दे रहा था। हाँ, यह अवश्य है कि विरक्त महात्मा इसको अनायास थोड़े समयमें ही सम्पादन कर सकते हैं, क्योंकि उनकी अवस्था और एकान्त स्थान इनकी शीघ्र सिद्धिमें सहायक हो जाते हैं। वे इसके द्वारा बहुत ऊँची स्थितिमें पहुँच सकते हैं।

योग तबके लिये ग्रन्थ और आवश्यक है, क्योंकि युज्ञ-युज्ञानभेदसे योगीके लिये सब कुछ जान लेना कठिन नहीं है।

हम तो वार-वार यही कहेंगे कि सब धर्मोंका तभी समन्वय होगा जब लोग योगसे असलियत समझनेमें समर्थ होंगे। योगियोंके आश्रममें चिंह-मूर्ग, वाव-नकरी, ड्यैन-वर्तिका, विडाल-मूषक, अहि-नकुल आदि जीवोंका शाश्वतिक विरोध जाता रहता है। तब फिर मनुष्य तो विवेकी है, समझदार है, उसका पारस्परिक प्रेम होना कौन कठिन वात है। सब ज्ञानित चाहते हैं, सब सुख चाहते हैं और यह सब कुछ योगद्वारा सुलभ है। सब वल सङ्घर्षके कारण हैं, एक वली दूसरेसे उलझ बैठता है; पर योगवल सब वल और वलियों-का सम्मेलन करा देगा। अतः योगवल ही सब कुछ है। मनुष्य यदि योगवल सम्पादन कर ले तो आज रामराज्यके सुखानुभव करनेका सौभाग्य सबको अनायास प्राप्त हो सकता है।

भक्तिके दो रूप-रागानुगा और वैधी

(लेखक—डा० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एम०, पी-एच० डी०)



ग्रामण और वैधी, इन दो प्रकारकी भक्तियोंका भेद व्रतलानेके पूर्व हमारा इस लेखके प्रारम्भमें भक्तिका संक्षिप्त विवेचन करनेका विचार है। सबसे पहली बात तो इस सम्बन्धमें यह कहनी है कि अनेक धर्मोंकी जन्मदात्री हमारी इस जगत्प्रसिद्ध भारतभूमिमें भक्तिमार्ग-का प्रचार अत्यन्त प्राचीन कालसे है। जगत्में जो सबसे महान् और सर्वोपरि तत्त्व है उसके प्रति श्रद्धा और भक्ति-के नैरर्गिकभावसे अथवा यों कहे कि देवताओंके अच्छे-पनमें विश्वाससे, जगत्के आदिम निवासियोंमें वज्र और कर्मकाण्डके अनुष्ठानका प्रारम्भ हुआ, ऐसा माना जाता है। धार्मिक उपासना और ईश्वरके साथ सम्बन्ध जोड़नेके जितने प्रकार हैं उन सबका मूल हमारी भक्तिभावना ही है। साधनाके पवित्र मार्गमें भक्तिका स्थान अद्वितीय है। सभी भगवत्कामी पुरुषों, सभी योगियों और सभी भक्तोंके लिये भक्तिका साधन आवश्यक है। भक्तिके द्विना कोई

भी ब्रह्मविद्याके उच्च आसनपर बैठने और उसके द्वारा परमात्माका दिव्य ज्ञान प्राप्त करनेकी आशा नहीं कर सकता।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता द्यर्थः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

(द्वेतात्र० ६ । २३)

‘जिसकी परमात्मामें उत्तम भक्ति है और परमात्माके समान ही अपने गुरुमें भक्ति है उस महात्माको ऊपर कहे हुए सभी पदार्थ स्थृत हो जाते हैं।’

भारतवर्षमें अति प्राचीन कालसे आच्यात्मिक साधनों-के भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीन भिन्न-भिन्न मार्गोंका प्रचार चला आया है। हम लोग सभी इस वातको नामान्यरूपसे जानते हैं कि भक्ति वीजरूपसे मनुष्यके हृदयमें रहती ही है। यह एक पवित्र भाव है जो हृदयके भाँतरसे निकलता है, परमात्माके अधिकाधिक स्वरणसे पुष्ट होता है और अन्तमें पूर्ण आत्मनिवेदनमें परिणत हो जाता है।

तब प्रश्न यह होता है कि भक्ति क्या बस्तु है। इसके लिये सर्वप्रथम हमें उन ग्रन्थोंपे पढ़े उन्द्रेष्टोंपे जो

केवल भक्तिका प्रतिपादन करते हैं। भक्तिमीमांसामें ईश्वरके प्रति परम अनुरागको भक्ति कहा है—

मा परानुरक्तिरीश्वरे ।

(शाण्टिल्यसूत्र)

वहाँ अनुरागका अर्थ है परमात्मा अथवा अपने उष्टुप्तेवमें कामनाशून्य आसक्ति। भक्ति जब पराकाष्ठाको पहुँच जाती है तब भक्तका मन परमात्मामें सर्वथा लीन होकर अद्वैतभावको प्राप्त हो जाता है, उसका अहङ्कार सर्वया नष्ट हो जाता है। अतः भक्ति एक सर्वथा दिव्य भाव त और उसमें आनन्दका एक अजस्त्र प्रवाह वहता रहता है। हमारा अपने पुत्रकल्पादिमें जो प्रेम है उसको भी लोकिक भाषामें अनुराग ही कहते हैं, परन्तु वह अनुराग उतना आविक स्वार्थपूर्ण एव लौकिक है कि उसमें भक्तिका कोई भी उठात्त लक्षण नहीं देखनेमें आता। अर्थात् लोकिके प्रेम स्वार्थवृद्धिसे कल्पित रहता है और उस माधुर्यमें सर्वथा शून्य होता है जिसके कारण भक्ति उत्तर्ना प्रिय मात्रम होती है। प्रेम अथवा अनुरागकी भक्ति-सज्ञा तभी होती है जब वह हमारे जीवनके सर्वस्य एवं चर्गम लक्ष्य भगवान्की ओर मुड़कर धन्य हो जाता है। ऊपर उद्यृत किये हुए सूत्रमें यह वात सुतरां स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्को परम प्रेमास्पद एव अद्वास्पद मानना ही भक्तिका स्वरूप है।

देवर्पि नारदने ईश्वरके प्रति परम प्रेमको ही भक्तिका लक्षण बताया है—

मा त्रस्मिन् परमप्रेमरूपा ।

(ना० श० २)

उक्त दोनों सूत्रकारोंने प्रेमकी प्रगाढ़ताको ही भक्तिका मुख्य लक्षण बताया है और उसीपर विशेष जोर दिया है, जिससे यह विल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि दोनोंका इस विषयमें एक मन है। नारदने अनुरागके स्थानपर 'प्रेम' शब्दका व्यवहार करके अप्रकटरूपसे यह सकेत किया है कि भक्ति अन्तमें जाकर किस श्रेणीतक पहुँच सकती है। भक्तिमामृतसिन्धुमें भक्तिके विकासका जो क्रम बताया गया है, वह शब्द उसके अनुकूल ही है। उक्त ग्रन्थमें ऊपर गोग्वार्मीने भक्तिका विवेचन करते हुए व्रद्धे मुन्दर दग्ध-से यह बताया है कि अद्वाके विकासकी कितनी श्रेणियाँ हैं और यद्वै-यद्वै अन्तमें जाकर वह किस प्रकार प्रेमके रूपमें परिणत हो जाती है। ईश्वरमें अटल विद्वास भक्तिका प्रथम सोपान है। जहाँ विवाम नहीं वहाँ भक्ति कहाँ?

जानके सम्बन्धमें भी यही वात है। ज्ञानपिपासुओंका भी अद्वाके विना काम नहीं चलता—

अद्वाव॑द्वभते ज्ञानं तत्परः सत्यतेनिद्र्यः । (गीता ४।३९)

भक्तिके विकासके पूर्व अद्वाकी आवश्यकता है अथवा भक्तिके साथ अद्वाका होना अनिवार्य है, इस वातको गीतामें बार-बार कहा गया है। उदाहरणके लिये देखिये—

मत्यावैश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
अद्वया परयोपेतास्ते मे युक्तमा मताः ॥

अर्थात् जो नित्ययुक्त पुरुष मेरे अन्दर मनको आवेशितकर परम अद्वाके साथ मेरी उपासना करते हैं वे ही मेरे मतमें युक्तम योगी हैं।

रूप गोस्वामीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका जो लक्षण बताया है वह भी व्यान देनेयोग्य है, यद्यपि प्रत्यक्ष ही उसमें योड़ी-वहुत साम्प्रदायिकता अवश्य है। वे कृष्ण-भक्तिको ही सर्वोक्तम भक्ति बतलाते हैं और उसे जान और कर्मसे सर्वथा शून्य कहते हैं—

अन्याभिलापिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनायृतम् ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशालन भक्तिरूतमा ॥

अर्थात् अन्य किसी वस्तुकी कामना न रखते हुए, ज्ञान-कर्मादिके आवरणको हटाकर श्रीकृष्णरूप परमात्माके सर्वथा अनुकूल होकर उन्हींका निरन्तर चिन्तन करना ही श्रेष्ठ भक्ति है।

भक्तिरसायन नामक ग्रन्थके रचयिता अद्वैताग्निरोमणि आचार्य श्रीमधुसूदन सरस्वतीने अपने उक्त ग्रन्थमें भक्तिका विल्कुल दार्शनिक दग्धसे विवेचन किया है। अद्वैत-सिद्धि नामक अद्वैतवेदान्त अथवा शाङ्करवेदान्तका प्रसिद्ध ग्रन्थ भी इन्हीं महानुभावका लिखा हुआ है। वह कम आश्र्यकी बात नहीं है कि मधुसूदन सरस्वती-जैसे कट्टर अद्वैतवादीने अपने असाधारण बुद्धिचलके द्वारा भक्तिको जीवनका परमपुरुषार्थ सिद्ध किया है और ज्ञानकी अपेक्षा श्रेष्ठ बतलाया है। उक्त दार्शनिकाग्निरोमणिके मतमें भक्ति मनकी एक विशेष वृत्ति है जिसमें मन रागजन्य आनन्दातिरेकसे द्रवीभूत होकर भगवदाकार बन जाता है—

द्रवीभावपूर्विका हि मनसो भगवदाकारता सविकल्पक-वृत्तिरूपा भक्ति ।

उन्होंने भक्तिका लक्षण इस प्रकार किया है—

द्रुतस्य भगवद्माद्वारावाहिकतां गता ।

मर्वेशो मनसो शृन्तिर्भक्तिरित्यभिर्घोयते ॥

'भगवद्गावसे द्रवीभूत हुए चित्तकी चराचरनायक भगवानके अन्दर धारावाहिक रूपको प्राप्त हुई वृत्तिको ही भक्ति कहते हैं।'

कहते हैं, भक्ति तभी उत्पन्न होती है जब मनको भगवान्में निरन्तर लगे रहनेका अभ्यास हो जाता है। इस प्रकार भक्ति चित्तका एक अजल एवं अविच्छिन्न प्रवाह है, एक पवित्र धारा है जो सर्वदा आनन्दार्थवकी ओर वहती रहती है। श्रीमद्भगवतमें भक्तिके इस अजल प्रवाहको त्रैलोक्यपावनी मन्दाकिनीकी उपमा दी गयी है। भगवान् वेदव्यास अपनी समाविभाषामें कहते हैं—

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽनुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य द्युदाहृतम् ॥

अव्यावृत चिन्तन ही वह वीज है जिसमेंसे भक्तिका अङ्कुर उत्पन्न होता है।

आचार्य मधुसूदन सरस्वतीने यह भी बतलाया है कि भक्तका चित्त भक्तिके प्रभावसे किस प्रकार मृदु हो जाता है अथवा पिघल जाता है, वे कहते हैं कि तीव्र भक्तियोग हृदयको कोमल बनाकर प्रसारित कर देता है। भक्ति वह जादूगरकी छड़ी है जो अपने विलक्षण सर्वशस्त्र सारे काठिन्यको दूर कर देती है, हृदयको दिव्य आनन्दके रसमें सरावोर कर देती है और क्रूरताको पिघल जानेवाली मृदुताके रूपमें परिणत कर देती है।

भक्तिविषयक सर्वमान्य ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भगवत है, पीछेसे भक्तिका प्रतिपादन करनेवाले जितने अन्य बने उन सर्वोन्मे अधिकांगमे इन्हीं दोनों ग्रन्थोंका आघार लिया है। गीताके एक अध्यायका तो नाम ही 'भक्तियोग' है, और वैसे यह सारा ग्रन्थ ही भक्तिके इस महान् बादगंसे ओतप्रोत है। भगवद्गति और भगवच्छरणागति ही गीताका मूलमन्त्र है। गीतामें यह खास तौरपर बतलाया गया है कि भगवान्की भक्ति करनेवालोंकी चार श्रेणियाँ हैं। उनमेंसे जो अपना सब कुछ भगवान्को दे डालते हैं वे उत्तम श्रेणीके भक्त माने गये हैं।

श्रीमद्भगवतमें भक्तिकी विस्तृत व्याख्या की गयी है। वहाँ भक्तिको मनकी एक स्वाभाविक वृत्ति बतलाया गया है जो किसी कारणविशेष अथवा पूर्वकलित हेतुसे उत्पन्न नहीं होती। श्रीकृष्णके प्रति अहैतुकी भक्तिको ही इस ग्रन्थमें सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा गया है—

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता यथात्मा सुप्रसन्नति ॥

'भगवान् नारायणके प्रति अहैतुकी एव किसी प्रकार भी नहीं रुकनेवाली भक्ति, जिससे आत्मा सुप्रसन्न होता है,— यही मनुष्यमात्रका परमधर्म है।

श्रीमद्भगवतमें तो वरावर प्रेमलक्षणा भक्तिकी, खासकर उस भक्तिकी जो वृन्दावनकी ब्रजबालाओंमें प्रकट हुई थी, श्रेष्ठता सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी है। उन ब्रजललनाओंका अनुराग इतना पवित्र एवं उत्कट या कि भगवान्ते उसके सामने स्वयं अपनी लघुता प्रकट की। श्रीभगवान्के गद्द हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विद्वाधायुधापि वः ।
या भामजन् दुर्जरोहशृङ्खलाः
संवृश्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥

'निर्मल प्रेमकी ध्वजास्वरूपिणी आप महानुभावाओंके उपकारसे मैं देवताओंकी आयुमे भी उऋण नहीं हो सकता, जो बड़ी कठिनतासे द्वृटनेवाले गृहस्के पाद्यको तृणकी तरह तोड़कर मेरी भरणमें आयी हो, इस क्रणको तो आप ही दया करके माफ़ कर दें तो भले ही उससे मैं मुक्त हो जाऊँ, अन्यथा उससे द्वृटनेका कोई उपाय नहीं है।'

वहाँ डकेकी चोट प्रेमकी विजय हुई। इस प्रकारका अलौकिक प्रेम मानवीय ज्ञानके बाहरकी बस्तु है।

आचार्य रामानुजके श्रीभाष्यको देखनेसे मालम होता है कि वे वैधी भक्तिके उपासक थे। वे प्रख्यात वेदान्ती होनेपर भी भक्तिके प्रवल पञ्चपाती थे। उनके मतमें भक्तिज्ञानका श्रेष्ठ अग है।

भक्तिशास्त्रमें प्रेम और भक्ति समानार्थक शब्द है। जिस वस्तुमें हमारी भक्ति होती है वही हमारे प्रेमकी वस्तु होती है। विष्णुपुराणके निम्नलिखित श्लोकमें भक्तिके स्थानमें 'प्रीति' शब्दका व्यवहार किया गया है—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनां ।
त्वामनुस्मरत ना मे हृदयान्मापसपर्तु ॥

'अविवेकी पुद्देश्योंकी विषयोंमें जैसी निश्चल प्रीति होती है, तुम्हें सरण करते हुए मेरी वैसी ती प्रीति दुष्टारे अन्दर सदा चनी रहे, उष्णमात्रके लिये भी इटे नहीं।'

ऐसा साना जाता है कि विना अनुरागके ऐसी भक्ति नहीं हो सकती और विना प्रेमके आत्मानन्दकी उपलब्धि होती है और जो लोग ज्ञान और कर्मको छोड़कर भक्तिका साधन करते हैं उनके लिये अभीष्टम वस्तु यह प्रेम ही है। परमात्मविषयक परोक्षज्ञानसे अथवा एुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे यह अलभ्य वस्तु प्राप्त नहीं हो सकती। भक्तिका मार्ग इन सबकी अपेक्षा कहीं सुगम है और उससे भक्तिका भगवान्के साथ निकटतम सम्बन्ध हो जाता है।

हमारे सामने बहुधा यह कठिन प्रश्न आता है—वया ज्ञान और भक्ति परस्परविरोधी हैं? हमारा उत्तर है—नहीं। सच तो यह है कि दोनों परस्परसम्बद्ध हैं और एक दूसरेके सहायक हैं। यद्यपि ज्ञानको ही जन्ममृत्युके बन्धनसे छूटनेका साक्षात् कारण उद्घोषित किया गया है तथापि हमारी धारणा यह है कि भक्तिका ज्ञानके साथ कोई विरोध नहीं है। वल्कि कुछ लोग तो दोनोंको एक दूसरेके आश्रित मानते हैं (अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये)। दोनोंका फल एक है। दोनोंमेंसे किसी भी मार्गका अनुसरण करनेसे शाश्वत आनन्दकी प्राप्ति होती है। भक्ति और ज्ञानके चरम फलके सम्बन्धमें भक्तिसूत्र और वेदान्तसूत्र दोनोंका एक मत है (देखिये—‘तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्’ और ‘तत्सत्यस्यामृतत्वोपदेशात्’)।

अब हम भक्तिके प्रकारोंका कुछ वर्णन करेंगे। श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिका निरूपण किया गया है। भक्तिके नौ भेद इस प्रकार हैं—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमास्मनिवेदनम् ॥

सूक्ष्म विचार करनेसे इस नवधा भक्तिका आत्मनिवेदन नामक अन्तिम भक्तिमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। तीव्र भक्तियोगके लिये यह आवश्यक है कि भक्त सर्वतोभावेन अपनेको भगवान्की दयापर छोड़ दे। सज्जा भक्त अनुरागकी गाढ़तामें अपने आपको सर्वथा खो वैठता है। किसी सांसारिक हेतुका आश्रय न लेकर भगवान्में जो प्रेम किया जाता है वही सबसे ऊँची भक्ति है। भगवान् विष्णुकी निष्काम आराधनामें यह सामर्थ्य है कि उसका साधन करनेवाला निर्वाणपदका अधिकारी हो जाता है—

प्राप्नोत्याराधिते विष्णो निर्वाणमपि चोत्तमम् ।
(विष्णुपुराण)

वेणुवधर्मकी उत्तरकालीन गारुदामें भक्तिके दो प्रकार देखनेमें आते हैं, रागानुगा और वैधी। वैधी भक्तिमें शास्त्रोक्त विधिका अक्षरण, पालन होता है और लौकिक आचारके अनुसार सारी किया होती है, किन्तु रागानुगा भक्ति शास्त्रोक्त विधिके बन्धनमें जकड़ी हुई नहीं है। तीव्र अनुराग ही उसका स्वरूप है और उसमें किसी प्रकारके नियमोंका बन्धन नहीं है। गगानुगा भक्तिमें हृदय रोल-कर रख दिया जाता है और इस प्रकारका आवरणशून्य हृदय नियमों और आचारोंके बन्धनको स्वीकार नहीं करता। इस कोटिका तीव्र अनुराग बृन्दावनकी सरलहृदया गोपवालाओंमें प्रकट हुआ था। जिसने अपने सारे कर्म और सारे सङ्कल्प भगवान्को अपर्ण कर दिये उसके लिये इस वातकी आवश्यकता नहीं है कि वह मानवसमाजके नियमोंका अवश्य ही पालन करे। प्रूव आदि भक्त वैधी भक्तिके अनुयायी ये। रागमार्गकी भक्तिका साधन वड़ा कठिन है। बहुत थोड़े भक्तोंको इस अत्यन्त विकट मार्गपर चलनेका अधिकार मिलता है। इस जन्ममें अथवा प्रात्कृत जन्मोंमें महान् सुकृतोंका अर्जन किये विना मनुष्य इस मार्गपर नहीं चल सकता। जिस प्रकारके तीव्र अनुरागसे प्रेरित होकर जयदेव और चण्डीदास-जैसे भक्तोंने भगवान् के प्रति अपने उदाम भावको चरितार्थ करनेके लिये इस मार्गका अयलग्बन किया था इस विषयविमोहित पामर जीव उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते।

किन्तु प्रायः लोग ऐसा कहा करते हैं कि रागानुगा भक्तिकी सर्वोच्च साधना करनेवाली गोपिकाएँ विल्कुल ज्ञानशून्य थीं, अर्थात् जिन भगवान् श्रीकृष्णमें वे अनुरक्त थीं उनके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान उन्हें नहीं था। उनका भगवान्से विशुद्ध एव निश्छल प्रेम था, जिसमें नैतिक अथवा धार्मिक किसी प्रकारका कोई विचार नहीं था। कुछ अधिवेकी लोग तो उनके विशुद्ध और भी निन्दनीय आक्षेप करते हैं।

ये सारे-के-सारे आक्षेप और अभियोग सर्वथा निःसार हैं। ये कदापि ठहर नहीं सकते। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान न

होनेके कारण गोपियोंके अनुरागमें किसी प्रकारकी कमी नहीं आयी थी, वल्कि वह अनन्तगुना अधिक तीव्र हो गया था। प्रेमराज्यमें अनुरागकी गाढ़ता ही मूल्यवर्ती समझी जाती है, बुद्धिकी प्रवलता नहीं। प्रेमका स्वभाव ही यह है कि वह बुद्धिको भक्तिकी अपेक्षा गौण बना देता है। 'अतएव तदभावाद् बृहवीनाम्'—इस सूत्रके द्वारा है।

—॥४५॥

योग

(लेखक—खामीजी श्रीअतङ्गानन्दजी)

आत्मत्राण अथवा जीवित रहनेकी इच्छा मनुष्य-जातिका सर्वोपरि सिद्धान्त है; केवल मनुष्योंमें ही क्यों, यह जीवनसंघर्ष प्राणिमात्रमें पाया जाता है। सिंह-च्याप्र, विल्डी, कुत्तों तथा अन्य जातिके पशुओं, पक्षियों, यहाँतक कि कीटपतङ्गादिकोंको भी नख, पंज, दॉत और सौंग आदि रक्षा और आक्रमणके साधन प्राप्त हैं, जिनके द्वारा वे आत्मत्राण और जीवनरक्षा कर सकते हैं। वैज्ञानिक, सम्भासेक, देवाभक्त, कवि, महात्मा और पापी, सभी अपने-अपने दग्धसे और अधिकांशमें विना जाने ही इतिहासके पृष्ठोंमें अपना नाम छोड़ जानेका प्रयत्न करते रहते हैं, जिससे उनका जीवन अमर हो जाय और इस भौतिक शरीरके छूट जानेपर भी बना रहे। एक रोगी जो किसी भयानक घन्टणासे पीड़ित होकर आत्महत्या कर लेता है वह अपने आपको सर्वथा नष्ट करनेकी बुद्धिसे नहीं, अपितु इस भौतिक जीवनकी नारकी घन्टणाओं तथा क्लेशोंसे मुक्त होनेके लिये ही ऐसा करता है। योगियोंकी धारणा यह है कि यह अमर जीवन स्थूल शरीरकी क्रियाओं तथा चित्तकी वृत्तियोंके निरोधसे ही प्राप्त होता है।

योगियोंका यह कहना है कि मनके द्वारा ही वे सत्यका साक्षात्कार कर सकते हैं और इसीलिये वे आनन्द एवं वाह्य प्रकृतिपर जय प्राप्त करके सत्यके साक्षात्कारकी चेष्टा करते हैं। जिसे हम आधुनिक भाषामें धर्म (religion) कहते हैं वह अपरोक्षानुभवका ही फल है और नित्य, अनित्य सभी पदार्थोंमें है, किन्तु उसका स्वरूप कर्तिपय आदेशात्मक सिद्धान्तों एवं मतवादोंको मानना ही नहीं है। आधुनिक सभ्यताके पक्षपाती जड़वादकी मोहम्मदी भादराको पीकर इतने मस्त हो गये हैं कि वे जीवनकी इस उन्मादराहित एवं सुखमय दिशाको विलुप्त भूल गये हैं,

महर्षि शाण्डिल्यने यह स्पष्टरूपसे कह दिया कि वृन्दावन-की गोपललनाथोंको जान न होनेपर भी वे क्रतार्थ हो गयीं। वे भगवान्को कान्तरूपमें भजती थीं, उन्होंको अस्तिल आनन्द और सुखका स्रोत समझती थीं, वे श्री-कृष्णके सिवा अन्य किसी परद्रष्टाको नहीं जानती थीं—कृष्णं विदुः परं कान्तं न च व्रह्मतया सुने।

यही नहीं, उन्हे धर्मके नामतकसे ऐसी चिढ़ हो गयी है कि निस किसी वस्तुमें उन्हें धार्मिकताका लेश भी दिखायी देता है उसीकी वे निन्दा करने लगते हैं। उनका कथन यह है कि धर्म और अध्यात्मविद्याकी सारी चर्चा, नहीं-नहीं, सत्यकी उपलब्धि तथा अतीन्द्रिय एवं वाह्य जानसे ऊपर उठी हुई अवस्थाको प्राप्त करनेके सारे यत्त व्यर्थ एवं अकिञ्चित्कर हैं। अतएव जगत्के भिन्न-भिन्न भागोंमें सुधारकों तथा धार्मिक ऐत्रके कार्यकर्ता ओद्वारा जितनी दौड़-धूप और प्रचारकार्य होता है उसका एकमात्र उद्देश्य है अर्धसभ्य और वर्वर जातियोंको अपने ही जैसे साधु, सच्चरित्र और सौम्य नागरिक बनाना। आधुनिक जड़-वादियोंकी दलीलें भ्रान्त एवं भूलसे भरी हैं, क्योंकि वे मिथ्या आधारपर टिकी हुई हैं और उनके मूलमें ही उदारता एवं दूरदर्शिताका अभाव है। सत्यकी खोज करनेवाले उनको युक्तियोंको वालिगतापूर्ण कहकर उनका इन गद्दोंमें खण्डन करते हैं—'प्रकृति सर्वत्र समान है। जो वात एक वार हो चुकी है वह उसी प्रकारकी परिस्थिति प्राप्त होनेपर दुनारा उसी रूपमें होनी चाहिये और इस प्रकार हममेंसे प्रत्येक व्यक्ति उसी प्रकारका अनुभव और साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है जैसा भगवान् बुद्ध, प्रमु हिसामसीह आदि महापुरुषोंने अपने-अपने जीवनमें प्राप्त किया था। अवश्य ही हमारे विचार उतने हों दृढ़, हमारी लालसा उतनी ही तीव्र और हमारी लगन उतनी ही सच्ची होनी चाहिये।'

तर्क और अनुभवके सम्बन्धमें यहुत-सा भ्रम कैज़ा हुआ है और देखनेमें विरोध भी मान्द्रम होता है। दार्शनिक योगीके समीप आकर उससे प्रश्न करता है, 'मैं किसी वस्तुमें किसी रास प्रकारसे विश्वास या उत्पक्षा | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

अनुभव कर सकता है, परन्तु मेरा अनुभव सत्य ही होगा, इसमें क्या प्रमाण है ?” इसका उत्तर योगी इस प्रकार देता है—सहज ज्ञान, तर्क और अन्तर्दृष्टि या अतीनिदिय ज्ञान, ये चित्तकी भिन्न-भिन्न आनुपूर्विक अवस्थाएँ हैं। इनमें से एक-एक उत्तरोत्तरका हेतु है—सहज ज्ञान आगे चढ़कर तर्क अवधा विवेचनात्मक बुद्धिके रूपमें परिणत हो जाता है और तर्क-बुद्धिका विकास होते-होते वह अलौकिक ज्ञानका स्पष्ट घारण कर लेती है। अन्तर्दृष्टि अथवा ईश्वरप्रेरित ज्ञान तर्कका विरोधी नहीं होता, विद्यक उसकी पूर्ति करता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक युक्तिका आधार प्राक्तन अनुभव ही होता है। परन्तु शोक ! आज हमलोगोंकी बुद्धिमें कितना विपर्यास हो गया है। भगवान् बुद्ध आदि जगन्‌को दिला देनेवाली महान् व्यात्माओंके भिन्न-भिन्न अनुभव, चाहे वे देखनेमें कितने ही विसदृश एव विस्वादी हों, एक ही सत्यकी भिन्न-भिन्न उपलब्धियाँ हैं, जिस प्रकार एक ही सूर्यको भिन्न-भिन्न रगके चक्रमें से देखनेसे वह भिन्न-भिन्न रगका दीन्द्र पड़ता है।

यद्हो वह प्रथ होता है कि दैवी प्रकृतिसे सम्पन्न होनेपर भी तथा हजार प्रथक करनेपर भी साधकको चार-चार असफलता क्यों होती है। मनोविज्ञानके अध्ययनसे हमारे जीवनकी एक खास वात हमारे ध्यानमें आती है। वह यह है कि विषयसुख ही हमें भ्रम, अज्ञान और दुःखके गर्तमें गिरता है और हमें जीवनके लक्ष्यके समीप न ले जाकर उलटे हमारी उन्नतिके मार्गमें वाया डालता है। अतः पवित्रता धार्मिक एव आत्मात्मक जीवनकी पहली सीढ़ी ही नहीं, अपितु उसका आवश्यक अङ्ग है। शुचिताहीन धार्मिक जीवन धार्मिक जीवन ही नहीं है, अपितु उसका विरोधी है। इसीलिये प्रभु ईसामसीनने कहा है—“जिनका हृदय निर्मल हो चुका है वे पुरुष धन्य हैं, क्योंकि परमेश्वरका साक्षात्कार उन्हींको दोगा।”^१ भगवान् श्रीकृष्ण भी गीतामें कहते हैं—“इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उद्भव होनेवाले विषयसुख दुःख-को नी उत्पन्न करते हैं और आदि-अन्तवाले हैं, है कौन्तेय। विवेकी पुरुष उनमें रमण नहीं करता।”^२

* “Blessed are the pure in heart, for they shall see God.”

¹ ये हि सप्तर्जा भोगा दु खयोनय एव ते ।

आधन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते तु व ॥

(गीता ५ । २२)

‘वाह्य सयोगोंमें अनासक्त चित्तवाला वह पुरुष आत्मसुखका लाभ करता है और ब्रह्मके योगमें चित्तको लगाकर अक्षय सुखका उपभोग करता है।’^३

अतः साधकके लिये आवश्यक है कि वह जगत्‌में रमे हुए चित्तको शुद्ध करे और वह चित्तशुद्धि पहल (निष्काम) कर्मसे और पीठं कर्मसन्व्याससे होती है। गीतावत्का भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

‘एकाग्रताके साधनरूप निष्तशुद्धिकी इच्छा करनेवाले मननशील व्यक्तिके लिये (निष्काम) कर्मको ही साधनरूप कहा गया है। और इस प्रकार चित्तके एकाग्र हो जानेपर उस मुनिके लिये अकर्म ही साधन है।’^४ उस प्रकार जब शरीर और मनके सारे मल धुल जाते हैं, खासकर जब इच्छाओं और सवेगोंसे उत्पन्न होनेवाले कर्मवीजोंसे मन वियुक्त हो जाता है, तब साधक पूर्ण एकाग्रताको प्राप्त होता है, जिससे अन्तमें निर्वाण अथवा समाविकी प्राप्ति होती है।

योगके अनेकों दार्शनिकों तथा योगियोंने अनेक प्रकारके लक्षण किये हैं। Miss Evelyn Underhill नामक महिलाने अपने ‘Mysticism’ नामक उत्कृष्ट ग्रन्थमें Mysticism (योग) की व्याख्या उस प्रकार की है—‘Mysticism (योग) सत्यरूप परमात्माके साथ एकत्र सम्पादन करनेकी विद्या है। Mystic (योगी) उसे कहते हैं जिसने न्यूनाधिक रूपसे परमात्माके साथ एकीभाव प्राप्त कर लिया है, अथवा जिसका लक्ष्य है परमात्माके साथ एकात्मभावको प्राप्त करना और जो इस प्रकारके एकात्मभावमें विद्यास करता है।’^५ भगवान् श्रीकृष्णने योगके अनेक अर्थ किये हैं। एक

¹ वास्त्वपर्यन्त्वसक्तात्मा विन्दत्वात्मनि यत्सुखम् ।

स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमनुरोद्धे ॥

(गीता ५ । २१)

^२ आरुरुक्षोमुंनेयाग कर्म कारणमुच्यते ।

योगारुदस्य तस्यव शम कारणमुच्यते ॥

(गीता ६ । ३)

X “Mysticism is the art of union with Reality The mystic is a person who has attained that union in greater or less degree or who aims at and believes in such attainment”

नगह वे 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहकर कर्ममें प्रवीणताको योग कहते हैं तथा दूसरे स्थानपर वे 'समत्वं योग उच्यते' कहकर समत्वको ही योगका लक्षण बतलाते हैं। यद्यपि 'योग' के सम्बन्धमें लोगोंकी अनेक धारणाएँ हैं तथापि सभी महान् आचार्यों और विद्वानोंने अलौकिकवाद अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको स्वीकार किया है, और इस अपरोक्ष अथवा अतीन्द्रिय ज्ञानको ही सबने अपना ध्येय माना है, चाहे यह ध्येय कितना ही विप्रकृष्ट, दुप्राप्य और अस्पष्ट क्यों न हो।

योगके सबसे बड़े आचार्य महर्षि पतञ्जलिने अपने योगदर्शनके एक सूत्रमें योगका बहुत थोड़े शब्दोंमें बहुत सुन्दर लक्षण किया है। वे कहते हैं—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'। अर्थात् चित्तकी वृत्तियोंके निरोधका नाम ही योग है। सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक महर्षि कपिलाचार्यने अपने सूत्रोंमें मनोविज्ञानका जो सुन्दर निरूपण किया है उसके लिये सभी भारतीय दर्शनशास्त्र उनके क्रठणी हैं। महर्षि कपिल कहते हैं कि किसी ब्राह्म वस्तुको प्रत्यक्ष करनेके लिये निम्नलिखित कारणोंकी अपेक्षा होती है— पहले ब्राह्म विषय, दूसरे इन्द्रिय, तीसरे इन दोनोंसे सम्बन्धित मन, चौथे बुद्धि और पॉच्चवै पुरुष अथवा आत्मा। मन, बुद्धि और अहङ्कारकी समष्टिको 'अन्तःकरण' कहते हैं। ये चित्तकी मिन्न-मिन्न अवस्थाएँ हैं। विचारकी धाराओंका नाम वृत्ति है। जगत्‌का प्रत्येक पदार्थ स्वभावतः अज्ञात एवं अज्ञेय है। ऊपर बताये हुए करणोंके साथ सम्पर्कमें आनेपर ही उसे ज्ञेयता प्राप्त होती है अथवा वह ज्ञान या दूसरे शब्दोंमें प्रत्यक्षका विषय होता है। किसी सरोवरके जलमें ढेला अथवा ईंट फेकनेसे उसमें लहरे और तरङ्गे उठने लगती हैं, इसी प्रकार ब्राह्म विषयों-का इन्द्रियों तथा मनके साथ सयोग होनेपर विचारोंकी अनेक लहरें और तरङ्गे उठने लगती हैं। मन उन अनन्त वृत्तियों तथा प्रवाहोंका खजाना है जो हमारे चित्तकी सूक्ष्म अवस्थामें समूहित होते हैं, बनते हैं तथा रक्षित रहते हैं। इसीलिये जब इन वृत्तियोंको व्यक्त होनेका उचित अवसर मिलता है उस समय भी ये लहरे बनती हैं। बाहरसे तथा भीतरसे आनेवाले सङ्केत ही इन लहरोंके बननेमें कारण होते हैं।

पातञ्जल योगका आदर्श है वह चरम कोटिका मार्ग जिसमें गरीर और मनके समस्त व्यापार सर्वथा बन्द हो

जाते हैं। योगीको इस प्रकारकी स्थितिमें रहनेका अभ्यास डालना चाहिये जिसमें वह अन्न-जलके बिना एक या दो दिनतक नहीं, वल्कि महीनों और सालों रह सके और सब प्रकारके शारीरिक एवं मानसिक व्यापारोंको बन्द रखें। इसलिये समस्त कामनाओं और रागोंको निर्मूल करनेका सतत प्रयत्न करना चाहिये और मनपर कड़ा पहरा रखना चाहिये कि उसके अन्दर कोई नये ऐन्द्रिय विषय, प्रत्यक्षगोचर पदार्थ, कामनाएँ अथवा विचार अलक्षित अथवा प्रकटरूपसे न आने पावे। और साथ-ही-साथ चित्तको सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेका अभ्यास करना चाहिये, ऐसा करनेसे सूक्ष्म मन क्रमशः क्षीण होकर सर्वथा नाशको प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार एक ओर तो मनको नये ऐन्द्रिय विषय, सङ्कल्प, कामना आदिके रूपमें भोजन न देकर सुखाना चाहिये और दूसरी ओर उसे सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर पदार्थोंपर एकाग्र एवं स्थिर करनेके अभ्यासद्वारा अर्थात् धीरे-धीरे किन्तु दृढ़ताके साथ मनसे सारे सङ्कल्पोंको निकाल बाहर कर उसे अनन्यविषयक बनाना चाहिये। ऐसा करनेसे मन विल्कुल खाली हो जायगा और सूक्ष्म मन, जिसमें पहलेके ग्रहण किये हुए सस्कार जमा रहते हैं, सर्वथा नष्ट हो जायगा। इस प्रकार महर्षि पतञ्जलिद्वारा अवधारित योगका व्यय प्राप्त हो जाता है।

प्राणायाम—प्राणायाम योगीके जीवनका आधार-सम्भ है, अतः उसकी प्रक्रियाको बहुत कुछ स्पष्ट एवं विशद करनेकी आवश्यकता है। अद्वैतियोंके आदिगुरु भगवान् गङ्गराचार्यने श्वेताश्वतरोपनिषद्‌के भाष्यमें प्राणायामके सम्बन्धमें निम्नलिखित आशयका उपदेश दिया है—

'प्राणायामके द्वारा जिसका निःशेष मल तुल गया है, ऐसा मन ही ब्रह्ममें स्थिर होता है, अतः प्राणायामका उपदेश दिया जाता है। सबप्रथम नाडीयोग्यन करना चाहिये, ऐसा करनेसे ही प्राणायाम करनेकी शक्ति प्राप्त होती है। अङ्गटेसे दाहिने नासारन्त्रको दबाकर वायें नथुनेसे अपनी शक्तिके अनुसार वायुको खींचना चाहिये; फिर तुरन्त वायें नासापुटको दबाकर दाहिने नासापुटसे हवाको बाहर निकाल दे, इसी प्रकार दाहिने नासापुटसे शक्तिके अनुसार हवा खींचकर वायेंसे बाहर निकाले। इस क्रियाकी दिन-गतमें चार वार अर्थात् दूर्गेदयसे पूर्व,

मध्याह्नमें, सायकालके समय तथा अद्वारात्रिमें तीन या पाँच आवृत्ति करनेसे पन्डह दिनमें अथवा एक महीनेके अन्दर नाडी-शुद्धि हो जाती है। इसके अनन्तर प्राणायाम-ली किया शुल्क होती है।'

प्राणायामका सम्बन्ध श्वाससे नहीं है। श्वासोच्छ्वास तो असली प्राणायामको सिद्ध करनेके अनेक प्रकारोंमें से एक-तम प्रकार है। स्वामी विवेकानन्दजी कहा करते थे कि श्वास इस शरीररूपी यन्त्रकी गतिको नियममें रखनेवाला चक्र (flywheel) है। किसी भी वडे इंजिनमें हम देखते हैं कि यह चक्र ही सबसे पहले धूमता है और इसके धूमनेसे दूसरे छोटे छोटे वारीक पुर्जे चलने लगते हैं और इस क्रमसे अन्तमें मणीनका सबसे नाञ्जक और सबसे सूक्ष्म पुर्जा भी गतिशील हो जाता है। हमारी इस शरीररूपी मणीनका Flywheel श्वास है, इसीसे इस शरीरके अङ्ग-प्रत्यङ्गमें हलचल पैदा होती है और सारे कल-पुर्जे व्यवस्थितरूपसे काम करते हैं।*

प्राणायामका अर्थ है प्राणोंको बगमे करना। भारतीय दर्शनगात्रके अनुसार यह समस्त जगत् और जो कुछ भी इसके अन्दर है वह सब कुछ आकाश और प्राण, इन दो तत्त्वोंमें बना हुआ है। प्रत्येक आकाशवाली वस्तु सघटनका परिणाम है और इस आकाशसे उद्भूत है, जो सर्वगत एवं सर्वत्र अनुस्थूत है, और कल्पके अन्तमें प्रत्येक वस्तु आकाशमें पुनर्लीन हो जाती है। 'प्राण वह शक्ति है जिसने आकाश-को अधिष्ठितकर विश्वकी रचना की है। ठीक जिस प्रकार आकाश सर्वशक्तिमान् और सर्वव्यापक है, उसी प्रकार प्राण भी इस विश्वकी सर्वसमर्थ एवं सर्वव्यापिनी अभिव्यक्तिका शक्ति है। जगत्-में गुरुत्वशक्ति, आकर्षणशक्ति, अपकर्पण-शक्ति, विद्युत्-शक्ति, विचार-शक्ति, नाडी-प्रवाह आदि जितनी शक्तियों हैं वे सब-की-सब प्राणनामक एक ही शक्तिकी भिन्न-भिन्न अभिव्यक्तियों हैं। अतः प्राण

* "Breath is like the flywheel of this machine, the body. In a big engine, you find the flywheel first moving, and that motion is conveyed to finer and finer machinery until the most delicate and finest mechanism in the machine is in motion. The breath is that flywheel, supplying and regulating the motive power to everything in this body."

विश्वकी मानसिक एवं शारीरिक सभी प्रकारकी शक्तियोंकी समष्टि है। इसी प्राणके ज्ञान और निग्रहको प्राणायाम कहते हैं। इस समष्टि जगत्-के जो नियम हैं वे ही इस व्यष्टि जगत्-में भी लागू हैं। अतः प्राण ही प्रत्येक जीवकी जीवनी शक्ति है और विचार-धाराओं, नाडी-प्रवाह, श्वासोच्छ्वास तथा साधारण शारीरिक क्रियाके रूपमें व्यक्त हो रही है। योगियोंके मतमें जो कोई भी दिव्य आनन्दका आस्वादन करना चाहता है तथा सारे दुःखों और व्याधियों-से छूटना चाहता है उसके लिये वह आवश्यक है कि वह इस प्राणको बगमें करके इसीकी सहायतासे निर्बाण अथवा समाधिरूप अमृतार्थवर्म मम होकर अलौकिक अथवा अतीनिदिय ज्ञानको प्राप्त करे। इस प्राणको बगमें करनेके लिये प्रत्येक मनुष्यको चाहिये कि वह अपने निकटतम पदार्थोंको अधीन करनेकी सच्चे दिलसे चेष्टा करे। यों तो शरीर हमारे बहुत निकट है, परन्तु मन सबसे निकट है। जो प्राण हमारे शरीर और मनके भीतर कार्य कर रहा है वह विश्वके अन्य सभी प्राणोंकी अपेक्षा हमारे निकट है। इस व्यष्टि प्राणके निर्गतीत हो जानेपर, जो समष्टि-प्राणरूपी समुद्रके एक शीकरके समान है, मनुष्य उस अनन्त समष्टि-प्राणको बगमें करनेकी आव्या कर सकता है। जो योगी प्राणको बगमें कर लेता है वह सिद्ध हो जाता है और जगत्-के किसी भी दृश्य-अदृश्य पदार्थ अथवा प्राणीके बगमें नहीं रहता और इस मृत्युसंसारसागरमें फिर नहीं आता। स्वामी विवेकानन्दने अपने 'राजयोग' नामक ग्रन्थमें इस प्राणायाम और समाधिसिद्धिके सम्बन्धमें जो सुन्दर दृष्टान्त दिया है मैं उसे यहाँ उद्धृत किये बिना नहीं रह सकता। वे लिखते हैं—

'किसी वडे राजा-का एक मन्त्री था, उससे कोई निनिदत कार्य बन गया, राजाने उसे दण्डरूपमें किसी ऊँची बुर्जके शिखरपर ले जाकर कैद कर देनेकी आज्ञा दी। अधिकारियोंने यही किया और मन्त्रीको वहाँ ले जाकर मृत्युके मुँहमें छोड़ दिया। मन्त्रीकी स्त्री वडी पतिव्रता थी, वह रातको बुर्जके नीचे आयी और शिखरपर स्थित अपने स्वामीको पुकारकर कहा कि 'क्या मैं आपकी किसी प्रकारसे सहायता कर सकती हूँ?' पतिने कहा कि अभी तो जाओ, कल इसी समय फिर आना और अपने साथ एक लम्बा मोटा रस्सा, योही-सी मजबूत पतली रस्सी, योहा पक्का सूती धागा जो पार्सल आदि वर्गनेके काममें

आता है, कुछ रेशमी धागा, एक कीड़ा और योड़ा गहद लेते आना। उस साध्वी ने पहले तो बड़ा आश्र्वय किया कि स्वामी इन सब चीजोंका क्या करेंगे, किन्तु फिर उनकी आशा समझकर वैसा ही किया और दूसरे दिन वह सब सामान ले आयी। स्वामीने उससे कहा कि रेशमी धागेको कीड़ेके पैरोंमें मज़वूतीसे बॉध दो और उसके मुँहके पासके सींग-जैसे अवयवोंमें जहद चुपड़ दो, फिर उसे तुर्जकी दीवालपर ऊपरकी तरफ़ सिर करके छोड़ दो। नीने ऐसा ही किया और कीड़ा ऊपरकी ओर चला। उसे अपने आगेकी ओरसे जो मधुकी गन्ध आ रही थी उसीसे आकृष्ट होकर वह गहद पानेकी आशामें धीरे-धीरे दीवालके ऊपर चढ़ने लगा और योड़ी टेरमें द्विसरपर पहुँच गया। मन्त्रीने उसे पकड़ लिया और इस प्रकार रेशमी डोरेको हस्तगत कर लिया, तब उसने अपनी नीने कहा कि इसके दूसरे छोरको सूती धागेसे बॉध दो और इस रीतिसे सूती धागेको खाँच लेनेपर उसने वही वात पतली रस्सीके सम्बन्धमें और अन्तमें मोटे रस्सेके सम्बन्धमें कही। वाकी काम आसानीसे हो गया। मन्त्री रस्सेके स्हारे नीचे उत्तर आया और भाग गया। इसी हृष्टान्तको हमारे इस शरीरपर घटानेसे माल्म होगा कि हमारे शरीर-के अन्दर जो प्राणवायुकी गति हो रही है वही रेशमी धागा है। इस श्वासलपी रेशमी धागेको पकड़कर अपने अधीन कर लेनेसे हम नाड़ी-प्रवाहरूप मोटे डोरेको पकड़ लेते हैं, उनके स्हारे हम अपने विचाररूपी पतली रस्सीको और अन्तमें प्राणरूपी मोटे रस्सेको हस्तगत कर लेते हैं जिसे चश्में करके हम मुक्त हो जाते हैं।

सूक्ष्म प्राण—इडा, पिङ्गला, सुयुम्ना, मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार, रेचक, पूरक और कुम्भक—कुण्डलिनी।

संसारमें यदि सबसे अद्भुत कोई बल्ह है तो हमारा यह भानवटेह है। इसी शरीरके द्वारा भौतिक एव आध्यात्मिक चंगतके अनेक चमत्कारोंका हमें पता लगा है, इसीलिये हम इसे आश्रयोंका आश्र्वय कहते हैं। निर्बाणसुख, निर्विकल्प समाधि अथवा भगवत्प्राप्ति भी जिन्हें हुई है वह इसीसे हुई है, चाहे हम इसके दोषों और दुष्परिणामोंकी कितनी ही निन्दा और गर्दण करे। योगीलोग इस शरीर-को एक सातमंजिले मकानकी उपमा देते हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार

—ये इसकी सात मंजिले हैं और अनन्त गिरावँओंके जालरूप तार इसमें लगे हैं। इन गिरावँों अथवा नाड़ियोंमें इडा और पिङ्गला ये दो नाड़ियाँ सुख्य हैं। ये मेरुदण्डके उभयपार्श्वमें नद्द हैं। इनके अतिरिक्त एक भीतरसे पोली नली और है जो सुपुम्ना कहलाती है और मेरुदण्डके भीतर होकर गयी है। इस नलीके नीचेके सिरेसे लगा हुआ मूलाधार चक्र है जहाँ कुण्डलिनी शक्ति निवास करती है और ऊपरके सिरेसे सदा हुआ सहस्रारचक अर्थात् हजार दलका कमल है जो जानका आयतन है। प्राणगति निरन्तर इडा और पिङ्गला नाड़ियोंमेंसे होकर प्रवाहित होती रहती है। योगी यदि किसी साधनविशेषसे प्राणको सुपुम्ना नाड़िके नीचेके द्वारमेंसे निकाल ले जाय, जो मुँदा हुआ है, तो उसकी कुण्डलिनी शक्ति, जो सदा सोयी रहती है, जाग्न्त होकर धीरे-धीरे किन्तु हटताके साथ जीवनके व्येयकी ओर अग्रसर होती है और सहस्रारमें जाकर परमात्मासे मिल जाती है। इस स्थितिमें साधकको बहुतसे विचित्र आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। इस तुरीयावस्थारूप परम व्येयको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे योगी प्राणायामका अन्यास करता है, जिसका प्रारम्भिक स्वरूप पूरक अर्थात् श्वासको भीतर ले जाना, कुम्भक अर्थात् श्वास-को रोकना और रेचक अर्थात् श्वासको बाहर निकालना है, और क्रमशः श्वास, नाड़ी और विचारके प्रवाहको संयतकर अन्तमें सूक्ष्म प्राणको अधीन करनेमें समर्थ होता है और इस वशमें किये हुए प्राणकी सहायतासे वह जगत्-के मायारूप भ्रमजालको छिन्न-भिन्न कर देता है। परन्तु प्राणायामके इस विविष्ट साधनको प्रारम्भ करनेके पूर्व साधकके लिये यह आवश्यक है कि वह योगके चार मुख्य अङ्गोंकी पूर्ति कर ले। वे हैं व्रहनचर्य, किसी सिद्ध योगीके तत्त्वावधानमें रहना, अनुकूल संग और हित भोजन, जिसमें अधिक नमकीन, अधिक मीठी अथवा कोई खट्टी, कड़वी और नर्गीली चीजें ने हो। इसे प्रारम्भिक नियमोंका पालन न होनेपर साधकको भयङ्कर हानि उठानी पड़ती है, जो उन्माद, हृदोग, श्वास और इसी प्रकारके अन्य दुष्ट रोगोंके रूपमें प्रकट हो सकती है। प्राणायामका विधिपूर्वक अन्यास करनेते तो कुण्डलिनी शक्ति जाग्न्त होती ही है, किन्तु प्राणायामके अतिरिक्त बहुतसे अन्य उपाय भी हैं जो मनुष्यकी सुत शक्तिको नियन्त्रणमें नियन्त्रण लेते हैं। दार्ढनिकोंकी सूक्ष्म सङ्कल्प-

अक्षिसे, भगवत्प्रेमसे और सिद्ध महापुरुषोंकी दबासे भी वह कार्य हो सकता है।

निर्वाण अथवा समाधिके मार्गमें अनेकों विनां भी हैं। इनमें सबसे बड़ा विनां सिद्धियोंकी प्राप्ति है, जिनका लुभावना और चित्ताकर्पक रूप साधकको चांधिया देता है। मन्त्रे साधकको चाहिये कि वह इन सिद्धियोंके जात्मन् न आवे और अपने आव्यास्तिक जीवनकी नौकाको निर्वाणके सुखद एवं निगपट तीरपर ही ले जाकर विश्राम ले।

शरीर और मनके वीच सनातन कालसे परस्पर मम्बन्ध चला आया है। शरीरका प्रभाव मनपर पड़ता है और मनका शरीरपर। इसीलिये मनको मृश्म शरीर और शरीर-को स्थूल मन कहते हैं। हमलोगोंका वह प्रतिदिनका अनुभव है कि पृजा, जप, ध्यान आदिके अभ्यासमें जब मन ऊपरको उठता है तब शरीरमें भी स्फुर्ति, उत्साह और बल आ जाता है और रोगी होनेपर भी वह अपनेको गेगमुक्त अनुभव करता है। इसी प्रकार जब शरीर स्वस्य और नीरोग होता है उस समय मन भी शान्त और समाधित हो जाता है। वह दात साधारण लोगोंमें देखी जाती है। कुछ इनें-गिने लोग ऐसे भी होते हैं जिनका शरीर अनेक प्रकारकी व्याधियोंमें जर्जरित एवं आकस्मिक दुर्घटनाओंका शिकार होनेपर भी वे प्रकृतिस्थ और शान्त बने रहते हैं और उनका चित्त प्रशान्त महासागरकी भाँति सुदा अक्षुव्व एवं स्थिर रहता है। परन्तु साधारणतया यह देखनेमें आता है कि एकका असर दूसरेपर पड़ता ही है। स्वास्थ्यके सम्बन्धमें तो चिकित्सकों, वैज्ञानिकों और शरीरमर्मज्ञोंके अनेक परस्परविरोधी मत हैं। इन लोगोंका जो कुछ भी मत हो, योगियोंकी धारणा तो यह है कि शरीरमें प्राणोंका विभाग उचित अनुपातमें न होनेके कारण राग होते हैं। इसीलिये व्याधिनाशके लिये योगी लोग शरीरके जिस भागमें प्राण आवश्यकतासे अधिक होता है वहाँसे निकालकर जहाँ उसकी कमी होती है वहाँ ले जाते हैं। व्यानसे हमें शरीरमें प्राणका अनुपात टीक रखनेमें सहायता मिलती है और इससे साधकका शरीर

विल्कुल स्वस्य रहता है। परन्तु जब साधकको योगकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है तब वह शीत, उष्ण आदि द्रव्योंके आक्रमणको तथा प्राणशक्तिके व्ययसे होनेवाली शीणताको सहन करनेमें समर्थ न हो जाता है। योगशास्त्र कहता है—

न तस्य मृत्युर्न जरा न व्याधिः

प्राप्तं हि योगाभिमयं शरीरम् ।

अर्थात् जिसने योगाभिमय शरीर प्राप्त कर लिया वह जरा, मृत्यु और व्याधिके पाशसे मुक्त हो जाता है।

पद्मासन, सर्वाङ्गासन आदि कई क्रियाएँ और आसन ऐसे हैं जिनकी महायतासे अनेकों रोग नष्ट हो जाते हैं और शरीर स्वच्छ और निर्मल रहता है। हठयोगी नित्य प्राप्तःकाल एक ऐसी क्रिया करते हैं जिसे नेती-धोती कहते हैं। इस क्रियाके द्वारा योगी एक लम्बे कपड़ेके ढुकड़े तथा गगरे पानीकी सहायतासे पेट तथा मुख्य-मुख्य नाड़ियोंका शोधन करते हैं। देवी वैद्योंका भी कहना है कि इस अद्भुत क्रियासे अनेक रोग, जो देखनेमें असाध्य प्रतीत होते थे, अच्छे होते देखे गये हैं। यह महान् शोककी बात है कि हठयोगियोंकी शरीरके संसर्गमें रहते-रहते शरीरमें ढढ़ आसक्ति हो जाती है और वे लोग जीवनके लक्ष्यकी ओर जग भी आगे नहीं वढ़ पाते। यद्यपि शरीरकी इस हृदतक सेया और साधना अवश्य करनी चाहिये कि जिससे नैसर्गिक व्याधियोंसे वह मुक्त रहे परन्तु सरण रहे, शरीर-की स्वस्यता ही हमारे जीवनका एकमात्र लक्ष्य न बन जाय। पञ्च महाभूतोंके सघातसे शरीरकी रक्तना हुई है, अतः कालात्ययसे उन भूतोंका वियुक्त होना अवश्यम्भावी है। अतः केवल शरीरकी ही सेंभालमें तल्लीन हो जाना कठापि अमीष नहीं है। मनुष्यको साथ-ही-साथ आध्यात्मिक साधना भी करते रहना चाहिये और निरन्तर स्थूल और सूक्ष्म जगत्से ऊपर उठने तथा निर्वाण अथवा निर्विकल्प समाधिकी अवस्थाम आस्थ बोनेकी चेष्टा करते रहना चाहिये, जहाँ पहुँचकर मनुष्य इस भौतिक जगत्में नहीं लौटता और जहाँ शाश्वत शान्ति तथा सुखका साम्राज्य रहता है। वही जीवनका परम व्येय है।

योगमार्गके विष्ण

(लेखक—वैद्यश्री प० श्रीकमलाकान्तजी विवेदी)

समाधौ क्रियमाणे तु विज्ञान्यायान्ति वै वलात् ।
 'सुमाधिकालमें विज्ञ वलपूर्वक आने लगते हैं ।'
 योगीको चाहिये कि उन विज्ञोका धीरे-धीरे त्याग करे ।
 मग्यान् पतञ्जलिने योगदर्शनमें कहा है—

व्याख्यस्थ्यानसंशयप्रसादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शना-
 लव्यभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपस्तेऽन्तरायाः ।

(समाधियाद ३०)

'व्याधि, स्त्यान, सशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलव्यभूमिकत्व और अनवस्थितत्व—यह नौ चित्तके विक्षेप हैं, यही अन्तराय (विज्ञ) कहलाते हैं ।' ये अन्तराय क्या हैं और किस प्रकार इनसे छुटकारा मिलता है, इस वातको योगमार्गमें प्रवेश करनेके पहले जानना आवश्यक है ।

शरीरको धारण करनेमें समर्थ होनेके कारण धातु नामको प्राप्त हुए बात, पित्त और कफकी न्यूनाधिकता, खाये तथा पिये हुए आहार-पदार्थोंके परिणामस्वरूप रसकी न्यूनाधिकता और मनसहित एकादश इन्द्रियोंके वलकी न्यूनाधिकताको व्याधि अथवा रोग कहते हैं । व्याधि होनेपर चित्तवृत्ति उसमें अथवा उसे दूर करनेके उपायोंमें लगी रहती है । इससे वह योगमें प्रवृत्त नहीं हो सकती । इसी कारण व्याधिकी गणना योगके विज्ञोमें होती है ।

अजीर्ण, नींदकी खुमारी, अति परिश्रम प्रभृतिसे ब्रह्माकारवृत्तिका अभाव हो जाता है । अजीर्ण आदि, ल्यके कारणरूप विज्ञोंके निवारण करनेके लिये पथ्य और लघु भोजन करनेसे और प्रत्येक व्यवहारमें युक्ति तथा नियमके अनुसार चलनेसे एव उत्थानके प्रयत्नद्वारा चित्तको जाग्रत् करनेसे वह विज्ञ दूर होते हैं । इस विषयमें श्रीकृष्ण भगवान् भी अर्जुनके प्रति कहा है—

न त्यक्षतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्वत् ।
 न चातिस्वमर्शीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥

(नीता ६ । १६)

'जो अधिक भोजन करता है, जो विल्कुल विना खाये रहता है, जो वहुत सोता है तथा जो वहुत जागता है, उसके लिये हे अर्जुन योग नहीं है । बल्कि—

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
 युक्तस्वमावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥

(नीता ६ । १७)

'जो नियमपूर्वक भोजन करता है, नियमित विहार करता है, कर्म करनेमें भी नियमपूर्वक रहता है, जागना और सोना भी जिसका नियमपूर्वक होता है, उसके लिये योग दुःखका नाश करनेवाला होता है ।'

योगसाधनकी इच्छा होनेपर देश-कालादिकी विपरीतताकी कल्पना करके योग-साधनकी प्रवृत्तिमें जो चित्तकी असमर्थता होती है उसे स्थान कहते हैं । देश-कालादिकी कल्पित विपरीतताको दूर करनेमें सामर्थ्यरहित चित्तकी यह अयोग्यता भी योगमें प्रवृत्त होने नहीं देती । इसलिये यह भी योगमें विघ्नरूप है ।

यह वस्तु ऐसी ही है या अन्य प्रकारकी है ? इस प्रकारका परस्परविरोधी और उभयकोटिको विषय करनेवाला विज्ञान संशय कहलाता है । 'योग होता है या नहीं ?' 'गुरु और शास्त्र, योग और योगसाधनकी जो महिमा वर्णन करते हैं वह सत्य है या असत्य ?' 'योगका फल कैवल्य होता है या दूसरा कुछ ?' 'ईश्वर-प्रणिधानसे समाधिलाभ तथा कैवल्य-प्राप्ति सिद्ध होती है या नहीं ?' 'योगका परिणाम कैवल्य सत्य है या यह कल्पनामात्र है ?'—इस प्रकारके अनेकों विरोधी तथा उभयकोटिको विषय करनेवाले जानको संग्रहरूप समझना चाहिये । इस प्रकारके संशय मनुष्यको कभी भी योगमें निश्चलतापूर्वक प्रवृत्त नहीं होने देते । अतः ये योगके प्रबल विरोधी हैं । अतद्रूप-प्रतिष्ठत अर्थात् अपने वास्तविक ल्पमें स्थिर न होनेसे संशय और भ्रान्तिदर्शनके अभेद होनेपर भी उभयकोटिके स्वर्ण और अस्वर्णरूप अवान्तरभेद कहनेकी इच्छासे ही उनका भेद कहा जाता है । इसलिये संग्रहका नाश कर भ्रान्तिदर्शनमें भी श्रीसद्गुरुके वचन और शान्तप्रमाणमें अद्वा रखनी चाहिये ।

समाधि-साधनमें प्रयत्न न करना अथवा उसमें उदासीनता रखना प्रमाद कहलाता है ।

कफादिके डारा शरीरके भारी होने तथा तमोगुणके

द्वारा चित्तके भागी होनेसे भी योगसाधनमें प्रवृत्ति नहीं होती, इसे ही आलस्य कहते हैं।

प्रमाद और आलस्य, ये दोनों यमादि योगसाधनमें साधककी प्रवृत्ति नहीं होने देते। इसलिये ये दोनों योगमें विप्रल्प हैं।

विषयके समीप इन्हें विषय-स्थित दोषोंके अत्यन्त विसरणके द्वारा विषय-भोगकी चित्तमें जो तीव्र इच्छा (त्रृणा) होती है उसे अविगति अथवा अवैगम्य कहते हैं।

विषय-त्रृणा योगकी प्रबल विरोधिनी है। क्योंकि वह वृत्तिको अन्तसुखी नहीं होने देती। यदि कदाचित् अति यन्मर्पक वृत्ति अन्तसुखी होती भी है तो फिर अल्प समयमें ही विषयोंके स्फुरणद्वारा चित्तको ध्रुव्य करके उसे वहिसुख कर देती है। स्मृति भी यही कहती है—

नि सद्गता मुक्तिपद यतीनां

सङ्गादशेषाः प्रभवन्ति दोषाः।

आहृद्योगोऽपि निपात्यतेऽधः

सङ्गेन योगा किमुताल्पसिद्धिः ॥

‘श्रतियोका सगरहृत रहना मुक्तिका स्थान है, सगसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। योगारुद भी सगसे अधोगतिको प्राप्त होते हैं, फिर अल्प सिद्धिवाला अपक्ष योगी यदि सगसे अधोगतिको प्राप्त हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या?’

विषय-त्रृणामें दोषदृष्टि करनेसे यह विष्म दूर होता है। जिस प्रकार लड्डूमें विष डाला गया है—यह बात जान लेनेपर भूखा भी उसके खानेकी इच्छा नहीं करता, उसी प्रकार शाक्कोंका अध्ययन और सदूगुरुके उपदेशके द्वारा विषयोंमें दोषदृष्टि होनेपर उनके भोगनेकी इच्छा नहीं होती।

सदूगुरु तथा योगशास्त्रोंके द्वारा उपदिष्ट योगसाधनमें अमाधनत्ववृद्धिको भ्रान्तिदर्शन या विपर्ययज्ञान कहते हैं। यह भ्रान्तिदर्शन भी विषरीतज्ञान तथा विषरीत प्रवृत्तिके कारण साधकको योगमें प्रवृत्त नहीं होने देता। अतः इसकी गणना योगके विष्में होती है।

मधुमती आदि समाधिकी भूमिकाओंमें किसी भी भूमिकाका अभ्यास करते रहनेपर भी किसी कारणसे उसका प्राप्त न होना अलव्यभूमिकत्व कहलाता है। अलव्यभूमिकत्व भी साधकके चित्तको असन्तोषके द्वारा वहिसुख रखनेके कारण योगमें विप्रल्प है।

मधुमती आदि योगकी भूमिकाओंमें किसी भूमिकाकी प्राप्ति होनेपर भी विसय अथवा कर्तव्यके विसरण या अजानके द्वारा उसमें चित्तको सुस्थिर न करना अनवस्थितत्व कहलाता है। योगकी किसी भूमिकाके प्राप्त होनेपर, इसीसे भलीभौति स्थिरता हुई है, किसी कारणसे ऐसा मान लिया जाय और उससे आगेकी सुस्थिरताके लिये प्रयत्न नहीं किया जाय ता उसको उत्तर भूमिकाकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, माथ ही उस भूमिकासे भी वह भ्रष्ट हो जाता है। अतः प्राप्त हुई योगभूमिकामें अपने चित्तको सुस्थिर करनेके लिये साधकको प्रयत्न करना चाहिये। ऐसा प्रयत्न न करनेसे उस भूमिकामें चित्तकी अस्थिरता रहती है, और वह भी योगमें प्रतिवन्धक होती है।

चित्तको विक्षिप्त करनेवाले वे नौ योग-मल योगके विष्म कहलाते हैं। सशय और भ्रान्तिदर्शनरूप वृत्तियों भी वृत्तिनिरोधरूप योगकी विरोधिनी हैं। और व्याख्या आदि वृत्ति न होनेपर भी वृत्तियोंके साहचर्यसे योगमें वाधक हैं।

केवल वे नौ ही योगके विष्म नहीं हैं। वृत्तिके विक्षेप करनेवाले इन विष्मोंके साथ दुःखादि अन्य विष्म भी हैं। भगवान् पतञ्जलि उनका भी नाश करनेके लिये कहते हैं—

तत्प्रतिषेधार्थमेकतस्वाभ्यासः। (समाधि० ३२)

उस विक्षेप तथा उसके साथ होनेवाले दुःखादिकी निवृत्तिके लिये एक तत्त्वका अभ्यास करना चाहिये। इसी प्रकार योगवासिष्ठसे भी कहा है।

तावश्चिक्षायवेताला वहगन्ति हृषि वासनाः।

एकतत्त्वद्वद्याभ्यासाध्यावज्ञ विजितं मनः ॥

‘जवतक एक तत्त्वके हड़ अभ्याससे मनको पूर्णरूपसे जीत नहीं लिया जाता तबतक अर्द्धरात्रिमें नृत्य करनेवाले वेतालोंके समान वासनाएँ हृदयमें नृत्य करती रहती हैं।’

इस प्रकार अनेक विष्म योगीके समाधिमें विप्रल्पसे आते हैं, अतएव उनको हटानेका धीरे-धीरे यत्त करना चाहिये।

इस विषयका एक दृष्टान्त है। एक चरवाहेको रखवाली करनेके लिये दी हुई एक बछिया जगलमें भटकती है और भटकनेकी आठत सीखती है। पीछे जब वह गामिन हो जाती है तब कुछ खिलानेका लालच देकर उसे लोग घर ले आते हैं। पर उसको भटकना छोड़कर

वरपर रहना अच्छा नहीं लगता, और मौका पाकर वह फिर निकल जाती है। पीछे फिर पकड़कर लायी जाती है। ऐसा करते-करते जब वह व्याती है तब अपने बछड़ेके प्रेमपाशमें ऐसी बैठ जाती है कि फिर लाठीसे मारकर बाहर निकालनेपर भी नहीं निकलती। इसी प्रकार बुद्धिरूपी विद्या सप्तरास्ती जगलमें भटकती है और विषयभोगरूपी कुट्टेव सीखती है। पीछे पुण्योदय होनेपर जब वह मुमुक्षास्त गृह्म धारण करती है तब योगद्वारा बुद्धिको स्थिर करनेका प्रयत्न होता है, तथा ध्यानादि क्रियाओंके द्वारा उसे रसरूपी भोजन प्राप्त होता है। तथापि भटकनेकी आदत होनेके कारण मौका मिलते ही बुद्धि चलायमान हो जाती है। परन्तु बुद्धिको जब समाधिद्वारा ज्ञानरूपी वस्त्र उत्पन्न होता है तब उसके प्रेममें निमग्न होकर वह किसी भी दुःखरूपी प्रहारसे घबराकर घर नहीं छोड़ती अर्थात् कभी वहिमुख नहीं होती। इस प्रकार दोषोंको निवृत्तकर निरोधप्रयत्नके द्वारा निश्चल किया

हुआ चित्त स्वाभाविक चञ्चलतासे विषयाभिमुख होकर बाहर जाय तो उसे फिर निरोधप्रयत्नसे ब्रह्ममें लगावे। इस प्रकार ब्रह्ममें एक हुआ चित्त लय तथा स्तब्ध अवस्थामें नहीं जाता, शब्दादि विषयाकार वृत्तिका अनुभव नहीं करता तथा रसका भी आस्वादन नहीं करता। यह निवात प्रदेशमें दीपशिखाके समान अचल होकर किसी भी विषयके आकारको न धारणकर केवल ब्रह्माकार होता है। यह अद्वैतभावनास्त ब्रांत्त भी केवल शुद्ध सार्चिक होनेपर ब्रह्मका अनुभव कर स्वयं लीन हो जाती है। इसलिये योगाभ्यास करनेवालेको इन सब विध्नोंके दूर करनेके लिये प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये। क्योंकि 'श्रेयांसि बहुविध्नानि'-श्रेयस्कर कार्यमें अनेको विनाश आते हैं, यह प्राकृतिक नियम है। इसलिये विनाश करनेवाले उपकरणोंमें लोभवत्त न फैसकर उनसे सदा सचेत रहना चाहिये, क्योंकि वे बलपूर्वक फैसाते हैं।

ॐ तत्सत्

श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग

(लेखक—पं० श्रीन्यम्बक भास्करज्ञानी खरे)



श्रात्य शिक्षाकी चमक-दमकसे चौधियायी हुई जनताकी योगशास्त्रविमुख बुद्धि कुछ कालमें परमहस स्वामी रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द, श्रीअरविन्द, स्वामी कुवलयानन्द, श्रीयोगीन्द्र आदिके प्रयत्नसे और पाश्रात्य तत्त्ववेत्ताओंके उद्धारोंसे पुनः योगशास्त्रकी ओर छुकने लगी है और कुछ लोगोंकी समझमें यह आने लगा है कि इस शास्त्रमें कुछ है।

२ योगशास्त्रमें जो अनेक गूढ़ विषय हैं उनमें श्री-कुण्डलिनी-शक्ति गृट्टम विषय है। योगशास्त्रके प्रथम सौपानसे अन्तिम सौपानतक चढ़ जानेके पश्चात् ही इस शक्तिका अनुभूत ज्ञान प्राप्त होता है।

३ ऐसे हिंष और गूढ़ विषयपर लिखनेका प्रयोजन यह है कि अवताक इस विषयपर साझोपाङ्क और अनुभव-सिद्ध विवरण हिन्दी भाषामें गथित किया हुआ कहीं भी देखनेमें नहीं आया। इसलिये अनेक पर्यायमें अनेक Hinduism Discord Server <https://dsc.gg/dharma>

सम्प्रदायोंके सिद्ध पुरुषोंकी सिद्धवाक्सरिताओंमें जिन्हें अवगाहन किया है—सिद्धयचन पढ़े और सुने हैं और उन्हे अनुभव करनेका महलाभ जिन्हे प्राप्त हुआ है ऐसे एक सत्पुरुषसे इस विषयमें जो कुछ वार्ते मालूम हुई हैं, उन्हींको एकत्र करके प्रशुद्ध साधकोंके उपयोगार्थ प्रकाशित करनेसे उपकार होगा, ऐसा समझकर ही यह प्रयास किया जाता है।

४ इतना कष्टसाध्य कार्य करनेकी योग्यता प्रस्तुत लेखकमें नहीं है। कारण, सदा-सर्वदा प्राप्तिक उपाधियोंमें अटके रहनेका ही उसका व्यवसाय है। ऐसी अवस्थामें उसके द्वारा यह काम कहाँतक वन सकेगा, इसका कोई भरोसा नहीं। इसलिये आगे जो कुछ लिखा जाएगा वह यदि पाठकोंको नीरस जान पड़ा और मनको यिचारशून्य अज्ञात जगत्में प्रवेश करनेमें सहाय्य अपेक्ष्य ही जैना तो इससे मुझे कुछ भी विपाद न होगा। परन्तु यदि इसमें कोई तथ्य देख पड़ा तो वह श्रीशुरु-भैयाकी दया है, मेरे | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

उसमे कुछ भी नहीं ।

५ विवेचनके सुभीतेके लिये इस विषयके यहाँ पॉच विभाग किये जाते हैं—

- (१) वेद, आगम, उपनिषद्, पुराण और साधु-सन्तों-
के वचनोमें आया हुआ कुण्डलिनी-वर्णन ।
- (२) कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन ।
- (३) योग और योगके विभागोका वर्णन ।
- (४) अन्यासक्रम, ध्यानप्रकार ।
- (५) कुण्डलिनी-साधनके फल ।

अवतरण

यकुमारी मन्द्रयते यथोविद्य पतिव्रतो अरिष्टं यत्किञ्च
क्रियते अस्मिस्तदनुवेधति । (यजुर्वेद)

कुण्डलिनीशक्तेवस्थान्नयं विद्यते । यथस्मिन् चक्रे
कुमारी कुमारावस्थामापन्ना प्रथमं सुस्मित्यता मन्द्रयते
मन्द्रं स्वरं करोति ।

पुरः हिरण्मयी ब्रह्मा विवेशो पराजिता ।
(यजुर्वेद)

अपराजिता कुण्डलिनीशक्तिः पट्चक्राणि भिस्वा
भूयो भूयः प्रविशति ।
(सौन्दर्यलहरी-लक्ष्मीधरव्याख्या)

कुण्डले अस्याः स्तः इति कुण्डलिनी ।
मूलाधारस्थ वह्यात्मतेजोमध्ये व्यवस्थिता ।
जीवशक्तिः कुण्डलास्या प्राणाकाराथ तैजसी ॥
महाकुण्डलिनी प्रोक्ता परवह्यस्वरूपिणी ।
शब्दवह्यमयी देवी एकानेकाक्षराकृतिः ॥
शक्तिः कुण्डलिनीनाम विसतन्तुनिभा शुभा ।
(योगकुण्डल्युपनिषद्)

विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुनिवलयां प्रिये ।
(शानार्णव तन्त्र)

पराशक्ति कुण्डलिनी विसतन्तुनीयसी ।
(ललितासहस्रनाम)

शक्तिः कुण्डलिनीति विश्वजननीव्यापारवद्वोद्यता ।
(लघुस्तुति)

मूलाधारे मूलविद्यां विद्युत्कोटिसमप्रभाम् ।
सूर्यकोटिप्रतीकाशां चन्द्रकोटिद्रवां प्रिये ॥
विसतन्तुस्वरूपां तां विन्दुनिवलयां प्रिये ।
(शानार्णव तन्त्र)

यदोल्लसति श्रुंगारपीठात् कुटिलरूपिणी ।
शिवार्कमण्डलं भिस्वा द्रावयन्तीन्दुमण्डलम् ॥
(वामकेश्वर तन्त्र)

अष्टधा कुण्डलीभूतामृजवीकुर्यात् कुण्डलीम् ।
(योगगितोपनिषद्)

कला कुण्डलिनी चैव नादशक्तिसमन्विता ।
(पट्चक्रनिरूपणम्)

मूलाधार आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शायिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता ॥
(धेरण्डमहिता)

कन्दोधृं कुण्डलीशक्तिः सुसा मोक्षाय योगिनाम् ।
वन्धनाय च मूढानां यस्तां वैत्ति स योगवित् ॥
कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत् परिकीर्तिता ।
सा शक्तिश्रालिता येन स युक्तो नात्र संशयः ॥
(हठयोगप्रदीपिका)

अघोमुखसर्पिणी निदेली असे ।
विद्युलतेची विडी । वहि ज्वाला ची घडी ।
पघरेया ची घोटीव जैरी ।
(श्रीशानेश्वरी अ० ६, २२२-२३-२४)

मग कुडलिनी येचा टेमा । आधारीं केला उमा ।
तिया चोजविलिया प्रमा । निमथावेरी ॥
(श्रीशानेश्वरी अ० १२ । ५१—५२)

मग शक्ति जे का कुडलिनी । आदि माया विश्वसजीवनी ॥
शरीर मात्रीं असे निजेनी । परी शरीर चालवी स्वसत्ता ॥
मग जेवि काते नागाचें पिले । कुकुम केगरीं सर्वार्गीं न्हाणले ॥
नातरीते विद्युलतेची विडी । कीते अग्नि ज्वाळाची केवळ घडी ॥
नातरी वावन कसाची चोखडी । पुत्री ओतिली ॥
(सानुभवदिनकर कलाप ९)

६ भिन्न-भिन्न ग्रन्थोंमें विखरे पड़े असंख्य वचनोंसे
कुछ थोड़े-से ही वचन ऊपर उद्धृत किये हैं । इन वचनोंसे,
कुण्डलिनी क्या है, इसका ऊहापोह करना विचारा है । वस्तुतः
यह योगशास्त्रका विषय है । योगशास्त्र प्रयोगसिद्ध शास्त्र
है । इसमें जिन वातोंका विवरण है वे सब अनुभवजन्य
हैं । जिन सिद्धपुरुषोंको कुण्डलिनी-शक्ति जैसी अनुभूत हुई
वैसा ही उन्होंने उसका वर्णन किया है । आज भी यदि
कोई अन्यास करे उसे ये ही अनुभव प्राप्त हो सकते हैं ।

७ समष्टि सुषिकी कुण्डलिनीको महाकुण्डलिनी कहते हैं
और उसीके व्यष्टि-व्यक्तिमें व्यक्त होनेपर उसे कुण्डलिनी कहते हैं

है। सम्पूर्ण जगत् को जो चलाती है वह अव्यक्त कुण्डलिनी है और व्यष्टिप जीवको चलानेवाली व्यक्त कुण्डलिनी है। जो व्रह्माण्डमें है सो ही पिण्डमें है, यह बात प्रसिद्ध ही है। 'कुण्डले अस्या स्त' इति कुण्डलिनी। 'कुण्डले' अर्थात् दो कुण्डल—इडा और पिंगल। वार्यों ओरसे वहनेवाली नाड़ी है वह इडा और दार्ढी ओरसे वहनेवाली पिंगल। इन दो नाडियोंके बीचमें जिसका प्रबाह है वह है सुपुम्ना नाड़ी। इस सुपुम्ना नाड़ीके अन्तर्गत और भी नाडियों हैं, जिनमें एक चित्रिणी नामकी नाड़ी है। इसी चित्रिणी नाड़ीमेंसे हीकर कुण्डलिनी-शक्तिका रास्ता है। इसलिये इस सुपुम्ना नाड़ीकी दोनों ओरसे वहनेवाली उपर्युक्त दो नाडियों ही पहले दो कुण्डल हैं।

८ कुण्डलिनी-शक्तिके व्यक्त होनेके साथ वेग उत्पन्न होता है। उससे जो पहला स्फोट होता है उसको नाद कहते हैं। नादसे प्रकाश होता है और प्रकाशका व्यक्त रूप महाविन्दु है। नादके तीन भेद हैं—महानाद, नादान्त और निरोधिनी। विन्दुके भी तीन भेद हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया, सूर्य, चन्द्र और अग्नि, व्रह्मा, विष्णु और महेश। जीव-स्तुष्टिमें उत्पन्न होनेवाला जो नाद है वही ऊँकार है, उसीको शब्द-श्रव्य कहते हैं। ऊँकारसे बावन मातृकाएँ उत्पन्न हुई हैं। इनमें पचास अक्षरमय हैं, इक्यावनवीं प्रकाशरूप है और बावनवीं प्रकाशका प्रवाह है। यह बावनवीं मात्रा यही है जिसे सतरहवीं जीवन-कला कहते हैं। उपर्युक्त पचास मातृकाएँ लोम और विलोमरूपसे सौ होती हैं। ये ही सौ कुण्डल हैं। इन कुण्डलोंको धारण किये हुई मातृकामयी कुण्डलिनी है। इस कुण्डलिनी-शक्तिसे चैतन्यमय जीव देहनिद्रादियुक्त जीवरूप धारण करते हुए प्राणशक्तिको संग लिये स्थूल गरीर अर्थात् अन्नमय कोषका स्वामी होता है।

९ इस जीवको जीवत्वकी चेतना सहस्रार चक्कसे अनाहतमें अर्थात् हृचक्रमें आनेपर होती है। सहस्रार चक्कमें अव्यक्त नाद है, वही आजाचक्रमें आकर ऊँकाररूपसे व्यक्त होता है। इस ऊँकारसे उत्पन्न होनेवाली पचास मातृकाओं-की अव्यक्त स्थितिका स्थान सहस्रार चक्क है। इस स्थानको अकुल स्थान कहते हैं। यही श्रीगिव-शक्तिका स्थान है। श्रीगिव-शक्ति अर्धनारीनटेवर है—शक्ति व्यक्त और शिव अव्यक्त हैं। इस अकुल स्थानसे उत्पन्न होनेवाली जो-जो मातृकाएँ जिस-जिस स्थानमें व्यक्त हुई उन-उन मातृकाओं

और उनके उन-उन स्थानोंको लोम-विलोमरूपसे नीचे दरसाते हैं—

अं-

अ	अकुल	छ
आ	महाविन्दु	ह
इ	उन्मना	स
ई	समना	ष
उ	व्यापिका	ञ
ऊ	शक्ति	व
ऋ	नादान्त	ल
ऋ	नाद	र
ल	रोधिनी	य
ल	अर्धचटिका	म
ए	विन्दु	भ
ऐ	आजा	व
ओ	अतराल	फ
औ	लम्बिका	प
अ	विशुद्धि	न
अः	अतराल	ध
क	अनाहत	दं
ख	अतराल	थ
ग	अतराल	त
घ	मणिपूर	ण
ঁ	स्वाधिष्ठान	ঁ
চ	आधार	ঁ
ল	विपुव	ঠ
জ	কুলপদ্ম	ট
়	কুল	ঝ

पर्श्चमें दरसाये पचीस स्थानोंके सम्बन्धमें लोम-विलोमात्मक श्लोक नीचे देते हैं। यह एक माला ही है और यह माला फेरते हुए जप करनेसे पुरश्ररण-का फल बताया है। कारण, इस मालासे जप करनेसे वृत्तिका इधर-उधर भटकना असम्भव हो जाता है। अस्तु।

लोमश्लोक

आधारनादसून्नेण
ध्यायेद् वर्णमणीन् क्रमाद्।
अकुलं च महाविन्दुः
उन्मना समना तथा ॥

व्यापिका शक्तिनादान्त-
नादरोधार्धचन्द्रिका ।
विन्दुराजा तत्त्वैकं लम्बि-
काय विशुद्धिका ॥

पुंकं ततोऽनाहतं द्वे
मणिपूरं तथैव च ।

स्वाधिष्ठानाधारके च
विपुसंज्ञं कुलं तथा ॥
कुलाथ चेति स्थानानां
पञ्चविद्वातिसंख्यका ॥

विलोमश्लोक

कुलाथ कुलपद्मं च
विपुवाधारसंज्ञकम् ।

स्वाधिष्ठानं मणिपूर-
मन्तरालद्वयं तथा ॥

अनाहतं चान्तरालं
विशुद्धिश्चाय लम्बिका ।
अन्तरालाज्ञा च विन्दुरध-
चन्द्रा च रोधिनी ॥

नादो नादान्तशक्तिश्च
व्यापिका समना तथा ।
उन्मना च महाविन्दुर-
कुलं च विलोमत ॥

चित्र नम्बर (१) में, भ्रमध्यमें 'ह' 'ম' (ঁ) 'সোঁ' 'হ'
मन्त्रके दो व्रीज दिखाये हैं। इनके अन्तर्गत, ऊँकार
व्रीजसे पहले स्वरोत्पत्ति, पीछे च्यঙ्गोत्पत्ति हुई।

भ्रूमध्यगत आजाचकके नीचे विशुद्धाख्य, अनाहत, मणिपूर, स्वाधिष्ठान और मूलाधारचक्रोंमें क्रमसे इस उत्पत्तिका क्रम दिखाया है। इसमें यह सिद्ध है कि इन चक्रोंमेंसे ही मातृकात्मक स्वरमाला और वर्णमाला उत्पन्न हुई। इस चित्रमें यह दिखाया गया है कि विशुद्धाख्य चक्रके समीप रुद्रग्रन्थि, मणिपूरके समीप विष्णुग्रन्थि और मूलाधारके समीप ब्रह्मग्रन्थि हैं।

१० इन मातृकाओंके स्थान जीवके शरीरमें कहौं-कहौं किस प्रकार है, यह आगे बतलाते हैं—

अ, आ, कवर्ग, ह—कण्ठस्थान ।
इ, ई, चवर्ग—तालुस्थान ।
ऋ, ॠ, रवर्ग—मूर्धास्थान ।
ल, लृ, तवर्ग, ल, स—दन्तस्थान ।
उ, ऊ, पवर्ग—ओष्ठस्थान ।

इन उत्पत्तिस्थानोंको बताते हुए मूलाधार, मणिपूर, अनाहत, विशुद्धि, ये नाम नहीं दिये हैं। बात यह है कि परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, इन चार वाणियोंके स्थान मूलाधारसे बताये जाते हैं। शब्दोत्पत्तिके स्थान इस प्रकार बतानेपर भी अनुभव इससे मिलता है।

११ वैखरी वाणी अर्थात् शब्दोच्चारण। इस वैखरी वाणीका मूलस्थान परा वाणी है। शब्द पहले परा वाणीसे उठता है। पहले मनमें वृत्ति उठती है, तब वृत्तिसहश विचार उत्पन्न होता है। विचार प्रकट करनेका मूलस्थान परा वाणी है। विचार सूक्ष्म शब्दमें आता है तब उसे पश्यन्ती कहते हैं। पश्यन्ती वाणीके शब्द नेत्रोंको दिखायी देने लगते हैं। ये शब्द जब अर्धवाक् और रसनाकी क्रियातक आते हैं तब वे मध्यमा वाणी हैं, और स्पष्ट शब्दोच्चार होनेपर वह वैखरी वाणी है। मन्त्रोंका उच्चार पहले मध्यमाम करे और ‘पीछे वैखरीसे रामका नाम पहले ले’। समर्थ रामदास स्वामीकी इस उक्तिके अनुसार मध्यमामें अर्थात् कण्ठमें अस्पष्ट उच्चार करे और पीछे वैखरीसे स्पष्ट शब्द उच्चारे।

१२ सहस्रारके नीचे घोडगदल सोमचक्र है, उसके नीचे द्वादशगदल मनश्चक्र है, उसीमें विचार उत्पन्न होनेका स्थान है। वह मूर्धास्थानके ऊपर है। ये चक्र सर्वमान्य योगमार्गके श्रीशाट, गोल्डाट और विकुटचक्रोंके समीप ही हैं। मनश्चक्रकी नाड़ी मनोवहा या आजावहा नलिका है। श्रणेन्द्रियगोलक शब्दवहा नाड़ी, नेत्रेन्द्रियगोलक

स्पष्टवहा नाड़ी, वागिन्द्रिय गोलक रसवहा नाड़ी, प्राणेन्द्रियगोलक गन्धवहा नाड़ी, और स्पर्शेन्द्रियगोलक स्पर्शवहा नाड़ी है। ये नाड़ियों सहस्रार चक्रके आस-पास और मनोवहा नाड़ीके ऊपर हैं। श्रवणेन्द्रियगोलक यदि उत्पन्न न हो अथवा नष्ट हो जाय तो वह प्राणी गूँगा होता है। ये सब नाड़ियों सहस्रार चक्रके आस-पास हैं, यह जो बात अभी कही उससे यह भी सिद्ध है कि इन ज्ञानेन्द्रियोंके स्थान सहस्रार चक्रमें ही हैं। किसी भूली हुई बातका स्मरण करने अथवा किसी बातका विचार करनेके लिये मनुष्य सिरपर हाथ रखकर, ओरें बन्द करके ऊपरकी ओर ही देखता है। इस तरहसे वह भूली हुई, बातको याद करता है। आजकल ऐसे वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं जिनसे विचारोंके फोटोतक खींचे जाते हैं। इनमें यही देखा जाता है कि विचार-मालिका सहस्रार चक्रसे बाहर निकल रही है। इससे यह प्रमाणित होता है कि परा, पश्यन्ती वाणियोंके स्थान मूलाधार-स्वाधिष्ठान नहीं, बल्कि सहस्रारके समीप ही है।

१३ मनश्चक्रका स्थान भ्रूमध्यके ऊपर पहले बता आये हैं। पर कुछ ग्रन्थोंमें मनश्चक्रका स्थान अनाहतके समीप बताया है और यह मनश्चक्र आठ दलका है। इस प्रकार मनके दो भेद हैं—एक विचार करनेवाला मन और दूसरा विषयोंको अनुभव करनेवाला मन। इस दूसरे मनकी उत्पत्ति कैसे हुई, यह अब देखें।

१४ वामकेश्वरतन्त्रमें यह वर्णन है कि मस्तकमें जैसा सहस्रारचक्र है वैसा ही सहस्रारचक्र मूलाधारमें भी है और कुण्डलिनी जिस स्वयम्भू लिङ्गको लपेटकर बैठी है वह स्वयम्भू लिङ्ग इसी मूलाधारके सहस्रारमें है। ऊपर साम्म ९ में जिस रुद्रग्रन्थि और ब्रह्मग्रन्थिका उल्लेख हुआ है उनके विषयमें इस तन्त्रमें यह कहा है कि रुद्रग्रन्थि मूलाधारके समीप है और ब्रह्मग्रन्थि विशुद्धाख्यके समीप। इसी प्रकार इस वामकेश्वर-तन्त्रके अनुसार जो चित्रपट तैयार किया है उसमें मूलाधारमें ‘बैंडैं बैंसैं’ इन वीजोंके बदले ‘अ आ इ ई’ वीज आते हैं। इसके बाद स्वाधिष्ठानमें ‘उ ऊ ऋ ऋ लू लू’ वीज आते हैं और यही अनुक्रम आगे चलता है और आजाचक्रमें ‘ह क्ष’ वीज आते हैं। (चित्रपट न० २ देखिये।) इस चित्रपटके अनुसार परा वाक् मूलाधारमें, पश्यन्ती मणिपूरमें, मध्यमा अनाहतमें और वैखरी विशुद्धिमें,

यह क्रम है। और अनाहतचक्रके समीप अष्टदल मनश्चक है। इस सम्बन्धमें ऐसी कल्पना की जा सकती है कि जैसे श्रीवदरीनारायणके रास्तेमें गुप्तकाशी और गुप्त-प्रयाग स्थान हैं और फिर नीचे उत्तरनेपर पुनः काशी और प्रयाग नामके तीर्थ-स्थानोंके दर्शन होते हैं, वैसे ही शिरोदेवगत सहस्रारसे कुण्डलिनी जब चली और चलकर अपने विश्रान्तिस्थान अर्थात् मूलाधारमें पहुँची तब वहाँ भी उसने सहस्रारकी भावना की। इसी प्रकार परा, पश्यन्ती वाणीकी भी भावना की गयी होगी।

१५ इस चित्रपट (नं० २)में और एक विशेषता यह है कि इसमें अधिष्ठान-देवता भी भिन्न है। दलोंके बर्ण इस चित्रपटमें नहीं बताये हैं। पञ्चमहाभूतोंका भी निर्देश इसमें नहीं है।

१६ 'जीवो ब्रह्मैव नापरः।' जीव ब्रह्मरूप ही है और तदनुसार जो ब्रह्माण्डमें है वही पिण्डमें है। कुण्डलिनी-शक्ति जैसे ब्रह्माण्डमें है वैसे ही पिण्डमें है। 'पिण्डमें पिण्डका प्राप्त' करना यह है कि कुण्डलिनीरूप पिण्ड देहरूप पिण्ड-का प्राप्त करे। कुण्डलिनी जब जाग उठती है तब वह देहगत सब त्याज्य पदार्थ, कफ-पित्तादि दोष नष्ट कर डालती है, और वह जब ऊर्ध्वगामिनी होती है तब देहके चलन-वलनादि व्यापार बन्द हो जाते हैं। यही क्यों, हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण और नाडीको गति भी बन्द हो जाती है, अन्तमें कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार-स्थित परम शिवसे जा मिलती है। इससे जीव अपना जीवत्व पौछे छोड़ शिवपदबीको प्राप्त होता है।

१७ कुण्डलिनी शक्ति और प्राण-शक्ति साथ लेकर जीव इहलोककी यात्रा करनेके लिये माताकी कोखमें आता है। प्रारब्धकर्मको भोगनेके उपयुक्त अथवा प्रारब्धकर्मके अनुसार अन्धत्व-मूकत्वादि दोष भी सग लेकर आता है। छः महीनेतक तो जीव माताके आस-पास ही धूमा करता है। सासारिक व्ययहारमें भी इस देखते हैं कि मकान-मानिक मकान तैयार होनेतक मकानके बाहर ही रहता है। इस प्रकार यह जीवेश्वर अपनी सङ्गिनी कुण्डलिनी और प्राणशक्तिके साथ मातृगर्भमें प्रवेश करता है। प्रवेश करते हुए, कुण्डलिनी-शक्ति सहस्रार चक्रमें अपना मुख्य स्थान नियत करती है और पीछे पट्टचक्रोंमें तथा अन्यान्य सभ स्थानों और कुहरोंमें प्राणशक्तिके साथ प्रवेश करती है और अन्तमें स्वयम्भूलिङ्गमो साहे तीन ल्पेटोंमें न्पेटकर

और लिपटकर बैठ जाती या सो रहती है। अथवा साम्यावस्थामें रहती है।

१८ सभी जीव जाग्रत्, स्वप्न और सुपुत्रि इन्हीं तीन अवस्थाओंको अनुभव करते हैं। तुरीय अवस्थाका ज्ञान और विज्ञान केवल योगियोंको होता है। इन तीन अवस्थाओंमें कुण्डलिनीकी स्थिति साम्यावस्थामें होती है और उसके द्वारा शरीर-धारणाका कार्य होता है। अव्यक्त 'सोऽह' शब्द ही कुण्डलिनीका साम्यावस्था है। इस अव्यक्त 'सोऽह' शब्द-की अनुभूति आज्ञाचक्रमें होती है, और वही 'सोऽह' शब्द प्राणवायुके सहारे अनाहतचक्रमें पहुँचकर अनाहतचक्रकी प्रथम मातृका 'क' का सहारा पाकर 'कोऽह' शब्दमें परिणत होता है। आज्ञा-चक्रतकको अनुभव करनेवाला जीव आत्मस्वरूपको नहीं भूलता। परन्तु नीचे उत्तरनेपर नाना प्रकारके विषयोंमें लोलुप होकर वह 'सोऽह' के बदले 'कोऽह' कहने लगता है और आस-पासके लोगोंके साहचर्य-से विकृतज्ञान होकर 'देहोऽह' कहने लगता है और देहात्मवादी बनता है। 'अघःस्रोता वै जीवाः' इस वचनके अनुसार सहस्रार चक्रसे नीचे आकर अनाहतमें, अनाहतसे मणिपूरमें, फिर स्वाधिष्ठान और वहाँसे मूलाधारमें आकर प्राणशक्तिके सहारे पूर्ण जीवत्वको प्राप्त होता है। परन्तु यही जीव 'ऊर्ध्वस्रोता वै देवाः' इस वचनके अनुसार स्वयम्भूलिङ्गको लपेटी हुई कुण्डलिनी-शक्तिको जागृत करके ऊर्ध्वगामी होकर देवत्वको प्राप्त होता है, स्वयं देवस्वरूप होता है।

१९ चिदाकाशमें 'एकोऽहं वहु स्याम्' रूप स्पन्द हुआ। स्पन्दसे नाद उत्पन्न हुआ। नाद उत्पन्न होनेके लिये गतिको उत्पन्न होना पड़ता है। कहते हैं कि विद्युत्यकाश उत्पन्न होनेके समय विद्युत्कण विलक्षण वेगसे धूमा करते हैं। उनकी गतिका यह वेग यदि नियमित हो तो वे अणुत्व-को प्राप्त होते हैं। वक्र गतिसे और सरल गतिसे धूमनेवाले विद्युत्कण ही शब्दस्प गति हैं। यह शब्द सामान्य मनुष्य-के श्रवणेन्द्रियको गोचर नहीं होता। तथापि जिनकी दिव्य श्रवणशक्ति जागृत हो चुकी है वे उस शब्दको सुनते हैं। यही क्यों, हमारी यह ग्रहमाला जिस विशिष्ट गतिसे अपने चारों ओर तथा सूर्यके चारों ओर धूमती है उस गतिसे उत्पन्न होनेवाली सूक्ष्म ध्वनियों भी उस पुरुषको अनुभूत होती है जिसकी दिव्य श्रवणशक्ति जाग उठी है।

२० ऐसी ध्वनियाँ दो प्रकारकी हैं। एक अनान्त ध्वनि और दसरी आन्त ध्वनि। याँ जी उत्पन्न होनेवाली | MADE WITH LOVE BY Avinash/Shashi

आहत ध्वनिसे कोई अर्थोत्पत्ति नहीं होती। अनाहत ध्वनिका अर्थ है 'सोड़' वर्ण। यह वर्ण पहले अव्यक्त-स्फुरणे आजाचक्रम मनोऽनुभूत हुई, अनन्तर अनाहतचक्रम जाकर अव्यषेन्द्रियका घोतक हुई। परन्तु मात्रोत्पत्ति अनाहतचक्रपर अवलम्बित नहीं है।

२१ आजाचक्रके 'सोड़' वर्णमें जो अँकर है उससे स्वर और व्यञ्जन उत्पन्न हुए। इन्हींको वर्ण अथवा अधर कहते हैं। भगवतीकी स्तुति करते हुए 'एकानेकाक्षण-कृति' कहा है। अबगंगेमें पद हुए और पदोंसे वाक्य, और वाक्योंके समुदायसे भाषा। अर्थात् ग्रन्थ अक्षर यानी अविनाशी है। अब्दोचारके पूर्व वे थे, अब्दोचारके होते भी वे ह और उचार हो चुकनेपर भी हे। जैसे अँवेरेम रक्तवा हुआ थट प्रकाश होनेके पूर्व भी है, प्रकाश होनेपर भी है और प्रकाशके जानेपर भी है।

२२ तदिष्टुतासमस्तचिर्युक्तेव भास्त्रा ।

× × × ×

तदिष्टुता तन्वी तपनक्षिर्वैश्वानरमयी ।

—इत्यादि प्रकारसे प्रन्योमें कुण्डलिनी-शक्तिका वर्णन किया गया है। ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके पूर्व स्फोट हुआ अर्थात् महानाड उत्पन्न हुआ। परब्रह्मकी इच्छाशक्ति ही स्फोट है और महानाड उसकी क्रियाशक्ति है। नाड उत्पन्न होनेके लिये गतिका होना आवश्यक है और गतिके होते ही प्रकाश उत्पन्न होता है। उष्णताके विना गति नहीं उत्पन्न होती। उष्णता, नाड और गति तीनों परस्परसापेक्ष ह। जहाँ उष्णता होगी वहाँ गति होगी और जहाँ गति होगी वहाँ नाड होगा। उष्णताका दृश्यरूप प्रकाश है। महानादके साथ अक्षरोत्पत्ति हुई। परम विवेके डमस्तसे 'अ ह उ ण्' अक्षर उत्पन्न हुए। अक्षर ही मातृकाएँ ह। जो ब्रह्माण्डमें ह सो ही पिण्डमें है—इस न्यायसे जीवकी उत्पत्तिके साथ नाड, अक्षर और प्रकाश उत्पन्न हुए। मातृकाओं अथवा अक्षरोंके साथ प्रकाशका साहचर्य अनिवार्य है। अर्थात् प्रकाश अक्षरोंमें अनुस्थूत है। 'पञ्च पञ्च उपः' कालमें नियतमानस होकर मध्यमा याणीसे नामस्मरण करके, जिस नाडीसे योग्यास चल रहा हो उस ओर अधोन्मीलित दृष्टिसे व्यान लगाने या छः महीने अभ्यास करनेवालेको अपनी श्वासगतिके साथ आनेयाली प्रकाशकिरणोंका साक्षात्कार होता है अर्थात् अव्यक्त और व्यक्त अक्षरोंकी उत्पत्तिके सामनाथ ही प्रकाशोत्पत्ति भी रहती नी है। इसका अनुभय अवश्य ही अभ्यासके विना, एकाप्रता साथे

विना नहीं होता। यह प्रकाश कहीं तो कोटिसूर्य-प्रकाशके सदृश होता है और कहीं कोटिचन्द्रप्रकाशके समान। इडा याने मूर्यनाडी जो दाहिने नासारन्त्रसे होकर चलती है और पिङ्गला याने चन्द्रनाडी जो वायेनासारन्त्रसे होकर चलती है, ऐसी ये दो नाडियाँ हैं। साधक जिस नाडीके सहारे अभ्यास करेगा, वैसा ही अनुभय उसे प्राप्त होगा। जब हमलोग स्वप्न दखते हैं तब उस स्वप्नस्युष्टिमें हमलोग अपने प्राणमय कोषकं सहारे स्वप्नानुभय करते हैं। यह हर किसीको स्वानुभवसे ही जात है कि स्वप्नस्युष्टिके सब्र व्यवहार प्रकाशमें ही हुआ करते हैं। अर्थात् प्राणमय कोष प्रकाशरूप है। डा० किलनरने प्राणमय कोष (Ethereic body) को देखनेके लिये ऑरोस्पेक (Auroscope) नामका चश्मा हैंदनिकाला है। इस चश्मेसे दिव्य दृष्टि होती है अर्थात् उसके द्वारा चाहे जिसका प्राणमय शरीर हम देख सकते हैं। परन्तु यह जो प्राणमय शरीर प्रकाशरूप दिखायी देता है सो प्रकाशात्मक कुण्डलिनी-शक्तिके सारे शरीरमें व्याप्त होनेके कारणसे दिखायी देता है। मनोमय शरीरमें ऊर्मियोंके उत्पन्न होनेपर अन्नमय शरीरमें उनकी क्रिया होनेका साधन प्राणमय शरीर ही है। अर्थात् प्राणमय शरीरका प्रकाशरूप अपने अनुभवसे तथा डा० किलनरके 'ऑरोस्पेक' से प्रत्यक्ष होता है। इससे यह सिद्ध है कि कुण्डलिनी-शक्ति प्रकाशरूप है।

२३ यह कुण्डलिनी सहस्रारमें प्रकाशरूपसे स्थित है। जीवको जीवत्व देनेके लिये यह शरीरके सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर छिद्रोंमें प्रवेश करके, सूक्ष्म नाडी जो सुपुन्ना है उससे भी सूक्ष्म वज्रा, वज्रासे भी सूक्ष्म चित्रिणी और चित्रिणीसे भी सूक्ष्म जो ब्रह्मनाडी है उस सूक्ष्मतम ब्रह्मनाडीमेंसे होकर प्रवाहित होती है। ऐसी सूक्ष्मतम नाडीको मृणालतन्तुकी जो उपमा दी गयी है वह ठीक ही है। यह प्रकाशमय है, यह ऊपर बताया ही है।

२४ प्रस्तुत प्रवन्धका गीर्धक 'कुण्डलिनी-शक्तियोग' है। इस शब्दसमुच्चयमेंसे 'कुण्डलिनी-शक्ति' का स्पष्टीकरण हो गया। अब 'योग' शब्दका स्पष्टीकरणकम प्राप्त है।

२५ योग शब्द 'युज्'—जोड़ना, इस धातुसे बना है। रवि और चन्द्र अमायस्याको एक स्थानमें आते हैं। उनके इस एकत्र होनेको रवि-चन्द्रयोग कहते हैं। अर्थात् दो वस्तुओंके एकत्र होनेका नाम योग है। अथवा किसी पदार्थमें या किसी कार्यमें या किसी मनुष्यमें किसी भी कारणसे किसी प्रकाशकी जो न्यूनता दख पड़ती है

उसकी पूर्तिका होना भी एक प्रकारका योग ही है। कोई दरिद्र मनुष्य है, उसे यदि धन मिल जाय तो वह धनयोग है। जहाँ जल न हो वहाँ यदि जल आ जाय तो वह जलयोग है। जीवको ज्ञान-विज्ञानका प्राप्त होना ज्ञानविज्ञान-योग है। पुराण-पुरुषोत्तमका ज्ञान प्राप्त होना पुराण-पुरुषोत्तमयोग है। जीवकी समाधि लग जाय तो वह समाधियोग है। जायते वर्धते इत्यादि घड़विकारों-से जो युक्त है वह जीवात्मा है और जो ह्येगकर्मविपाक-रहित, घड़विकाररहित है वह है परमात्मा। जिन अनेक प्रक्रियाओंसे इस जीवात्माका उस परमात्माके साथ योग होता है। वह जीवात्म-परमात्म-योग है। अद्वैतमतसे जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं। तब उनका योग क्या है? दो पृथक् वस्तुओंका मिलना ही योग है इसलिये अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार जीवात्माको परमात्म-स्वरूपका ज्ञान होना और उस ज्ञानके होनेकी प्रक्रिया ही योग है। आत्मसाक्षात्कार यानी जीवात्मयोग अर्थात् जिन शारीरिक और मानसिक साधनोंसे साक्षात्कार होता है उन्हे योग समझिये। मायामृगजलसे जीवात्मा और परमात्मा भिन्न भासते हैं। यह भिन्नत्व मानसिक सङ्कल्प-विकल्पोंसे प्रतीत होता है। कहते हैं कि माया-सा वल्वत्तर वन्धन साधन में और कोई नहीं, और उस वन्धनको काढनेवाला योग-सा अव्यर्थ और कोई साधन भी नहीं। इसलिये उपर्युक्त मनोर्मियोंका निरसन या निरीक्षण अथवा निरोध करनेके साधनको योग कहते हैं। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध।' यह श्रीपतञ्जलि महामुनिकी योगव्याख्या है। इस प्रकारका योग कुण्डलिनी-शक्तिके द्वारा साधना कुण्डलिनी-शक्तियोग है।

२६ मायातन्त्रमें जीव-शिवैक्य-योगको ही यथार्थ योग कहा है। अन्य ग्रन्थकारोंने जीव-त्रिवके सादगुण्यको योग कहा है। दृश्यगत्ति कर्तुम्, अकर्तुम्, अन्यथाकर्तुम् इस प्रकार त्रिविध है। इन तीन शक्तियोंमें पहली दो शक्तियाँ योगियोंमें जाग्रत होती हैं। आगमवादी कहते हैं कि शक्ति-का ज्ञान होना अर्थात् ज्ञानशक्त्यात्मिका जो स्थिति है वही योग है। हठयोगप्रदीपिकामें कहा है कि राजयोग-समाधि, उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, जून्याशून्य परमपद, अमनस्क अद्वैत, निरालम्ब निरञ्जन जीवन्मुक्ति, सहजावस्था, तुरीयातीतावस्था इन सब पदोंका अर्थ योग ही है। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सभी सम्प्रदायोंमें योगकी वड़ी महिमा वर्णन की हुई है। इन सब सम्प्रदायोंमें तथा जेन, बौद्ध, मुसलमान जूसी, अमेरिकाके नेत्रेशियन इन सब

पन्थोंमें योगतत्त्व पूर्णतया अनुस्थूत है और सत्यज्ञान अनन्तरूप जो परत्रहै है उसका ज्ञान प्राप्त कर उसको अनुभव करना ही इन सबका ध्येय है।

२७ योगशास्त्रके ग्रन्थोंमें योगके चार विभाग किये गये हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें तीन ही विभाग हैं और सम्मोहन-तन्त्रयोगमें पॉच विभाग हैं। योगशास्त्रके ग्रन्थानुसार चार विभाग ये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग और राजयोग। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग ये तीन विभाग हैं। परन्तु छठे अध्यायको पढ़िये तो हठयोग भी श्रीमद्भगवद्गीतामें आ जाता है। सम्मोहनतन्त्रके पॉच विभाग इस प्रकार हैं—ज्ञानयोग, राजयोग, लययोग, हठयोग और मन्त्रयोग। इस प्रकार सम्मोहनतन्त्रमें अन्य दो प्रकारके वर्गीकरण भी आ जाते हैं। इसलिये सम्मोहनतन्त्रके वर्गीकरणके अनुसार ही इन योग-विभागोंका विचार करें।

२८ ज्ञानयोग—इस योगमें स्थूल शरीरसे लेकर सूक्ष्म, कारण, महाकारण और किर अतिमहाकारण देहतक सब देहोंकी, पश्चीकरणकी दृष्टिसे तथा व्यतिरेक और अन्वयसे, आत्मासे भिन्नता सिद्ध करते हैं। और चित्तवृत्तिका लय करते हुए ज्ञानकी जो सत भूमिकाएँ पार करनी पड़ती हैं वे इस प्रकार हैं—१ शुभेच्छा अर्थात् विवेक-चैराग्यकी स्थिति, २ विचारणा अर्थात् श्रवण-मननकी अवस्था। (इन दो भूमिकाओंको पार करनेके पश्चात् मुमुक्षु साधकपदपर आता है।), ३ मनुमानसा अर्थात् अनेक अर्थोंसे यही एक अर्थ ग्रहण करना कि पञ्चभूतात्मक देह अनित्य और आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध है, ४ सत्त्वापत्ति अर्थात् 'अह ब्रह्मास्मि' में ब्रह्म हूँ, इस धारणाको दृढ़ करना, ५ अससक्ति अर्थात् नानाविध सिद्धियोंकी ओरसे अनासक्ति, ६ पदार्थ-भाविनी—'अहं ब्रह्मास्मि' भी तो एक अहवृत्ति ही है अतः इसका भी लय होना, ७ तुर्वगा अर्थात् आत्मस्वरूप-से न उठना। इन सत भूमिकाओंको पार करते हुए विक्षिप्तता, गतायाता, सम्झिष्ठता और सुलीनता इन चार अवस्थाओं तथा लय, विक्षेप, कथाय और रसास्वाद इन चार विभागोंको लोधकर केवल निरालम्ब स्थितिमें तल्लीन होकर रहनेको कहा गया है।

२९ राजयोग—इस योगका आधारभूत ग्रन्थ है पातञ्जल योगसूत्र। इसमें चार पाद वर्णित हैं—१ समाधिपाद, २ साधनपाद, ३ मिद्धिपाद और ४ कैवल्यपाद। अष्टाङ्गयोग-साधन करके शरीरके भिन्न-भिन्न स्थानोंमें मनःसंयम करे। इस संयमसे मुखनज्ञान, ताराशून्यज्ञान, कायव्यूहज्ञान, धून्यिपासानिवृत्ति, सिद्धदर्शन और अणिमा, गरिमा, लघिमा, मद्दिमा, प्राति, प्राकाम्य, ईयित्व, विद्यत्व में आठ

सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। परन्तु ये सिद्धियाँ आत्मस्थितिमें अन्तराय हैं। इसलिये विवेकव्याति करके निर्विकल्प समाधि-सुख लाभ करना चाहिये यही परम उपदेश है। 'ईश्वरप्रणिधानादा' इस योगसूत्रके अनुसार व्यानयोग राज्योगका ही एक भाग माना गया है। इस राज्योगमें जो प्राणायाम बताया है उसको करते हुए, रेचकके समय बाह्य जगत्को अपने भीतर आकर्षण करे और कुम्भक करनेमें उसे अपने अन्दर ढूँढ़ धारण करे और पूरकसे मनकी सब द्वैत कल्पनाओंको निकाल बाहर करे। श्री-मन्महाभारतमें कथा है कि एक ऋषिपत्नीको यह आप मिला कि सूर्योदय होनेके साथ ही तुम विधवा हो जाओगी, तब उस सतीने ऊपर लिसे अनुसार धारणा की। उसकी उस धारणासे सूर्यदेवका उदय होना ही रुक गया। सूर्योदयका समय निकल गया, चौदह घण्टे और बीत गये, पर सूर्योदय नहीं हुआ। तब महर्षि विश्वासे आकर उससे कहा, 'सूर्यदेवका उदय होना क्यों रोकती हो ? सूर्योदय होने दो, तुम्हारे मृत पतिको सज्जीवन-मन्त्रसे पुनः जीवित कर देंगे।' तब उस सतीने मनःसयमको छोड़ा। तात्पर्य, ऋषिपत्नियाँ भी महायोगिनी हुआ करती थीं। भवन, कर्म और व्यान इस योगके ऐद हैं। भवनका अभिप्राय

यह है कि मूलाधारसे ब्रह्मरन्ध्रतक सप्तलोकव्यास प्रकाश-रूप एक दण्ड है, उसमें जलज, उद्दिज, जारज, देव, दानव, मानव ये सब एक-पर-एक अपने तेजोरूप दण्डमें रहते हुए समाविष्ट हैं, इस प्रकारकी भावना करे। कर्मका अभिप्राय है कि मैं ब्रह्मशक्तिसम्पन्न हूँ, ऐसा जप करे। व्यानका अभिप्राय है—

शुद्धमात्मात्मस्थिलं शुद्धज्ञानतपोमयम् ।

शुद्धेन्द्रियगुणोपेतं परं तत्त्वं विभावये ॥

यह कहकर भ्रूमव्यमें शुभ्र कमलके बीच परमपुरुषका ध्यान करे।

३० लययोग—प्राणशक्ति, कुण्डलिनीशक्ति, मन, मनकी वृत्तियाँ, इन सबका लय जिस योगमे किया जाता है वह लययोग है। कुण्डलिनी-योग तन्त्रमें वर्णित है और हठयोगमे भी वर्णित है। कुण्डलिनीयोगमें यम-नियमादि अष्टाङ्ग साधन वताकर शोधन, धृति, स्थिरता, वैर्य, लाघव, प्रत्यक्ष और निर्विकल्प समाधि ये सात अङ्ग वर्णन किये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें षट्चक्र, उनके दलोंके रग, उन दलोंपर स्थित मातृकाएँ तथा उन चक्रोंके देवता (चित्रपट न० २ के अनुसार) बताये गये हैं। कुछ ग्रन्थोंमें उन षट्चक्रोंके देवता और उनके वाहन नीचे लिखे अनुसार बताये हैं—*

३१— चक्रोंके नाम	स्थान (मेरुदण्डमें)	दल	दलको मातृकाएँ	तत्त्व और गुण	तत्त्व- का रण	मण्डलका आरुक	बीज	वाहन	देवता वाहन	शक्ति	तत्त्वका गुण	इन्द्रिय	लिङ्ग
मूलाधार	गुदासमीप	४	व श प स	पृथ्वी सकली- पीत करण गन्धवाह	पीत	ॐ शुभ्र	ल	वृत्त	ब्रह्मा ऐरावत	किं	गन्ध	पाद कर्मेन्द्रिय	स्वयम्भू
स्वाधि- ष्टान	लिङ्गके सामने	६	व भ म य र ल	आप, आ- शुभ्र कुञ्जन रसवाह	शुभ्र	अंग चंद्र	व	मकर	विष्णु गरुड	किं	रस	हस्त स्पर्गेन्द्रिय	
मणिपूर	नाभिके सामने	१०	ड ढ ण त थ द ध न प फ	तेज, प्रसरण उष्णवाह	रक्त	त्रिकोण	र	मेष	रुद्र नदी	किं	रूप	गुद कर्मेन्द्रिय	
अनाहत	हृदयके सामने	१२	क ख ग घ ङ च छ ज झ झ ठ ठ	चायु, गति स्पर्शज्ञान		षट्कोण	षट्	ष	ईश	किं	स्पर्श	लिङ्ग	वाण लिङ्ग
विशुद्धि	कण्ठके सामने	१६	अ आ इ ई अ अ.	आकाश	शुभ्र	०८ व	ह	शुभ्र हस्ति	सदाशिव	किं	शब्द	श्रवण मुख	
आज्ञा	भ्रूमव्य	२	ह क्ष (स)	मन		ॐ	...		शम्भु	किं	महत्	हिरण्यगर्भ	पाताल लिङ्ग
सहस्रार	मूर्धन्	१०००		आत्मा		अ० प्रणव			कामेश्वरी कामनाथ	हृषि		गुरु- पादुका	

* चक्रोंके सात चित्र और एक षट्चक्रमूर्तिका चित्र इसमें अन्यत्र प्रकाशित है। उनके दलोंके रङ्ग और देवता आदिमें कुछ भेद है। परन्तु मैलिक कोई भेद नहीं है। इनका विशेष वर्णन कल्याणके 'शक्ति-अङ्ग' में देखना चाहिये।

—सम्पादक

३२ इस सम्प्रदायमें यह वताया है कि सहस्रारचक्रमें कामेश्वरी और कामेश्वरका ध्यान करे। आमूल सब चक्रोंके देवताओंका जो वर्णन किया गया है वह ‘पञ्चव्रह्मासनासीना पञ्चव्रह्मसमन्विता’ इस वचनके आधारपर किया गया है। श्रीकामेश्वरी और श्रीकामनाथ आद्यगुरु हैं, इसलिये उनका स्थान सहस्रारके अन्तमें श्रीगुरुपादुका ही वताया है। मूलाधारसे सहस्रारतक सब चक्रोंके स्थान स्थूल देहगत स्थानोंके समीप ही, ऊपरके कोषमें वताये हैं। परन्तु स्थूल देहगत स्थान विद्युतके बिना विद्युदीपके समान है। विद्युतके बिना प्रकाश कहाँ? विद्युदारके चलते ही विद्युदीप प्रकाशमान होते हैं उसी प्रकार कुण्डलिनीका उत्थापन होनेसे ही ये चक्र अपनेअपने वर्णोंके साथ प्रकाशित हुए देख पड़ते हैं। ये चक्र मैरुदण्डगत सुषुम्ना नाडीके भीतर वज्रा नाडी और ब्रह्म नाडीसे संलग्न हैं। उसी प्रकार ये चक्र प्राणमय, तेजोमय और मनोमय कोषके भीतर हैं। सहस्रारचक्र ब्रह्मन्द्रके ऊपर चार अङ्गुल फैला हुआ है। जिनकी दृष्टिदिव्य हो चुकी है वे ही इन चक्रोंके नाना प्रकाशरूपी मातृकाओंको अनुभव करते हैं। अन्य लोग दृढ़ मावनाके साथ तत्त्वचक्रकी मातृकाओं, उनके वर्णों और तत्त्वोंका प्रकाशरूपमें ध्यान कर सकते हैं। घट-चक्रनिरूपण-यन्थमें कुण्डलिनीका उत्थापन नहीं है पर उसका चिन्तन करनेको कहा है। मावनासे और क्रमशः इष्टदेव-प्रमादसे तथा गुरुकृपासे यह कुण्डलिनीयोग सिद्ध होता है। इस मावनासे जो अनुभव प्राप्त होता है वही अनुभव हठयोग-साधनसे प्राप्त होता है। हठयोगसे कुण्डलिनी उत्थान हो जाय तो भी इष्टदेवताप्रसादसे दिग्बन्धका होना तो आवश्यक ही है, नहीं तो पिण्डाचादि अनिष्ट भूतसद्व्याप्ता प्रत्यवाय हो सकता है। इष्टदेवके प्रनन्द होनेपर इष्टदेव ही मानवरूप धारणकर साधकसे योगकी सब क्रियाएँ करा लेते हैं। इसके प्रमाणस्वरूप परमहस्य श्रीरामकृष्णका दृष्टान्त है। उनके चरित्रप्रन्थमें यह लिखा हुआ है कि श्रीभगवतीने उनके पास एक योगिनीको भेजा जिन्होंने छ. महीनेमें उनसे योगकी सब क्रियाएँ करा लीं। तत्त्वशास्त्रके इस लय-योगमें कुण्डलिनीका जागना केवल गुरुकृपासे ही होता है। इसलिये इस सम्प्रदायमें गुरु ही

मुख्य देवता माने गये हैं। श्रीगुरु ही स्पर्शदीक्षा और फिर दिव्यदीक्षा शिष्यको देते हैं। और दीक्षा होनेपर एक धर्ममें ही शिष्यकी कुण्डलिनी जाग उठती है। इस कुण्डलिनीशक्तिके जाग उठनेपर मूलाधारसे सहस्रारपर्यन्त सम्पूर्ण शरीर प्रकाशमय हो जाता है। विद्युत-रूपसे कुण्डलिनी जब ऊपर जाने लगती है तब प्रकाशका साक्षात्कार होता है।

३३ तत्त्वमार्गीय गुरु शक्तिपात करके शिष्यके भ्रूमध्य और विग्रहाख्यमें स्पर्श कर प्रकाशका अनुभव कराते हैं। हठयोगके क्षिण्ठ और कष्टसाध्य साधनोंसे प्राप्त हो जाता है। आजकल शक्तिपात करके कुण्डलिनी-उत्थान करानेवाले गुरु विरले ही कोई मिलते हैं। हमारे देखते इन पचीस वर्षोंमें एक ही गुरु ऐसे मिले। आप बङ्गाली शरीर सन्यासी योगी हैं। पूर्वाश्रममें ये बहुत बड़े उपासक थे। इनका नाम श्रीनित्यानन्द महाराज है। इनके गुरु-वन्यु टेहरीप्रान्तमें जङ्गलमें रहते हैं। इन महाराजी पूनेके ड्राहग मास्टर (जो अभी पूनेमें है) श्रीगुलवणी महाशयकी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी और चमत्कार यह कि स्वामी महाराजने जब उन्हें स्पर्शदीक्षा दी तब उनकी वह दीक्षा देनेकी शक्ति श्रीगुलवणी महाशयको भी प्राप्त हो गयी। इन श्रीगुलवणीजीने पीछे दूसरे एक साधककी कुण्डलिनी जाग्रत् कर दी। ‘अपने सरीखे तत्काल ही कर देते हैं, इसमें उन्हे कुछ भी देर नहीं लगती’ इस सन्त-वचनके अनुसार ऊपर दिया हुआ वर्णन प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपर्युक्त स्वामी महाराजके समीप हम तीन दिन थे। उनसे दीक्षा पानेकी प्रार्थना की। उन्होंने मिलनेके साथ ही कहा कि श्रीभगवतीकी आज्ञा है। पर पीछे यह सचित किया कि आपको इसकी आवश्यकता नहीं है। ‘तुम अपात्र हो’ यह न कहकर उन्होंने उक्त प्रकाशसे उत्तर दिया। स्वामी महाराज भगवतीकी इच्छाके अनुसार विचरते हैं, इसलिये इस समय महाराज वहाँ है यह जात नहीं हो सका।

३४ शक्तिसम्मोहनतन्त्रमें ‘नवचक्रात्मका देवी’ का वर्णन है। उन चर्चोंका निवरण नीचे देते हैं—

स्थान	चक्रका नाम	देवता
गिर	सर्वानन्दमय	श्रीललितामातादुर्गा
शिखरी	सर्वसिद्धिचक्र	त्रिपुराम्बा
गोल्डाट	सर्वरोगहरचक्र	त्रिपुरासिद्धि
विशुद्धि	सर्वरक्षाकरचक्र	त्रिपुरमालिनी
आज्ञा	सर्वार्थसाधकचक्र	त्रिपुराश्रीचक्राधीश्वरी
अनाहत	सर्वसौभाग्यदायक	त्रिपुरवासिनी
मणिपूर	सर्वसक्षोभिणीचक्र	त्रिपुरसुन्दरी
स्वाधिष्ठान	सर्वांगापरिपूर्णचक्र	त्रिपुरेशि
मूलाधार	त्रैलोक्यमोहनचक्र	त्रिपुराम्बा

इस वर्गीकरणमें चक्रोंके दल आदि विवरण नहीं हैं। श्रीत्रिपुराम्बादेवीके भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं।^६ इस साधन-क्रममें भावना और महाभाव अवस्थाओंका वर्णन है।

३५ इसके अतिरिक्त महानिर्वाणतन्त्रमें ऐसे ही नौ चक्र हैं। परन्तु चक्रोंके आकार और बीज दूसरे ही दिये हैं।

३६ लययोगमें हठयोगकी तरह ही योगनाडियोंका वर्णन है, वह आगे देते हैं। चित्रपट न० २ में इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ दिखायी हैं। इडा नाडी (वायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) चन्द्र नाडी है। उसका वर्ण शुभ्र है। और पिङ्गला (दायें नासारन्ध्रसे चलनेवाली) सूर्य नाडी रक्तवर्णीकी है। इन दोनोंके बीचमें सुषुम्ना नाडी है। इडा और पिङ्गला सुषुम्ना नाडीको लपेटे हुई चलती है। इन दोनों नाडियोंकी वक्रगतिसे घट्चक्रोंमेंके पाँच चक्र बनते हैं, इन्हें पञ्चचक्र कहते हैं। इडा नाडीको अमृतविग्रहा और पिङ्गला नाडीको रौद्रात्मिका कहते हैं। ये दोनों नाडियाँ जब समगतिसे चलती हैं तब सुषुम्ना नाडीमें उनका लय होता है। इसी अवस्थामें सुषुम्ना नाडीमें कुण्डलिनी प्रवेश करती है। योगीलोग सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके महाप्रयाणका समय बदल देते हैं। इसीलिये कहते हैं कि सुषुम्ना नाडी कालभक्षक या कालरोधक है। कुण्डलिनी सुषुम्ना नाडीमें प्रवेश करके सहस्रारचक्रमें महूँचकर वहाँ जब गान्त होती है तब उस अवस्थाको समाधि कहते हैं। योगी जब इस समाधिस्थितिमें होते हैं तब उनके शरीर विकाररहित अर्थात् वर्धते, विपरिणमते, नश्यतीति विकारोंसे रहत होते हैं। उनके नखकेशादि

नहीं बढ़ते। प्राणक्रिया बन्द होनेसे नाडीका चलना और हृदयका आकुञ्चन-प्रसरण बन्द हो जाता है। इसलिये ऐसे योगीको कालभक्षक अथवा कालान्तक योगी कहते हैं। योगी चांगदेव महाराज १४०० वर्ष जीये और आज भी तीन-तीन सौ वर्ष वयस्के योगी हिमालय-प्रदेशमें देख पड़ते हैं।

३७ इस लययोगमें नाडी-शुद्धि अथवा नाडी-जय करनेके लिये कोई खास क्रिया-साधन नहीं बताया है। इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना नाडियाँ आज्ञाचक्रके समीप मुक्त त्रिवेणीरूप दिखायी देती हैं और मूलाधारसे जहाँ वे निकलती हैं वहाँ उन्हें युक्त-त्रिवेणी कहते हैं। इडा-पिङ्गला नाडियोंकी वक्रगतिसे घट्चक्रमेंसे जो पाँच चक्र बनते हैं वे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत और विशुद्धारुद्धय हैं। इसके अतिरिक्त मेरुदण्डकी वार्या और कुहू नाडी है। वार्या ऑख्से वायें पैरके अँगूठेतक चलनेवाली गान्धारी नाडी है। द्वार्या ऑख्से दायें पैरके अँगूठेतक हस्तिजिह्वा नाडी है। हमारे परिचित एक सज्जन पेड़परसे गिरे और उस चोटसे उनकी वार्या ऑख्स बाहर निकल आयी। उन्हें लोग श्रीयोगाम्यानन्द माधव-नाथ महाराजके पास ले गये। नाथ महाराजने कहा कि वायें अँगूठा चला जाना यदि स्वीकार हो तो ऑख्स जहाँ-की-तहाँ लग जायगी। तब उन सज्जनका वायाँ अँगूठा बाँधकर उसपर हथौडा चलाया गया। उससे ऑख्स अपने स्थानमें आ गयी और अँगूठा टेढ़ा होकर बेकार हो गया। अस्तु। सुषुम्नाकी दायर्या और सरस्वती नाडी है। यह जिह्वाके समीप आकर मिली है। दायर्या ऑख्ससे पेटकपूषा नाडी है। पूषा और सरस्वतीके बीचमें पश्चिमी नाडी है। गान्धारी और सरस्वतीके बीचमें शशिनी नाडी है। दाहिने हाथके अँगूठेसे वायें पैरतक यशस्विनी नाडी है। कुहू और यशस्विनीके बीचमें वारूणी नाडी है और उसकी व्याति शरीरके निचले भागमें है। कुहू और हस्तिजिह्वाके बीचमें विश्वोदरा नाडी है, वह भी वारूणी नाडीके समान शरीरके निचले भागमें फैली हुई है।

३८ सुषुम्नाके मध्य भागमें वज्रा नाडी है और वज्रा नाडीके मध्य भागमें चित्रा नाडी है और चित्रा नाडीके मध्य भागमें ब्रह्म नाडी है। सुषुम्ना नाडी अग्रिस्वरूप है। वज्रा नाडी सूर्यरूप है और चित्रिणी नाडी पूर्ण चन्द्र-मण्डलरूप है। शब्दब्रह्मके ये तीन प्रकार हैं। शब्दब्रह्मरूपा कुण्डलिनी जब ऊर्ध्वगामीनी होती है तब इन तीन-

नाडियोको स्पर्श करती हुई चलती है। इसलिये इन तीन नाडियोको शब्दब्रह्मरूप कहा है। चित्रा नाडियोको ब्रह्मद्वार कहते हैं, क्योंकि इसी नाडीके पाससे कुण्डलिनी ऊर्ध्वगमिनी होती है।

४९ ३९ पञ्चतत्त्वात्मक पञ्च चक्र जो मेहूण्डगत सुपुमा नाडीसे सटे हुए हैं वे इस प्रकार हैं—पृथ्वीतत्त्वका दर्शक मूलाधारचक्र है, अप् तत्त्वका दर्शक स्वाधिष्ठानचक्र है और तेजस्तत्त्वका दर्शक मणिपूरचक्र है। वायुका अधिष्ठान अनाहतचक्रमें है और आकाशतत्त्वका अधिष्ठान विशुद्धिचक्रमें। आज्ञाचक्र तृतीय नेत्रका आधारभूत चक्र है। एक स्थानमें यह कहा है कि जिसे घट्चक्रका ज्ञान नहीं चह कुण्डलिनीको नहीं जगा सकता और दिव्य मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता।

५० अब संक्षेपमें इन घट्चक्रोंका वर्णन करते हैं— यहला मूलाधारचक्र है, इसके चार दल हैं, देवता ब्रह्मदेव हैं। ये चार दल प्राणशक्तिरूप योगनाडीकी सहायतासे उत्पन्न हुई चार आकृतियाँ हैं। इनमें प्राणशक्तिके साथ कुण्डलिनी प्रसूत होती है। प्राणशक्तिका जब लय होता है तब इन दलोंका भी लय होता है। इन दलोंपर जो मानृकाएँ या अक्षर हैं वे कुण्डलिनीके रूप हैं। कुण्डलिनी स्वयं, इस चक्रके नीचे त्रिकोणाङ्कति अग्निचक्रमें अवस्थित स्वयम्भूलिङ्गसे साढे तीन बलयोंमें लिपटी हुई सुतावस्थामें रही है। इस स्वयम्भूलिङ्गको घेरे हुए अग्निचक्र त्रिकोणको त्रैपुर कहते हैं। सहस्रारचक्रमें कामकलारूप जो त्रिकोण है उसीकी यहाँ यह प्रतिकृति है। इस मूलाधारचक्रका ध्यान करनेसे वाक्य-काव्य-प्रवन्ध-दक्षता-सिद्धि प्राप्त होती है।

५१ इसके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है, इसके छः दल हैं, देवता भगवान् श्रीविष्णु हैं। इसके अनन्तर नाभिपद्म अथवा मणिपूरचक्र है। इसके देवता श्रीचक्र हैं। इन चक्रदेवताका ध्यान जिस साधकको पूर्णतया सिद्ध हो चह पालन और सहारन्जैसे कार्य कर सकता है। इसके बाद हृष्पद्म अथवा अनाहत-चक्र है, इसीके समीप आठ दलोंका निन्न (Lower-Mind) मनश्वक है। सहस्रारचक्रकी जिन्हे अनुभूति नहीं और जो भक्तिमार्गप्रवण हैं, जिन्हें अन्य चक्रोंकी खबर नहीं और सारे योगशान्तिको जो हठयोग ही मान वैठे हैं वे 'हृदयमन्दिरमें हरिको भजें' इस चत्तनके अनुसार या 'ईश्वरः सर्वभूताना हृषेशोऽर्जुन तिष्ठति' इम गीतोक्तिके अनुसार अयसा—

हृष्पुण्डरीकमध्यस्था प्रातःसूर्यसमप्रमात् ।
पात्राङ्कुशधरां सौम्यां वरदाभयहस्तकाम् ॥

इस मन्त्रके अनुसार अपनेअपने हृष्टदेवका ध्यान अपने हृचक्रमें करते हैं। इस कमलके समीप कल्पतरु और मणिपीठ है। विश्वसारतन्त्रमें कहा है कि इस स्थानमें उत्पन्न होनेवाली अनाहतध्यनि ही भगवान् सदागिव है। त्रिगुणमय डॉकार इसी स्थानमें व्यक्त होता है। इसी स्थानमें वाणलिङ्ग है। निर्वात स्थानकी दीपज्योतिके समान जीवात्मा इसी स्थानमें है। हृश्य जगत्के पद्मर्थ मेरे और यह शरीर ही मैं, इस प्रकारकी देहात्मवादियोंकी जो विचारपद्धति है वही हृदयप्रनिय है और गुरुकृपासे वह द्वृट जाती है। इसी हृदयप्रनियमें जीवात्मा उलझा रहता है। विचैषणा और दारैषणाके नष्ट होनेपर भी साधक लोकैषणामें अटक जाता है। किसीसे पूछिये कि इस बड़े कामको करनेवाले देवदत्त कौन हैं तो वह अपनी छातीपर हाथ रखकर ही अपने देवदत्त होनेका प्रशंस्त परिचय देता है। इसके लिये वह कभी मस्तकको स्पर्श नहीं करता, न आधारचक्रको स्पर्श करके अपना परिचय देता है। तात्पर्य, जीवात्माका वासस्थान हृदय ही है। तैत्तिरीय आरण्यकमें इन चक्रोंके अधिष्ठात्र देवता तथा आवरण देवता बताये हैं और अनन्दललहरीके १७ वं क्लोकमें भी वशिन्याद्या आवरण देवताओंका उल्लेख है।

५२ इसके बाद कण्ठपद्म अर्थात् विशुद्धिचक्र है। इसे विशुद्धिचक्र इसलिये कहते हैं कि जीव वहाँ भ्रूमध्यस्थित परमेश्वरको देखकर वासनाजालसे मुक्त होता है। यहाँ अर्धनारी-नटेश्वर देवता है। इन नटेश्वरका अर्धाङ्ग शुभ्र और अर्धाङ्ग सुवर्णमय है। यही मोक्षद्वार है। इस स्थानमें ध्यान करनेसे ज्ञानी त्रिकालज होता है। इस विशुद्धिचक्रके ऊपर और आज्ञाचक्रके नीचे एक चक्र है जिसे ललाचक या कलाचक कहते हैं। उसके २२ दल हैं। उसकी ये वृत्तियाँ हैं—श्रद्धा, सन्तोष, अपराध, दम, मान, त्वेह, शुद्धता, आराती (वैगम्य), सम्प्रेम (मनोद्वेग), उर्मी (क्षुधानृष्टा)।

५३ इसके अनन्तर आज्ञाचक्र है। इस चक्रका नाम आज्ञाचक इसलिये रखा गया है कि सहस्रारमें द्विभूत श्रीगुरुरे इसी स्थानमें आज्ञा मिलती है। इसके दो दल हैं। मूलाधारसे आज्ञाचकतक ५० मानृकाएँ और ५० दल हैं। ये मानृकाएँ लोम-विलोम भिलाकर १००

होती है। सहस्रारचक्रमे १००० दल है, यह जो कहा गया है वह इस हिसाबसे कि १०० तो मातृकाएँ हैं और फिर दस इन्द्रियोंके दस-दस गुण अथवा दस-दस न्यास हैं। इस हिसाबसे सन्स्कृदल होते हैं। कुछ अन्य ग्रन्थकार वह कहते हैं कि सहस्रारचक्रमे कुल २० विवर हैं, इनमे पचास-पचास मातृकाएँ गिनी जायें तो भी १००० दल होते हैं। आज्ञाचक्रमे योनित्रिकोण है, उसमें कहते हैं कि इतर लिङ्ग अथवा पाताल-लिङ्ग है। अग्रि, सूर्य और चन्द्र इस त्रिकोणमे एकत्र होते हैं। महत्त्व और प्रकृतितत्त्व इसी स्थानमे है। महत्त्वके बुद्धि, चित्त, अहङ्कार और सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन ये चार भेद हैं। अव्यक्त प्रणवरूप आत्माका यही स्थान है। इसी स्थानमे प्रवेश करके और प्राण धारण करके योगीलोग महाप्रयाणके समय, 'भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तु पर पुरुषसुपैति दिव्यम्' इस वचनके अनुसार पुराण-पुरुषमे प्रवेश करते हैं।

॥ ४४ आज्ञाचक्रके समीप मनश्वक है, उसके छः दल हैं। इनमेंसे पॉच दल अब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध इन पॉच विषयोंके स्थान हैं और छठे दलसे स्वप्नगत अनुभव और सम्भ्रमगत ज्ञान प्राप्त होता है। मनश्वके ऊपर सोमचक्र है, उसके १६ दल हैं। यही निरालम्बपुरी, तुरीयातीत अवस्थामे रहनेका स्थान है। इसी स्थानमे योगीजिन तेजोमय ब्रह्मको अनुभव करते हैं।

॥ ४५ इस आज्ञाचक्रके समीप कारणशरीररूप सत कोश है। इन कोशोंके नाम—१ इन्दु, २ वोधिनी, ३ नाद, ४ अर्धचन्द्रिका, ५ महानाद, ६ कला (सोमसूर्यानिरूपिणी), ७ उन्मनी। इस उन्मनी-कोशमे पहुँचनेपर जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती अर्थात् पराधीनसम्भवत्व नष्ट हो जाता है। स्वाधीनसम्भवमे अर्थात् स्वेच्छासे या परमेश्वरी इच्छासे देह धारण करनेमें आत्मस्वरूपकी पूर्ण स्मृति वनी रहती है। इन कोशोंके ऊपर, सहस्रारके नीचे वारह दलोंका एक अधोन्मुख कमल है। इसके नीचेके सभी चक्र उसी प्रकारसे अधोन्मुख ही हैं। कुण्डलिनी-उत्थान जब होता है तभी वे अधोन्मुख होते हैं। कुण्डलिनी-न्यक्तिका जाग उठना दो प्रकारसे होता

है, या तो हठयोगसे या भावनायोगसे। भावनायोग या हठयोग करते हुए साधक आसनस्थ रहे। आसन भी तदुपयुक्त हो, क्योंकि चाहे जिस आसनसे यह काम नहीं बन सकता। कोई साधक यदि कहे कि श्वासन लगाकर कुण्डलिनी-उत्थान कर लैगा और चक्रोंको ऊर्ध्वान्मुख कर दूँगा तो यह नहीं हो सकता। काहं भी मनुष्य वैठे रहनेकी अपेक्षा पर्वतासनकी तरह लट रहनेमें अधिक सुख अनुभव करता है। परन्तु पर्वतासनमें ये चक्र उन्मुकुलित नहीं होते, पद्मासन अथवा बज्रासन लगानेसे ये चक्र उन्मुकुलित होते हैं। उपर्युक्त द्वादशदल कमलमें ही वह त्रिकोण है जिसका ऊपर वर्णन हो चुका है। इस त्रिकोणमे मणिपीठ और उस मणिपीठ-में मणिद्वीप है। मणिद्वीपके चतुर्दिक् अमृतार्णव है। ऊपरके कोणमे ब्रिन्दु और नीचे परमगिरि काम-कलाके साथ विराजते हैं। त्रिकोणके दो कोनोपर सूर्य और चन्द्र हैं और उन सूर्य-चन्द्रकी १६ और १७ कलाएँ हैं। १७ वीं कला ही जीवनकला है। 'पादुकापञ्चक' मे कामकला-का विशेष वर्णन है।

॥ ४६ अब हठयोगका वर्णन करें। बहुतोका यह ख्याल है कि हठयोग कोई और चीज है और राजयोग कोई और। परन्तु श्रीमद्भगवद्गीता, गोरक्षसहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थोंमें हठयोगको राजयोगकी नींव कहा है। 'ह' माने सूर्य—पिङ्गला दाहिनी ओरकी बायु और 'ठ' माने चन्द्र—इडा वार्षी ओरकी बायु। बायुको अन्दर खींचना है 'ह' और बाहर छोड़ना है 'ठ'। 'प्राणापानौ समौ कृत्वा' अथवा 'अपाने जुहति प्राणम्' यह जो विद्या है, यह हठयोगके विना नहीं सिद्ध होती। 'चक्षुश्वैवान्तरे भ्रुवोः' इस वचनमें चक्षु एकवचन है अर्थात् इस चक्षुसे तृतीय नेत्रका अभिप्राय है। कुण्डलिनी जवतक आज्ञाचक्रमे नहीं पहुँचती तत्वतक यह किया हो ही नहीं सकती। राजयोगरूपी उच्च राजप्रापासादुको जानेके लिये हठयोगकी सीढ़ी लगी है। 'हठयोगप्रदीपिका' मे कहा ही है—'केवल राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते,' और 'वेरण्डसहिता' मे कहा है—

..... हठयोगविद्या ॥

विराजते

प्रोन्नतराजयोग-

मारोदुमिन्छोरधिरोहिणीव ।

४७ यम-नियम और आसन इन तीन साधनोंके सिद्ध होनेपर नाड़ी-शुद्धि या नाड़ी-जय साधनेको कहा है। नाड़ी-शब्दका (नाड़ी-नामने) अर्थ है, विशेष प्रकारकी गति जिसमें है—वह। इडा वार्या नाडी और पिङ्गला दाहिनी नाडी है। नाडिजयका अर्थ है श्वास-जय। अमुक समयमें अमुक ओरसे ही श्वास चले ऐसा अभ्यास जब पृष्ठा हो जाय तब वही नाडिजय है। इसीको नाडि-शुद्धि कहते हैं।

४८ नाडिजयके लिये आदिनाथ श्रीशङ्करने श्रीपार्वतीजीको 'शिवस्वरोदय' ग्रन्थ सुनाया। 'शिवस्वरोदय' स्वरूपान्त्रका स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इडा और पिङ्गला मनुष्यमात्रके नासारन्त्रोंमें से चलनेवाली नाडियों हैं। प्रत्येक नाडी २ घण्टे २४ मिनट चलती है, तब दूसरी नाडीका चलना आरम्भ होता है। प्रातःकाल सूर्योदयके समय यदि इडाका चलना आरम्भ हो तो इसके २ घण्टे २४ मिनट बाद पिङ्गलाका चलना आरम्भ होगा। 'शिवस्वरोदय' में भिन्न-भिन्न कार्योंके लिये भिन्न-भिन्न नाडियोंका चलना आवश्यक बताया गया है। अमुक कार्यके होते अनुक ही नाडी चले, ऐसा विधान है। भोजनके समय चन्द्र नाडी, ग्रातर्विधिके समय सूर्य नाडी, सोते समय सूर्य नाडी, क्रूर कर्मके समय सूर्य नाडी, यजन, याजन, दान, अध्ययनादि शान्त कर्मोंमें चन्द्रनाडी चले। न्वालियरके दीवान राव राजा स्वर्गीय श्रीदिनकर राव राजधानेके विषयमें यह बात प्रसिद्ध है कि वह नाडी देखकर ही किसी कार्यमें प्रवृत्त होते थे, अनुकूल नाडी न चलती हो तो वह उस कार्यमें प्रवृत्त न होते थे। पुत्रेन्द्रा हो तो अभिगमनके प्रसारमें पक्षीकी चन्द्र नाडी और पतिकी सूर्य नाडी चलती हो। १५ दिन लगातार यदि किसीकी सूर्यनाडी ही चलती रहे तो यह समझना चाहिये कि एक महीनेमें उसकी मृत्यु होगी। जो योगास्त्र होना चाहे उनके लिये यह बताया है कि सूर्योदयसे सूर्यस्त्रितक चन्द्र अथवा सूर्य कोई भी एक ही नाडी चलती रहे, ऐसा अभ्यास करें। चारह घण्टे बराबर एक ही नाडीका चलना सिद्ध होनेपर

नाडीमें उदय होनेवाले पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश-तत्त्वोंका अभ्यास करें। तत्त्वोंका उदयास्त समझनेके लिये विशिष्ट गतिकी मर्यादा बतायी हुई है। प्रातःकाल या सायकालमें ४ घण्टे ४८ मिनट आकाशतत्त्व ही स्थिर रहता है, उसी समयको सन्धिकाल कहते हैं और यही सन्ध्या-वन्दनका समय है। आकाशतत्त्वके उदयके समय अथवा पृथ्वीतत्त्वके उदयके समय २-३ मिनटनक समस्वर रहते हैं अर्थात् उस समय दोनों स्वर चलते हैं। यह सुपुन्ना नाडी है। इस नाडीको ऐसे ही स्थिर करके यदि प्राणायाम किया जाय तो वह सिद्ध होता है। यही प्राणजय है। नाडिशुद्धि होनेपर धौति, वस्ति, नैति, त्राटक, नौलि और कपालभाति ये घटक्रम बताये हैं।

४९ 'वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः' यह पातञ्जल योगका सूत्र है—यह श्वासायाम है, प्राणायाम नहीं। वासकी अपेक्षा प्राणशक्ति अधिक सूक्ष्म है, इसलिये इस सूत्रका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि श्वासायाम साधनेसे प्राणायाम आप ही पीछे होने लगेगा। प्राणशक्ति-के विषयमें बहुतोंकी कल्पना ठीक नहीं है। देवमूर्तिकी प्राणप्रतिष्ठा करते हुए 'इह प्राणः इह प्राणः' कहते हैं। पर प्राण क्या है, यह न जाननेसे वह किया केवल अन्धानुकरणकी-सी होती है। स्वामी विवेकानन्दने प्राणशक्तिकी व्याख्या एक स्थानमें की है। प्राणायामके सम्बन्धमें स्वतन्त्र विवेचन करना हमने विचारा है, इसलिये यहाँ उसका विस्तार नहीं करते। रेचक, कुम्भक और पूरकसे एक प्राणायाम होता है। कुम्भकके भ्रामरी, भत्ता, मूर्ढा, प्लाविनी, केवली ये भेद हैं।

५० अनन्तर महामुद्रा, महावन्ध, लेचरी, नृत्यवन्ध, उष्णियान, जालन्धरवन्ध, विपरीतकरणी, बज्रोल्ली, शक्तिचालिनी और मटावेष ये उन मुद्राएँ साधकको माधनी पड़ती हैं तब कुण्डलिनी जाग्रत होती है और जैसा कि पहले कहा है, पट्टचक्रोंको भेदकर मन्त्रान्त्रमें प्रवेश करती है। इन पट्टचक्रोंके ऊपर हठयोगमें त्रिलूट, श्रीराट, गोह्लाट, यौटर्पीट और भ्रमसुन्फा नामके पॉच्च चक्र और बताये हैं। उनका वर्णन नीचे देते ह—

मुक्ति	चक्र	अभिमानी	देवता	वाचा	धर्ण	गुण	अक्षर	स्थान	वेद	अवस्था
सलोकता	त्रिकूट	विश्व	ब्रह्मा	वैखरी	सुपीत	रजोगुण	अकार	भूमि	ऋग्वेद	जाग्रति
सर्मापता	श्रीहाट	तैजस	विष्णु	मध्यमा	नव- मौक्तिक	सत्त्वगुण	उकार	आप	यजुर्वेद	स्वप्न
सम्पता	गोल्हाट	प्राज	हर	पश्यन्ती	श्वेत	तमोगुण	मकार	तेज	सामवेद	सुपुत्रि
सायुज्यता	औटपीठ	प्रत्यगात्मा	ईश्वर	परा	विद्युत्	शुद्ध- सत्त्वगुण	ॐ	वायु	अथर्ववेद	तुरीया
कैवल्य	भ्रमरगुम्फा	जानात्मा	सदागिव	परात्पर	कृष्ण	सगुण	अर्द्धमात्रा	आकाश	सूक्ष्मवेद	उन्मनी
स्वयंव्रह्म	ब्रह्मरन्त्र	परमपुरुष	परमात्मा	...	वहुवर्ण	निर्गुण	ब्रह्म	स्थिरचर	आत्मवेद	पूर्णता

५१ इसमें अन्तमें वही कैवल्य प्राप्त होता है जो राजयोगसे प्राप्त होता है और सब योगसिद्धियों भी प्राप्त होती है। एक विद्यमान योगी महाराजने एक बार अपने प्रानवासी शिष्यको प्राणायाम करके अपना मस्तक इतना तपाकर दिखाया कि स्पर्श करनेसे उबलते हुए पानी-जैसा गरम मालूम हुआ। प्र्वकालमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपनी पीटपर मुक्तावाईसे मालपूर्ण पकवा लिये थे। यहाँ-तक हठयोगसहित राजयोगका वर्णन हुआ।

५२ मन्त्रयोगमें भक्तियोग आ जाता है। इस योगमें प्राणायामको छोड़ वाकीके सात अङ्ग हैं और चक्रोंमेंसे तीन चक्र हैं—मूलाधार, मणिपूर और आज्ञा। मन्त्रयोगमें मन्त्रजपसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

५३ इन सब योगोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया दै तथापि इन सबका परस्पर सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें कर्म, ज्ञान और भक्ति, योगके ये तीन प्रकार व्यताये गये हैं, तथापि ज्ञानके विना भक्तियोग नहीं होता और कर्मके विना ज्ञान नहीं होता और इसलिये ये तीनों योग त्रुतिवेणीरूप हैं। वेसे ही इन पाँच योगोंकी यह पञ्चवेणी है।

५४ इस समिश्रराजहठयोगके सम्बन्धमें विचार करते हुए एक योगीने योगमाधवनाके सम्बन्धमें कुछ सास बातें व्यतायों सो आगे लिखते हैं।

५५ नीलगिरिपर रहनेवाले एक योगी लगभग ३५वर्ष पूर्व पूनेमें पधारे थे। स्व० डा० गर्ड महोदयके यहाँ ठहरे थे। उन्होंने यहाँ कई व्याख्यान दिये। व्याख्यानोंके समय एक चित्रपट वह श्रोताओंके सामने रखा करते थे। उसमें मानव-शरीरका शुक्र अथवा ओजमार्ग शुभ्र गुलाबी रगमें दिखाया गया था। चार दिन व्याख्यान होनेके बाद पाँचवें दिन उन्होंने चित्रपटमें प्रदर्शित रीतिसे ध्यान करनेको कहा। इस प्रकार ध्यान करनेसे उन्होंने बताया कि सम्पूर्ण शरीर अन्तर्दृष्टिसे प्रकाशमय दिखायी देता है। शरीरका यह ओजमार्ग जैसे ओजस् याने तेजसे व्याप्त है वैसे ही वह प्राणशक्तिसे भी व्याप्त है। प्राणशक्तिर्दर्शक प्राण भी प्रकाशमय हैं। ‘अथ आदित्य उदयन् प्राची-दिग्मां सर्वान् प्राणान् रश्मिसु सन्निवत्ते’ इस ऋग्वेद-बचनसे प्राण तेजोमय ही हैं। यह सुना है कि डा० किलनरने भी यह सिद्ध किया है कि हमारा Ethereal Body याने प्राणमय शरीर प्रकाशमय है और इस बातको सैकड़े ९५ मनुष्य अनुभव भी कर सकते हैं। अपने यहाँ देवादिकोंकी मूर्तियोंके मुखमण्डलोंकी चारों ओर तेजोवलय चिह्नित करनेकी रीति है। ये तेजोवलय सारे शरीरको घेरे हुए हैं, मुखके चारों ओर जो तेज है वह अधिक है। इसका भी कारण प्राणमय शरीर ही है। जिस मनुष्यकी इष्टि जन्मतः ही सद्गम होती है अथवा उपर्युक्त साधनोंसे जो उसे सुक्ष्म बना लेता है वह मनुष्यके स्थूल शरीरके बाहर प्रकाश छिटका हुआ देख पाता है।

॥ ५६ उपर्युक्त योगी महाराजने जो पद्धति वतायी उस पद्धतिसे अथवा डा० किलनरके वताये साधनसे यदि सम्पूर्ण शरीरमें प्रकाश फैला हुआ दिखायी दे तो वह प्रकाश सुहस्तारचक्र और कुण्डलिनीमार्गमें अधिक दिखायी देगा। सहस्तारके इस प्रकाशमें भगवान् वासुदेवका व्यान करनेसे साधक सब भूतोंमें उस प्रकाशको देख सकेगा और 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः' इस गीताचननानुसार महात्मापदको प्राप्त हो सकेगा। भक्तियोगमें हृदयमें ध्यान करनेको कहा है—वह हृदय 'अष्टपद्मोपरिस्फीत सूक्ष्मं हृदयपङ्कजम्' वाला हृदय है। वह हृदय और योगी महाराजने जिस सहस्तारमें ध्यान करनेको वताया वह सहस्तार, वे दोनों ही स्थान पासही-पास हैं।

॥ ५७ इस प्रकार ध्यानयोगी अपनी ध्यानशक्तिसे परम पुरुषके साथ समत्व लाभ करता है। लययोगकी कुछ सिद्धियों ध्यानयोगीको भी प्राप्त होती हैं। ध्यानयोगीको अपना महाप्रयाणकाल भी ज्ञात हो जाता है। परन्तु ध्यानयोगीको शारीरिक दुःख भोगने पड़ते हैं, इस कारण ध्यानयोगमें अन्तराय पड़ता है। परन्तु लययोगमें 'योगो भोगायते मोक्षायते शरीरम्' इस वचनके अनुसार ध्यानके समयमें शरीर-व्याधियोंको मनसे हटाकर दैनन्दिन ध्यानक्रम पूर्ण किया जा सकता है और इस प्रकार वह योगी महाप्रयाणकालमें पूर्णज्ञ स्थितिमें ही प्रयाण करता है। यही नहीं प्रत्युत लययोगमें भी षट्क्रन्तिरूपणमें वताये अनुसार खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेसे महाप्रयाणकालको भी योगी अपने वज्रमें रख सकता है।

॥ ५८ इस लययोगमें अर्थात् कुण्डलिनीशक्तियोगमें साधक सदा ही आनन्दमें रहता है। उसे किसी सज्जनी श्रीकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि विद्युत-प्रवाहरूपिणी, सर्वसौन्दर्यगालिनी, सर्वकषा, सर्वसुखदायिनी कुण्डलिनी-शक्ति उसके साथ है। ऐसे साधकको दिव्य साधक कहते हैं। और जो लौकिक साधक अपनी सहर्षमिणीके साथ श्रीमगवतीकी उपासना करता है वह वीर साधक कहाता है।

॥ ५९ योगाङ्गोंका वर्णन करते हुए कुछ स्थानोंमें अभ्यास-क्रम भी लिख दिया है। तथापि विशेष त्पर्याकरणके लिये कुछ विवरण यहाँ देते हैं।

॥ ६० ज्ञानयोगमें वताया है कि 'येनात्मैवात्मना जितः' आत्मासे आत्माको जीते अर्थात् मनसे ही मनको जीते।

(दो प्रकारके मनोंका वर्णन पहले आ ही त्रुका है।) पञ्चीकृत शरीर नाश्वान् है, केवल आत्मा ही अविनाशी है, ऐसा विचार करके जीवात्मा अपनी अनेक व्यावरणोंमें व्याप्त जीवदग्गाको व्यतिरेकसे नष्ट करके 'अहं व्रह्मासि' की वृत्तिको अनवरत वना रखनेका अभ्यास करे। श्रीगिराम स्वामी वतलाते हैं कि—'वृत्ति जिघर जाय उघर आप न जाय, पीछे साक्षी होकर खड़े-खड़े देखता रहे तो निजस्वरूपसे भेट हो जाती है।' अर्थात् वृत्तिकी ओर देखते रहनेसे वह आप ही अपने अन्दर विलीन हो जाती है। पीछे रह जाता है केवल उर्वरित वस्तु चैतन्यधन आप। इसका यही अभ्यास है। ऐसे चैतन्य धनानन्दमें निमग्न रहनेसे देखना-सुनना, बोलना-सुनना, चलना-फिरना इत्यादि सब कामोंके होते हुए भी आप निजस्वरूपमें ही लीन रहता है और इन सब कामोंको तटस्थवत् देखता है। ऐसी सहज स्थितिको पहुँचा हुआ साधक ऐहिक-पारलौकिक सभी भोगोंको तुच्छ समझता है। यही निर्विकल्प समाधि है। इस ज्ञानयोगमें 'गुरुरेव परम्, गुरुरेव परम्' इस प्रकार गुरुकी बड़ी महिमा है।

॥ ६१ लययोग अथवा कुण्डलिनी-शक्ति-योगमें साधकको षट्क्रन्तिको ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये और महाभाव-योगसे शुद्धपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी-शक्ति मूलाधारसे सहस्रारतक चलती है और कृष्णपक्षमें ऐसी भावना करनी चाहिये कि कुण्डलिनी सहस्रारसे चलकर मूलाधारमें आती है। पट्क्रन्तिरूपणमें वताया है कि 'इह साने लीने सुमुखसदने चेतसि पुरं निरालम्ब वद्ध्वा'। 'पुरं वद्ध्वा' माने 'अन्तःपुरं वद्ध्वा'। पुः यानी योनिमुद्रा और षण्मुखीमुद्रा अथवा पुर यानी खेचरीमुद्रा, सिद्ध करे। प्रणवका ध्यान भ्रूमध्यमें करे। 'प्रणवचारी दिग्गानाम्' होनेसे अन्तःकरणके अन्तरिक्षमें 'पवनसुहृदां वहिकणान् ज्योतिः पश्यति', इस प्रकार उसे प्रकाश-साक्षात्कार होता है।

॥ ६२ खेचरीमुद्रा सिद्ध करनेके लिये जिहा-ठेदन वताया है। ठेदनके पश्चात् दोहन है। जिहा तीन प्रकारकी होती है—नागजिहा, हस्तजिहा और वेनुजिहा। नाग-जिहा निसर्गत ही लम्बी होती है। अन्य दो जिहाएँ ठेदन-योग्य होती हैं। कुछ वाल्क अपनी जीभ नासाश्रमे अनायास ही लगाते हैं। ऐसी जीभको ठेदनकी आवश्यकता नहीं, केवल दोहनकी आवश्यकता होती है। दोहनके लिये पहले वच (उग्रगन्धा) के चूर्णसे जिहाको मलना चाहिये। इससे कफादि दोष नष्ट होते हैं। वेन्डाके चूर्णसे दोहन करे और सेन्धवलयणसे जिहाका छिदा हुआ भाग

विमे । छेदन गुरुके समीप रहकर ही करे । डाकटरके द्वारा छेदन करानेसे वाचागत्ति नष्ट होती है ।

६३ खेचरी यदि सिद्ध हो जाय तो नाडिशुद्धि और भूतशुद्धिके बिना भी काम चलता है । खेचरी सिद्ध होनेपर प्राणायाम करके खेचरी करे । इसका अभ्यास जब हो जाता है तब प्राणशक्ति सिद्ध करनेके लिये शक्तिचालिनी मुद्रा ब्रतायी है । इस मुद्रासे कुण्डलिनी मणिपूरचक्रतक आती है । अनन्तर खेचरीसे जालन्धरवन्ध करके रुद्रग्रन्थिका भेदन होता है और प्राणशक्ति उड़ियान-वन्धके सहारे विशुद्धिचक्रसे मणिपूरतक आकर कुण्डलिनीको ऊपर ले जाती है । इसके पश्चात् वह आज्ञाचक्रसे ललनाचक, मनश्चक और सोमचक्रमें होकर सहस्रारमें पहुँचती है ।

६४ हठयोगमें भी खेचरीमुद्राका बड़ा महत्त्व है । यथार्थमें खेचरी हठयोगकी ही चीज है, राजयोगमें भी खेचरीमुद्रा है पर उसका वर्णन भिन्न प्रकारका है । वह खेचरी आकाशकी ओर दृष्टि लगाना है (खेचरात्प्राणः) । नाडिशुद्धिके अभ्यासके लिये ब्रताया है कि वार्षे नथुनेसे व्यासं चले ऐसा यढि करना हो तो दार्थे नथुनेको रुई डालकर वन्द कर दे और सदा दार्थी करबट वैठा करे जिसमें शरीरके दार्थे अशपर ही शरीरका अधिक बोझ पड़े, छः महीने अभ्यास करनेसे नाडिजय होता है । नाडिजय होनेपर आकाश-तत्त्व जब नाडीमें वह रहा हो तब श्वासायाम करके खेचरी-साधन करे ।

६५ किसी भी प्रकारका सावक हो, सूर्योदय और सूर्यास्त ये दो सन्धि-काल उसके लिये निश्चित हैं । चन्द्रस्वरसे सूर्यस्वरमें जाते हुए दो-एक मिनट ठोनों श्वास वरावर चलते हैं अर्थात् उस समय सुपुम्ना नाडी चलती है, उस समय श्वासायाम करके बैठ जाय । सन्ध्याका समय यथार्थमें वही है । यह अभ्यास गुरुके सामने करे । महामुद्रा, महावन्ध और शक्तिचालिनी मुद्रा करनेसे अर्थात् गुदद्वार और मृतद्वारके नीचमें दो अगुल मध्यस्थानपर एटीसे चोट करे तब प्राणवायु जाग उठता है और पीछे कुण्डलिनी जागती है ।

६६ मन्त्रयोगके द्वारा प्रकाश-साक्षात्कार करनेके लिये मन्त्रावर्तीको उच्चारते हुए नासारन्त्रसे वहनेवाले प्राणवायुमी घोर दृष्टि रखें । छः महीने ऐसा अभ्यास करनेसे अनुभव मिल जाता है । निवातस्य दीपज्योतिकी

ओर ब्राटक करनेसे भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है । पण्मुखीमुद्राके अभ्याससे (अङ्गूठोंसे कानोंको बन्द करना, तर्जनी और मध्यमासे नेत्र बन्द करना और अनामिका-कनिष्ठिकासे नासारन्त्रोंको बन्द करना, ऐसे अभ्याससे) भी प्रकाश-साक्षात्कार होता है । मन्त्रयोगके मन्त्राक्षरोका तेजोरूपमें दिखायी देना ही मन्त्रसिद्धि है । मन्त्रयोग ध्यानयोग ही है । महम्मदानुयायी मन्त्रयोगी ही हैं । ‘कलमा पढ़े सो कल-कलमे कलमा’ वाली वात प्रसिद्ध ही है । इसका आशय यही है कि कलमा पढ़े तो ऐसा पढ़े कि हर नाडीसे वही स्वर निकले । पर अभ्यास उनमें भी कौन करता है ?

६७ श्रीभगवती यन्त्रमयी, मन्त्रमयी और प्रकाशमयी हैं । मन्त्रमयी भगवतीका व्यान होता रहे, इससे वह प्रसन्न होती हैं और साधकसे सब क्रियाएँ करा लेती है । श्रीरामकृष्ण परमहस्यके पास एक योगिनीको भेजकर भगवतीने ही उनसे सब योगक्रियाएँ करा लीं ।

६८ इस प्रकार कुण्डलिनी-शक्ति-योग सिद्ध होनेपर श्रीभगवतीकी कृपासे साधक सर्वगुणसम्पन्न होता है । सब कलाएँ, सब सिद्धियाँ उसे अनायास प्राप्त होती हैं । ऐसे साधकका शरीर १०० वर्षतक विल्कुल स्वस्थ और सुदृढ़ रहता है । वह अपने जीवनको श्रीभगवतीकी सेवामें लगा देता है और श्रीभगवतीकी इच्छाके अनुसार लोकोद्धार करते हुए अन्तमें स्वेच्छासे अपना कलेवर छोड़ा जाता है । मृत्यु उसकी इच्छाके अधीन होनेसे उसे मृत्युका भय नहीं रहता । पूनेके, अब आनन्दलोकवासी, महर्षि श्रीअथण्णासाहब पटवर्धन ऐसे ही इच्छामृत्युवाले थे । उन्होने अपने महाप्रयाणका समय निश्चित किया । कहा कि हम असुक समयमें प्रस्थान करेंगे । जो समय उन्होने निश्चित किया था वह ज्योतिषशास्त्रके हिसावसे कुशोग था । उनसे कहा गया कि महाप्रयाणके लिये वह शुभ घड़ी नहीं है । उस समयके दो घण्टे बाद सुयोग था । यह उनसे निवेदन किया गया तो उन्होने कहा—अच्छी वात है, २ घण्टे बाद ही सुयोग आनेपर चलेंगे । ठीक उसी समय उन्होने अपना शरीर छोड़ा । श्रीरेवतीनन्दन महाराजने भी अपना शरीर पूनेमें रखा तब उनकी प्राण-शक्ति ब्रह्मरन्त्रको भेदकर निकल गयी । श्रीवासुदेवानन्द सरस्वती महाराजने भी अपना प्रयाणकाल दो दिन पहलेसे ही ब्रता दिया था । उनके शिष्य श्रीगुरुमङ्ग

अण्णासाहब नेनेने भी अपने प्रयाणका समय दो दिन पहले ही बता रखता था ।

६९ कुण्डलिनी-शक्ति-योगी इस प्रकार निर्भय और स्वानन्दनिमग्न रहता है । श्रीभगवतीकी उसपर पूर्ण कृपा होती है और वह भी सदा भगवतीके ही सङ्ग रहता है । भगवतीके चिरसङ्गका अनुभव उसे समय-समयपर प्राप्त होता ही रहता है । उसके कानोंमें इस दिव्य सन्देशकी धनि सदा गौजती रहती है कि 'मैं तुम्हारे पीछे खड़ी हूँ' । कुण्डलिनी-शक्तिका सङ्ग क्या है, सहज अवस्था है ।

कुण्डलिनीके सङ्ग रहनेवाला साधक लोकमें लौकिक दृष्टिसे व्यवहार नहीं करता । लोकदृष्टिसे तो वह सोया हुआ ही है—

यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।

७० अन्तमें श्रीभगवतीसे यह प्रार्थना है कि इस प्रवन्धके पाठसे पाठकोका ध्यान तुम्हारी सेवाकी ओर लगे और सम्पूर्ण जगत् त्वद्भक्तिप्रेरित होकर विषयोंके तुच्छ सुखोंसे मुँह फेरकर कुण्डलिनी-शक्ति-योगके दुर्लभ आनन्द-की ओर चले । यही वर-प्रार्थना करके यह लेख समाप्त करता हूँ । इति हुम् ॥

योग और कुण्डलिनी

(लेखक—श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त)

योगसाधनके साथ कुण्डलिनी-जागरण घनिष्ठहृपसे सम्बद्ध है । योगियोंका कहना है कि साधारण जीवमें कुण्डलिनी सोशी रहती है—विशेष-विशेष योग-प्रक्रियाद्वारा कुण्डलिनीको जाग्रत् कर घट्चक्रमेद करते हुए मस्तिष्क-स्थित सहवारमें ले जानेपर योगसिद्धि प्राप्त होती है । यह कुण्डलिनी क्या है ?

कुण्डलिनी उपनिषदोंकी 'नाचिकेत' अस्ति है । जो 'चि-नाचिकेत' हो सकते हैं, वे ही जन्म-मृत्युसे तरते हैं 'तरति जन्ममृत्यू'—उनका शरीर योगाभिमय हो जाता है और वे जरा, व्याघ्र और मृत्युके पार हो जाते हैं—

न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः

प्राप्तस्य योगाभिमयं शरीरम् ।

(चतुर्तश्वन्तर •)

चैनिक योगदीपिकामें इस कुण्डलिनीको Spirit-Fire (स्पिरिट-फायर) कहा गया है ।

Only after the completed work of a hundred days will the Light be real, there will it become Spirit-fire. The heart is the fire, the fire is the Elixir (I lohin)

पाश्चात्य लोग इस कुण्डलिनीको Serpent-fire (सर्पवत् वल्यान्विता अस्ति) कहते हैं । प्रधिषिद्धि मैडम लैंबेट्स्की इसको Cosmic Electricity (विश्वव्यापी विद्युतशक्ति) कहा करती थीं—क्योंकि कुण्डलिनी विश्व-विद्युतशक्ती सजातीय एक अत्यन्त प्रचण्ड शक्ति है ।

Kundalini is called the serpentine or annular power, on account of its spiral-like working or progress in the body of the ascetic, developing the power in himself. It is an electric fiery occult or *fohatic* power, the great pristine force which underlies all organic and inorganic matter.

(*The voice of the Silence*, p. 27)

'कुण्डलिनी सर्पकार वा वल्यान्विता शक्ति कही जाती है, क्योंकि इसकी गति वल्याकार सर्पकी-सी है, योगाभ्यासी यति के शरीरमें यह चक्राकार चलती है और उसमें शक्ति वढ़ती है । यह एक वैद्युत अभिमय गुप्त गति है । यह प्राक्तन शक्ति है जो सेन्द्रिय और निरीन्द्रिय सृष्टि पदार्थमात्रके मूलमें है ।'

इस कुण्डलिनीकी गति प्रकाशकी गतिकी अपेक्षा भी अधिक तेज है । मैडम लैंबेट्स्कीने कहा है—'Light travels at the rate of 185000 miles a second, Kundalini at 345000 miles a second' अर्थात् 'प्रकाश १८५००० मील प्रति सेकण्डकी गतिसे चलता है और कुण्डलिनी ३४५००० मील प्रति सेकण्डकी चालसे ।' तन्त्रसारमें इस कुण्डलिनीके विषयमें लिङ्ग है—

ध्यायेत् कुण्डलिनीं सूक्ष्मा मूलाधारनिवासिनोम् ।
तामिष्टदेवताल्पां सादर्चिवल्यान्विताम् ॥
कोटिसौद्वासिनोभासां स्वयन्मूलिन्द्रवेष्टिणोम् ।
तामुत्थाप्य भहादेवीं प्राणमन्त्रेण साधकः ॥

प्रकृतिके निगूँढ विधानके अनुसार यह प्रचण्ड शक्ति शरीरस्य मूलाधारचक्रमें सोयी हुई रहती है। असंयमी साधकको—जो अकाम, निष्काम नहीं हुआ है, जो passion-proof (मनोविकारका प्रभाव जिसपर न पड़ता हो ऐसा) नहीं हुआ है—असावधानीके साथ तथा मद्गुरुका सानिध्य प्राप्त हुए यिना इस शक्तिको जागरित करनेकी चेष्टा न करनी चाहिये। इसीलिये अद्याङ्गयोगका प्रथम भाग यमनियम—सत्य, सयम, सन्तोष, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह इत्यादि—रक्खा गया है। इस यिपयमं हड्सन साहबने सावधानीकी कुछ सूचनाएँ की हैं—उनकी ओर हम पाठकोंका ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं।

Note that the actual arousing of the tremendous force of Kundalini may only be safely attempted under the expert guidance of a Master of occult science—otherwise Kundalini may act downwards and intensify both the desire-nature and the activity of the sexual organs

(Science of Seership)

‘यह ध्यान रहे कि कुण्डलिनीकी प्रचण्ड शक्तिको ज्ञानेका काम इस गुत विद्याके गुरुके ही तत्त्वावधानमें किया जाना चाहिये, अन्यथा कुण्डलिनी नीचेकी ओर प्रवृत्त रोकर भोगवासना और जननेन्द्रियकी प्रवृत्तिको बेहद चढ़ा सकती है।’

‘मने मूलाधारचक्रको कुण्डलिनीका सुपुत्रिस्थान कहा है। मनुष्यकी पिण्डेहमे (जिसे Etheric Body कहते हैं) स्थूल शरीरके विशेष-विशेष प्रत्यज्ञोंसे सम्बद्ध जो छः चक्राकार धूमनेवाले शक्तिकेन्द्र हैं, मूलाधार उन्हीं पट्टचक्रोंमें एक है—

They are the force-centres in the human body and are so called, ‘because’ to clairvoyant sight, they have the appearance of spinning vortices They are the six pleases (Hodson)

‘मनुष्य-शरीरमें ये शक्तिके केन्द्र हैं और ये चक्र उसलिये कहलाते हैं कि अन्तर्दर्थियोंको ये तनुचक्रोंके समान दीखते हैं। ये छ. नाडिजाल हैं।’

ये पट्टचक्र कौन-कौन हैं? मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्र।

मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम् ।

विशुद्धच्च तथाज्ञां च पट्टचक्राणि विभावयेत् ॥

मूलाधार मेशृदण्डके निम्नभागमें अवस्थित है। उसी चक्रके भीतर कुण्डलिनी-शक्ति त्रिवली-आकारमें सुषुप्त रहती है।

In the heart of this Chakram lies the serpent fire (Kundalini), and there it sleeps throughout the ages until the time is ripe for it to be roused (Hodson)

अर्थात् इस चक्रके अन्तस्तलमें सर्पाकार अभ्यं (कुण्डलिनी) रहती है और वहो यह युगानुयुग सोयी रहती है जबतक इसके जागनेका समय नहीं उपस्थित होता।

कुण्डलिनी जब विश्वशक्ति है तब मूलाधार उसका उत्पत्तिस्थान नहीं हो सकता। मालूम होता है, यौगिक उपायसे जब मूलाधार प्रज्वलित होता है तब यह चक्र विद्यव्यापक कुण्डलिनी-शक्तिको व्यष्टिभावमें आत्मसात् करनेकी योग्यता प्राप्त करता है—जलस्तम्भमें जिस तरह जलट जलधिको आशिकरूपमें आत्मसात् करता है, यह भी उसी तरहका कार्य है। इस प्रकार कुण्डलिनी जाग्रत् होकर मेशृदण्डके मध्यमें स्थित सुपुम्ना मार्गसे होकर इडा और पिङ्गला (इनका नाम सूर्यनाडी और चन्द्रनाडी भी है) की सहायतासे उपरकी ओर प्रवाहित होती है। इन तीन नाडियोंके अन्दरसे उठकर ऊपर जाती हुई कुण्डलिनीशक्ति एक-एक कर स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञाचक्रको प्रज्वलित और अनुप्राणित करती हुई अन्तमें (तन्त्रकी भाषामें) सहस्रारमें जाकर सदाचित्वके साथ मिल जाती है—

As it passes up the spine, it vivifies in turn each Chakram, thereby causing the etheric centres to be opened and channels to be made from the superphysical to the physical worlds, so providing conductors for super-physical vibrations when it is thus aroused, all the psychic powers are fully unfolded and become available

for use, while the man is awake in the physical body

(Hodson, p 213)

‘जब यह कुण्डलिनी मेरुवंगमेंसे होकर ऊपर जाती है, तब एक-एक चक्रको जगाती हुई चलती है, इससे वे चक्र खुल जाते हैं और पारमौतिकसे भौतिक जगत्‌में धानेके रास्ते बनते हैं; इस प्रकार कुण्डलिनीके जागनेसे पारमौतिक स्पन्दनोंको बहन करनेके साधन उपस्थित हो जाते हैं, चैत्य पुरुषकी सब शक्तियाँ खुल जाती हैं और उनका उपयोग किया जा सकता है, इसके होते हुए मनुष्य अपने भौतिक शरीरमें जागता रहता है।’

मूलाधारके बाद स्वाधिष्ठानचक्र है। उसका स्थान श्वेतांशुको पासमें है। स्वाधिष्ठानके ऊपर मणिपूर है। मणिपूर-चक्रका स्थान है नामि। इस मणिपूरका अप्रेजी नाम Solar Plexus (सोलर प्लेक्सस—सौर बाल) है। व्लैवेट्स्कीका कहना है—

‘There are three principal centres in man—the heart, the head and the navel.’
अर्थात् मनुष्यके अन्दर तीन प्रधान केन्द्र हैं—हृदय, मस्तक और नामि।

स्वाधिष्ठान और मणिपूरके कुण्डलिनीद्वारा प्रज्वलित होनेपर, ‘This influence strengthens, rejuvenates and normalises the life-process’ अर्थात् इस प्रभावसे जीवन-क्रम बलयुक्त, नवशक्तिसम्पन्न और नियत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त स्वाधिष्ठान-चक्रके प्रदीप होनेपर मनुष्य सूक्ष्मतर लोकमें स्वच्छन्द विहार करनेका अधिकार प्राप्त करता है, और मणिपूरकी प्रदीपिके फलस्वरूप साधकमें आत्मरक्षाकी क्षमता बहुत अधिक मात्रामें बढ़ जाती है। योड़ेमें कह सकते हैं—

The solar plexus gives conscious emotional control

अर्थात् मणिपूर-चक्र मनोविकारोंका सज्जान प्रभुत्व प्रदान करता है।

मणिपूरके ऊपर अनाहत-चक्र (Cardiac plexus) है। इस चक्रका स्थान है हृदय (Heart), हृत्पद्म—‘हृत्पद्मकोपे चिलसत तडित्प्रमम् ।’ इस पद्मको ईसाई साधक Mystic Rose (युस गुलाब) कहते हैं—

‘The petals of which open only after the Christ’s child has been born in the heart.’

अर्थात् जिसकी पञ्चदिँयाँ तब खिलती हैं जब हृदयमें ईसारूप बालक पैदा होता है—यही चैनिक ‘आर्डिचिन’, कनक-कमल है। अनाहत-चक्रके उद्घासित होनेपर मनुष्यकी दुष्टिके ऊपर जो वोधि (Intuition) है, उसका उद्घव होता है—

It becomes the organ of intuition,—through it flows the power of the intuitional worlds

अर्थात् यह वोधि (अन्तर्दृष्टि) का करण बन जाता है—इसके द्वारा वोधिजगत्‌की शक्तियाँ प्रवाहित होती हैं।

अनाहतके ऊपर विशुद्ध-चक्र है। इसका स्थान है कण्ठ (Throat)। आधुनिक विज्ञान जिस Thyroid gland (थिरायड ग्लैण्ड) के अङ्गुत कार्योंका अधिष्ठार कर रहा है, वह इस विशुद्ध-चक्रके साथ ही सलझ है। इस चक्रके प्रज्वलित होनेपर साधक दिव्य श्रुति (Clairaudience) प्राप्त करता है।

Throat Chakram when vivified bestows the faculty of clairaudience

विशुद्धके ऊपर आजान्चक्र है। इसका स्थान है भ्रूमध्य। यह चक्र द्विदल है—एक दल पाश्रात्य विज्ञानका Pineal gland (पाइनियल ग्लैण्ड) और दूसरा दल Pituitary body (पाइटियूटरी वॉडी) है। साधारण जीवन-विज्ञान (Physiology) के ग्रन्थोंमें इन दोनों ग्रन्थियों glands को ‘Two insignificant excrescences in man’s cranial cavity’ (मनुष्यके मनको भीतर उत्पन्न दो निर्यक मासपिण्ड) कहा गया है। अध्यापक विचेने उन्हें ‘Two horny warts covered with grey sand’ (भूरी वाल्से ढके हुए दो कठोर मासपिण्ड) कहकर उनकी उपेक्षा की है। किन्तु मैडम व्लैवेट्स्कीने उस वाल्सों ध्यानपूर्वक देखकर एक दिन कहा था—

‘This sand is very mysterious and baffles the enquiry of every materialist.’

अर्थात् इस वाल्से बहा रख्य है जिससे जड़वादी-मात्रकी दुष्टि चक्र जाती है।

महाराज महायां का आज्ञाचक अविकसित (undeveloped) रहता है। जिस समय कुण्डलिनी-शक्ति पार्गात्म तोकर सुख्ना-मार्गमें इस आज्ञाचकमें प्रोत्संघर्ष होती है, उस समय क्या होता है?

On reaching the pituitary and pineal centres, it polarizes them into positive and negative conditions and vivifies them into a hyper-active state, in which they interact so closely that they become one centre
(Hodson)

पर्याप्त ध्रुमध्यकी इन दो ग्रन्थियोंमें पहुँचकर यह (कुण्डलिनी) इन्हें ऐसे सञ्चालित कर देती है कि एक न्यायिक और दूसरी क्रमात्मक गतिवाली बनकर दोनों ओर तेजीके साथ चलने लगती है, दोनोंकी गति एक-दूसरेंसे उत्तरी परन्यस-नन्मयताके साथ होती है कि दोनों गिरकर एक चक्र बन जाती है।

इस प्रसन्नमें योगमिदा श्रीमती द्वैतेष्टकी इस प्रणाल दिग्भर्ती है—

The pulsation of the pituitary body mounts upward more and more until the current suff., strikes the pineal gland and the dormant organ (आज्ञाचक) is awakened and all glowing with the pure Akashic Fire (कुण्डलिनी)—

पर्याप्त इन दो ग्रन्थियोंमें जो नीचेकी ओर धर्मिय है (पिटूटरी वॉटरी) उसका स्पन्डन उत्तरी ओर अभिव्यक्त होकर अन्तमें ऊपरवाली ग्रन्थियमें भागात रहता है और तब जो सोया हुआ-या रहता है वह आश्रम याग उठता है और विशुद्ध आकाशग्रामी (रुण्डिनी) में चमकने लगता है।

सर्वांगित और प्राचलिन आज्ञाचक दी तन्त्रोन्त शिवतम् है। उनका उन्मीलन ऐनेपर मध्यक प्रिअम्बक (प्रिन्सिप) होता है?। यह आज्ञाचक दी दिव्य दृष्टिका रूप (रूप of clairvoyance) है—उत्तीर्णी सार्वप्राप्ति अविकसित प्रभिलिङ्गां प्राप्त होती है।

“...in a man almost incomprehensible is the fact that the chief successes in spiritual life are due to the development, almost in a marvellous way, of clairvoyance,

and that the latter should depend in man, on two insignificant exerescences in his cranial cavity

(Madam Blavatsky)

‘यह बात बड़े अचरजकी-सी मात्रम होगी और सहसा समझमें भी न आवेगी कि इस गुप्त विद्याको अधिगत करनेके यन्त्रकी सफलता इस दिव्य दृष्टिके ऐसी चमकपर निर्भर करती है और यह चमक भी, मनुष्यके कपालके अन्दरकी कुछ नहीं-सी दो फालनू-सी ग्रन्थियोंपर अबलग्नित है।’

आज्ञाचकके ऊपर व्रह्मरन्त्रमें सहस्रार है। इसका स्थान मनिष्कके सामनेवाले विवर (anterior fontanelle) में है। अतीन्द्रिय दृष्टिसे देखनेपर इस पद्मके एक हजार दल दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण इसका नाम सहस्रार (सहस्रदल पद्म—thousand petalled lotus) है।

आज्ञाचकको उद्घासित करके, उसके बाट कुण्डलिनी सहस्रारमें उपस्थित होती है। इस सहस्रारको प्रज्वलित करना ही कुण्डलिनी-साधनाकी अन्तिम सीमा है।

When the Sahasrara is fully vivified, the ego gains the power to withdraw from and return to the physical body at will, without a break in consciousness occurring

‘सहस्रार जब पूर्णसूपसे जाग उठता है तब देहाभिमानी आत्मामें चाहे जब देहसे अपने-आपको खींच लेने और चाहे जब देहमें लौट आनेकी शक्ति आ जाती है और यह सब करते हुए चित्तमें चैतन्य बना रहता है।’

इस स्वच्छन्द विहारको उपनिषदोंमें ‘कामचार’ कहा गया है—

तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति।
तन्त्रकी भाषामें कह सकते हैं कि इस समय कुण्डलिनी-देवी सहस्रारमें सदायिवके साथ सज्जता होती है। वही सर्वज्ञता-सिद्धि है—

तारक सर्वविषय सर्वथाविषयमकम चेति
विषेषज्ञानम्। (कंगनूप ३। ८४)

इस अस्त्राका वर्णन करती हुई चैनिकयोग-दीमिया कहती है—

Then body and heart are completely controlled and one is quite free and at

place, letting go all entanglements, untroubled by the slightest excitement, with the Heavenly Heart exactly in the middle

'तब मनुष्यका जरीर और चित्तपर पूर्ण अधिकार होता है, वह सर्वथा सब अवस्थाओंमें स्वच्छन्त और सुखासीन होता है, सब बन्धन छूट जाते हैं, जोभका नाम भी नहीं रह जाता, ठीक मध्यमें जो दिव्य हृदय है उसीके साथ वह रहता है।'

यही आईचिनकी भाषामें—'action in inaction' (अकर्ममें कर्म) —गीताका 'शारीर केवल कर्म' है। उस अवस्थामें साधक 'instead of being in it, is above it' (इसके अन्दर नैकी जगह इसके ऊपर होता है,—यही वास्तवमें निर्द्वन्द्व होना है—
the union of the opposites on a higher

level of consciousness (चैतन्यके उच्चतर स्तरमें परस्परविरोधोंका मिलन) है। इसीको सांख्य-मतवाले कहते हैं—

प्रेक्षकवद्वस्थितः स्वस्थः ।

उस समय साधक साक्षी, द्रष्टामात्र रहता है, कर्ता या भोक्ता नहीं रहता। यही योगकी चरम सिद्धि है—
तदा ब्रह्म स्वरूपेऽवस्थानम् । (योगसूत्र १।३)

इसी अवस्थाको लक्ष्य करके छान्दोग्य-उपनिषद् कहता है—

एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरूपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।

'यह जीव इस जरीरसे ऊपर उठकर परम ज्योतिको प्राप्तकर अपने स्वरूपमें स्थित होता है।'



बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है ।

(लेखक—श्रीतपोक्तनस्वामीजी महाराज)

रसात्माकी प्राप्तिका उपाय ही योग कहलाता है, यही योग शब्दका यौगिक अर्थ है। यह योग साक्षात् और परम्परासे ईश्वर-प्राप्तिका साधन होनेके कारण फल तथा साधनरूपसे दो प्रकारका है। परमात्मप्राप्तिका साक्षात् साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम

और अन्तिम योग है। परम पुरुषार्थरूप भगवान्‌की प्राप्ति एकमात्र ज्ञानसे ही हो सकती है और किसी भी उपायसे नहीं, यही श्रुतियों और स्मृतियोंकी एक स्तरसे घोषणा है—

ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति । (मु० उ०)

अर्थात् 'ब्रह्मको जाननेवाला नित्य नुक्त ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है।'

त्वमेव

विदित्वातिसृष्ट्युमेति

नान्यः पन्था विद्यतेऽव्यनाय ॥

(इवेता० उ०)

'आत्माको परमात्मासे अभिन्न जानना ही मोक्षका साक्षात् साधन है, परमात्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थके लिये इसके अतिरिक्त और कोई साधन है ही नहीं।'

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् विभेति कुतश्चन ।

(तै० उ०)

'ब्रह्मके स्वरूपभूत आनन्द अथवा आनन्दरूप ब्रह्मका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष किसीसे भी नहीं डरता; अर्थात् वह निर्भय अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।'

तरति शोकमात्मविद् ।

(द्य० उ०)

'आत्मवेत्ता ही शोकरूप ससारको पार कर सकता है।'

ज्ञानेन तु तद्वज्ञानं येषां नाशितमात्मन ।

तेयामादित्यवज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥

ज्ञानं लब्ध्वा परा शान्तिमच्चिरेणाधिगच्छति ॥

अर्थात् 'जिन अधिकारियोंका आत्मविषयक अज्ञान ज्ञानसे नष्ट हो जाता है, उनका वह ज्ञान सूर्यके समान उस वेदान्तप्रसिद्ध परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।'

'आत्मज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर ज्ञानी पुरुष तत्काल ही आत्माकी स्वरूपभूत निरतिशय शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

यदि यह कर्ता-भोक्तान्य दुःखमय सनार रञ्जुमे सर्प और शुक्रिमें रजतकी प्रतीति होनेके समान अज्ञान-ज्ञ्य ही माना जाता है तो अवश्य इसकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे ही

हो सकती है, भक्ति, ध्यान अथवा कर्मसे नहीं। इस प्रकारकी युक्तियों तथा ऊपर बतलायी हुई श्रुति-स्मृतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि परमानन्दस्वरूप परब्रह्मकी प्राप्तिका उत्तम साधन ज्ञान ही है। अतः किसीके भी मिथ्या ज्ञानसे वढ़े हुए जन्म-मरणके प्रवाहरूप ससारका आत्मन्तिक विनाश ज्ञानके विना कभी नहीं हो सकता—यह बात निर्विवाद सिद्ध है।

मिथ्या ज्ञानसे प्राप्त हुई सुदृढ़ भेद-बुद्धि ही सारे अन्योंकी जड़ है। महान् व्यामोहके कारण देह आदिमें प्रकट हुइ आत्मबुद्धिके द्वारा जबतक 'मैं कर्ता हूँ' 'भोक्ता हूँ' 'दुर्बल हूँ' 'उन्नत हूँ' 'सुखी हूँ' 'दुखी हूँ' 'यह सब कुछ मेरा ही है' तथा विष्णु-निष्ठ, पुण्य-पाप और दहलोक-परलोक इत्यादि व्यवहार होते रहते हैं, तबतक इसी व्यवहारमें वैध रहनेके कारण जन्म-मृत्युरूप ससार-समुद्रसे जीवका लेगमात्र भी छुटकारा नहीं हो सकता। और इसीलिये प्रिय-अप्रिय विषयोंकी वेदनासे चित्त चिन्तित रहनेके कारण वह जीव अत्यन्त व्याकुल रहा करता है। जबतक शरीर धारण करना पड़ता है तबतक स्वप्नमें भी लेगमात्र भी गान्तिका अनुभव नहीं हो सकता—यह निश्चित बात है। कहा भी है—

यत्र यत्र शरीरपरिग्रहस्तत्र तत्र दुःखम् ।

(वासुदेव-मनन)

अर्थात् 'जहाँ-जहाँ शरीर धारण करना पड़ता है वहाँ-वहाँ दुःख है।'

न ह वै सदारीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति ।

(छा० उ०)

'देहधारणकी अवस्थामें प्रिय-अप्रिय विषयोंके प्रहणसे होनेवाली व्याकुलता कभी भी नहीं मिटती।' देहधारी होना ही दुःखका मूल है, उस समय जो कभी क्षणिक सुखका अनुभव होता है वह भी दुःखोंसे सम्बन्ध रखनेके कारण दुःख ही है। अतः समूर्ण दुःखोंका मूलभूत जो शरीरप्रहण है उसका अभाव हो जाना ही परम पुरुषार्थ-रूप मोक्ष है—यह अनेकों दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। इसी आश्रयका वौधक भगवान् गौतमका न्यायसूत्र भी है—

दुःखजन्मप्रयृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानासुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाऽपयागो ।

इसका तात्पर्य यह है कि भ्रान्तरूप मिथ्या ज्ञानसे पहले राग-द्वेष आदि नित्तके दोष प्रकट होते हैं, उनसे

धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होती है, धर्माधर्ममें प्रवृत्ति होनेसे ही देव, मनुष्य और तिर्यग् आदि योनियोंमें जन्म होता है, फिर उससे दुःख होता है। इस प्रकार यहाँ क्रमशः उत्तरोत्तर भावोंमें पूर्व-पूर्व भाव कारण होते हैं। अतः इसी क्रमसे मूलहेतु मिथ्या ज्ञानके नाड़ होनेपर उसके कार्यभूत रागादि दोषकी निवृत्ति होती है, दोषनिवृत्ति होनेपर धर्माधर्मकी प्रवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्तिका अभाव होनेसे किसी योनिमें शरीर-प्रहण नहीं करना पड़ता और शरीरके न होनेसे समूर्ण दुःखोंका नाश हो जाता है।

ऐसी स्थितिमें सभी विचारकोंका मत यही है कि 'समस्त दुःखोंका एकमात्र कारण मिथ्या ज्ञान ही है।' उस मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति कैसे होगी और उसकी निवृत्ति हो जानेपर नित्य निरतिशय आनन्दस्वरूप अपने आत्मभूत परमात्मामें स्थिति किस प्रकार हो सकती है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर भगवान् भाष्यकार यह सूत्रभूत वाक्य कहते हैं—

| मिथ्याज्ञानापायश्च ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानाङ्गचति ।

ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान हुए विना इस जन्म, जरा, मृत्यु और दुःखरूप अज्ञान-जन्य ससारका विनाश सौं करोड़ कल्पोंमें भी किसी तरह नहीं हो सकता ! इससे बढ़कर बुद्धियोगका माहात्म्य क्या कहा जा सकता है ?

इसके अतिरिक्त जबतक ईश और ईश्वितव्यका भेद बना हुआ है अर्थात् 'मैं नियम्य हूँ और ईश्वर मेरा नियामक है' इस प्रकार जीव और ईश्वरमें भेदकी कल्पना है तथा ऐसा होनेके कारण ही हाथमें तलवार उठाये हुए स्वामीके सामने सेवककी भाँति पुरुषका जीवन जबतक भयपूर्ण और पराधीन है तबतक उसे स्वतन्त्रता कैसे प्राप्त हो सकती है ? तथा स्वतन्त्र हुए विना सुखकी बारी भी कैसे की जा सकती है ? स्वतन्त्रताके द्वारा ही कृतार्थ हो जानेके कारण जीवको सुख मिलता है—यह सभीका मत है। वडे खेदकी बात है कि अपनेसे मित्र नियामक और फलदाता ईश्वरकी कल्पना करके उसके अधीन हो उससे डरते हुए पण्डित पुरुष भी मोहित और दुखी हो रहे हैं ! जबतक सम्यक् रूपसे विचारके द्वारा परमार्थतत्त्वका निश्चय नहीं होता तबतक अपनेको नियम्य मानकर अपनेसे मित्र नियामककी अज्ञान-जन्य कल्पना अवश्य ही होगी। अतः परमार्थतत्त्वस्वरूप परब्रह्मका ज्ञान ही नियम्य-नियामकभायसे उसमें आरोपित की हुई अनर्थकी कारणभूत

‘जीवईश्वरभेदकल्पनाका नाशक है, इसलिये तत्त्वज्ञान ही सब साधनोंमें उत्तम और विशेष है। जैसा कि सुरेश-राचार्यने कहा है—

ईशेशितत्त्वसम्बन्धः प्रत्यगज्ञानहेतुजः ।

— सम्भवाने तमोध्वस्तावीश्वराणामपीश्वरः ॥

‘अपने आत्माके परम तत्त्वको न जाननेसे ही नियम्य-नियामकभावकी उत्पत्ति होती है। विचारजन्य सम्यक् ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर तो यह संसारी जीव हिरण्यगर्भ आदि ईश्वरोंका भी ईश्वर हो जाता है।’

जीव, ईश्वर, जगत् इत्यादि नाना प्रकारकी कल्पनाएँ माया-मोहके ही कारण ठुरित होती हैं। तत्त्वज्ञानसे माया-मोहकी निवृत्ति हो जानेपर वैसी भेद-कल्पनाएँ नहीं हो सकतीं। उस समय स्वयं ब्रह्मभावको प्राप्त होकर पुरुष नित्य मुक्त शुद्धस्वरूप अपनी महिमामें विराजमान होता है। इसी वातका हमने भी वदरीजस्तोत्रमें अन्वय-च्यतिरेकन्यायसे निरूपण किया है—

सत्यज्ञानसुखस्वरूपमचलं यद्गस्तु तस्योदरे
विश्वं भाति विचिन्नमूर्ध्वं नगरीतुर्घ्यं निजाविद्यया ।
मायामोहपरिक्षये तु न जगजीवोऽपि वा नेश्वरः
शुद्धात्मात्मनि शिष्यतेऽस्तु वटरीभर्ता गतिस्तद्वपुः ॥

‘नित्य निर्विकार सच्चिदानन्दघन नामक जो वस्तु है उसीके अन्दर गन्धर्वनगरके समान अज्ञानवश जीव, ईश्वर और जगत्के रूपमें यह द्वैत प्रतीत हो रहा है। जिस समय ज्ञान-प्रकाशका उदय होनेसे महामोहरूप तम निवृत्त हो जाता है उस समय न तो जीवकी प्रतीति होती है और न जीवके नियामकरूपसे ईश्वरकी ही प्रतीति होती है, द्वैतका भान तो लेशमात्र भी नहीं होता। उस समय भेदकी कल्पनाओंसे रहित एक अद्वितीय आत्मा ही अपनी महिमामें शेष रह जाता है, ऐसे निर्विकल्प आत्म-स्वरूप श्रीवदरीनाथजी ही भेरे आश्रय हों—यही इस श्लोकका सारांश है।

इस प्रकार भेद-कल्पना और उससे प्राप्त होनेवाले संसाररूप अनर्थकी परम्पराके एकमात्र वीज महामोहका अत्यन्त विनाश करके नित्यानन्दस्वरूप परमात्माके साथ एकताकी प्राप्ति करानेका साधन बुद्धियोग ही है, अतः वही उत्तम और अन्तिम योग है—इस विषयमें विद्वानोंको तनिक भी संशय नहीं है। अन्य जो भक्तियोग,

राजयोग, कर्मयोग, लययोग, जपयोग, क्रियायोग और हठयोग आदि अप्रधान योग हैं वे सभी उपर्युक्त महिमावाले परम पदके प्राप्तक मोहविध्वसक बुद्धियोगके साधन-मात्र हैं। उन अप्रधान योगोंमें भक्तियोग ही सबसे प्रधान है, क्योंकि वह अन्य योगोंकी अपेक्षा जीव ही बुद्धियोग-को उत्पन्न करता है। भक्तियोग जिस प्रकार अपने साधक-को ऊचे उठाता है—परम तत्त्वके निकट पहुँचाता है उस प्रकार अन्य योग नहीं पहुँचाते, अतः परमेश्वरकी भक्तिकी अपेक्षा सभी योग कनिष्ठ है।

यथानुरक्तिर्भवतोऽह्मिसूले

भक्तानुकम्पस्य भवातिहारिन् ।

तथात्र कर्माथं च राजयोगः

सुखेन नैवोन्नमयेत्पुमांसम् ॥

(वदरीशस्तोत्र)

‘हे भववाधाको मिटानेवाले भगवन्। आप भक्त-बत्सल प्रभुके चरणोंमें की हुई भक्ति जिस प्रकार साधकको अनायास ही उत्तिकी ओर ले जाती है उस प्रकार इस लोकमें कोई कर्म अथवा राजयोग पुरुषको अनायास और जीव ही उन्नत पदपर नहीं ले जा सकते।’

गौणी भक्ति और परा भक्तिके भेदसे भक्ति दो प्रकारकी है। यदि परा भक्ति नित्य निरतिशय निर्विकल्पाद्वैतल्लिपिणी और भेदकी गन्धसे रहित हो तो वह पूर्वोक्त अद्वैत ज्ञानरूप ही है, अतः उसकी मोक्षके प्रति साक्षात् साधनता निषिद्ध नहीं है। इसलिये यहाँ बुद्धियोगके साधन-रूपसे गौणी भक्ति ही विवक्षित है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें न्याययुक्त अनेकों श्लोकोंद्वारा उन-उन ख्यालोंपर भक्तिके सर्वोत्तम माहात्म्यका वर्णन किया गया है। उन सभी श्लोकोंको भक्तिप्रधान ‘कल्याण’ पत्रके पाठक भली-भौति सुन और जान चुके होंगे, अतः उनको यहाँ उदाहरणरूपमें उद्धृत करनेका प्रयत्न हम नहीं करते हैं। भागवत-प्रसिद्ध नवधा भक्तिके द्वारा अपनेको प्रिय लगनेवाले भगवान्के किसी भी रूपसे उनकी उपासना करनेवाले पुरुष भगवत्कृपासे अपने पाप और चित्तमलके नाज हो जानेपर विशुद्धचित्त होकर जीव ही भगवान्‌के पारमार्थिक निरूपाधिक तत्त्वको जाननेमें समर्थ होते हैं। भक्तोंके मार्गमें जो-जो विश्व आते हैं उन सबको दूर करके भक्तवत्सल भगवान् सदा ही अपने भन्नोंका पालन करते हैं, अतः राजयोग आदिसे भक्तियोगका माहात्म्य अद्वय ही विद्येष है।

क्योंकि भगवान् की यह प्रतिज्ञा है—

न मे भक्तः प्रणश्यति ।

‘मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता ।’ इस विषयपर निम्नाङ्कितरूपसे मैंने भी विचार किया है—

भक्तिर्यदीयसगुणात्मनि शीघ्रशुद्धे

चित्तस्य साधनमत्सद्गुपार्जनीयम् ।

भक्तो न नश्यति यतोऽवति तं विपद्धयो

भक्तप्रियस्तमनिशं स्वर बद्रिकेशम् ॥

(वदरीशस्तोत्र)

‘भगवान् के सगुण साकार स्वरूपमें की हुई भक्ति अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक चित्तशुद्धिका कारण होती है, अतः सभी मुमुक्षुओंको चाहिये कि निरन्तर उस भक्तिका उपार्जन करें। क्योंकि परमेश्वरके चरणोंमें जिसमें सर्वथा अपना चित्त समर्पण कर दिया है उसका कभी नाश नहीं होता। जो भक्तवत्सल भगवान् इहलोक और परलोक दोनोंको विनष्ट करनेवाली सभी आपदाओंसे अपने भक्तकी सदा ही रक्षा करते हैं उन ऐसे माहात्म्यवाले वदरीनाथजीका है मन ! तू निरन्तर स्मरण कर !’

इसके अतिरिक्त जिस प्रकार भगवान् अभक्तोंको वन्धनका हेतुभूत अज्ञान देते हैं उसी प्रकार वे ही भक्तोंको चित्तशुद्धिपूर्वक ज्ञान भी देते हैं, अतः तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान् की प्रसन्नताके सिवा और कोई भी उपाय नहीं है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि छुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥

तेषामेवानुकूपार्थमहमज्ञानं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानर्दीपेन भास्त्वा ॥

(गीता १०। १०-११)

‘मुझमें सदा चित्त लगाये रहनेके कारण जो लोग अनन्य प्रेमपूर्वक भेरा भजन करते हैं उन्हें मैं शीघ्र ही परम तत्त्वज्ञानरूप योग देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझ नित्यानन्दैकरस निर्विग्रेष अद्वय परब्रह्मको प्राप्त कर लेते हैं। उनके भक्तोंपर ही दया करके मैं प्रत्यगात्मारूपसे उनके अन्तःकरणमें रहता हुआ अत्यन्त प्रकाशमय ज्ञानात्मक प्रशीपसे उनके अज्ञान-नन्य आवरणको नष्ट कर देता हूँ।’

तथा जवतक चित्त पापकलापोंसे कल्पित है तवतक उसमें शुद्धता और शुद्धतासे होनेवाले आत्मप्रकाशकी

लेगमात्र भी सम्भावना नहीं है। कीचड़से मलिन हुए जलमें जिस प्रकार सूर्यमण्डलका प्रतिविम्ब स्पष्ट नहीं दीखता उसी प्रकार पापकल्पित हृदयमें आत्मप्रतिविम्ब तनिक भी शुरित नहीं होता। परन्तु कीचड़ धो देनेसे निर्मल हुए चित्तमें सहज ही आप-ही-आप आत्मतत्त्व प्रकाशित होने लगता है—

ज्ञानसुखद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः ।

यथादर्शनके प्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥

(महाभारत)

‘पहलेके किये हुए पापोंका क्षय हो जानेपर ही सम्यक्-रूपसे पुरुषोंको तत्त्वज्ञान होता है। कीचड़ धुल जानेपर अत्यन्त विमल दर्पणमें जिस प्रकार अपना प्रतिविम्ब स्पष्ट पड़ता है, उसी प्रकार अपनी विमल बुद्धिमें पुरुष अपने आत्माको अपरोक्षरूपसे उपलब्ध करता है।’

धर्माधर्मकी भर्यादाके व्यवस्थापक और धर्माधर्मके फल-दाता सर्वनियामक परमेश्वरकी प्रसन्नताके साथ ही होनेवाली करुणाके बिना किसीके भी पाप-समूहका नाश नहीं हो सकता। अतः भगवान् के अनुग्रहका एकमात्र हेतु उनकी भक्ति ही अन्य सभी कल्याण-साधक योगोंसे श्रेष्ठ है—इसमें कहना ही क्या है ? इसीलिये श्रीमद्भागवतमें कहा है—

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्वक्तियोगतः ।
भगवत्तस्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

‘भगवान् की अनन्य भक्ति करनेसे जिसका चित्त निर्मल हो गया है और चित्तशुद्धि हो जानेसे ही जिसकी विषयोंमें लेशमात्र भी आसक्ति नहीं है ऐसे पुरुषको ही भगवान् के पारमार्थिक स्वरूपका ज्ञान हो सकता है, अन्य किसी साधन-से किसी प्रकार नहीं हो सकता।’

इस प्रकार भक्तिका सर्वोपरि माहात्म्य सिद्ध होनेपर भी कुछ लोग ऐसा कहा करते हैं कि ‘भाष्यकार शङ्कराचार्य-ने, भक्तिशास्त्रका खण्डन किया है, अतः अद्वैतपथके पर्याकार शङ्करभक्तोंको भक्तिमार्गका अनुसरण नहीं करना चाहिये।’ यद्यपि उनका कथन ठीक है तथापि जिनके राग-द्वेषादि मल-विक्षेप दूर नहीं हुए है उनके अन्दर आत्मविवेचनकी शक्ति कैसे हो सकती है ? और मलिन चित्त होनेके कारण किस प्रकार वे आत्मसमाधि कर सकते हैं ? अतः भक्तिमार्ग ही सरल और श्रेष्ठ है तथा उसीका सबको अनुसरण करना चाहिये। भाष्यकार

भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही परमात्माके वहुत बड़े भक्त थे। सबारमें उनके समान भक्त कोई विरला ही हो सकता है। हिमालयसे लेकर सेतुवन्ध रामेश्वरतक भारतवर्षके अन्दर अनेकों प्रसिद्ध-प्रसिद्ध क्षेत्रोंमें अपनी सर्वोत्तम भक्तिसे उन्होंने वहाँके देवताओंको प्रसन्न किया जिससे उन-उन देवताओंने उन्हे प्रत्यक्ष दर्शन और मनोवाञ्छित वरदान दिया—यह बात उनके चरित्रवेत्ताओंसे छिपी नहीं है।

इसके अतिरिक्त यद्यपि उन्होंने वैष्णवोंके भक्तिगान्की प्रक्रियाका तिलशः खण्डन किया तथापि भक्तिका खण्डन कहीं नहीं किया है; क्योंकि भगवान् शङ्कराचार्य स्वयं ही भक्तिको तत्त्वज्ञानका परम साधन मानकर उसके सर्वोत्तम माहात्म्यका स्वरचित शारीरकभाष्यमें पाञ्चरात्रोंके चतुर्वर्षीयादका खण्डन करते समय इस प्रकार समर्थन करते हैं—

यदपि तस्य भगवतोऽभिगमनादिलक्षणमारधन-
मज्जमनन्यचित्ततयाभिप्रेयते तदपि न प्रतिपिद्यते
श्रुतिसृत्योर्तीव्रश्वरप्रणिधानस्य प्रसिद्धत्वाद् ।

अर्थात् ‘अन्यक्तसे भी पर और स्वयं ही नाना प्रकारके व्यूहोंमें स्थित रहनेवाले सर्वात्मा परमेश्वर देवदेव भगवान् नारायणके मन्दिरमें जाना, पूजा आदिके लिये उपयुक्त सामग्रियोंको लेकर उनकी पूजा करना, अष्टाक्षर आदि मन्त्रोंका जप, कीर्तन और ध्यान आदि जो यजनकर्म वैष्णव-शास्त्रोंमें निरन्तर अनन्यभावसे विधान किये गये हैं उनका हम निपेष्ठ नहीं करते, क्योंकि श्रुतियाँ और स्मृतियाँ एक स्वरसे शरीर, मन और वाणीके द्वारा ईश्वरकी विशेष भक्तिका उपदेश करती हैं।’

अतः यह निष्कर्ष निकला कि ‘अनन्यचित्तसे अभ्यास किया हुआ भक्तियोग परम पुरुषार्थकी साधनभूत अद्वैत बुद्धिका उत्पादक होता है और अनायास ही शीघ्रतापूर्वक फलयोग (बुद्धियोग) का, अप्रतिवन्धकभावसे साधक होता है, इसलिये वही सब साधनोंमें परम उत्तम है।’

इसके बाद यमनियम आदि आठ अङ्गोंसे युक्त, चित्तवृत्तिका निरोधरूप फलदाला राजयोग भी सम्प्र॒प्त-से आत्मज्ञानका उपयोगी है इचलिये वह भी उत्तम साधन है।

ततस्तु च पद्यते निष्कल ध्यायमान ।

(मुण्डक०)

‘चित्तशुद्धि होनेके अनन्तर एकाग्रमनसे अखण्ड, अपरिच्छिन्न आत्माका निरन्तर चिन्तन करनेवाला पुरुष अपरोक्षभावसे आत्माका अनुभव करता है।’

अध्यात्मयोगाभिगमेन देवं

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।

(क० उ०)

‘आत्मामें चित्तकी समाधि ही अध्यात्मयोग कहलाता है, उसकी प्राप्ति हो जानेसे बुद्धिमान् पुरुष स्वयप्रकाश आत्माका साक्षात् अनुभव करके हर्ष और शोक आदिसे रहित हो जाता है।’

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचकं स्थिरः ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

युज्ज्ञेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः ।

शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ॥

(गीता ६। १३, १५)

अर्थात् ‘शरीर, मस्तक और ग्रीवा—इन्हे इस प्रकार धारण करे जिससे वे सम एव अचञ्चल हों और स्थानु (टूठ पेड़) की भौति स्थिर होकर नेत्रोंसे अपनी नासिकाके केवल अग्रभागको देखता हुआ अन्य दिशाओंकी ओर दृष्टि न ले जाकर आत्म-भावनामें सलझ हो चुपचाप बैठा रहे। योगनिष्ठ पुरुष इस प्रकार एकाग्र चित्तसे निरन्तर आत्माका अनुसन्धान करता हुआ, मुश्में स्थित हो जाना ही जिसका स्वरूप है ऐसी नित्य निरतिग्राय परमकैवत्यरूपिणी शान्तिको प्राप्त कर लेता है।’

ऐसी अनेकों श्रतियाँ और स्मृतियाँ तत्त्वदर्शनके उपाय-ल्पसे राजयोगका वर्णन करती हैं। वह योग केवल अद्वैत-विज्ञानको ही नहीं, सरुण भक्तिको भी चित्तकी एकाग्रताका सम्पादन करता हुआ सुदृढ करता है। इसी आशयका समर्थक शाण्डिल्यसूत्र भी है—

‘योगस्तूभ्यार्थमपेक्षणात्……..

अर्थात् ‘भक्ति और ज्ञान दोनों ही चित्तशृत्तिकी स्थिरताकी अपेक्षा रखते हैं, अतः योग इन दोनोंका निर्मित एव सहायक होता है।’

जिस प्रकार राजयोग भक्तिका उपकारक है उसी प्रकार भक्ति भी योगके लिये उपयोगिनी है। अतः इन दोनोंमें परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्ध है।

‘ईश्वरप्रणिधानादा’ ‘तस्य वाचकः प्रणवः’ ‘तज्जपस्तदर्थ-भावनम्’
(योगसूत्र)

अर्थात् ‘परमेश्वरमें किये जानेवाले कायिक, वाचिक और मानसिक प्रणिधि, न—भक्तिविशेषसे सन्तुष्ट होकर ईश्वर अपने भक्तपर अनुग्रह करते ह, अतः पाप आदि कारणोंसे होनेवाले विनाएँ और प्रतिबन्धकोंके अभाव हो जानेसे उस भक्तको थोड़े ही समयमें समाधि और उसके फलकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है।’ ‘उस ईश्वरका वाचक—नाम प्रणव—ॐकार है।’ ‘प्रणव-मन्त्रका जप और प्रणव-प्रतिपाद्य ईश्वरका चिन्तन ही पूर्वोक्त प्रणिधान (भक्ति) है।’

इस प्रकार प्रणव-जप और प्रणवके अर्थभूत परमात्माका भलीभौति चिन्तन करनेसे अवश्य ही चिन्त एकाग्र होता है। तदनन्तर बुद्धिमें स्पष्टरूपसे परमात्मा प्रकाशित होते ह, अर्थात् परम तत्त्वज्ञानका उद्भव होता है—यह इन तीनों सूत्रोंका सम्मिलित अर्थ है।

ऊपरके कथनानुसार यद्यपि राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभाव सम्बन्धसे युक्त होनेके कारण कुछ ग्राहकारोद्धारा तुल्यप्रधान वतलाये गये हैं तथापि यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार आदिके द्वारा समाधि-लाभ करना अत्यन्त कठिन, दुष्कर, परिश्रमसाध्य तथा अनेक विशेषोंके कारण विप्रम कार्य है। अतः भक्तिमार्गपर चलना ही अत्यन्त सरल, सुकर तथा परिश्रम एव विशेषसे रहित है। इसलिये भक्तियोग ही शीघ्र फलदायक उत्तम साधन है। यही उन महात्मा चिद्वानोंका भी सिद्धान्त है, जिन्होने कि अनेकों साधनोंका अनुष्ठान स्वयं किया है। इस विप्रमेव्यासजीके निम्नाङ्कित प्रकारके यचन व्यान देनेयोग्य है—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना ।
तत्फलं लभते सम्यक् क्लौ केशवकीर्तनात् ॥

‘अन्य युगोंमें तपस्या, योग और समाधिसे भी जो फल प्राप्त नहीं होता वही फल कलियुगमें मनुष्य केवल भगवान्‌का नाम-कीर्तन करनेसे पा लेता है।’

इस प्रकार यहाँ भक्तियोगकी प्रवानता होनेपर भी चित्तशुच्चनिरोधके विप्रमेव्यासजीका माहात्म्य निषिद्ध नहीं है। सिंह योगियोंकी सहायताएँ प्राणायाम और

प्रत्याहारादि योगसाधनोंका परिशीलन तथा उसके द्वारा समाधिसम्पादन भी कल्याणपदपर आरूढ़ होनेका उपाय होनेके कारण प्रशसनीय ही है। दुःखके साथ कहना पढ़ता है कि जो लोग योगकला-निष्णात सिद्ध महात्माओं-की सहायताके बिना ही अपनी धृष्टताके कारण केवल पुस्तकोंकी सहायतासे प्राणायामादि योगमार्गपर चलते हैं वे महान् अनर्थके गड्ढेमें गिरते हैं। हमें तो उनके दुःसाहस और विपरीत बुद्धिपर आश्र्य होता है।

पूर्वोक्तरूपसे राजयोग और भक्तियोग परस्पर उपकार्य-उपकारकभावसे सम्बद्ध होनेपर भी दोनों ही ज्ञानयोगके उपकारक होते हैं। और अद्वैतबुद्धि (ज्ञान)-योग किसी अन्यका अगम्भूत होकर उपकारक नहीं है, अतः वही ईश्वर-प्राप्तिका प्रयोजक उत्तम और अन्तिम योग है।

अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्मोंका ईश्वरार्पणबुद्धिसे अनुष्ठान करनारूप जो निष्काम कर्मयोग है वह भी रागादि दोषोंको दूर करके चित्त-शुद्धिके द्वारा ज्ञानयोगका साधक होता है, अतः वह भी आदरणीय ही है। इस कर्मयोगका स्वरूप और माहात्म्य श्रीमद्भगवद्गीता और भागवत आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें विस्तारके साथ उपलब्ध होता है। कुछ प्राचीन कर्मठों और किन्हीं-किन्हीं आधुनिकोंकी भी यह सम्मति है कि ‘कर्मयोग ही अन्य सभी साधनयोगोंसे श्रेष्ठ है, अतः उसीका सवको अनुष्ठान करना चाहिये।’

इनके अतिरिक्त अन्य जो क्रियायोग, जपयोग, हठयोग, लययोग आदि हैं वे सभी परम्परासे बुद्धियोगके लिये उपयोगी होनेके कारण आदरणीय हैं और सुमुक्षुओंको उनका भी अनुष्ठान करना चाहिये—इन साधनोंके विषयमें मैं सक्षेपसे इतना ही कहता हूँ। इनका विस्तार करनेका प्रयत्न नहीं करूँगा।

अब अन्तमें मुझे कुछ और भी विशेषरूपसे कहना है—इन सभी योगोंका मूल कारण क्या है, जिसके प्रभावसे उन-उन योगोंमें पुरुषोंकी प्रवृत्ति होती है और क्रमशः बुद्धियोग-सम्पादनके द्वारा परम कैवल्यकी प्राप्ति होती है? इसके उत्तरमें यह वतलाना चाहता हूँ कि सभी योगोंका मूल कारण साधु-सग ही सभी योगोंका मूल-भूत योग है इसलिये उसे मूलयोग कहा गया है। इस प्रकार सत्सगयोग परम्परासे परम बुद्धियोगका भी कारण है, अतः वही परमसे भी परमयोग है, उसकी उत्कृष्टताका

अनुमान कोई भी नहीं कर सकता। अतः सभी लोग इस वातको जान ले कि समस्त कल्याणों और सभी योगोंका आदिकारण सत्सङ्ग ही है। संसाररोगसे पीड़ित हुए मनुष्योंके लिये सत्संग ही सबसे उत्तम व्योगधि है। भय-न्तापसे सन्तत पुरुषोंके लिये सत्संग ही सबसे बढ़कर सहारा है। संसार-सागरमें छवते हुओंको सत्संग ही पार लगानेवाला उपाय है।

निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवावधौ परमायनम् ।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्देवाप्सु मन्त्रात्म् ॥

(श्रीमद्भाग)

‘जिस प्रकार पानीमें छवते हुए प्राणियोंके लिये सुहृद नौका ही एकमात्र सहारा है उसी प्रकार भयङ्कर ससार-समुद्रमें छवते-उत्तराते हुए अत्यन्त दीन-दुखी मनुष्योंके लिये अत्यन्त शान्त ब्रह्मवेत्ता साधु ही सबसे बड़े सहारे हैं।’

इति ।

—१३०५४—

हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग

(लेखक—एक ‘दीन’)

शरीर और उसकी नाडियोंकी शुद्धि और स्वास्थ्यकी रक्षा करना हठयोगका मुख्य उद्देश्य है। आसनसे स्वास्थ्यकी रक्षा और व्याधिनाश होता है और इसका अभ्यास करनेमें कोई भय नहीं। परन्तु इसमें शरीरविज्ञान-का अनुभव पहले आवश्यक है इसलिये अनुभवी पुरुषके द्वारा सीखकर ही अभ्यास करना चाहिये, नहीं तो व्याधि-नाशके बदले व्याधिवृद्धि हो सकती है।

प्राणायाम

विधिपूर्वक किये हुए थोड़े प्राणायामसे दोषोंका नाश होता है। सन्ध्योपासनमें तीनों समय तीन-तीन बार अर्थात् कुल नौ बार प्राणायाम करनेकी विधि है। श्रीमद्भागवत एकादश स्कन्धमें प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामें दस-दस बार अर्थात् कुल तीस बार करनेका आदेश है; किन्तु तीसों बार एक साथ करनेका आदेश नहीं। प्राणायाम करनेसे शरीरके भीतर शुष्कता आती है, इसके लिये अभ्यास करनेवालेको गोघृतका सेवन करना चाहिये। एक प्राणायाम ऐसा है जिसका रेचक व्रज्ञरन्त्रसे मेहदण्डके बीचकी सुपुम्पा नाड़ीमें किया जाता है और जो गुरुगम्य है। प्राणायाम करनेसे उन्माद भी होता है। एक साधकने एक बार मुझसे कहा कि मैंने इतना अधिक प्राणायाम किया कि मेरे रोम-रोमसे प्रणवकी स्थनि होने लगी; किन्तु कोई आन्तरिक अनुभव या लाभ नहीं हुआ। सच तो यह है कि योगके प्रथम और द्वितीय अग यम-नियमकी प्राप्ति और आसनसिद्धिके विना प्राणायाम यित्येष लाभदायक नहीं होता। शास्त्रमें प्रोणायामकी वहुत प्रशस्ता की गयी है, किन्तु यह भी

कहा गया है जैसा कि श्रीमद्भागवत पुराणमें मिलता है कि वायु जीतनेपर भी मनको न जीतनेसे लक्ष्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मन प्राण-वायुसे उच्च है, क्योंकि प्राण-वायु मनका अनुसरण करता है, परन्तु मन प्राणवायु-का अनुसरण नहीं करता। काम-क्रोधसे उत्तेजित होनेपर श्वासकी गति तीव्र हो जाती है और मन शान्त होनेपर प्राण भी शान्त हो जाता है। किन्तु प्राणका निरोध करनेपर भी मनकी चञ्चलता पूरी दूर नहीं होती। इस कारण राजयोगमें प्राणनिग्रह न करके सीधे मनका निरोध किया जाता है, जिससे प्राणका निरोध हठके विना स्वय हो जाता है। हठयोगका भी सिद्धान्त है कि राजयोग ही हठयोगका लक्ष्य है, किन्तु भेद यह है कि हठयोगके ग्रन्थका कथन है कि हठयोगके विना राजयोगकी प्राप्ति नहीं होगी और हठ भी राजयोगके विना व्यर्थ है। परन्तु राजयोगका सिद्धान्त है कि हठयोग राजयोगकी प्राप्तिके लिये आवश्यक नहीं है, वरं किञ्चित् चाघक है।

आपत्ति

हठयोगकी वन्ध-सम्बन्धी क्रियामें भय नहीं है। धोती और जलधोती स्वास्थ्यके लिये उत्तम है, किन्तु इनके बदले ऊपरकी जटरामिके भागको स्वरके ट्यूब (Stomach Tube) के द्वारा साफ करना और मलाशयको एनिमा (Enema) द्वारा साफ करना उत्तम है। हठयोगकी क्रियामें व्रद्धचर्य और साच्चिक भोजन जैसे गेहूं, मूँगकी दाल, दूध, घी आदिका व्यवहार आवश्यक है। जो लोग राजसिक आहार—जैसे तेल, मिर्च, खटाई, लड्डा, कढ़आ और तंज़ा आदि

ददवाग दरने ८, वे रोगप्रल हो जाते हैं, क्योंकि साधकका अन्तर्भूत नहीं कर सकता और इस कारण स्थूलसंरचितके बढ़ने 'योगे रोगभयम्' की उक्ति चरितार्थ लेनी है। इनमें दी रटयोगके सावध केवल कियाके लिये इसमें मर गये अथवा रोगी हो गये। आजकल रटयोगों तत्त्वका जाननेवाले गुरु प्रायः दुर्लभ हैं। यदि उनमें गुरु मिलें और उनकी देखभालमें साधना की जाय तो कोई भय नहीं। केवल हठयोगके अभ्यासमें यह दोष है कि इसके सब साधनोंके स्थूल शरीरसे सम्बन्ध उत्तरके कारण स्थूल शरीरमें जो अज्ञानके कारण आन्माभिमान है, उसका कमी न होकर, उसकी पुष्टि द्वारा है, जो अत्यात्म-पथमें बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। राजयोगमें तो स्थूल शरीरको केवल धोर मायिक मानकर और छेवल आवरण समझकर उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया जाता, उसकी अवहेलना करके केवल गनोमय घोषने अन्वास आरम्भ किया जाता है। दूसरा दोग रटयोगमें वह है कि इसके अधिकांश अभ्यास स्थूल शरीरमें तोनेके कारण इसका जो परिणाम राता है वह सूख्युके समय स्थूल शरीर छोड़ देनेपर देनार हो जाता है और आगे उसका प्रभाव नहीं रहता। इन्हुंने राजयोगकी मानसिक क्रियाका परिणाम जन्म-नन्मान्तरतक बना रहता है, क्योंकि सूख्युके साथ अन्तः-नरणका नाश नहीं होता, वह स्थूल शरीरका त्याग घरनेवाल भी बीजहृपसे वर्तमान रहता है।

चमत्कारकी तुच्छता

प्राचीकर आदाय-तरहके कारण 'ब्रॉडकास्टिङ्ग' द्वारा दूरबी बातें सुनी जानी हैं, जर्मान् विलायतका गना भारतर्थमें उर्ध्वी क्षण सुना जाता है। इस तरह इन यन्त्रों सामग्रीके दूर-अवण या दूसरे प्रकारकी नम रास्त्य धनियों योगे डाग प्राप्त होती है जिन्हें सिँड़ियाँ हैं। इन्हुंने इन गिरियोंका पत्तमार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। यनके गिरियोंका नाम भी प्राप्त थीं। ये योग-नाम हिंदू हैं। इत्यादि गिरियों प्राप्त घरनेकी दृष्टिऐरामेन्द्रना अभ्यास करना गमीनीन नहीं है।

लिये चला जाता है और इस प्रकार समाधिमें जीता पड़ा रहता है। इस अवस्थाको शरीर-वित् (Cateliptic) कहते हैं। वह मेढ़क वर्षा होनेपर इस अवस्थाको त्यागकर पुनः ऊपर आ जाता है। ह्लोरोफार्म देनेपर भी येहोगी हो जाती है और दुरीके आघातका भी प्रभाव मात्रम नहीं होता। इसी प्रकारकी हठयोगकी जड़-समाधि है। एक भेरे परिचित जड़-समाधिसिद्ध-साहुने मुझको लिखा कि मैं अब आत्महत्या करूँगा, क्योंकि मेरा जीवन व्यर्थ हुआ। इस तरहके समाधिसिद्ध अन्य योगियोंके असीम लोभ और तृष्णाकी कहानियाँ सुनी जाती हैं। एक कथा यह प्रसिद्ध है कि एक वाजीगरने घोड़ा पानेका वचन पाकर किसी राजके सामने समाधि लगायी। जड़-समाधि भङ्ग करनेके लिये तो दूसरोंकी धावश्यकता होती है, जिसके अभावमें वह समाधि-भङ्ग कर उठ न सका। अन्तमें राजाने उसे एक गुफामें रख दिया जो कालान्तरमें जमीनके नीचे दब गयी। बहुत दिनों बाद उस राजाके उत्तराधिकारियोंने उस जमीनको खुदवाया। खुदर्दैमें वह गुफा निकली और उसमें समाधिस वह वाजीगर भी मिला। किसी प्रबीण व्यक्तिने ठीक युक्तिसे उसे जगाया। समाधिसे कई सौ वर्ष बाद जागकर भी, कहते हैं, उसने घोड़ा ही पानेकी प्रार्थना की। वह इतनी बड़ी समाधि पानेपर भी अजानी ही रहा। वास्तवमें राजयोगकी चैतन्य समाधि ही यथार्थ समाधि है, जो प्रत्याहारकी सिद्धि होनेपर धारणा और ध्यानसे प्राप्त होती है और जिसकी प्राप्ति होनेपर संयमद्वारा ससारके लिये हितकर ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयोंके ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

कुण्डलिनीका दुरुपयोग

मन और इन्द्रियका दमन किये विना केवल स्थूल शारीरिक अभ्यासके द्वारा कुण्डलिनीका उत्थान और पट्ट-चक्र-वेघ करनेसे बड़ा दानि होती है। भुवलोंके राजसिक-तामसिक क्षुद्र देव नाना प्रकारका मायाजाल फैलाकर, असत्य भाषण करके, असत्य दृश्य दिसाकर, साधकके दोषोंको बढ़ाकर तथा उसे भ्रममें टालकर उसका अब पतन करा देते हैं। यदि साधक इनसे बच भी जाय तो भी वह उस जन्ममें योगोन्नति नहीं कर सकता, क्योंकि उसके चक्र निस्तेज और निशक्त हो जाते हैं। जिस तरह किसी फूलकी कर्णीको तोड़कर उसे मिलानेका दृश्य करनेपर वह फूल झुका जाता है, उसी तरह हठ-

योगकी क्रियासे चक्र नष्ट-से हो जाते हैं।

अनाहत शब्द

कान बन्द कर लेनेपर जो दश प्रकारके शब्द सुनायी पड़ते हैं, वे सूक्ष्म आकाश-तरङ्गोंके शब्द अथवा भुवर्लैंकिके शब्द हैं। ये शब्द भौतिक अथवा भुवर्लैंकिक हैं; यथार्थ अनाहत अथवा सार शब्द अथवा परम नाद नहीं हैं। इन शब्दोंको निरन्तर सुननेसे किसी-किसीके भस्तिष्ठकमें गर्मी आ जाती है और किसी-किसीका अपने ऊपरसे प्रभुत्व जाता रहता है और वह भुवर्लैंकिके माया-जालमें फँस जाता है।

भौतिक चमत्कार

विष-पान आदि चमत्कार भी योग नहीं हैं। शरीरका असाधारण बल-प्रदर्शन भी योग नहीं है, जिसे प्रोफेसर राममूर्ति आदि व्याशामप्रबीण भी दिखाया करते हैं।

अजपा-योग

किसी मन्त्रका दो भाग करके एक भागको पूरक करते हुए अर्थात् श्वासके भीतर जाते समय जपना और पूरक पूरा हो जानेपर वहुत थोड़ी देर रुक जाना अर्थात् कुम्भक करना और फिर रेचक करते हुए अर्थात् श्वासको बाहर निकालते समय मन्त्रके दूसरे भागका जप करना और रेचक पूरा हो जानेपर फिर वहुत थोड़ी देर रुक जाना—यह अजपा-योग है। यदि कोई मन्त्र न हो तो पूरक करते हुए 'सो' का उच्चारण करना (पूरक करते समय स्वाभाविक दगसे 'सो' शब्दका उच्चारण होता है), उसके बाद थोड़ा रुक जाना, फिर रेचक करते हुए 'अहम्' का उच्चारण करना (रेचकके समय श्वास निकलनेसे 'अहम्' शब्दका स्वाभाविक उच्चारण होता है), फिर थोड़ा रुक जाना—इसे भी अजपा-जप ही कहते हैं। इसमें मन्त्रका उच्चारण करने-की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता है केवल श्वासके पूरक और रेचककी गतिपर व्यान देना, जिससे स्वयं मात्रम् द्वयोग कि 'सोऽहम्' मन्त्रका जप स्वतः, विना उच्चारण किये ही, हो रहा है अर्थात् पूरकमें 'सो' और रेचकमें 'अहम्', दोनों मिलकर 'सोऽहम्' का जप विना जप किये ही हो रहा है। यही अजपा-जपयोग है। इस जपमें वृत्ति अन्तरात्मापर रखनी चाहिये अर्थात् वही 'सो' (वह—त्रष्ण) है और वही 'अहम्' (माधकका जीवात्मा) है; दोनों मिलकर

'सोऽहम्' हुआ है। इसमें पूरक और विशेषकर रेचक धीरे-धीरे करना चाहिये।

यह अजपा-योग उत्तम है और इसमें कोई आपत्ति नहीं है यदि यह जीवात्मा और परमात्माके चैतन्य-स्वरूपकी एकता प्राप्त करनेकी दृष्टिसे किया जाय। श्रीगुरु नानकके अनुयायी कतिपय साधकोंमें यह अभ्यास प्रचलित है।

राजविद्या और राजगुह्य-योग

गीताके नवें अध्यायमें जिस राजविद्या-राजगुह्य-योगका उल्लेख है, उसकी प्राप्तिके लिये जिस ज्ञान, भाव और साधनाकी आवश्यकता है, उसका यहाँ संक्षेपमें वर्णन किया जाता है।

(१) जड प्रकृति और उसके कार्य शरीर आदि नाम-रूपात्मक दृश्यको अनात्मा और चैतन्य आत्माका केवल आवरणमात्र जानकर प्राकृतिक पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रखनी चाहिये, अपने चैतन्य आत्मासहित अखिल विश्वव्रक्षाण्डको कारणकी दृष्टिसे चैतन्यघन श्रीपरमात्माका व्यक्त रूप जानकर उसी ज्ञानमें दृढ़ विश्वास रखना चाहिये। इस ज्ञानके आधारपर सम्पूर्ण दृश्यके प्रति राग-द्वेषसे रहित होकर सबके अन्दर चैतन्यरूपमें श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवको वर्तमान देखना चाहिये और इसलिये सबको प्रेम और आदरकी दृष्टिसे देखना और मनसे नमस्कार करना चाहिये (भागवतपुराण स्क० ११ अ० २। श्लो० ४१)। श्रीभगवान्की इन विभूतियोंमें जो विभूति दृश्यको आकर्पित करे, उस रूपमें प्रेमपूर्वक श्रीभगवान्की उपासना और पूजा करनी चाहिये (भागवत ११। २७। ४८)। सर्वत्र भगवद्गावकी इस दृष्टिके अनुसार आचरण करना चाहिये अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय (परदद्व्यापहरण न करना), ब्रह्मचर्य (इन्द्रियनिग्रह), अपरिग्रह (दूसरेकी वस्तु, देनेपर भी, न ग्रहण करना), शौच, सन्तोष आदिका अभ्यास करना चाहिये और इनके विरोधी दुर्गुणोंका त्याग करना चाहिये।

(२) ऊपरके ज्ञानके आवारपर शरीरके प्रति अद्वता और पदार्थोंके प्रति ममताका त्याग कर सब प्रकारके कमोंको श्रीभगवान् अर्थात् अपने इष्टदेवके कर्म समस्कर केवल उन्हेंकी निमित्त निष्ठार्थ—निष्काममावस्थे करना चाहिये और उन कमोंको श्रीभगवान्के चरणोपर अर्पित कर

देना चाहिये। काम करते हुए यह व्यानमे रखना चाहिये कि केवल ईश्वरानुकूल ही कर्म हो, अपनेसे कदापि ऐसा कोई कर्म न हो जो श्रीभगवान्के गुण, वंचन, इच्छा, आदिके विरुद्ध हो। अपने सांसारिक व्यावहारिक कर्म भी श्रीभगवान् अर्थात् इष्टदेवके कार्य समझकर उन्हींके निमित्त निष्कामभावसे करने चाहिये। (श्रीभागवत)

(३) ऊपर कहे हुए जान, भाव और कर्मके द्वारा इन्द्रियोंका निप्रह और शुद्धि, मनका सथम तथा चित्त-शुद्धि करके अहङ्कार, ममता और स्वार्थको भलीभौति त्याग देना चाहिये, दूसरोंके द्वारा किये हुए अपमान, अपकार आदिको धैर्यपूर्वक सहते हुए जन-जनार्दन अर्थात् सब प्राणियोंको श्रीभगवद्गुरु जानकर उनके हितसाधनको ही श्रीभगवान्की परम सेवा मानकर उनका सम्पादन निष्कामभावसे करना चाहिये और विशेषकर सदाचार, जान और भक्तिभावका सब प्रकारसे अपने आचरणद्वारा प्रचार करना चाहिये (भागवत ११। ७। ३८, ४४ तथा ११। ११। २३-२४)।

(४) श्रीभगवान्के जिस सगुण-साकारभावके प्रति हृदयका स्वाभाविक ज्ञाकाव हो, उसीके प्रति अनुरक्त होकर उसके सशक्तिक दिव्य रूपकी (जो सच्चिदानन्दरूप है, प्राकृतिक कदापि नहीं), कीर्तन, सरण, अर्चन, वन्दन, स्तोत्रपाठ, जप आदिके द्वारा निःस्वार्थ प्रेमके साथ नित्य उपासना करनी चाहिये और उसीमे चित्तको निरन्तर लगाना चाहिये। परमात्माके उसी दिव्य नामका निरन्तर मानसिक जप करते हुए ही शरीरसे अन्य काम भी करते रहना चाहिये।

(५) अन्तिम साधना—अपने शरीररूप पिण्ड (छोटे ब्रह्माण्ड) के आध्यात्मिक हृदयमे जो अद्भुष्टमात्रका चेतनात्मा (पिण्डका केन्द्रस्वरूप) वर्तमान है, उसमे, हृदयशुद्धि आदिके द्वारा, स्थिति लाभकर अभ्यासद्वारा उसमे मनको लय करना चाहिये।

(६) तत्पश्चात् उस हृदय-केन्द्रमे अपने गत्किसहित इष्टदेवको स्वापित कर, निरन्तर उनके ध्यानके द्वारा अन्तर्गत्माको उसमे लय करना चाहिये। इन दोनों अभ्यासोंमे ध्यान मुख्य है। इष्टके साकार ध्यानकी मुगमताके लिये इष्टदेवकी मूर्ति या चित्रको ध्यान करते समय अपने सामने रखना आवश्यक है। उस मूर्ति या

चित्रके समान अपने हृदयमे एक मूर्ति नीचेके भागसे लेकर ऊपरके भागतक बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्तिमें मनको सञ्चितेश्वरी गति करना चाहिये, अन्य किसी भावनाको नहीं आने देना चाहिये। यदि कोई दूसरी भावना आवे तो उसे दूरकर फिर चित्रको मूर्तिमें ही सलझ करना चाहिये।

(७) श्रीगिरिकी कृपा होनेपर ध्यानके द्वारा हृदय-कमलमे इष्टके दर्शन होते हैं। श्रीमद्भागवतपुराणमें कथा है कि गुरुके उपदेशके अनुसार हृदयमें ध्यान करनेसे श्रीनारदजीको भगवद्दर्शन हुए। इनके अतिरिक्त दो और सोपान हैं।

(८) जगद्गुरु श्रीशिवकी कृपासे साधकको अपने अदृश्य सद्गुरुके दर्शन हृदयमें ही होते हैं और उनके तेजके प्रकाशसे, अन्तरमें उनसे सम्बन्ध हो जाता है।

(९) श्रीसद्गुरु योगकी यथार्थ उच्च दीक्षाद्वारा साधकका दैवीप्रकृतिके प्रकाशके साथ सम्बन्ध करा देते हैं, जिस प्रकाशकी सहायतासे श्रीसद्गुरु साधकको अविद्यान्धकारसे पार करके उसके इष्टदेवमे उसे समर्पित और युक्त कर देते हैं। यह सद्गुरुकी सहायताके विनाकदापि सम्भव नहीं है।

श्रीसद्गुरु

श्रीशिवका सद्गुरु होना तो लोगोंको विदित है, किन्तु श्रीसद्गुरुका ज्ञान प्रायः आजकल एक प्रकारसे लुप्त हो गया है। गुरु-गीता आदिमें जो गुरुका वर्णन इस प्रकार आया है कि गुरु मिलते ही साधकको ज्ञानचक्षु देकर अज्ञानान्धकारको दूरकर उसे अखण्डमण्डलाकार सर्वव्यास ब्रह्मका साधात्मकार करा देते हैं, गुरु स्वयं त्रिमूर्ति और परब्रह्मके रूप हैं, इस वर्णनसे चिकालदशी महर्पियों और सिद्धोंसे तात्पर्य है जो यद्यपि आजकल कलियुगमें अदृश्य हैं, तथापि इस भूलोकमें ही वर्तमान हैं। कलियुगके आरम्भ होनेपर राजा श्रीपरीक्षितको शाप लगानेके बाद शुकादि ऋषि उनके पास आये थे और फिर उसके बाद जनमेजयके यज्ञमें भी वे सब लोग पधारे थे। ऋषि और सिद्धगण प्रायः शरीर-त्याग नहीं करते, वे तो अमर हैं। लिंगपुराणके सातवें अध्यायमें उन सद्गुरुओंका वर्णन योगाचार्यके रूपमें आया है और उसमें उनके शिष्यों-प्रशिष्योंका भी उल्लेख है। उसमें कहा गया है कि

उन लोगोंका वासस्थान हिमालय और सुमेर पर्वतमें सिद्धाश्रम नामसे पुकारा जाता है। वे सब जगद्गुरु श्रीशिवजीके शिष्यपुत्रके समान हैं। श्रीमद्भागवतपुराणके १२ वें स्कन्धके दूसरे अध्यायके ३७ वें श्लोकमें लिखा है कि श्रीदेवापि और श्रीमरु, जिनका आश्रम कलापग्राममें है, कलियुगमें वर्णश्रमधर्मकी रक्षा करेंगे। श्रीश्रीधर स्वामी इस श्लोककी टीकामें लिखते हैं कि, 'कलापग्रामो नाम योगिनामावासः प्रसिद्धः।' उसी पुराणके स्क० १० अ० ८७ श्लोक ५ से ७ तक और महाभारतके मौसल-पर्वके अध्याय ७ के अन्तमें कलापग्राममें सिद्धोंके रहनेका वर्णन मिलता है। श्रीसनकादि चारों कुमारोंका आश्रम उत्तरमें है और श्रीअगस्त्य दक्षिणमें हैं, यह बात भी प्रसिद्ध है। प्रत्येक मन्त्रके एक-एक ऋषि होते हैं, जिनका आवाहन मन्त्रके पूर्व नामोच्चारणद्वारा कवच अथवा स्तोत्रमें किया जाता है। इसका भाव यह है कि उन ऋषिकी कृपाके विना मन्त्रसिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि उस मन्त्रके यथार्थ आविष्कारक वही हैं और उन्होंने उसे लोगोंके हितके निमित्त प्रकाशित किया। सिद्धान्त यह है कि महर्षि और सिद्धगण वर्तमान हैं और उनका ज्ञान, भक्ति, योग आदिका लोगोंमें प्रचार करना ही एकमात्र कार्य है। इसी कारण इस ऋषि-ऋणसे मुक्त होनेके लिये प्रतिदिन ऋषि-यज करना नित्यकर्मका एक प्रधान अंग माना गया है।

वे लोग अदृश्यमावसे सब जिज्ञासुओंकी सहायता उनकी योग्यताके अनुसार करते हैं और ठीक समय आ जानेपर हृदयमें प्रत्यक्ष दर्शन देकर योगदीक्षा देते हैं। इनमें ऊपर कहे हुए दो ऋषि श्रीदेवापि और श्रीमरु विशेष कार्य कर रहे हैं। क्योंकि आगामी युगमें उनमेंसे एक व्यास और एक मनु होंगे। अतएव वे लोग योग्य साधकोंको चुनकर अपने भावी कार्यके लिये तैयार कर रहे हैं। श्रीभगवान्ने प्रभाससे प्रस्थान करनेके पूर्व श्रीउद्देश्वरको इन्हीं दोनों ऋषियोंसे अथवा श्रीमरुसे उपदेश लेनेको कहा था। जो लोग इनको सद्गुरु मानकर इनके साथ प्रेम करेंगे और इनके पादपद्मोंका ध्यान करेंगे, उनका इनकी प्राप्तिसे विशेष उपकार होगा।

राजयोगकी विशेषता

इस राजविद्या-राजयोगके मार्गको एक विशेषता यह है कि इसके सिद्धान्त और साधन सर्वमान्य हैं और इसकी उपयोगितामें किसी व्यास्तिकको किसी प्रकारका

कदापि सन्देह नहीं हो सकता। गीतामें कहा है कि इस धर्मका योड़ा भी आचरण बहुत बड़े भयसे बचा देता है (२।४०)।

आध्यात्मिक अनुभवकी गोपनीयता

आध्यात्मिक अनुभवको प्रकाशित करनेसे अनुभवका आना बन्द हो जाता है, क्योंकि प्रकाशित करनेका मुख्य उद्देश्य दूसरोंसे प्रशंसा और मान-बढ़ाई प्राप्त करना ही होता है जो अध्यात्म-मार्गका वाधक है। साधकको प्रशंसा, मान, बढ़ाई आदिको विष समझना चाहिये और निन्दाको ही अच्छा मानना चाहिये। प्रशंसा, मान आदिसे अहङ्कार-की वृद्धि होती है। अतएव उच्च साधक यदि आवश्यक समझकर किसीसे अपना अनुभव कहते हैं तो वे साथ ही दूसरोंसे कहनेका निषेध भी कर देते हैं। यहाँ हम योड़े-से अनुभवोंको, जिनका पता हमें मिला है, अनुभवीका नाम-स्थान विना दिये ही, इस निमित्त दे रहे हैं कि साधक यह समझ जायें कि वर्तमान समयमें भी श्रीसद्गुरुलोग सहायता कर रहे हैं और जो लोग उनपर विश्वास करके उचित पथका अनुसरण करेंगे उन्हें अपनी योग्यताके अनुसार उनसे अवश्य सहायता मिलेगी। साधकोंको उचित है कि वर्तमान समयमें नकली और केवल धन हरण करनेवाले अथवा मान-बढ़ाई चाहनेवाले गुरुओंके फेरमें न पड़कर सीधे सद्गुरुपर विश्वास करके उनके भरोसे निर्दिष्ट पथका, जिसका वर्णन गीतामें है, अनुसरण करें।

कर्तिपथ साधारण आध्यात्मिक अनुभव

महात्मा श्रीविजयकृष्णजी गोस्वामीने एक बार अपने एक परम योग्य व्रस्तचारी त्राप्यण शिष्यको योगदीक्षा देते समय जब उसमें शक्ति-सज्जार किया तब शिष्यको मालूम हुआ कि उसका सम्पूर्ण मेवदण्ड स्वाधिष्ठानसे लेकर भ्रमध्यतक ज्वालासे भर गया है। यह कुण्डलिनीके उत्थानका चिह्न है, और कुण्डलिनीके उत्थानकी यह उत्तम प्रकारकी दीक्षा है जो सद्गुरुद्वारा प्राप्त होती है, न कि मौतिक किथाद्वारा।

आजकल ऐसे साधक वर्तमान हैं, जिन्होंने उपर्युक्त श्रीमरु अथवा श्रीदेवापिसे सम्बन्ध प्राप्त किया है तथा उनके दिव्य न्यून देवे हैं। ऐसे सम्बन्धप्राप्त उच्च साधककी संज्ञा इस लेखमें 'सत्तुरूप' रखती जायगी।

एक ब्राह्मणी स्त्रीको हृदयके भीतर सद्गुरुके दर्शन होने लगे। उसने जब यह बात एक सत्पुरुषसे कही तो उन्होंने बताया कि वह इन्हींमें से एक है। उस स्त्रीको सद्गुरुने इष्टका ध्यान-क्लोक बताया और सीधे उपदेश दिया, जिससे वह वही उच्च कोटिकी साधिका हो गयी।

एक परोपकारी योग्य ब्राह्मणको सत्पुरुषद्वारा मन्त्रदीक्षा मिलनेपर और कई मासतक अद्वा और भक्तिके साथ ध्यानोपासना तथा जप नियमपूर्वक ब्राह्ममुहूर्तमें करनेपर सद्गुरु, तत्पश्चात् इष्ट और मन्त्र-प्राणिका साक्षात्कार हुआ और उन लोगोंके द्वारा उन्हें आवश्यक उपदेश मिलने लगा।

एक जनसेवाव्रतमें परम परायणा युरोपीय स्त्रीको एक सद्गुरुने एक सत्पुरुषसे उपदेश लेनेको कहा और जो सङ्केत उन्होंने दिखाया, उसके अनुसार उस सत्पुरुषने उसे मन्त्रदीक्षा दी।

एक परोपकारी सच्चिद्रित्र कायस्थ महाशयको अभ्यन्तरमें श्रीसद्गुरुके दर्शन होने लगे। पहले तो उन्होंने नहीं पहचाना, किन्तु पीछे एक सत्पुरुषद्वारा उन्हे मालूम हुआ कि वह श्रीसद्गुरु हैं। उनको एक बार हैजेकी वीमारी हुई और वीमारीमें श्रीसद्गुरुने आकर उनके पेटपर अपना हस्तस्पर्श कर दिया जिससे वीमारी जाती रही। उन्होंने उस समय स्पष्ट शब्दोंमें यह भी कहा कि जिस कारणसे यह रोग हुआ, उसे फिर कभी न करना।

एक परम सच्चिद्रित्र वैश्य साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे। उससे उनका हृदय-चक्र जागा और उसका स्पष्ट अनुभव भी उन्हें अपने अन्दर होने लगा।

एक श्रीरामोपासक साधक, जिनका एक सत्पुरुषसे धनिष्ठ सम्बन्ध है, अपने हृदयमें उस सत्पुरुषको देखते हैं और उस सत्पुरुषके हृदयके भीतर श्रीसद्गुरुको शिष्य-सहित देखते हैं।

एक साधक एक सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करने लगे, किन्तु उनको श्रीसद्गुरुमें विश्वास नहीं था। उन्होंने श्रीसद्गुरुको अपने भीतर देखा और फिर अनेक महात्माओंको देखा और उन सबसे बातचीत भी की। उन्होंने श्रीचैतन्य महाप्रभुके भी दर्शन प्राप्त किये। उन्हें उपदेश यहो मिला कि नामका प्रचार करो और द्वेष करो। किन्तु ये सब धटनाएँ स्वप्नमें हुईं।

एक कायस्थकी विधवा स्त्री श्रीशबरीकी भौति एक सत्पुरुषकी सेवा करती है और जब सत्पुरुषसे पृथक् रहती है तब ध्यान-जप करती है। वह भी अपने इष्ट और श्रीसद्गुरुको अपने हृदयमें देखती है।

एक कायस्थ जिज्ञासुने उपयुक्त उपायद्वारा योग्य गुरुका पता जाननेकी चेष्टा की और उन्हें सो जानेपर एक सत्पुरुषका नाम स्वर्णक्षरोमें लिखा हुआ दिखायी पड़ा। उन्होंने फिर उन्हींसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक दूसरे कायस्थ महाशयने स्वप्नमें सत्पुरुषको देखकर उनसे मन्त्रदीक्षा ली।

एक ब्राह्मण युवकने सत्पुरुष और श्रीसद्गुरुका स्वप्नमें देखा और पीछे वह उन सत्पुरुषके पास आकर कृतकृत्य हुए।

एक ब्राह्मणको सत्पुरुषसे मन्त्रदीक्षा लेकर ध्यान-जप करनेसे अभ्यन्तरमें अपनी इष्टदेवी आदिके दर्शन हुए।

एक ब्रह्मचारी ब्राह्मण उत्तम साधक थे। उन्होंने हठयोगका अभ्यास किया, किन्तु शान्ति नहीं मिली। उसके बाद वह एक भक्तकी सगतिमें आकर श्रीभगवान्को सुन्दर विभूतिके उपासक हुए। परन्तु फिर भी उनकी आन्तरिक पिपासा शान्त न हुई, बल्कि वह और भी बढ़ती ही गयी। आखिर उनकी व्याकुलता असह्य हो उठी और उनकी अन्तरात्माने शान्ति-पथ पानेके निमित्त क्रन्दन किया। तब स्वप्नमें एक विशेष सद्गुरुने दर्शन देकर उनसे एक व्यक्तिके निकट जाकर उपदेश लेनेको कहा। वहाँ उनको श्रीसद्गुरुका परिचय तथा राजयोग, उपासना, ध्यान आदिका उपदेश मिला और सत्पुरुषका भी समागम प्राप्त हुआ। फिर वह अभ्यास करने लगे और उसके बाद उक्त श्रीसद्गुरु प्रायः ही उनसे स्वप्नमें यह कहते थे कि जो उपदेश तुम्हें मिला है, वही ठीक मार्ग है, उसीका अनुसरण करो। कभी-कभी स्वप्नमें श्रीसद्गुरुद्वारा उनको चेतावनी भी मिलती थी कि अभ्यासमें सशय मत करो और उपदेशके अनुसार काम करते रहो। किन्तु किसी हठयोगीकी सगतिसे वह सिद्धिके लोभमें पड़ गये और पुनः हठयोगका अभ्यास करने लगे। अन्तमें फिर सँभलनेकी पूरी चेष्टा की गयी, किन्तु हैजेके रौगसे उन्हें शरीर त्यागना पड़ा।

जब श्रीसद्गुरु देखते हैं कि किसी साधकका वर्तमान शरीर साधनके योग्य नहीं है, तब वह परिवर्तन करा देते

हैं और प्रायः हैजेके रोगसे ही ऐसा परिवर्तन होता है।

एक ब्राह्मण प्रायः २१ वर्षसे जप-ध्यान करते थे, किन्तु उसके तत्त्वको नहीं समझते थे। जब उनको तत्त्व तमसाया गया और उन्होंने उचित ढासे अभ्यास किया तब उन्हें अपने भीतर प्रकाश दिखायी पड़ा और सत्पुरुष के सम्बन्धसे उनके अन्तरकी दृष्टि बहुत कुछ खुल गयी।

एक वैष्णव साधक जालन्वर-बन्ध करके हृदयमें प्रातः-सायं नियमसे जप-ध्यान करते हैं और इसके फल-स्वरूप हृदयमें प्रकाश और प्रकाशके अन्दर इष्टदेवको देखते हैं। उनसे दीक्षाप्राप्त शिष्य भी प्रायः ऐसा देखते हैं।

एक शूद्रको, जो सत्पुरुषसे दीक्षा लेनेकी प्रतीक्षामें बैठे थे, यह सुनायी पड़ा कि अमुक देवताकी युगल मूर्तिका मन्त्र ले। उस मन्त्रको उन्होंने लिया और उसके थोड़े दिनके अभ्याससे ही—उन्हें अपने हृदयमें इष्टकी युगल मूर्तिके दर्शन हुए—तथा स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन मिले। उन्होंने श्रीसद्गुरुको दो शिष्योंके सहित ध्यान-बस्ति देखा और वहाँपर जलती हुई आरती तथा होमकी ज्वाला भी देखी।

एक कायथ्यको किसी सद्गुरुने आदेश दिया कि तुम विष्णु-मन्त्र ग्रहण करो। जब उनके कुलगुरु उन्हें परम्परानुसार शक्ति-मन्त्र देने लगे तब उन्होंने उनसे कहा कि मैं विष्णुका मन्त्र लैंगा। गुरुने तदनुसार उन्हे विष्णु-मन्त्र दिया। उनका ऐसा विश्वास है कि उनके वह श्रीसद्गुरु श्रीनारदजी हैं, जिन्होंने उनसे ऐसा करनेको कहा।

एक हरिजन एक कवीरपन्थी गुरुसे मन्त्र लेकर नित्यनियमपूर्वक रात्रिके तीसरे पहरमें भ्रूमध्यमें ध्यान करते हुए मन्त्र जपने लगे। पाँच-छः महीने बाद उन्होंने किसी महापुरुषको देखा जो शायद श्रीकवीर हो सकते हैं। तबसे वह रोज रातमें भ्रूमध्यमें ध्यान करनेपर उन्हें देखने लगे। कुछ दिनों बाद एक दूसरे महापुरुष प्रकट हुए जो श्रीबुद्धके समान थे। कुछ दिन उन्हें देखनेके बाद उन्होंने एक और तीसरे श्रीसद्गुरुको देखा। उसके बाद वह एक ऐसे महात्माको देखने लगे जिनके नेत्रोंसे अशु चलते थे। ‘कल्याण’ के किती विशेषांकमें महात्मा श्रीसियारामदासजी-के चित्रको देखकर उन्होंने कहा कि आनकल मैं इन्होंको ध्यानमें देखता हूँ। पता लगानेपर मालूम हुआ कि शीवितादस्यामें उक्त महात्माके नेत्रोंसे प्रायः अशु चहा करते थे। किर उन्होंने श्वेतर्कण मुकुटधारी युगल मूर्ति

(छी-पुरुष) देखना आरम्भ किया। इसके बाद भी परिवर्तन हुआ और हो रहा है। किन्तु अब यह आदेश है कि किसीसे इन अनुभवोंको न कहो।

एक विरक्त साधुको स्वप्नमें श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और मन्त्रोपदेश भी मिला। वह क्रमशः उन्नति करने लगे; किन्तु पीछे उपनिषदोंके अर्थको न समझ निर्गुणवादमें पड़ गये और उन्होंने अपने पहलेके अनुभवोंकी अवहेलना कर दी।

एक जिज्ञासुको हठयोगके मुरुने कहा कि हठयोगके लिये—पूर्ण ब्रह्मचर्यकी अवश्यकता है; इसलिये जवतक तुम्हें पुत्र उत्पन्न नहीं हो जाता तबतक अभ्यास नहीं बताया जायगा। एक श्रीसद्गुरुने उनसे कहा कि अब हठयोगीसे जाकर कहो कि पुत्र हो गया, उपदेश दीजिये। उन्होंने ऐसा ही किया और इसके बाद उन्हें समाचार मिला कि पुत्र उत्पन्न हुआ है। थोड़े ही कालतक हठयोगका अभ्यास करनेपर उन्हे यह आदेश मिला कि अमुक देवीके स्थानमें जाकर केवल पयाहार करके अभ्यास करो। ऐसा करनेके बाद हठयोग छोड़कर उपासनाध्यान आदि राजयोगका अभ्यास करनेका उपदेश मिला। किन्तु उन्होंने हठयोगके अभ्यासका त्याग नहीं किया तथा मालूम होता है, राजयोगका अभ्यास करनेमें ढिलाई की। कुछ कालके बाद रोगग्रस्त होकर उन्होंने शरीरका त्याग किया।

ब्रजके एक ब्रह्मचारीको भी एक श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए थे।

एक सेठको भी, जो विरक्त स्वभावके साधक थे, श्रीसद्गुरुके दर्शन हुए और उपदेश भी मिला।

अधिकांश साधकोंको कुछ दिन साधना करनेके बाद, यदि वे शैव न हों तो, स्वप्नमें शिवमूर्ति, शिवलिङ्ग, शिव-पूजा आदिके दर्शन होने लगते हैं, जिसका भाव यही है कि अब उनको अपने इष्टकी उपासनाके साथ-साथ श्रीगिरजीकी भी उपासना जगद्गुरुके रूपमें करनी चाहिये, जिसमें उनकी कृपासे इष्टकी प्राप्ति ही।

इन अनुभवोंके सम्बन्धमें एक बात जाननेकी यह है कि यह कोई नियम नहीं है कि जितने लोग सत्पुरुषसे दीक्षा, उपदेश लेते हैं, उनमें सबको अनुभव होता है—अधिकांशको नहीं होता, थोड़े लोगोंको ही होता है। जिस साधकको इष्टकी दीक्षा मिल जाती है, उसके लिये

आवश्यक नहीं है कि वह पुनः दीक्षा ले, बल्कि उसे नहीं ही लेनी चाहिये, यदि उसे इष्टका परिवर्तन न करना हो। हाँ, उपासना-ध्यानके विषयमें उपदेश लेना चाहिये। प्रथम तो योग्यता न प्राप्त होने और अभ्यास ठीक प्रकारसे न करनेके कारण अनुभव नहीं होता, दूसरे, जिसे कुछ अनुभव न हो उसे यह नहीं समझना चाहिये कि उसने कुछ भी उन्नति नहीं की। बात यह है कि उपासना-ध्यानके द्वारा उन्नति विशेषकर सूक्ष्म और कारण शरीरकी होती है। यदि स्थूल ग्रीर शुद्ध और उन्नत न हो तो उसको भीतरके शरीरोंकी उन्नतिका पता भी नहीं मिलता।

ऊपरके अनुभव लिखनेका उद्देश्य किसीकी विज्ञान करना नहीं है। केवल इसी निमित्त इन्हें यहाँ लिखा गया है कि साधकोंको यह दृढ़ विश्वास हो जाय कि श्रीसद्गुरु, सत्पुरुष सहायता करनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। यह हमलोगोंका दोष है कि हम सहायता पानेकी उचित योग्यता प्राप्त करनेके निमित्त चेष्टा नहीं करते, इधर-उधर केवल भटकते फिरते हैं और सुलभ मार्गके लोभवश स्वार्थियोंके पड़ोमे पड़ जाते हैं। जो प्रारम्भिक मार्ग है, उसका पता, अनुगमन करनेकी साधना आदिका वर्णन गीता आदिमें स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है। उसीके अनुसार अभ्यास करते हुए साधन-पथमें अग्रसर होना चाहिये।

इस लेखमें भी आवश्यक साधना बतलायी गयी है, जिसके अनुसार अभ्यास करनेसे सहायता मिल सकती है। अतएव इन अनुभवोंके विषयमें कोई व्यक्तिगत जिज्ञासा नहीं करनी चाहिये।

एक परमावश्यक और परम स्मरणीय बात यह है कि श्रीसद्गुरु वे ही हैं जिन्होंने निर्वाण पानेकी योग्यता प्राप्त करके भी ससारके हितसाधनके निमित्त निर्वाणका त्याग कर दिया। इस परम त्यागके बादसे वे संसारका सब तरहसे कल्याण करनेके ब्रतमें लगे हुए हैं और इस ब्रतको पूरा करनेके लिये वे सर्वदा सब व्यक्तियोंपर अपनी दृष्टि रखते हैं तथा यथासमय सबकी सहायता करते हैं। इस कारण उनकी कृपा-दृष्टि विशेषरूपसे उन्हीं व्यक्तियोंपर होगी जो स्वयं भी उनके इस ससार-हित-कार्यके करनेमें निष्काम-भावसे प्रवृत्त हों अर्थात् उनकी साधनाका मुख्य उद्देश्य अपना स्वार्थसाधन न हो, बल्कि जन-जनार्दनकी सेवा करना हो और उसीके निमित्त योग्यता प्राप्त करना साधनाका मुख्य लक्ष्य हो, और जो साथ-साथ यथाशक्ति और यथावसर ऐसी सेवा करते भी जायें। जनताकी पारमार्थिक उन्नतिके निमित्त यत्क करना ही इस निष्काम सेवाका मुख्य लक्ष्य होना चाहिये, क्योंकि पारमार्थिक उन्नति ही यथार्थ उन्नति है।

समाधियोग

(लेखक—श्री धीधर मजूमदार यम० ५०)

पनिषदोंके द्रष्टा ऋषियोंने ध्यानवलसे अपने अतीन्द्रिय ज्ञानद्वारा इस वातको अवगत किया कि बाहरी समस्त चराचर जगत्‌के एकमात्र कारण अनन्त चेतन ब्रह्मके दो रूप हैं—एक व्यक्त रूप और दूसरी वह आम्यन्तर चेतना जो वात्य, व्यक्त जगत्‌को अनुग्राणित करती है, सत्ता-स्फुर्ति देती है। पहला रूप इन्द्रिय-

गोचर है और वात्य प्रपञ्च (plenomenon) कहलाता है और दूसरा अतीन्द्रिय है और प्रत्यक् चैतन्य (noumenon) कहलाता है। वात्य प्रपञ्च परिणामी है और प्रत्यक् चैतन्य अपरिणामी है।

‘ये सब दृश्य पदार्थ विनाशी हैं, अन्तरात्मा अविनाशी

कहलाता है। निर्विशेष निरञ्जन परब्रह्म अक्षर है।’ (योगशिखोपनिषद् ३ । १६)

जहाँ वात्य प्रपञ्च है वहाँ प्रत्यक् चैतन्य भी है। दूधमें मक्खनकी भौति प्रत्यक् चैतन्य वात्य प्रपञ्चमें सर्वत्र सर्वदा व्याप्त है, किन्तु प्रत्यक् चैतनके सर्वोशमें सर्वदा वात्य प्रपञ्च नहीं है। दूधके अणु-अणुमें मक्खन है, किन्तु जब-तक दूध मथा नहीं जायगा तबतक उसमें मक्खन दृष्टिगोचर नहीं होगा। इसी प्रकार समाधिका आश्रय लिये विना प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार नहीं होता। जाग्रत् अवस्थामें क्षित मनको इन्द्रियोंके द्वारा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्दके रूपमें वात्य प्रपञ्चका प्रत्यक्ष होता है, उस समय प्रत्यक् चैतन्य अन्तर्हित रहता है। किन्तु प्रत्यक् चैतन्यका साक्षात्कार इन्द्रियोंके निरोधसे अर्थात् निश्च मनके द्वारा समाधि-अवस्थामें सच्चिदानन्दरूपमें



होता है; उस समय इन्द्रियों निश्चेष्ट हो जाती हैं और वास्तु प्रपञ्च तिरोहित हो जाता है।

'जब मनुष्य परमात्माको परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।' (जावाल दर्शनोपनिषद् १० । १२)

इस प्रकार एक समयमें ब्रह्मके एक रूपका ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्मके अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूपका ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूपका अपलाप करते हैं।

हमें दृश्य प्रपञ्चकी प्रतीति इन्द्रियोंके द्वारा होती है; किन्तु ये इन्द्रियों अर्थात् चक्षु, श्रोत्र, ग्राण, रसना और त्वचा मनके सहयोग विना व्यापार नहीं करती। उदाहरणातः यदि हमारा मन किसी दूसरे विचारमें सलझ हो तो हमारे नेत्र खुले रहनेपर भी तथा किसी खास वस्तुपर हमारी दृष्टि जमी रहनेपर भी हमें उस वस्तुका प्रत्यक्ष नहीं होता। यही हाल दूसरी इन्द्रिया—श्रोत्र, ग्राण, रसना और त्वचाका है। इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका अनुसन्धान करनेके अतिरिक्त मन प्राक्तन संस्कारोंकी ही आवृत्ति करता हुआ अथवा आगे मिलनेवाले पदार्थोंकी चिन्ता करता हुआ क्षित अवस्थामें रह सकता है। चित्तकी वृत्तियोंका निरोध कर देनेसे, अर्थात् मनको सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य कर देनेसे—इसीको चित्तकी निरुद्ध अथवा समाहित अवस्था कहते हैं—सारी इन्द्रियों निर्व्यापार ही जाती हैं, जिससे वास्तु प्रपञ्चका दीर्घना दुन्द हो जाता है। परिणामी वास्तु प्रपञ्चके अदृश्य हो जानेपर उससे इतर अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यकी उपलब्धि होती है। अर्थात् वास्तु आवरणके दृष्टिके सामनेसे हट जानेपर भीतरकी सार वस्तु प्रकट हो जाती है।

'चित्तके (वास्तु विषयोंका अनुसन्धान करते समय) चञ्चल होनेपर ससारका भान होता है। मनका निश्चल होना ही सुकृति है। अतः हे विवक्ते नियन्ता! परम तत्त्वके ज्ञानसे ही मनको सिर करना चाहिये।' (योग-शिखोपनिषद् में महेश्वरका ब्रह्मके प्रति उपदेश देखिये ६ । ५८)

'चञ्चलतासे शून्य मन अमर कहलाता है; वही तप है और उसीको मोक्ष कहते हैं—यह शाश्वोंका सिद्धान्त है।'

सब प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य हो जानेका नाम यह 'समाधि' है, जिस समाधिमें मन सर्वथा निष्कल हो जाता

है और जीवात्मा और परमात्माका भेद मिट जाता है। जीवात्माका प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापी अन्तरात्मामें, ब्रह्मके अतीन्द्रिय रूपमें स्थित होना ही समाधि है। जीवात्माके अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा, जिसे निर्विकल्प 'परम अहम्' भी कहते हैं, क्षुद्र अह-प्रत्ययसे आच्छान्न रहता है, जो देहाभिमानका कारण है। इस क्षुद्र अह-बुद्धिके निवृत्त हो जानेपर अथवा चूर्ण हो जानेपर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम अहम्'का उदय होता है। अतः समाधिलाभके लिये क्षुद्र अहबुद्धिकी निवृत्ति आवश्यक है। दूसरे गत्वांमें क्षुद्र अहबुद्धिकी निवृत्ति ही समाधि है, जिस समाधिमें हृदयकी गोँठ खुल जाती है और चित्तका विस्तार होकर उसे पूर्णताकी अवस्था प्राप्त हो जाती है।

'जीवात्मा और परमात्माकी एकत्राके ज्ञानके उदयको ही 'समाधि' कहते हैं।' (जावाल दर्शनोपनिषद् १० । १ और अन्नपूर्णोपनिषद् ५ । ७५)

'जीवात्माकी परमात्माके साथ एकता ही, जिसमें सङ्कल्पकी सारी क्रिया ही नष्ट हो जाती है, 'समाधि' कहलाती है।' (सौभाग्यलक्ष्म्यपनिषद् १६)

'मुनियोंके द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्थाका नाम है जिसमें न तो मनकी क्रिया है और न बुद्धिका व्यापार है, जो आत्मज्ञानकी अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका वाप है।' (मुक्तिकोपनिषद् २ । ५५)

'ब्रह्माकारवृत्तिके द्वारा अथवा सर्वसङ्कल्पनिवृत्तिके द्वारा चित्तकी वृत्तियोंको सर्वथा भ्रूल जानेका नाम ही 'समाधि' है।' (तेजोविन्दपनिषद् १ । ३७)

'हे ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, 'समाधि' शब्द उस सशयरहित मानसिक पूर्णताका वाचक है जिसमें आसक्तिका सर्वथा अभाव है और जिसमें सदसद्विवेक भी नहीं है।' (अन्नपूर्णोपनिषद् १ । ५०)

जीवात्मा परमात्मलूप महासागरके बक्षःस्यलभ नृत्य करते हुए एक तरङ्गके समान है। तरङ्गके पीछे समुद्ररूप महान् आधार है। इसी प्रकार जीवात्माके पीछे परमात्मलूप महान् आधार है। वासना अथवा उससे उत्पन्न होनेवाली अट्टबुद्धि ही तरङ्गकी सत्ताको अक्षुण्ण रखती है। जिस क्षण वासना नष्ट हो जाती है और उसके साथ ही अदृप्रत्यय भी निवृत्त हो जाता है उसी क्षण तरङ्ग यिर्णीन

होकर सागरमें मिल जाती है, अर्थात् जीवात्मा परमात्मामें प्रवेश कर उसके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है।

समाधिसिद्धि तथा मोक्षके लिये आवश्यकता है मनको निरुद्ध करनेकी, यामनाशून्य करनेकी अर्थात् सर्वथा सङ्कल्पयन्त्रय दोनेकी। इस सङ्कल्पशून्यताको ही जीवात्माकी प्रत्यक् चैतन्यमें, सर्वव्यापक अन्तरात्मामें, व्रहके अतीन्द्रिय भावमें स्थिति कहते हैं।

‘प्रत्येक वस्तुको ब्रह्मसे अभिन्न देखना ही जान है, मनको निर्विधय करना ही परमात्माका ध्यान है, मनोमलके नाशको ही स्नान कहते हैं और इन्द्रियनिग्रहका नाम ही शौच है।’ (स्कन्दोपनिषद् ११ और मैत्रेयुपनिषद् २। २)

‘जब निश्चल मनके द्वारा जिस मनकी चिकित्सा करनेसे मनकी तृच्छियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तभी सुदुर्लभ प्राप्तव्रतका साक्षात्कार होता है।’ (योगशिखोपनिषद् ६। ६२)

‘जिस क्षण हृदयमें भरी हुई सारी कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं उसी श्रण यह मरणधर्म मनुष्य अमृतत्व लाभ कर लेता है और इसी जीवनमें ब्रह्मानन्दका आस्वादन करता है।’ (वृहदारण्यकोपनिषद् ४। ४। ७)

‘जब इस धिस मनको सङ्कल्पाभावके शब्दसे शान्त कर दिया जाता है तभी (और उससे पूर्व नहीं) समग्र नर्यगत निर्विशेष व्रहका साक्षात्कार होता है।’ (महोपनिषद् ४। ९। १)

‘जिस भाग्यवान् पुरुषकी आत्मामें रति हो गयी है, जिसका मन पूर्ण और शुद्ध है और जिसे अनुत्तम यिद्वाम प्राप्त हो गया है उसके लिये इस संसारमें कोई भी कामनाकी वृन्दु नहीं रह जाती।’ (महोपनिषद् २। ४। ७)

‘जो चित्त आत्मा(परमात्मा)में निवेशित हो गया है और जिसके सारे मल समाधिके द्वारा धूल गये हैं उसके आनन्दका याणीद्वारा वर्णन नहीं हो सकता, केवल अन्तःकरण-द्वारा अनुभव हो सकता है।’ (मैत्र्युपनिषद् ६। ३। ४)

‘जीवात्मा और परमात्माकी एकताकी अवस्था जिसमें शाना, शान और जीवरूप त्रिपुटीका अभाव है, जो परमानन्दरूप है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।’ (जाणिष्ठव्यापनिषद् १। १०)

उपनिषदों तथा पातञ्जल योगशूलमें समाधिकी अपस्था प्राप्त फरने पर्यात् मनको निरुद्ध ध्ययना सब

प्रकारके सङ्कल्पोंसे सर्वथा शून्य करनेको अनेक विधियाँ बतायी गयी हैं। परन्तु मेरी समझसे उन सबमें श्रेष्ठ तथा सुगम विधि है प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा अथवा सर्वव्यापी अन्तरात्माको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने अथवा उनके अन्दर आत्मनिष्ठेप करनेकी मन-ही-मन भावना और अभ्यास करना। सरण रहे कि प्रत्यक् चैतन्य, निर्विकल्प ब्रह्म, परमात्मा और सर्वव्यापी अन्तरात्मा आदि सारे ग्रन्थके अतीन्द्रिय रूपका ही लक्ष्य करते हैं। इस पूर्ण समर्पणकी साधनामें तीव्र भक्ति और श्रेष्ठ ज्ञान दोनों मिले हुए रहते हैं। पूर्ण समर्पणकी भावना तीव्र भक्तियोगसे ही उत्पन्न होती है और सर्वव्यापी अन्तरात्माके अन्दर आत्मनिष्ठेप इस श्रेष्ठ ज्ञानसे होता है कि यह सर्वव्यापी अन्तरात्मा, जो अमृतत्वका कारण है, पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पञ्चमहाभूतों अर्थात् इन्द्रियगोचर वाल्य प्रपञ्चके पीछे छिपा रहता है। ‘यह आत्मा ही इन सबके भीतर चल रहा है। इस आत्माकी ही उपासना करो, जो अनन्त, तथा जन्म, मृत्यु, भव एव शोकसे गहित है।’ (सुवालोपनिषद् ५। १)

जीवात्माको परमात्माके शरणापन्न कर देनेकी मन-ही-मन भावना करनी चाहिये। परन्तु यह अहंबुद्धि ही जीवात्माको परिच्छिन्न एव परमात्मासे पृथक् बना रखती है। अतः जीवात्माको परमात्माके अर्पण कर देनेका अर्थ है अहंबुद्धिको सर्वव्यापी अन्तरात्मा अर्थात् निर्विकल्प परम अहमके अर्पण कर देना। इसके लिये व्यष्टि बुद्धिको भावना एव ध्यानरूप अभ्याससे समष्टिबुद्धि अर्थात् समष्टि अहङ्कारके रूपमें परिणत करना होगा, इससे सम्प्रज्ञात समाधि मिल देगी। यह समष्टिमें फैली हुई बुद्धि परिषक्त होनेपर शुद्ध अहङ्कारके, निर्विकल्प परम अहमके रूपमें बदल जाती है। इस अवस्थामें मनकी किया-सर्वशा-निरुद्धहो जाती है और शुद्ध अहंबुद्धि निर्विकल्प ब्रह्ममें बिलीन-हो जाती-है। इससे असम्प्रज्ञात-समाधि सिद्ध होती है जिसमें जीवात्मा निर्विकल्प ब्रह्मके साथ एकात्मताको प्राप्त हो जाता है।

‘हे पञ्चसम्भव ! इस परम तत्त्वकी उपलब्धि भक्तिके द्वारा, चित्तके अन्तर्लीन होनेसे होती है। भावनामात्र ही इस स्थितिका कारण है।’ (योगशिखोपनिषद्—महेश्वरका ब्रह्मके प्रति उपदेश ३। २३)

‘चित्तवृत्तिका अहङ्कारशून्य होकर ब्रह्माकार बन जाना हो सम्प्रज्ञात समाधिका स्वरूप है। यह स्थिति ध्यानक पारपक्ष अभ्याससे सिद्ध होती है।’ (मुक्तिकोप-निष्ठा २। ५१)

‘चित्तकी प्रशान्त वृत्ति, जो ब्रह्मानन्दको देनेवाली है, असम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। यह अवस्था योगियोंको अतिशय प्रिय है।’ (मुक्तिकोपनिषद् २। ५२)

‘जब चित्त अपनी चैत्य दशा अर्थात् विषयचिन्तनसे मुक्त हो जाता है, तब इस प्रकारके क्षीणचित्त पुरुषोंकी स्थितिको बाह्यप्रतीतिशून्यता अथवा कलनाशून्यता कहते हैं। यह एक प्रकारकी जाग्रत् अवस्थामें सुषुप्ति है।

‘हे निदाघ ! यह जाग्रत् अवस्थाकी सुषुप्ति अभ्यास-साध्य है। यही जब प्रौढ हो जाती है तब इसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तुरीयावस्था अथवा समाधि-अवस्था कहते हैं।’ (अन्नपूर्णोपनिषद्—महाप्रिविका अपने शिष्य निदाघके प्रति उपदेश २। १२, १३)

‘मैं केवल सत्त्वरूप हूँ, मैं क्षुद्र अहबुद्धिसे शून्य परम अहम् हूँ। मेरा स्वरूप वाह्य प्रपञ्चसे विरहित है, मैं चिदाकाशमय हूँ।’ (तेजोविन्दूपनिषद् ३। ३)

यह आगे बताया जायगा कि अहबुद्धिसे विशिष्ट पुरमात्मा ही जीवात्मा बना हुआ है, जिस प्रकार तरङ्ग वायुजन्य आन्दोलनसे विशिष्ट समुद्रके अतिरिक्त कुछ नहीं है। जीवात्माको परमात्माके प्रति आत्मसमर्पण बुद्धि उसके अहकारका नाम कर देती है और उसे समाधि-अथवा तुरीय अवस्थाको पहुँचा देती है जहाँ पहुँचकर वह अपने असली तेजोमय स्वरूपको प्राप्त हो जाता है।

‘केवल सद्वायकी भावना दृढ हो जानेसे वासना (अहबुद्धि) का लय हो जाता है। वासनाका निःशेषरूपसे क्षय ही मोक्ष है और उसीको जीवन्मुक्ति भी कहते हैं।’ (अध्यात्मोपनिषद् १३, १४)

‘इस गुणसमाहार (वाह्य प्रपञ्च) को आत्मासे भिन्न देखेवाले तत्त्वदर्शी पुरुषकी आन्तरिक शान्तिसे उत्पन्न स्थितिका नाम समाधि है।’ (अन्नपूर्णोपनिषद् १। २९)

पातञ्जलयोगसूत्रकी समीक्षा करनेसे हम इसी सिद्धान्त-को पहुँचते हैं। वहाँ भी इस वातकी ओर सकेत किया गया है कि चित्तकी चञ्चलता अथवा क्षुद्र अहबुद्धि ही जीवात्माको परमात्मासे अलग रखती है, परन्तु ज्यों ही

यह अहंकार अथवा भेदबुद्धि निवृत्त हो जाती है त्यों ही जीवात्मा अपने असली तेजोमय रूपको प्राप्त होकर परमात्माक साथ एक हो जाता है। जब चित्त अपनी चित्तताको भूलकर ध्येयाकार बन जाता है, उस अवस्थाको ‘समाधि’ कहते हैं। पातञ्जलयोगसूत्रमें भी अहकारके नाशका सर्वोत्तम उपाय अपरिच्छिन्न निर्विकल्प ब्रह्मके प्रति आत्मसमर्पणबुद्धिपूर्वक कायिक, वाचिक, मानसिक सब प्रकारकी क्रियाके त्यागका अभ्यास कहा गया है। इश्य प्रपञ्चकी आड़में छिपे हुए निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार करनेमें जब इन्द्रियाँ अपनेको असमर्थ अनुभय करती हैं तब इस प्रकारकी निष्क्रियता एव समर्पणका अभ्यास होता है। इस अभ्याससे उस क्रियाके अनुकूल आसन अपने-आप लग जाता है और साधक धीरे-धीरे शीतोष्ण, सुख-दुःख, सत्-असत् आदि द्वन्द्वोंके अभिघातसे मुक्त हो जाता है, साथ ही प्राणोंकी क्रिया भी अपने-आप बन्द हो जाती है और प्राणायाम सघ जाता है, जिससे आत्म-साक्षात्कारका अवरोधक अहङ्कारका पर्दा हट जाता है।

‘चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है।’ (पातञ्जलयोग-सूत्र, समाधिपाद २)

‘तब द्रष्टा अपने असली स्वरूपमें स्थित होता है।’ (पा० यो० समाधि० ३)

‘चित्तको किसी देश-विदेशमें बौध देना ‘धारणा’ है।’ (पा० यो० विभूति० १)

‘इस प्रकारकी एकाग्रताके द्वारा वृत्तिके अखण्ड प्रवाह-का नाम ‘ध्यान’ है।’ (पा० यो० विभूति० २)

‘ध्यानके स्थिर हो जानेपर मन ध्येयाकार बन जाता है और अपने स्वरूपको भूल जाता है। इस अवस्थाको ‘समाधि’ कहते हैं।’ (पा० यो० विभूति० ३)

‘ईश्वरको सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण कर देनेसे समाधि सिद्ध होती है।’ (पा० यो० साधन० ४५)

१. योगधित्तवृत्तिनिरोध ।

२. तदा द्रष्टु स्वरूपेऽवस्थानम् ।

३. देवषन्धिचित्तस धारणा ।

४. तत्र प्रत्येकत्वानता ध्यानम् ।

५. तदेवार्थमात्रनिर्मांस स्वरूपशून्यमिति समाधि ।

६. समाधिसिद्धिर्भरप्रणिभानात् ।

‘सब प्रकारके प्रयत्नोंको गियिल कर देनेसे तथा अनन्त परमात्माको आत्मसमर्पण करनेसे (ध्यानोपयोगी संरल आसन लग जाता है)।’^{१०} (पातङ्गल यो० साधन० ४७)

‘इसके अनन्तर इन्होंमें समराव हो जाता है।’^{११} (पा० यो० साधन० ४८)

‘ऐसा होनेपर ध्वास-प्रध्वासकी गति चक्कर प्राणायाम लग जाता है।’^{१२} (पा० यो० साधन० ४९)

‘तत्र (आत्माके) प्रकागका अवरोधक आवरण क्षीण हो जाता है।’^{१३} (पा० यो० साधन० ५२)

‘उस अनन्त (परमात्मा) में निरतिग्रय सर्वज्ञताका बीज रहता है।’^{१४} (पा० यो० समाधि० २५)

‘उसके (सर्वव्यापी अन्तरात्माको आत्मसमर्पण करनेके) बाट सारेविन्नहट जाते हैं और प्रत्यक्षेतनकी उपलब्धि हो जाती है।’^{१५} (पा० यो० समाधि० २९)

योगकी प्राचीनता

(लेखक—पं० श्रीविष्णुशेखरजी भट्टाचार्य, एम० ए०)

‘कर्त्याण’के इस योगाङ्कमें, हमारे देशमें योगसाधना क्यसे प्रचलित हुई इस सम्बन्धमें दो-चार चब्द लिखना अप्राप्तिक नहीं होगा। इस वातको वतलानेके लिये अब किसी प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है कि जबसे द्रव्ययज्ञोंके स्थानमें ज्ञानयत्नोंका अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ तबसे ज्ञानयज्ञका अनुष्ठान करनेवाले ब्राह्मणों, वौद्धों, जैनों आदि सभी लोगोंके लिये योगसाधना स्वाभाविक ही आवश्यक हो गयी, क्योंकि विना योगके ज्ञानयज्ञ कोई चीज़ नहीं है। इसीलिये इन सभी लोगोंके धर्मग्रन्थ जिनमें वे ग्रन्थ भी शामिल हैं जो अर्थात् प्रयोग माने जाते हैं, अर्थात् किसी मनुष्यके वनाये हुए नहीं माने जाते, योगवर्चसे भरे हैं।

इस प्रसङ्गमें इस प्रश्नका उठना स्वाभाविक ही है कि इस योगसाधनाका जन्म इस देशमें ही हुआ अथवा भारतवासियोंने किसी अन्य देशके लोगोंसे इसे सीखा।

एक यिद्वानका मत है कि वैदिककालके उपासक महान् आगामार्दी थे। वे इस लोकमें धन-धान्य और दीर्घायुके अमिलायुक थे और परलोकमें पितृलोकके सुखकी कामना किया करते थे। अतः प्राणायामके द्वारा शरीरको

कष्ट पहुँचाना जो योगका एक आवश्यक अङ्ग है, उन लोगोंकी प्रकृतिके सर्वथा प्रतिकूल था। वैदिककालके आर्यलोग कतिपय अर्द्धसम्ब्य जातियोंके सम्पर्कमें आकर उन्हें समुन्नत बनानेकी चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने शरीरको मूर्तिके समान अचल बनानेकी किया सीखी।

परन्तु उपर्युक्त विद्वान्की यह धारणा युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि ऋग्वेदमें ही (देखिये १०। १३६। २) कुछ ऐसे मुनियोंका वर्णन आता है जो दिगम्बरवेशमें रहते थे तथा मटमैले पीलेरंगके बद्ध पहनते थे। (मुनयो वातवसनाः पिण्डान्नाः वसते मालाः) ^{१६} यही नहीं, अन्यत्र (देखिये १०। १३६। ३) उनके मौनेय (मुनियोंके उचित आचरण) का भी वर्णन मिलता है। उक्त स्थलोंमें निःसन्देह योगियोंका ही उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार वह वात अनुमानसे ठीक मालूम होती है कि ऋग्वेदके कालमें योगसाधनाका प्रचार था और वह साधना भारतीय आदोंकी विशेष सम्पत्ति थी। परन्तु कुछ विद्वान् जो मोहन-जो-दड़ो तथा हरप्पामें प्राप्त हुए प्राचीन ध्वंसावशेषोंके आधारपर सिन्धुप्रदेशकी संस्कृतिका

७०. प्रयत्नश्चित्याननननमापनिन्यान्।

८०. न्यौ दन्दाननिवान्।

९०. तम्भिन्नति शानप्रश्वामयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

१००. तत्र ध्यायते प्रकाशादगमम्।

११०. तत्र निरतिग्रय सर्वज्ञतानम्।

१२० तत्र प्रन्दनवेतनाधिमोऽप्यन्तायामावश्च।

* इनारे जैन मित्रोंकी यह भात्ता है कि उपर्युक्त मन्त्रोंमें उनके जैन माधुओंका उल्लेख है।

अध्ययन कर रहे हैं, उनका मत यह है कि वैदिक कालके आर्योंने सिन्धुप्रदेशके अनार्य निवासियोंसे इस विद्याको सीखा, वे अपने मतकी पुष्टिमें प्रमाण यह देते हैं कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यतासे बहुत पहलेकी है।

परन्तु यह तो उनकी कल्पनामात्र है, क्योंकि अभीतक यह वात सन्तोष-प्रद रीतिसे सिद्ध नहीं हुई है कि सिन्धुप्रदेशकी सभ्यता वैदिक सभ्यताको अपेक्षा प्राचीन है। सिन्धुप्रदेशकी सभ्यताका काल ईस्वी सनसे तीन-चार हजार वर्ष पूर्व माना जाता है और ऋग्वेद, कुछ लोगोंके मतमें, ईसामसीहसे २५०० वर्ष पहलेका माना जाता है। किन्तु कुछ विद्वान् यह सिद्ध करनेकी

चेष्टामें है कि ऋग्वेद ईसामसीहसे करीव ४५०० वर्ष पुराना है। इस विषयका विस्तार न बढ़ाकर हम इतनी वात ढावेके साथ कह सकते हैं कि वैदिक साहित्यका विकास ईसामसीहसे कम-से-कम २५०० वर्ष पूर्व अवश्य प्रारम्भ हुआ होगा, इसके लिये हमारे पास पर्यात प्रमाण हैं। ऐसी दबामे हम ऐसा नहीं मान सकते कि हमें मोहन-जो-दडो तथा हरप्पामे जो कुछ उपलब्ध हुआ है वह आर्य सस्त्रितिसे पहलेका है। अतः जबतक हमारे सामने कोई प्रवल प्रमाण नहीं रखके जाते तबतक हम इस वातको माननेके लिये तैयार नहीं हैं कि भारतीय आर्योंने योगसाधना अनार्योंसे सीखी।

योग और उसके फल

(लेखक—स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती)

योग क्या है ?

‘योग’ शब्द सस्कृतके ‘युज्’ धातुसे बना है, जिसका अर्थ है जोड़ना। योगका आध्यात्मिक अर्थ है वह साधन-सरणि जिसके द्वारा योगीको जीवात्मा और परमात्माकी एकताका अनुभव होता है—जीवात्माका परमात्माके साथ ज्ञानपूर्वक सयोग होता है। इस गुण जानको सिखानेवाला शास्त्र योगशास्त्र कहलाता है।

योग वह आध्यात्मिक विद्या है जो जीवात्माका परमात्माके साथ सयोग करनेकी प्रक्रिया बतलाती है। योग वह परमार्थविद्या है जो जीवको इन्द्रियगोचर वाल्य प्रपञ्चके जड़ालसे मुक्तकर अखण्ड आनन्द, परम-शान्ति, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त जीवन आदि स्वाभाविक गुणोंसे युक्त परमात्माके साथ उसका सयोग करा देती है।

योगका व्यापक अर्थ करनेसे उसके अन्दर कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग, ज्ञानयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, लययोग अथवा कुण्डलिनीयोग आदि सभी योगोंका समावेश हो जाता है। उसका सङ्कुचित अर्थ करनेसे वह केवल अद्याङ्गयोग अथवा महर्षि पतञ्जलिद्वारा प्रवर्तित राजयोगका ही वाचक प्रतीत होता है।

चतुर्विध योग

जिस प्रकार एक ही अगा भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके उपयोगमे नहीं आ सकता, इसी प्रकार एक ही मार्ग

सब लोगोंके लिये अनुकूल नहीं हो सकता। मनुष्य चार प्रकारके होते हैं—कर्मप्रधान, भक्तिप्रधान, योग-प्रधान और दार्शनिक अथवा दुष्क्रियप्रधान, अतः उनकी प्रकृतिके अनुकूल मार्ग भी चार ही हैं, यद्यपि उन सबका लक्ष्य एक ही है—परमतत्त्वकी उपलब्धि। मार्ग भिन्न-भिन्न होनेपर भी प्राप्तव्य स्थान एक ही है। इस परम तत्त्वको उपर्युक्त चार प्रकारके मनुष्योंकी भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे उपलब्ध करनेके जो चार मार्ग बताये गये हैं उन्हींको कर्मयोग, भक्तियोग, राजयोग और ज्ञानयोगके नामसे उकारते हैं।

ये चारों मार्ग परस्परविरोधी न होकर एक दूसरेके सहायक हैं। ये इस वातके द्योतक हैं कि हिन्दू-धर्मके भिन्न-भिन्न मार्गोंमें परस्पर सामझस्त है। धर्मके द्वारा समग्र मनुष्यवा—उसके हृदय, मस्तिष्क और हाथ तीनों अंगोंका सस्कार एव विकास होना चाहिये। तभी यह पूर्णताको प्राप्त हो सकता है। एकदेशीय विकास अभिनन्दनीय नहीं है। कर्मयोगमे मन्त्रका नाश होता है, चित्तकी शुद्धि होती है और हाथोंमें कुशलता आती है। भक्तियोगसे विक्षेप दूर होता है और हृदयका विकास होता है। राजयोगसे मनकी स्थिरता एव एकाग्रता निरपन्न होती है। ज्ञानयोगसे अजानका आवरण छटकर इन्द्रिय एव दुष्क्रिया विकास होता है और आत्मज्ञानकी उपलब्धि होती है। अतः सावकको चाहिये नि व चानि। प्रकारके

योगका अभ्यास करे। अध्यात्ममार्गमें तेजीके साथ आगे बढ़नेके लिये हम ज्ञानयोगको मुख्य आधार बनाकर अन्य योगोंका सहायकस्तपमें साधन कर सकते हैं।

सर्वांगीण विकास आवश्यक है

कर्म, भाव और बुद्धि ये तीन घोड़े इस शरीररूपी रथमें जुड़े हुए हैं। इन तीनोंके व्यापारमें पूर्ण सामज्ज्ञस्य होना चाहिये, तभी रथ आसानीसे चल सकता है। समस्त अगोंका विकास होना चाहिये, हमारा मस्तिष्क शङ्करका-सा, हृदय दुदका-सा और हाथ जनककेसे होने चाहिये। भक्तिशूल्य वेदान्त विलक्षुल रसहीन हो जाता है। ज्ञानविरहित भक्ति पूर्ण नहीं होती, और जिसने आत्मसाक्षात्कार कर लिया है, आत्माके साथ अपनी एकताका अनुभव कर लिया है वह अपने आत्मरूप जगत्की सेवा किये विना कैसे रह सकता है? भक्ति ज्ञानसे वियुक्त नहीं है, वल्कि यो कहना चाहिये कि ज्ञान भक्तिकी पूर्णतामें सहायक है।

विरोधका परिहार

इस प्रश्नको लेकर लोगोंमें बड़ा मतभेद है कि ज्ञान भक्तिका आवश्यक अग है या नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान भक्तिका साधन है। उन लोगोंका कहना यह है कि भगवान्को विना जाने हम उनकी भक्ति कैसे कर सकेंगे। कुछ प्रसिद्ध भक्त ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति विलक्षुल स्वतन्त्र साधन है। वे अपने अनुभवके आधारपर पूर्ण निश्चयके साथ यह कहते हैं कि भक्ति स्वयं साध्यरूप है और उसकी सफलताके लिये ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। विजलीके रहस्योंको जाननेवाला इङ्जिनियर यदि किसी अँधेरी रातको घने जगलमें पड़ जाय और वहाँसे निकलनेका रास्ता उसे न मिले तो निरा विजलीका ज्ञान उसके क्या काम आवेगा? क्या अन्नके ज्ञानमात्रसे किसीकी भूख बुझ सकती है?

भक्ति और ज्ञान परस्पर विरोधी हैं, ऐसा कहना निरी मुख्यता है। पूर्ण ज्ञान ही प्रेम है और पूर्ण प्रेम ही ज्ञान है। पराभक्ति और ज्ञान एक ही वस्तु हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मासुपयान्ति ते॥

(गीता १०।१०)

‘इस प्रकार जो मुझमें निरन्तर मनको लगाकर प्रेमसे मेरा भजन करते हैं उनको मैं वह ज्ञान देता हूँ जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।’

गीतामें अन्यत्र भी कहा है—‘अद्वावॉल्लभते ज्ञानम्’ (अद्वा अर्थात् भक्तिवान्को ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है)।

राजयोग

(१) उसके आठ अङ्ग

राजयोगके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अङ्ग हैं। यमका अर्थ है आत्मनिग्रह अर्थात् अहिंसा (किसीको कष्ट नहीं पहुँचाना), सत्य, अस्तेत्र (चोरी नहीं करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (निर्लोभता) का अभ्यास करना। शौच (बाहर-भीतरकी पवित्रता), सन्तोष, तप (स्वधर्म-पालनके लिये कष्ट सहन करना), स्वाध्याय (वेदादि उत्तम ज्ञानोंका अध्ययन तथा भगवान्के नामका जप-कीर्तन आदि) और ईश्वरप्रणिधान (ईश्वरकी उपासना करना तथा सारे कर्मोंका फल उन्हें अर्पण कर देना)—इन पाँच व्रतोंके पालनका नाम नियम है। यम-नियमके अभ्याससे योगाभ्यासीकी चित्तशुद्धि होती है। मैत्री, करुणा और मुदिताको बढ़ानेसे धृणा, ईर्ष्या और हृदयकी कठोरताका नाश होकर मनको शान्ति मिलती है। आसन साधनेसे शरीर स्थिर और दृढ़ हो जाता है। प्राणायामके अभ्याससे चित्तका विक्षेप दूर होता है और प्रकाशके आवरणभूत रज और तमका नाश होता है। प्राणायाम करनेयालेका शरीर भी हल्का हो जाता है। प्रत्याहार (इन्द्रियोंकी विषयोंसे निवृत्ति) के अभ्याससे साधकको मनोव्रल और मानसिक शान्ति मिलती है। मनको एकाग्र करनेका नाम धारणा है। ध्यान कहते हैं किसी वस्तुके निरन्तर चिन्तनको। समाधि तुरीयावस्थाका नाम है। धारणा, ध्यान और समाधि, इनके युगपत् अभ्यासका नाम सयम है। वाह्य पदार्थोंमें सयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं और इस पञ्च महाभूतोंसे वने हुए जगत् और उनसे भी सूक्ष्म पञ्च तन्मात्रोंके रहस्योंका ज्ञान होता है। इन्द्रिय, अहङ्कार, मन इत्यादिपर सयम करनेसे अनेक प्रकारकी सिद्धियाँ और अनुभव प्राप्त होते हैं।

(२) अष्ट सिद्धियाँ

अष्ट महासिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (अपनेको

अनुके सद्वश सूक्ष्म बना लेना), (२) महिमा (अपनेको पर्वतके समान विश्वालकाय बना लेना), (३) लघिमा (अपने शरीरको स्तर्वाके समान हल्का बना लेना), (४) गरिमा (अपने शरीरको लोहेके पर्वत-जैसा भारी बना लेना), (५) प्राप्ति (चन्द्रमाको उँगलीके अग्रभागसे छू लेना), (६) प्राकाम्य (सब प्रकारकी इच्छाओंका पूर्ण हो जाना), (७) ईशित्व (सृष्टि उत्पन्न करनेकी शक्ति) और ८ वशित्व (सबपर जासन करने तथा पञ्च महाभूतोंपर विजय प्राप्त कर लेनेकी शक्ति) ।

(३) समाधिके अवान्तरभेद

योगी क्रमशः योगकी भिन्न-भिन्न भूमिकाओंपर आरूढ़ होकर अनेक प्रकारके अनुभव, ज्ञान और शक्तियों प्राप्त करता है । उसे पहले सवितर्क और निर्वितर्क समाधि सिद्ध होती है और इसके अनन्तर वह सविचार एवं निर्विचार समाधिमें प्रवेश करता है । अन्तमें जाकर वह सानन्द एवं ससित समाधिका आनन्द ल्हटता है । इन निम्न श्रेणीकी समाधियोंमें आलम्बन (आधार), स्सकार और ध्याता-ध्यान-ध्येयरूप त्रिपुटी विद्यमान रहती है । इन समाधियोंसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती । जो योगी सबसे ऊँची असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करना चाहता है उसके लिये ये निम्न स्तरकी समाधियों अन्तरायरूप हैं । असम्प्रज्ञात समाधिके सिद्ध हो जानेपर जन्म-मृत्युके कारणभूत सत्कारनीज निःशेषरूपसे दरघ हो जाते हैं ।

(४) राजयोगियोंके चार भेद

योगी भी चार प्रकारके होते हैं । इनमेंसे पहली श्रेणीके योगी 'प्रथमकल्पित' कहलाते हैं । ये विल्कुल नौसिखुए होते हैं । इनके अन्दर प्रकाशकी झल्कमात्र दिखलायी देती है । इन्हे सिद्धियों प्राप्त नहीं होती । ये लोग सवितर्क समाधिका अभ्यास करते हैं । दूसरी श्रेणीके योगी 'मधुभूमिक' कहलाते हैं । ये लोग निर्वितर्क समाधिमें प्रवेशकर कङ्गतमरा प्रज्ञाको प्राप्त किये हुए रहते हैं । इस भूमिकाको 'मधुमती' भूमिका कहते हैं, जिसका कारण यह है कि इसके अन्दर हमे वह ज्ञान प्राप्त होता है जो मधुके समान आनन्ददायक एवं तृसिकारी है । तीसरी श्रेणीके योगियोंका नाम है 'प्रज्ञाज्योतिः' । ये लोग पञ्च महाभूतों और इन्द्रियोंको जीते हुए रहते हैं । इस श्रेणीके योगी देवताओंके भी प्रलोभनमें नहीं आते । इस अद्यत्याका नाम 'मधुप्रतीक' है । चौथी श्रेणीके योगियोंका

नाम है 'अतिकान्तभणनीय ।' ये योगी 'विशेषका' और 'संस्कारशेषा' नामक भूमिकाओंपर आरूढ़ रहते हैं, ये कैवल्यको प्राप्त होते हैं ।

राजयोगी विना सब्यम किये ही प्रतिभासे सारी सिद्धियों प्राप्त कर सकता है । उच्चतम ज्ञानका नाम 'प्रसख्यान' है जो विवेकख्याति अर्थात् प्रकृति और पुरुषके भेदज्ञानमें उत्पन्न होता है ।

इस ज्ञानको प्राप्त हुए योगीके अन्दर अब 'धर्मसेध' समाधिका उदय होता है । उसे परवैराग्यकी प्राप्ति होती है । वह सब प्रकारकी सिद्धियोंसे, यहाँतक कि सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्त्व आदिसे भी मुँह मोड़ लेता है, क्योंकि वह जानता है कि ये सारी-की-सारी सिद्धियों सर्वोच्च समाधिकी प्राप्तिमें अन्तरायरूप ही हैं । तब उसे असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है, जिससे जन्म-मृत्युके कारणभूत सारे सस्कार निःशेषरूपसे दरघ हो जाते हैं ।

इस स्थितिको प्राप्त हुआ योगी विना नेत्रोंके देखता है, विना जिहाके रसास्वाद करता है, विना कानोंके सुनता है, विना नाकके सँघता है और विना त्वचाके स्पर्श करता है । वह सङ्कल्पमात्रसे अगणित चमत्कार कर सकता है । उसकी इच्छासे ही सब कुछ हो जाता है । तैत्तिरीय आरण्यक (१ । २५) में इस स्थितिका इसप्रकार वर्णन मिलता है—

'नेत्रहीनने मोती वींव दिया, विना उँगलीयालेने उसमे धागा पिरो दिया, कण्ठहीनने उसका हार पहन लिया और जिहाहीनने उसकी प्रशसा की ।'

(५) कैवल्य

अन्ततोगत्वा पुरुष अपने ऐत्यर्थमय अथवा कैवल्यात्मक स्वरूपकी उपलब्धि कर लेता है । वह प्रकृति और उसके कायोंसे सर्वथा असमृक्त रहता है । यह अपनेको सर्वथा स्वतन्त्र (मुक्त) अनुभव करता है और राजयोगीके चरम लक्ष्य कैवल्यको प्राप्त हो जाता है । अब उसके समन्त ह्लेगकर्म नष्ट हो जाते हैं । गुणोंका कार्य भोग और अपर्वर्ग-सिद्ध हो जानेके कारण अब उनका कार्य विल्कुल बन्द हो जाता है । अब उसका ज्ञान सारा-का-सारा एकफालिक हो जाता है । भूत और भविष्य उसके लिये वर्तमानमें मिल जाते हैं । प्रत्येक वस्तु वर्तमान हो जाता है, नाभने आ जाती है । ऐसा योगी देव-कालको अतिक्रमणकर जाता है । कैवल्यप्राप्त योगीके अनन्त ज्ञानके सामने

वैलोक्यका समग्र ज्ञानभण्डार तथा समस्त लौकिक विद्याओंका ज्ञान कुछ नहीं है, निःसार है। जय हो, जय हो ऐसे महान् योगियोंकी। उनका आशीर्वाद हम सबको प्राप्त हा।

हठयोग

हठयोगीका जोर आसन, वन्ध, मुद्रा और प्राणायामपर अधिक रहता है। उसे शरीरके निम्न भागमें स्थित मूलाधार-चक्रके अन्दर सोयी हुई कुण्डलिनी-जक्षिको जगाकर उसे शेष पॉच चक्रोंके मार्गसे सहस्रारचक्रमें ले जानेकी धुनि सवार रहती है। यह सहस्रारचक्र मस्तकके ऊर्ध्वभागमें ब्रह्मरन्त्रके समीप स्थित है। यहाँ कुण्डलिनी-जक्षिका शिवके साथ योग हो जाता है। तब योगी निर्विकल्प समाधिमें स्थित होकर मुक्ति (आध्यात्मिक आनन्द) दोनों प्राप्त कर लेता है। प्राणायामका अभ्यास करते समय उसे चार अवस्थाओंका अनुभव होता है जिन्हे 'आरम्मावस्था', 'घट-अवस्था', 'परिच्छाया-अवस्था' और 'निष्पत्ति-अवस्था' कहते हैं।

भक्तियोग

भक्त श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदनरूप नवधा भक्तिका अभ्यास करता है। वह अपनी सच्चि, प्रकृति, साधनकी योग्यता तथा स्थितिके अनुसार गान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मातृर्य इन पॉच भावोंमेंसे किसी एक भावका वरण करता है और सालोऽस्य, सामीाय, सार्वाय तथा सायुज्य-मुक्तिको प्राप्त होता है।

उसकी इस प्रकारकी मुक्ति क्रममुक्ति कहलाती है। इस क्रममुक्तिको प्राप्त भक्त ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँ महाप्रलय-पर्यन्त ब्रह्माके समीप रहता है और तदनन्तर ईश्वरके साथ ही निर्गुण ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

ज्ञानयोग

ज्ञानयोगका साधक मुक्तिके चार साधनों-विवेक, वैराग्य, पट्सम्पत्ति (शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा, समाधान) और सुमुकुत्वको बढ़ाता है। तदनन्तर वह श्रुतियोंको सुनता है, फिर ममन करता है और अन्तमें निदिध्यासन करता है, वह प्रणवके तथा जोव और ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक 'तत्त्वमसि' वाक्यके वास्तविक अर्थका ध्यान करता है। इस साधनको अन्तरङ्ग साधन कहते हैं। तब उसे आत्मसाक्षात्कार अथवा ब्रह्मानुभव होता है।

प्रारम्भमें उसे सविकल्प श्रेणीकी शब्दानुविद्ध एवं दृश्यानुविद्ध समाधि होती है। फिर वह अद्वैतभावनारूप (वृत्तिसहित) समाधिमें प्रवेश करता है और अन्तमें अद्वैतावस्थानरूप (वृत्तिरहित) समाधिको प्राप्त होता है। ज्ञानयोगकी सांत भूमिकाएँ हैं, जिनपर साधक क्रमगति आरूढ़ होता है। इनके नाम हैं शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसी, सत्वापत्ति, अससक्ति, पदार्थभावनी और तुरीय।

जानी सद्योमुक्ति अथवा आत्मनितक प्रलयको प्राप्त होता है। वह किसी लोकविशेषमें नहीं जाता। उसके प्राणाका उत्क्रमण नहीं होता। स्थूल शरीरका पतन होते ही वह ब्रह्ममें लीन हो जाता है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्तिका भेद

जानीको जीवित अवस्थामें ही विदेहमुक्ति मिल जाती है। जानी जब सत्वापत्ति नामक चतुर्थ भूमिकापर आरूढ़ होता है उसी समय वह जीवन्मुक्त हो जाता है। जब उसके अन्दर देहाभिमान लेशमात्र भी नहीं रहता तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। तुरीयावस्थाको प्राप्त होनेपर ज्ञानी जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जब तुरीयातीत अवस्थाको प्राप्त होता है तब उसे विदेहमुक्त कहते हैं। ज्ञानीको जब जाग्रत्-अवस्था स्वप्नवत् भासने लगती है तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। वही जाग्रत्-अवस्था जब उसके लिये सुपुसि-के समान हो जाती है तब उसकी विदेहमुक्त-अवस्था कहलाती है। जिस अवस्थामें चिन्तका अरुप नाश होता है, उस अवस्थाको जीवन्मुक्ति कहते हैं। जिस अवस्थामें उसका स्वरूप नाश हो जाता है उसे विदेहमुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्त ससारमें रहकर ससारका कार्य कर सकता है। भगवान् शङ्कराचार्य जीवन्मुक्त थे। भगवान् श्रीदत्तात्रेय और जडभरत विदेहमुक्त थे। वास्तवमें इनकी आम्यन्तरिक स्थितिमें कोई अन्तर नहीं है।

भक्त और ज्ञानीकी तुलना

ज्ञानयोगी इस दुस्तर भवसरिताको तैरकर पार करता है। भक्तियोगी उसीको भक्तिरूप नौकापर आरूढ़ होकर पार करता है। ज्ञानी आत्मनिर्भरता तथा आत्मब्रलका आश्रय लेकर ज्ञान प्राप्त करता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवान्का साक्षात्कार करता है। ज्ञानी अपने स्वरूपको पहचानकर अपने अहङ्कारका विस्तार कर देता

है। भक्त अपने आपको भगवान्‌के अर्पण कर देता है, भगवान्‌के प्रति आत्मनिवेदन कर देता है और उनके सामने दीन-हीन बन जाता है। भक्त मिश्रीका स्वाद लेना चाहता है। जानी स्वयं मिश्री बनना चाहता है। भक्तको क्रमसुक्ति मिलती है। जानीको सद्योसुक्ति प्राप्त होती है। भक्त विष्णुके वच्चेके समान भगवान्‌की सहायताकी अपेक्षा रखता है और भगवान्‌को असहाय होकर पुकारता है। जानी वैदरियाके वच्चेकी भौति स्वयं दृढ़तापूर्वक अपनी माताकी छातीसे चिपट जाता है।

ज्ञानी और योगीकी तुलना

जानी चलते-फिरते, खाते-पीते तथा बात-चीत करते हुए भी अपना साधन कर सकता है। उसे किसी एकान्त कोठरीमे आसन लगाकर बैठनेकी आवश्यकता नहीं है। राजयोगीको अभ्यासके लिये आसनकी भी अपेक्षा है और अलग स्थानकी भी। ज्ञानी सर्वदा समाधि (सहज अवस्था) में स्थित रहता है। उसकी नित्य-दृष्टि होनेसे वह मायाके वशीभूत नहीं होता। ज्ञानीके लिये 'समाधि' तथा 'व्युत्थान' दो अवस्थाएँ नहीं होतीं। परन्तु योगी जब समाधिसे नीचे उतरता है उस समय उसे माया फिर घेर लेती है। जिस प्रकार हम किसी शीशीका मुँह ढक्कनसे बन्द कर देते हैं उसी प्रकार राजयोगी भी अपने प्रयत्नसे चित्तरूपी शीशीका मुँह बन्द कर देता है, जिससे उसके अन्दर वृत्तियोंका आना-जाना बन्द हो जाता है। दूसरे गद्दोंमें, वह चित्तरूपी बर्तनको विल्कुल खाली कर देता है। ज्ञानी अपनी वृत्तियोंका इस प्रकार निरोध नहीं करता। वह उनका साक्षी बन जाता है। वह अपने सात्त्विक अन्त करणसे व्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानी अपने सत्सङ्कल्पके द्वारा सिद्धियोंको प्रकट करता है, राजयोगी धारणा-ध्यान-समाधिके समवायरूप स्वयमके द्वारा ऐसा करता है। राजयोगीकी साधना मनसे प्रारम्भ होती है। ज्ञानी अपना अभ्यास त्रुदि और इच्छाशक्तिके आधारपर करता है।

हठयोगी और राजयोगीकी तुलना

हठयोगका सम्बन्ध स्थूल गरीर और प्राणवायुके निश्चासे है। राजयोगका सम्बन्ध मनसे है। राजयोग और हठयोग अन्योन्याश्रित हैं। वे एक दूसरेके आवश्यक

सहकारी अङ्ग हैं। दोनोंका ज्ञान हुए निना कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता।

हठयोगका समुचित अभ्यास जहाँ समाप्त होता है वहाँसे राजयोगका प्रारम्भ होता है।

हठयोगकी साधना गरीर और प्राणसे शुल्ष होती है। राजयोगकी साधनाका मनसे प्रारम्भ होता है।

हठयोगी प्राण और अपानवायुको सञ्चुक्तकर उन्हें भिन्न-भिन्न चक्रोंमें ले जाता है। तब उसे सिद्धियों प्राप्त होती है। राजयोगीको उपर्युक्त स्थयमें सिद्धियों प्राप्त होती है। जानी इन्हीं सिद्धियोंको सत्सङ्कल्पसे प्रकट कर देता है। भक्त आत्मसमर्पणके द्वारा भगवत्प्राप्तको प्राप्तकर सारे ऐव्योंका न्वामी बन जाता है।

उपसंहार

शास्त्र अनन्त है, जाननेकी बातें बहुत-सी हैं, समय अति स्वल्प है, उसपर अनेको विघ्न है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह केवल सारको ग्रहण करे, जिस प्रकार हस पानी मिले हुए दूधमें से केवल दूधको ले लेता है और पानीको छोड़ देता है।

हे अमृतके पुत्रो! जागो। अपनी ओर्खें खोलो। ससारके दुःखोंका सरण करो। मृत्युको याद करो। महात्माओंको याद करो। ईश्वरको याद करो। उमके नामोंका गान करो। भक्तिका साधन करो। नवधा भक्तिका अभ्यास करो। भागवतोंकी सेवा करो। भगवान्‌की अन्तःस्थित सत्ताका सर्वत्र अनुभव करो। श्रीकृष्णका दर्घन इसी जीवनमें, नहीं, इसी क्षणमें प्राप्त करो। दिव्य भागवत अथवा जीवन्मुक्त बनो और सर्वत्र, चारों दिग्गांओंमें सुख, ग्रान्ति और आनन्दकी वर्षा करो। मित्रो! मैं आपको एक बार फिर याद दिलाता हूँ, उस वृन्दाशन-विहारी वशीरवकारीको एक क्षणके लिये भी मत भूलो। वही तुम्हारा ग्रान्त बनातन सङ्गी है, वही तुम्हारे आनन्दका द्वीप है, वही तुम्हारे जीवनका आधार है।

उनके 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' इस द्वादशाधर मन्त्रको सर्वदा रटने रहो। तुम सबपर भगवान् नन्दननन्दन-की कृपा वरसती रहे।

हरि. ॐ तत्सत् ।

गीताका योग

(लेखक—स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती)



दिविचारपूर्वक देखा जाय तो
मानना होगा कि 'योग' एक
पेचीदा पहेली है। जितने अर्थों-
में इस योग शब्दका प्रयोग
अवतक हुआ है शायद ही किसी
अन्य शब्दका उतने अर्थोंमें
हुआ हो। यद्यपि कोषोंमें—

योगोऽपूर्व्यसम्प्रासौ सङ्गतिभ्यानयुक्तिषु ।
वपुःस्यैर्यप्रयोगे च विष्कम्भादिषु भेषजे ॥
विश्रवधघातिनि द्रव्योपायसंनहनेष्वपि ।
कार्मणोऽपि च योगः स्याद् ॥ . ।

आदि बचनोंके द्वारा नयी चीजकी प्राप्ति, सङ्गति, व्यान, युक्ति, शरीरकी दृढ़ता, प्रयोग, (ज्योतिषियोंके) विष्कम्भ आदि, ओषधि, विश्वासघाती, द्रव्य, उपाय, कवच, तन्त्रमन्त्रक्रिया, कर्मठ इन चौदह अर्थोंमें इसे व्यवहृत किया है और धातुपाठमें युजिर् तथा युज् इन दो धातुओंके तीन अर्थ योग, समाधि तथा सथमन लिखे गये हैं, तथापि इससे यह नहीं मान लेना होगा कि योग शब्दके इतने ही अर्थ हैं। केवल श्रीमद्भगवद्गीताके ही अठारह अध्यायोंमें प्रत्येकके प्रतिपाद्य विषयको भी 'योग' ही नाम दिया गया है—अर्जुनविषादयोग, साख्ययोग, कर्मयोग आदि। इससे यह तो सिद्ध ही है कि योग शब्दार्थके भीतर कम-से-कम अठारह पदार्थ और भी आ गये। वेगक गीताके साख्ययोग, कर्मयोग आदि शब्दोंके साथ ही प्रत्येक अध्यायके अन्तमें पठित समाप्तिगूचक सङ्कल्पोंमें 'योगशास्त्रे' को देखकर बहुत लोगोंने 'योगशास्त्र' का 'कर्मयोगशास्त्र' अर्थ कर दिया है और नारायणीय धर्म-के साथ, जिसका प्रतिपादन महाभारतके शान्तिपर्वमें आया है, गीताप्रतिपादित विषयका मिलान करके गीतामें भी नारायणीय धर्मका ही निरूपण माना है और इस निर्णयपर पहुँचनेमें उन्होंने 'भगवद्गीता' नामसे भी सहायता ली है। कारण, नारायणीय धर्मके वक्ता जहाँ नारायण हैं तहाँ गीताधर्मके वक्ता भी भगवान् या नारायण ही हैं और भगवद्गीता शब्दका यही अर्थ भी है। फिर भी हमारे

जानते ऐसा करना खींचतानकी पराकाष्ठा एव दूरकं कौड़ी लाना है। आखिर 'अर्जुनविषादयोग'में, जो प्रथमाध्यायका प्रतिपाद्य विषय है, कौन-सा कर्मयोग है? केवल तीसरे अध्यायके अन्तके सङ्कल्पमें 'कर्मयोग' आया है। वाकीमें तो सांख्ययोग, ब्रानकर्मसन्त्यास्योग, श्रद्धाच्यविभागयोग, दैवासुरसम्पद्विभागयोग आदि शब्द आये हैं। इनमें कहाँ कर्मयोग छिपा हुआ है? और अगर इन सभीका अर्थ प्रकारान्तरसे कर्मयोग ही करनेका हठ किया जाय, जो असम्भव है, तो फिर योग शब्द वही भानमतीकी पिटारी ही सिद्ध हो जाता है और इसके भीतर संसार-भरके पदार्थोंका समावेश ही जाता है। इससे अच्छा है कि गीताके प्रत्येक अध्यायके प्रतिपाद्य विषयोंको ही योग नाम दे डालें और भगवद्गीता नाम उसका केवल इसीलिये मान लें कि उसमें सर्वत्र 'भगवानुवाच' यही लिखा है। न कि नारायणीय धर्मसे इसका कोई भी सम्बन्ध है। इसीलिये 'भगवद्गीता' यह खीलिङ्ग नाम भी ठीक हो जाता है। क्योंकि यह गीता तो शब्दान्तरसे भगवान्के द्वारा गायी हुई (उपर्दिष्ट) उपनिषद् ही है और उपनिषद् शब्दके खीलिङ्ग होनेके कारण उसका विशेषण-रूप गीता शब्द भी खीलिङ्ग हो गया है। यदि नारायणीय धर्मकी बात होती तो 'भगवानुवाच' की जगह 'नारायण उवाच' कहते और नाम भी नारायणगीता रखते। या नहीं तो धर्म शब्दका खयाल करके पुलिङ्ग या नपुसक लिङ्ग 'गीतः' 'गीतम्' रखते।

लेकिन इतनेसे ही योगके शब्दार्थका निश्चय तो हो नहीं जाता और योग क्या है यह पहेली सुलझानेके बजाय और भी उलझ जाती है। बहुत लोग यह समझते होंगे कि पतञ्जलिके योगदर्शनमें शायद इसकी सुलझान हो। लेकिन उन्हें यह जानकर आश्र्वय होगा कि जहाँ गीताके अठारहों अध्यायोंमें सब मिलाकर योग, युक्त, युज्ञ आदि अर्थात् उसी युज् धातुसे बने शब्दोंका प्रयोग प्रायः ढेढ़ सौ बार आया है और यदि इसीमें हर एक अध्यायके समाप्तिसङ्कल्पमें दो-दो बार लिखे योग शब्दको जोड़ दें तो एक सौ नवेसे अधिक या प्रायः दो सौ बार आया है ऐसा कह सकते हैं, तहाँ योगदर्शनमें कुल

मिलाकर केवल नौ-दस ही बार इसका प्रयोग हुआ है और उसमें भी योगके अर्थमें केवल चार ही बार, जैसा कि पहले पादके दूसरे, दूसरेके पहले और अद्वाईसर्वे और चौथेके सातवें सूत्रोंसे स्पष्ट है। इसके विपरीत गीताके प्रायः सभी प्रयोग इसी अर्थमें हैं। अतः यह तो मानना ही होगा कि योग शब्दको किसी-न-किसी स्पष्टमें गीतामें नितनी बार दुहराया गया है उतनी बार आयद ही किसी और पुस्तकमें दुहराया है। एक बात और है। गीतामें योग शब्दके अभ्यासके साथ ही उसका निर्वचन भी स्पष्टरूपसे दो श्लोकोंमें जहर किया है और वे हैं द्वितीय अध्यायके ४८ तथा ५० श्लोक जिनमें लिखा है कि 'कर्म और उसके फलमें लिपटनेके भाव (आसक्ति) को छोड़ और उद्देश्य प्रा होने-न-होनेमें वेकिक होकर योगबुद्धिसे कर्म करो, क्योंकि इसी अनासक्ति (आसक्तित्याग) और पूरा होने-न-होनेमें वेकिकीको—समताको योग कहते हैं।'—'कर्मके सम्बन्धकी विशेषज्ञताको—कौशलको—योग कहते हैं।'

योगस्थः कुरु कर्मणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥

(गीता २।४८)

'योगः कर्मसु कौशलम्'

(गीता २।५०)

यद्यपि योगदर्शनमें भी 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' (१।२) तथा 'तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः' (२।१) सूत्रोंमें योगशब्दकी व्याख्या की गयी है। फिर भी वह दूसरे ढगकी है—सकुचित एव एकदेशी है। वह व्याख्या केवल योगदर्शनवालोंके ही कामकी है और यह तो मानना ही होगा कि योगदर्शन जनसाधारणकी पहुँचके परेकी चीज है—व्यावहारिक जीवनकी चीज़ नहीं है। उससे केवल विरक्त या अध्यात्मवादी ही लाभ उठा सकते हैं जिनकी सख्या उँगलियोंपर गिनी जा सकती है, संसारतो दिनरात कामों (कर्म) में लिप्त है, फैसा है, उसे चित्तवृत्तिनिरोधसे क्या काम ? फलतः जिन कामोंको वह कर रहा है उससे उसे न हटाकर भी कोई ऐसी युक्ति (तरकीव) बतायी जाय जिससे अभीष्टकी सिद्धि और असिद्धि, हार-जीत, हानि-लाभ आदिकी उसके द्विलपर चोट न पहुँचे और हर हालतमें वह एक-सा रहे—निर्दन्द रहे तथा जनककी तरह हिम्मतसे कह सके वि समूची मिथिला जन्मी सही, लेकिन मेरा क्या जन्मा ?

मिथिलाया प्रदधाया न मे किञ्चन दद्यते ।

—तो कितना सुन्दर हो, कितना अच्छा हो और इस वेहाल दुनियाको वह कितनी रुचे ! इतना ही नहीं, काम करते-करते थक गये और नतीजा कुछ न हुआ तो फिर शुरू किया और इस तरह करते-करते थक गये, मरनेकी नौवत आ गयी, फिर भी यदि काम छूट जानेका मौका आया तो मारे चिन्ताके जलने लगे, यहाँतक कि अन्त-दममें भी उस कामकी फिक्से ही वेहाल है ! ठीक वही हालत है कि वँदरीका बच्चा तो मर गया, मगर वह उसे फिर भी छातीसे चिपकाये फिरती है और छोड़ना नहीं चाहती। ऐसी मनोवृत्ति भी कैसी भयङ्कर और दुःखद है। यह कर्मकी ममता भी कैसी भयावनी है। ठीक वैसी ही है, जैसी फलकी। आसक्ति सभी बुरी है फिर वह चाहे फलकी हो या कर्मकी, वह समुद्र या नदीमें तैरनेवालेके गलेकी चक्की है। फल जवतक कच्चा है, डालमें लगा रहता है और बलात् उसका तोड़ना ठीक नहीं है। साथ ही, पकनेपर जब वह अनायास डाल (बृन्त) से छूट रहा तो हठात् बृन्तमें ही उसे चिपकाये रखना या रखनेकी कोशिश कम बुरी नहीं है, ऐसा करना तो फल, बृन्त, डाल, वृक्ष सभीको वेकार बनाना है। ऐसी हालतमें यदि इस मनोवृत्तिको हटानेका कोई उपाय हो तो कितना बढ़िया हो, रमणीय हो ! यह उपाय, तरकीव या रास्ता योगदर्शनके अरण्यमें मिलनेका नहीं; इसीलिये भर्तृहरिने कहा है और ठीक ही कहा है कि योगमें तो रोगोंका खतरा है—'योगे रोगभयम्'। परिणाम यह होता है कि साधारण जनताकी ज्ञानपिपासा और आकांक्षा योगदर्शनके पढ़नेके बाट भी ज्ञान नहीं होती। वह या तो उसे समझ पाती ही नहीं या उसे अपने लिये वेकार समझती है। साथ ही सांसारिक ज़ज़टोंमें लिप्त रहनेके कारण कायोंके फलाफलसे होनेवाली बेटानाओंसे समय-समयपर ऊबकर उनसे छुटकारा भी चाहती है जो सहज हो। क्योंकि समय-समयपरकी वह ऊब तो केवल मसानियाँ बैराग्य है, स्वभावतः लोग कायोंसे तो अलग हो ही नहीं सकते, उन्हें कामोंमें ही मजा आता है। हाँ, कभी-कभी वह मजा किरकिरा हो जाया करता है और उसी किरकिरेपनमें पिण्ड छुड़ानेकी इच्छा लोगोंको स्वभावतः रहती है और गीताके 'योग' निर्वचनकी खूबी, इसीमें है कि वह उस आकांक्षाकी पूर्ति करता है, यद्यपि आज इमें यह बात विदित न हो और मतवाट एव साम्राज्यिक भाग्रमें पड़कर रमने गीतानि इस रहस्यको भुजा दिया हो, तभारि गीताके भयांचिक

लोकप्रिय बननेका प्रारम्भिक कारण यही है कि जन-साधारणके भावोंको समझ उन्हींके उपयुक्त साधनोंके सम्पादनद्वारा उनकी पूर्तिका उपाय उसमें बताया गया है।

बहुत लोगोंके मनमें यह गङ्गा होती है कि गीतामें ही योगकी दो परिभाषाएँ क्योंकर दी गयी हैं जो परस्पर मेल नहीं खाती हैं। एकमें तो 'समत्व' का नाम योग रक्खा गया है और दूसरेमें 'कौशल' का। समत्व कर्म तथा फलकी अनासक्ति है जो निषेधात्मक है और कर्ममें 'कौशल' विशेषज्ञता या विशेषरूपकी जानकारी है जो भावात्मक है। कुशल या विशेषज्ञ (specialist) तो वही होता है जो उस वस्तुके रगरेगेको रक्ती-रक्ती जाने। ऐसी हालतमें तो यह विशेषज्ञ विधानात्मक (positive) हुआ और पूर्वोक्त अनासक्ति निषेधात्मक (negative)। लेकिन यदि थोड़ा भी प्रवेशपूर्वक ढेखा जाय तो यह बात नहीं है। आखिर योगके उन दोनों निर्वचन गीताके द्वितीय अध्यायमें ही नहीं, किन्तु पास-पासके ही श्लोकोंमें लिखे गये हैं। ४८ और ५० के बीचमें तो केवल ४९ सख्यावाला श्लोक ही व्यवधायक है। वल्कि ४९वें श्लोकमें जो 'बुद्धियोग' शब्द आया है उसीका स्पष्टीकरण ५० वें में है। फलतः व्यवधान भी नहीं है, किन्तु दोनों निर्वचन आगे-पीछे मिले ही हुए हैं। ऐसी दशामें पूर्वापरविरोधका अवसर ही कहो! जब साधारण मनुष्य भी एक साथ योलनेमें एक समय पूर्वापरविरोधसे बचता है तो फिर गीतोपदेशक श्रीकृष्ण या गीताके पदब्रह्मकर्त्ता व्यासका बया कहना? असलमें यह मानव स्वभाव है कि बुरा-भला जो कुछ किया जाता है उसका, उसके फलका तथा ससारमें निरन्तर होनेवाली घटनाओंका प्रभाव दिल-दिमागपर-आत्मापर—पड़ता ही है। यह असम्भव है कि आईनेके सामने कोई पदार्थ लाया जाय और उसकी छाया उसमें न पड़े—प्रतिविम्ब न दीखे। और घटनाचक्कका यही आत्मापर पड़नेवाला प्रभाव हमारे सभी कष्टों एवं वेदनाओंका कारण है। जबतक दिल-दिमाग दुरुस्त हैं, काम करते हैं तबतक ये वेदनाएँ अनिवार्य हैं। गाढ़ी नींदके बाद जब कोई हृष्ट-सुष्ट मनुष्य उठता है तो उसके दिल-दिमाग शान्त और एकरस—सम माल्म होते हैं और इस दशाको हम दूसरे शब्दोंमें बैलेन्स (balanced) कह सकते हैं। लेकिन उसके बाद घटनाचक्के करते रसभङ्ग शुरू होता है और मनुष्य कभी प्रसन्न और कभी खिल होता है, कभी

रोता है तो कभी हँसता और कभी उदासीन बनता है। यही विषमताकी (Unbalanced) अवस्था उसके दिल-दिमागकी है। यदि यह अवस्था न आवे तो जिनदरी कितनी मजेदार हो, जीवन कितना सरस हो, जैसा कि अबोध वच्चोंमें प्रायः पाया जाता है। गाढ़ निद्रा और वेहोशी-की हालतमें भी इस विषमताका पता नहीं रहता, मानो आईना बन्द है और प्रतिविम्ब नहीं पड़ते। मानव-हृदय और मानव-मस्तिष्क इतने भावग्राही हैं, भावव्यञ्जक हैं, सर्संग्राही हैं, sensitive हैं कि प्रत्येक घटनाका प्रभाव लिये बिना नहीं रहते, अवश्य प्रभावित हो जाते हैं। इधर हमारी हालत यह है कि अच्छे भावों और उनके परिणामोंके साथ तो तन्मय होना हमें पसन्द है लेकिन असद्वावों और दुष्परिणामोंसे बचना चाहते हैं। यह परस्परविरोधी बाते हैं। यह ऐसी ही हैं जैसी दिनको चाहकर रातको न चाहना। ससार तो परिणामी है, परिवर्तनशील है। फलतः अच्छेके बाद बुरे और बुरेके बाद अच्छेका आना अनिवार्य है। इसमें कोई अन्तर नहीं कि हम दुःख चाहे या सुख। इन दोनोंको तो अयुत सिद्ध कहना चाहिये जिसके मानी हैं कि एकके बिना दूसरा रह ही नहीं सकता। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि हम एकको भी न चाहें। यह कोई असम्भव बात नहीं। हाँ, कठिन अवश्य है। और जब यह दशा प्राप्त हो गयी तो दिल-दिमाग एकरस (balanced) रहते हैं, सम रहते हैं। इसी दशाका नाम 'समत्व' है जिसका उल्लेख उन ४८वें श्लोकमें है।

कही चुके हैं कि कामोंका प्रभाव दिल-दिमागपर पड़ता ही है। वल्कि यों कहना चाहिये कि कर्मोंके फलके रूपमें जो हानि-लाभ, जय-पराजय, सुख-दुःख आदि होते हैं उनका अनुभव दिल-दिमाग तभी करते हैं, उनसे प्रभावित तभी होते हैं, जब उन कर्मोंसे पहले प्रभावित हो लेते हैं। वीजमें अङ्गुर-उत्पादनकी शक्ति होती है जो प्रतीत नहीं होती। लेकिन भाड़में डाल देनेपर वह शक्ति नष्ट हो जाती है यद्यपि वीज ज्यों-का-त्यों रहता है। ठीक यही दशा कामोंकी है। जो काम हमारे दिल-दिमागको प्रभावित नहीं करते उनकी सुखदुःखानुभावक शक्ति नष्ट हो जाती है। वेहोश आदमीको छुरी मौकनेकी जानकारी न होनेसे उसके बाद होनेवाली पीड़ाका भी अनुभव नहीं होता। पागलों तथा अबोधोंकी तन्मयता क्रियाके साथ न होनेसे तबन्य फलसे भी बे लोग सुखी-दुःखी नहीं

होते । अतएव बुरे-भले कमोंके साथ यदि हमारी तन्मयता छूट जाय तो फिर उनके फलोंसे भी पिण्ड अनायास ही छूटे । इसके लिये यदि कोई हिकमत, उपाय या तदवीर हो तो क्या खूब ! काम करनेसे तो पिण्ड छूट नहीं सकता । मजबूरन कुछ-न-कुछ करना ही पडता है—

न हि कश्चिक्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः ॥ कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(गीता ३ । ५)

फिर कमोंसे वचनेकी निरर्थक कोशिशसे क्या प्रयोजन और क्या प्रयोजन इस वेहूदा दुराग्रहसे कि मैं अमुक कर्म करूँगा ही ? एकमात्र उनकी आसक्तिसे वचनेकी कोशिशमें बुद्धिमानी है जिससे फल भोगने न पड़ें । इसी बुद्धिमानी-को, चातुरीको, कौशलको 'योग' कहा है उत्तर ५०वें श्लोकमें और यह कौशल वही अनासक्ति या समता या दिल-दिमागका balance है । इस प्रकार देखनेसे दोनोंमें विरोध कहाँ है ? वात असल यह है कि ४८वें श्लोकमें 'समत्व' नामक जिस योगका उल्लेख किया है उसीका विशदीकरण ४९, ५०, ५१ आदि आगेके श्लोकोंमें किया है और कहा है कि कमोंको करता हुआ भी ऐसी बुद्धिमत्ताका सम्मानन करे, ऐसे कौशलको प्राप्त करे जिससे सिद्धि, असिद्धिमें हमेशा वेफिक रहे । क्योंकि विना ऐसी बुद्धिमत्ताके सुकृत-दुष्कृत या भले-बुरे कमों तथा उनके फलोंसे छुटकारा नहीं हो सकता । इसके बादके ५१वें श्लोक 'कर्मज बुद्धियुक्ता हि' में फिर उसी बुद्धिमत्ताश्च विवेचन किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार प्रनासक्ति या समत्वज्ञानरूपी बुद्धिमत्ताके प्राप्त होनेपर तन्म-मरणसे छुटकारा हो जाता है ।

गीताके इस योगका निष्कर्ष यह है कि मनुष्यको किसी प्रकारका आग्रह कर्मके सम्बन्धमें नहीं होना चाहिये । प्राकृत नियमोंके अनुसार प्रवाहपतित कमोंसे भागना भी ठीक नहीं और अगर स्तकारवश कर्म अपनेआप ही छूट जायें या एक छूटकर उत्तकी जगह दूसरा आ जाय तो हर-हालतमें महाभारतोक्त धर्मच्याघकी तरह उसमें भला-बुरा नहीं मानना चाहिये । क्योंकि न तो कमोंमें ही कुछ रक्ता है और न उनके त्यागमें ही । कमोंके करने या उनके त्यागके सम्बन्धमें जो हमारी मनोवृत्ति है, भावना है वही अमल चीज है और उसीके सम्पादनमें हमारा ध्यान रहना चाहिये । यदि कमोंमें

हमारी आसक्ति या समता न हो तो वे हमसे छूट जायेंगे, यह धारणा भ्रान्त है । कर्म तो स्थितिके नियमान्तर्गत हैं । फिर वे छूटेंगे कैसे ? और अगर उन्हें छूटना ही है तो आसक्ति या समता उन्हें रख नहीं सकती । प्रत्युत यह आसक्ति विचारको अन्धा और दुर्बल बना देती है । कारण, आसक्ति तो एक प्रकारका हठ है और हठके साथ विवेका सम्बन्ध ही क्या ? आसक्तिमें वहुत बड़ा दोष है कि वह मनुष्यको अधीर बना देती है, साहसहीन कर देती है और अधीरताकी दगमें कोई भी काम ठीक-ठीक किया ही नहीं जा सकता । यह तो केवल कर्मकी आसक्तिकी बात है । फलकी आसक्ति तो और भी बुरी है । वह मनुष्यके ध्यानको बॉट देती है और जब ध्यान बलात् फलकी ओर चला जाता है तो पूरी शक्तिसे कर्मका अनुष्टान हो नहीं सकता । साथ ही, जिसपर आसक्ति होती है उसीपर अधिक दृष्टि होती है । फल यह होता है कि कर्म या फलपर आसक्तिके करते उसीमें दृष्टि वेध जाती है और कर्मके साधनोंपर पूर्ण दृष्टि नहीं रहती । परिणाम यह होता है कि साधन-सम्पत्ति पूर्ण न होनेसे किया (कर्म) ठीक नहीं होती, जिससे फल भी सन्दिग्ध रहता है । अतएव कर्म या उसके फलकी ओरसे दृष्टि हटाकर कर्मके साधन ठीक रहेंगे तो कर्मकी पूर्ति और उसके द्वारा फलकी सिद्धिको कोई रोक नहीं सकता, वह अनिवार्य है । ऐसी दशामें कर्म और फल दोनोंकी आसक्ति सर्वथा हेय है और जब वह रही ही नहीं तो दिलदिमागकी समता (Balance) अवश्य ही रहेगी । गीताके 'कर्मप्येवाधिकारत्ते' (२ । ४७), 'कृपणाः फलहेतवः' (२ । ४९) आदिका यही भाव है ।

दृश्य तथा मन्त्रिपक्के इस समता (Balance) को पातञ्जलयोगवाले भी अपने रात्तेसे प्राप्त करना चाहते हैं । लेकिन यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये, जिनमें सासारसे वैराग्य नहीं है, नहीं बताया गया है । क्योंकि 'अभ्यात्तचैराग्यम्यां तन्निरोधः' (१ । १२) द्वारके द्वारा योगकी सिद्धि अग्न्यास और वैराग्य दोनोंकी सत्तावतासे बतावी गयी है । इसीनिये इस योगको इस व्यावहारिक नहीं कहते । जीतेजी मृतक बननेको कितने



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

I creator of
hinduism
server!

लोग तेवार हो सकते हैं ? दूसरी ओर गीताका योग है। इसमें किसी भी कामकी मनाही नहीं है। प्रत्युत 'कर्म-ज्यायो ल्लक्ष्मणं' (गीता ३। ८) के द्वारा नहीं करनेकी अपेक्षा उठ भी करना अच्छा बताया गया है। यह भी नहीं कि कर्मके फलने विजित करनेका यत्क किया गया हो। प्रत्युत जहाँ आमकिके करते फल सन्दिग्ध रहता है, तहाँ गीताने अनामकिके द्वारा उसे और भी निश्चित कर दिया है, कागण, कर्मोंके सुसम्पादनसे उनके फल अवश्यम्भावी हैं। यह भी नहीं कि किन्हीं विशेष प्रकारके कर्मोंने कोई महत्त्व रखती गयी हो। वहाँ तो—

यत्करोपि यदश्शासि यद्जुहोपि ददासि यत् ।

(गीता ९। २७)

—के द्वारा नाधारण खान-पानसे लेकर यज-हवनादि सर्वोंके द्वारा समान रूपसे कर्त्याण लिखा हुआ है। यम, नियमादि कठिन व्रतोंका भी प्रश्न नहीं है और प्राणायाम, आसन आदिका भी नहीं। किन्तु सभी कुछ करते-करते रहनेपर भी या तो यह भाव रखना कि इन कर्मोंके द्वारा हम भगवान्की पूजा करते हैं, या यह कि प्रकृतिनियमके बग ये हमारे लिये कर्तव्य हैं, इसीसे इन्हे करते हैं, अथवा जो कुछ करते हैं वह यज्ञ हो रहा है—

तत्त्वरूप सर्वपूर्णम् ॥

(गीता ९। २७)

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन ।

(गीता ८। ९)

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र ।

(गीता ३। ९)

—त्रस, इन तीनोंमेंसे किसी भी भावनासे, लेकिन कर्मके अन्ने, न करने या उसकी फलकी आसक्ति छोड़कर, जितने भी कर्म छोटेसे बड़ेतक (यहाँतक कि मलमूत्रज्यागसे लेकर समाधितक) किये जाते हैं, सभी कल्याणकारक होते हैं। इस प्रकार 'आमका आम और शुद्धीका दाम' चरितार्थ होता है। क्योंकि एक तो कोई विशेष परिश्रम या तैयारी नहीं करनी पड़ती, दूसरे कर्मोंके साचारिक फल भी मिलते ही हैं, तीसरे दिल-देखभागकी एकरसना (Balance) वनी रहती है जिससे

जीवन किरकिरा नहीं होता। चौथे परलोकमें वन्धन नहीं होता और अन्तमें कल्याण होता है। यद्यपि प्रारम्भिक अवस्थामें ये सभी वातें नहीं होती हैं किन्तु धीरे-धीरे एकके बाद दूसरी होती हैं। फिर भी इनका होना असम्भव नहीं। साथ ही यह मार्ग साधारण लोगोंके लिये भी सुकर होनेसे सार्वभौम एवं व्यावहारिक है। यही गीताके योगकी विशेषता है और इसीसे इसे सार्वभौम धर्म कहते हैं। इसके अनुसार किसी भी हिन्दू, मुसलमान, क्रिस्तान आदि सम्प्रदायका मनुष्य समानरूपसे कल्याण प्राप्त कर सकता है—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मास्वनुष्ठितात् ।

(गीता १८। ४७)

—का भी यही अभिप्राय है। यदि गीताका यह योग प्रचलित हो जाय तो धार्मिक कलह स्वयमेव विलीन हो जायें।

जैसा कि पहले कह चुके हैं गीतामें योग शब्दका प्रयोग प्रायः दो सौ बार आया है—सभी अव्यायोंमें यह शब्द ओतप्रोत है। केवल प्रथम और सत्रहवें अध्यायके श्लोकोंमें यह नहीं मिलता। यह भी बात है कि सर्वत्र योग शब्दका प्रयोग हमारे बताये अर्थमें ही नहीं हुआ है, किन्तु पातञ्जलयोगके अर्थमें तथा कोषमें निर्दिष्ट अर्थोंमें भी हुआ है और प्रत्येक अव्यायके प्रतिपाद्य विषयकी भी योगसत्रा गीतामें है। फिर भी यह गीताकी कोई माननीय विशेषता नहीं है और इससे जनताका कोई विशेष लाभ नहीं। गीताने मनुष्यके व्यावहारिक जीवनकी पारमार्थिक या पारलौकिक जीवनके साथ एकता करके उसे जो सर्वजनसाध्य व्यावहारिकता प्रदान की है वही उसकी विशेषता एवं उपादेयताका कारण है। चाहे घरमें हो या जगलमें, हल जातता हो या समाविष्य हो, नमाज पढ़ता हो, प्रार्थना करता हो या सन्ध्योपासनमें लगा हो, हर हालतमें वह समानरूपसे कल्याणका अविकारी हो सकता है, इसे गीताने दार्ढानिकरूपसे बताया है। यह बात इस रूपमें कहीं नहीं मिलती। यह गीताकी देन है—उसकी अपनी वस्तु है और यही गीताका योग है।

